कृष्णदास संस्कृत सीरीज-१२७

कादम्बरी

सविमर्श-'भावबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेता

सम्पादको व्याख्याकारश्च

डॉ० जयशंकर लाल त्रिपाठी

प्राक्कथनकारः

प्रो० डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्यः



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी



कृष्णदास संस्कृत सीरीज
१२७
*****

महाकवि-श्रीमद्बाणभट्ट-विरचिता

कादम्बरी

[आदितः शुकनाशोपदेशान्त-भागः]

सविमर्श-'भावबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेता

सम्पादको व्याख्याकारश्च

प्रो० जयशङ्कर लाल त्रिपाठी

व्याकरणाचार्यः (लब्धस्वर्णपदकः)
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
आचार्यः संस्कृत-विभागः, कला-संकायः
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी

प्राक्कथनकारः

प्रो० डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य

अध्यक्षचरः, संस्कृत-विभागः, कलासंकायः
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि० सं० २०५७, सन् २०००
मूल्य : रु० २००.००

ISBN : 81-218-0060 - 9

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० ११९८
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
पोस्ट बॉक्स नं० १००८
के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस), ३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
127
*****

KĀDAMBARĪ

[UPTO ŚUKANĀṢOPADEŚA]

OF

SHREE BĀṆA BHAṬṬA

Edited with the
Bhāvabodhinī-Sanskrit & Hindi Commentaries

By

Prof. Jaya Shankar Lal Tripathi
Vyākaraṇācārya (Goldmedalist), M.A., Ph-D., D. Litt.
Professor, Deptt. of Sanskrit , Faculty of Arts
Banaras Hindu University, Varanasi

Foreword By

Prof. Vishwanath Bhattacharya
Ex. Head of Deptt. of Sanskrit, Faculty of Arts
Banaras Hindu University, Varanasi.



KRISHNADAS ACADEMY
VARANASI

Publisher : Krishnadas Academy, Varanasi.
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.

ISBN : 81-218-0060 - 9

Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221 001
Phone : 335020

Also can be had from
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi-221 001 (India)
Phone : Off. 333458, Resi. : 334032 & 335020

प्राक्कथन

बाणभट्ट की कादम्बरी निःसंशय संस्कृत-गद्य के साहित्यिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा है। बाण का गद्य कामचलाऊ नहीं है, दर्शन-प्रस्थानों का तत्त्वाख्यानोपयोगी भी नहीं, अपितु दोनों के समन्वय को आत्मसात् कर वह कल्पना की उड़ान भरने वाला, एक अलग कोटि ही प्रस्तुत करता है—जिसमें रूप, रस, गन्ध और वर्णों की इन्द्रधनुषी सुषमा सभी को बलात् प्रमोहित कर लेती है। यह बाणभट्ट की प्रतिभा का ही चमत्कार है कि उनके गद्य का आनन्द साधारण अनपढ़ व्यक्ति भी (श्रवणमात्र से) ले सकता है, क्योंकि इसका प्रवाह कहीं प्रपात के रूप में, कहीं वर्षा की रिमझिम अनुकृति में, कहीं ताण्डव और कहीं लास्य की लीला को अपनाता हुआ चलता है, जिसका माधुर्य और प्रभाव स्वतः सिद्ध तथा तत्काल प्रभावी है, अर्थबोध-सापेक्ष नहीं। इसका अर्थ कदापि यह नहीं कि अर्थबोध के धनी सहृदय बोद्धा को इससे आनन्द नहीं होगा। वस्तुतः स्वभावमाधुर्य के अन्तराल में कलात्मक जो सुषमा छिपी है, वहाँ तक पहुँचने में सहृदय बोद्धा ही समर्थ होते हैं, अन्य नहीं।

संस्कृत व्याकरणशृङ्खला से नियन्त्रित भाषा है। व्याकरण की खूँटियों में बंधी होने पर भी यह भाषा कितनी अनायास आकाश की उच्चता को छू कर फिर महासमुद्र की गहराई तक उतर सकती है इसका पूर्ण अनुभव बाण की शैली को छोड़ कर अन्यत्र दुर्लभ हैं। बन्धन को मान कर भी भाषा को भावसंप्रेषण की जो स्वच्छन्दता बाण ने दी है उसकी कोई तुलना नहीं है। संस्कृत गद्य का यह दुर्भाग्य ही है कि बाण को उसे संवारने-सजाने का पूर्ण अवसर नहीं मिला, पर उनकी दोनों अपूर्ण भी रचनायें उस पूर्णता को संकेतित कर अवश्य, हमें उनकी प्रतिभा के प्रति नतमस्तक कर देती हैं।

रूप, रस, गन्ध और वर्णों के प्रतिपादन में बाण की भाषा सफलता के शिखर को छू गई है। यही कारण है कि जड़ से लेकर मानव प्रकृति तक के साङ्गोपाङ्ग चित्रण में बाण को तनिक भी चिन्ता नहीं है। 'विदिशा' एक छोटा सा स्थान है और उसका शासक भी कोई इतिहास-प्रसिद्ध राजा नहीं, पर राजा की महिमा क्या होती है—इसे ग्रन्थारम्भ में ही "अशेष-नरपति-शिरःसमभ्यर्चित-शासनः" कहते हुए बाण ने प्रतिपादित किया है। कल्पना और वाग्वैदग्ध्य के इस प्रकार मञ्जुल समन्वय को प्रस्तुत करते हुए जिस अद्‌भुत कथा का जाल कवि ने बुना है, उसका मूल भले ही लुप्त "वृहत्कथा" या उसके रूपान्तर 'वृहत्कथा-मञ्जरी' और 'कथासरित् सागर' में मिल जावें, पर पूर्ण पल्लवित स्वरूप, अपूर्ण होता हुआ भी, कादम्बरी के पूर्व भाग को विश्व साहित्य में अद्वितीय स्थान पर समारूढ़ कर दिया है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेमानुराग का जो चित्र महाश्वेता-पुण्डरीक और कादम्बरी-चन्द्रापीड प्रस्तुत करते हैं, उसका समापन बाण को कैसा अभीष्ट था, यह आज जानना संभव नहीं है। पर पूर्व भाग में स्त्री-पुरुष के उभयनिष्ठ आकर्षण का जो स्वरूप उद्घाटित है उनमें पाश्चात्य जगत् के १०वीं शती के रोमैन्टिक (शैली, कीट्स आदि) कवियों की प्रेमभावना की झलक दिखाई पड़ती है। प्रेमी और प्रेमिका की एक दूसरे के प्रति गम्भीर आस्था, जिसे जागतिक कोई

बाधा, यहाँ तक कि मृत्यु भी, डिगा नहीं सकती है, इस प्रेम की आधारशिला है। प्राप्ति नहीं प्राप्ति की अन्तहीन चाह ही रोमैन्टिक प्रेमभावना की विलक्षणता है। महाश्वेता के लिए पुण्डरीक (-वैशम्पायन) का अनुराग और अपने प्रेमी के लिए महाश्वेता की मौन प्रतीक्षा का ही प्रतिरूप कादम्बरी-चन्द्रापीड भी प्रस्तुत करते हैं। कालिदास के अनन्तर बाणभट्ट ने ही संस्कृत-साहित्य में नवीन शृङ्गार-भावना का सफल चित्रण किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बाणभट्ट और उनकी कादम्बरी संस्कृत साहित्य में अद्वितीय महत्त्व के अधिकारी हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, कलासङ्काय के संस्कृतविभाग के वरिष्ठ रीडर डॉक्टर जयशङ्कर लाल त्रिपाठी द्वारा व्याख्यात और अनूदित कादम्बरी के प्रस्तुत संस्करण की संस्तुति के अवसर पर बाण और उनकी कादम्बरी के अनितर-साधारण वैशिष्ट्य का स्मरण हो आया। हमारी धारणा—अनपढ़ व्यक्ति भी कादम्बरी के केवल शब्दसंगीत से मोहित होता है, अवश्य यथार्थ है पर रसास्वाद की पूर्णता के लिये अर्थबोध परमावश्यक है। इसी आवश्यकता की पूर्ति डॉ० त्रिपाठी ने प्रस्तुत संस्करण में की है। व्याकरणशास्त्र में गम्भीर अधिकार रखने वाले डॉ० त्रिपाठी बाण की गद्य शैली के भाषिक विश्लेषण के योग्य अधिकारी हैं। लम्बे-लम्बे समास, दीर्घातिदीर्घ वाक्यकदम्बकों में क्रियापद की मृग्यता, विशेषण पर विशेषण, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा तथा परिसंख्या आदि अलंकार जहाँ बोद्धा के लिये यथास्थान सन्निवेशित होकर कवि-प्रतिभा के चमत्कार का साक्षात्कार कराते हैं, वहीं बोधविधुर मनुष्य को केवल शब्दझंकार के द्वारा आपात मोहित कर सकते हैं—रसास्वाद की पूर्णता तक नहीं पहुँचा पाते। सफल अध्यापक डॉ० त्रिपाठी ने शिष्यवात्सल्य से प्रेरित होकर कादम्बरी के प्रस्तुत संस्करण को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। अतः वे हार्दिक बधाई के पात्र हैं। समास की गुत्थियों को खोल कर (पर्यायों को कोष्ठक में उल्लिखित कर), श्लिष्ट अर्थों का परिष्कार प्रस्तुत कर, कथासूत्र और चरित्रों की विशेषता का यथास्थान निर्देश कर और सर्वोपरि मूलानुग हिन्दी-रूपान्तरण प्रस्तुत कर डॉ० त्रिपाठी ने संस्कृत-समाज का महान् उपकार किया है। इसी के साथ बाण की कला का सामग्रिक मूल्यांकन भी विद्वान् ग्रन्थकार ने किया है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि डॉ० त्रिपाठी का श्रम विद्वान् तथा विद्यार्थी दोनों का समादर पाकर सार्थक और कादम्बरी के रसास्वादन में सहायक सिद्ध होगा।

डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य

चैत्र नवरात्र मार्च १९९३ मयूरभंज प्रोफेसर तथा भूतपूर्व अध्यक्ष

संस्कृत-विभाग, कलासङ्काय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादकीयम्

"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति"

सकल-सहृदय-हृदयारविन्द-दलवृन्द-समुद्घाटन-भास्करस्य, समस्तमानव-मानस-सूक्ष्मतमभावानुभवनिपुणस्य, प्रकृति-नटी-मनोहर-नानाविध-नृत्यावलोकन-प्रवणस्य, पशु-पक्ष्यादि-प्राणिमात्र-समस्तदशादर्शनानुभव-जन्यज्ञानानुसारि-प्रतिपादन-प्रवीणस्य, विविध-देश-देशान्तर-पर्यटन-समर्जितासीमितानुभवस्य, अनवरत-ज्ञानार्जन-पिपासा-परिवर्धित-ज्ञानपुञ्जस्य, विहित-निरन्तराभ्यास-समेधिताधीतशास्त्रविषयकस्य, सद्गुरु-समधिगत-सम्यग्ज्ञान-दूरीकृतध्वान्त-निवहस्य, विदित-विविधलोकव्यवहारस्य, प्रचुराभ्यस्त-सङ्गीत-शास्त्रीय-सूक्ष्मतत्त्वस्य, चतुर्विधोपायोपार्जिताशेषशब्दशास्त्रज्ञाननिर्भ्रान्तिसमुचित-शब्दप्रयोगस्य, मुहुर्मुहुर्मित्रमण्डलीभ्रमणवीक्षित-निखिल-भूमण्डलस्य, बाल्यकालजननीविरहानुभूत-नानानुभव-निरूपण-निपुणस्य, अमिष-मैत्री-समाकर्षितानेकमित्रस्य, नवयौवनजनितकालुष्य-प्राप्तनिन्दोद्भूतक्षोभ-पवित्रिताचरणस्य, सुचिर-राजसम्पर्क-सम्प्राप्तानन्त-सुख-सम्पत्तिसमूहस्य, सतत-तपःपरिपूत-स्वान्तस्य, प्रदर्शित-परम-प्रकृष्ट-प्रेम-स्वरूपस्य, असमर्थिताविचारितसाहसिक-प्रणय-व्यवहारस्य, अभिनव-यौवन-जायमान-निखिल-दोषसमूह-सूक्ष्म-निरीक्षकस्य, सत्तावैभव-गौरवोन्मत्त-नृपति-नयोपदेशदक्षस्य, सुपरिचित-चपला-चञ्चल-चमत्कारजनक-स्वरूपस्य, प्रचलितकुरीति-पङ्कपतित-समाज-समुद्धारकस्य, प्रदर्शितविविधधर्मानुसाराचरणसहिष्णुत्वस्य, अनुल्लङ्घितमहनीयजन-समागम-शिष्टाचारप्रकारस्य, विरचित-स्वकीयातुलनीय-कृतिसम्प्राप्तानन्तकीर्तिपुञ्जस्य, श्लेष-यमकानुप्रासादिशब्दालङ्कार-सुप्रयोग-विभूषित-कृतिकस्य, उपमोत्प्रेक्षा-रूपकातिशयोक्तिसमासोक्ति-परिसंख्या-विरोधाभासाप्रस्तुत-प्रशंसार्थान्तरन्यास-प्रभृत्यर्थालङ्कार-संयोजन-पराभूत-भूत-भाविकवि-निवहस्य, वाण्यवतारभूतस्य बाणभट्टस्य नाम नाकर्णितं केन संस्कृत-साहित्य-समाराधनशीलेन ?

तस्य, कादम्बर्यां क्वचित् शूद्रक-हारीत-जाबालि-तारापीड-चन्द्रापीड-शुकनास-वैशम्पायन-पुण्डरीक-कपिञ्जल-वैशिष्ट्य-वर्णन-प्रकटित-प्रतिभा-प्रकर्षस्य, क्वचिच्चाण्डालकन्या-विलासवती-पत्रलेखा-महाश्वेता-कादम्बरी-सौन्दर्य-सहृदयता-प्रतिपादन-प्रदर्शित-मनीषोत्कर्षस्य, क्वचित् प्रचण्ड-विन्ध्याटवी-शबरसेनापति-चण्डिकामन्दिर-जरद्द्रविड-वर्णन-प्रसाधित-प्रौढ-पाण्डित्यस्य क्वचिद् विविध-वैभव-विशिष्ट-विदिशा-निर्जरेश-नगरी-निभोज्जयिनी-राजसदनसभामण्डप-गन्धर्वाधिपतिराजधानीहेमकूटप्रभृति-वर्णन-परिलक्षित-प्रकृष्ट-पाटवस्य, क्वचित् शाल्मलीतरु-जाबाल्याश्रम-पम्पासरोवरादि-विषय-वर्णनप्रतिष्ठापित-विलक्षणकल्पना-सामर्थ्यस्य, अनुज्झितापरकविकल्पनीय-वर्णनीय-विषयविशेषणस्य, अप्रतिम-प्रतिभस्य बाणभट्टस्य उपमितावसितदरिद्रता संस्कृत-साहित्यसंसारे।

किं बहुना, कवि-कुल-कमल-दिवाकरस्य, अप्रतिहत-गद्यबन्धसमित्-सञ्चरण-शीलस्य, समुपस्थापिताज्ञातपूर्व-रत्न-रत्नाकरस्य, परिकल्पिताशेषवर्णनीयवस्तुविशेषणस्य, परित्यक्तोच्छिष्टस्य बाणभट्टस्य वैशिष्ट्यानि वर्णयितुं न शक्नोति कश्चन। यस्य चानवद्य-हृद्यगद्यमवलोक्य न प्रसीदतितरां कस्य हृदयम् ?

यस्य हि पाण्डित्यं प्रतिपादने, नैपुण्यं निरूपणे, वैदग्ध्यं विवेचने, चातुर्यं विस्तरे, आनन्त्यं वर्णने, चाञ्चल्यं लक्ष्म्याम्, श्यामत्वं शूद्रसुतायाम्, श्वेतत्वं महाश्वेतायाम्, सौन्दर्यं कादम्बर्याम्, आर्जवं जाबालौ, सहृदयता हारीते, विलासिता शूद्रके, आधिपत्यं तारापीडे, दूरदर्शिता शुकनासे, चमत्कारित्वं चन्द्रापीडे, पतनशीलता पुण्डरीके, मित्रता कपिञ्जले, लम्पटत्वं वैशम्पायने ।

यश्च परमोपासकः प्रकृतिदेव्याः, पूजकोऽनिन्द्यान्तरिकप्रेम्णः, प्रवर्त्तकोऽनुकरणीय-प्रणय-पद्धतीनाम्, सर्जको नव-नव-भावानाम्, समर्थको मर्यादितव्यवहाराणाम्, प्रदर्शकः सत्पथानाम्, निवर्त्तकोऽनीति-मार्गगमनानाम् निन्दकोऽनुचिताचरणानाम्, निवारको गर्हितरीतीनाम्, प्रशंसको महनीयगुणानाम्, वेदको निखिल-प्राणिमनोभावानाम्, भेदकोऽखिलकवि-दर्पाणाम् ।

किं बहुना, यः प्रस्तोता आदर्शानाम्, स्तोता सदाचाराणाम्, अपहर्त्ता अज्ञानानाम्, प्रतिपादयिता पुनर्जन्मसिद्धान्तानाम्, आलोचयिता वञ्चकानाम्, वर्धयिता विविधशास्त्रीयज्ञानानाम्, प्रवर्त्तयिता नवरीतीनाम्, अनुभावयिता सकललोकचित्तवृत्तीनाम् ।

तेन महाकविना विरचिता प्रस्तुता प्रशंसनीया कृतिरवलोकनमात्रेण समाकर्षति न कस्य सहृदयस्य हृदयम् ? सा चेयं मद्यशालेव सकादम्बरी, अचलराजसुतेव सचन्द्रापीडा, सरसीव सपुण्डरीका, वियद्गङ्गेव सतारापीडा, कश्मीरनगरीव सशुकनासा, वैष्णवपूजेव सवैशम्पायना, ग्रामपर्यन्तभूमिरिव सशूद्रका, गृहपरिपालित-पतत्रिपङ्क्तिरिव सशुका, सन्ध्येव सचन्द्रोदया, विपिनभूमिरिव ससरोवरा, सत्यवतीसन्ततिरिव सव्यासा, सदुक्तिरिव सोपदेशा, शब्दशास्त्रीयप्रक्रियेव ससमासा, नवपरिणीतयुवतिरिव सालङ्कारा ।

यां च कादम्बरीं दर्शं दर्शं वेपन्त इव पण्डितम्मन्याः, पलायन्त इव पाश्चात्यविपश्चितः, प्रचलन्तीव समालोचकाः, अपसरन्तीव अशाब्दिकाः, स्वपन्तीव असाहित्यकाः, बिभ्यतीवाल्पविदः, धावन्तीव धूर्ताः, मुह्यन्तीव मूर्खाः, द्रुह्यन्तीव समत्सराः । यस्याः रससागरे स्नान्ति सहृदयाः, सन्तरन्ति रसिकाः, निमज्जन्ति निष्णाताः, प्रसीदन्ति पण्डिताः, क्रीडन्ति कुशलकवयः, भावयन्ति भावुकाः, मोदन्ते मनीषिणः, प्लवन्ते विपश्चितः ।

या च सशूद्रकापि विप्रजनसम्माननीया, इन्द्ररहितापि इन्द्रायुधसहिता, ससुवर्णापि अद्रव्या, सालङ्कारापि अतरुणी, समस्तापि अपूर्णा, कादम्बरीविभूषितापि बुद्धिविकासकारिणी, बाणविरचितापि सुकोमला ।

पूर्ववर्णितायाः अपूर्वायाः कादम्बर्याः कृतेः रचयिता बाणभट्टः श्रीसरस्वत्योरुभयोरनुग्रहविषयभूते समृद्धविद्वदन्वये जन्मना समलञ्चकार भारतभूमिम् । जन्मतोऽचिरादेव स्वर्गत-जननी-स्नेहवञ्चितः पित्रा यथासामर्थ्यं परिपालितः शैशवं नीतवान् । सकलकलाकलाप-कलनस्य करालस्य कालस्य क्रूरतयाऽनवसरे एव पितृपाणिपल्लव-छायातोऽपि वञ्चितोऽसौ बालः विपत्सागरे निमग्नः । अनियमनीय-यौवन-प्रभावात् पितृपरम्परयाऽधिगतासीमित सम्पत्तिदर्पाच्च महत्या मित्रमण्डल्या इतस्ततः आहिण्डमानः, विविधविषयान् साक्षादनुभवन्, व्यावहारिकज्ञानं वर्द्धयन् महान्तं कालमत्यवाहयत् ।

असौ मित्रभानुसुनुः बाणभट्टः हर्षवर्धनस्य सम्राजः शासनकाले (६०६-६४८ ई०) विद्यमान आसीदिति ऐतिहासिकाः स्वीकुर्वन्ति। तेन हर्षवर्धनेनास्य महती निन्दाऽकर्णिता येनासौ स्वयोग्यतानुरूपं सम्मानं झटिति न प्राप्तवान्। अस्य सुकृतोदयात् कदाचित् महाराजस्य श्रीहर्षवर्धनस्य पितृव्यपुत्रस्य कृष्णवर्धनस्य सन्देशमवाप्यासौ प्रहृष्टः सन् राज्ञः समीपं प्रयातः। तदा हर्षवर्धनेन 'महानयं भुजङ्गः' इति व्यङ्ग्येन व्यवहृतः। एतदाकर्ण्य बाणभट्टेन स्वबुद्धिवैभवं प्रदर्शयता सम्यगुत्तरं ददता श्रीहर्षवर्धनः प्रसादितः। ततश्च स तस्य राजसभायां सम्माननीयं स्थानमलभत। एवञ्च हर्षवर्धनस्य शासनकाले (६०६-६४८ खिष्ट्रीबाब्दे) ततः किञ्चित् पूर्वं वा बाणभट्टः स्वजन्मना भारतभुवमलञ्चकार।

संस्कृतसाहित्ये-दण्डी, बाणः सुबन्धुश्चेति त्रयः प्राचीनाः गद्यकवयः गण्यन्ते। एषां पौर्वापर्येऽस्ति विवादः। परन्तु बाणस्य श्रेष्ठतां सर्वेपि निर्विवादं वदन्ति। बाणस्य कृतयः—(१) हर्ष-चरितम्, (२) कादम्बरी, (३) चण्डीशतकम्, (४) मुकुटताडितकञ्चेति। अन्त्ययोर्द्वयोर्बाणकृतित्वे विवादो विदुषाम्। क्षेमेन्द्रेण 'औचित्यविचार-चर्चायाम्' कादम्बरी-कथासम्बद्ध एकः श्लोक उद्धृतो येन प्रतीयते यद् बाणेन पद्यकादम्बरी अपि विरचिताऽसीत्।

गद्यकाव्यस्य यद्यपि बहवो भेदाः प्राचीनग्रन्थेषूलभ्यन्ते तथापि कथा आख्यायिका चेति द्वावेव प्रमुखतां भजतः। कथायां कविकल्पितं वस्तु आख्यायिकायाञ्चैतिहासिकम्। परन्तु अनयोर्भेद-स्वरूपविषयेऽपि लक्षणकाराणां मतभेदः। बाणस्य रचनाद्वयमवलोक्यैव प्रसिद्धो भेदो लक्षणकारेषु दण्डिभामहादिषु। बाणेन स्वयमेव निर्दिष्टम्-हर्षचरितम्-इत्याख्यायिका, कादम्बरी-इति कथेति। हर्षचरिते बाणेन स्वाश्रय-प्रदातुः सम्राजो हर्षवर्धनस्य विषये प्राधान्येन वर्णितम्। तत्रात्मनः कुल-जन्मस्थानादि विषयेऽपि विस्तरेण प्रतिपादितम्। कादम्बरी बाणस्यापूर्वा सृष्टिः। अस्याः कथायाः मूलाधारस्तु गुणाढ्यविरचिता 'बृहत्कथामञ्जरी' इति प्राकृतभाषाग्रन्थः। तस्यां वर्णितां राज्ञः सुमनसः कथां समाश्रित्य स्वप्रतिभयाऽपेक्षितं परिवर्तनं कृत्वा कादम्बरी कथा विरचिता। परन्तु साम्प्रतं 'बृहत्कथामञ्जरी' नोपलभ्यते, तस्याः संस्कृतरूपान्तरं बाहुल्येन सोमदेवविरचिते 'कथा-सरित्-सागरे' प्राप्यते। तत्र 'मकरन्दिकोपाख्यानान्तर्गतकथा' एव कादम्बरी-कथामूलत्वेनाङ्गीक्रियते विद्वद्भिः।

बाणस्य रचनाभिश्चमत्कृताः विपश्चितः प्राचीनकालादेवास्य भूयसी प्रशंसां मुक्तकण्ठं समारब्धवन्तः। अत्र कानिचित् प्रशस्तिपद्यानि प्रस्तूयन्ते—

बाण-प्रशस्तयः

अर्थेश्वरं हृन्त भजेऽभिनन्दं वागीश्वरं वाक्पतिराजमीडे।
रसेश्वरं स्तौमि च कालिदासं बाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि॥

बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य शक्तिं न केऽत्र कविताऽस्त्रमदं त्यजन्ति।
मान्द्यं न कस्य च कवेरिह कालिदासवाचां रसेन रसितस्य भवत्यधृष्यम्॥

बाणः कवीनामिह चक्रवर्ती चकास्ति यस्योज्ज्वलवर्णशोभा ।
एकातपत्रं भुवि पुष्यभूतिवंशाश्रयं हर्षचरित्रमेव ॥ (सोड्ढलस्य)
केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन् ।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानपुलिन्ध्रकृतसन्निधिः ॥ (धनपालस्य)
जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथावगच्छामि ।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूव ह ॥ (गोवर्धनस्य)
कादम्बरी-सहोदर्या सुधया वै बुधे हृदि ।
हर्षाख्यायिकयाख्यापि बाणोऽब्धिरिव लब्धवान् ॥ (धनपालस्य)
रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति ।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥ (धर्मदासस्य)
सहर्षचरिता शश्वद्धृतकादम्बरी सदा ।
बाणस्य वाण्यनार्येव स्वच्छन्दा चरति क्षितौ ॥ (राजशेखरस्य)
बाणेन हृदि लग्नेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः ।
प्रायः कविकुरङ्गाणां चापलं तत्र कारणम् ॥ (राजशेखरस्य)
दण्डिन्युपस्थिते सद्यः कवीनां कम्पतां मनः ।
प्रविष्टे त्वन्तरं बाणे कण्ठे वागेव रुध्यते ॥ (हरिहरस्य)
युक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा कवयो मौनमाश्रिताः ।
बाणध्वनावनध्यायो भवतीति स्मृतिर्यतः ॥ (सोमेश्वरस्य)
उच्छ्वासोऽपि न निर्याति बाणे हृदयवर्तिनि ।
किं पुनर्विकटाटोपपदबन्धा सरस्वती ॥ (सुभाषितरत्नकोषस्य)
यादृग् गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धेऽपि तादृशः ।
गत्यां गत्यामियं देवी विचित्रा हि सरस्वती ॥ (सरस्वतीकण्ठाभरणस्य)
वीणापाणि-परामृष्ट-वीणा-निक्वाण-हारिणीम् ।
भावयन्ति कथं वान्ये भट्टबाणस्य भारतीम् ॥ (अज्ञातस्य)
शश्वद्-बाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा ।
धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रञ्जितो जनः ॥ (त्रिविक्रमस्य)
हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत् ।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्त्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ्मन्ये परिम्लानताम् ॥ (रुय्यकस्य)
यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।

हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविताकामिनीकौतुकाय ॥ (जयदेवस्य)

श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद् रसे चापरेऽ-
लङ्कारे कतिचित् सदर्थघटने चान्ये कथावर्णने ।
आः सर्वत्र गभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी-
सञ्चारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः ॥ (श्री चन्द्रदेवस्य)

कादम्बरीरसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते ।

साम्प्रतिकैरालोचकैः विशेषतः पाश्चात्यैस्तदनुयायिभिश्च बाणस्य रचनारीतिर्भृशमालोचिता । परन्त्वेतदसाम्प्रतम्, बाणेन स्वसमये समादृता रीतिरेव समाश्रिता स्वरचनासु । अत आधुनिकरीतिमाश्रित्य समालोचनाऽसमीचीना । बाणो हि पाञ्चालीरीतेः सिद्धहस्तो महाकविः । विस्तरस्तु भूमिकायां द्रष्टव्यः ।

प्रस्तुत-संस्करणस्य वैशिष्ट्यम्

अध्यापन-प्रसङ्गेऽन्तेवासिनामवलोक्य महतीं व्यथां मम मनसि समुत्पन्नोऽयं विचारो यदेका एतादृशी व्याख्या कादम्बर्याः विलेखनीया यथा पदार्थज्ञानपूर्वकं वाक्यार्थज्ञानम्, समस्तपदानां विग्रहवाक्यज्ञानपूर्वकं तेषां पदार्थज्ञानम्, विशिष्टशब्दानां व्युत्पत्तिपरिचयः, अपेक्षितालङ्कारबोधः, अप्रसिद्धशब्दानां कोशस्थत्वज्ञानं च यथासम्भवं समुत्पद्यताम् । एतदुद्दिश्यैव विरचितेयं 'भावबोधिनी' संस्कृतव्याख्या । अस्या उपयोगित्वं महत्त्वञ्च विलोक्यैव स्वीकरिष्यन्ति सहृदयाः विपश्चितश्छात्राश्च । कादम्बर्याः भाषान्तरानुवादोऽतीव कष्टसाध्य इति न तिरोहितं विदुषाम् । प्रस्तुते संस्करणे हिन्दीभाषायामनुवादः समायोजितः । अनुवादकरणे सामान्यतया भावाभिव्यक्तये सावधानतया प्रवृत्तम् । क्वचिदर्थस्य स्पष्टीकरणार्थं कोष्ठेषु अपेक्षितांशा अपि योजिताः । समस्तपदानां विग्रहरीत्या मानकहिन्दीरूपान्तरणं विहितम् । प्रयतितं तथा यथा हिन्दीमाध्यमेनाध्ययनेऽपि कादम्बरीरसास्वादः समुत्पद्येत । अत्र साफल्यं तु विद्वद्भिर्निर्णेयम् ।

एवञ्चेदं संस्करणं भावबोधिन्या संस्कृतव्याख्यया हिन्दीव्याख्यया (अनुवादेन) च समलङ्कृतं सर्वेषां प्रीतिकरं भविष्यतीति मे विश्वासः ।

कादम्बरीमूलपाठविषये बहुत्र विवादो दृश्यते । मयाऽत्र अर्थसङ्गतिं विचिन्त्य पाठोऽङ्गीकृतः । बाहुल्येन तु भानुचन्द्रानुमतः पाठ एव स्वीकृतः । बहुषु स्थलेषु पाठान्तराणि टिप्पण्यां प्रदर्शितानि येन शोधार्थिनां कृते सौविध्यं भविष्यति । प्रस्तुतसंस्करणस्य सम्पादने भावबोधिनी-व्याख्याप्रणयने च मया प्रमुखरूपेणाधोलिखिताः ग्रन्था विलोकिताः—

(१) जयपुरीयेण श्रीमथुरानाथ-भट्टेन सटिप्पणी सम्पादिता 'अकबर-शासनसमकालिक-श्रीभानुचन्द्रसिद्धचन्द्रगणि-विरचित-संस्कृत-व्याख्यासहिता 'कादम्बरी ।'

(२) मोहनदेवपन्तेन सम्पादिता 'श्रीभानुचन्द्रसिद्धचन्द्रगणि-विरचितसंस्कृतव्याख्यासहिता 'कादम्बरी' ।

(३) श्री मयूरेश्वर-रामचन्द्रकालेमहोदयैः सम्पादिता टिप्पण्यादिविभूषिता 'कादम्बरी' ।

(४) जीवानन्दविद्यासागर प्रणीत-भावार्थबोधिका व्याख्यासहिता 'कादम्बरी'।
(५) हरिदास-सिद्धान्तवागीश-विरचितवङ्गानुवादविशिष्ट-संस्कृतव्याख्याविभूषिता 'कादम्बरी'
(६) पण्डित-श्रीकृष्णमोहन-ठक्कुर-विरचित-संस्कृत-हिन्दीव्याख्या-सहिता 'कादम्बरी'।
(७) आचार्य-शेषराजशर्म-विरचित-संस्कृत-हिन्दी-व्याख्यासहिता 'कादम्बरी'।
(८) डॉ० श्रीनिवासशास्त्रि---डॉ० महेशचन्द्रभारतीय-महोदयाभ्यां सम्पादिता हिन्दीसहिता 'कादम्बरी'।

एतेषां ग्रन्थानां यथासम्भवमालोचनं कृत्वा तेभ्योऽपेक्षितं साहाय्यं च गृहीत्वा सम्पादितमिदं संस्करणमत एभ्यो विद्वद्भ्यो धन्यवादान् प्रददानोऽग्रमणंतां प्रकटयामि। परन्तु सतीष्वेतासु प्रौढासु नाना व्याख्यासु इयं 'भावबोधिनी' संस्कृतव्याख्या हिन्द्यामनुवादश्च कादम्बरी-भावार्थ-जिज्ञासूनां विदुषां छात्राणां च प्रियतामवश्यं प्राप्स्यतीति विश्वसिमि। एतद्विरचनोद्देश्यं स्वान्तः सुखोत्पादनमेवेति निवेदयामि।

'काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालये कलासङ्कायान्तर्गते संस्कृतविभागे मयूरभञ्जप्रोफेसर-पदमलङ्कृतवन्तः प्राच्यपाश्चात्योभयविधसमीक्षाशास्त्र-मर्मज्ञाः साहित्यशास्त्रतत्त्वविदः श्रीमन्तो विश्वनाथभट्टाचार्य-महोदयाः प्रस्तुत-संस्करणस्य प्राक्कथनं विलिख्य मां भृशमनुगृहीतवन्त एतदर्थं तान् प्रति हार्दिकीं कृतज्ञतां प्रदर्शयामि। अस्मिन् गुरुतरकर्मणि सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय-साहित्यविभागस्य भूतपूर्वाध्यक्षाः रसिकशिरोमणयः गुरुवर्याः श्रीमन्तोद्विजेन्द्रनाथ-मिश्र 'निर्गुण' महोदयाः सदैव स्नेहेन प्रेरितवन्त अपेक्षितं साहाय्यमपि विहितवन्त इत्येतदर्थं तेषां चरणयोः प्रणामाञ्जलीन् समर्पयामि। सुहृद्वरैः डॉ० श्रीसुधाकर मालवीय-महोदयैरस्मिन् कार्ये सदैव सहयोगो विहितस्तदर्थं तेभ्यो धन्यवादान् वितरामि।

विशालकायस्यास्य ग्रन्थस्य सम्पादने संस्कृत-व्याख्यायाः प्राग्रूपस्य (प्रूफ) संशोधने ऽस्मत्-सहधर्मिण्या श्रीमत्या उर्मिलया (एम० ए०) महत्साहाय्यं प्रदत्तम्। हिन्दी-प्राग्-रूपस्य (प्रूफ-) संशोधनेऽस्मत्पुत्रेण श्री वागीशत्रिपाठिना अस्मत्पुत्र्या कुमार्या पूनमाख्यया च भृशं साहाय्यमाचरितम्, एतदर्थमेतेभ्यः सर्वेभ्य आशीर्वचनैः सह धन्यवादान् प्रददामि।

साम्प्रतमतीवमहर्घतायां विपुलकायानां संस्कृतग्रन्थानां प्रकाशनं न सुकरम्,तथापि कुलपरम्परातः संस्कृत-ग्रन्थानां सुन्दररूपेण प्रकाशने निरतानां चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज-आफिस-निदेशकानां श्रीमद्विट्ठलदास-व्रजमोहनदास-गुप्त-बन्धुद्वयमहाभागानां तथैव कृष्णदास-अकादमी-प्रकाशकानां श्रीमत्-कमलेशकुमारगुप्त-महोदयानामौदार्येण इदं मनोहरं विशिष्टं कादम्बरी-संस्करणं संस्कृतज्ञानां समक्ष प्रस्तूयते। एतदर्थमेतान् सर्वानाशीर्वचनैः संयोजयन्नेभ्योऽनेकशो धन्यवादान् वितरामि।

निर्मत्सराः सुधियो जिज्ञासवश्छात्राश्च अस्मिन् संस्करणे गुणान् ग्रहीष्यन्ति त्रुटीश्च मर्षयन्तीति निवेदये।

विदुषां वशंवदः

वाराणसी
रामनवमी, मार्च १९९३

(डा०) जयशङ्करलाल-त्रिपाठी
संस्कृतविभागः, कलासंकाय, का० हि० वि० वि०

विषयानुक्रमणिका

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
प्राक्कथनम्	५
सम्पादकीयम्	७
विषयानुक्रमणिका	१३
भूमिका	
गद्यरचना की प्राचीनता	१
गद्यरचना के दो भेद-कथा और आख्यायिका	२
प्रमुख तीन प्राचीन गद्यकार	३
महाकवि बाणभट्ट	३
बाणभट्ट का वंशवृत्त	३
बाणभट्ट के गुरु	५
बाणभट्ट का निजी परिवार	५
बाणभट्ट का जन्मस्थान	५
बाणभट्ट के आश्रयदाता	६
बाणभट्ट की कृतियाँ	६
हर्षचरित (कथानक का सारांश)	७
कादम्बरी (कथा का सारांश)	८
कादम्बरी कथा का मूल (आधार)	१४
मूल कथा में बाण द्वारा परिवर्तन	२०
पात्रों का चरित्र-चित्रण	२०
चन्द्रापीड	२१
पुण्डरीक	२२
कादम्बरी	२३
महाश्वेता	२४
अन्य पात्र	२५
बाण का परवर्त्ती कृतियों पर प्रभाव	२५
बाणभट्ट की शैली	२६
बाणभट्ट का प्रकृति-चित्रण	२७
कादम्बरी में आध्यात्मिक संकेत	२७
कादम्बरी में भावपक्ष	२७
बाण की दृष्टि में प्रेम	२८
बाणभट्ट का सौन्दर्य-बोध	२८
कादम्बरी में अलङ्कार	२९
(क) शब्दालङ्कार— अनुप्रास, यमक, शब्दश्लेष	
(ख) अर्थालङ्कार— उपमा, मालोपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास	३०
कादम्बरी में रस	३३
कादम्बरी में रीति	३४
कादम्बरी में गुण	३४
कादम्बरीकालीन सामाजिक स्थिति	३४
कादम्बरीकालीन राजनीतिक स्थिति	३५
उपसंहार	३६
कादम्बरी के पात्र	३७
कादम्बरी में नायक आदि	३८
कथामुखम्	
मङ्गलाचरणम्	१
गुरुवन्दनम्	५
सज्जनदुर्जन-स्तुतिनिन्दे	६
कथा-प्रशंसा	९
कविवंशवर्णनम्	११
कादम्बरी-प्रशंसा	२१

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
कथामुखप्रारम्भः	
शूद्रकवर्णनम्	२३
चाण्डालकन्यावर्णनम्	५०
शुकवर्णनम्	६१
शूद्रक-प्रतिक्रियावर्णनम्	६४
शूद्रक-सभाविसर्जनवर्णनम्	६७
शूद्रक-व्यायामवर्णनम्	७२
शूद्रक-स्नानवर्णनम्	७३
शूद्रक-पूजन-भोजनवर्णनम्	७८
शूद्रक-सभामण्डपवर्णनम्	८०
शुकानयनादेशः	८३
शूद्रक-शुक-संवादः	८५
शुकेनात्मकथावर्णनम्	८७
विन्ध्याटवी-वर्णनम्	८८
विन्ध्याटवीस्थागस्त्याश्रमवर्णनम्	९८
पम्पासरोवर्णनम्	१०५
शाल्मलीतरु-वर्णनम्	१११
शुकोत्पत्ति-वर्णनम्	११८
प्रभातवर्णनम्	१२०
शबरमृगया-वर्णनम्	१२७
शबरसेनापतिवर्णनम्	१३५
शबरचरित्र-वर्णनम्	१५१
शुकशावक-निपात-वर्णनम्	१५५
शुकेनात्मावस्था-वर्णनम्	१५८
हारीत-वर्णनम्	१६९
जाबाल्याश्रम-वर्णनम्	१८२
जाबालि-वर्णनम्	१९९
शुकविषयक-प्रश्नाः	२२६
सन्ध्याकालवर्णनम्	२२८
चन्द्रोदय-वर्णनम्	२३५
हारीतस्य शुक-विषयक-प्रश्नः	२३९
पूर्वार्द्धकथारम्भः	
उज्जयिनी-वर्णनम्	२४१
महाकाल-वर्णनम्	२६४
तारापीड-वर्णनम्	२६६
शुकनास-वर्णनम्	२८३
तारापीड-विलास-वर्णनम्	२८७
शुकनास-गौरव-वर्णनम्	२९६
राज्ञोऽनपत्यता-दुःख-वर्णनम्	२९८
विलासवती-वर्णनम्	३००
विलासवती-दुःख-प्रश्नः	३०१
राजकृत-प्रश्नस्योत्तरम्	३०६
राजकृतं विलासवती-सान्त्वनम्	३०९
विलासवत्या देवाराधनम्	३१८
स्वप्नविषयकचर्चा	३२५
विलासवतीगर्भ-वार्त्ता-ज्ञानम्	३२७
विलासवत्या गर्भधारण-वर्णनम्	३३५
चन्द्रापीडजन्म-महोत्सवः	३४५
सूतिकागृह-वर्णनम्	३४८
कुमार-वर्णनम्	३५४
शुकनास-पुत्र-जन्मोत्सवः	३६१
नामकरणं चन्द्रापीडस्य शिक्षाव्यवस्था च	३६६
चन्द्रापीडस्य यौवनारम्भः	३७२
राज्ञश्चन्द्रापीडं प्रति राजभवनागमनादेशः	३७७
इन्द्रायुधाश्व-वर्णनम्	३८२
इन्द्रायुध-दर्शनानन्तरं चन्द्रापीडस्य मनोभावाः	३८९
चन्द्रापीडस्य विद्यामन्दिरान्निर्गमनम्	३९४
चन्द्रापीडप्रवेशे पुरजनमनोभावाः	३९९
चन्द्रापीडप्रवेशे पुरनारीणां भावाः	४०१
चन्द्रापीडदर्शने नारीणां दशाः	४०५
राजकुलवर्णनम्	४१६
चन्द्रापीडस्य मातापित्रोर्दर्शनम्	४५०
चन्द्रापीडस्य शुकनासदर्शनम्	४६०
चन्द्रापीडस्य स्वावासं प्रति गमनम्	४६८
प्रदोषवर्णनम्	४६९
चन्द्रापीडस्य मृगयावर्णनम्	४७७
चन्द्रापीडस्य विश्रामादिवर्णनम्	४८२
पत्रलेखावर्णनम्	४८६
शुकनासोपदेशवर्णनम्	४९४

भूमिका

गद्यरचना की प्राचीनता

प्राचीन काल से ही संस्कृत वाङ्मय में गद्य रचना के दर्शन होते हैं। विश्व के प्राचीनतम साहित्य के रूप में स्वीकृत वैदिक संहिताओं में भी गद्य प्रयुक्त है। कृष्ण यजुर्वेद में गद्य की बहुलता है।[1] अथर्ववेद में भी गद्य है। ब्राह्मण ग्रन्थ तो गद्यमय हैं। आरण्यक तथा उपनिषद् गद्य से भरे पड़े हैं। सूत्र ग्रन्थों की गद्यमय रचना सर्वविदित है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में गद्य भी है।

लौकिक साहित्य में भी अति प्राचीन काल से गद्य का प्रचलन प्राप्त होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का महाभाष्य उत्कृष्ट, सरल तथा प्रभावशाली गद्य का सुन्दर और सर्वमान्य उदाहरण[2] है। विभिन्न दर्शनों और शास्त्रों से सम्बद्ध गद्यमय रचनायें प्रसिद्ध हैं। लौकिक गद्य में अलङ्कृत शैली का प्रवेश कब और किसने प्रारम्भ किया, इस विषय में प्रामाणिक रीति से कुछ कहना कठिन है। अचानक अतिविकसित गद्य रचनायें हो जाना भी बुद्धिगम्य नहीं है। पाणिनि के सूत्रों के वार्त्तिककार आचार्य कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों में 'आख्यायिका' शब्द का प्रयोग करते हुए यह संकेत किया है कि उनके समय तक 'आख्यायिका' की रचना हो चुकी थी।[3] पतञ्जलि ने तो 'वासवदत्ता' 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' इन तीन आख्यायिकाओं का नामोल्लेख भी किया है।[4]

लिखित अलङ्कृत शैली का सबसे प्राचीन उदाहरण रुद्रदामन् (१५० ई०) का गिरनार का शिलालेख है।[5] इसके बाद प्रयाग में किले में स्तम्भ पर खुदी हुई हरिषेणकृत समुद्रगुप्त (३५० ई०) की प्रशस्ति है।[6] अतः ऐसा अनुमान होता है कि ईसा की तृतीय, चतुर्थ शती तक अलङ्कृत गद्य रचनायें लिखनी प्रारम्भ हो चुकी थीं।

---

१. द्र० संस्कृत साहित्य का इतिहास (बलदेव उपाध्याय) पृ० ३७६।

२. नैष दोषः, शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्, शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह-नापशब्दज्ञानेऽधर्मम्। महाभाष्य पस्पशा०

३. 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्', आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च" कात्यायनवार्तिक।

४. 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' बहुलं लुग्वक्तव्यः। वासवदत्ता सुमनोत्तरा। न च भवति—भैमरथी। महाभाष्य ४।३।८७

५. उदा० "प्रमाणोन्मानोमानस्वरगतिवर्णसारसत्त्वादिभिः परमलक्षणव्यञ्जनैरुपेतकान्तमूर्तिना स्वयमधिगत-महाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयंवरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना सेतु सुदर्शनतरं कारितम्।"

६. "सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललित-सुखविचरमाणामाचक्षाण इव बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः।"

गद्यरचना के दो भेद—(१) कथा और (२) आख्यायिका

संस्कृत में अलङ्कृत शैली में लिखी गई गद्य रचना के सामान्यतया दो भेद माने गये हैं—(१) कथा और (२) आख्यायिका। परन्तु इनके स्वरूप मे मतभेद है।[1] अमरकोषकार के अनुसार 'कथा' कवि की अपनी कल्पना से प्रसूत होती है और 'आख्यायिका' ऐतिहासिक घटनाओं पर पर आधृत।[2] आचार्य भामह ने इन दोनों भेदों का प्रमुख अन्तर यह बतलाया है कि 'आख्यायिका' की कथावस्तु वास्तविक होती है और 'कथा' की कविकल्पित। परन्तु आचार्य दण्डी इस भेद के समर्थक नहीं हैं। इनका मत है :—

"तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयाङ्किता"
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यान-जातयः ॥[3]

दण्डी ने दोनों में प्रमुख अन्तर ये बतलाये हैं—(१) आख्यायिका में नायक स्वयं ही अपनी कथा कहता है जबकि कथा में स्वयं भी कह सकता है तथा किसी अन्य के द्वारा भी कहलवा सकता है। (२) आख्यायिका का विभाजन उच्छ्वासों में होता है, परन्तु कथा का नहीं। (३) आख्यायिका में वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है, किन्तु कथा में इनका प्रयोग नहीं होता है। परन्तु दण्डी इन अन्तरों का होना अनिवार्य नहीं मानते हैं।[4] भामह के अनुसार कथा में विशेष प्रयोजन को ध्यान में रख कर शब्दविशेष का प्रयोग कवि द्वारा किया जाता हैं परन्तु आख्यायायिका में ऐसा नहीं होता है। कथा में कन्या का अपहरण, युद्ध, विरह, सूर्योदय, चन्द्रोदय, सूर्यास्त आदि का वर्णन होता है परन्तु आख्यायिका में नहीं होता है। कथा की भाषा संस्कृत अथवा प्राकृत दोनों हो सकती है।[5] साहित्यदर्पणकार ने कथा में वस्तु का सरस विवेचन करना स्वीकार किया है। इसमें कहीं २ आर्या आदि छन्द भी होते हैं। प्रारम्भ में देवतादि को नमस्कार, कविवंश-कीर्त्तन, दुष्टनिन्दा आदि भी होती है। आख्यायिका में भी ये बातें रह सकती हैं। इसमें अन्य कवियों के चरित्र भी वर्णित किये जा सकते हैं।'[6] किन्तु उक्त भेदों का होना अनिवार्य नहीं है।

---

१. अग्निपुराण में पाँच भेद उल्लिखित हैं—

'आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पञ्चधा॥ १।१२

२. 'आख्यायिकोपलब्धार्था'। 'प्रबन्धकल्पना कथा'। अमरकोषः १।६।५-६

३. काव्यादर्श १।२८

४. काव्यादर्श १।२३-२७

५. काव्यालंकार १।२५-२९

६. कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचित् वक्त्रापवक्त्रके ॥
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्। आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशानुकीर्त्तनम् ॥

वास्तव में बाणभट्ट की रचनाओं (हर्षचरित तथा कादम्बरी) को ध्यान में रख कर उत्तरवर्ती विद्वान् दोनों विधाओं का अन्तर स्वीकार करते हैं ।[1]

प्रमुख प्राचीन तीन गद्यकार

अलङ्कृत गद्यशैली के प्राचीन तीन कवि प्रधान माने जाते हैं। इनके पौर्वापर्य को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार—(१) दण्डी, (२) सुबन्धु और (३) बाणभट्ट यह क्रम हैं। दूसरे विद्वान् (१) सुबन्धु, (२) बाण और (३) दण्डी—यह क्रम मानते हैं। वस्तुतः विवाद बाण को केन्द्रबिन्दु मान कर ही है। दण्डी की सरल अलङ्कृत शैली देख कर उन्हें प्रथम माना जाता है। सुबन्धु की अतिशय अलङ्कृत शैली के आधार पर इन को बाणभट्ट के बाद माना जाता है। दण्डी का 'दशकुमारचरितम्' और सुबन्धु की 'वासवदत्ता' उत्कृष्ट रचनायें हैं।

महाकवि बाणभट्ट

बाणभट्ट संस्कृत साहित्याकाश के वे देदीप्यमान नक्षत्र हैं जिनकी समता करने वाला कोई गद्यकार न हुआ है और न होने की सम्भावना है। सारस्वत कुल का यह महनीय व्यक्ति साक्षात् सरस्वती का ही अवतार प्रतीत होता है। यह सन्तोष का विषय है कि बाणभट्ट ने अपने जीवनवृत्त का पर्याप्त उल्लेख कर दिया है। ये तत्कालीन भारत के सम्राट् हर्षवर्धन की सभा के सम्मानित पण्डित थे। सम्राट् हर्षवर्धन ने वैभवसम्पन्न कान्यकुब्ज राज्य (वर्त्तमान कन्नौज) के सिंहासन पर आरूढ़ होकर विशाल भू-भाग पर शासन किया था। इनका समय चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार ६०६ ई० से ६४८ ई० तक है।[2] अतः बाणभट्ट भी इसी काल के माने जाते हैं। सम्राट् हर्षवर्धन को वर्ण्य विषय मान कर बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' आख्यायिका लिखी।[3]

बाणभट्ट का वंशवृत्त

अपनी प्रसिद्ध आख्यायिका 'हर्षचरित' के आरम्भिक उच्छ्वासों में बाण भट्ट ने अपने वंश तथा प्रधान व्यक्तियों का स्पष्ट परिचय दिया है। इन्होंने अपने वंश का सीधा सम्बन्ध सरस्वती के साथ जोड़ा है।

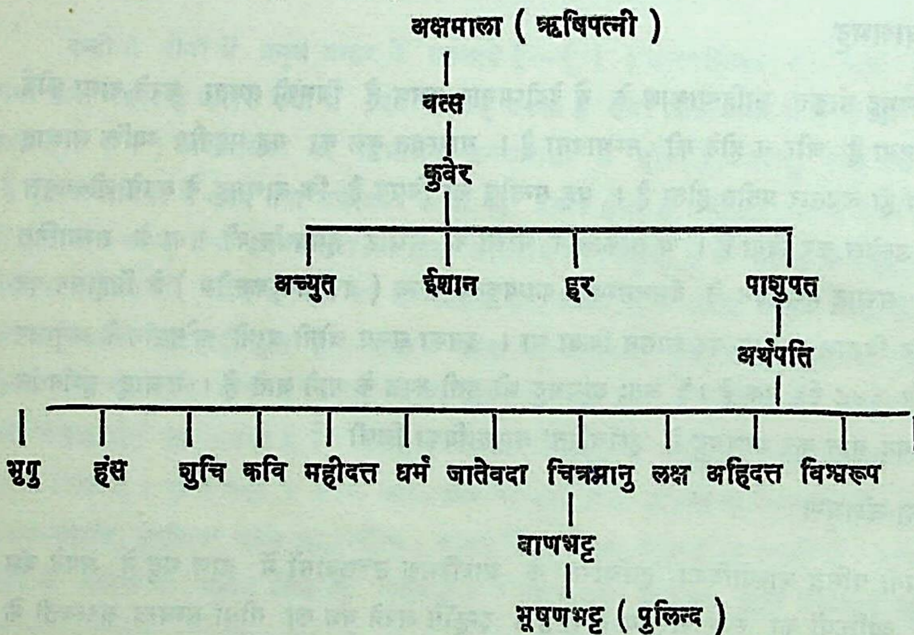
+ अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित् । कथानां व्यवच्छेद आश्वास इति कथ्यते ॥
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसां येन केनचित् । अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ॥
(साहित्यदर्पण ६।३३२-३६)

१. बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' को आख्यायिका और 'कादम्बरी' को कथा लिखा हैं। इसी के अनुसार विद्वानों ने दोनों के अलग अलग स्वरूप दिखलाये हैं। द्र० टि० ३ नीचे

२. द्र० संस्कृत साहित्य की रूपरेखा पृ० २०४ नवीन संस्करण।

३. 'करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्' । हर्षचरित । "धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा" । कादम्बरी मङ्गलश्लोक

'किसी समय ब्रह्मलोक में दुर्वासा को वेद मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण करते देख कर सरस्वती को हंसी आ गई जिसे देखकर दुर्वासा ने क्रुद्ध होकर सरस्वती को शाप दे दिया जिसके कारण उसे ब्रह्मलोक छोड़ कर मृत्युलोक आना पड़ा। यहाँ मृत्युलोक में आकर सरस्वती शोणनदी के तट पर अपनी सखी सावित्री के साथ निवास करने लगी। एक दिन अश्व पर आरूढ हुए च्यवनपुत्र दधीच को सरस्वती ने देखा। दोनों का परस्पर आकर्षण हुआ। उनके सम्मिलन से सरस्वती को एक पुत्र प्राप्त हुआ। जब शाप की अवधि पूरी हो गई तो सरस्वती अपने ब्रह्मलोक वापस लौट गई। दधीच उस पुत्र का पालन-पोषण करने लगे। इस कार्य के लिये उन्होंने 'अक्षमाला' नामक एक ऋषिपत्नी को लगा दिया और स्वयं तपस्या करने चले गये। परन्तु उस अक्षमाला का अपना भी एक पुत्र था जिसका नाम 'वत्स' था। उसने दोनों सन्तानों का पालन-पोषण किया। उसी वत्स से चलने वाले कुल में बाणभट्ट का जन्म हुआ था।[1] बाण की वंशावली निम्न रूप में वर्णित है —



बाणभट्ट चित्रभानु और राजदेवी के पुत्र थे। इनकी माता की मृत्यु इनकी बाल्यावस्था में ही हो गई थी। पिता ने इनका पालन-पोषण किया था। परन्तु दुर्भाग्य ने शीघ्र ही इनके पिता को भी इनसे छीन लिया।[2] इसी का संकेत इन्होंने शुक द्वारा अपनी माता और पिता की मृत्यु का वर्णन कराते हुए किया है। पिता की छाया से रहित बाण नियन्त्रणमुक्त होकर स्वेच्छाचारी हो गये। विभिन्न प्रकार के मित्रों की संगति में पड़ कर इन्होंने विभिन्न स्थानों पर भ्रमण किया।[3]

---

१. हर्षचरित प्रथम उच्छ्वास।

२. स बाल एव बलवतो विधेर्वशादुपसपन्नया व्ययुज्यत जनन्या। जातस्नेहस्तु नितरां पितैवास्य मातृतामकरोत्। अवर्धत च तेनाधिकतरमाध्रीयमानधृतिर्धाम्नि निजे।......अस्य चतुर्दशवर्षदेशीयस्य पिताऽप्यवशमीस्य एवास्तमगमत्।" हर्षचरित प्र० उ०।

३. हर्षचरित प्रथम उच्छ्वास : द्र० बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० १३

फलतः इन्हें अनेक प्रकार के अनुभव हुए।

बाणभट्ट के गुरु

बाणभट्ट ने कादम्बरी के आरम्भ में अपने गुरु को नामोल्लेखपूर्वक प्रणाम किया है—

"नमामि भर्वोश्चरणाम्बुजद्वयम्।"[1]

भर्वु का पाठान्तर 'भर्त्सु' भी मिलता है। अतः इसी प्रकार के नाम वाले गुरु से बाण ने विशेष शिक्षा ग्रहण की। चूंकि इनका परिवार विद्वानों से विभूषित था अतः अधिकांश शिक्षा अपने परिवार से ही प्राप्त की होगी। पिता की मृत्यु के बाद बाण ने देश देशान्तर का खूब भ्रमण किया और विविध अनुभव एकत्रित किये।

बाणभट्ट का निजी परिवार

बाणभट्ट ने अपने पूर्वजों का अति विस्तृत परिचय देकर भी निजी परिवार के विषय में कुछ नहीं लिखा है। कादम्बरी की मार्मिक कथा से उनका निजी जीवन सुखमय नहीं प्रतीत होता है। द्विजन्मा होने से एक पत्नी की कल्पना की जा सकती है। किम्वदन्ती के अनुसार इनके पुत्र एक से अधिक[2] रहे होंगे उनमें एकमात्र पुलिन्द या भूषणभट्ट[3] का ही ज्ञान होता है जिन्होंने अपने पिता की अपूर्ण कादम्बरी को पूर्ण करने का सफल प्रयास किया था।

बाणभट्ट और मयूर का समकालिकत्व प्रसिद्ध है। यह भी प्रसिद्धि है कि दोनों में साले-बहनोई का सम्बन्ध था। एक पद्य के अन्तिम पाद की पूर्ति अचानक सुन कर बाण की पत्नी के शाप से मयूर कवि का कुष्ठ रोगग्रस्त होना प्रसिद्ध है।[4]

बाणभट्ट का जन्मस्थान

बाण ने अपने जन्मस्थान का उल्लेख कर दिया है कि शोण नामक नद के दूसरी ओर एक गव्यूति (दो कोस) दूर हट कर च्यवन ऋषि के नाम से विख्यात च्यावन नामक वन था—"इतश्च गव्यूतिमात्रमिव पारेशोणं तस्य भगवतश्च्यवनस्य स्वनाम्ना निर्मितव्यपदेशं च्यावनं नाम काननम्।"[5]

शोण का एक दूसरा नाम भी बाण ने हर्षचरित में लिखा है—"हिरण्यवाहनामानं महानदं यं जनः शोण इति कथयन्ति।"[6] इस शोणनद के समीप ही 'प्रीतिकूट' नामक ग्राम बसाया गया था जो बाणभट्ट की जन्मस्थली थी। इस विषय में श्री परमेश्वरप्रसाद शर्मा का वक्तव्य महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है कि च्यवन ऋषि का आश्रम और प्रीतिकूट समीप में ही थे। प्रीतिकूट ही वर्तमान 'पीरू' नामक गाँव है। च्यवन का आश्रम आजकल देवकुण्ड या देवकूट नाम से प्रसिद्ध

---

१. कादम्बरी-मङ्गलाचरण। २. द्र० कादम्बरी का काव्यशास्त्रीय अध्ययन पृ० ७०

३. केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन्। किं पुनः क्लृप्तसन्धानः पुलिन्दकृतसन्निधिः॥

४. गतप्राया रात्रिः कृशतनु-शशी शीर्यत इव, प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामान्तो मानस्तदपि न जहासि क्रुधमहो 'कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि! कठिनम्॥

५. हर्षचरित प्र० उ०। ६. हर्षचरित प्र० उ०।

है। गया जिले में शोण नहर के पास शोण की वर्तमान धारा से पूर्व की ओर, गया से पश्चिम दिशा में रफीगंज से चौदह मील उत्तर पश्चिम में बसा हुआ है। इस आश्रम के आस पास वच्छगौतियों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ बसी हुई हैं जैसे—सोनभद्दर, परमै, बैधवी आदि। इनमें सोनभद्दर आदि माना जाता है, यहाँ के निवासी सोनभदरिया नाम से विख्यात हैं जो अपने को वच्छगौतिया कहते हैं। (यह वत्सगोत्रीय का अपभ्रंश है।) इन सभी से प्रतीत होता है कि यहीं आस पास बाणभट्ट का मूल जन्मस्थान रहा होगा।[1]

बाणभट्ट के आश्रयदाता

यद्यपि बाण के पास विपुल वैभव था तथापि अपनी योग्यता और प्रतिभा के अनुसार इन्हें राजाश्रय प्राप्त करना आवश्यक था। पिता की मृत्यु के बाद अपनी विशाल मित्रमण्डली लेकर घूमने फिरने के कारण सम्राट् हर्ष के पास इनकी निन्दा पहुँचाई गई। परन्तु हर्षवर्धन के चचेरे भाई कृष्णवर्धन ने इनके पास सन्देश भेज कर कहलवा दिया कि उन्होंने सम्राट् को सब सही स्थिति बता दी है और अब वे बाण को चाहने लगे हैं। अतः शीघ्र ही स्वयं आकर सम्राट् से मिलकर अपना सम्बन्ध बनाना आवश्यक है। ऐसा सन्देश प्राप्त करते ही बाणभट्ट आकर हर्षवर्धन की सभा में उपस्थित हुए। कुछ ही समय में इन्होंने सम्राट् को प्रभावित कर राजसभा में सम्मानित विद्वान् का स्थान प्राप्त कर लिया।

बाणभट्ट की कृतियाँ

विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न, वेद, वेदाङ्ग, पुराण, विविध शास्त्रों के मर्मज्ञ, लोक व्यवहार में निपुण तथा प्राणिमात्र के मनोभावों के सूक्ष्मदर्शी बाणभट्ट की कीर्तिपताका मुख्य रूप से दो अमर कृतियों—(१) हर्षचरित (२) कादम्बरी पर आश्रित है। इन दो के अतिरिक्त 'चण्डीशतक' 'पार्वतीपरिणय' भी इनकी रचनायें मानी जाती हैं। 'पार्वतीपरिणय' एक नाटक है जो 'कुमारसम्भव' के आधार पर लिखा गया है। किन्तु इसे बाणभट्ट की रचना मानने में कुछ विद्वानों का वैमत्य है। चण्डीशतक सौ स्रग्धरा छन्दों में उपनिबद्ध एक स्तुति काव्य है। चण्डी देवी के प्रति इनके विशेष अनुराग का ज्ञान कादम्बरी के 'चण्डिकावर्णन' में सुस्पष्ट है। नलचम्पू के प्रसिद्ध व्याख्याकार चण्डपाल तथा गुणि विनयमणि ने 'मुकुटताडितक' नामक नाटक को भी बाणभट्ट की रचना माना है। परन्तु अभी तक यह रचना अनुपलब्ध है। अपनी 'औचित्यविचारचर्चा' में क्षेमेन्द्र ने बाणभट्ट के नाम से पद्य उद्धृत करते हुए कादम्बरी के विरह का वर्णन दिखलाया[2] है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने पद्य कादम्बरी भी लिखी थी। भोज ने बाणभट्ट को गद्य तथा पद्य दोनों में समान रूप से सफल माना है—

---

१. विशेष विचार देखें 'बाण-जयन्ती-निबन्धावली' में 'वश्यवाणी-कविचक्रवर्त्ती बाणभट्टः' श्री परमेश्वर प्रसाद शर्मा का लेख, पृ० ५६-८१।

२. हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि, प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि, निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः॥ औचित्यवि०

"यादृग् गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धेऽपि तादृशः"[1]।

अन्य भी अनेक ग्रन्थकारों ने बाण की सूक्तियों का संकेत अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। परन्तु अभी तक अन्य कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध न होने से उपर्युक्त रचनाओं तक सीमित रहना पड़ता है। वास्तव में हर्षचरित या कादम्बरी कोई एक रचना भी बाण के यश को अमर करने के लिए पर्याप्त है।

(१) हर्ष-चरित

यह एक आख्यायिका है। इसमें आठ उच्छ्वास हैं। इसमें स्थाण्वीश्वर (बाद में कान्य-कुब्जेश्वर) सम्राट् हर्षवर्धन से सम्बद्ध वृत्तान्त वर्णित है। इसका अधिकांश वर्णन ऐतिहासिक होने पर भी कविकल्पना की प्रधानता के कारण इसे ऐतिहासिक कृति मानना सम्भव नहीं है।

हर्षचरित के आरम्भ में शिवस्तुति है। लम्बी प्रस्तावना में कवि ने अपने पूर्ववर्त्ती अनेक कवियों की प्रशंसा की है। इसमें कवियों और उनकी रचनाओं का भी उल्लेख है। प्रथम उच्छ्वास में बाणभट्ट ने अपने 'वत्स' वंश का विस्तृत वर्णन करके अपने उच्छृङ्खल यौवन का वर्णन किया है। द्वितीय उच्छ्वास में हर्षवर्धन के चचेरे भाई कृष्णवर्धन का पत्र पाकर सम्राट् हर्षवर्धन की सभा में पहुँचना वर्णित है। तृतीय उच्छ्वास में बाण का अपने ग्राम वापस लौटना और अपने बन्धुओं आदि के आग्रह पर सम्राट् हर्षवर्धन के चरित को सुनाने का वर्णन है। इसमें हर्षवर्धन का काल्पनिक राजा पुष्पभूति से सम्बन्ध, उसकी महिमा और शैव योगी भैरवाचार्य का विशद वर्णन है। चतुर्थ उच्छ्वास में पुष्पभूति से उत्पन्न राजाओं की चर्चा करते हुये प्रभाकर का वर्णन है। इनकी महारानी के स्वप्नदर्शन के अनुसार तीन सन्तानों १—राज्यवर्धन, २—राज्यश्री और ३—हर्षवर्धन का जन्म तथा उत्सवों का वर्णन है। राज्यश्री का मौखरी वंश के ग्रहवर्मा से विवाह भी वर्णित है। पञ्चम में हूणों पर आक्रमण के लिये राज्यवर्धन की विजययात्रा, हर्षवर्धन का बीच में ही रुक जाना और पिता की अस्वस्थता का समाचार सुनकर वापस लौटना, पुत्र को देख कर पिता का विह्वल हो जाना, पति की मरणासन्न स्थिति में महारानी का सती होने का प्रयास, बाण द्वारा उन्हें रोक पाने में असफल होना, राजा की मृत्यु तथा हर्षवर्धन का दुःख वर्णित है। षष्ठ उच्छ्वास में राज्यवर्धन की हूणों पर विजय, पिता की मृत्यु से दुःख, मालवनरेश द्वारा राज्यश्री के पति ग्रहवर्मा का वध, राज्यश्री का बन्दी बनना, राज्यवर्धन द्वारा मालवनरेश पर आक्रमण, उस पर विजय, किन्तु गौड नृपति द्वारा विश्वासघात करके राज्यवर्धन का वध, हर्षवर्धन का क्रोध और गौड नृपति पर आक्रमण की तैयारी वर्णित है। सप्तम उच्छ्वास में हर्षवर्धन का विशाल सेना के साथ विजय-प्रस्थान, आसाम के राजा द्वारा दिव्यछत्र भेंट, अपने भ्राता राज्यवर्धन की मृत्यु से दुःखी राज्यश्री का अपने सेवकों के साथ विन्ध्यवन में छिपना, हर्ष द्वारा राज्यश्री की

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण २।२०।

खोज करना, भण्डि सेनापति को गौड़नृपति की ओर प्रस्थान का आदेश वर्णित है। अष्टम उच्छ्वास में हर्ष का विन्ध्याटवी में पहुँचना, निर्घात नामक शबर की सहायता से राज्यश्री की खोज करना, भिक्षु दिवाकरमित्र से मिल कर राज्यश्री का पता लगवाना, अन्य भिक्षु से राज्यश्री का अग्नि में प्रवेश करने का समाचार पाकर वहाँ पहुँचना, अग्निदाह से राज्यश्री को बचा लेना, भिक्षु के उपदेश से शुद्धि का प्रयास करना, बाद में भिक्षु बन जाना और अचानक कटक वापस लौटना वर्णित है। यहीं तक वर्णन है। आगे की घटनाओं का वर्णन कर सकने में बाण ने बहुत समय की अपेक्षा की है।

(२) कादम्बरी

बाणभट्ट की कादम्बरी का पूर्वार्द्ध—मङ्गलाचरण, कथामुख और मुख्य कथा का अर्धभाग प्रस्तुत करता है। २० पद्यों में बाण ने मङ्गलस्तुति, गुरु तथा वंश का परिचय, सज्जन-स्तुति और दुर्जन-निन्दा का वर्णन करते हुए अपनी कथा की प्रशंसा की है।

कथामुख—कादम्बरी का प्रारम्भ एक अतिशय प्रतापी राजा शूद्रक के वर्णन से होता है। शूद्रक विदिशा का राजा था। वह विविध ऐश्वर्य-सम्पन्न होकर अनेक सुखोपभोग कर रहा था। एक दिन प्रातः काल राज्यसभा में सिंहासन पर बैठे हुए उस राजा शूद्रक की सभा में एक चण्डाल-कन्या सोने के पिंजड़े में बन्द एक विलक्षण शुक को लेकर उपस्थित हुई। उस कन्या ने राजा को प्रणाम करके वैशम्पायन शुक को स्वीकार करने की प्रार्थना की। उस शुक ने अपना दांया पंजा उठा कर मनुष्यवाणी में पद्य पढ़ कर राजा को प्रणाम किया। राजा तथा उपस्थित सभी लोग आश्चर्यचकित हो गये। शुक को भोजनादि के लिये भीतर अन्तःपुर में भेजने के बाद दैनिक कृत्य सम्पादित करके राजा ने उस शुक को अपने समक्ष लाने का निर्देश दिया। आने पर राजा ने उससे अपना जीवन-वृत्तान्त बतलाने का आग्रह किया।

वह शुक बोला—"विन्ध्याटवी में महर्षि अगस्त्य के आश्रम के पास एक 'पम्पा' नामक सरोवर था। जिसके तट पर एक जीर्ण शाल्मली वृक्ष में अनेक शुक-परिवारों के साथ रहते हुए एक वृद्ध शुक का मैं पुत्र उत्पन्न हुआ। माता की मृत्यु हो जाने पर पिता ने पाला पोसा। एक दिन एक शबर सेनापति उधर से निकला। उसी में से एक शबर बाद में उस वृक्ष के अनेक शुकों को मार कर अपने साथ लेकर चल दिया। मैं किसी प्रकार बच गया। प्राण बचाने के लिये मैं प्यासा होकर आगे चल पड़ा। इसी बीच महर्षि जाबालि का पुत्र हारीत ब्रह्मचारी स्नान करने के लिये उधर से निकला। मुझे मरणासन्न देख कर उठाया और पानी पिला कर लौटते समय अपने साथ आश्रम ले गया। आश्रम की शोभा और महर्षि जाबालि का व्यक्तित्व देखकर मैं बहुत प्रसन्न और प्रभावित हुआ। महर्षि ने मुझे देख कर, कुछ देर ध्यानमग्न होकर कहा—"यह शुक अपने ही कर्मों का फल भोग रहा है।" महर्षि के वचन सुन कर सभी ऋषियों ने अपनी उत्सुकता प्रकट की और मेरे वृत्तान्त को सुनाने की प्रार्थना की। महर्षि ने निश्चिन्त होकर कथा सुनाना

स्वीकार किया क्योंकि कथा लम्बी थी। और यह भी कहा कि कथा सुनते ही इस शुक को अपना पूर्व वृत्तान्त स्मरण हो जायगा। सन्ध्यावन्दन, भोजनादि कृत्य के बाद महर्षि ने 'सुनिये' ऐसा कह कर कथा कहनी प्रारम्भ की। (कथामुख समाप्त)

मुख्य कथा पूर्वार्द्ध—(शुकनासोपदेश तक) अवन्ती क्षेत्र में विविध विशेषताओं से युक्त उज्जयिनी नगरी में तारापीड नामक महाप्रतापी राजा राज्य करता था। अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न शुकनास नामक ब्राह्मण उसका महामन्त्री था। उस पर राजा को पूर्ण विश्वास होने से राजा सुखी जीवन यापन कर रहा था। सभी सुख प्राप्त होने पर भी केवल सन्तान-सुख से वञ्चित राजा खिन्न था। उसकी प्रधान महिषी विलासवती ने पुत्रहीन को स्वर्ग न प्राप्त कर सकने की कथा सुन कर अपनी व्यथा राजा को सुनाई। राजा के कहने से महारानी और अधिक धर्म कार्यों में लग गई। जितने भी अनुष्ठान लोगों से सुने, रानी ने सभी को पूरा किया।

एक दिन रात्रि की समाप्ति में राजा ने शुभ स्वप्न देखा कि पूरा चन्द्रमण्डल उसकी रानी के शरीर में प्रवेश कर गया। उसने जाग कर शुकनास को वह स्वप्न सुनाया। शुकनास ने भी अपना शुभ स्वप्न सुनाकर राजा को सन्तुष्ट कर दिया। दोनों ने एक साथ जाकर महारानी को स्वप्न सुनाकर प्रसन्न किया। कुछ दिनों बाद महारानी गर्भवती हो गई। परिचारिका द्वारा गर्भ-धारण का समाचार सुनकर राजा शुकनास के साथ महारानी से मिलकर सत्यता को जान कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। कुछ दिनों के बाद महारानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। सर्वत्र आनन्द का सागर उमड़ने लगा। उसी बीच शुकनास की पत्नी मनोरमा ने भी एक पुत्र को जन्म दिया। जन्म-संस्कार के बाद राजा ने स्वप्न के अनुरूप अपने पुत्र का नाम 'चन्द्रापीड' और शुकनास ने 'वैशम्पायन' रखा।

धीरे धीरे दोनों का शैशव बीता। राजा ने नगर के बाहर एक गुरुकुल में चन्द्रापीड की शिक्षा की व्यवस्था कर दी। शुभ मुहूर्त में चन्द्रापीड और वैशम्पायन दोनों ने वहाँ प्रवेश लिया और शिक्षा-ग्रहण प्रारम्भ कर दिया। दोनों ने कुछ ही समय में सारी विद्यायें सीख लीं। महाप्राणता के अतिरिक्त सभी विषयों में वैशम्पायन भी चन्द्रापीड के समान ही था। राजा ने सेनापति के साथ 'इन्द्रायुध' अश्व भेजकर चन्द्रापीड को राजभवन में वापस बुलवाया। चन्द्रापीड ने इन्द्रायुध अश्व को देख-कर, आकृष्ट होकर उसे शापग्रस्त महात्मा समझा। क्षमापूर्वक अश्व पर आरूढ होकर वह नगर में वापस आया। सर्वत्र लोग उसके स्वागत में उमड़ पड़े। धीरे-धीरे वह राजभवन की ओर पहुँचा और सामन्तों से परिवेष्टित, पलंग पर विराजमान पिता को देखकर चन्द्रापीड ने प्रणाम किया, पिता द्वारा आलिङ्गित होने के बाद वह आसन हटा कर पृथ्वी पर ही बैठ गया। उसी प्रकार वैशम्पायन भी आलिङ्गन के बाद चन्द्रापीड के समीप ही बैठ गया। राजा की आज्ञा से वह अन्तःपुर में जाकर माता और अन्य पूज्य स्त्रियों को प्रणाम करके वैशम्पायन के साथ शुकनास के भवन पहुँचा। वहाँ भी उनके प्रणामादि के बाद वैशम्पायन की माता को प्रणाम कर वापस लौटा। उसने अपने शयनगृह के समीप ही इन्द्रायुध अश्व को बँधवाया। दूसरे दिन प्रातः काल उठ कर अपने लिये नवीन व्यवस्थायुक्त शिकार के लिये इन्द्रायुध पर आरूढ होकर चल दिया। वापस लौट कर दैनिक कृत्य के बाद विश्राम के पूर्व अपने हाथों से इन्द्रायुध के सामने घास रखी। अगले दिन महारानी वसुमती ने अपने पुत्र

की सेवा के लिये महाराज कुलूतेश्वर की कन्या पत्रलेखा को ताम्बूल-पात्र-वाहिनी बना कर भेजा। और उसके साथ शिष्ट रीति से व्यवहार करने का निर्देश दिया। पत्रलेखा चन्द्रापीड की सेवा में लग गई और शीघ्र ही उसकी विश्वासपात्र बन गई।

कुछ दिनों बाद राजा तारापीड ने अपने पुत्र का यौवराज्याभिषेक करने की तैयारी कर दी। चन्द्रापीड महामात्य शुकनास के समीप पहुँचा। शुकनास ने एक अति उपयोगी लम्बा उपदेश देकर चन्द्रापीड को जीवन के व्यावहारिक पक्षों को विस्तार से समझा दिया।

(शुकनासोपदेश समाप्त)

अनेक राजाओं के साथ महान् उत्साह और उत्सव में चन्द्रापीड का अभिषेक कर दिया गया। इसके बाद वह विजय-यात्रा के लिये चल दिया। पूर्वादि दिशाओं को जीतने के बाद उसने सेना को विश्राम करने के लिये ठहरा दिया। एक दिन वह इन्द्रायुध पर आरूढ़ होकर जा रहा था कि पर्वत की चोटी से उतरते हुए अद्भुत किन्नरयुगल को देखते ही उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ा दिया। किन्नरमिथुन भागने लगा, चन्द्रापीड पीछा करने लगा। वह युगल पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर अदृश्य हो गया। चन्द्रापीड अपनी मूर्खता पर हँसा और अज्ञात स्थान के विषय में सोचने लगा। उसने कल्पना की यह उत्तर में कैलासपर्वत है। पीछे मुड़ कर प्यासा होने से जल की खोज में लग गया। हाथियों के कीचड़ भरे पैरों के चिह्नों से उसने अच्छोद सरोवर का पता लगाया। वहाँ पहुँच कर, घोड़े को स्नानादि करा कर विश्राम करने लगा।

वहाँ उसे सूने जंगल में एक मधुर गीत की ध्वनि सुनाई दी। उत्सुक होकर वह उसी ओर चल दिया। कुछ दूर जाने पर उसे भगवान् शंकर का एक मन्दिर दिखाई दिया। जिसमें चतुर्मुख प्रतिमा के सामने गौरवर्णा,पाशुपत व्रत धारण किये हुई कोई कन्या बैठी हुई थी। शंकर जी को प्रणाम कर वह गीत की समाप्ति की प्रतीक्षा करने लगा। गीत समाप्त हो जाने पर उस कन्या ने भगवान् को प्रणाम करने के बाद चन्द्रापीड का अतिथिसत्कार किया। उसके साथ चलता हुआ चन्द्रापीड एक गुफा के समीप पहुँचा। फलभोजनादि के बाद चन्द्रापीड ने अपनी यात्रा के विषय में उसे सब बताया। चन्द्रापीड के विशेष अनुरोध पर लम्बी सांसे भर कर वह कन्या कहने लगी कि जन्म से अभागिन के वैराग्यवृत्तान्त को सुनने से क्या लाभ? फिर भी उत्सुकता है तो सुनिये। अपने वंश तथा उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उसने कहा कि अप्सराओं के चौदह कुल हैं। उनमें चित्ररथ नामक गन्धर्वराज हुआ। उसी ने 'अच्छोद' सरोवर और शिवमंदिर बनवाया था। अरिष्टा के पुत्र हंस को चित्ररथ ने राज्याधिकार प्रदान किया था। हंस का विवाह गौरी से हुआ। उन्हीं दोनों की पुत्री मैं महाश्वेता नामवाली हूँ। अकेली सन्तान होने से मेरे माता पिता ने मेरा लालन पालन बड़े स्नेह से किया। युवावस्था में कभी वसन्त के समय अपनी माता के साथ स्नान करने 'अच्छोद' सरोवर आई। घूमते हुए अचानक उत्कट गन्ध का अनुभव हुआ। उसका मूल जानने के लिये इधर-उधर खोजने पर मुझे अत्यन्त तेजस्वी, साक्षात् कामदेव-स्वरूप एक ऋषिकुमार दिखाई दिया। उसके कान में उत्कट गन्धवाहिनी मञ्जरी लगी हुई थी। मैं उसके सौन्दर्य से आकृष्ट हो गई। मैं अपना विकार देखकर चिन्तित हुई और वहाँ से हटने का विचार करने लगी। मैंने उस मुनिकुमार को प्रणाम किया। कामदेव के प्रभाव से वह मुनिकुमार भी मुझ पर आसक्त हो गया था। उसके साथी

कपिंजल ने उसका तथा मञ्जरी का पूरा परिचय दिया कि वह श्वेतकेतु का पुत्र है। लक्ष्मी द्वारा कमल पर उत्पन्न करने के कारण श्वेतकेतु ने इसका नाम पुण्डरीक रखा है। आज चतुर्दशी को यहाँ आते हुए नन्दनवन की देवी ने यह मञ्जरी इसके कान में लगाई है। सब बातें सुनकर पुण्डरीक ने अपनी मंजरी मेरे कान पर लगा दी। उसके स्पर्श से मैं और कामाभिभूत हो गई, वह ऋषिकुमार भी अपना सन्तुलन खो बैठा। उसके हाथ से अक्षमाला गिरी मैंने मध्य में पकड़ कर धारण कर ली। छत्रधारिणी की सूचना से मैं स्नान करने चल दी। उसके साथी ने पुण्डरीक का आचरण देख कर उसकी निन्दा की। तब वह कृत्रिम क्रोध करता हुआ बोला—'अरे चञ्चल कन्ये! मेरी अक्षमाला दिये बिना एक पग भी आगे मत बढ़ना।' घबड़ाहट में मैंने अक्षमाला के बदले अपना हार उसे दे दिया। वापस लौटने पर भी मेरा मन उसी ऋषिकुमार में लगा रहा।

मेरी परिचारिका ने बताया कि दोनों मुनिकुमारों में से एक ने चुपचाप आकर मेरा परिचय पूछा और एक 'आर्या' गीति लिख कर मुझे दे दी। जिसमें उसकी कामातुरता का वर्णन था। उसी दिन सायंकाल छत्रधारिणी ने एक मुनिकुमार के द्वार पर आने का समाचार दिया। मैंने तत्काल उसे भीतर बुलवाया। उसने अपने मित्र की दयनीय दशा का वर्णन करके मेरी सहायता माँगी। और गर्हित होने पर भी मित्र के प्राणों की रक्षा के लिये अपना आना उचित बतलाया। इसी बीच मेरी अस्वस्थता जान कर मेरी माता मुझे देखने आ रही हैं—यह सुन कर ऋषिकुमार कपिंजल वहाँ से निकल कर वापस चला गया।

माता के वापस लौट जाने पर मैंने अपनी अभिन्न सखी तरलिका से पूछा कि उस परिस्थिति में क्या करना उचित है। एक ओर कुल की मर्यादा की रक्षा और दूसरी ओर मुनिकुमार के प्राणों की रक्षा। उस विषम परिस्थिति में तरलिका ने उसे बुलाने अथवा स्वयं ही उस मुनिकुमार के पास जाने का परामर्श दिया। मैंने स्वयं ही अभिसार का निश्चय किया और गुप्त रूप से उतर कर चल पड़ी। उस समय मेरी दाहिनी आँख फड़क रही थी। कुछ दूर चलने के बाद मुझे किसी पुरुष का आर्त्तस्वर सुनाई पड़ा। मेरी दुश्चिन्ता और बढ़ गई। अज्ञात आवेश में मैं वहाँ पहुँची और पुण्डरीक के मृत देह के पास विलाप करते हुए कपिञ्जल को देखा। मैं मूर्छित हो गई। होश में आने पर मैं करुण क्रन्दन करती हुई सभी ओर अपने प्राणवल्लभ के प्राणों की याचना करने लगी।' ऐसा कहते-कहते महाश्वेता पुनः मूर्छित हो गई। चन्द्रापीड ने जलादि छिड़क कर उसे होश में लाकर आगे की कथा सुनाने से मना किया।

परन्तु वह महाश्वेता आगे का आश्चर्य सुनाने लगी। पुण्डरीक की मृत्यु से दुःखी होकर उसने तरलिका से चिता बनाने को कहा। उसी बीच अकस्मात् चन्द्रमण्डल से एक दिव्य आकृति जो विविध आभूषणों से अलंकृत थी, नीचे उतरी और बोली "महाश्वेते! तुम अपने प्राणों का परित्याग मत करो। इसके साथ तुम्हारा दुबारा मिलन होगा।" ऐसा कहती हुई दिव्याकृति पुण्डरीक के देह को उठा कर आकाश की ओर चल पड़ी। मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर कपिञ्जल से पूछने लगी कि यह क्या है? किन्तु मेरे प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही आक्रोश व्यक्त करता हुआ कपिञ्जल उस आकृति

का पीछा करता हुआ अन्तरिक्ष में उड़ गया और देखते-देखते वे सभी तारागणों के मध्य में प्रविष्ट हो गये।

घबड़ाई और मूढ़ हुई मैंने तरलिका से पूछा। वह उस दिव्य आकृति के वचनों पर विश्वास करने का आग्रह करने लगी। मैंने उसी वाणी की सत्यता मान कर पुनर्मिलन की आशा से उसी सरोवर के किनारे वह यातनामयी रात बिताई। दूसरे दिन उसी मुनिकुमार के कमण्डलु और अक्षमाला आदि लेकर शिव की आराधना में लग गई। मेरा समाचार सुन कर वहाँ आये हुए अपने माता पिता को मैंने निराश वापस लौटा दिया।" ऐसा कह कर वह पुनः रोने लगी।

चन्द्रापीड ने भी उसे अनेक दृष्टान्तों द्वारा पुनर्जन्म होना सम्भव बताया और दिव्य आकृति की बात पर विश्वास करने का समर्थन किया। उसे किसी भी स्थिति में प्राणत्याग नहीं करना चाहिए, यह समझाया। [महाश्वेता-वृत्तान्त समाप्त]

चन्द्रापीड ने फिर पूछा कि आपकी वह सहचारिणी तरलिका कहाँ गई? महाश्वेता ने बतलाया कि अमृत से उत्पन्न अप्सराओं के कुल में 'मदिरा' नामक एक कन्या ने जन्म लिया। उसका विवाह गन्धर्वराज चित्ररथ के साथ हुआ था। उन दोनों की एक अति सुन्दर कन्या 'कादम्बरी' नामवाली उत्पन्न हुई। वह मेरी अभिन्न सखी है। मेरे दुःखद वृत्तान्त से दुःखी होकर कादम्बरी ने यह प्रतिज्ञा कर डाली कि जब तक मेरा (महाश्वेता का) दारुण दुःख दूर नहीं हो जाता, वह किसी के साथ विवाह नहीं करेगी ? इससे उसके माता-पिता बहुत दुःखी हैं। उन्होंने कादम्बरी को समझाने में मेरी सहायता मांगी है। उस कार्य के लिये मैंने तरलिका को कादम्बरी के पास भेज दिया है। उसके जाने के तत्काल बाद आप (चन्द्रापीड) यहाँ आये।'

दूसरे दिन महाश्वेता और चन्द्रापीड प्रातःकालिक कृत्य सम्पन्न करके बैठे थे कि तरलिका वहाँ आई और चन्द्रापीड को देख कर आश्चर्य में पड़ गई। महाश्वेता के पूछने पर तरलिका ने केयूरक से कादम्बरी का सन्देश कहने को कहा। केयूरक ने बतलाया कि कादम्बरी आपके दुःख से इतनी दुःखी है कि विवाह के लिए सोंचना भी नहीं चाहती। यह सुन कर महाश्वेता ने स्वयं आकर उसे समझाने का आश्वासन देकर केयूरक को वापस भेज दिया।

महाश्वेता के अनुरोध पर चन्द्रापीड ने कादम्बरी के निवास-स्थान हेमकूट पर चलना स्वीकार किया। वे दोनों शीघ्र ही वहाँ कन्यान्तःपुर के पास पहुँचे। वहाँ की शोभा देख कर चन्द्रापीड अत्यन्त प्रभावित और प्रसन्न हुआ। उसने सखियों से घिरी हुई, मण्डप के नीचे बैठी हुई कादम्बरी को देखा। उसके हाव-भाव अतिशय आकर्षक थे। वह वापस लौटे हुए केयूरक से चन्द्रापीड के विषय में विविध प्रश्न कर रही थी।

चन्द्रापीड उसका लोकोत्तर सौन्दर्य देख कर आनन्दमग्न हो गया। कादम्बरी ने परिचय प्राप्त करके चन्द्रापीड का उचित सत्कार किया। महाश्वेता के कहने पर सकुचाती हुई कादम्बरी ने

चन्द्रापीड को अपने हाथ से पान दिया। वहाँ तोता-मैना के विवाद में चन्द्रापीड ने भी परिहास कर लिया। कादम्बरी के माता-पिता से मिलने के लिए जाते समय महाश्वेता ने चन्द्रापीड को कादम्बरी के महल के समीपवर्ती माणिक्य भवन में ठहराने का परामर्श दिया। महाश्वेता के चले जाने के बाद कादम्बरी और चन्द्रापीड भी अपने अपने भवनों में चले गये।

अनेक सेवकों से सेवित होता हुआ चन्द्रापीड कादम्बरी के विषय में ही सोचता रहा। कादम्बरी ने अपनी सखियों के हाथों से विविध उपहारों के साथ एक अपूर्व हार भी भेंट के रूप में भेजा। मदलेखा की वाक्पटुता से चन्द्रापीड ने उसे स्वीकार कर लिया। कादम्बरी अपने महल के ऊपरी भाग में बैठ कर विभिन्न प्रकार के विलासों से चन्द्रापीड को आकृष्ट करने लगी। चन्द्रोदय होने पर वह अपने अतिथि के पास स्वयं पहुँची। इससे चन्द्रापीड बहुत प्रभावित हुआ और कादम्बरी के व्यवहार की खूब प्रशंसा करने लगा। कादम्बरी की सखी मदलेखा ने बातों ही बातों में चन्द्रापीड से उसका पूरा परिचय पूछ डाला। कुछ देर बाद कादम्बरी वहाँ से वापस लौट गई।

उसके वापस जाने के बाद चन्द्रापीड ने सम्पूर्ण रात्रि क्षण के समान ही बिता दी। प्रातः काल वह कादम्बरी के भवन में पहुँचा। वहाँ महाश्वेता के साथ बैठी हुई कादम्बरी को देखा। उसके आने का उद्देश्य जान कर महाश्वेता ने बतलाया कि चन्द्रापीड अपने स्थान वापस लौटना चाहता है। कादम्बरी के आदेश से गन्धर्व-राजकुमार उसे महाश्वेता के आश्रम लेकर पहुँचे जहाँ इन्द्रायुध के खुर के चिह्नों के आधार पर खोज करती हुई चन्द्रापीड की सम्पूर्ण सेना आकर उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। सभी लोग चन्द्रापीड को देख कर बहुत प्रसन्न हुए। उसने वैशम्पायन तथा पत्रलेखा को गन्धर्व-नगर की सभी बातें बतलाते हुए पूरी रात बिता दी। दूसरे दिन प्रातःकाल आस्थान-मण्डप में विराजमान चन्द्रापीड ने प्रतीहारी के साथ प्रवेश करते हुए केयूरक को देखा। उसका आलिङ्गन करके अपने पास बैठाया। कादम्बरी आदि का समाचार पूछा। केयूरक ने कादम्बरी तथा महाश्वेता की ओर से प्रणाम कहने के बाद चन्द्रापीड द्वारा भूल से छोड़ा गया 'हार' उसे समर्पित कर दिया। सभी सामग्री स्वीकार करने के बाद वह केयूरक के साथ घुड़साल में पहुँच कर कादम्बरी और महाश्वेता के विषय में पूछने लगा। केयूरक ने कादम्बरी की दयनीय दशा का वर्णन किया। उसे सुन कर चन्द्रापीड ने तत्काल अश्व मंगवाया और पत्रलेखा के साथ हेमकूट चल दिया।

हेमकूट पहुँच कर उसने काम-विह्वल कादम्बरी को देखा। महाश्वेता को प्रणाम करने के बाद कादम्बरी को नमस्कार किया। पत्रलेखा का परिचय दिया गया और कादम्बरी ने उसे अपने पास पीछे बैठा लिया। चन्द्रापीड कादम्बरी को देख कर कामदेव की अलङ्घनीय महिमा सोंच कर कादम्बरी के साथ श्लिष्ट प्रेममय वार्तायें करने लगा। वहाँ से वापस लौटते समय चन्द्रापीड कादम्बरी के अनुरोध से पत्रलेखा को उसी के पास छोड़ कर अपनी सेना के समीप लौट आया।

आते ही उसे उज्जयिनी से अपने पिता का पत्र मिला जिसमें उसे पत्र पढ़ते ही उज्जयिनी

वापस आने के लिये लिखा था। वही बात शुकनास के पत्र में भी वैशम्पायन के पास लिख कर कही गई थी। उसने तत्काल चलने का निश्चय किया और मेघनाद (सेनापति बलाहक के पुत्र) को पत्रलेखा के साथ आने का आदेश दिया। अपनी अचानक वापसी के लिये उसने कादम्बरी से बहुत क्षमा मांगी और अपने पिता की आज्ञा को प्रमुख कारण सिद्ध करते हुए जीवित रहते पुर्नमिलन की आशा का सन्देश केयूरक के माध्यम से कादम्बरी के पास भिजवा दिया। वैशम्पायन को सेना का अध्यक्ष बना कर, पत्र लाने वाले के सांथ ही वह उज्जयिनी की ओर चल दिया।

वापस लौटते समय उसके साथ कुछ सैनिक थे। मार्ग में उसने एक अतिसुन्दर रक्तध्वज देखा। पास जाने पर वहाँ चण्डिकामन्दिर और उसमें विराजमान देवी का दर्शन किया। वहाँ एक जरद् द्रविड धार्मिक पुजारी था। उसे मनचाहा दान देकर प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेता हुआ चन्द्रापीड उज्जयिनी वापस पहुँच गया।

उसके आकस्मिक आगमन से उज्जयिनी-निवासी आनन्द में डूब गये। राजा तारापीड पैदल ही पुत्र के स्वागतार्थ निकल पड़े। गाढ़ आलिंगन के बाद पुत्र को लेकर रानी वसुमती के पास पहुँचे। शुकनास को चन्द्रापीड ने प्रणाम करके वैशम्पायन की कुशलता आदि बतला दी।

कुछ दिनों बाद मेघनाद पत्रलेखा को लेकर वापस आ गया। चन्द्रापीड ने पत्रलेखा से कादम्बरी और महाश्वेता के विषय में बड़ी उत्सुकता से पूछा। पत्रलेखा ने कादम्बरी द्वारा किये गये सम्मान और स्नेह का विस्तार से वर्णन किया। उसने कादम्बरी के बढ़े हुए प्रेम के विषय में चन्द्रापीड को सारी बातें बताई। और कादम्बरी द्वारा आत्महत्या करने की बात सुन कर अपनी बातों से कादम्बरी का ढांढस बंधाना बतलाया। कादम्बरी द्वारा अपने आप अभिसार की असमर्थता और विविध विकल्पों का वर्णन किया।

[बाणभट्ट द्वारा रचित कादम्बरी-पूर्वार्द्ध की कथा यहीं समाप्त हो जाती है। आगे की कथा बाणभट्ट के पुत्र भूषणभट्ट द्वारा लिखी गयी जो कादम्बरी-उत्तरार्द्ध मानी जाती है। उत्तरार्ध का सारांश अगले भाग में और इस भाग को संस्कृत-व्याख्या के अन्त में भी देखा जा सकता है।]

कादम्बरी-कथा का मूल (आधार)

किसी भी साहित्यकार की कृति की प्रेरणा या आधार कहीं न कहीं अवश्य होता है। प्रणयन से पूर्व वह अपनी भावना के अनुसार उसमें परिवर्तन अवश्य कर लेता है। कालिदास प्रभृति समस्त महाकवियों ने पूर्ववर्त्ती साहित्यस्रष्टाओं से प्रेरणा प्राप्त होने का स्पष्ट उल्लेख किया है। कादम्बरी एक कथा है। अतः बाण ने किसी प्राचीन कथा को मन में रख कर अपनी विलक्षण प्रतिभा से ऐसे प्रस्तुत किया है कि यह सर्वथा मौलिक लग रही है। गुणाढ्य-विरचित 'बृहत्कथा' पैशाची प्राकृत की अनेक कथाओं का संग्रह है। उसमें राजा सुमनस् की कथा प्रस्तुत कादम्बरी कथा का मूल प्रतीत होती है। बृहत्कथा सम्प्रति मौलिक रूप में उपलब्ध नहीं है। उसके कुछ

रूपान्तर सोमदेव-कृत 'कथासरित् सागर' में प्राप्त होते हैं। हमारे सामने 'कथा-सरित्-सागर' के अतिरिक्त क्षेमेन्द्र-प्रणीत 'बृहत् कथा-मञ्जरी' और बुधस्वामी-विरचित 'बृहत्कथा-श्लोक' ये तीन ग्रन्थ हैं। कादम्बरी की कथा 'बृहत्कथा' पर आश्रित है जो कि सम्प्रति उपलब्ध कथा-सरित्-सागर के लम्बक १० तरङ्ग १३ और श्लोक २२ से १७९ तक वर्णित है।

बाण ने बृहत्कथा के मकरन्दिकोपाख्यान के पात्रों के नामों का तथा कुछ घटनाओं का परिवर्त्तन भी किया है। कहीं कहीं अपनी कल्पना का पुट भी दिया है। अलंकृत शैली तो बाणभट्ट की प्रतिभा का परिपाक है। कथा का सारांश इस प्रकार है—

"काञ्चनपुरी के महाप्रतापी राजा सुमनस् की राज्यसभा में चाण्डाल-नरेश की कन्या मुक्तालता एक शुक को लेकर वीरप्रभ नामक अपने भाई के साथ प्रविष्ट हुई और निवेदन किया—'महाराज! शास्त्रगङ्ग नामक यह शुक समस्त कलाओं तथा विद्याओं में निपुण और वेदों का मर्मज्ञ है। आप इसे स्वीकार कर लीजिए।' ऐसा कह कर उसने वह शुक द्वारपाल को दे दिया। वह उसे राजा के पास ले गया। तब शुक राजा की प्रशंसा करते हुए बोला—

"राजन्! युक्तमिदं सदैव यदयं देवस्य सन्धुक्षते,
धूमश्याममुखो द्विषद्विरहिणी-निश्वासवातोद्गमैः।
एतत्त्वद्भुतमेव यत् परिभवाद् वाष्पाम्बुपूरप्लवै-
रासां प्रज्वलतीह दिक्षु दशसु प्राज्यः प्रतापानलः॥"

फिर कहा—"राजन्! किस शास्त्र का कौन सा प्रमेय कहूँ।" यह सुन कर राजा अति चकित हुआ और उससे उसके पूर्वजन्म की कथा सुनाने का आग्रह किया। वह अपनी कथा बहुत दुःख के साथ सुनाने लगा—"हिमालय के समीप अति विशाल वृक्ष पर उसका पिता अपनी पत्नी के साथ कोटर पर रहता था। बाल्यावस्था में ही माता की मृत्यु हो जाने के कारण उसके पिता ही उसका पालन-पोषण किया करते थे। एक बार वहाँ अनेक शबर लोग शिकार के लिये आये और दिन भर पक्षियों का संहार करते रहे। सायंकाल एक बूढ़ा शबर कोई शिकार न पाने के कारण उसी वृक्ष के नीचे आया। ऊपर चढ़ कर शुकों को कोटरों से निकाल कर नीचे फेंक फेंक कर मारने लगा। उसके पिता को भी नीचे फेंक दिया। पिता के पंखों में चिपका हुआ वह भी नीचे गिर पड़ा। अपनी रक्षा के लिये पास के पत्तों के ढेर में छिप गया। वह शबर पेड़ से उतर कर कुछ पक्षियों को भून कर और शेष को यों ही लेकर चल दिया।

उसके चले जाने पर मैं कुछ निश्चिन्त तो हुआ किन्तु वह रात बड़े कष्ट से बिताई। प्रातःकाल प्यास से व्याकुल होकर मैं अपने पंख फैला कर पास के पद्मसर नामक सरोवर की ओर चल दिया। उसी समय वहाँ स्नान के लिए आये मरीचि मुनि ने मेरी वह दशा देख कर दो चार बूंद पानी मेरे मुंह में डाल दिया। और दोने में रख कर आश्रम ले गये। आश्रम में पहुँचने पर अगस्त्य ऋषि मुझे देख कर अचानक मुस्कराने लगे। यह देख कर सभी तपस्वी उनसे मुझ शुक के विषय में

पूछने लगे। महर्षि ने कहा कि नित्य कृत्य से निवृत्त होकर इसकी कथा कहूँगा जिसे सुन कर इसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो जायगा। बाद में ऋषियों की प्रार्थना सुन कर अगस्त्य मुनि ने मेरे (शुक के) विषय में कहना प्रारम्भ किया—

'रत्नाकर नामक नगर में ज्योतिष्प्रभ नामक अत्यन्त प्रतापी चक्रवर्ती सम्राट् राज्य करता था। उसकी उग्र तपस्या से आशुतोष भगवान् शंकर प्रसन्न हुए। उनके बरदान से उसकी रानी हर्षवती को एक पुत्र प्राप्त हुआ। गर्भावस्था में रानी ने एक रात स्वप्न में चन्द्रमा को अपने मुख में प्रविष्ट होते देखा था, अतः राजा ने उस पुत्र नाम 'सोमप्रभ' रख दिया।

जब सोमप्रभ समस्त कलाओं और विद्याओं में निपुण होकर युवा हो गया तो पिता ने युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया और अपने मन्त्री प्रभाकर के पुत्र प्रियङ्कर को अपने पुत्र का मन्त्री नियुक्त कर दिया। उसी समय आकाश से इन्द्र का सारथि मातलि एक अश्व के साथ उतरा। उसने सोमप्रभ से कहा कि वह पूर्वजन्म में इन्द्र का मित्र विद्याधर था। अतः उसी प्रेम के कारण इन्द्र ने उच्चैःश्रवा के पुत्र इस अश्वश्रवा नामक अश्व को आपके लिये भेजा है। इस पर आरूढ़ होने पर कोई शत्रु आपको पराजित नहीं कर सकेगा। ऐसा कह कर और अश्व देकर मातलि चला गया।

दूसरे दिन सोमप्रभ ने अपने पिता से दिग्विजय-यात्रा के लिए आज्ञा मांगी। शुभ मुहूर्त्त में उसने पिता की आज्ञा से अपनी विजय यात्रा प्रारम्भ की। कुछ ही दिनों में उसने समस्त राजाओं को जीत लिया।

लौटते समय उसने हिमालय के निकट अपनी सेना-सहित पड़ाव डाल दिया। अपने अश्वश्रवा पर आरूढ़ होकर शिकार के लिये जाते समय उसने एक मणिमय किन्नर देखा। उत्सुकता से उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ा दिया। वह किन्नर गुफा में छिप गया किन्तु वह अश्व सोमप्रभ को बहुत दूर तक ले गया। इसी बीच सूर्यास्त हो गया। वह बहुत थक गया था। वह वापस लौटने की सोच रहा था कि उसे एक विशाल सरोवर दिखाई दिया। उसके किनारे रात्रि व्यतीत करने की इच्छा से वह अश्व से उतरा और उसे घास खिलाई। स्वयं भी फल खाकर, जल पीकर, पत्तों का बिस्तर बनाकर विश्राम करने लगा।

उसी समय अचानक एक मधुर ध्वनि उसे सुनाई दी। वह तत्काल उठा और ध्वनि की दिशा में चल दिया। कुछ दूर तक चलने के बाद उसने एक देवालय में भगवान् शंकर की मूर्ति के समक्ष मधुर कण्ठ से गाती हुई एक स्त्री को देखा। वह उसके विषय में आश्चर्यपूर्वक सोचने लगा कि वह कौन है। गीत समाप्त होने पर वह कन्या उठी और सोमप्रभ का अतिथि-सत्कार किया। और पूछा—'वह कौन है तथा यहाँ किस प्रयोजन से आया है?'

सोमप्रभ ने अपना सारा वृत्तान्त सुना दिया। साथ ही उस कन्या से भी अपना इतिवृत्त बताने के साथ साथ उस निर्जन वन में अकेली रहने का कारण पूछा। यह सुन कर आंसुओं की झड़ी गिराती हुई वह सोमप्रभ से कहने लगी—

"हिमालय पर काञ्चनाभ नामक नगर के गन्धर्वों के राजा पद्मकूट हैं। उनकी रानी हेमप्रभा से उसका जन्म हुआ था। उसका (मेरा) जन्म बड़े समारोह के साथ मनाया गया और उसका नाम 'मनोरथप्रभा' रखा गया। वह मैं अपनी सखियों के साथ बड़ी खुशी से अपनी बाल्यावस्था बिता रही थी। एक दिन इसी सरोवर में स्नान करने के लिये मैं आई। यहाँ एक मुनिकुमार को एक मित्र के साथ देखा। उसके सौन्दर्य से आकृष्ट होती हुई मैं उस मुनिपुत्र के पास चली गई। उसने भी प्रेमभरी दृष्टि से मुझे देखा। मेरी सखी ने हम दोनों के मनोभाव जान कर, साथी मुनिकुमार से उनका परिचय पूछा। उसने उस ऋषिपुत्र का वृत्तान्त सुनाया—

'इस सरोवर के निकट आश्रम में रहने वाले दीधिति नामक मुनि एक बार इस सरोवर में स्नान के लिये आये। उन्हें देख कर लक्ष्मी ने अपने मन में उनसे समागम की कामना की। इस कारण उसी समय उन्हें एक मानस पुत्र प्राप्त हुआ। लक्ष्मी ने वह पुत्र लाकर मुनि को समर्पित करते हुए कहा 'यह आप ही के दर्शन से उत्पन्न हुआ है अतः यह आप ही का पुत्र है।' ऐसा कह कर वह तिरोहित हो गई। उन्होंने इसका लालन-पालन किया और नामकरण संस्कार करके 'रश्मिवान्' यह नाम रखा। यही वे रश्मिवान् है।' उसने मेरी सखी से मेरा भी परिचय पूछ लिया। जैसे ही मैं उस मुनिकुमार के पास जाकर बैठी ही थी कि एक सखी ने आकर कहा कि मेरे पिता भोजन के लिये मुझे बुला रहे हैं। मैं उसका साथ छोड़ कर चली गई।

भोजन करने के बाद मैं जैसे ही बाहर निकली, मेरी सखी ने रश्मिवान् के मित्र के आने की सूचना दी। उसके मित्र ने कहा कि रश्मिवान् ने अपने पिता से प्राप्त आकाशगामिनी विद्या मुझे देकर मनोरथप्रभा के पास सन्देश देने के लिये भेजा है—'कामदेव ने मुझे बहुत पीड़ित कर रखा है और तुम्हारे बिना क्षण भर भी मैं जीवित नहीं रह सकता।' यह सुनते ही मैं अपनी सखी के साथ तुरन्त चल पड़ी। किन्तु मेरे पहुँचने के पूर्व ही चन्द्रोदय देखकर मेरे वियोग में कामसन्तप्त होकर उस मुनिकुमार ने संसार छोड़ दिया। उनकी मृत्यु देख कर मैं भी उनके साथ भस्म होने की इच्छा करने लगी। इसी बीच आकाश से एक अत्यन्त तेजस्वी पुरुष उतरा और उसके शरीर को उठा कर ले गया। तब मैं अकेली ही भस्म होने जा रही थी कि आकाशवाणी हुई 'वत्से! ऐसा दुःसाहस मत करो। कुछ समय बाद इसी मुनिपुत्र के साथ तुम्हारा दुबारा मिलन होगा।' आकाशवाणी सुन कर मैंने आत्मघात का संकल्प छोड़ दिया और पुनः समागम की प्रतीक्षा करती हुई शंकर जी की पूजा में संलग्न होकर यहीं रहने लगी। उन मुनिपुत्र के विषय में मुझे अभी तक कोई समाचार ज्ञात नहीं हुआ।'

उसका वृत्तान्त सुनने के बाद सोमप्रभ ने उससे उसकी सखी के विषय में पूछा। इस पर वह मनोरथप्रभा पुनः कहने लगी—'विद्याधरों के अधिपति सिंहविक्रम की अत्यन्त रूपवती कन्या है। उसका नाम मकरन्दिका है। वह मेरी प्राणप्रिय सखी है। उसने मेरे दुःख से अतिदुःखी होकर अभी तक विवाह नहीं किया है। उसने मेरा कुशलक्षेम पूछने के लिए अपनी सखी को यहाँ

भेजा था, अतः मैंने भी अपनी सखी को उस मकरन्दिका के पास भेज दिया है। अतएव मैं आज अकेली हूँ।

मनोरथप्रभा जब ऐसा कह रही थी उसी समय उसने आकाश से उतरती हुई अपनी सखी को देखा। सामने आकर उसने उसे मकरन्दिका का सारा हाल बताया। सोमप्रभ ने वह रात्रि वहीं बिताई। प्रातः काल देवजय नामक एक विद्याधर राजा का सन्देश लेकर वहाँ उपस्थित हुआ। प्रणाम करके वह बोला 'राजकुमारी! जब तक तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं होगा तब तक मकरन्दिका भी अपना पाणिग्रहण नहीं करायेगी। अतः तुम आकर उसे समझा दो जिससे वह अपना पाणिग्रहण करा ले।' यह सुन कर मनोरथप्रभा वहाँ जाने को उद्यत हुई तो सोमप्रभ ने भी विद्याधरों का लोक देखने की इच्छा प्रकट की। मनोरथप्रभा से आज्ञा पाकर, उसने अश्व को वहीं बाँध कर,वापस लौटने तक खाने की व्यवस्था कर दी और उसके साथ चल दिया।

मनोरथप्रभा सोमप्रभ को देवजय की गोद में बैठा कर अपने साथ लेकर दिव्यशक्ति से गन्धर्वलोक पहुँच गई। उसके पहुँचने पर मकरन्दिका बहुत प्रसन्न हुई। अपनी सखी का सत्कार करके उसने सोमप्रभ का परिचय पूछा। मनोरथप्रभा ने उसका सारा वृत्तान्त बतला दिया। उसके विषय में सुन कर मकरन्दिका सोमप्रभ पर और सोमप्रभ उस अतिशय सुन्दर मकरन्दिका पर आसक्त हो गया।

बाद में मनोरथप्रभा ने कहा कि उसने तो अपना वर चुन ही लिया है अब तो वह केवल मिलने की प्रतीक्षा कर रही है। अतः उसको भी अपना विवाह कर लेना चाहिए। ऐसा परामर्श सुनकर मकरन्दिका ने विवाह न करने का अपना निश्चय छोड़ दिया। मनोरथप्रभा ने अपनी सखी का सोमप्रभ के प्रति आकर्षण देख कर उसे सोमप्रभ का सत्कार करने के लिये प्रेरित किया। उसने कहा कि मैंने शरीर के साथ-साथ ये सारी वस्तुयें इन्हें अर्पित कर दी हैं, ये जो चाहें ले लें।' मनोरथप्रभा ने उसके पिता सिंहविक्रम से कह कर सोमप्रभ के साथ मकरन्दिका का विवाह निश्चित करवा दिया। यह समाचार सुन कर सोमप्रभ बहुत प्रसन्न हुआ। किन्तु उसने मनोरथप्रभा के सामने यह आशंका व्यक्त की कि कहीं उसे खोजती हुई उसकी सेना आश्रम के पास न आ पहुँची हो और अकेले बंधे अश्व को देख कर उसके विषय में कुछ अनिष्ट की आशंका करने लगें। अतः वह सेना की देखभाल और मित्रों से मिल कर पुनः शीघ्र ही वापस लौट आयेगा। और शुभ मुहूर्त्त में मकरन्दिका के साथ विवाह कर लेगा। यह सुनकर मनोरथप्रभा पहले की तरह उसे लेकर आश्रम वापस लौट आई। उसी समय उसका मन्त्री प्रियंकर भी सारी सेना के साथ वहाँ आ पहुँचा। सोमप्रभ अपने मित्र प्रियंकर को जब घटित घटना सुना रहा था तभी पिता का सन्देश मिला कि वह वापस लौट आये। यह सुन कर सोमप्रभ ने मनोरथप्रभा और देवजय से कहा कि वह अपने पिता के दर्शन करके शीघ्र ही वापस लौट आयेगा, ऐसा कह कर वह सेना के साथ अपने नगर चल दिया।

इसके बाद देवजय ने मकरन्दिका के पास जाकर सारा वृत्तान्त सुनाया। वह सुनते ही बिरह से पीडित होकर उन्मत्त के समान वह इधर-उधर घूमने लगी। उसके माता-पिता ने बहुत समझाया किन्तु वह नहीं मानी। तब उन्होंने क्रुद्ध होकर उसे शाप दे दिया कि वह कुछ काल तक निषादों के बीच इसी शरीर के साथ अपनी जाति को भूल कर रहे। शाप के प्रभाव से वह निषादकन्या बन गई। किन्तु उसके इस शोक से व्याकुल होकर उसके माता-पिता ने अपने प्राण-त्याग दिये। मृत्यु के बाद उसका पिता समस्त शास्त्रों का तत्त्ववेत्ता ऋषि बना। फिर किसी शाप के प्रभाव से वह दूसरे जन्म में शुक बन गया। वही यह शुक है। इसे अपने पूर्वजन्म के तपोबल के प्रभाव से सभी शास्त्र आदि स्मृत हैं। (इसकी माता शूकरी बन गई थी।) इसकी विचित्र कर्मगति देख कर अगस्त्य मुनि को हंसी आ गई थी।

उन्होंने यह भी बताया कि वह शुक राजसभा में कथा कह कर अपने पापों से मुक्त हो जायगा और सोमप्रभ इसकी कन्या को अवश्य प्राप्त करेगा। और मनोरथप्रभा भी ऋषिपुत्र रश्मिवान् को प्राप्त कर लेगी। इस समय सोमप्रभ भी पिता का दर्शन कर, लौट कर, उसी आश्रम में मकरन्दिका को पाने के लिये शङ्कर की आराधना कर रहा है।

उक्त कथा कह कर अगस्त्य मुनि मौन हो गये और वह शुक भी शोक तथा हर्ष से व्यग्र हो गया। जो मरीचि मुनि उसे आश्रम में लाये थे, वे ही उसका पालन-पोषण करने लगे। बड़ा होने पर और पंख निकल आने पर अपनी चपलता के कारण यह (मैं) उड़ कर निषादों की बस्ती में पहुँच गया था। इस समय मैं (शुक) अपने समस्त पापों से मुक्त हो गया हूँ।

शुक से यह कथा सुन कर राजा सुमनस् भी बहुत प्रसन्न हुए। उधर भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर सोमप्रभ को आज्ञा दी कि वह राजा सुमनस् की राजसभा में उपस्थित हो जहाँ मकरन्दिका अपने पिता के शाप से मुक्तालता नामक निषादकन्या के रूप में पहुँची है और साथ में शुक रूप में अपने पिता को लाई है। सोमप्रभ को देखते ही उस कन्या को अपनी जाति का स्मरण हो जायगा और वह शाप से मुक्त हो जायगी। इसके बाद तुम दोनों का पुनर्मिलन होगा। सोमप्रभ से ऐसा कहने के बाद भगवान् शंकर ने मनोरथप्रभा से भी कहा कि उसका वल्लभ रश्मिवान् नामक ऋषिपुत्र सुमनस् नामक राजा के रूप में जन्म लेकर विराजमान है। वह मनोरथप्रभा को देखते ही पूर्वजन्म का स्मरण कर लेगा और अपना शरीर भी प्राप्त कर लेगा।'

भगवान् शंकर से उपर्युक्त आदेश प्राप्त कर सोमप्रभ और मनोरथप्रभा राजा सुमनस् की राजसभा में आये। वहाँ सोमप्रभ को देखते ही मकरन्दिका (निषादकन्या) को अपनी जाति का स्मरण हो गया और वह विद्याधरी बन कर सोमप्रभ के गले से लिपट गई। राजा सुमनस् को भी, मनोरथप्रभा को देख कर अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो गया और उन्होंने आकाश से नीचे उतरे हुए अपने शरीर में प्रवेश किया। इस प्रकार मुनिपुत्र रश्मिवान् अपनी प्रिया मनोरथप्रभा को साथ

लेकर अपने आश्रम चला गया। और सोमप्रभ मकरन्दिका को साथ लेकर अपने नगर चला गया। शुक ने भी अपना शरीर त्याग दिया और तपोबल के प्रभाव से उच्चलोक प्राप्त किया।

मूल कथा में बाणभट्ट द्वारा परिवर्त्तन

बाण ने उपर्युक्त कथा में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी किये हैं जो दोनों कथाओं के सारांश से भी जाने जा सकते हैं। मूल कथा के पात्रों को कादम्बरी में निम्न नामों से प्रस्तुत किया गया है—

'बृहत् कथा' पर आधृत 'कथा सरित् सागर' में	कादम्बरी में
सुमनस् (सुमनाः)	शूद्रक
मुक्तालता	चाण्डालकन्या
शास्त्रगञ्ज	वैशम्पायन
हिमालय की तराई में रोहिण तरु	विन्ध्याटवी में शाल्मली वृक्ष
काञ्चनपुरी	विदिशा
मरीचि	हारीत
पुलस्त्य	जाबालि
रत्नाकरपुर	उज्जयिनी
ज्योतिष्प्रभ	तारापीड
हर्षवती	विलासवती
सोमप्रभ	चन्द्रापीड
प्रभाकर	शुकनास
प्रियङ्कर	वैशम्पायन
अश्वश्रवा	इन्द्रायुध
पद्मकूट	हंस
हेमप्रभा	गौरी
मनोरथप्रभा	महाश्वेता
दीधितमान्	श्वेतकेतु
रश्मिवान्	पुण्डरीक
सिंहविक्रम (विद्याधरों के राजा)	चित्ररथ (गन्धर्वों के राजा)
मकरन्दिका	कादम्बरी
देवजय	केयूरक

पात्रों का चरित्र-चित्रण

मूल कथा और कादम्बरी में कुछ पात्रों का चरित्र समान रूप में है और कुछ को बाण ने अपनी कल्पना के अनुसार बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत किया है। हर्षचरित के पात्रों में यथासम्भव यथार्थ

की ओर विशेष ध्यान दिया है परन्तु कादम्बरी में बाण की अपनी दृष्टि प्रधान है। ऊपर अनेक पात्रों का उल्लेख किया गया है किन्तु यहाँ महत्त्वपूर्ण पात्रों की ही चरित्र-सम्बन्धी विशेषतायें प्रस्तुत की जा रही हैं—

चन्द्रापीड

कादम्बरी कथा में चन्द्रापीड निश्चित ही प्रमुख नायक है। चन्द्रापीड तीन रूपों (तीन जन्मों) में हमारे समक्ष उपस्थित है—(१) शूद्रक, (२) चन्द्रापीड, (३) चन्द्रमा।

शूद्रक से पहले चन्द्रापीड और उससे पहले चन्द्रमा के रूप में दिखाई देने पर भी वास्तव में चन्द्रापीड के रूप में ही उसके चरित्र का विकास कादम्बरी में वर्णित है।

चन्द्रापीड राजकुमार है। उसमें नायक के लिये अपेक्षित सभी विशेषतायें हैं। वह हृष्ट-पुष्ट, बलवान्, सुन्दर और मेधावी है। उसने नियमानुसार गुरुकुल में समस्त शिक्षायें प्राप्त कर अपने व्यक्तित्व का विकास किया है। उसकी विनयशीलता और शिष्टता प्रशंसनीय है। विद्या-अध्ययन के पश्चात् पिता की आज्ञा से राजभवन में वापस आने पर पिता के सामने आसन पर न बैठ कर जमीन पर ही बैठता है। प्रधान अमात्य शुकनास के प्रति वह पितृतुल्य व्यवहार करता है। उसके सामने भी भूतल पर बैठता है। उसके उपदेशों को पूर्णनिष्ठा और श्रद्धा से सुनता है। यह शिष्टता आगे महाश्वेता के साथ प्रथम साक्षात्कार में और कादम्बरी के साथ परिचय हो जाने पर स्पष्ट रूप में दिखाई देती है।

मित्रों के प्रति स्नेह, सम्मान और विश्वास करना उसकी विशेषता है। उसमें वीरता और साहस असीमित है। उसे मृगया की भी रुचि है। वह दिग्विजय के लिये प्रस्थान करके कुछ ही दिनों में सभी को जीत लेता है।

मानवीय उदारभाव उसमें पर्याप्त हैं। किसी के दु:ख में सहानुभूति प्रदर्शित करना उसका स्वभाव है। महाश्वेता की कथा से वह मर्माहत हो जाता है। कादम्बरी की वेदना से व्याकुल हो जाता है। इन्द्रायुध अश्व के कष्ट को भी वह समझता है और पहले उसे सन्तुष्ट करता है।

चन्द्रापीड का व्यक्तित्व प्रेम के प्रसङ्ग में अनुपम है। वह केवल शारीरिक सौन्दर्य पर ही आकृष्ट नहीं होता है। उसमें धीरता और गम्भीरता है। सबसे पहले पत्रलेखा उसकी सेवा में आती है। वह परमसुन्दरी है और राजकन्या भी। परन्तु माता की आज्ञा से वह उसे केवल सहायिका ही समझता है। महाश्वेता गन्धर्वकन्या से निर्जन एकान्त स्थान में उसकी भेंट होती है। वह युवक और राजकुमार होने पर भी वहाँ अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करता है। उसके मन में जरा भी विकार नहीं आता है। आगे कादम्बरी के प्रथम दर्शन से ही उसकी ओर मन से आकृष्ट होता हुआ भी अपनी धीरता का परित्याग नहीं करता है। जब तक वह यह निश्चित रूप से नहीं जान लेता है कि वह गन्धर्वकन्या भी उस पर आसक्त है, वह ऐसा कोई आचरण नहीं करता जो निन्दनीय हो।

यह कादम्बरी के प्रेम में आसक्त है किन्तु अपने कर्त्तव्यबोध में पूरा सावधान है। वह जानता है कि उसके साथी वैशम्पायन आदि सेनासहित उसकी खोज कर रहे होंगे। अतः वह कादम्बरी के पास से महाश्वेता के आश्रम में वापस लौट आता है। वह कादम्बरी को हृदय में बिठाये हुये भी पिता के आदेश से तत्काल उज्जयिनी के लिये प्रस्थान कर देता है और अकस्मात् अपनी इस यात्रा के लिये अपने को ही दोषी मानता हुआ कादम्बरी तथा महाश्वेता से क्षमायाचना करता है। गुरुजनों के प्रति अतिशय आदर होने के कारण वह अपने माता-पिता आदि किसी से कादम्बरी के विषय में कुछ भी नहीं कहता है। किन्तु उसका समाचार जानने के लिये व्यग्र है। वह अपने मित्र वैशम्पायन के वापस न लौटने का समाचार सुनकर अप्रिय घटना की आशंका करने लगता है। और पूरा प्रयास करके पिता की आज्ञा लेकर ही वैशम्पायन के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये चल देता है। वैशम्पायन को वह एक सामान्य मित्र या मन्त्री का पुत्र ही नहीं समझता है, अपितु वह उसे अपना अभिन्न मित्र समझता है। इसका स्पष्ट प्रमाण वहाँ प्राप्त होता है जहाँ चन्द्रापीड को महाश्वेता के मुख से शाप द्वारा वैशम्पायन को शुकयोनि प्राप्त होने की बात मालूम पड़ती है। वह अपने अभिन्न मित्र वैशम्पायन के विषय में ऐसा सुनता है तो दुःख से उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है, उसकी मृत्यु हो जाती है।

संक्षेप में, चन्द्रापीड बल, पौरुष, प्रतिभा, शिष्टता, मित्रता और उत्कृष्ट आदर्श प्रेम की प्रतिमूर्ति है।

पुण्डरीक

प्रस्तुत गद्यकाव्य में दूसरी कथा का नायक पुण्डरीक है। इसके भी तीन जन्मों का वर्णन है – (१) पुण्डरीक, (२) शुकनासपुत्र वैशम्पायन, (३) शुक। यह लक्ष्मी का मानस पुत्र है। किसी समय महर्षि श्वेतकेतु की ओर आकृष्ट हुई लक्ष्मी द्वारा कमल पर जन्म दिया गया, अतएव पुण्डरीक नामवाला बना। यह लक्ष्मीपुत्र होने से अति सुन्दर और आकर्षक है। इसीलिये गन्धर्वकन्या महाश्वेता प्रथम दर्शन में ही इस पर पूर्ण आसक्त हो जाती है। कामातुरा लक्ष्मी का पुत्र होने के कारण यह हृदय से अति दुर्बल है। यही कारण है कि तपस्वी होने पर भी महाश्वेता के प्रथम साक्षात्कार में ही यह सब-कुछ भूल जाता है और उस पर आसक्त हो जाता है। इसका मित्र इस को बहुत समझाता है, भर्त्सना करता है किन्तु इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। महाश्वेता के विरह को यह बिल्कुल सहन नहीं कर पाता है। चन्द्रोदय होते ही इसकी धीरता नष्ट हो जाती है और कपिञ्जल द्वारा बुलाई गई महाश्वेता के आने के पहले ही प्राण छोड़ देता है। चन्द्रमा के साथ शाप देने की प्रतिद्वन्द्विता हो जाती है।

इसके बाद वह महामन्त्री शुकनाश का पुत्र वैशम्पायन बनता है। इस जन्म में यह चन्द्रापीड का अभिन्न मित्र और परमप्रिय बनता है। परन्तु बाण ने इस जन्म में इसकी किसी महत्त्वपूर्ण विशेषता का उल्लेख नहीं किया है।

बुद्धि, आचार आदि की दृष्टि यह भी प्रशस्त है। किन्तु इसकी मानसिक दुर्बलता जो पुण्डरीक के रूप में थी वह इस जन्म में भी है। अच्छोद सरोवर के आश्रम में अपनी पूर्वजन्म की प्रेयसी महाश्वेता को देख कर यह अपनी धीरता खो बैठता है। यह अपनी सेना के साथ उज्जयिनी वापस नहीं लौटता है। अकेले में और अधिक कामातुर होकर, महाश्वेता द्वारा उपेक्षित होने पर भी, बार-बार प्रणय-निवेदन करता है और महाश्वेता के शाप से शुक का जन्म प्राप्त कर लेता है।

तृतीय जन्म में यह शुक बना है। किन्तु इसकी चञ्चलता इसके साथ लगी है। महर्षि जाबालि के मुख से अपने पूर्वजन्म की कथा सुनते ही इसे अपने पूर्वजन्म की बातें स्मृत हो जाती हैं और फिर से महाश्वेता के लिये अधीर हो उठता है। इसे ज्ञात है कि इसके पिता श्वेतकेतु इसके अनिष्ट की निवृत्ति के लिये अनुष्ठान कर रहे हैं। और समाप्ति तक वहाँ आश्रम में रुके रहने का आदेश है, फिर भी यह व्याकुल हो जाता है। अपनी शक्ति को ठीक से न समझ कर, बिना सोचे समझे महाश्वेता से मिलने के लिये उड़ जाता है। फलतः बीच में ही चाण्डाल द्वारा पकड़े जाने पर उसकी कन्या द्वारा पिंजड़े में बन्द कर दिया जाता है। इसी रूप में राजा शूद्रक के समक्ष उपस्थित किया जाता है। बाणभट्ट ने पुण्डरीक के किसी भी जन्म का कोई महत्त्व प्रस्तुत नहीं किया है। यहाँ लक्ष्मीपुत्र में लक्ष्मीसदृश चञ्चलता ही प्रदर्शित की गई है।

कादम्बरी

यह प्रस्तुत गद्यकाव्य की प्रमुख नायिका है। बाणभट्ट ने इसी के नाम से अपनी अमर कृति उपनिबद्ध की है। इसके सौन्दर्यवर्णन में बाण ने अपनी अनुपम कल्पनाशक्ति का पूर्ण उपयोग किया है। चूंकि यह कथा अधूरी रह गई अतः कादम्बरी के चरित्र की सभी विशेषताओं का परिज्ञान नहीं हो पाया है। जब 'कादम्बरी' हमारे समक्ष आती है तब तक प्रस्तुत ग्रन्थ का विशाल भाग लिखा जा चुका है। आगे उत्तरार्ध में कादम्बरी के विषय में वर्णन किया गया है।

महाश्वेता के मुख से सबसे पहले कादम्बरी का नाम और उसकी सच्ची मैत्री का ज्ञान होता है। वह अपनी प्रिय सखी महाश्वेता के ऊपर घटित दारुण घटना से मर्माहत है और जब तक उसकी सखी का दुःख दूर नहीं हो जाता, वह भी उसी के समान अकेली रहने, विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर डालती है। एक आदर्श सखी के रूप में कादम्बरी आदरणीय बन जाती है। वह अपने माता-पिता की आज्ञा को भी नहीं स्वीकार करती।

आगे चलकर उसे जब महाश्वेता के साथ आये हुए चन्द्रापीड का दर्शन होता है तो उसका स्नेहिल हृदय अनुरक्त हो जाता है, परन्तु वह अपना धैर्य नहीं खोती है। महाश्वेता के आग्रह से चन्द्रापीड को सम्मान में ताम्बूल देते समय उसकी स्थिति विचित्र बन जाती है फिर भी वह आये हुए अतिथि का सम्मान करती ही है। उस समय से लेकर वह चन्द्रापीड पर पूर्णरूप से अनुरक्त हो जाती है। उसका मानसिक द्वन्द्व बढ़ जाता है। वह कुछ भी निश्चय नहीं कर पाती है। अन्त में प्रेम की विजय होती है और वह स्वयं चन्द्रापीड से मिलने जाती है।

कादम्बरी ने कभी भी शिष्टता का अतिक्रमण करने की अनुचित चेष्टा नहीं की। वह अपने मन पर यथासम्भव नियन्त्रण रखने का प्रयास करती है। चन्द्रापीड के प्रेमभाव प्रदर्शन के बदले में वह मौन आचरण द्वारा सब-कुछ प्रकट करने में सफल हो जाती है। चन्द्रापीड के आकस्मिक प्रस्थान के समय भी वह अपनी गम्भीरता नहीं छोड़ती है। वह कुलीनता, कुलमर्यादा आदि से भलीभांति परिचित है। उसे अपने प्रेम पर विश्वास है।

उत्तरार्ध भाग में कादम्बरी के चरित्र की एक विशेष प्रभावकारी प्रतीति होती है। जब अपने प्रिय मित्र वैशम्पायन के शुक हो जाने के समाचार से चन्द्रापीड का हृदय विदीर्ण हो जाता है और कादम्बरी उसका मृत शरीर देखती है तो मूर्छित होकर भूतल पर गिर जाती है, वह सभी कुछ भूल जाती है और चित्र के समान स्तब्ध, निश्चल खड़ी रहती है। उसकी वह दशा देखकर महाश्वेता उसे रोकर दुःख कम करने को कहती है। वह इसे अच्छा नहीं मानती। वह अपने प्रियतम के स्वर्गगमन पर आँसू बहाना अमंगल समझती है। वह चरणों की धूलि के समान उसी के साथ अनुगमन ही प्रशस्य समझती है। किन्तु पाठक उसके मनोभाव से अतिप्रभावित होता है। उसको सच्ची प्रेमिका के रूप में देख कर सहृदयजन उसके साथ सहानुभूति करते हैं।

जब आकाशवाणी से उसे पुनर्मिलन की सूचना मिलती है तो वह जीवित रहने का विचार करती है। वह अपने प्रियतम चन्द्रापीड के माता-पिता को वहाँ आया देख कर शोक से मूर्छित हो जाती है। माता द्वारा चन्द्रापीड का नाम लेने पर ही उसे चेतना आती है।

इतने विशालकाय काव्य में कादम्बरी के चरित्र को उतना विस्तृत नहीं किया गया जितना होना चाहिए था। यदि बाणभट्ट स्वयं आगे लिखते तो सम्भव था कुछ और अधिक विस्तार रहता। फिर भी जितना मिलता है उससे यही सिद्ध होता है कि कादम्बरी प्रेम, शिष्टता, मित्रता और सहिष्णुता की एक अनुपम उदाहरण है।

महाश्वेता

प्रस्तुत कृति में द्वितीय कथा की नायिका महाश्वेता है। अत्यन्त गौरवर्ण होने के कारण इसका अन्वर्थ नाम है। यह भी गन्धर्वराजकुमारी है। इसके विषय में बाण ने अत्यन्त सात्त्विक भाव व्यक्त किये हैं। एक अत्यन्त नियमवती तपस्विनी के रूप में इसका प्रथम परिचय प्राप्त होता है। विपत्ति का सामना करते हुए यह निर्भीक और गम्भीर हो चुकी है। एकान्त वन में अपरिचित नवयुवक चन्द्रापीड को देख कर इसके मन में भय, आश्चर्य या व्याकुलता नहीं होती है। यह सामान्य रूप से स्वागत करती है।

चन्द्रापीड के आग्रह करने पर अपने पूर्ववर्ती सुकुमार जीवन के विषय में सभी कुछ बता देती है। वह स्नान के लिये गई और अनुपम सुन्दर मुनिकुमार पर अपनी आसक्ति, उसकी मृत्यु, आकाशवाणी आदि सभी कुछ बताने में कोई संकोच या लज्जा नहीं करती है।

एक आदर्श प्रेमिका के रूप में महाश्वेता पाठकमात्र को प्रभावित करने में सक्षम है। अपने प्रति प्रेम के अतिरेक के कारण मृत्यु प्राप्त करने वाले पुण्डरीक के साथ ही यह भी मरना चाहती है परन्तु दिव्य पुरुष के वचनों पर विश्वास करके पुनर्मिलन की आशा बना कर शङ्कर की आराधना में लीन हो जाती है। इस अवस्था में रहती हुई यह अत्यन्त कठोर नियमों का पालन करती है। पुण्डरीक के प्रति इसका अनन्यभाव से प्रेम है। अन्य पुरुषमात्र के प्रति सामान्य व्यवहार करती है, चन्द्रापीड के प्रथम मिलन में इसमें कोई विकृति नहीं होती है। पूर्वजन्म का पुण्डरीक ही जब इस जन्म में वैशम्पायन बन कर प्रणय निवेदन करता है तो यह ठुकरा देती है। उसके दुःसाहस पर क्रुद्ध होकर 'शुक बन जाओ' ऐसा शाप देने में बिल्कुल नहीं संकोच करती है। पुण्डरीक के अतिरिक्त अन्य पुरुष को वह नाम से भी प्रेम नहीं करती है।

उसके जीवन में पहली बार उसी के कारण मुनिकुमार (पुण्डरीक) की मृत्यु होती है। दूसरी बार वैशम्पायन के रूप में उसी के कारण मृत्यु होती है, इससे उसकी जीवन-पद्धति विचित्र हो जाती है। यह अपने दुःख से दुःखी कादम्बरी को समझाने के लिये जाती है और साथ में एक सुन्दर राजकुमार को भी ले जाती है। इस प्रकार सखी के प्रति भी इसका विशेष प्रेम दिखाई देता है। वैशम्पायन की मृत्यु से चन्द्रापीड का हृदय विदीर्ण हो जाने से मृत्यु हो जाने पर यह अपनी सखी के कष्ट से और अधिक दुःखी हो जाती है। यह सभी कष्टों को दृढ़ता से सहती है और पुनर्मिलन की आशा बनाये जीवित रहती है। चन्द्रापीड के माता-पिता को आया हुआ जानकर, यह लज्जा और दुःख के कारण गुफा में छिप जाती है। उन्हें अपना मुख नहीं दिखाना चाहती है।

जन्म से अकेली, बाल्यकाल-मात्र में सुख प्राप्त करने वाली महाश्वेता आगे लगातार विपत्तियों को झेलती रहती है। उसके प्रति पाठकों की सहानुभूति स्वाभाविक है। अन्त में वल्लभ से मिलन होने पर महाश्वेता की तपस्या सफल होती है। अविचारित प्रेम की परिणति क्या-क्या हो सकती है—इसे हम महाश्वेता के साथ स्पष्ट देख सकते हैं।

अन्य पात्र

अन्य पात्रों के विषय में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बातें नहीं हैं। तारापीड एक आदर्श राजा, शुकनास एक आदर्श मन्त्री के रूप में हैं। बाण ने पत्रलेखा के साथ अन्याय किया है। ऐसा लगता है कि बाण ने कुछ विशेष उद्देश्य से उसे सम्मिलित किया था किन्तु बाद में उधर उपेक्षा कर दी। कपिञ्जल को एक आदर्श मित्र के रूप में देखा जा सकता है, रानी विलासवती में एक ममतामयी माता का दर्शन होता है। अन्य पात्र सामान्य रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

बाण का परवर्ती कृतियों पर प्रभाव

बाणभट्ट के उत्तरकाल के समस्त कवि इनकी रचनाओं से प्रभावित प्रतीत होते हैं। 'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' यह महान् उद्घोष उनकी महिमा का ज्वलन्त प्रमाण है। पद्यकवि भी बाण से पर्याप्त प्रभावित प्रतीत होते हैं। माघ का 'शिशुपालवध' और श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित'

प्रकृतिचित्रण आदि में बाण से निश्चित ही प्रभावित हैं। गद्यकारों के लिये तो बाण ही आदर्श बन गये। बाण ने अपनी कृतियों में जटिल और सरल, लम्बे और छोटे, विस्तृत और संक्षिप्त वर्णन करके एक ऐसा मार्ग दिखलाया कि सभी को अपनी रुचि और प्रतिभा के अनुरूप चलने की स्वीकृति दे दी। बाण का उत्कृष्ट अनुकरण पण्डित अम्बिकादत्तव्यास-कृत 'शिवराजविजय' में देखा जा सकता है।

बाणभट्ट की शैली

बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में अपनी शैली का संकेत देते हुए लिखा है—

'नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥'[1]

अर्थ की नवीनता (पुनरावृत्ति न होना), स्वभावोक्ति की अग्राम्यता (नागरिकता, भोंडापन न होना), श्लेष की स्पष्टता, रस की स्फुटता, अक्षरों की विकटबन्धता—इन सबका एक स्थान पर होना दुर्लभ है। परन्तु बाण ने अपनी कादम्बरी में अपना कथन चरितार्थ कर दिया है। हर्षचरित में इन्होंने अपनी शैली का एक संकेत यह भी दिया है—

"श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरम्॥"[2]

इन चार दिशाओं की चारों विशेषताओं को बाण ने समन्वित रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

यद्यपि 'ओजःसमासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्' यह आदर्श बाण के समक्ष रहा परन्तु उन्होंने अपने उपर्युक्त वचनों द्वारा अपनी स्वतन्त्र शैली का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनकी शैली के विषय में निम्नवचन प्रसिद्ध हैं—

"शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
शीलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥"[3]

इसका आशय यह है कि शब्द और अर्थ का सन्तुलित प्रयोग पाञ्चाली शैली का जीवन है। बाण इसमें सर्वथा सफल हैं—इसके लिये प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

कादम्बरी में उत्कृष्ट गद्य का यह लक्षण है—उत्कृष्टकविगद्यमिव विविधवर्णश्रेणि-प्रतिपाद्यमानाभिनवार्थसञ्चयम्।" (पृ० ४३४ में रोल के नीचे २ लाइनें मूल की हैं।)

वर्णनीय विषय के स्वरूप के अनुरूप समास अथवा व्यास शैली का प्रयोग करने में बाण की दक्षता समान रूप से है। कोई वर्णन बहुत लम्बा कर देने पर भी बाण ने शैली मे उबाऊ पन या एक जैसा स्वरूप नहीं रखा है। वे कहीं पर अनेक लम्बे समासों का प्रयोग करने के बाद लघु वाक्यों से अवसान करते हैं जिससे लगता है कि कोई दौड़ता हुआ अब धीरे धीरे चलना अच्छा समझता है।

---

१. हर्षचरित मङ्गलश्लोक ८। २. हर्षचरित मङ्गलश्लोक ७। ३. भोजराजसरस्वतीकण्ठ०।

परन्तु उनके छोटे-छोटे वाक्य, शब्दों को दृष्टि भले हों, परन्तु उनमें अर्थ की व्यापकता और गम्भीरता विद्वानों से छिपी नहीं है। (इसका विशद विवेचन आगे देखा जा सकता है।)

बाणभट्ट का प्रकृतिचित्रण

अपने यौवन के प्रारम्भिक दिवसों में भ्रमण करते हुए बाण ने प्रकृतिदर्शन बहुत निकट से किया है। वनों, वृक्षों, लताओं, पुष्पों, पर्वतों, नदियों, झरनों, तालाबों, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि का सजीव और अतिशय प्रभावशाली चित्रण करने में बाण की सफलता असन्दिग्ध है। उन्हें प्रकृति का सौम्य रूप अधिक आकर्षक प्रतीत हुआ। वे प्रकृति के परम उपासक प्रतीत होते हैं। उनके वर्णनविस्तार में प्राकृतिक चित्रण स्वाभाविक रूप में दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिये जाबालि के आश्रम और महाश्वेता के आश्रम में प्रकृति का ऐसा शान्त और उदात्त स्वरूप वर्णित किया है जो पाठक के मन में एक अति पवित्र भावना का संचार करता हैं। इसका आनन्द उन-उन स्थलों का अध्ययन करते समय प्रत्येक सहृदय को होता है।

बाण प्रकृति के साथ तादात्म्य लेकर चले हैं। उनके पात्र प्रकृति नटी के अंक में अपना स्वतन्त्र स्वरूप प्रस्तुत करते हुए दिखाई देते हैं। पदे-पदे स्वाभाविकता झलकती है। उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की पुष्पमाला से सुसज्जित वर्णन अपना अमिट प्रभाव डालते हैं। परन्तु अतिशय विस्तार कहीं-कहीं मुख्य कथा-प्रवाह को सर्वथा विस्मृत करा देता है। यदि अनपेक्षित और अनावश्यक विस्तार को हटा दिया जाय तो बाण का प्रकृतिचित्रण निश्चित ही प्रशंसनीय माना जा सकता है।

कादम्बरी में आध्यात्मिक संकेत

कादम्बरी एक रहस्यमयी कृति है। इसमें आध्यात्मिक संकेत हैं, ऐसा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सिद्ध किया है। इसके विशेष ज्ञान के लिये 'कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन' ग्रन्थ देखना चाहिए।

कादम्बरी में भावपक्ष

बाणभट्ट एक सरस और सहृदय साहित्यकार है। पात्रों के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर, उनके साथ तादात्म्य स्थापित करके प्रसङ्गोचित भावों की सफल अभिव्यक्ति बाण की प्रमुख विशेषता है। विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य या स्त्री की स्वाभाविक मनोदशा प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। चाण्डाल-कन्या के अनुपम सौन्दर्य को देखकर राजा शूद्रक विधाता को (अपने मन में) धिक्कारने लगता है। शुक के माध्यम से जिन मनोभावों का उपस्थापन किया है वे प्रत्येक सहृदय को द्रवित कर देते हैं। तारापीड की महारानी द्वारा निःसन्तान-अवस्था का वर्णन और राजा द्वारा सान्त्वना देना—अत्यन्त मार्मिक वर्णन हैं। बाद में महारानी को गर्भवती जान कर महाराज का तत्काल महल में पहुँचना, हास-परिहास करना पुत्रजन्म पर अतिप्रसन्न होना, बहुत ही सुन्दर हैं।

प्रेम-प्रसङ्गों में भावपक्ष का वर्णन पराकाष्ठा पर पहुँचा दिखाई देता है। महाश्वेता और पुण्डरीक के प्रथम दर्शन तथा कादम्बरी और चन्द्रापीड के प्रथम दर्शन के समय का अत्यन्त

स्वाभाविक और प्रभावशाली वर्णन है। दोनों युगलों के विरह-वर्णन भी बाण की अनुभूति की उत्कृष्टता सिद्ध करते हैं।

बाण की दृष्टि में प्रेम

कादम्बरी 'कथा' दो प्रेमियों की तीन जन्मों की प्रणय-कथा है। बाण ने प्रेम का एक अत्यन्त उच्च आदर्श रूप प्रस्तुत किया है। इनकी दृष्टि में प्रेम में 'अनन्यता' परमावश्यक है। बाण ने अपन पात्रों की कड़ी प्रेमपरीक्षा ली है। इनका प्रेम केवल बाहरी सौन्दर्य पर ही नहीं स्थित है, अन्तःप्रेरणा और पूर्वजन्म की वासना भी किसी का किसी विशेष व्यक्ति के साथ प्रेम करने में कारण है। कालिदास ने शाकुन्तल (५/२) में जिस भाव की पुष्टि की, बाण भी उसी के अनुयायी हैं। इन्होंने अपने पात्रों के परस्पर अनुराग बढ़ाने में समयसीमा को महत्त्व नहीं दिया। प्रथम दर्शन ही इसके लिए पर्याप्त माना है। परन्तु प्रेम का परिपाक प्रदर्शित करने के लिये जन्म-जन्मान्तर का काल ले लिया है। पुण्डरीक और चन्द्रापीड का निधन हो जाने पर भी महाश्वेता और कादम्बरी की स्नेहवृत्ति अचल और सुदृढ़ ही है। सुन्दर-से-सुन्दर अन्य कोई भी इनके प्रेमभाव में अन्तर नहीं कर सका है। यह प्रेम की एकनिष्ठता या अनन्यता सम्भवतः इनकी अपनी अत्युच्च प्रेम की मान्यता प्रतीत होती है। सामान्यतः लोक में ऐसा बहुत कम दिखाई देता है। महाश्वेता अपने मृत वल्लभ के अभाव में वैशम्पायन के प्रणय निवेदन को सुन कर क्रुद्ध होकर शुक हो जाने का शाप तक दे डालती है।

शास्त्रीय सिद्धान्त और सामाजिक मान्यता के अनुरूप बाणभट्ट ने पहले स्त्री में ही प्रेम का आविर्भाव स्वीकार किया है। पुण्डरीक को देख कर और मञ्जरी की उत्कट गन्ध सूँघ कर महाश्वेता ही पहले आकृष्ट होकर उसका परिचय आदि पूँछती है। बाद में पुण्डरीक उसकी ओर आसक्त होता हैं। यही स्थिति कादम्बरी और चन्द्रापीड की भी है। कादम्बरी ही पहले अनुराग प्रकट करती है। प्रेम-चित्रण के प्रसङ्ग में विभिन्न भावों का मार्मिक और यथार्थ निरूपण बाण की बहुमुखी प्रतिभा का सुपरिणाम है।

बाणभट्ट का सौन्दर्यबोध

बाणभट्ट का जन्म सुसम्पन्न परिवार में हुआ था। और आगे भी इन्हें सम्राट् का संरक्षण प्राप्त हुआ था अतः बाणभट्ट सौन्दर्य के परम पुजारी प्रतीत होते हैं। पदार्थमात्र में सौन्दर्य की अनुभूति और विस्तृत वर्णन करने में बाणभट्ट सिद्धहस्त हैं। स्त्रियों में चाण्डालकन्या, महाश्वेता और कादम्बरी के सौन्दर्यवर्णन में बाण ने उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं आदि का अतिशय प्रयोग किया है। एक ओर कृष्णवर्णा चाण्डालकन्या है तो दूसरी ओर उससे सर्वथा भिन्नवर्णा महाश्वेता। ऐसा लगता है कि उन्हें श्यामलवर्ण और गौरवर्ण दोनों से समान अनुराग है। सम्भव है उनके जीवन में कोई ऐसी घटना घटी हो। शूद्रक, तारापीड, चन्द्रापीड, पुण्डरीक आदि पुरुषों के वर्णनों में भी सौन्दर्य-भावना का ध्यान रखा गया। राजधानी, आश्रम, वन, सरोवर, पर्वत आदि सभी स्थलों पर बाण को सुन्दरता और मादकता की अनुभूति होती है। बाण ने औचित्य का ध्यान रखा है।

महाश्वेता का वर्णन और कादम्बरी का वर्णन इसका स्पष्ट प्रमाण है। एक के प्रति श्रद्धा और दूसरे के प्रति अनुराग का चित्रण है। चाण्डालकन्या के वर्णन में चाण्डालत्व को प्रधान न मान कर यौवन और सौन्दर्य को ही वरीयता दी गई है।

प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्यबोध के विषय में जितना भी लिखा जाय, कम है। छोटी-से-छोटी बात भी बाण की दृष्टि से छिपी नहीं है। इसका आनन्द विभिन्न प्राकृतिक वर्णनों में देखना चाहिए।

कादम्बरी में अलङ्कार

बाणभट्ट जिस युग के रचनाकार हैं उस युग में प्रशस्त गद्यलेखन का एक आदर्श रूप या मानदण्ड सम्भवतः निश्चित हो चुका था, बाण उसमें पूर्ण रूप से सफल हुए हैं—यह कहने की आवश्यकता नहीं है। बाणने अपनी कादम्बरी में अलङ्कृत शैली का सर्वोत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत किया है। इनके द्वारा प्रयुक्त समस्त अलङ्कृत स्थलों का विवेचन करना एक अत्यन्त दुरूह और विस्तृत कार्य है। इसके लिये एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। यहाँ कुछ प्रमुख अलङ्कारों के उदाहरण देना पर्याप्त है।

(क) शब्दालङ्कार

बाण ने शब्दालङ्कारों में अनुप्रास और श्लेष का अधिक और यमक का कम प्रयोग किया है।

(१) अनुप्रास

अनुप्रास के विविध भेदों का प्रयोग बाणभट्ट ने किया है—

'प्रतापानुरागावनत-समस्त-सामन्तचक्रः, चक्रवर्तिलक्षणोपेतः, चक्रधर इव करकमलोपलक्ष्यमाण-शङ्खचक्रलाञ्छनः। (पृ० २३)

रजनि-जल-बिन्दुजालजनित-जडिम्नि बहलवनकुसुमपरिमलानुमितगमने चलितलताविटपगहने प्रवृत्ते च पवने।" (पृ० ८०७)

"देव! देव्यो विज्ञापयन्ति देवादेशादेष वैशम्पायनः··· ···।" (पृ० ८५)

"न गृह्णन्ति शष्पकवलमजस्रमश्रुजललुलितदृष्टयो वीक्ष्य शून्या दश दिशो जराजर्जरितविषाण-कोटयो जानकीसम्वर्द्धिता जीर्णमृगाः।" (पृ० १०४)

"धाम धैर्यस्य, स्थानं स्थितेः, सेतुः सत्यस्य, गुरुर्गुणानाम्, आचार्य आचाराणाम्, धाता धर्मस्य।" (पृ० २८३)

"अप्रतिविधेये तु विधातरि किं करोमि। तन्मुच्यतां देवि! शोकानुबन्धः। आधीयतां धैर्ये धर्मे च धीः। धर्मपरायणानां हि समीपसञ्चारिण्यः कल्याणसम्पदो भवन्ति।" (पृ० ११७-१८)

(२) यमक

यमक का बहुत अधिक प्रयोग नहीं दिखाई देता है। कहीं-कहीं सुन्दर प्रयोग है—

"आसीदशेषनरपतिशिरःसमभ्यर्चितशासनः पाकशासन इवापरः।" (पृ० २३)

"यत्र च दशरथवचनमनुपालयन्नुत्सृष्टराज्यो दशवदनलक्ष्मीविभ्रमविरामो रामो महामुनि-मगस्त्यमनुचरन् सह सीतया।" (पृ० १०२)

(३) श्लेष

"शरदमिव विकसितपुण्डरीकलोचनाम्, प्रावृषमिव घनकेशजालाम्······।" (पृ० ५६)

"समरोद्यत-पताकिनीव बाणासनारोपितशिलीमुखा विमुक्तसिंहनादा च"····(पृ० ९१)

"अरण्यमिव सखड्गधेनुकम्, अभिनवजलधरमिव मयूरपिच्छचित्रचापधारिणम्" (पृ० १४६)

"असुरारिमिव प्रकटितनरहरिवराहरूपम्, सांख्यमिव कपिलाधिष्ठितम्।" (पृ० १९२)

"अदितिरिव देवकुल-सहस्रसेव्या, महावराहलीलेव दर्शितहिरण्याक्षपाता।" (पृ० २५६)

"ग्रहगण इव बुधानुगतः, मकरध्वज इवोत्सन्नविग्रहः, दशरथ इव सुमित्रोपेतः। पृ० २६९-७०

"मधुमासदिवसमिव विकसिताशोकपाटलम्,व्रतिनमिव भस्मसितपुण्ड्राङ्कितमुखम्।" पृ० ३८७

"यौवनमिवोत्कलिकाबहुलम्, उत्कण्ठितमिव मृणालवलयालङ्कृतम्।" (पृ० ५८७)

(ख) अर्थालङ्कार

अर्थालङ्कारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास तथा परिसंख्या के प्रयोग में बाणभट्ट की दक्षता दर्शनीय है।

(१) उपमा

उपर्युक्त श्लेष के उदाहरण उपमा के भी उदाहरण हैं। अतएव कुछ विद्वान् इनमें श्लेषोपमा मानते हैं। कादम्बरी का प्रारम्भ उपमासौन्दर्य से ही होता है—

"चक्रवर्त्तिलक्षणोपेतः चक्रधर इव करकमलोपलक्ष्यमाणशङ्खचक्रलाञ्छनः,हर इव जितमन्मथः। (पृ० २३)।

"पराशरमिव योजनगन्धानुसारिणम्, घटोत्कचमिव भीमरूपधारिणम्।" (पृ० १४७)

"विटप इव कोमलवल्कलावृतशरीरः,गिरिरिव समेखलः।" (पृ० १७३)

"बृहस्पतिरिव सुनासीरस्य, कविरिव वृषपर्वणः, वसिष्ठ इव दशरथस्य।" (पृ० २८४-८५)

"रामायणमिव कपिकथासमाकुलम्, माद्रीकुलमिव नकुलाङ्कृतम्।" (पृ० ४४२-४३)

(२) आर्थी-उपमा

राजा शूद्रक की प्रशंसा में—

"यश्च मनसि धर्मेण, कोपे कामेन, प्रसादे धनदेन, प्रतापे वह्निना, भुजे भुवा, दृशि श्रिया, वाचि सरस्वत्या, मुखे शशिना, बले मरुता · " (पृ० २८)

(३) मालोपमा/रशनोपमा

"अथ तस्य चन्द्रलेखेव हरजटाकलापस्य, कौस्तुभप्रभेव कैटभारिवक्षःस्थलस्य, वनमालेव कुसुमायुधस्य, वेलेव सागरस्य ।" (पृ० ३००)

"क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पदम्। (पृ० ६५०)

(४) रूपक

"यस्य च हृदयस्थितानपि पतीन् दिधक्षुरिव प्रतापनलो वियोगिनीनामपि रिपुसुन्दरीणामन्त-र्जनितदाहो दिवानिशं जज्वाल।" (पृ० ३०)

महर्षि जाबालि के वर्णन में परम्परित रूपक की सुषमा दर्शनीय है—

"एषः प्रवाहः करुणरसस्य, सन्तरणसेतुः संसारसिन्धोः, आधारः क्षमाम्भसाम्, परशुस्तृष्णा-लतागहनस्य, सागरः सन्तोषामृतरसस्य, उपदेष्टा सिद्धिमार्गस्य, अस्तगिरिरसद्ग्रहस्य, मूलमुपशमतरोः, नाभिः प्रज्ञाचक्रस्य, प्रसादो धर्मध्वजस्य ...।" (पृ० २१७)

(५) उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षालङ्कार बाण का सबसे प्रिय अलङ्कार प्रतीत होता है। कल्पना की ऊँची उड़ान भरने में उत्प्रेक्षाओं ने बाण की प्रतिभा को प्रस्तुत करने का पर्याप्त अवसर दिया है। बाण ने कादम्बरी का प्रारम्भ ही उत्प्रेक्षा अलङ्कार के प्रयोग से किया है—"आसीदशेषनरपतिशिरःसमभ्यर्चितशासनः पाकशासन इवापरः।" उत्प्रेक्षा के अधिकांश भेदोपभेद बाण की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। (इनको संस्कृत-व्याख्या में देखा जा सकता है।) कुछ अच्छे उदाहरण—

"उपरिविन्यस्तकुङ्कुमस्थासकमन्तरान्तरानिपतितबालातपच्छेदमिव कैलाशशिखरिणम्, पृ० ४५

"अस्ति पूर्वापरजलनिधिवेलावनलग्ना मध्यदेशालङ्कारभूता मेखलेव भुवः," (पृ० ८८)

"...इन्दुमण्डलादिव प्रस्यन्दितम्, द्रुतमिव मुक्ताफलनिकरम्।" (पृ० १५३-५४)

"तथा हि—कदाचिदुल्लसत्कठोरकपोलपुलकजर्जरितकर्णपल्लवानां प्रणयिनीनां चन्दनजल-च्छटाभिरिव स्मितसुधाच्छविभिरभिषिच्यमानः, कर्णोत्पलैरिव लोचनांशुभिस्ताड्यमानः...."। पृ०२८८

"कैलासतटाघातधातु-धूलिपाटलमिव हरवृषभम्, असुररुधिरपङ्कलेखालोहितसटामिव पार्वती-सिंहम्, रहःसङ्घातमिव मूर्तिमन्तम्' (पृ० २८३-८४)

"मुहूर्तादिव युवतिजननिरन्तरतया नारीमया इव प्रासादाः, सालक्तकपदकमलविन्यासैः पल्लव-मयमिव क्षितितलम्, अङ्गनाङ्गप्रभाप्रवाहेण लावण्यमयमिव नगरम्।" (पृ० ४०५-६)

"तथा हि—अभिषेकसमय एव चैतेषां मङ्गलकलशैरिव प्रक्षाल्यते दाक्षिण्यम्, अग्निकार्य-धूमेनेव मलिनीक्रियते हृदयम्, पुरोहितकुशाग्रसम्मार्जनीभिरिवापह्रियते क्षान्तिः..." (पृ० ५१५-१६)

"...ग्रहैरिव गृह्यन्ते, भूतैरिवाभिभूयन्ते, मन्त्रैरिवावेश्यन्ते।" (पृ० ५१८)

"उपशान्तवचसि शुकनासे चन्द्रापीडस्ताभिरुपदेशवाग्भिः प्रक्षालित इव, उन्मीलित इव, स्वच्छीकृत इव, निर्मृष्ट इव, अभिषिक्त इव, अभिलिप्त इव, अलङ्कृत इव, पवित्रीकृत इव, उद्भासित इव प्रीतहृदयो मुहूर्तं स्थित्वा स्वभवनमाजगाम।" (पृ० ५३३)

(६) विरोधाभास

बाण के विरोधाभास भी अतिसुन्दर और बाण की बहुज्ञता के परिचायक हैं—

"अशेषजनभोग्यतामुपनीतयाप्यसाधारणया राजलक्ष्म्या समालिङ्गितदेहम्, अपरिमितपरिवार-

जनमप्यद्वितीयम्, अनन्तगजतुरङ्गसाधनमपि खड्गमात्रसहायम्, एकदेशस्थितमपि व्याप्तभुवन-मण्डलम्··· ···"। (पृ० ४७-४८)

"अभिनवयौवनमपि क्षपितबहुवयसम् कृतसारमेयसङ्ग्रहमपि फलमूलाशनम्, कृष्णमप्य-सुदर्शनम्, स्वच्छन्दचारमपि दुर्गैकशरणम्, क्षितिभृत्पादानुवर्तिनमपि राजसेवानभिज्ञम् ।" (पृ० १४८-५०)

"वनचरोऽपि कृतमहालयप्रवेशः, असंयतोऽपि मोक्षार्थी, सामप्रयोगपरोऽपि सततावलम्बित-दण्डः ।" (पृ० १७७-७८)

"सुरभिविलेपनधरमपि सतताविर्भूतहव्यधूमगन्धम्, मातङ्गकुलाध्यासितमपि पवित्रम् ।"

(पृ० १९४)

"सङ्गृहीतगारुडेनापि भुजङ्ग-भीरुणा, खलोपजीविनापि प्रणयिजनोपजीव्यमानविभवेन, वीरेणापि विनयवता, प्रियंवदेनाबि परप्रार्थनानभिज्ञेन··· ।" (पृ० २४९)

"महाद्वारमपि दुष्प्रवेशम्, अवन्तिविषयगतमपि मागधजनाधिष्ठितम्, स्फीतमपि भ्रमन्नग्नलोकं राजकुलं विवेश ।" (पृ० ४४९)

(७) परिसङ्ख्या

बाण की कृतियों में परिसंख्या अलङ्कार का भी पर्याप्त और प्रभावोत्पादक प्रयोग प्राप्त होता है—

"यस्मिश्च राजनि जितजगति पालयति महीं—चित्रकर्मसु वर्णसङ्कराः, रतेषु केशग्रहाः, काव्येषु दृढबन्धाः, शास्त्रेषु चिन्ता, स्वप्नेषु विप्रलम्भाः, छत्रेषु, कनकदण्डाः···," (पृ० ३०)

"यत्र च मलिनता हविर्धूमेषु न चरितेषु,मुखरागः शुकेषु न कोपेषु···,"शाब्दी परि०पृ० १९५

"यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितम्, वयःपरिणामे द्विजपतनम्,"

(आर्थी परि० पृ० १९७)

"यस्यां चानिवृत्तिर्मणिप्रदीपानाम्, अन्तस्तरलता हाराणाम्, अस्थितिः सङ्गीतध्वनीनाम्··· ।"

(पृ० २६३)

"यस्मिश्च राजनि गिरीणां विपक्षता, प्रत्ययानां परत्वम्, दर्पणानामभिमुखावस्थानम्, शूलपाणिप्रतिमानां दुर्गाश्लेषः, जलधराणां चापधारणम्···।" (पृ० २७९)

(८) अर्थान्तरन्यास

बाण के अर्थान्तरन्यास भी प्रभावशाली हैं—

"किमिव हि दुष्करमकरुणानाम् ।" (पृ० १५६)

"सर्वथा न कञ्चनं न खलीकरोति जीविततृष्णा···," (पृ० १६७)

"आसीच्च मम चेतसि—नास्ति असाध्यं नाम तपसाम् ।" (पृ० ६३७)

कादम्बरी के अलङ्कारों पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता है। क्योंकि सामान्यतया प्रत्येक प्रघट्टक में कोई न कोई अलङ्कार अवश्य प्रयुक्त है।

कादम्बरी में रस

भारतीय विद्वानों के अनुसार काव्य में रस का स्थान सर्वोपरि है।[1] रस की अभिव्यक्ति में सफल कवि ही सहृदय-समाज में आदर प्राप्त करता है। कादम्बरी के रस के विषय में कादम्बरी-उत्तरार्द्ध के प्रणता पुलिन्द भट्ट का निम्न वचन स्मरणीय है—

"कादम्बरी-रसभरेण समस्त एव, मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम् ॥[2]

मानव-मनोभावों के सफल प्रस्तुतकर्त्ता बाणभट्ट ने अपनी अमरकृति कादम्बरी में प्रसङ्गानुकूल विविध रसों की प्रभावकारी अभिव्यक्ति करायी है।

यदि कहीं शान्तरस है तो कहीं भयानक, कहीं करुण है तो अन्यत्र हास्य। शृङ्गार के निरूपण में बाण की प्रतिभा अनुपम है।

रसराज शृङ्गार कादम्बरी का मुख्य (अङ्गी) रस है। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि बाण का शृङ्गार अति उत्कृष्ट कोटि का है। कवि ने बाह्य शरीर की कमनीयता से उत्पन्न कामुकता को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। बाण जन्म-जन्मान्तर के अनुराग को महत्त्व देते हैं।[3] तीन-तीन जन्मों तक प्रेम की एकनिष्ठता और किसी भी परिस्थिति में अपरिवर्त्तनीयता बाण जैसा महाकवि ही प्रस्तुत कर सकता है।

सच तो यह है कि महाश्वेता के प्रेम से पागल पुण्डरीक की कपिञ्जल द्वारा भर्त्संना करवा कर कवि ने यह शिक्षा दी है कि असंयत प्रेम मानसिक और शारीरिक दुरवस्था का कारण होता है।

कादम्बरी में शृङ्गार के विप्रलम्भ-पक्ष का विशद विवेचन है। पुण्डरीक तथा चन्द्रापीड की मृत्यु हो जाने पर भी उनके पुनर्जीवन की आशा बनी रहती है। अतः करुण की प्रधानता नहीं है। साहित्यदर्पणकार ने ऐसे प्रसङ्गों में करुण-विप्रलम्भ को स्वीकार किया है—

'यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदेकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भः ॥[4]

---

१. द्र० 'नहि रसादृते कश्चित् पदार्थः प्रवर्त्तते।' भरत०
'रसध्वनेः प्राधान्यम्'। लोचन। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। साहित्यदर्पण।

२. कादम्बरी उत्तरार्द्ध श्लोक ५।

३. कालिदास ने भी यही माना है—
"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुको भवति यत् सुखितो जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ शाकुन्तल ५।२

४. साहित्यदर्पण ३।२०९।

कवि ने विप्रलम्भ को प्रधानता देकर यह सिद्ध किया है कि वियोग की अग्नि में तपा हुआ ही सम्भोग परमानन्दप्रद होता है। महाश्वेता और पुण्डरीक, कादम्बरी और चन्द्रापीड में यह सुस्पष्ट है।

विप्रलम्भ शृङ्गार के साथ-साथ करुण, अद्‌भुत, वीर, बीभत्स, शान्त, हास्य, भयानक, रौद्र, वात्सल्य—इन सभी का सफल और प्रभावशाली रूप में विवेचन किया गया है।

कादम्बरी में रीति

शैली के विषय में पहले भी लिखा जा चुका है। विशेष वक्तव्य यह है कि बाण की रचना पाञ्चाली शैली में है। वह वैदर्भी तथा गौडी की मध्यवर्तिनी मानी गई है। अतएव इसमें वैदर्भी का प्रसाद और गौडी का समासबाहुल्य—दोनों का मञ्जुल सामञ्जस्य पदे-पदे परिलक्षित होता है। कादम्बरी का प्रारम्भिक प्रघट्टक भी इसका उदाहरण है। कुछ वाक्यों में समास हैं, अन्त में कई छोटे छोटे वाक्यों में अलङ्कारों का भी प्रयोग है किन्तु अर्थस्पष्टता में बाधा नहीं है।

कादम्बरी में गुण

कादम्बरी में प्रसङ्गानुकूल माधुर्य, ओज तथा प्रसाद का मञ्जुल समन्वय है। अनेक स्थलों पर लम्बे-लम्बे वर्णनों में एकाधिक गुणों की विशेषतायें परिलक्षित होती हैं। रसानुकूल गुण बाण की प्रमुख विशेषता है। यही कारण है कि इनकी रचना अत्यन्त प्रभावशाली है। चाण्डाल-कन्या के भी सौन्दर्य-वर्णन में माधुर्य है। चन्द्रापीड के शिकार वर्णन में ओज गुण प्रभाव-कारक है। प्रसाद गुण, वार्त्तालापों के प्रसङ्ग में प्रायः प्राप्त होता है। मुख्यतः ओज गुण है।

कादम्बरी-कालीन सामाजिक स्थिति

साहित्य और समाज का अटूट सम्बन्ध होता है। समाज की अनेक विशेषतायें कवि की रचना में दिखाई देती हैं और सफल कवि अपने अनुसार समाज को परिवर्त्तित कर देता है। कादम्बरी भी स्वसमकालीन समाज की स्थिति प्रस्तुत करती है। उस समय वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी परन्तु वर्णव्यवस्था में जातीय कट्टरता नहीं थी। इसीलिये चाण्डाल-कन्या को राज्यसभा में प्रवेश की अनुमति वर्णित है। लोगों में सौमनस्य था। ब्राह्मण मुख्य रूप में अध्ययन-अध्यापन आदि परम्परागत कार्य करते थे। क्षत्रिय राज्य-शासन और सुरक्षा का कार्य तथा वैश्य व्यापार करते थे। शूद्रों के लिये सेवा कार्य था।

शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। सम्पन्न लोगों के लिये स्वतन्त्र शिक्षण का भी प्रबन्ध होता था। शिक्षा-ग्रहण काल में दण्ड-व्यवस्था भी थी। विभिन्न कलाओं का प्रचलन था। चित्रकला नृत्यकला, द्यूतक्रीडा का प्रचलन था।

कन्याओं पर बहुत अधिक अंकुश नहीं था। स्वयंवर भी होते थे। परन्तु स्वेच्छाचारिता गर्हित थी। महिलाओं का आदर होता था। गुरुजनों और ज्येष्ठ लोगों के प्रति सम्मान का पूरा ध्यान रखा जाता था। पिता का पत्र पाते ही चन्द्रापीड कादम्बरी के पास से वापस लौट आता है।

चन्द्रापीड अपने पिता और शुकनास के सामने पृथ्वीतल पर ही बैठता है। सती-प्रथा प्रचलित थी। किन्तु उसकी प्रबल निन्दा और विरोध प्रारम्भ हो गया था। आत्महत्या जघन्य मानी जाती थी। महाश्वेता तथा कादम्बरी को सती होने या आत्महत्या करने से विरत किया गया है। मैत्री को विशेष महत्त्व दिया जाता था। मित्रता में व्यक्तिगत स्तर बाधक नहीं होता था। धर्मपरिवर्तन किया जा सकता था। धार्मिक कठोरता या असहनशीलता नहीं थी।

स्वास्थ्य के प्रति लोगों का विशेष ध्यान रहता था। विविध प्रकार के भोज्य प्रचलित थे। दिनचर्या नियमित होती थी। प्रत्येक कार्य के लिये समय निर्धारित रहता था।

समाज में विभिन्न संस्कार प्रचलित थे। लोग उत्साहपूर्वक उन्हें मनाते थे। अपेक्षित संस्कार के बाद शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। अन्धविश्वास भी प्रचलित थे। मूर्तिपूजा का खूब प्रचलन था। धर्म के माध्यम से सीधे सादे लोगों को ठगा भी जाता था। उस समय समाज में शान्ति थी, विशेष उथल पुथल नहीं थी।

कादम्बरीकालीन राजनीतिक स्थिति

बाण की रचनाओं में राजनीतिक स्थिति का स्वरूप भी प्रस्तुत है। उस समय साम्राज्यवाद था। राजा के पास असीमित अधिकार होते थे। उसकी मन्त्रिपरिषद् में अनेक मन्त्री और एक प्रधान अमात्य होता था। इनकी नियुक्ति में शिक्षा-दीक्षा और योग्यता के साथ-साथ कुल का भी ध्यान रखा जाता था। छोटे-छोटे राज्य थे। वे किसी एक बड़े सम्राट् के अधीन रह कर शासन-व्यवस्था करते थे। भारत की भौगोलिक सीमायें बहुत दूर तक फैली हुईं थीं। देश-विदेश के लोगों से राजकीय सम्बन्ध थे और उपहार-प्रदान आदि होता था। चार प्रकार की सेनाओं का प्रचलन था। शासन-व्यवस्था सुदृढ़ थी। लोग सुख शान्ति से जीवन व्यतीत करते थे। प्रजा का पालन राजा का कर्त्तव्य होता था। प्रजा अपने राजपरिवार का पूरा सम्मान करती थी।

उपसंहार

सरस्वती के वरद पुत्र, शब्दप्रयोग के सफल शिल्पी, अपूर्व कल्पनाओं के अनुपम स्रष्टा, भावों के सूक्ष्म द्रष्टा बाणभट्ट ने कादम्बरी (अपूर्ण) की रचना करके संस्कृत-साहित्य को ही नहीं अपितु विश्व-साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की है। संस्कृत भाषा का स्वाभाविक गुण श्रवण-माधुर्य पद्यों में तो सर्वसुलभ है ही परन्तु बाण ने गद्यरचना में भी उसे सफल कर दिखाया है। कादम्बरी की शैली का पूर्ण परिशीलन किये बिना सतही तौर पर उसकी आलोचना करने वाले यह भूल जाते हैं कि बाण ने सुविचारित रूप में भाषा को सजाया है। इस विषय में प्रोफेसर विश्वनाथ भट्टाचार्य का कथन यथार्थ ही है कि बाण की भाषा प्रसङ्गानुकूल स्वरूप धारण करती हुई प्रवहमान है। अनुभव के धनी बाणभट्ट ने जीवन के अनेक यथार्थ रूपों को अपने पात्रों के चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत कर काव्यरचना के अनेक उद्देश्यों की पूर्ति भी कर दी है।

उदारतावादी बाण ने वर्णनीय विषयों में पक्षपात नहीं किया है। उन्होंने जितना विस्तृत वर्णन राजा तारापीड का किया है उतना ही राजा शूद्रक का और शबर-सेना-पति का, जरद्द्रविड़ धार्मिक का और महर्षि जाबालि का। यदि वे गन्धर्व-राजकन्या महाश्वेता और कादम्बरी के वर्णन में नहीं थके तो चाण्डालकन्या के सौन्दर्य-निरूपण में भी लेखनी को संकुचित नहीं किया।

प्राचीनकाल से आज तक बाण के प्रशंसकों की संख्या बढ़ती रही है। जिसने भी उनकी रचनाओं का निष्पक्ष आलोडन किया, प्रशंसा किये बिना नहीं रह सका[1]। संक्षेप में, शब्दार्थ का मञ्जुल सामञ्जस्य, प्रसङ्ग तथा रस के अनुकूल शब्दप्रयोग, भावों की सदैव नवीनतायें, अग्राम्यता आदि बाण की शैली की प्रमुख विशेषतायें हैं। सामाजिक उदारता, प्रचलित कुरीति का विरोध, असंयत-आचरण का दुष्परिणाम, मित्रता की सदा एकरूपता, प्रेम की एकनिष्ठता आदि कुछ ऐसे वैशिष्ट्य बाण की कादम्बरी में प्रस्तुत किये गये हैं जिनके कारण बाणभट्ट और उनकी 'कादम्बरी' न केवल संस्कृत-साहित्य के लिये प्रत्युत विश्व-साहित्य के लिये अनुपम संरक्षणीय निधि के रूप में प्रतिष्ठित है और भविष्य में भी रहेगी।

---

१. इस विषय में 'सम्पादकीयम्' में 'बाणप्रशस्तयः' देखें।

कादम्बरी के पात्र

(१. पुरुषपात्र)

शूद्रक—विदिशा का राजा, चन्द्रापीड का अवतार
कुमारपालित—शूद्रक का प्रधान अमात्य
जाबालि—कथा कहने वाले त्रिकालदर्शी महर्षि
हारीत—मुनिकुमार, जाबालिपुत्र
चन्द्रापीड—प्रधान नायक, चन्द्रमा का अवतार कादम्बरी का प्रेमी
तारापीड—चन्द्रापीड के पिता, उज्जयिनी के राजा
वैशम्पायन—चन्द्रापीड का मित्र, पुण्डरीक का दूसरा अवतार
शुकनास—तारापीड का प्रधान अमात्य, वैशम्पायन का पिता
बलाहक—तारापीड का बलाधिकृत (सेनापति)
मेघनाद—बलाहक का पुत्र, चन्द्रापीड का महाबलाधिकृत
कैलास—अन्तःपुर का प्रधान कंचुकी
मङ्गल—शुकनास का प्रमुख भृत्य
जालपाद—जाबालि का शिष्य
पुण्डरीक—श्वेतकेतु का पुत्र, महाश्वेता का आराध्य प्रेमी
कपिञ्जल—पुण्डरीक का सखा मुनिकुमार
श्वेतकेतु—पुण्डरीक का पिता
हंस—महाश्वेता का पिता
चित्ररथ—कादम्बरी का पिता, गन्धर्वों का राजा
केयूरक—कादम्बरी का वीणावाहक गन्धर्वकुमार
क्षीरोद—गन्धर्वराज चित्ररथ का कञ्चुकी
मातङ्गक—शबर सेनापति
द्रविड धार्मिक—चण्डिका-मन्दिर का पुजारी

(२. स्त्रीपात्र)

कादम्बरी—कथा की प्रमुख नायिका, चित्ररथ की पुत्री, चन्द्रापीड की प्रेमिका
महाश्वेता—अवान्तर कथा की नायिका, हंस की पुत्री, पुण्डरीक की प्रेमिका
मदिरा—कादम्बरी की माता, चित्ररथ की पत्नी
गौरी—महाश्वेता की माता, हंस की पत्नी
विलासवती—चन्द्रापीड की माता, तारापीड की पत्नी
मनोरमा—वैशम्पायन की माता, शुकनास की पत्नी
मदलेखा—कादम्बरी की प्रमुख सखी
तमालिका—कादम्बरी की दूसरी सखी
तरलिका—महाश्वेता की सखी
पत्रलेखा—कुलूतेश्वर की सुपुत्री, चन्द्रापीड की विश्वासपात्र सहायिका

मकरिका—विलासवती की पनडिब्बा ढोने वाली सेविका
कुलवर्धना—विलासवती के अन्तःपुर की प्रधान सेविका
चण्डालकन्या—लक्ष्मी का अवतार, पुण्डरीक की माता

(३. अन्य पात्र)

वैशम्पायन शुक—कथा सुनाने वाला शुक का बच्चा, पुण्डरीक का तीसरा अवतार
इन्द्रायुध—चन्द्रापीड का अश्व, कपिञ्जल का अवतार
गन्धमादन—चन्द्रापीड का राजसी हाथी
कालिन्दी—कादम्बरी की मैना
परिहास—कादम्बरी का तोता, कालिन्दी का प्रेमी

कादम्बरी में नायक आदि

चन्द्रापीड—धीरोदात्त और अनुकूल नायक
कादम्बरी—परकीया (कन्या) और मुग्धा नायिका
पुण्डरीक—अवान्तर कथा का नायक
महाश्वेता—अवान्तर कथा की परकीया मुग्धा नायिका
ये सभी आलम्बन विभाव हैं।
चन्द्र-चन्द्रिका आदि उद्दीपन विभाव हैं।
परस्पर-निरीक्षण आदि अनुभाव हैं।
निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं।

विप्रलम्भ शृङ्गार मुख्य रस है। उत्तरार्ध में करुण विप्रलम्भ है। मुख्य रूप से पाञ्चाली कहीं-कहीं गौड़ी रीति है। माधुर्य, ओजः तथा प्रसाद तीनों गुण हैं।

साहित्यदर्पण के अनुसार उपर्युक्त के लक्षण

धीरोदात्तः—अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदत्तो दृढव्रतः कथितः॥ (३।३२)
अनुकूल—अनुकूल एकनिरतः । (३।३७)
परकीया—परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा। (३।६६)
कन्या—कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना॥ (३।६७)
मुग्धा—प्रथमावतीर्ण-यौवन-मदविकारा रतौ वामा।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा॥ (३।५८)

इस सन्दर्भ में हरिदास सिद्धान्तवागीश की कादम्बरी की भूमिका का निम्नलिखित श्लोक संग्रहणीय है—

"चन्द्रापीडोऽनुकूलः सकलगुणधरो नायकोऽस्मिन्नुदात्तो
नेत्री कन्याऽन्यदीया मृदुललिततनुर्मुग्ध-कादम्बरी च।
पाञ्चाली नाम रीतिर्विलसति बहुला विप्रलम्भो रसोऽङ्गी
माधुर्याख्यो गुणो वा कविमुकुटमणेः काव्ययोरत्यमेतत्॥

कादम्बरी

॥ श्रीः ॥

कादम्बरी

सविमर्श'भावबोधिनी'संस्कृत–हिन्दीव्याख्योपेता

मङ्गलाचरणम्

रजोजुषे जन्मनि, सत्त्ववृत्तये स्थितौ, प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय, सर्गस्थितिनाशहेतवे, त्रयीमयाय, त्रिगुणात्मने नमः ॥ १ ॥

साम्बं शिवं सकलविघ्नहरं गणेशं
वाग्देवतां गुरुवरान् पितरौ कपीशम्।
भक्त्या प्रणम्य बहुशो 'जयशङ्करो'ऽहं
'कादम्बरी'–विवरणाय करोमि यत्नम् ॥

अथ तत्रभवान् महाकविर्बाणभट्टः प्रारिप्सितपरिसमाप्तये विघ्नशमनार्थं शिष्यादिशिक्षार्थं च जगत्कारण-सगुणब्रह्मनमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरति—रजोजुषे इति।

अन्वयः—प्रजानाम्, जन्मनि, रजोजुषे; स्थितौ, सत्त्ववृत्तये; प्रलये, तमःस्पृशे; [अतो हेतोः,] सर्गस्थिति-नाश-हेतवे, त्रयीमयाय, त्रिगुणात्मने, अजाय, नमः, [अस्ति] ॥ १ ॥

व्याख्या—प्रजानाम्=जन्यपदार्थानाम्, जन्मनि=उत्पत्तिकाले, रजोजुषे=रजोगुणावलम्बिने; स्थितौ=परिपालनसमये, सत्त्ववृत्तये=सत्त्वगुणविशिष्टाय; प्रलये=विनाशकाले, तमःस्पृशे=तमोगुणभाजे; उभयत्रापि 'प्रजानाम्' इत्यस्य सम्बन्धो बोध्यः; अतो हेतोः, सर्गस्थितिनाशहेतवे=सृष्टि-रक्षा-संहारकारणीभूताय, त्रयीमयाय=ब्रह्मविष्णुशिवस्वरूपाय, ऋग्यजुःसामरूपाय वा, त्रिगुणात्मने=मायाशालिने, अजाय=जन्मरहिताय, नमः=वाचनिकनतिः, अस्तीति शेषः ॥ १ ॥

व्युत्पत्तिः—प्रजानाम्—प्रजायन्ते इत्यर्थे प्र+जन्+ड (उपसर्गे च संज्ञायाम् पा. सू. ३।२।९९)। डित्वात् टिलोपः, उपपदसमासः, "प्रजाः स्यात् सन्ततौ जने।" (अमरः ३।३।३२) इदं जन्यप्राणिमात्रबोधकम्। षष्ठीबहुवचनम्। रजोजुषे-रजो जुषते-इत्यर्थे 'रजः+जुष्+क्विप्, क्विब्लुक्, उपपदसमासः, सन्धिकार्यम्। चतुर्थ्येकवचनम्। सत्त्ववृत्तये-सत्त्वे वृत्तिर्यस्य स तस्मै, व्यधिकरण-बहुव्रीहि। प्रलये-प्र+ली+अच्, सप्तम्येकवचनम्। तमःस्पृशे-तमः स्पृशतीत्यर्थे-तमःस्पृश्+क्विन् "स्पृशोऽनुदके क्विन्" (पा. सू. ३।२।५८), उपपदसमासः, चतुर्थ्येकवचनम्। सर्ग-स्थिति-नाश-हेतवे-सर्गश्च, स्थितिश्च, नाशश्च-इत्यर्थे सर्गस्थितिनाशाः, तेषां हेतुः, तस्मै। त्रयीमयाय-त्रयी एव-इत्यर्थे मयट् प्रत्ययः, "तत्प्रकृतवचने मयट्" (पा. सू. ५।३।२१), चतुर्थ्येकवचनम्। त्रिगुणात्मने-त्रिगुणम्=माया आत्मनि=स्वरूपे यस्य तस्मै। यत्तु-त्रयो गुणा एव आत्मा यस्य स

प्रजा (जन्यपदार्थों) की उत्पत्ति [के समय] में रजोगुणयुक्त [ब्रह्मारूप], स्थिति [काल] में सत्त्वगुणयुक्त [विष्णुरूप] तथा प्रलय (विनाशकाल) में तमोगुण का स्पर्श करने वाले [शिवरूप] [अत एव] सृष्टि, स्थिति तथा विनाश (इन तीनों) के कारणस्वरूप, त्रयीमय (ब्रह्मा-विष्णु-शिव-मय अथवा ऋक्-यजुः–सामरूप वेदत्रयी रूपवाले), त्रिगुणात्मा और अज (जन्मादिविकारशून्य परब्रह्म) को नमस्कार है।

तस्मै इति, तत्तुच्छम्; परब्रह्मणो निर्गुणत्वोक्तेः। अजाय—न जायते इत्यर्थे नञ्पूर्वात् जन्धातोर्ड-प्रत्यये टिलोपः, उपपदसमासः, "नलोपो नञः" (पा. सू. ६।३।७३) इति 'न्' इत्यस्य लोपे—अज इति, चतुर्थ्येकवचनम्। "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च" (पा. सू. २।१।१६) इति सूत्रेण नमःयोगे उपपदचतुर्थी बोध्या ॥ १ ॥

विमर्शः—ननु एकस्मिन्नेव परब्रह्मणि त्रिविधव्यवहारानुपपत्तिरिति चेदन्नोच्यते—यथा शुद्धेऽपि स्फटिके नीलपीतादिगुणयोगान्नीलः पीतः स्फटिक इत्यादिव्यवहारो भवति तथैवैकस्मिन्नपि परब्रह्मणि सृष्टिसमये रजोगुणयोगात् 'प्रजापतिरि'ति, स्थितिसमये सत्त्वगुणयोगाद् 'विष्णुरि'ति तथा विनाशकाले तमोगुणयोगाद् 'रुद्र' इति त्रिविधव्यवहारोपपत्तेः। ब्रह्मणः निर्गुणस्यापि त्रिगुणात्मकत्वं श्रुत्यादौ स्पष्टं प्रतिपादितम्—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम्।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते· जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥" [श्वेताश्व० ४।५]

एवमेव तस्य सृष्ट्यादिनिमित्तत्वमपि श्रुत्यादावुक्तम्—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म।" [तैत्ति० ३।१।१]

गुणानां त्रैविध्यं तल्लक्षणञ्च सांख्यकारिकायामेवमुक्तम्—

"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः" ॥ [सां० का० १३]

अत्र श्लोके—'यथासंख्यम्' अलंकारः—रजोजुषे सर्गहेतवे, सत्त्ववृत्तये स्थितिहेतवे, तमः-स्पृशे नाशहेतवे—इति यथासंख्यं सम्बन्धसम्भवात्। एतल्लक्षणन्तु साहित्यदर्पणे एवमुक्तम्—

"यथासंख्यमनूद्देशः उद्दिष्टानां क्रमेण यत्।" [सा० द० १०।७९]

अस्मिन् पद्येऽग्रे च 'वंशस्थं' वृत्तम्। एतल्लक्षणम् 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।' ॥ १ ॥

विमर्श—महाकवि बाणभट्टने सर्वप्रथम परमब्रह्म को प्रणाम करते हुए उसकी औपाधिक अवस्थाओं का उल्लेख किया है; क्योंकि निराकार निर्विकार ब्रह्म को प्रणाम करना अनुपपन्न है।

'प्रजा' शब्द जन्यपदार्थमात्र का उपलक्षण है। अतः जब सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है तब वह ब्रह्म विधाता (ब्रह्मा) का रूप धारण करता हुआ रजोगुणयुक्त हो जाता है। सृष्टि करने के लिए रजोगुणयुक्त होना आवश्यक है। इसीको 'प्रजानां जन्मनि रजोजुषे' इन शब्दों से कहा है।

सृष्टि हो जाने के बाद उसके परिपालन के लिए सत्त्वगुणयुक्त विष्णु का रूप धारण करना पड़ता है। इसको 'प्रजानां स्थितौ सत्त्ववृत्तये' शब्दों से प्रतिपादित किया है।

'यत् यत् जन्यम्, तत् तत् अनित्यम्' यह नियम है। अतः जिस संसार की सृष्टि होती है उसका विनाश भी अवश्यंभावी है। इस कार्यको करनेके लिए तमोगुणयुक्त 'शिव' का रूप धारण करना पड़ता है। इसको 'प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे' इन शब्दों से कहा है।

उपर्युक्त रीतिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह 'ब्रह्म' ही तीनों गुणोंसे युक्त होता रहता है, इसीलिए 'त्रिगुणात्मने' कहा गया है। त्रिगुणात्मक होने से वह सर्ग, स्थिति और विनाश इन तीनों अवस्थाओं का कारण बन जाता है। इसीलिए वह ब्रह्म 'त्रयीमय' है। इतना सब होने पर भी वह 'अज' [अजन्मा] ही माना जाता है। उसके ये सभी रूप कल्पित हैं।

इस श्लोक में (१) रजोजुषे सर्गहेतवे, (२) सत्त्ववृत्तये स्थितिहेतवे, (३) तमःस्पृशे नाशहेतवे—इस प्रकार यथासंख्य सम्बन्ध से अन्वय है, अतः 'यथासंख्य' अलङ्कार है। 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इस लक्षणके अनुसार 'वंशस्थ' छन्द है ॥ १ ॥

जयन्ति बाणासुरमौलिलालिता दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः ।
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः ॥ २ ॥

अन्वयः—बाणासुरमौलिलालिताः, दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः, सुरासुराधीशशिखान्तशायिनः, भवच्छिदः, त्र्यम्बकपादपांसवः, जयन्ति ॥ २ ॥

व्याख्या—पुराणादिषु प्रतिपादितं "ज्ञानमिच्छेत्तु शङ्करादि"त्यादिवचनमनुसृत्य स्वाभीष्टसिद्ध्यर्थं भगवन्तं शङ्करं नमति—जयन्तीति । बाणासुरमौलिलालिताः = बाणाख्य-परमशिवभक्त-मुकुटोपसेविताः, दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः = रावण-किरीट-रत्नसमुदायस्पर्शिनः, सुरासुराधीश-शिखान्त-शायिनः = देवराजदैत्यराजचूडाग्रभागावस्थानशीलाः, भवच्छिदः = संसारबन्धननिवर्त्तकाः मोक्षप्रदा इति भावः, त्र्यम्बकपादपांसवः = शङ्करचरणरेणवः, जयन्ति = सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते ॥ २ ॥

व्युत्पत्तिः—सामान्यजनानां प्रीतये लोकप्रसिद्धिमनुसृत्य भक्तप्रियकारकं शिवमपि नमति बाणः । शिवभक्तेषु मूर्धन्यं बाणाख्यमसुरं लङ्काधिपतिं रावणं चोपवर्ण्यात्मनोऽपि तादृशीमेव भक्तिं सङ्केतयति ।

बाणासुरमौलिलालिताः—बाणश्चासौ असुरश्चेति कर्मधारयः, (न सुर इत्यत्र विरोधार्थक-नञा समासे नलोपे 'असुर' इति) तस्य मौलिः = मूर्धा, मुकुटं वा, तेन लालिताः = सादरं स्पृष्टाः, तृतीयातत्पुरुषः । दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः = दश (= दशसंख्याकानि) आस्यानि (= मुखानि) यस्य स इति बहुव्रीहिः, तस्य चूडायाः ये मणयः (= रत्नानि), तेषां यत् चक्रं (= समूहः) तत् चुम्बन्ति—इति विग्रहे णिनि प्रत्यये उपपद-समासः । सुरासुराधीशशिखान्तशायिनः—सुराश्च, असुराश्चेति द्वन्द्वः, तेषामधीशाः (= अधिपतयः), तेषां शिखाः, तासाम् अन्ताः—अत्र सर्वत्र षष्ठीतत्पुरुषो बोध्यः, तेषु शेरते तच्छीलाः इत्यर्थे शीङ् धातोः णिनिप्रत्यये, उपपदसमासः । भवच्छिदः—भवं छिन्दन्ति इति विग्रहे क्विपि प्रत्यये सर्वापहारिलोपे, उपपदसमासः । त्र्यम्बकपादपांसवः—त्रीणि अम्बकानि (= नेत्राणि) यस्य स इति बहुव्रीहिः, तस्य यौ पादौ, तयोः पांसवः, उभयत्र षष्ठीतत्पुरुषः । जयन्ति—जि + लट् = झि = अन्ति, सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । जयः = उत्कर्षप्राप्तिः । एवञ्च शिवस्योत्कर्षप्राप्त्यात्मनो नमस्कारं प्रकटयतीति बोध्यम्, परस्योत्कृष्टत्वे स्वस्य निकृष्टत्वबोधनात् ।

बाणासुर के मुकुट अथवा शिर द्वारा लालित (= उपसेवित), दशमुखों वाले रावण की चोटी में लगी हुई मणियों के समूह को चूमने = स्पर्श करने वालीं, देवताओं तथा असुरों के राजाओं की शिखाओं (शिर) के अन्तिम भाग पर (सबसे ऊपर) विश्राम करने वालीं, संसार [के बन्धनों] को काटने वालीं, त्रिनेत्र भगवान शंकर के चरणों की धूलियाँ सर्वोत्कृष्ट रूप से रहती हैं । [मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ ।]

विमर्श—प्रथम श्लोक में शिव को तमोगुणयुक्त बताते हुए विनाश का कारण बताया है । किन्तु पुराणादि के अनुसार शिव ही आशुतोष और भक्तों के मनोरथों को शीघ्र पूर्ण करने वाले माने गए हैं । उनके चरणों की उपासना करके 'बाण' नामक असुर ने अतुल वैभव और सामर्थ्य प्राप्त किया था । रावण की शिवभक्ति सर्वविदित है । अतः महाकवि बाण भी भक्तवत्सल शिव की वन्दना सबसे पहले करते हैं । संसारबन्धन से मुक्ति दिलाने वाले शिव जी के चरणों की जो धूलि बाणासुर के मुकुट से स्पृष्ट होती थी, जिसे रावण का चूडामणिसमूह चूमता था, स्पर्श करता था, जो देवताओं, राक्षसों और उनके अधिपतियों की शिखाओं के अन्तिम भाग पर शयन = विश्राम करती थी, वह धूलि संसार में सबसे उत्कृष्ट है । मैं (बाण) भी उसे अपने मस्तक पर धारण करता हूँ ।

जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो बिभित्सया यः क्षणलब्ध-लक्ष्यया[1][2]।
दृशैव कोपारुणया रिपोरुरः स्वयं भयाद्भिन्नमिवास्रपाटलम् ॥ ३ ॥

अत्रोत्कर्षप्रतिपादनकार्यं प्रति बाणासुरमौलिलालनादिकारणचतुष्टयस्योपन्यासात् 'समुच्चय'-नामालंकारो बोध्यः। अथ चानेक-लकार-चकार-शकारादिव्यञ्जनानां स्वरूपतः क्रमतश्च साम्याद् वृत्त्यनुप्रासः शब्दालंकारः। अनयोर्मिथोऽनपेक्षतत्वात् संसृष्टिर्बोध्या। 'वंशस्थं' वृत्तम् ॥ २ ॥

अन्वयः—सः, उपेन्द्रः, जयति, यः, बिभित्सया, दूरतः, क्षणलब्धलक्ष्यया, कोपारुणया, दृशा, एव, रिपोः, उरः, भयात्, स्वयम्, भिन्नम्, इव, अस्रपाटलम्, चकार ॥ ३ ॥

व्याख्या—शिवस्तुत्यनन्तरं नृसिंहरूपधारिणं विष्णुं स्तौति—जयतीति। सः=पुराणादिषु प्रसिद्धः, उपेन्द्रः=विष्णुः, जयति=सर्वोत्कर्षेण वर्तते, यः=नृसिंहरूपधारी विष्णुः, बिभित्सया=भेदनेच्छया, दूरतः=दूरात्, क्षणलब्धलक्ष्यया=अत्यल्पकालप्राप्तलक्ष्यया, अचिरमवाप्तहिरण्यकशिपु-वक्षःस्थलरूपलक्ष्यया, कोपारुणया=क्रोधेन लोहितवर्णया, दृशा=दृष्ट्या, एव, (न तु नखद्वाराविदा-रणेनेत्यर्थः फलति।) रिपोः=शत्रोः हिरण्यकशिपोः, उरः=वक्षःस्थलम्, भयात्=नृसिंहदर्शनमात्रभीतेः, स्वयम्=आत्मनैव, भिन्नम्=विदीर्णम्, इव, अस्रपाटलम्=स्वकीयरक्तनयनकिरणपातेन रुधिरतुल्यं श्वेतरक्तम्, चकार=कृतवान् ॥ ३ ॥

व्युत्पत्तिः—सर्वनाम्नां बुद्धिस्थपदार्थपरामर्शकतया 'स' इति पदेन पुराणादिषु वर्णितं नृसिंह-रूपधारिणं विष्णुं निर्दिशति। उपेन्द्रः—इन्द्रम् अनुजत्वेन उपगतः, पुराणेषु विष्णोरिन्द्रानुजत्वरूपेण वर्णनात्। बिभित्सया—भेत्तुम् इच्छा—इत्यर्थे भिद्+सन्, द्वित्वादिकार्ये सति अप्रत्यये बिभित्सा, तया। दूरतः—पञ्चम्यर्थे दूरशब्दात् तसिल्=तस् प्रत्ययः। क्षणलब्धलक्ष्यया—लब्धं लक्ष्यम्=हिरण्य-कशिपुवक्षःस्थलं यया सा—इति बहुव्रीहिः, क्षणं लब्धलक्ष्यया इत्यत्र कालात्यन्तसंयोगे "कालाध्वनो-रत्यन्तसंयोगे" (पा. सू. २।३।५) इति द्वितीयायाम् "अत्यन्तसंयोगे च" (पा. सू. २।१।२९) इति तत्पुरुषः। कोपारुणया—कोपेन अरुणा, तया। भिन्नम्—भिद्+क्त। अस्रपाटलम्—अस्रम्=रुधिरम् इव पाटलम्, "उपमानानि सामान्यवचनैः" (पा. सू. २।१।५५) इति कर्मधारयतत्पुरुषः। चकार—कृ+लिट्, प्रथमपुरुषैकवचने रूपम्।

यहाँ 'समुच्चय' यह अर्थालंकार और 'वृत्त्यनुप्रास' यह शब्दालंकार है, इनकी परस्पर अनपेक्षतया स्थिति होने से 'संसृष्टि' अलंकार है। वंशस्थ छन्द है ॥ २ ॥

वे (नृसिंहरूपधारी) विष्णु भगवान् सर्वोत्कृष्टरूप से विद्यमान हैं, जिन्होंने विदारण (फाड़ने) की इच्छा से दूर से ही अत्यल्पकालमें [अपने] लक्ष्य को प्राप्त कर लेनेवाले, क्रोध से लाल नेत्र के द्वारा ही [न कि हाथ आदि के द्वारा], शत्रु (हिरण्यकशिपु) के वक्षःस्थल को [विदारण के] भय से अपने आप फटा हुआ (विदीर्ण) सा, रक्त के समान लाल (और श्वेत) वर्णवाला कर दिया था।

विमर्श—प्रस्तुत श्लोकमें में नृसिंहावतारी विष्णु की स्तुति की गयी है। विष्णु को 'उपेन्द्र' (इन्द्र का छोटा भाई) माना गया है। इन्होंने अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा के लिए नृसिंहरूप धारण किया था। नृसिंह भगवान्ने पापी हिरण्यकशिपु का वक्षःस्थल विदीर्ण करने की इच्छासे लक्ष्य बनाकर जब दूरसे ही देखा तब क्रोध से रक्त नेत्रोंसे उसका वक्षःस्थल ऐसा लाल-लाल कर दिया था, मानों वह भय से अपने आप ही फट गया हो। उसे फाड़नेके लिए उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ा।

---

१. बद्ध। २. लक्षया

नमामि भर्वोश्चरणाम्बुजद्वयं[1] सशेखरैर्मौखरिभिः कृतार्च्चनम् ।
समस्तसामन्तकिरीटवेदिका-विटङ्कपीठोल्लुठितारुणाङ्गुलि ॥ ४ ॥

"उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः ।" (अमरः १।१।२०) "रुधिरेऽसृग्लोहितास्र-रक्तक्षतजशोणितम् ।।" (अमरः २।९।६४) "श्वेतरक्तस्तु पाटलः ।" (अमरः १।५।१५)

अत्र 'भयात् स्वयं भिन्नमिव' इति क्रियोत्प्रेक्षा, हिरण्यकशिपुवक्षसः स्वकीयश्यामगुणत्यागात् पाटलगुणस्य (श्वेतरक्तस्य) ग्रहणाद् तद्गुणालंकारः, वाचकादिलोपेन लुप्तोपमा च—इत्येतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालंकारः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—सशेखरैः, मौखरिभिः, कृतार्च्चनम्, समस्तसामन्त–किरीटवेदिका–विटङ्कपीठोल्लुठितारुणाङ्गुलि, भर्वोः, चरणाम्बुजद्वयम्, नमामि ।। ४ ।।

व्याख्या—"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुरि"ति "आदौ गुरुं नमस्कृत्ये"त्यादि-वचनाद् गुरोर्भक्तिं प्रदर्शयति—नमामीति । सशेखरैः=शिरःस्थमालाभूषणादिसहितैः, मौखरिभिः=एतन्नामकजातिविशेषोत्पन्नक्षत्रियभूपैः, यद्वा वेदादिध्वनिसमुच्चारणकर्तृभिः छात्रैः, कृतार्च्चनम्=अनुष्ठितपूजनम्, समस्तसामन्त-किरीटवेदिका-विटङ्कपीठोल्लुठितारुणाङ्गुलि=निखिल-मण्डलेश्वर-मुकुट-परिष्कृतभूमि-मध्यगतोन्नतभाग-संलग्न-लोहितपादाङ्गुलि, भर्वोः=एतन्नामकस्य स्वगुरोः, चरणाम्बुजद्वयम्=पादपद्मयुगलम्, नमामि=अभिवादये ॥ ४ ॥

व्युत्पत्तिः—शेखरैः=शिरःस्थस्रग्भिः मुकुटैः वा सह वर्तमानाः सशेखराः, तैः "तेन सहेति तुल्ययोगे" (पा. सू. २।२।२८) इत्यनेन तुल्ययोगे बहुव्रीहौ "वोपसर्जनस्य" (पा. सू. ६।३।८२) इति 'सह'शब्दस्य 'स' इत्यादेशः । मौखरिभिः=मौखरीति नाम्ना प्रसिद्धक्षत्रियभूपैः, यद् वा मुखरस्य=वेदाद्युच्चारणेन शब्दायमानस्य भावः—इत्यर्थेऽणि—मौखरम्, तद् एषामस्तीति मौखरिणः, अत्र "अत इनिठनौ" (पा. सू. ५।२।११५) इति इनिप्रत्ययः । कृतार्चनम्—कृतम् अर्चनं यस्य तत्—इति बहुव्रीहिः, इदं चरणाम्बुजद्वयस्य विशेषणम् । समस्तसामन्तेत्यादिः—समस्ताः=(निखिलाः) ते सामन्ताः (=अधिकृताः भूपतयः) इति कर्मधारयः, तेषां किरीटानि (=मुकुटानि), षष्ठी-तत्पुरुषः, तान्येव वेदिकाः (=परिष्कृतभूमयः), तासु यानि विटङ्कपीठानि, यद् विटङ्कपीठं वा, तत्र उल्लुठिताः, अरुणाः, च, अङ्गुलयो यस्य तत्—इति तत्पुरुषगर्भबहुव्रीहिः । चरणाम्बुजद्वयम्=चरणौ अम्बुजे इवेति विग्रहे "उपमितं व्याघ्रादिभिः" (पा. सू. २।१।५६) इति उपमितसमास, तयोर्द्वयं तत् इति षष्ठीतत्पुरुषः । नमामि="णम् प्रह्वत्वे शब्दे' इति धातोर्लटि उत्तमपुरुषैकवचने रूपम् ।

बाण ने इस श्लोक में और आगे सत्तरहवें श्लोक में नृसिंह भगवान् की महिमा का वर्णन किया है । अतः प्रतीत होता है कि ये बाण के परम आराध्य इष्टदेव थे ।

इस श्लोक में उपमा, तद्गुण और उत्प्रेक्षा अलंकार तथा वंशस्थ छन्द है ॥ ३ ॥

मुकुटों तथा मालाओं से युक्त मौखरीवंश के राजाओं द्वारा पूजित [और] समस्त सामन्तों (अधीनस्थ राजाओं) के मुकुटरूपी वेदिका की ऊँची पीठ पर संलग्न (घृष्ट) होने के कारण [मुकुटमणियों की रक्तप्रभा से] लाल अङ्गुलियों वाले, 'भर्वु' नामक अपने गुरु के पादपद्मयुगल को [मैं बाण] प्रणाम करता हूँ ।

विमर्श—शास्त्रीय निर्देशानुसार गुरु को प्रणाम करना आवश्यक है । अतः बाण ने अपने गुरु के चरणों में प्रणाम किया है । इनके गुरु के तीन नाम प्राप्त होते हैं—भर्वु, भर्त्सु, भत्सु ।

---

१. भर्त्सोः, भत्सोः इति च पाठान्तरे ।

[सज्जनदुर्जनयोः स्तुतिनिन्दे]

अकारणाविष्कृतवैरदारुणादसज्जनात् कस्य भयं न जायते ।
विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचः सुदुःसहं सन्निहितं सदा मुखे ॥ ५ ॥

["यस्तिर्यंक्विक्षसमुरसि,] शिखास्वापीडशेखरौ ।" (अमरः २।६।१३६) 'अथ मुकुटं किरीटं पुन्नपुंसकम् ।' (अमरः २।६।१०१) 'वेदिः परिष्कृता भूमिः ।' (अमरः २।७।१८) 'कपोत-पालिकायां तु विटङ्कं पुन्नपुंसकम् । (अमरः २।२।१५)

किरीटेषु वेदिकात्वारोपात् रूपकमलङ्कारः । वंशस्थं वृत्तम् ।

"आत्मनाम गुरोर्नामे"त्यादि-वचनस्य राशिनाम्नि तात्पर्यतया व्यावहारिकनाम्न उच्चारणे लेखे च दोषाभावादिति बोध्यम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—अकारणाविष्कृतवैरदारुणात्, असज्जनात्, कस्य, भयम्, न, जायते ? महाहेः, [मुखे], विषम्, इव, यस्य, मुखे, सुदुःसहम्, दुर्वचः, सदा, सन्निहितम्, [वर्तते] ॥ ५ ॥

व्याख्या—सज्जनदुर्जनयोः स्तुतिनिन्दाप्रसङ्गे प्रथमं तावद्दुर्जनं निन्दति—अकारणेति । अकारणाविष्कृतवैरदारुणात्=अनिमित्तोद्भावितविरोधभीषणस्वभावात्, असज्जनात्=दुर्जनात्, कस्य=सज्जनस्येत्यर्थः, भयम्=भीतिः, न=नैव, जायते=उत्पद्यते ? महाहेः=महाविषधरस्य, [मुखे=आनने], विषम्=गरलम्, इव=यथा, यस्य=असज्जनस्य, मुखे=वदने, सुदुःसहम्=अतीवोद्वेगकारकतयाऽसहनीयम्, दुर्वचः=दुर्वचनम्, सदा=सदैव, सन्निहितम्=समीपस्थम्, [वर्तते] । यथा महाहेर्मुखे सदैव भीषणं मृत्युकारक विषं तिष्ठति तथैव दुर्जनमुखे मृत्युतुल्यकष्ट-कारकं दुर्वचनं वर्तते अतोऽहमपि दुर्जनाद् बिभेमीति भावः ॥ ५ ॥

व्युत्पत्तिः—कारणस्याभावः—इत्यर्थे नञा समासे—न कारणम्=अकारणम्, अकारणं यथा स्यात् तथा (क्रियाविशेषणम्) आविष्कृतम्, तच्च तद् वैरम् (कर्मधारयः), तेन दारुणः (तृ० तत्पु०), तस्मात् । असज्जनात्—सन् चासौ जनश्चेति कर्मधारयः, न सज्जनः (इत्यर्थे नञ्तत्पुरुषः) तस्मात् । असज्जनस्य भयहेतुत्वात् "भीत्रार्थानां भयहेतुः' (पा. सू. १।४।२५) इति अपादानत्वे "अपादाने पञ्चमी" (पा सू. २।३।२८) इति पञ्चमी । न जायते ? इत्यत्र काक्वाऽवश्यं जायते इत्यर्थः फलति । महाहेः—महान् चासौ अहिः-इत्यत्र "सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः"

शेखर=शिर, माला अथवा मुकुट के सहित मौखरी राजवंशियों द्वारा जिनकी पूजा की गयी है अथवा मुखर=वेदादिशास्त्रों का सम्यग् उच्चारण करने वाले छात्रों द्वारा जिनकी पूजा की गयी है और उस क्षेत्र के सभी सामन्तों के मुकुटरूपी वेदिकाओं में जो विटंकपीट (बीच का उन्नत भाग) उस पर रहने वाली (मुकुटों की कान्ति से) अरुण वर्ण की अंगुलियों से युक्त चरणकमल जो 'भर्वु' नामक सम्माननीय गुरु के हैं, उनको प्रणाम करता हूँ ।

यहाँ गुरु के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य तो प्रतिपादित किया है परन्तु उनसे इन्होंने कैसे और क्या-क्या शिक्षा ग्रहण की इसका कोई संकेत नहीं है । इतना अवश्य है कि एकवचन का उल्लेख करने से एक ही गुरु से समस्त विद्याओं का अध्ययन करना प्रतीत होता है ।

इसमें रूपक अलंकार और वंशस्थ छन्द है ॥ ४ ॥

बिना कारण के ही प्रकटित शत्रुता से भयानक स्वभाववाले [उस] दुर्जन व्यक्तिसे किसको भय नहीं होता है, अर्थात् सभी को भय होता है । विशाल [जहरीले] सर्प के [मुख में] विष के समान जिस (दुर्जन) के मुख में अति दुःसहनीय दुष्ट वचन सदैव समीप में रहते हैं, अर्थात् वह सदा निन्दा कर सकता है ।

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव ।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ॥ ६ ॥

(पा. सू. २।१।६१) इति महत्-शब्देन समासे, "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" (पा. सू. ६।३।४६) इत्यात्वे सति कर्मधारयतत्पुरुषस्य षष्ठ्येकवचनम् । सुदुःसहम्–दुःखेन सोढुं शक्यमित्यर्थे दुरुपपदात् 'षह मर्षणे' इति धातोः "ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्" (पा. सू. ३।३।१२६) इति खल्=अप्रत्ययः, अत्यन्तमित्यर्थकेन 'सु'शब्देन च समासे रूपम् । सुशब्दः दुरित्यस्य दार्ढ्यं बोधयति । दुर्वचः—दुष्टं वच इति गतिसमासः । सन्निहितम्–सत्+नि+धा+क्त, 'धा' इत्यस्य "दधातेर्हिः" (पा. सू. ६।४।४२) इति 'हि' इत्यादेशः ।

"क्ष्वेडस्तु गरलं विषम् ।" (अमरः १।९।९) "व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः ।" (अमरः १।५।१)

अत्र पूर्वार्द्धे 'अर्थापत्तिः' उत्तरार्धे चोपमा, अनयोः 'संसृष्टिः' । 'वंशस्थं' वृत्तम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—कटु, क्वणन्तः, मलदायकाः, खलाः, बन्धनशृङ्खलाः, इव, अलम्, तुदन्ति । सन्तः, तु, मणिनूपुराः, इव, पदे, पदे, साधुध्वनिभिः, मनः, हरन्ति ॥ ६ ॥

व्याख्या—साम्प्रतं सादृश्यप्रदर्शनपूर्वकं पूर्वार्द्धेन दुर्जनस्योत्तरार्द्धेन च सज्जनस्य वैशिष्ट्यं निरूपयति—कट्विति । कटु=तीक्ष्णम्, दुःश्रवमिति भावः, क्वणन्तः=भाषन्तः, शब्दायमानाः, मलदायकाः=मिथ्यादोषाधायकाः, स्पर्शकाले मालिन्यसंक्रामकाश्च, खलाः=दुर्जनाः, बन्धनशृङ्खलाः=बन्धनलौहनिगडाः, इव=यथा, अलम्=अत्यधिकम्, तुदन्ति=पीडयन्ति । यथा लौहशृङ्खलाः बन्धनावसरे शब्दं कुर्वन्ति स्वीयं विकारं चान्यस्मिन् आरोपयन्ति तथैव दुर्जना अपि अनर्गलं प्रलपन्ति अन्यस्मिन् मिथ्यादोषं चारोपयन्ति । सन्तः=सज्जनाः, तु, मणिनूपुराः=मणिखचितमञ्जीराणि, इव=यथा, पदे पदे=प्रतिपदम्, साधुध्वनिभिः=मनोहरशब्दैः, मनः=चित्तम्, हरन्ति=आकर्षन्ति । यथा रमणीचरणसंलग्ना नुपूराः प्रतिपदं सर्वान् स्वमधुरध्वनिभिः समाकर्षन्ति तथैव सज्जना अपि सदा सर्वान् आकर्षन्तीति भावः ॥ ६ ॥

व्युत्पत्तिः—क्वणन्तः—'भण, क्वण–इत्यादयः शब्दार्थाः,' क्वण+लट्=शतृ+जस् । मलदायकाः—मलं ददाति–इत्यर्थे दा+ण्वुल्=अक, "आतो युक् चिण्कृतोः" (पा सू. ७।३।३३) इति युगागमे–दायक इत्यस्य उपपदसमासः । बन्धनशृङ्खलाः–बन्धनार्थं बन्धनाय बन्धनस्य वा

विमर्श—प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य के कुछ निन्दक और कुछ प्रशंसक अवश्य होते हैं । इनमें निन्दकों से सावधान रहना अत्यावश्यक है; क्योंकि जो दुर्जन निन्दा करते हैं वे किसी कारण से वैर नहीं प्रकट करते, उनका वैसा स्वभाव ही होता है । इस लिए अद्भुत-पाण्डित्यसम्पन्न होने पर भी महाकवि बाण दुर्जनों से भय का अनुभव करते हैं ।

वैर करने का कोई कारण न होने पर भी वैर प्रदर्शित करने वाले भयानक दुर्जन से किसे भय नहीं होता है, अर्थात् दूसरों के समान मुझे भी इन दुर्जनों से भयानुभव हो रहा है; क्योंकि जिस प्रकार विशाल सर्प के मुख में विष सदैव रहता है उसी प्रकार इन दुर्जनों के मुख में भी विषतुल्य कटुवचन सदैव रहा करते हैं । वे किस के लिए कब, कैसे निन्दावचन प्रयुक्त करने लग जाँय, यह कह सकना कठिन है ।

इसमें 'उपमा' अलंकार और 'वंशस्थ' छन्द है ॥ ५ ॥

कष्टकारक ध्वनि करती हुई, मलिनता प्रदान करने वालीं बन्धन की जंजीरों के समान दुर्जन लोग बहुत अधिक कष्ट देते हैं । परन्तु सज्जन लोग मणिजटित घुंघुरुओं के समान प्रत्येक पग पर मनोहर ध्वनि से (सभी का) मन हर=आकृष्ट कर लेते हैं ।

सुभाषितं हारि विशत्यधो गलान्न दुर्जनस्यार्करिपोरिवामृतम्।
तदेव धत्ते हृदयेन सज्जनो हरिर्महारत्नमिवातिनिर्मलम् ॥ ७ ॥

शृङ्खलाः। तुदन्ति—'तुद व्यथने' तुद + लट् = झि। कटु, अलं शब्दश्च क्रियाविशेषणम्। सन्तः—अस् + लट् = शतृ + जस्, "श्नसोरल्लोपः" (पा. सू. ६।४।१११) इति धातोरकारस्य लोपः। मणिनूपुराः—मणिखचिताः नूपुराः इति विग्रहे "शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इति वार्त्तिकान्मध्यमपदलोपिसमासः। साधुध्वनिभिः—साधवश्च ते ध्वनयः, तैः, कर्मधारयः। पदे पदे 'वीप्सायां' द्विर्वचनम्। हरन्ति—'हृञ् हरणे' हृ + लट् = झि = अन्ति।

'रसे कटुः कट्वकार्ये त्रिषु मत्सरतीक्ष्णयोः।" (अमरः नानार्थः ३।४।५) 'पिशुनो दुर्जनः खलः।' (अमरः ३।१।४७) "बन्धस्तम्भेऽथ शृङ्खला।" (अमरः २।८।४१) 'मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्।" (अमरः २।६।१०९)

अत्र पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्धे च पूर्णोपमा। उभयोश्च परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिरलङ्कारः। वंशस्थं वृत्तम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—हारि, सुभाषितम्, अर्करिपोः, अमृतम्, इव, दुर्जनस्य, गलात्, अधः, न, विशति। सज्जनः, हरिः, अतिनिर्मलम्, महारत्नम्, इव, तद्, एव, हृदयेन, धत्ते ॥ ७ ॥

व्याख्या—हारि = मनोहरम्, सुभाषितम् = काव्यादिप्रतिपादितसद्वचनम्, अर्करिपोः = सूर्यशत्रोः राहोः, अमृतम् = पीयमानं पीयूषम्, इव = यथा, दुर्जनस्य = असज्जनस्य, गलात् = कण्ठदेशात्, अधः = नीचैः, न = नैव, विशति = गच्छति। यथा राहुः अमृतं पातुं न समर्थस्तथैव दुर्जनोऽपि सद्वाक्यश्रवणे न रुचिं सामर्थ्यं वा प्रकटयति। एतद्वैपरीत्यं सज्जने दर्शयति—तदेवेति। सज्जनः = सत्पुरुषः, हरिः = विष्णुः, अतिनिर्मलम् = अतिस्वच्छम्, महारत्नम् = कौस्तुभमणिम्, इव = यथा, तद् = सुभाषितम्, एव, हृदयेन = चेतसा, धत्ते = धारयति। यथा विष्णुः कौस्तुभमणिं स्ववक्षःस्थले प्रेम्णा स्थापयति तथैव सज्जनोऽपि सुभाषितं स्वहृदयेन स्वीकृत्य तदनुकूलमाचरतीति भावः ॥ ७ ॥

व्युत्पत्तिः—हारि—हरतीति तच्छीलमित्यर्थे हृञ् + णिनि। सुभाषितम्—भाष् + क्त, शोभनं भाषितमिति विग्रहे गतिसमासः, कर्तृवाचकं पदमेतत्। अर्करिपोः—अर्कस्य रिपोः = शत्रोः, षष्ठीतत्पुरुषः। अमृतम्—न म्रियतेऽनेनेत्यर्थे साधु। सज्जनः—सन् चासौ जन इति कर्मधारयः। अति-

---

विमर्श—इस श्लोक में दुर्जनों और सज्जनों के वचनों का परस्पर विरोध दिखाया गया है। जिस प्रकार पशु आदि को बाँधने वाली लोहे की जंजीर टन-टन या खन-खन ऐसी अप्रिय ध्वनि करती है और स्पर्शमात्र में मलिनता प्रदान करती है, उसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति भी अच्छे से अच्छे भी कार्य को देखकर कटु बोलते हैं; उसमें वस्तुतः न होने पर भी मल = दोष मढ़ते हैं, इस प्रकार अत्यधिक कष्ट देते रहते हैं।

परन्तु सज्जन व्यक्ति अपने प्रशंसापरक सुन्दर वचनों से सभी का मन उसी प्रकार हर लेते हैं जिस प्रकार किसी सुन्दर नायिका आदि के पैरों में संलग्न मणिमय पायजेब के घुंघुरुओं की मनोहर ध्वनि प्रत्येक श्रोता के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

यहाँ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध दोनों में 'पूर्णोपमा' है। वंशस्थ छन्द है ॥ ६ ॥

मनोहर [काव्यादि] सुन्दर वचन दुर्जन व्यक्ति के गले के नीचे उसी प्रकार नहीं उतरता है जिस प्रकार सूर्यशत्रु राहु के गले के नीचे अमृत नहीं उतरता है। उसी सुन्दर वचन को सज्जन पुरुष अपने हृदय से वैसे ही धारण कर लेता है जैसे विष्णु भगवान् अतिस्वच्छ कौस्तुभमणि को अपने हृदय से धारण कर लेते हैं।

[कथाप्रशंसा]

स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम् ।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ॥ ८ ॥

निर्मलम्--अत्यन्तं निर्मलं तत्--गतिसमासः । महारत्नम्--महत् च तद् रत्नम् इति विग्रहे समासे महतः आकारान्तादेशे च रूपम्, कर्मधारयसमासः । धत्ते--'डु धाञ् धारणे' धा + लट् = त ।

"कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायाम् ।" (अमरः २।६।८८)" पीयूषममृतं सुधा ।" (अमरः १।१।४८)

पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्धे चोपमाद्वयी । तयोः संसृष्टिरलंकारः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ७ ॥

अन्वयः--स्फुरत्कलालापविलासकोमला, रसेन, स्वयम्, शय्याम्, अभ्युपागता, अभिनवा, कथा, वधूः, इव, जनस्य, हृदि, कौतुकाधिकम्, रागम्, करोति ॥ ८ ॥

व्याख्या--नवकथाविषये लोकानामाकर्षणं प्रकटयति--स्फुरदिति । स्फुरत्कलालापविलासकोमला = सञ्चलच्चित्ताकर्षक-मधुरवचनविन्यासमृद्वी, पक्षे--स्फुरन्मधुरवचनव्यापार-हृदयाकर्षिणी, रसेन = शृङ्गारादिना, शय्याम् = पदशय्याम्, स्वयम् = आत्मनैव, अभ्युपागता = सामीप्यं सम्प्राप्ता; पक्षे-रसेन = अनुरागेण, शय्याम् = शयनीयम्, तल्पमित्यर्थः, स्वयम् = प्रेरणामन्तरात्मनैव, अभ्युपागता = समागता, अभिनवा = नवीना, कथा = गद्यरचनाविशेषः, पक्षे-अभिनवा = नवोढा, वधूः = युवति-भार्या, इव, जनस्य = अध्येतुः लोकस्य, पक्षे = वोढुः, पत्युरित्यर्थः, हृदि = चेतसि, कौतुकाधिकम् = कुतूहलबहुलम्, रागम् = श्रवणस्य प्रीतिम्, पक्षे--आश्लेषस्य प्रीतिम्, करोति = जनयति । यथा नव-परिणीता वधूः स्वयमेव शय्यां समागता सती पत्युश्चित्तमाकर्षति तथैव रुचिरा नवकल्पिता कथाऽपि सर्वेषां स्वान्तं समाकर्षतीति भावः ॥ ८ ॥

व्युत्पत्तिः--स्फुरत्कलालापविलासकोमला--कलश्चासौ आलापः--कलालाप इति कर्मधारयः, स्फुरञ्चासौ कलालापः--स्फुरत्कलालापः--इति पुनः कर्मधारयः, तस्य, तेषां वा विलासः, षष्ठी-तत्पुरुषः, तेन कोमला--तृतीयातत्पुरुषः, पक्षे--कलश्चासौ आलापः--कलालापः इति कर्मधारयः,

विमर्श--इस श्लोक में यह प्रतिपादित किया गया है कि मनोहर सुभाषितों को दुष्ट पुरुष किस प्रकार सुनता है और सज्जन किस प्रकार। देवों और असुरों ने समुद्र का मन्थन करके अमृत निकाला था किन्तु वह अमृत जिस प्रकार राहु के गले के नीचे नहीं जा सका था उसी प्रकार अमृततुल्य सुन्दर वचन भी दुष्ट व्यक्ति के गले के नीचे नहीं उतर पाते हैं, वह उन्हें ठीक तरह से सुनना भी नहीं चाहता है। परन्तु उसी मनोहर सुभाषित (सुन्दर वचन) को सज्जन पुरुष प्रसन्नतापूर्वक अपने हृदय में उसी प्रकार धारण करते हैं जिस प्रकार भगवान् विष्णु अतिनिर्मल महारत्न कौस्तुभ मणि को अपने हृदय में धारण करते हैं। इसलिए सज्जन व्यक्ति सुन्दर वचन सदैव स्मरण रखता है।

कवि का तात्पर्य यह है कि दुष्ट व्यक्ति मेरे इस गद्य काव्य को सुनना या पढ़ना नहीं चाहेंगे परन्तु सज्जन लोग निर्मत्सरभाव से इसे अवश्य स्वीकार करेंगे।

इसमें 'पूर्णोपमा' अलंकार और 'वंशस्थ' छन्द है ॥ ७ ॥

जिस प्रकार मधुर वचन बोलने और हावभाव प्रकट करने से हृदयहारिणी और अपने आप पलंग पर आयी हुई नव परिणीता वधू पति के हृदय में कौतूहल के कारण आलिङ्गन का अधिक आकर्षण उत्पन्न करती है उसी प्रकार स्पष्ट प्रतीयमान कथनोपकथन के विन्यास से मनो-हारिणी, शृङ्गारादि रसों से युक्त नवीन कथा (गद्यरचना-विशेष) प्रत्येक व्यक्ति के मन में अत्यधिक आकर्षण उत्पन्न करती है।

हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः ।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव ॥ ९ ॥

कलालापश्च विलासश्च–कलालापविलासौ–इति द्वन्द्वः, स्फुरन्तौ कलालापविलासौ–कर्मधारयः, ताभ्यां कोमला––इति तृतीयातत्पुरुषः । शय्याम्–शय्यतेऽत्र इति विग्रहे साधु । अभ्युपागता–अभि + उप + आङ् + गम् + क्त + टाप् । वधूः––उह्यते या सा–इति कर्मणि साधु । रागम्–रञ्ज् + घञ् ।

"स्यादाभाषणमालापः ।" (अमरः १।६।१५) "स्त्रीणां विलासविब्बोकविभ्रमा ललितं तथा ।" (अमरः १।७।३१) "कोमलं मृदुलं मृदु ।" (अमरः ३।१।७८) "शय्या स्याच्छयनीयेऽपि शब्दगुम्फेऽपि योषिति ।" (मेदिनी) "प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः ॥" (अमरः ३।१।७७) "प्रबन्धकल्पना कथा ।" (अमरः १।६।६) । "वधूः पत्न्यां स्नुषानार्योः स्पृक्कासारिवयोरपि । नवपरिणीतायां च ।" (हैमः) "स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः ।" (अमरः २।६।२)

अत्र साधारणधर्मादीनां वर्णनेनोपमालंकारः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ८ ॥

अन्वयः––उज्ज्वलदीपकोपमैः, नवैः, पदार्थैः, उपपादिताः, निरन्तरश्लेषघनाः, सुजातयः, कथाः, (उज्ज्वलदीपकोपमैः, नवैः, पदार्थैः,) चम्पककुड्मलैः, (उपपादिताः, निरन्तरश्लेषघनाः, सुजातयः,) महास्रजः, इव, कम्, न, हरन्ति ? ॥९॥

व्याख्याः––उज्ज्वलदीपकोपमैः = प्रकटदीपकोपमाख्यालंकारविशेषैः, नवैः = अपूर्वैः, पदार्थैः = शब्दाभिधेयैः, उपपादिताः = निर्मिताः, रचिताः, निरन्तरश्लेषघनाः = प्रतिपद-श्लेषालंकार-बहुलाः, सुजातयः = सुंदर-जात्याख्य-छन्दो-विशेष-सहिताः, कथाः = गद्यपद्यमयी-रचनाः, (उज्ज्वलदीपकोपमैः = समुज्ज्वलप्रदीपसदृशैः, देदीप्यमानैः, नवैः = नवीनैः, अम्लानैरित्यर्थः,) चम्पककुड्मलैः = हेमकुसुम-मुकुलैः, (उपपादिताः = रचिताः, ग्रथिताः वा, निरन्तरश्लेषघनाः = अव्यवहितसंश्लेष-सान्द्राः, सुजातयः = शोभनमालतीपुष्प-सहिताः,) महास्रजः = विशालपुष्पमालाः, इव = यथा, कम् = सहृदयं जनम्, न = नैव, हरन्ति = आकर्षन्ति ? सर्वानेव लोकान् आकर्षन्तीति भावः ॥९॥

व्युत्पत्तिः––उज्ज्वलदीपकोपमैः = दीपकं चोपमा चेत्यनयोर्द्वन्द्वः, उज्ज्वला: दीपकोपमाश्च

विमर्शः––अपनी नवीन कथा की विशेषता प्रकट करने के लिए बाण उसकी तुलना नव वधू के साथ कर रहे हैं। जिस प्रकार से नव परिणीता वधू प्रतीत होने वाले विभिन्न प्रकार के हाव-भाव विलासों द्वारा कोमल होती हुई और अनुरागपूर्वक स्वयं पलंग पर आती हुई अपने प्रियतम (पति) के मन में आलिंगन का आनन्द बढ़ा देती है। उसी प्रकार यह नवीन कथा भी द्योतित होने वाले सुन्दर और मधुर वचनव्यापार द्वारा मन को मोहित कर लेने वाली है तथा शृंगारादि रसों से शब्दसमूह को प्राप्त करने वाली है। अतः यह नवीन कथा (गद्यपद्यमय प्रबन्ध) भी अध्येता के हृदय में अत्यधिक कौतूहल उत्पन्न करायेगी। भाव यह है कि जिस प्रकार मधुर-भाषिणी और अनुराग-वश स्वयं शय्या पर आयी हुई नव वधू को कोई सहृदय नहीं छोड़ता है या उसका अपमान नहीं करता है उसी प्रकार किसी के लिए इस नवीन कथा का भी अपमान करना उचित नहीं है ॥ ८ ॥

जिसमें 'दीपक' और 'उपमा' अलंकार प्रकट रूप में हैं, जो अपूर्व पदार्थों से बनायी गयी है, जो लगातार श्लेष अलंकारों से परिपूर्ण हैं, जो 'जाति' नामक छन्दोविशेष से युक्त हैं, ऐसी कथायें देदीप्यमान दीपकों के सदृश, नवीन पदार्थों से, चम्पा के फूलों की कलियों से गूँथी गयीं, लगातार पुष्पादि-संयोग से घनीं, चमेली के फूलों से युक्त विशाल मालाओं के समान किसका चित्त नहीं हर लेती हैं ? अर्थात् जैसे नयी माला दर्शकमात्र का मन मोह लेती है उसी प्रकार नवीन कल्पनाप्रसूत यह कथा भी सभी का मन आकृष्ट कर लेती है [आकृष्ट कर लेगी]।

[कविवंशवर्णनम्]

बभूव वात्स्यायनवंशसम्भवो द्विजो जगद्गीतगुणोऽग्रणीः सताम् ।
अनेकगुप्तार्चितपादपङ्कजः कुबेरनामांश इव स्वयम्भुवः ॥ १० ॥

येषु ते, तादृशैः—बहुव्रीहिः । निरन्तरश्लेषघनाः–निर्गतम् अन्तरं यस्मात्, निरन्तरेण श्लेषेण घनाः–तृतीयातत्पुरुषः । सुजातयः—शोभनाः जातयः=एतन्नामकच्छन्दोविशेषाः यासु ताः—बहुव्रीहिः । महास्रक्पक्षे–उज्ज्वलदीपकोपमैः—उज्ज्वलाश्च ते दीपकाः (कर्मधारयः) ते उपमा=सादृश्यं येषां ते तैः–इति बहुव्रीहिः । चम्पककुड्मलैः=चम्पकानां कुड्मलाः तैः, (षष्ठीतत्पुरुषः,) निरन्तर-श्लेष-घनाः=निरन्तरं यः श्लेषः, तेन घनाः–तृतीयातत्पुरुषः । सुजातयः–शोभना जातयः=एतन्नामक-पुष्पविशेषाः यासु ताः–बहुव्रीहिः । महास्रजः—महत्यश्च ताः स्रज इति कर्मधारयः । हरन्ति—'हृञ् हरणे' हृ+लट्=झि=अन्ति । उपपादिताः—उप+पद+णिच्+इट्+क्त ।

"प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात् ।" (अमरः २।१०।३६) "निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः" । (अमरः २।१०।३७) "सुमना मालती जातिः ।" (अमरः २।४।७२), "जातिश्छन्दोभेदः ।"

वस्तुतस्तु कादम्बर्यां छन्दसामत्यल्पतया जातिशब्देन समुत्पत्तिर्ग्राह्या, सुन्दरवर्णानां समुत्पत्तिः प्रयोगो वा यासु ताः—इत्येवार्थः संगत इति बोध्यम् ।

अत्र पूर्णोपमाऽर्थापत्तिश्च, अनयोरङ्गाङ्गिभावेनैकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करालङ्कार,, वंशस्थं च वृत्तम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—जगद्गीतगुणः, सताम्, अग्रणीः, अनेकगुप्तार्चितपादपङ्कजः, वात्स्यायन-वंश-संभव , स्वयंभुवः, अंशः, इव, कुबेरनामा, द्विजः, बभूव ॥१०॥

व्याख्या—साम्प्रतमात्मनः उच्चकुलोत्पत्तिं साधयन् स्वकुलजान् पूर्वपुरुषान्निर्दिशति—बभूवेति । जगद्गीतगुणः=लोक-गानविषयीकृत-दयादाक्षिण्यादि-गुणः, सताम्=सज्जनानाम्, अग्रणीः=अग्रेसरः, अनेक-गुप्तार्चितपादपङ्कजः=विविधवैश्य-समभ्यर्चित-पादपद्मः, यद् वा अनेक-गुप्तवंशज-क्षत्रिय-नृपपूजित-चरणयुगलः, वात्स्यायन-वंशसंभवः=वात्स्यायनाख्यर्षिकुल-समुत्पन्नः, स्वयंभुवः=ब्रह्मणः, अंशः=अंशावतारः, इव, कुबेरनामा=कुबेर इति नाम्ना प्रसिद्धः, द्विजः=ब्राह्मणः, बभूव=अभूत् ॥१०॥

व्युत्पत्तिः—जगद्गीतगुणः—गीताः गुणाः यस्य सः–गीतगुणः, जगति गीतगुणः—बहुव्रीहि-

---

विमर्शः—इसमें नवीन कथा की तुलना नयी गूँथी गई माला से की जा रही हैः—उज्ज्वल चमकते हुए दीपों के समान और नये-नये उपादेय उपकरण चम्पा की कलियों आदि से बीच में लगातार खूब घनी गूँथी गईं चमेली आदि के फूलों की लम्बी-लम्बी मालायें जिस प्रकार प्रत्येक दर्शक का मन मोहित कर लेती हैं उसी प्रकार यह मेरी कथा भी सभी का मन आकृष्ट करेगी, क्योंकि यह भी स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाले 'दीपक' और 'उपमा' आदि अलंकारों से तथा कवि द्वारा अपनी प्रतिभा से कल्पित नवीन पदार्थों (शब्द, अर्थ और भाव) से सम्पादित की गई है । इसमें निरन्तर श्लेष अलंकार प्रयुक्त है, जातिनामक छन्दोविशेष प्रयुक्त है ।

इसमें 'पूर्णोपमा' और 'अर्थापत्ति' नामक अलंकारों का सांकर्य होने से 'संकर' अलंकार है । 'वंशस्थ' छन्द है ॥९॥

संसार में विख्यात गुणों वाला, सज्जनों में अग्रणी (सर्वश्रेष्ठ), अनेक गुप्तों (वैश्यों या गुप्त-वंशीय राजाओं) के द्वारा पूजित चरणकमल वाला, मानों ब्रह्मा का अंश (अवतार) 'कुबेर' इस नाम वाला ब्राह्मण वात्स्यायन वंश में उत्पन्न हुआ था ।

उवास यस्य श्रुतिशान्तकल्मषे सदा पुरोडाशपवित्रिताधरे।
सरस्वती सोमकषायितोदरे समस्तशास्त्रस्मृतिबन्धुरे मुखे ॥ ११ ॥

गर्भसप्तमीतत्पुरुषः। अग्रणीः—अग्रं नयतीति विग्रहे—अग्र + नी + क्विप्, प्रत्ययस्य लोपे उपपदसमासः, 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः' इति णत्वम्। अनेकगुप्तार्चितपादपङ्कजः—अनेके च ते गुप्ताः=वैश्याः, गुप्तवंशजाः नृपा वा—इति कर्मधारयः, पादौ पङ्कजे इवेत्युपमितसमासः, अनेकगुप्तैः अर्चिते पादपङ्कजे यस्य स—इति व्यधिकरण-बहुव्रीहिः। स्वयंभुवः—स्वयं भवतीति विग्रहे—स्वयं + भू + क्विप्, षष्ठ्येकवचनम्। वात्स्यायन-वंश-संभवः=वत्सस्यापत्यं पुमानित्यर्थे "गर्गादिभ्यो यञ्" (पा. सू. ४।१।१०५) इति वत्स + यञ्, वात्स्यः। वात्स्यस्य अपत्यमित्यर्थे "यञिञोश्च" (पा. सू. ४।१।१०१) इति फक्, वात्स्य + फक्, फ्=आयन्। तस्य वंशः, तत्र संभवतीति, यद्वा तत्र संभवो यस्य स इति व्यधिकरणबहुव्रीहिः। कुबेरनामा—कुबेर इति नाम यस्य स। द्विजः=द्विर्जायते—इत्यर्थे "अन्येष्वपि दृश्यते" (पा. सू. ३।२।१०१) इति डः, जन् + ड=अ, टिलोपे सिध्यति। बभूव-भू + लिट्=तिप्=णल् द्वित्वादिकार्ये रूपम्।

"जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्।" (अमरः २।१।६) ["पादाग्रं प्रपदं] पादः पदंघ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्।" (अमरः २।६।७१) "वंशोन्ववायः सन्तानः।" (अमरः २।७।१) "आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च।" (अमरः १।६।८) "दन्तविप्राण्डजा द्विजाः।" (अमरः ३। नानार्थ० ३६) "हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयंभूश्चतुराननः।" (अमरः १।१।१६)।

अत्र 'स्वयंभुव अंश इव' इति वाच्या द्रव्योत्प्रेक्षालंकारः, वंशस्थं वृत्तम् ॥१०॥

अन्वयः—श्रुति-शान्तकल्मषे, पुरोडाशपवित्रिताधरे, सोमकषायितोदरे, समस्तशास्त्रस्मृतिबन्धुरे; यस्य, मुखे, सरस्वती, सदा, उवास ॥११॥

व्याख्या—श्रुतिशान्तकल्मषे=नित्यवेदाध्ययनेन पापरहिते, पुरोडाशपवित्रिताधरे=हुतशेषभक्षण-पावनीकृतौष्ठे, सोमकषायितोदरे=सोमलतारसपानेन कषायिताभ्यन्तरे, समस्त-शास्त्रस्मृतिबन्धुरे=सकल-शास्त्र-स्मृत्यादि-स्वाध्यायमनोहरे, यस्य=कुबेराख्यस्य द्विजस्य, मुखे=वदने, सरस्वती=वाग्देवी, सदा=सर्वदा, उवास=विरराज, न्यवसत् ॥११॥

व्युत्पत्तिः—श्रुतिशान्तकल्मषे=शान्तं कल्मषम् इति कर्मधारयः, श्रुतिभिः शान्तकल्मषं यस्य तस्मिन् इति बहुव्रीहिः। श्रुतिशब्दः तदध्ययने लाक्षणिकः। पुरोडाशः—पुरः=प्रथमं दाश्यते=दीयतेऽयमिति विग्रहे पुरः पूर्वकाद् 'दाशृ' धातोः कर्मणि घञ्, "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्"। (पा. सू. ६।३।१०९) इति सूत्रेण 'व्रीहेः पुरोडाशे' (पा. सू. ४।३।१४८) इति सूत्रनिर्देशाद् वा दस्य डत्वे रूपम्। पुरोडाशेन पवित्रितः अधरः यस्मिन् तत् तस्मिन्—इति व्यधिकरणबहुव्रीहिः। सोमकषायितो-

---

विमर्शः—कुबेर नामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण वात्स्यायनवंश में उत्पन्न हुआ था, जिसके गुण सारे संसार में गाये जाते थे, जो सज्जनों में अग्रणी (प्रमुख) था, गुप्तवंशी अनेक राजा जिसके चरण-कमलों की पूजा किया करते थे, जो मानों स्वयंभू (ब्रह्मा) का साक्षात् एक अंश था।

इसमें बाण ने अपने कुल-गोत्र और उसके प्रमुख पुरुष 'कुबेर' की विशेषता प्रकट की है। साथ ही वह कुबेर गुप्तवंशी राजाओं द्वारा सम्मानित था, इसका भी संकेत किया है।

यहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है और 'वंशस्थ' छन्द है ॥१०॥

वेदों के [अध्ययन के] द्वारा जिसके पाप नष्ट हो चुके हैं, जिसके ओष्ठ पुरोडाश [के भक्षण] से पवित्र किये जा चुके हैं, जिसका मध्यभाग सोमरस [के पान करने] से कसैला हो चुका है, जो समस्त शास्त्रों और स्मृतियों [के अध्ययन] से सुन्दर बन चुका है, ऐसे उस [कुबेर द्विज] के मुख में सरस्वती सदा निवास किया करती थी।

जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जरवर्त्तिभिः शुकैः।[1]
निगृह्यमाणा वटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः ॥ १२ ॥

दरे--सोमेन कषायितम् उदरं यस्य तद् तस्मिन्-इति व्यधिकरणबहुव्रीहिः। सोमशब्द एतन्नाम-कलतायां लाक्षणिकः। समस्त-शास्त्र-स्मृति बन्धुरे-शास्त्राणि स्मृतयश्चेति द्वन्द्वः, समस्ताश्च ताः शास्त्रस्मृतय इति कर्मधारयः, ताभिः बन्धुरम्=मधुरम्, यद्वा-समस्तशास्त्राणां स्मृत्या=स्मरणेन बन्धुरमित्यर्थः तस्मिन् इति तृतीयातत्पुरुषः। सरस्वती--सरः=ज्ञानम् अस्ति अस्या इति विग्रहे साधु। उवास-'वस निवासे' वस्+लिट्=तिप्=णल्, द्वित्वादिकार्ये साधु।

"श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी धर्मस्तु तद्विधिः।" (अमरः १।६।३) "पापं किल्विष-कल्मषम्।" (अमरः १।४।२२) "पुरोडाशो हविर्भेदे हुतशेषे च कीर्तितः।" (विश्वः) "बन्धूर-वन्धुरौ स्यातां नम्रसुन्दरयोस्त्रिषु।" (विश्वः)।

अत्र परिकरालंकारः, वंशस्थं वृत्तम् ॥ ११ ॥

अन्वयः--यस्य, गृहे, अभ्यस्त-समस्त-वाङ्मयैः, पञ्जरवर्तिभिः, ससारिकैः, शुकैः, पदे पदे, निगृह्यमाणाः, शङ्किताः, वटवः, यजूंषि, सामानि, च, जगुः ॥१२॥

व्याख्या--यस्य=कुबेराख्यद्विजस्य, गृहे=भवने, अभ्यस्त-समस्त-वाङ्मयैः=भृशमावर्तित-निखिल-साहित्यैः, पञ्जरवर्त्तिभिः=पञ्जरस्थैः, ससारिकैः=सारिकासहितैः न तु एकाकिभिरि-त्यर्थः, शुकैः=कीरपक्षिभिः, पदे पदे=प्रतिपदम्, निगृह्यमाणाः='भवद्भिरशुद्धमुच्यतेऽभ्यस्यते वे' ति आक्षिप्यमाणाः, अतएव, शङ्किताः=मम दोषं पुनः प्रकटयिष्यन्तीति भिया जातशङ्काः, वटवः=ब्रह्मचारिणः वेदाध्यायिनश्छात्राः, यजूंषि=यजुर्मन्त्रान्, सामानि=सामवेदमन्त्रान्, च, जगुः=पेठुः, उच्चारयामासुरिति भावः ॥१२॥

व्युत्पत्तिः--अभ्यस्त-समस्तवाङ्मयैः=प्राचुर्येण प्रस्तुतम्=प्रकृतम्, प्रकृता वाक्--इति

विमर्शः--कुबेर नामक द्विज के उस मुख में सरस्वती सदैव निवास किया करती थी जिस (मुख) के पाप वेदों के अध्ययन से शान्त (=समाप्त) हो चुके थे, जिस (मुख) का अधर पुरोडाश (यज्ञीय हविष्यान्न) से पवित्र किया जा चुका था, जिस (मुख) का मध्यभाग सोमलता का पान करने से कसैला हो चुका था, और जो (मुख) समस्त शास्त्रों और स्मृतियों के अध्ययन से बन्धुर=मनोहर अथवा समस्त शास्त्रीय वचनों की स्मृति=स्मरण रखने से सुन्दर था।

इसमें कुबेर द्विज के वेद, स्मृति और विविध शास्त्रों के ज्ञान का उल्लेख करते हुए उनके द्वारा यागादि के अनुष्ठान करने का भी प्रतिपादन है। अतः वे आचार्य होने के साथ-साथ स्वयं भी यजमान बनकर यागादि-अनुष्ठान किया करते थे, ऐसा स्पष्ट है।

हविर्विशेष और हवन से अवशिष्ट हव्य को 'पुरोडाश' कहा जाता है। 'सोम' नाम की एक लता होती है जिसका रस यज्ञ में प्रयुक्त होता है, जिसका पान भी किया जाता है। सोमयाग की महिमा बहुत अधिक वर्णित है।

यहाँ 'परिकर' अलंकार और 'वंशस्थ' छन्द है ॥ ११ ॥

जिस कुबेर द्विज के घर पर समस्त वाङ्मय का अभ्यास किए हुए, पिंजड़ों में विद्यमान, मैनाओं के साथ शुकों द्वारा पद-पद पर टोंके जाते हुये ['आप अशुद्ध बोल रहे हैं'--ऐसा कहे जाते हुये अतः] शंकाग्रस्त [होते हुए] वेदाध्यायी ब्रह्मचारी यजुर्वेद और सामवेद का गान (=उच्चारण) किया करते थे।

---

१. प्रस्त--इत्यपि क्वचित्।

हिरण्यगर्भो भुवनाण्डकादिव, क्षपाकरः क्षीरमहार्णवादिव।
अभूत् सुपर्णो विनतोदरादिव द्विजन्मनामर्थपतिः पतिस्ततः ॥ १३ ॥

विग्रहे "तत्प्रकृतवचने मयट्" (पा. सू. ५।६।२१) इति वाक् शब्दात् स्वार्थे मयट्—वाक्+मय, परसवर्णे—वाङ्मयम्। समस्तं च तत् वाङ्मयमिति कर्मधारयः, अभ्यस्तं समस्तं वाङ्मयं यैस्ते तैरिति बहुव्रीहिः। पञ्जरवर्त्तिभिः—पञ्जरे वर्तन्ते तच्छीलाः तैः—इत्यर्थे पञ्जरे+वृत्+णिनि, उपपदसमासः। ससारिकैः—सारिकासहिताः तैः इति तुल्ययोगे बहुव्रीहिः, सहशब्दस्य 'स' इत्यादेशः। निगृह्यमाणाः—निगृह्यन्ते इति कर्मणि नि+ग्रहँ+(यक्+) शानच्+जस्—अस् सम्प्रसारणेन रेफस्य ऋकारादेशः। शङ्किताः—शङ्का=पुनराक्षेपशङ्का सञ्जाता येषां ते तैः—इत्यर्थे "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" (पा. सू. ५।२।३६) इति इतच् प्रत्यये—शङ्का+इतच्, भत्वे आलोपे च रूपम्।

अत्र तथाविधशुकैः वस्तुतस्तादृशपराभवस्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्ध-प्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारः, वंशस्थं वृत्तम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—भुवनाण्डकात्, हिरण्यगर्भः, इव, क्षीरमहार्णवात्, क्षपाकरः, इव, विनतोदरात्, सुपर्णः, इव, ततः, द्विजन्मनाम्, पतिः, अर्थपतिः, अभूत् ॥ १३॥

व्याख्या—भुवनाण्डकात्=ब्रह्माण्डात्, हिरण्यगर्भः=ब्रह्मा, इव=यथा, क्षीरमहार्णवात्=क्षीरनिधेः, क्षपाकरः=निशाकरः=चन्द्रः, इव=यथा, विनतोदरात्=विनतानामक-कश्यप-पत्नी-कुक्षेः, सुपर्णः=गरुडः, इव=यथा, ततः=तस्मात् कुबेराख्यद्विजात्, तस्य पत्न्यामिति शेषः, द्विजन्मनाम्=ब्राह्मणानाम्, पतिः=प्रधानम्ः, श्रेष्ठः, अर्थपतिः=अर्थपतिरिति नाम्ना प्रसिद्धः पुत्र इत्यर्थः, अभूत्=समुत्पन्नः ॥ १३ ॥

व्युत्पत्तिः—भुवनाण्डकात्—भुवनस्य अण्डकम्, तस्मात्—षष्ठीतत्पुरुषः। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्—इमे सप्त उपरितन-लोकाः, अतलम्, वितलम्, सुततलम्, तलातलम्, महातलम्, रसातलम्, पातालम्—इमे सप्त अधस्तनलोकाः। एतेषामण्डकात् प्रजापतेरुत्पत्तिः पुराणादौ प्रसिद्धा। हिरण्यगर्भः—हिरण्यं गर्भे यस्य सः—इति व्यधिकरण-बहुव्रीहिः।

क्षीरमहार्णवात्—महांश्चासौ अर्णवश्चेति कर्मधारयः, 'महत्' शब्दस्यात्वम्, क्षीरस्य महार्णवः तस्मात्, षष्ठीतत्पुरुषः। क्षपाकार—क्षपां करोति तच्छीलः, इति विग्रहे क्षपां+कृ+ट "कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु" (पा. सू. ३।२।२०) इति ट-प्रत्ययः, उपपदसमासः। विनतोदरात्—

विमर्शः—जिस कुबेर के घर पर पिंजरों में रहने वाली सारिकायें (मैनायें) और तोतागण समस्त वाङ्मय का अच्छा अभ्यास कर चुके थे। वे शास्त्राध्यायी ब्रह्मचारियों को (अशुद्ध उच्चारण करने पर) पद पद पर टोक दिया करते थे। इस कारण वे ब्रह्मचारी शंकित (अतः सावधान) होकर यजुर्वेद और सामवेद के मन्त्रों का गान और अभ्यास करते थे।

जिस विद्वान के घर पर तोता और मैना भी वेद-मन्त्रों को शुद्ध रूप में याद कर लेते हों, उसके यहाँ वेदपाठ की सतत परम्परा सिद्ध होती है। क्योंकि कई बार सुनने के बाद ही तोता और मैना ठीक-ठीक वैसा उच्चारण करने में समर्थ हो पाते हैं। जब कोई नवीन अभ्यासी ब्रह्मचारी कहीं अशुद्धि कर देता था तो कुबेर के घर के पालतू तोता और मैना भी उसे टोक कर शुद्ध स्मरण करने की प्रेरणा देते थे। इसलिए सभी छात्र सावधान होकर पढ़ते और रटते थे।

यहाँ 'अतिशयोक्ति' अलंकार और 'वंशस्थ' छन्द है ॥ १२ ॥

जैसे भुवनरूपी ब्रह्माण्ड से ब्रह्मा, क्षीरसागर से चन्द्रमा, विनता के उदर से गरुड़ उत्पन्न हुये, वैसे ही उस 'कुबेरनामक' द्विज से ब्राह्मणों में श्रेष्ठ 'अर्थपति' उत्पन्न हुआ।

विवृण्वतो यस्य विसारि वाङ्मयं दिने दिने शिष्यगणा नवा नवाः ।
उषस्सु लग्नाः श्रवणेऽधिकां श्रियं प्रचक्रिरे चन्दनपल्लवा इव ॥ १४ ॥

विनताया उदरं तस्मात्, षष्ठीतत्पुरुष । सुपर्णः–शोभनानि पर्णानि=पतत्त्राणि यस्य सः–बहुव्रीहिः । द्विजन्मनाम्—द्वे जन्मनी येषां ते तेषाम्, बहुव्रीहिः । गर्भाधानात् उपनयनादि–संस्काराच्च द्विजत्व-मुच्यते ।

"त्रिष्वथ जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत् ।" (अमरः २।१।६) "हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयंभूश्चतुराननः ।" (अमरः १।१।१६) "द्विजराजः शशधरो नक्षत्रेशः क्षपाकरः ।" (अमरः १।३।१) "नागान्तको विष्णुरथः सुपर्णः पन्नगाशनः ।" (अमरः १।१।२९) ।

अत्र द्विजकुबेरस्य त्रिधा साद्दश्यमुपवर्ण्य तस्मिन्नपि तत्त्वत्त्वं संकेतितम् । अत्र मालोपमा-लंकारः, वंशस्थं वृत्तम् ।

अर्थपतेः कुबेरादुत्पत्तिं वर्णयता बाणेन या उपमाः समुपस्थापिताः न ताः समुचिताः, कुबेरस्य पुरुषतया स्त्रिय इव तत उत्पत्तिवर्णनं प्रमादकरमिति बोध्यम् ।

अत्र श्लोके 'द्विजन्मनां पतिः' इति चतुर्ष्वपि वाक्येषु योज्यम्—(१) द्विजन्मनाम्= ब्रह्माणानां पतिः=अधिपतिर्ब्रह्मा, (२) 'द्विजन्मनां पतिः'=द्विजराजः चन्द्रः' (३) 'द्विजन्मनाम्'= पक्षिणां पतिः=राजा गरुडः, (४) द्विजन्मनाम्=विप्राणाम्, पतिः=प्रधानम्, अर्थपतिरिति भावः ॥ १३ ॥

अन्वयः—दिने, दिने, उषःसु, नवाः, नवाः, शिष्यगणाः, चन्दनपल्लवाः, इव, श्रवणे, लग्नाः, [सन्तः], विसारि, वाङ्मयम्, विवृण्वतः, यस्य, अधिकाम्, श्रियम्, प्रचक्रिरे ॥ १४ ॥

व्याख्या—दिने दिने=प्रतिदिनम्, उषःसु=प्रभातकालेषु, नवाः नवाः=नूतनाः नूतनाः, प्रतिदिनं तत्राध्ययनाय समागच्छन्तः, शिष्यगणाः=शिष्यसमूहाः, चन्दनपल्लवाः—चारुचन्दनकिसल-यानि, इव, श्रवणे लग्नाः=आकर्णने संलग्नाः, पक्षे—कामिन्यादिकर्णयोःविराजमानाः, इव, सन्तः, विसारि=विशालम्, वाङ्मयम्=शास्त्रादिकम्, विवृण्वतः=प्रकाशयतः, अध्यापयतः, यस्य= अर्थपतेः द्विजस्य, गुरोरित्यर्थः, अधिकाम्=प्रचुराम्, श्रियम्= शोभाम्, प्रचक्रिरे =वितेनुः ॥ १४॥

व्युत्पत्तिः—दिने दिने—इत्यत्र वीप्सायां द्वित्वम् । शिष्यगणाः=शिष्याणां गणाः–षष्ठीतत्पु-रुषः । चन्दनपल्लवाः—चन्दनस्य पल्लवा—इति षष्ठीतत्पुरुषः । श्रवणे लग्नाः—शिष्यपक्षे–श्रवणे–

विमर्शः—उस कुबेर नामक विद्वान् से ब्राह्मणों में श्रेष्ठ 'अर्थपति' नामक पुत्र ने उसी प्रकार से जन्म-ग्रहण किया जिस प्रकार भुवनरूपी ब्रह्माण्ड से हिरण्यगर्भ ब्रह्मा उत्पन्न हुए, क्षीर-सागर से चन्द्रमा निकला और 'विनता' के उदर से गरुड़ ने जन्म लिया ।

इसमें अर्थपति की तुलना तीन से की गई है—(१) ब्रह्मा से तुलना करके समस्त वेदों के ज्ञाता, (२) चन्द्रमा से तुलना करके सभी को आनन्द देने वाला और (३) गरुड़ से तुलना करके विष्णु का भक्त—प्रतिपादित किया गया है ।

यहाँ का उपमानोपमेयभाव तर्क-संगत नहीं प्रतीत होता है क्योंकि भुवनाण्ड से ब्रह्मा; क्षीरसागर से चन्द्रमा और विनता के उदर से गरुड़ की उत्पत्ति जिस प्रकार से होती है उस प्रकार कुबेर नामक पिता से 'अर्थपति' पुत्र की उत्पत्ति नहीं होती है। यहाँ माता से ही वैसी उत्पत्ति बताना अधिक तर्कसंगत रहता ।

इसमें अनेक उपमायें होने से 'मालोपमा' अलंकार और 'वंशस्थ' छन्द है ॥ १३ ॥

प्रतिदिन प्रातःकाल नये-नये शिष्यगण, चन्दन के पल्लवों के समान श्रवण में (=सुनने में, कामिन्यादिपक्ष में—कानों में) संलग्न होते हुये, विशाल वाङ्मय को पढ़ाने वाले उस 'अर्थपति' की शोभा बहुत बढ़ाया करते थे ।

विधानसम्पादितदानशोभितैः स्फुरन्महावीरसनाथमूर्त्तिभिः ।
मखैरसंख्यैरजयत् सुरालयं सुखेन यो यूपकरैर्गजैरिव ॥ १५ ॥

श्रवणक्रियायाम् लग्नाः=निरताः, कामिन्यादिपक्षे–श्रवणयोः=कर्णयोः, लग्नाः=संलग्नाः, विराजमानाः इति सप्तमीतत्पुरुषः । विसारि—विसरतीति तच्छीलम्—इत्यर्थे—वि+सृ+णिनि । वाङ्मयम्—प्रकृता वाक् इत्यर्थे "तत्प्रकृतवचने मयट्" (पा० सू० ५।२।४१) इति वाच्+मयट् । विवृण्वतः-विवृणोतीति अर्थे वि+वृञ्+श्नु+लट्=शतृ, षष्ठ्येकवचनम् । प्रचक्रिरे—प्र+कृ+लिट्=झ=इरेच् ।

"प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषः प्रत्युषसी अपि ।" (अमरः १।४।२) "समुदायः समुदयः समवायश्चयो गणः ।" (अमरः २।५।४०) "कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः ।" (अमरः २।६।९४) ।

अत्र वाच्योपमा, वंशस्थं वृत्तम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—यः, विधानसम्पादितदानशोभितैः, स्फुरन्महावीरसनाथमूर्तिभिः, यूपकरैः, गजैः, इव, असंख्यैः, मखैः, सुरालयम्, सुखेन, अजयत् ॥ १५ ॥

व्याख्या—यः=अर्थपतिः, विधानसम्पादितदानशोभितैः=शास्त्रीयविधानेन वितीर्णधनादिमण्डितैः, पक्षे—समुचितरीत्या मदजलाविर्भावार्थं दीयमान-मक्ष्यग्रासेन निष्पन्नमदजलसमलंकृतैः, स्फुरन्महावीरसनाथमूर्तिभिः=देदीप्यमान-हवनवह्निसहितस्वरूपैः, पक्षे—स्फुरन्तः=संचलन्तः ये महावीराः=महाशूराः तैः सनाथाः=अधिष्ठिताः मूर्तयः=शरीराणि येषां तैः, यूपकरैः=यज्ञीय-पशुबन्धन-साधनकाष्ठविशेषहस्तैः, पक्षे—यूपाः इव कराः=शुण्डादण्डाः येषां ते, तैः, गजैः=हस्तिभिः, इव=यथा, असंख्यैः=अगणितैः, मखैः=यज्ञैः, सुरालयम्=स्वर्गम्, सुखेन=अक्लेशेन, अजयत्=जितवान् ॥ १५ ॥

व्युत्पत्तिः—विधानसम्पादितदानशोभितैः—विधानेन=वेद-प्रतिपादितरीत्या सम्पादितं (तृतीयातत्पुरुषः) यद् दानम्, (कर्मधारयः) तेन शोभितैः (तृतीयातत्पुरुषः) । पक्षे–विधानेन=गजशास्त्र–रीत्या सम्पादितम्=प्रदत्तम् (तृ० तत्पु०), तच्च तद् दानम्=मदजलम् (कर्मधा०) तेन शोभितैः (तृ० तत्पु०) । स्फुरन्महावीरसनाथमूर्तिभिः—स्फुरन्तश्च (=देदीप्यमानाश्च) ते महावीराः (=हवन–वह्नयः) (कर्मधा०), तैः सनाथाः (=युक्ताः) (तृ० तत्पु०) मूर्तयः (=स्वरूपाणि) येषां ते, तादृशैः (बहुव्रीहिः), पक्षे–स्फुरन्तः (=सञ्चलन्तः) च ते महावीराः

विमर्शः—भाव यह है कि किसी कामिनी के कानों में लगे हुए नये चन्दनपल्लव जिस प्रकार प्रतिदिन उस कान की शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार नवागत छात्र प्रतिदिन उषाकाल में विभिन्न विषयों के श्रवण में संलग्न होकर अर्थपति के उस मुख की शोभा बढ़ाया करते थे जो विशाल वाङ्मय का स्पष्टीकरण करते हुये पढ़ाने वाला था । श्रवण=(क) कान, (ख) सुनना ।

यहाँ नवीन चन्दन-पल्लवों और नवागत छात्रों की समानता बताते हुए नवपल्लवों द्वारा कानों की शोभा बढ़ाना और शिष्यों द्वारा अपने गुरु की शोभा बढ़ाना प्रतिपादित है । अतः 'उपमा' अलंकार स्पष्ट है । 'वंशस्थ' छन्द है ॥ १४ ॥

जिस (अर्थपति) ने वैदिक विधि से किये गये दान (पक्ष में—विधान=खाद्यविशेष के द्वारा उत्पादित मदजल) से शोभायुक्त, देदीप्यमान हवनाग्नि–सहित स्वरूप वाले (पक्ष में—चञ्चल=फुर्तीले महान् शूरवीरों से अधिष्ठित शरीर वाले) यज्ञस्तम्भ रूपी हाथों वाले (पक्ष में—यज्ञस्तम्भ के समान सूड़ों वाले) हाथियों के समान अगणित यज्ञों से स्वर्गलोक को सुखपूर्वक जीत लिया, अपने अधीन कर लिया था ।

स चित्रभानुं तनयं महात्मनां सुतोत्तमानां श्रुतिशास्त्रशालिनाम् ।
अवाप मध्ये स्फटिकोपलामलं[1] क्रमेण कैलासमिव क्षमाभृताम् ॥ १६ ॥

(=महाशूराः) (कर्मधा०) तैः सनाथाः (=अधिष्ठिताः) मूर्तयः (=शरीराणि) येषां ते, तादृशैः (बहुव्रीहिः) । यूपकरैः—यूपा एव कराः (=हस्ताः) येषां ते तादृशैः (बहुव्रीहिः), पक्षे—यूपाः इव कराः (शुण्डादण्डाः) येषां ते, तैः (बहुव्रीहि.) । असंख्यैः—अविद्यमाना संख्या येषां ते, तैः (बहुव्रीहिः) । अत्र 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति वार्त्तिकेन नञ्-बहुव्रीहावुत्तरपदस्य लोपः । सुरालयम्—सुराणाम् आलयः, तम् (षष्ठीतत्पु०) । अजयत्—'जि जये' जि+लङ्=तिप् । जयशब्दः प्राप्तौ लाक्षणिकः ।

"त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने ।" (अमरः २।७।२९) "गण्डः कटो मदो दानं वमथुः करशीकरः ।" (अमरः २।८।३७) "दानं गजमदे त्यागे ।" (विश्वः मेदिनी च) "महावीरस्तु गरुडे शूरे सिंहे मखानले ।" (मेदिनी) "होमाग्निस्तु महाज्वालो महावीरः प्रवर्गवत् ।" (भानुचन्द्रोद्धृतकोशः), "करो वर्षोपले रश्मौ पाणौ प्रत्यायशुण्डयोः ।" (मेदिनी०) "यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः ।" (अमरः २।७।१३) ।

अत्र पूर्णोपमयानुप्राणिता समासोक्तिः कार्येण गजसैन्यैः परनगरविजयिनः कस्यचिन्नरपतेर्व्यवहारसमारोपादिति केचित् । वंशस्थं वृत्तम् ॥१५॥

अन्वयः—सः, क्रमेण, क्षमाभृताम्, मध्ये, स्फटिकोपलामलम्, कैलासम्, इव, [क्षमाभृताम्] महात्मनाम्, श्रुतिशास्त्र-शालिनाम्, सुतोत्तमानाम्, मध्ये, चित्रभानुम्, तनयम्, अवाप ॥१६॥

व्याख्या—सः=अर्थपतिः, क्रमेण=सन्तानोत्पत्तिपरम्परया, क्षमाभृताम्=पर्वतानाम्,

विमर्शः–विधान=मदजल उत्पन्न करने के लिये बताई गई विधि से भोजनादि प्राप्त करके निकले हुए मदजल से जो शोभायुक्त हैं, जिनके शरीरों पर फुर्तीले बड़े-बड़े योद्धागण बैठे हुए हैं, जिनकी सूड़ें यज्ञीय स्तंभ के समान पुष्ट और विशाल हैं, ऐसे हाथियों के द्वारा जिस प्रकार कोई राजा दूसरे राजा अर्थात् इन्द्र की राजधानी को भी सरलता से जीत लेता है, उसी प्रकार उस 'अर्थपति' नामक विद्वान् ने असंख्य यज्ञों द्वारा स्वर्ग को भी सरलता से जीत लिया था । उसके वे यज्ञ वेदादि शास्त्रों में प्रतिपादित विधि से दिये गये दान से शोभायुक्त होते थे, वे यज्ञ देदीप्यमान हवनाग्नियों से युक्त स्वरुप वाले थे, यज्ञीय पशुओं को बाँधने के लिये बनाये गये यूप (खूंटे) जिन यज्ञों के हाथ थे ।

विधान=(क) शास्त्रादि-प्रतिपादित पद्धति, (ख) मदजल उत्पन्न कराने के लिये कही गई विधि । दान=(क) त्याग, देना, (ख) मदजल । महावीर=(क) हवन की अग्नियाँ, (ख) बड़े-बड़े वीर । यूप=यज्ञीय पशु बाँधने का खूंटा । कर=(क) हाथ, (ख) सूंड़ ।

यहाँ 'समासोक्ति' अलंकार है । यह पूर्णोपमा से परिपुष्ट हो रहा है । इसमें वंशस्थ छन्द है ॥ १५ ॥

हिन्दी–क्षमाभृतों (=पर्वतों) के मध्य में स्फटिक मणियों के समान अतिधवल कैलास पर्वत जिस प्रकार (श्रेष्ठ) है उसी प्रकार [क्षमाभृत्=] क्षमायुक्त, जितेन्द्रिय और वेद-पुराणादि के विद्वान् उत्कृष्ट पुत्रों के मध्य में उत्पत्तिक्रम से 'चित्रभानु' नामक [अष्टम श्रेष्ठ] पुत्र को उस अर्थपति ने प्राप्त किया ।

---

१. स्फटिकोपलोपमम्—इत्यपि पाठः ।

महात्मनो यस्य सुदूरनिर्गताः कलङ्कमुक्तेन्दुकलामलत्विषः ।
द्विषन्मनः प्राविविशुः कृतान्तरा गुणा नृसिंहस्य नखाङ्कुशा[1] इव ॥ १७ ॥

मध्ये=अन्तरे, स्फटिकोपलामलम्-स्फटिकमणिवत् स्वच्छम्, कैलासम्=तन्नाम्ना प्रसिद्धं शिवपर्वतम्, इव=तुल्यम्, [चित्रभानुपक्षे-क्षमाभृताम्=क्षमादि-गुण-युक्तानाम्], महात्मनाम्=जितेन्द्रियाणाम्, महामनीषिणाम्, श्रुतिशास्त्रशालिनाम्=वेदशास्त्राध्ययनाध्यापनशोभावताम्, सुतोत्तमानाम्=उत्कृष्टात्मजानाम्, मध्ये=अन्तरे, चित्रभानुम्=चित्रभानुनामानम्, तनयम्=आत्मजम्, अवाप=लेभे, प्राप्तवान् ॥१६॥

व्युत्पत्तिः—क्षमाभृताम्—क्षमाम्=पृथ्वीं, चित्रभानुपक्षे-क्षान्ति बिभ्रति ये तेषाम्, क्षमाम्+भृञ्+क्विप् (लोप)+तुक्+आम् । स्फटिकोपलामलम्—स्फटिकश्चासौ उपलश्च (कर्मधा०) तद्वत् अमलः, तम् (तत्पुरुषः) । महात्मनाम्—महान् आत्मा येषां ते, तेषाम् (बहुव्रीहिः) 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' (पा. सू. ६।३।४६) इति महच्छब्दस्यात्वे रूपम् । श्रुतिशास्त्रशालिनाम्—श्रुतिश्च शास्त्राणि (=वेदस्मृत्यादीनि) च (द्वन्द्वः) तैः शालन्ते तच्छीलाः, श्रुतिशास्त्रैः+शाल्+णिनिः (उप. समासः)+आम्, "शाडृ श्लाघायाम्' इति धातौ डलयोरैक्यात् शालते इत्यपि रूपं भवतीति काश्यपेनोक्तम्, तदनुसृत्यैवायं प्रयोग इति बोध्यम् । सुतोत्तमानाम्—सुताश्च ते उत्तमाः इति (कर्मधा०) तेषाम् । अवाप—अव+आप्+लिट्=तिप्=णल् ।

"क्षितिक्षान्त्योः क्षमा ।" (अमरः ३।३।१५१) "पाषाण-प्रस्तर-ग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत् ।" (अमरः २।३।४) "आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः ।" (अमरः २।६।२७) ।

उपमालंकारः, वंशस्थं वृत्तम् ।

कादम्बरीकारेण बाणेन स्वीय-हर्षचरिते अर्थपतेरेकादश-पुत्राणामुल्लेखोऽकारि-(१) मृग,(२) हंस, (३) शुचि, (४) कवि, (५) महीदत्त, (६) धर्म, (७) जातवेदस, (८) चित्रभानु, (९) लक्ष, (१०) अहिदत्त. (११) विश्वरूप—इति नामानः । तत्राष्टमः चित्रभानुरिति बोध्यम् ॥१६॥

अन्वयः—सुदूरनिर्गताः, कलङ्कमुक्तेन्दुकलामलत्विषः, कृतान्तराः, यस्य, महात्मनः, गुणाः, नृसिंहस्य, नखाङ्कुशाः, इव, द्विषन्मनः, प्राविविशुः ॥१७॥

व्याख्या—सुदूर-निर्गताः=अतिदूरदेशव्याप्ताः, नृसिंहपक्षे-अङ्गुल्यग्रभागादबहिर्भूताः, कलङ्कमुक्तेन्दुकलामलत्विषः=निष्कलङ्क-चन्द्रकलाधवलकान्तयः, पक्षेऽपि अयमेवार्थो बोध्यः, कृतान्तराः=

विमर्शः—इस श्लोक में 'चित्रभानु' की तुलना कैलाश पर्वत के साथ की गई है । सभी पर्वतों के मध्य में जिस प्रकार स्फटिक मणियों के समान अत्यन्त समुज्ज्वल 'कैलाश' पर्वत की उत्कृष्टता स्पष्ट है । उसी प्रकार उस अर्थपति के सभी तेजस्वी, विद्वान् और क्षमादिगुण-सम्पन्न पुत्रों के बीच में 'चित्रभानु' नामक पुत्र की योग्यता सबसे अधिक थी । वह सर्वश्रेष्ठ था । और उत्पत्तिक्रम में वह 'अष्टम पुत्र' था ।

क्षमा=(क) पृथ्वी, (ख) क्षान्ति, सहन करना । भृत्=(क) धारण करने वाले (ख) पालन करने वाले ॥ १६ ॥

हिन्दी–बहुत दूर तक फैले हुये (पक्ष में–बहुत आगे तक निकले हुये), निष्कलंक चन्द्रमा की कला की कान्ति के समान कान्ति वाले, प्रवेश का स्थान बना लेने वाले (पक्ष में–विदारण करने वाले), नृसिंह भगवान् के नखाङ्कुशों के समान, जिस महात्मा चित्रभानु के गुण शत्रुओं के हृदय में (पक्ष में—हिरण्यकशिपु के वक्षस्थल में) अत्यधिक प्रविष्ट हो गये थे ।

१. नखाङ्कुराः ।

दिशामलीकालकभङ्गतां गतस्त्रयीवधूकर्णतमालपल्लवः।
चकार यस्याध्वरधूमसञ्चयो मलीमसः[1] शुक्लतरं निजं यशः ॥ १८॥

विहितप्रवेशावकाशाः, पक्षे-विहित-भेदाः, यस्य=चित्रभानोः, महात्मनः=महापुरुषस्य, गुणाः=दयादाक्षिण्यादयः, नृसिंहस्य तद्रूपधारिविष्णोः, नखाङ्कुशाः=नखराङ्कुशाः, इव, द्विषन्मनः=शत्रूणां चित्तम्, पक्षे-शत्रु-हिरण्यकशिपोः हृदयम्, प्राविविशुः=प्रविष्टाः ॥१७॥

व्युत्पत्तिः—सुदूर-निर्गताः—सुष्ठु दूरम् (कर्मधा०), सुदूरं निर्गताः—इति समासः। कलङ्कमुक्तेन्दु-कलाऽमलत्विषः—कलङ्केन मुक्तः (तृ० तत्पु०) स चासौ इन्दुः (कर्मधा०) तस्य कलाः (ष० तत्पु०) तद्वत् अमला त्विट् (=कान्तिः) येषां ते (बहु०)। कृतान्तराः—कृतम् अन्तरम्=प्रवेशावकाशो यैस्ते तादृशाः। पक्षे—कृतम् अन्तरम्=भेदः=विदारणं यैस्ते तादृशाः (बहु०)। महात्मनः—महान् आत्मा यस्य स तस्य (बहु०)। नृसिंहस्य—ना सिंह इव तस्य—('उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' पा. सू. २।१।५६ इति उपमितसमासः)। नखाङ्कुशाः—नखाश्च तेऽङ्कुशाः (कर्मधा०)। द्विषन्मनः—द्विषताम्=रिपूणां मनः, तत्, पक्षे—द्विषतः=रिपुभूतस्य हिरण्यकशिपोः, मनः=हृदयम्, तत्—(षष्ठी तत्पु०)। प्राविविशुः—प्र+आङ्+विश्+लिट्=झि=उस्।

यथा नृसिंहस्य भगवतोऽङ्कुशवद् विस्तृताः नखाः हिरण्यकशिपोः हृदयं विदार्य प्रविष्टवन्तः, तथैव चित्रभानोर्गुणा अपि तस्य शत्रूणां हृदयं बलात् प्रविष्टाः सन्तस्तान् पीडितवन्त इति भावः। अत्र साधारणगुणादिसद्भावात् पूर्णोपमालंकारः। वंशस्थं वृत्तम्।

"कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्।" (अमरः १।३।१७) "कला तु षोडशो भागः।" (अमरः १।३।१५) "हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः।" (अमरः १।३।१३) "स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छवि-द्युतिदीप्तयः।" (अमरः १।३।३४) "पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्।" (अमरः २।६।८३) "स्यादङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्।" (अमरः २।८।४१) "चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः।" (अमरः १।४।३१) ॥१७॥

विमर्श:—यहाँ चित्रभानु के अनुपम गुणों की तुलना नृसिंह भगवान् के नाखूनों से की गई है।

नृसिंह भगवान् के नाखूनरूपी अंकुश जो कि बहुत अधिक बाहर निकले हुए थे, कलंक-रहित चन्द्रमा की उज्ज्वल कान्तिसदृश कान्ति वाले थे, अपने प्रवेश के लिये स्थान बना लेने वाले थे। वे जिस प्रकार शत्रु हिरण्यकशिपु के वक्षः स्थल में प्रविष्ट हो गये थे उसी प्रकार उस चित्रभानु के वे अद्भुत गुण भी प्रति-पक्षियों के हृदय में बलात् प्रविष्ट हो गये, जो (गुण) बहुत दूर-दूर तक फैले हुए थे, जो कलंकशून्य चन्द्रमा की कला के सदृश उज्ज्वल कान्ति वाले थे, जिन्होंने अपने प्रवेश (=विस्तार) के लिये स्थान बना लिया था।

शत्रु भी जिसके गुणों की महिमा मानने के लिए विवश थे उसके गुणों का वर्णन करना अत्यन्त कठिन है, यह भाव है। यहाँ सभी समान विशेषतायें होने से 'पूर्णोपमा' अलंकार है और वंशस्थ छन्द है ॥१७॥

हिन्दी—जिस 'चित्रभानु' के [द्वारा किये गए] यज्ञों के धुएं का समूह जो [पूर्वादि] दिशारूपी नायिकाओं के केशों की भङ्गता (=रचनाविशेषत्व) को प्राप्त था, वेदत्रयीरूपी नायिका के कानों में [शोभायमान] तमालपल्लवस्वरूप था और काला था उसने अपने यश को और अधिक उज्ज्वल बना दिया था।

---

१. मलीमसम्—इत्यपि पाठः।

सरस्वतीपाणि-सरोजसम्पुट-प्रमृष्ट-होम-श्रम-शीकराम्भसः ।
यशोंऽशुशुक्लीकृतसप्तविष्टपात्ततः सुतो 'बाण' इति व्यजायत ॥ १९ ॥

अन्वयः—दिशाम्, अलीकालक-मङ्गताम्, गतः, त्रयीवधूकर्णतमालपल्लवः, मलीमसः, यस्य, अध्वरधूमसंचयः, निजम्, यशः, शुक्लतरम्, चकार ॥१८॥

व्याख्या—दिशाम्=पूर्वादीनाम्, वधूस्वरूपाणाम्, अलीकालकमङ्गताम्= ललाटस्थचूर्णकुन्तलरचनाविशेषत्वम्, गतः=प्राप्तः, त्रयीवधू-कर्णतमालपल्लवः=वेदत्रयी-वधू-श्रोत्र-तापिच्छपलाशम्, मलीमसः=मलिनः, कृष्णवर्ण इति भावः, यस्य=चित्रभानोः, अध्वरधूमसंचयः=यज्ञधूमराशिः, निजम्=स्वीयम्, यशः=कीर्तिम्, शुक्लतरम्=अतिशुभ्रम्, चकार=अकार्षीत् ॥१८॥

व्युत्पत्तिः—अलीकालकमङ्गताम्-अलीकानाम् (=चूर्णकुन्तलानाम्) भंगः (=रचनाविशेषः) (ष० तत्पु०)—अलकभङ्गस्य भावः—इत्यर्थे तल्प्रत्ययः (द्वितीयाद्वि०), अलीके अलकभङ्गता (स० तत्पु०), ताम् । गतः—गम्धातोः प्राप्त्यर्थात् क्तप्रत्ययः । त्रयीवधूकर्णतमालपल्लवः—त्रयी (=वेदत्रयी) सा एव वधूः=स्नुषा, तस्याः कर्णः (ष० तत्पु०) तत्र त्रयीवधूकर्णे तमालपल्लवः (स० तत्पु०) । अध्वरधूमसञ्चयः—अध्वरस्य धूमः (ष० तत्पु०), तस्य संचयः (ष० तत्पु०) । शुक्लतरम्—अतिशयेन शुक्लम्—इत्यर्थे 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (पा० सू० ५।३।८७) इति तरप् प्रत्ययः, द्वितीया० एक० । चकार—कृ + लिट्=तिप्=णल् ।

"अत्र अध्वरधूमसंचये केशरचनाविशेषत्वारोपः शाब्दः, दिक्षु वधूत्वारोपस्तु आर्थः—इत्येकदेशविवर्ति रूपकं, त्रय्यां वधूत्वारोपे धूमसंचये तमालपत्रत्वारोपे निमित्तमिति परम्परितरूपकम् । तथा मलीमसो धूमसञ्चयो यशः शुक्लतरं चकार—इति कारणगुणविरुद्धकार्यगुणोत्पत्तेर्विषमालंकारश्च, इत्येतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः" इति तत्त्वज्ञाः । वंशस्थं वृत्तम् ।

"ललाटमलिकम् ।" (अमरः २।६।९२) "अलिकं ह्रस्वदीर्घमध्यम्" (इति राजदेवः) इति अलीकमपि साधु । "अलीकमप्रिये भाले ।" (इति हैमः) "अलकाश्चूर्णकुन्तलाः ।" (अमरः २।६।९६) "भङ्गस्तरङ्गे भेदे च रुग्विशेषे पराजये । कौटिल्ये भयविच्छित्योः ।" (इति हैमः) "कालस्कन्धस्तमालः स्यात् तापिच्छोऽप्यथ सिन्दुकः ।" (अमरः २।४।६८) । "यज्ञः सवोऽध्वरो यागः ।" (अमरः २।७।१३) "मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम् ।" (अमरः ३।१।५५) "शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्वेतपाण्डराः ।" (अमरः १।५।१२) ॥ १८ ॥

अन्वयः—सरस्वती-पाणि-सरोज-सम्पुट-प्रमृष्ट-होमश्रम-शीकराम्भसः, यशोंऽशु-शुक्लीकृतसप्तविष्टपात्, ततः, बाणः, इति, सुतः, व्यजायत ॥ १९ ॥

विमर्शः—चित्रभानु सदैव यज्ञ किया करते थे उन यज्ञों से उठने वाले धुएं का रंग काला था, वह दिशारूपी नायिका के केशों के समूह के सदृश काला था, वह धुआँ वेदत्रयीरूपी नायिका के कान में सजे (लगे) हुए तमाल (तम्बाकू) के पत्ते के समान काला था, उस घोर काले धुएँ ने उस चित्रभानु के यश को और अधिक उज्ज्वल बना दिया था । जिस प्रकार काले केशों से और काले तमालपल्लव से किसी नायिका का सौन्दर्य और अधिक बढ़ जाता है, उसी प्रकार यज्ञों का धुआँ काला था किन्तु उसने महान याज्ञिक के रूप में चित्रभानु के विपुल और उज्ज्वल यश को उत्पन्न किया था ॥ १८ ॥

हिन्दी—जिसकी हवन करने के परिश्रम के कारण निकली हुई पसीने की बूदों को सरस्वती अपने हाथ से पोंछ दिया करती थी, जिसने अपने यश की किरणों से सातों लोकों को श्वेत कर दिया था, उस 'चित्रभानु' से 'बाण' इस नाम वाला पुत्र उत्पन्न हुआ ।

द्विजेन तेनाक्षतकण्ठकौण्ठ्यया महामनोमोहमलीमसान्धया।
अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धया धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा ॥ २० ॥

——:०:——

व्याख्या—सरस्वती-पाणि-सरोज-सम्पुट–प्रमृष्ट-होमश्रम-शीकराम्भसः=शारदा–करकमल-द्वय-संश्लेष-प्रमार्जित-हवनकर्म जन्य-प्रस्वेदजलात्, यशोंऽशुशुक्लीकृत-सप्तविष्टपात्=सुकीर्तिकिरण-धवलीकृत-सप्तभुवनात्, ततः=तस्मात्, चित्रभानोः स्वभार्यायामिति भावः, बाण इति=बाण इति नाम्ना प्रसिद्धः, सुतः=पुत्रः, व्यजायत=व्यजनिष्ट ॥ १९ ॥

व्युत्पत्तिः—सरस्वती०–पाणिः सरोजम् इव–(उपमितसमासः), तस्य सम्पुटः, (षष्ठी-तत्पु०), सरस्वत्याः पाणिसरोज-सम्पुटः (षष्ठीतत्पु०), होमस्य होमेन वा श्रमः (तत्पु०), शीकरमेव अम्भः-शीकराम्भः ('मयूरव्यंसकादित्वात् समासः), होमश्रमस्य शीकराम्भः (षष्ठी-तत्पु०), सरस्वती-पाणिसरोजसम्पुटेन प्रमृष्टं होमश्रमशीकराम्भः यस्य स तस्मात् (बहु०)। यशोंऽशुशुक्लीकृतसप्तविष्टपात्—यशसः अंशवः (षष्ठीतत्पु०), सप्त च तानि विष्टपानि (कर्म-धा०) अशुक्लानि शुक्लानि सम्पद्यन्ते तथा कृतानि शुक्लीकृतानि, यशोंऽशुभिः शुक्लीकृतानि सप्तविष्टपानि येन स तस्मात् (बहु०)। शुक्लीकृतानि—इत्यत्र "अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः" (पा० सू० ५।४।५०) इत्यनेन च्विप्रत्यये तस्य लोपे ईत्वे च कृते रूपम्। ततः—तस्मात् इति पञ्चम्यर्थे तत् शब्दात् "पञ्चम्यास्तसिल्" (पा. सू. ४।३।७) इति तसिल् =तस् प्रत्यये रूपम्। व्यजायत—'जनी प्रादुर्भावे' वि+जन्+लङ्=त, श्यन् विकरणे, "ज्ञाज-नोर्जा" (पा. सू. ४।३।८७) इति सूत्रेण 'जन्' इत्यस्य 'जा' इत्यादेशे रूपम्।

अत्र सरस्वत्याः पाणिपद्मद्वयेन स्वेदजलबिन्दूनां प्रमार्जनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादना-देकातिशयोक्तिः, तथा यशोंऽशुभिः सप्तभुवनानां शुक्लीकरणासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनाद् द्वितीयाऽतिशयोक्तिः, अनयोश्च परस्परं नैरपेक्ष्यात् संसृष्टिरलंकारः। वंशस्थं वृत्तम्।

"ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती।" (अमरः १।२।१) "शीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः।" (अमरः १।३।११) "अम्भोर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशंवरम्।" (अमरः १।१०।४) "किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः।" (अमरः १।३।३३) "जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्।" (अमरः २।१।६) ॥ १९ ॥

अन्वयः—तेन, द्विजेन, अक्षतकण्ठ-कौण्ठ्यया, महामनोमोहमलीमसान्धया, अलब्ध-वैदग्ध्य-विलासमुग्धया, धिया, इयम्, अतिद्वयी, कथा, निबद्धा ॥ २० ॥

विमर्शः—वह चित्रभानु महान् याज्ञिक था। दीर्घसमयसाध्य और कष्टसाध्य यज्ञ करने के कारण उसके मुखादि पर पसीने की बूँदें निकल आती थीं, उन बूँदों को साक्षात् सरस्वती अपने करकमल से पोंछ दिया करती थी। इससे प्रतीत होता है कि परिश्रान्त होने पर भी उसकी बुद्धि अक्षुण्ण रूप में कार्य किया करती थी। उसका यश सम्पूर्ण संसार में फैल चुका था, अतः अपने यश की किरणों से उसने सात लोकों को धवल बना दिया था। इस प्रकार के महान् याज्ञिक और अतिशय यशस्वी 'चित्रभानु' (की पत्नी) से 'बाण' नामक पुत्र (प्रस्तुत कादम्बरी ग्रन्थ के प्रणेता) का जन्म हुआ, विशिष्टपिता की विशिष्ट सन्तान उत्पन्न हुई ॥ १९ ॥

हिन्दी—उस बाणभट्ट नामक ब्राह्मण ने, जिसके कण्ठ की कुण्ठता (बोलने की अशक्तता) समाप्त नहीं है, जो अत्यधिक मनोमोह के कारण मलिन और अन्धी है, जो वैदुष्य की चतुरता प्राप्त न करने के कारण मूढ है ऐसी बुद्धि के द्वारा [बृहत्कथा और वासवदत्ता इन] दोनों का अतिक्रमण करने वाली यह 'कादम्बरी' नामक कथा लिखी है।

व्याख्या—सर्वथा समर्थोऽपि साम्प्रतं स्वाहङ्कारं परिहर्तुमाह—द्विजेनेति। तेन = बाणनामकेन, द्विजेन = विप्रेण, अक्षतकण्ठकौण्ठ्यया=अविनष्ट-गल-मान्द्यया, महामनोमोह-मलीमसान्धया=अत्यन्तचित्तवैक्लव्य-मलिन-सदसत्प्रतिपादनासमर्थया, अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धया=अप्राप्त-वैदुष्य-चातुर्यमूढया, नितान्तकोमलयेत्यर्थः, धिया=प्रज्ञया, इयम् = बुद्धिस्था, कादम्बरीरूपा, अतिद्वयी = बृहत्कथां वासवदत्तां च कथाद्वयीमतिक्रान्ता, कथा = गद्यपद्यप्रबन्धः, निबद्धा = ग्रथिता, साम्प्रतमविद्यमानापि बाह्ये मया स्वबुद्धौ रचितेति भावः, यद्वा आदिकर्मणि क्तप्रत्यये निबद्धुमारब्धेति तात्पर्यम्॥ २०॥

व्युत्पत्तिः—अक्षतकण्ठकौण्ठ्यया—कुण्ठस्य भावः इत्यर्थे कुण्ठ + ष्यञ्=कौण्ठ्यम्, कण्ठस्य कौण्ठ्यम् (षष्ठीतत्पु०), न क्षतम् अक्षतम् (नञ्समासः), अक्षतं कण्ठकौण्ठ्यं यस्याः सा, तया। महामनोमोह-मलीमसान्धया—मनसः मोहः (षष्ठीतत्पु०), महान् चासौ मनोमोहः (कर्मधा०) महामनोमोहेन मलीमसा (तृ० तत्पु०) अत एव, सा चासौ अन्धा (कर्मधा०), तया। अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धया—विदग्धस्य भावः इत्यर्थे विदग्ध + ष्यञ्, वैदग्ध्यस्य विलासः—(षष्ठीतत्पु०), अलब्धश्चासौ वैदग्ध्यविलासः (कर्मधा०) तेन मुग्धया (तृ० तत्पु०)। अतिद्वयी—द्वयीम् अतिक्रान्तेति विग्रहे "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इति वचनेन समासः। निबद्धा—'बन्ध बन्धने' नि + बन्ध् + क्त (आदिकर्मणि) + टाप् (= आ) + सु (= लोप)।

प्रथमचरणे छेकानुप्रासः, शेषे तु वृत्त्यनुप्रासः, अनयोश्च मिथोऽनपेक्ष्य स्थितत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः,। वंशस्थं वृत्तम्।

"कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायाम्।" (अमरः २।६।८८) "कुण्ठो मन्दः क्रियासु यः।" (अमरः ३।१।१७) "मूर्च्छा तु कश्मलं मोहः।" (अमरः २।८।१०९) "मलीमसं तु मलिनम्।" (अमरः ३।१।५५) "अन्धोऽदृक्।" (अमरः २।६।६१) "स्त्रीणां विलासबिब्वोकविभ्रमा ललितं तथा।" (अमरः १।७।३१)। "बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः।" (अमरः १।५।१) "प्रबन्धकल्पना कथा।" (अमरः १।६।६)॥ २०॥

विमर्शः—इस श्लोक में बाण अपने अहंकार को भुलाते हुए विनम्रता प्रदर्शित कर रहे हैं। चित्रभानु के पुत्र बाण अपने से पहले लिखी गई दो कथायें। (१) बृहत्कथामञ्जरी और (२) वासवदत्ता से उत्कृष्टतर कादम्बरी की रचना कर रहा है। उसकी बुद्धि अभी बालक के समान है अतः जैसे किसी बालक का कण्ठस्वर स्पष्ट नहीं होता है, बोलने में दोष सुनाई पड़ता है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि की भी कुण्ठता = मन्दता समाप्त नहीं हुई है, अतः अशुद्धियाँ संभावित हैं, अत्यधिक अज्ञान से जैसे कोई मलिन और अन्धा होता है वैसे ही उसकी बुद्धि भी विवेकशून्य है, इसलिये भी त्रुटियाँ संभव हैं, वैदुष्य की चतुरता न पाने के कारण जैसे कोई मूर्ख बना रहता है वैसे ही उसकी बुद्धि भी चतुरता प्राप्त नहीं कर सकी है। इस प्रकार की सामान्य बुद्धि के द्वारा बाण ऐसी 'कादम्बरी' कथा का प्रणयन कर रहे हैं, जो अपने से पहले लिखी गई बृहत्कथामंजरी और वासवदत्ता इन दोनों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है।

जब बाणभट्ट अपनी बुद्धि की अशक्तता, अन्धता और अचतुरता का संकेत करते हैं तो उनका आशय है कि मैं बहुत विशाल और महत्त्वपूर्ण रचना करना चाहता हूँ, उसमें जो त्रुटियाँ दिखाई दें, उन्हें निर्मत्सर विद्वान् क्षमा कर दें॥ २०॥

——:०:——

कथा-मुखम्

शूद्रकवर्णनम्

आसीदशेष-नरपति-शिरः-समभ्यर्चित-शासनः पाकशासन इवापरः, चतुरुदधि-मालामेखलाया भुवो भर्त्ता, प्रतापानुरागावनत-समस्त-सामन्तचक्रः, चक्रवर्तिलक्षणोपेतः, चक्रधर इव करकमलोपलक्ष्यमाण-शङ्ख-चक्र-लाञ्छनः, हर इव जितमन्मथः, गुह इवाप्रति-

---

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' इत्युक्तिमनुसृत्य साम्प्रतं गद्येन कथां प्रस्तोतुमाह—आसीदिति। 'आसीदि'ति लङन्तं भूतकालिकक्रियाबोधकं पदं वाक्यान्तिमभागेन "राजा शूद्रको नाम" इत्यनेन सम्बध्यते। इदमेव च मुख्यं वाक्यम्। अत्र राजानं विशेषयितुं प्रथमान्तानि पदानि सन्तीति बोध्यम्।

अशेषनरेति। अशेषनरपति-शिरःसमभ्यर्चितशासनः=अशेषाः (=सकलाः) ये नरपतयः (=नराधिपाः, कर्मधा०) तेषां शिरांसि (=मस्तकानि, षष्ठीतत्पु०), तैः समभ्यर्चितम् (=सादरं स्वीकृतम्, गृहीतं वा) शासनम् (=आदेशः) यस्य सः (बहु०), अत एव, अपरः (=देवराजाद् इन्द्राद् भिन्नः), पाकशासनः (=इन्द्रः), इव=तुल्यः। पुराकाले कदाचिदिन्द्रः पाकनामानं दैत्यं शासितवान्=हतवानित्यादि पुराणादौ प्रसिद्धम्।

चतुरुदधीति। चत्वारः (=चतुःसंख्याकाः पृथिव्याश्चतुर्दिक्षु स्थिताः) च ते उदधयः (=समुद्राः), तेषां माला (=श्रेणिः), सैव मेखला (=काञ्ची, मध्यभागवेष्टनम्), यस्याः सा तादृश्याः, भुवः (=पृथिव्याः), भर्ता (=अधिपतिः)। अत्र वसुधायां नायिकायाः शूद्रके च नायकस्य व्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरलंकारः।

प्रतापेति। प्रतापः (=कोशदण्डजं तेजः) अनुरागः (=प्रेम) च, ताभ्याम् अवनतम् (=नम्रीभूतम्, वशीभूतम्) समस्तम् (=सकलम्), (सामन्तानां चक्रम्=) सामन्तचक्रम् (=अधीनस्थराजमण्डलम्) यस्य स तादृशः। यथा अग्नितापेन रक्तवर्णं लौहचक्रमवनतं भवति, तेन यथेष्टं कर्तुं शक्यते तथैव अवनतैः सामन्तैरपि सर्वं साधयितुं सम्भवमिति ध्वन्यते। एवञ्च तस्मिन् शूद्रके प्रतापेन सहानुरागोऽपि वर्तते इति भावः।

चक्रवर्तीति। चक्रवर्तिनः (=सार्वभौमस्य), लक्षणानि (=सामुद्रिकशास्त्रोक्तहस्तपादादिस्थचिह्नानि) तैः, उपेतः (=सहितः)।

चक्रेति। चक्रधरः=चक्रधारी विष्णुः, इव=यथा, करकमलेषु (=कराः कमलानि इव, तेषु=पाणिपङ्कजेषु, विष्णोश्चतुर्भुजत्वाद् बहुवचनमेवोचितमिति बोध्यम्।) उपलक्ष्यमाणानि

'शूद्रक' नामवाला (एक) राजा था, वह मानों दूसरा 'इन्द्र' था जिसकी आज्ञा सभी राजा लोग शिर से (शिर झुका कर) मानते थे। वह चारों समुद्रों की मालारूपी करधनी वाली पृथ्वी का पति था। प्रताप और अनुराग से समस्त सामन्त जिसके अधीन थे। जो (शरीर में) चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त था। चक्रधारी विष्णु भगवान् के हाथों में जिस प्रकार शंख और चक्र हैं, उसी प्रकार उसके करकमलों में शङ्ख तथा चक्र के चिह्न बने हुए थे। जिस प्रकार शिव ने मन्मथ=कामदेव को जीत लिया था, उसी प्रकार उसने मन्मथ=काम-विकारों को जीत लिया था अर्थात् जितेन्द्रिय था। जिस प्रकार गुह=स्वामिकार्तिकेय अप्रतिहत=अमोघ

हतशक्तिः, कमलयोनिरिव विमानीकृतराजहंसमण्डलः, जलधिरिव लक्ष्मीप्रसूतिः, गङ्गाप्रवाह

(=अवलोक्यमानानि), शङ्खचक्रलाञ्छनानि (=शङ्खचक्रादिसदृशरेखाचिह्नानि) यस्य सः, तादृशः। विष्णोः स्वहस्तेषु शङ्खचक्रादीनि धृतानि दृश्यन्तेऽस्य च हस्तयोः तानि रेखारूपेणेति भावः। अत्रोभयोः पूर्णसाम्यात् पूर्णोपमा, चक्रपदस्यानेकधाऽऽवृत्त्या वृत्त्यनुप्रासश्च, अनयोः संसृष्टिः।

हर इति। हरः=पापहारी शिवः, इव=यथा, जितमन्मथः—जितः=(पराजितः=दग्ध इत्यर्थः) मन्मथः (=कामदेवः) येन सः तादृशः, शूद्रकपक्षे—शरीरसौन्दर्येण पराभूतः कामदेवः येन स तादृशः। शिवः कामदेवं स्वतृतीयनेत्रेण दग्धवान्, अयन्तु स्वशरीरकान्त्या तं पराजितवानिति भावः। अत्रापि पूर्णोपमा।

गुह इवेति। गुहः=कार्त्तिकेयः, 'सेनानीरग्निभूर्गुहः' (इत्यमरः १।१।३९), इव=यथा, अप्रतिहतशक्तिः=अप्रतिहता (=केनापि अकुण्ठिता), शक्तिः (=शूद्रकपक्षे—सामर्थ्यम्, गुहपक्षे—आयुधविशेषः) यस्य स तथोक्तः। अत्राप्युपमा।

कमलेति। कमलयोनिः—कमलम् (=पद्मम्) योनिः (=उद्गमस्थानम्) यस्य सः, ब्रह्मेति भावः, इव=तुल्यः, विमानीकृतराजहंसमण्डलः—विमानीकृतम् (=विमानम्= व्योमयानं देवयानं वा, तत्स्वरूपीकृतम् 'अभूततद्भावे' च्विप्रत्ययान्तमेतत्) राजहंसानाम् (=चञ्चुचरणैरतिलोहितानां हंसविशेषाणाम्) मण्डलम् (=समुदायः) येन सः, ब्रह्मणो हंसवाहनत्वस्य पुराणादावुक्तेः, शूद्रकपक्षे—विमानीकृतम् (=विगतो मानः=बलादिदर्पो यस्य तद् विमानम्, तथाभूतं कृतम् विजयादिना दर्परहितं कृतम्) राजहंसानाम् (=श्रेष्ठभूपतीनाम्) चक्रम् (=समूहः) येन स तथोक्तः। राजानः हंसा इवेत्युपमितसमासः, हंसशब्द उच्चराजादिवाचकः। अत्राप्युपमा।

जलधिरिति। जलधिः=वारिधिः, इव, लक्ष्मीप्रसूतिः—लक्ष्म्याः (=विष्णुपत्न्याः) प्रसूतिः उत्पत्तिस्थानम्, (शूद्रकपक्षे—पद्मायाः शोभायाश्चोत्पत्तिस्थानम्), पुराणेषु लक्ष्म्याः सागरादुत्पत्तेः प्रतिपादनात्। अत्रोपमा।

गङ्गेति। गङ्गाप्रवाहः—गङ्गायाः (=स्वर्धुन्याः) प्रवाहः (=जलधारा) इव, भगीरथपथप्रवृत्तः—भगीरथस्य (=सागरपौत्रस्य) पन्थाः (=रथचक्रविहितमार्गः, शूद्रकपक्षे—शासनपद्धतिः) तस्मिन् प्रवृत्तः (=संलग्नः, तद्वत् कार्यशालीति भावः)।

पुरा कदाचित् राजा सगरोऽश्वमेधेन यष्टुमश्वमेकं तत्याज सगरप्रतापभयभीतः देवराजस्तमश्वमपहृत्य पाताले नीत्वा कपिलाश्रमेऽबध्नात्। तदा तमश्वमनवलोकयन्तः सगरपुत्रास्तमन्वेष्टुं सर्वासु दिशासु जग्मुः। ततश्च नखैः भुवो मृद उत्खन्य पातालं प्रविश्य तत्रैकस्मिन्नाश्रमे बद्धमश्वमवलोक्य तमृषिं हन्तुमुद्यता अभूवन्। तदैव कुपितेन ऋषिणाभिशप्तास्ते दग्धाः सञ्जाताः। चिरकालानन्तरं सगरपौत्रो भगीरथो स्वपितृनुद्धर्तुकामो गङ्गावतरणाय तपस्तप्तवान्। ततस्तत्तपसा तुष्टा गङ्गा हिमालयान्निःसृत्य भगीरथ-रथचक्रमार्गेण गच्छन्ती सती पातालं प्रविश्य तत्पूर्वजांस्तारयामासेति पौराणिकी लोकप्रसिद्धा च कथा द्रष्टव्या।

शक्ति=आयुधविशेष वाले हैं, उसी प्रकार वह भी अप्रतिहत=अवारणीय शक्ति=बल वाला था। ब्रह्मा ने जिस प्रकार राजहंसमण्डल (=राजहंसों के समूह) को विमान बना दिया था, उसी प्रकार उसने भी राजहंसों=श्रेष्ठ राजाओं के समूह को विमान=मानरहित कर दिया था। जिस प्रकार समुद्र लक्ष्मी का प्रसूति=उद्भव-स्थल है, उसी प्रकार वह राज्यलक्ष्मी=सम्पत्ति का उद्गमस्थान था। गंगा का प्रवाह जिस प्रकार भगीरथ के (रथ के)मार्ग पर चला था, उसी प्रकार वह भगीरथ के मार्ग=शासनपद्धति का अनुसरण करने वाला था, उन्हीं के समान न्यायपूर्ण रीति से शासन

इव भगीरथपथप्रवृत्तः, रविरिव प्रतिदिवसोपजायमानोदयः[1], मेरुरिव सकलोपजीव्यमान-[2]पादच्छायः, दिग्गज इवानवरतप्रवृत्तदानार्द्रीकृतकरः, कर्त्ता महाश्चर्य्याणाम्, आहर्त्ता क्रतूनाम्, आदर्शः सर्वशास्त्राणाम्, उत्पत्तिः कलानाम्, कुलभवनं गुणानाम्, आगमः

रविरिवेति। रविः=दिनकरः, इव, प्रतिदिवसोपजायमानोदयः—प्रतिदिवसम् (=प्रतिदिनम्) जायमानः (=उत्पद्यमानः) उदयः (उद्गमः, शूद्रकपक्षे—सम्पत्तेरुद्रेकः, अभ्युदयः) यस्य स तादृशः। सूर्यस्य प्रतिदिनं प्रातरुदयो भवति, अस्यापि सदाभ्युदयो भवतीति साम्यादुपमा।

मेरुरिवेति। मेरुः=सुमेरुपर्वतः, इव, सकलोपजीव्यमान-पादच्छायः—सकलैः (=देवैः) उपजीव्यमाना (=आश्रीयमाणा, सेव्यमाना वा), पादानाम् (=प्रत्यन्तपर्वतानाम्) छाया (=आतपाभावः) यस्य सः, शूद्रकपक्षे—उपजीव्यमाना, पादयोः (=चरणयोः) छाया (=कान्तिः) यस्य सः तथोक्तः। "पादाः प्रत्यन्तपर्वताः।" (अमरः २।३।७) "छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः।" (अमरः ३।३।१५८) "मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः।" (अमरः १।१।४९) पूर्णोपमा।

दिग्गज इति। दिग्गजः=ऐरावतप्रभृति-दिङ्नाग इव ("ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदाञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजः।" (अरः १।३।३) अनवरतप्रवृत्तदानार्द्रीकरः—अनवरतम् (=सततम्) प्रवृत्तम् (=जातम्, शूद्रकपक्षे—कृतम्) यद् दानम् (=मदजलम्, शूद्रकपक्षे—जलादिसहितं धनादिदानम्) तेन आर्द्रीकृतः (=स्तिमितः क्लिन्नीकृतः) करः (=शुण्डादण्डः, शूद्रकपक्षे—हस्तः) यस्य स तथोक्तः। "दानं गजमदे त्यागे" "करो वर्षोपले रश्मौ पाणौ प्रत्यायशुण्डयोः।" इति च मेदिनी। "आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नं स्तिमितं समुन्नमुत्तं च।" (अमरः ३।१।१०५) हस्तिनः शुण्डाण्डो यथा मदजलेनार्द्रीभवति तथैव राज्ञः दानार्थं गृह्यमाणजलेन हस्त आर्द्रो भवतीति साम्यादुपमा।

कर्त्तेति। महाश्चर्याणाम्—महान्त्याश्चर्याणि=अतिप्रबलशत्रुपराजयाद्यद्भुतानि अन्येनासम्भवानि यानि कार्याणि, तेषाम्, कर्ता=निष्पादकः, अत्र कृदन्तयोगे कर्मणि षष्ठी "कर्तृकर्मणोः कृति" (पा. सू० २।३।६५) इत्यनेन भवतीति बोध्यम्। क्रतूनाम्=अनेकविधयागानाम्, आहर्त्ता=अनुष्ठाता; सर्वशास्त्राणाम्=श्रुतिस्मृत्यादिसकलशास्त्राणाम्, आदर्शः=मुकुरः, यथा मुकुरे सर्वस्य सकलः प्रतिबिम्बो दृश्यते, तथैव निरन्तराभ्यासवशात् तस्मिन् राजनि सर्वशास्त्राणि प्रतिबिम्बितानि समवलोक्यन्ते इति भावः। कलानाम्=नृत्यगीतादिचतुःषष्टिसंख्याकप्रसिद्धकलानाम्, उत्पत्तिः=

करने वाला था। जिस प्रकार प्रतिदिन सूर्य का उदय (पूर्व दिशा में निकलना) होता है, उसी प्रकार प्रतिदिन उसका उदय=अभ्युदय (=कल्याण) होता था। जिस प्रकार सभी (देवता) लोग सुमेरु के पादों=समीपवर्त्ती पहाड़ियों की छाया का आश्रयण लेते हैं, उसी प्रकार सभी लोग उसके पादों=चरणों की छाया का आश्रयण लेते थे। जिस प्रकार दिग्गज निरन्तर प्रवृत्त=बहने वाले दान=मदजल से आर्द्र=गीली कर=सूँड़ वाले रहते हैं, उसी प्रकार वह सदैव प्रवृत्त=किये गये दान=परित्याग (में प्रयुक्त जल) से गीले हाथ वाला रहता था। जो महान् आश्चर्य (-जनक कार्यों को) करने वाला था। जो यज्ञों का अनुष्ठाता था। जो सभी शास्त्रों का दर्पण [प्रतिबिम्ब-

---

१. उपचीयमानोदयः। २. सकलभुनतो, सकलभुवतलो।

काव्यामृतरसानाम्, उदयशैलो मित्रमण्डलस्य, उत्पातकेतुरहितजनस्य, प्रवर्त्तयिता गोष्ठी-बन्धानाम, आश्रयो रसिकानाम्, प्रत्यादेशो धनुष्मताम्, धौरेयः साहसिकानाम्, अग्रणी-र्विदग्धानाम्, वैनतेय इव विनतानन्दजननः, वैन्य[1] इव चापकोटिसमुत्सारितसकलाऽराति-[2]कुलाचलो राजा शूद्रको नाम।

जन्मस्थानम्, तासां कलानां शिक्षादिप्रदानादिति भावः। गुणानाम् — दयादाक्षिण्यादिसद्गुणानाम्, कुलभवनम् = कुलपरम्परयाश्रयस्थानम्, तस्मिन् तत्पूर्वजेषु च गुणानां सदैव विद्यमानत्वादिति भावः। काव्यामृतरसानाम् — दृश्यश्रव्यादिपरिशीलनानुभूयमानविविधरसानाम्, आगमः = उद्गमस्थानम्, मित्रमण्डलस्य = मित्राणि (= सुहृदः) तेषां मण्डलस्य-समूहस्य, पक्षे–मित्रमण्डलस्य = सूर्यबिम्बस्य, उदयशैलः = अभ्युन्नतेः स्थानम्, पक्षे–उदयाचलः, "मित्रं सुहृदि न द्वयोः। सूर्ये पुंसि।" "उदयस्तु पुमान् पूर्वपर्वते च समुन्नतौ।" इति मेदिनी। अहितजनस्य — शत्रुलोकस्य, उत्पातकेतुः — विनाश-सूचको धूमकेतुः, गोष्ठीबन्धानाम् = मनोहरकथारासभानाम्, प्रवर्त्तयिता = प्रवर्त्तकः, रसिकानाम् — रसज्ञानाम्, भावुकानामिति भावः, आश्रयः = शरणस्थानम्, धनुष्मताम् = धनुर्धारिणाम्, प्रत्यादेशः = निराकृतिः, "प्रत्यादेशो निराकृति"–रित्यमरः। साहसिकानाम् — असाध्यकर्मस्वपि सहसा प्रवृत्तानां सत्त्ववताम्, धौरेयः = धुरन्धरः 'धुरं' वहतीत्यर्थे 'धुर्' शब्दात् "धुरो यड्ढकौ" इति ढकि — एय प्रत्यये रूपम्, विदग्धानाम् = पण्डितानाम् अग्रणीः = प्रमुखः, प्रधानम्, वैनतेयः = विनतापुत्रः गरुडः, इव, विनतानन्दजननः = विनतेभ्यः (= कृतनतिभ्यः) आनन्दस्य (= सुखस्य) जननः (= उत्पादकः), पक्षे–विनतायाः = एतन्नाम्न्याः स्वमातुः, सुखोत्पादकः। वैन्यः = वेनराजपुत्रः पृथुः, इव, चापकोटि-समुत्सारितारातिकुलाचलः = चापकोट्या (= धनुरग्रभागेन,) समुत्सारिताः (= अपाकृता) अरातयः (= शत्रवः) एव कुलाचलाः (= कुलपर्वताः, महेन्द्रादयः) येन सः। "महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः।" शूद्रकपक्षे–अरातयः कुलाचला इव इत्यर्थो बोध्यः। पुरा पर्वताकीर्णां महीमवलोक्य पृथुना धनुष्कोट्या पर्वतान्निवार्य समतलां चकार तथैवायमपि सीमान्तवर्तिनः पर्वततुल्यान् शत्रुनृपान् धनुरग्रभागेन निवार्य सुखसम्पन्नां महीं कृतवानिति भावः। 'राजा शूद्रको नाम' इत्यस्य 'आसीदि'ति क्रियापदेन सम्बन्ध इति आदावेव प्रतिपादितम्।

स्वरूप] था। जो कलाओं की उत्पत्ति [का स्थान] था। जो गुणों का कुलभवन [वंशपरम्परा-गत आश्रयस्थान] था। जो काव्यामृत रसों का उद्गम था। जो मित्रमण्डल [सुहृद्वर्ग, सूर्यमण्डल] का उदयशैल [उन्नतिस्थान, उदयाचल] था। शत्रु लोगों का विनाशसूचक धूमकेतु था। मधुर कथादिविषयक सभाओं का प्रवर्त्तक था। [काव्यादि के] रसिकों का आश्रय [सहारा] था। धनुर्धारियों का निराकरणकर्ता [= दूर भगानेवाला] था। साहसी लोगों में अग्रेसर था। विद्वानों में प्रमुख था। जिस प्रकार वैनतेय [विनता के पुत्र गरुड] विनतानन्दजनक [अपनी माता विनता को आनन्द देने वाला] था उसी प्रकार जो विनतों=विनम्र लोगों के आनन्द को पैदा कराने वाला था। जिस प्रकार राजा पृथु ने धनुष के अग्रभाग से अरातिकुलाचल [शत्रुसमूहरूपी पर्वतों] को नष्ट कर दिया था उसी प्रकार जो पर्वतसदृश समस्त शत्रुओं=को नष्ट कर देने वाला था।

---

१. वैण्यः, पृथुः। २. समुत्सारितारातिः....

नाम्नैव यो निर्भिन्नारातिहृदयो विरचितनरसिंह[1]-रूपाडम्बरम्, एकविक्रमाक्रान्तसकलभुवनतलो विक्रमत्रयायासित[2]भुवनत्रयं जहासेव वासुदेवम् ।

अतिचिरकाललग्नमतिक्रान्तकुनृपतिसहस्रसम्पर्ककलङ्कमिव क्षालयन्ती यस्य विमले कृपाणधाराजले चिरमुवास राजलक्ष्मीः ।

पुनरपि तमेव विशिनष्टि—नाम्नेति । यः=शूद्रको राजा, नाम्ना एव=स्वनामश्रवणमात्रेणैव, निर्भिन्नारातिहृदयः=निर्भिन्नानि (भयेन विदारितानि) अरातीनाम् (=शत्रूणाम्) हृदयानि (=वक्षःस्थलानि) येन सः तादृशः, विरचित-नरसिंह-रूपाडम्बरम्=विरचितः (हिरण्यकशिपोर्विदारणाय धृतः) नरसिंहरूपस्य (=नृसिंहाकारस्य) आडम्बरः (=आटोपः) येन स तं तादृशम्। [द्वितीयान्तानि 'वासुदेवम्' इत्यस्य विशेषणानि; प्रथमान्तानि च 'शूद्रक' (=यः) इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] एकविक्रमाक्रान्तसकलभुवनतलः=एकेन (=अद्वितीयेन) विक्रमेण (=पराक्रमेण) आक्रान्तम् (=अधीनीकृतम्, व्याप्तम्) सकलम् (=समस्तम्) भुवनतलम् (=विष्टपतलम्) येन स तादृशः राजा शूद्रकः, विक्रमत्रयायासितभुवनत्रयम्=विक्रमः (=पादविक्षेपः) तस्य त्रयम् (=त्रितयम्) तेन आयासितम् (=खिन्नं कृतम्, व्याप्तमिति भावः) भुवनानाम् (=लोकानाम्) त्रयम् येन तं तादृशम्, वासुदेवम्=लक्ष्मीपतिं विष्णुम्, जहास इव=उपहसति स्म इव। भगवता नृसिंहरूपं धृत्वैव हिरण्यकशिपोः शत्रोर्हृदयं विदारितम् । अनेन तु स्वनामश्रवणमात्रेणैव शत्रूणां हृदयानि विदारितानि । एवमेव भगवता वामनरूपधारिणा पादत्रयेण त्रिभुवनं व्याप्तम्, अनेन तु केवलेन पराक्रमेणैव सर्वाणि भुवनानि व्याप्तानि अधीनीकृतानीति शूद्रकस्य वासुदेवापेक्षयोत्कृष्टतया तस्योपहासकर्तृकत्वमुचितमेवेति भावः ।

अतिचिरेति । अतिचिरकाललग्नम्—अतिचिरकालः (=भूयान् अतीतः समयः) तेन लग्नम् (=आत्मनि लिप्तम्), अतिक्रान्तकुनृपति-सहस्रसम्पर्क-कलङ्कम्=अतिक्रान्ताः (व्यतीताः) ये कुत्सिताः नृपतयः (=कदर्यनरपतयः) तेषां सहस्रम् (=समूहः), तस्य सम्पर्केण (=सम्बन्धेन) यः कलङ्कः (=अपवादः) तं तथोक्तम्, क्षालयन्ती इव=प्रमार्जयन्ती इव, राजलक्ष्मीः=राजश्रीः, यस्य=शूद्रकस्य नृपस्य, विमले=स्वच्छे, कृपाणधाराजले=खड्गधारारूपे सलिले, चिरम्=बहुसमयं पर्यन्तम्, उवास=न्यवसत् । यथा कश्चिज्जनः शरीरलिप्तं कर्दमादिकं धावयितुं स्वच्छं

जो अपने नाम [के श्रवण] मात्र से शत्रुओं के हृदयों को विदीर्ण कर देने वाला, और एक मात्र विक्रम (=पराक्रम) से तीनों लोकों को आक्रान्त (अधीन) कर लेने वाला राजा शूद्रक [हिरण्यकशिपु शत्रु के हृदय का विदारण करने के लिये] नरसिंह के स्वरूप का आडम्बर रचने वाले और तीन विक्रमों [पैरों को चलाने] से तीन लोकों को व्याप्त करने वाले विष्णु भगवान का मानों उपहास करता था। [जो कार्य भगवान् विष्णु ने अधिक प्रयास से किया उसे कम प्रयास में कर लेने के कारण इसका उपहास करना उचित ही था।]

बहुत दिनों से लगे हुये, हजारों पुराने बुरे राजाओं के सम्पर्क से उत्पन्न कलंक को धोती हुई-सी राजलक्ष्मी ने जिस [राजा शूद्रक] की तलवार के धाररूपी स्वच्छ जल में बहुत दिनों तक निवास किया। [लगे हुए कलंक को धोने के लिए इस शूद्रक की तलवार के धाररूपी जल में बहुत समय तक लक्ष्मी रहती रही।]

---

१. नारसिंह । २. आयासितम्, आयासिमानम् ।

यश्च मनसि धर्म्मेण, कोपे यमेन, प्रसादे धनदेन, प्रतापे वह्निना, भुजे भुवा, दृशि श्रिया, वाचि सरस्वत्या, मुखे शशिना, बले मरुता, प्रज्ञायां सुरगुरुणा, रूपे मनसिजेन, तेजसि सवित्रा च वसतः सर्वदेवमयस्य प्रकटितविश्वरूपाकृतेरनुकरोति भगवतो नारायणस्य।

सलिलं समाश्रयति तथैव राजलक्ष्मीरपि स्वकलङ्कं दूरीकर्तु तस्य राज्ञः कृपाणाग्रभागरूपे जले न्यवसदिति भावः। अत्र 'कृपाणधाराजले' इत्यत्र रूपकं 'क्षालयन्ती इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चैत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालंकारः।

यश्चेति। 'च' शब्दोऽत्र किञ्चेत्यर्थे। यः—शूद्रको नृपः, "नारायणस्यानुकरोति" इति इत्यग्रिमांशेनान्वेति, ससम्यन्तपदानां 'वसता' इति क्रियायामधिकरणत्वेनान्वयः, तृतीयान्तानां च 'धर्मेण' इत्यादीनां 'वसता' इत्यस्मिन् विशेष्यतयान्वयः 'वसता' इति पदस्य सर्वत्र यथालिङ्गमन्वयो भवति। एवञ्च, मनसि=स्वान्ते, वसता=वासं विदधता, धर्मेण=पुण्यादिना, कोपे=क्रोधे, वसता यमेन=यमराजेन, प्रसादे=प्रसन्नतायाम्, वसता धनदेन=कुबेरेण, प्रतापे=कोशदण्डजन्ये तेजसि, वसता वह्निना=अग्निना, भुजे=बाहौ, वसन्त्या भुवा=पृथिव्या, दृशि-नेत्रे, वसन्त्या श्रिया=लक्ष्म्या, वाचि=वाण्याम्, वसन्त्या सरस्वत्या=भारत्या सततविविधप्रबन्धविधानात्, मुखे=वदने, वसता शशिना=चन्द्रेण, तद्वदानन्दजनकत्वात्, बले=पौरुषे, वसता मरुता=पवनेन, अतिसामर्थ्यवत्त्वात्, प्रज्ञायाम्=मनीषायाम्, वसता सुरगुरुणा=बृहस्पतिना, अप्रतिमप्रतिभाशालित्वात्, रूपे=सौन्दर्ये, वसता मनसिजेन=कामदेवेन, सर्वासां मानिनीनां मानापहारकत्वात्, तेजसि=प्रतापलक्षणे, वसता सवित्रा=सूर्येण, च, सर्वदेवमयस्य=सकलदेवस्वरूपस्य, सर्वे च ते देवाः, तत्स्वरूपः स्वरूपार्थे मयट् प्रत्ययः, प्रकटितविश्वरूपाकृतेः—प्रकटिता (=प्रकाशिता) विश्वरूपस्य (=त्रिजगतीस्वरूपस्य), आकृतिः (=आकारः) येन स तस्य, भगवतः=षड्विधैश्वर्यसम्पन्नस्य, नारायणस्य=विष्णोः, अनुकरोति=अनुकरणं विदधाति। अत्र लटः प्रयोगश्चिन्त्यः, शूद्रकस्याविद्यमानत्वात् कथायामेतादृशप्रयोगाणामन्यत्रापि दर्शनात्। अत्रार्थी उपमा।

और जो राजा शूद्रक [अपने] मन में [रहने वाले] सूर्य के कारण, क्रोध में [रहने वाले] यम के कारण, प्रसन्नता में [रहने वाले] कुबेर के कारण, प्रताप में [रहने वाले] अग्नि के कारण, हाथ में [रहने वाली] पृथ्वी के कारण, नेत्र में [रहने वाली] लक्ष्मी के कारण, वाणी में [रहनेवाली] सरस्वती के कारण, मुख में [रहने वाले] चन्द्रमा के कारण, [बल में रहने वाले] पवन के कारण, प्रज्ञा में [रहने वाले] बृहस्पति के कारण, रूप में [रहने वाले] कामदेव के कारण, और तेज में रहने वाले सूर्य के कारण सर्वदेवमय और विश्वरूप का आकार प्रकटित करने वाले भगवान् विष्णु की समानता करता था।

विमर्शः— उस शूद्रक के मन में धर्म का वास था, क्रोध में यमराज का वास था, प्रसन्नता में कुबेर का वास था, प्रताप में अग्निदेव का वास था, भुजा में पृथ्वी का वास था, आँख में लक्ष्मी का वास था, वाणी में सरस्वती का वास था, मुख में चन्द्रमा का वास था, बल में पवनदेव का वास था, प्रज्ञा में सुरगुरु बृहस्पति का वास था, रूप में कामदेव का वास था, और तेज में सूर्य का वास था, इसलिए वह भी विश्वरूप का आकार प्रकट करने वाले सर्वदेवमय नारायण भगवान् की समानता करता था। जैसे भगवान् में विभिन्न देवता रहते हैं उसी प्रकार उसके शरीर में भी सभी देवता रहते थे, अतः वह विष्णु के समान था।

यस्य च मदकल-करि-कुम्भ-पीठपाटनमाचरता[1] लग्न-स्थूलमुक्ताफलेन, दृढ-मुष्टि-निष्पीडन-निष्ठ्यूत-धाराजलविन्दु-दन्तुरेणेव[2] कृपाणेनाकृष्यमाणा सुभटोरःकपाट-विघटित[3]-कवच-सहस्रान्धकार-मध्यवर्त्तिनी करि-करट[4]-गलित-मदजलासार-दुर्दिनास्व-भिसारिकेव समरनिशासु समीपमसकृदाजगाम[5] राजलक्ष्मीः ।

यस्य चेति । 'च' शब्दः 'किञ्च' इत्यर्थे । 'यस्य समीपं राजलक्ष्मीः आजगाम' इति मुख्यं वाक्यं बोध्यम् । यस्य = राज्ञः शूद्रकस्य, मदकल-करि-कुम्भ-पीठ-पाटनम् = मदेन [= मदजलेन] कलाः [=मनोहराः ये करिणः [=हस्तिनः] तेषां कुम्भपीठानि (= शिरःपिण्डफलकानि), यद्वा कलानि यानि करिकुम्भपीठानि, तेषां पाटनम् (=विदारणम्) आचरता=विदधता, लग्नस्थूलमुक्ताफलेन = लग्नानि [=जटितानि], स्थूलानि (=पीवराणि, बृहदाकाराणि) मुक्ताफलानि (=मौक्तिकानि) यस्मिन् स तेन, इदं 'कृपाणेन' इत्यस्य विशेषणम्, दृढ-मुष्टि-निष्पीडन-निष्ठ्यूत-धाराजलविन्दुदन्तुरेण—दृढः [सुबद्धः] चासौ मुष्टिः, तेन यत् निष्पीडनम् (=सम्यग्धारणम्) तेन निष्ठ्यूता इव धारा (=तीक्ष्णाग्रभागाः) एव जलविन्दवः (=जलकणांशाः) तैः दन्तुरेण (=उच्चावचेन) कृपाणेन = असिना, आकृष्यमाणा=हठात् समन्तात् गृह्यमाणा, [इव] सुभटोरःकपाट-विघटित-कवचसहस्रान्धकारवर्तिनी = सुष्ठु भटाः (वीराः) तेषाम् उरांसि (=वक्षःस्थलानि) एव कपाटानि (=कपाटानि) तेभ्यः विघटितानि (=वियोजितानि) यानि कवचानां सहस्राणि (=लौहवर्मव्यूहाः) तानि एव अन्धकाराः (=तिमिराणि) तेषां मध्यवर्तिनी (अन्तर्विद्यमाना), राजलक्ष्मीः=शत्रुराजश्रीः, करिकरटगलित-मदजलासार-दुर्दिनासु—करिणाम् (=हस्तिनाम्) करटाः (=कपोलाः) तेभ्यो गलितम् (=निःसृतम्) यत् मदजलम् (=मदवारि), तस्य आसारः (=धारासम्पातः) तेन दुर्दिनम् (=मेघजनितं तमः) यासु ताः तादृशीसु, समरनिशासु=समराः (=युद्धानि) एव निशाः (=रात्रयः) तासु, अभिसारिका इव=दत्तसंकेता प्रेयसीव, यस्य शूद्रकस्य, समीपम् (=अन्तिकम्) असकृत् (=पुनः पुनः, बहुवारम्) आजगाम= आगतवती । यथा दत्तसंकेता सर्वाणि कष्टानि उपेक्ष्य स्वप्रियमुपैति तथैव शत्रुराजलक्ष्मीः शूद्रकमुपाययौ । अभिसारिकालक्षणं साहित्यदर्पणे—

"अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा ।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका ॥"

अत्रोत्प्रेक्षा-रूपकोपमानामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

मदजल [के प्रवाह] से सुन्दर हाथियों के मस्तकपिण्डों का विदारण करने वाली, बड़ी-बड़ी मुक्ताओं से जड़ी हुई, मजबूत मुट्ठी से पकड़ने के कारण निकली हुई [हाथ के पसीने की] धारारूपी जल की बूंदों से ऊंची-नीची तलवार द्वारा खींची जाती हुई-सी; बहुत बहादुर योद्धाओं के वक्षस्थलरूपी किवाड़ों से [टूट कर] अलग होने वाले हजारों कवचरूपी अन्धेरों के बीच में स्थित, राजलक्ष्मी उस राजा के पास, हाथियों के कपोलस्थलों से निकले हुए मदजल की वर्षा से दुर्दिनवाली [मेघाच्छन्न] युद्धरूपी रातों में अभिसारिका (दत्तसंकेतवाली नायिका) के समान बार-बार आती थी । [जिस प्रकार अभिसारिका किसी बात की चिन्ता न करके अपने प्रेमी से बार-बार मिलने जाती है, उसी प्रकार राजलक्ष्मी उस राजा के पास आया करती थी ।]

---

१. "विदधता" इति पाठान्तरे, "कृपाणेने"तिपदं विशेष्यम् । २. जलबदन्तुरेण । ३. घटित । ४. करतट । ५. सकृदगात् ।

यस्य च हृदयास्थितानपि पतीन् दिधक्षुरिव प्रतापानलो वियोगिनीनामपि रिपुसुन्दरीणामन्तर्जनितदाहो[१] दिवानिशं जज्वाल।

यस्मिंश्च राजनि जितजगति परिपालयति[२] महीं चित्रकर्म्मसु वर्णसङ्कराः, रतेषु केशग्रहाः, काव्येषु दृढबन्धाः, शास्त्रेषु चिन्ताः, स्वप्नेषु विप्रलम्भाः, छत्रेषु[३] कनकदण्डाः,

यस्य चेति। 'च' शब्दः किञ्चेत्यर्थे। यस्य=राज्ञःशूद्रकस्य, प्रतापानलः--प्रतापः (=दण्डकोशजं तेजः) एव अनलः (=वह्निः) हृदयस्थितान्=चित्ते एव विद्यमानान्, मृत्युमुपगतान्, अपि, पतीन्=वल्लभान्, दिधक्षुः इव=दग्धुम् इच्छुरिव, वियोगिनीनाम्=विरहिणीनाम्, रिपुसुन्दरीणाम्=शत्रुवनितानाम्, अन्तः=मनसि, जनितदाहः=जनितः (=उत्पादितः दाहः (=दहनम्) येन स तादृशः सन्, दिवानिशम्=रात्रिन्दिवम्, जज्वाल=प्रज्वलितम् आसीत्। शत्रुनृपाणां मरणात् तेषां प्रियाणां मनस्येव ते विद्यमाना आसन् तत्रापि सन्तापाग्निना तान् रिपून् दग्धान् चकारेति भावः। अत्र रूपकं क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेत संकरः।

पुनरपि तस्योत्कर्षं वर्णयति--यस्मिंश्चेति। जितजगति=जितम् (=स्वायत्तीकृतम्) जगत् (=विश्वम्) येन सः तादृशे, यस्मिन्, राजनि=नृपे, महीम्=धराम् परिपालयति=रक्षणं कुर्वति सति, अत्र "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" (पा सू. २।३।७) इति सति सप्तमी बोध्या। किञ्च, परिसंख्यालंकारस्य प्रयोगेणावधारणस्य प्रतीतिः। अत एव सर्वत्र 'एव' इत्यस्य योजनयार्थो विधेयः। 'प्रजानां न आसन्' इत्येतेषां सर्ववाक्येषु सम्बन्धः करणीयः। चित्रकर्मसु=आलेख्यनिर्माणेषु, वर्णसंकराः—वर्णानाम् (=शुक्लनीलपीतादिवर्णनाम्) सङ्कराः (=परस्परसम्बन्धाः) न तु प्रजानाम्=लोकानाम्, ब्राह्मणशूद्रादिवर्णानाम् परस्परं विवाहादिसम्बन्धाः आसन्, सर्वेषां वर्णमर्यादायामेव स्थितेः। रतेषु=मैथुनव्यापारेषु, केशग्रहाः=कचाकर्षणानि, सुगमतासम्पादनयेति शेषः न तु प्रजानां कलहेषु केशग्रहणानि, क्वापि कलहाभावादिति भावः। काव्येषु—कविकर्मसु, एव, दृढबन्धाः=पाण्डित्यप्रदर्शनार्थं पदसमासादिगाढगुम्फनानि, न तु प्रजानामपराधादौ कारागारादिबन्धनानि, सर्वत्रापराधाभावात्। शास्त्रेषु=पदवाक्यप्रमाणादिशास्त्रेषु, एव, चिन्ता=चिन्तनम्,

और जिसकी प्रतापरूपी आग हृदय में स्थित भी पतियों को जलाने की इच्छुक होती हुई-सी, वियोगिनी भी शत्रुओं की प्रेयसी स्त्रियों के मन में सन्ताप पैदा करके दिनरात [उनके] पतियों को जलाने के लिए जला करती थी।

संसार को जीत लेने वाले उस शूद्रक राजा के पृथिवी का पालन [= शासन] करने पर अर्थात् जब वह शासन कर रहा था उस समय केवल चित्र बनाने में वर्णों=काले नीले आदि रंगों का संकर=मिश्रण होता था। [ब्राह्मण क्षत्रिय आदि वर्णों का साङ्कर्य नहीं था। क्योंकि समवर्णों के ही विवाहादि संबन्ध होते थे।] केवल रत=कामक्रीडा में केशग्रहण=बाल खींचना होता था। [प्रजा में लड़ाई आदि में बाल नहीं खींचे जाते थे, क्योंकि सभी परस्पर प्रेमभाव से रहते थे।] केवल काव्यों में दृढबन्ध=पदसमासादि की प्रकृष्ट रचनायें या पद्यबन्ध आदि होते थे। [प्रजा में नहीं, क्योंकि अपराध न करने से कोई भी कारागार आदि में नहीं बन्द किया जाता था। सभी ईमानदार थे।] केवल शास्त्रों=शास्त्रीय विषयों में चिन्ता=चिन्तन होता था। [जीवननिर्वाहादि के लिए किसी को चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी, क्योंकि सभी को

१. दाघो। २. पालयति। ३. चित्रा।

ध्वजेषु प्रकम्पाः, गीतेषु रागविलासितानि, करिषु मदविकाराः, चापेषु गुणच्छेदाः, गवाक्षेषु जालमार्गाः, शशिकृपाणकवचेषु कलङ्काः, रतिकलहेषु दूतसम्प्रेषणानि[1], सार्य्यक्षेषु शून्यगृहाः न प्रजानामासन् ।

न तु भोजनादिचिन्ता, सर्वेषां सुखपूर्वकं विद्यमानत्वात् । स्वप्नेषु=स्वापेषु, एव, विप्रलम्भाः= प्रियवियोगाः, न तु प्रजानामिष्टजनवियोगाः, न वा वंचना इति भावः । छत्रेषु=आतपत्रेषु, एव, कनकदण्डाः=सौवर्णयष्टयः, न तु प्रजानामपराधादौ दण्डरूपेण स्वर्णग्रहणम्, सर्वेषां सदाचारपरायणत्वादिति भावः । ध्वजेषु=गृहमन्दिरादौ स्थितासु पताकासु, एव, प्रकम्पाः=प्रकम्पनानि, चाञ्चल्यानि वा, न तु लोकानां चित्तेषु, कुतोऽपि भयादेरभावादिति भावः । गीतेषु=गानेषु, रागविलसितानि=वसन्तभैरवादिविविधरागप्रयोगाः, न तु प्रजानां रागद्वेषादिव्यापाराः, सर्वेषां रागद्वेषादिशून्यत्वादिति भावः । करिषु=हस्तिषु, एव, मदविकाराः=मदजलविकृतयः; न तु लोकानां मदजन्यदूषणानीति भावः, सर्वेषां स्वाभाविकरीत्या विद्यमानत्वादिति भावः । चापेषु=धनुःषु, गुणच्छेदा:—गुणस्य=प्रत्यञ्चायाः, छेदः=कर्तनम्, न तु प्रजानां गुणच्छेदः=दयादाक्षिण्यादिगुणविलोपाः, सर्वैरेव गुणानां महत्त्वस्वीकारादिति भावः । गवाक्षेषु=वातायनेषु, जालमार्गाः=पवनप्रवेशाय लघुमार्गाः, न तु प्रजानां जालमार्गाः=छद्मकल्पनापन्थानः, सर्वेषां सत्स्वभाववत्त्वेन तादृशदोषादर्शनादिति भावः । शशि-कृपाण-कवचेषु=चन्द्रखड्ग-लौहवर्मसु, एव, कलङ्काः=विकृतिचिह्नानि, चन्द्रे स्वाभाविकः कलङ्कः, कृपाणेषु कवचेषु च दीर्घकालं प्रयोगाभावादमार्जनाच्च कलङ्कोत्पत्तिरिति भावः, न तु प्रजानामाचरणेषु दोषाः, सर्वेषां सदा सत्पथप्रवृत्तेरिति भावः । रतिकलहेषु=कामसम्बन्धिविवादेषु, दूतसम्प्रेषणानि=सन्देशहर-प्रेषणानि, न तु युद्धादौ सन्धये दूतसम्प्रेषणानीति, कस्यापि प्रबलरिपोरभावादिति भावः । सार्यक्षेषु=सारयः (=क्रीडन्यः) अक्षाः (=विभीतकाः) च, तेषु गुटिकास्थानेषु, शून्यगृहाः=रिक्तस्थानानि, न तु प्रजानां शून्यगृहाः=

सारी सुविधायें प्राप्त थीं ।] केवल स्वप्न में विप्रलम्भ=वियोग होता था । [वास्तविक स्थिति में सभी का संयोग ही रहता था, या विप्रलंभ=वञ्चना नहीं थी] । केवल छातों में सोने के दंड होते थे । [अन्य किसी से सुवर्णदण्ड नहीं लिया जाता था, क्योंकि कोई अपराध नहीं करता था ।] केवल पताकाओं में प्रकम्पन होता था । [प्रजा में कोई शत्रुभयादि से नहीं कांपता था, क्योंकि सभी निर्भय थे ।] केवल गानों में भैरव, वसन्त मल्हार आदि रागों का विलास था । [प्रजा में क्रोध-राग-द्वेषादि भावना नहीं थी] । केवल हाथियों में मदविकार होता था । [लोगों में अहंकारादि विकार नहीं था ।] केवल धनुषों में गुण=प्रत्यञ्चा (=डोरी) का छेदन=टूटना था । [लोगों में गुणों का महत्त्व था । गुणी का मान होता था ।] केवल गवाक्षों=झरोखों में जालमार्ग=हवा आने के लिए छोटे छिद्र होते थे । [प्रजा में किसी को कपटादिजाल में नहीं फँसाया जाता था ।] केवल चन्द्रमा, तलवार और कवच में कलङ्क था । [=चन्द्रमा में स्वाभाविक कलंक और तलवार तथा कवच में दीर्घकाल तक प्रयुक्त न होने से मुर्चा लगने की कालिमा थी । प्रजा में किसी पर कोई कलंक नहीं था, क्योंकि सभी सदाचारी थे ।] केवल रतिकलहों में [समझौता कराने के लिए] दूत भेजे जाते थे । [अन्यत्र नहीं, क्योंकि किसी से पराजय नहीं होती थी ।] केवल गोटी और पासों [के खेल] में खाली घर थे । [प्रजाओं में कोई घर शून्य नहीं था । सभी अपने-अपने घरों में रहते थे ।]

---

१. दूतप्रेषणानि ।

यस्य च परलोकाद्भयम्, अन्तःपुरिकाकुन्तलेषु[१] भङ्गः, नूपुरेषु मुखरता, विवाहेषु कर[२]ग्रहणम्, अनवरत[३]मखाग्निधूमेनाश्रुपातः, तुरङ्गे[४]षु कशाभिघातः, मकरध्वजे चापध्वनिरभूत्[५]।

तस्य च राज्ञः कलिकाल-भयपुञ्जीभूत-कृतयुगानु[६]कारिणी त्रिभुवनप्रसवभूमिरिव

जनरहितभवनानि, सर्वेषां सुखपूर्वकं स्वगृहेषु विद्यमानत्वादिति भावः। अत्र सर्वेषु चतुर्दशवाक्येषु श्लेषः, शाब्दी परिसंख्या चेत्यनयोर्मिथोऽनपेक्षतया सत्त्वात् संसृष्टिः।

पुनरपि तस्यैव वैशिष्टयं प्रतिपादयति—यस्य चेति। 'च' शब्दः किञ्चेत्यर्थे। यस्य=राज्ञः शूद्रकस्य, परलोकाद्=जन्मान्तरात्, एव, भयम्=भीतिः, न तु शत्रुवर्गात्, तस्य सर्वाधिक-सामर्थ्यशालित्वात्। अन्तःपुरिकालकेषु—अन्तपुरम् (=शुद्धान्तः) अस्ति वासाय यासां ताः इति मत्वर्थीयः ठन्=इकप्रत्ययः—अन्तःपुरिकाः=अन्तःपुरनिवासिन्यः, तासाम् अलकेषु, एव, भङ्गः-कुटिलता, न तु अन्यस्मिन् कस्मिन्, सर्वेषां सदाचारित्वादिति भावः। नूपुरेषु=हंसकेषु, एव, मुखरता=अनवरतशब्दायमानता, न तु लोकेषु, सर्वेषां सुचिन्त्यभाषित्वात्। विवाहेषु=उप-यमनेषु, एव, करपीडनम्=पाणिग्रहणम्, न तु प्रजासु करादि-राजदेयद्रव्यार्थं पीडनम्, सर्वैः न्याय्यकरस्य समुचितसमये एव प्रदानात्, विपत्त्यादौ राज्ञा स्वत एव तदग्रहणादिति भावः। अनवरतम्=निरन्तरम्, मखाग्निधूमेन=यज्ञीयवह्निधूमेन, एव, अश्रुपातः=नेत्राम्बुनिःसरणम्, न तु शोकादिना कस्याप्यश्रुपातः, असमये कस्यापि अनिष्टाभावात्। तुरगेषु=अश्वेषु एव, कशाया अभिघातः=चर्ममयताडिनी-प्रहारः, न तु प्रजासु दण्डादिप्रदानाय तत्प्रहारः। मकरध्वजे=कामदेवे, एव, चापध्वनिः=धनुषः शब्दः, प्रयोगकाले टंकार इति भावः, न तु प्रजासु, कस्यापि तादृशरिपोर-भावात् धनुषः प्रयोगस्यानावश्यकत्वादिति भावः। अभूत्=आसीत्, इदं क्रियापदं सर्वत्र योज्यम्। अत्रापि सप्तवाक्येषु आर्थी परिसंख्या, तयाऽवधारणप्रतीत्याऽन्यार्थनिवृत्तिः फलति।

शूद्रकस्य राजधानीं वर्णयति-तस्य चेति। तस्य च राज्ञः=भूपतेः, विदिशाभिधाना—'विदिशा' इति अभिधानं यस्याः सा, विदिशेति ख्याता, राजधानी=राजशासन-प्रमुखस्थानम् 'आसीदि'ति परवर्तिक्रियापदेनान्वयः। अत्र प्रथमान्तं पदं 'विदिशायाः' तृतीयान्तं च पदं 'वेत्रवत्याः' विशेषणमिति

और जिस राजा शूद्रक को केवल दूसरे जन्म से भय था, या स्वर्गादि का भय था। [अन्य किसी का नहीं, क्योंकि वह सर्वातिशायी था।] केवल अन्तःपुर की रानियों के केशों में वक्रता थी। [अन्यत्र किसी में नहीं, क्योंकि सभी सदाचारी थे।] केवल घुंघुरुओं में मुखरता=अनवरत ध्वनि थी। [अन्य किसी में नहीं, क्योंकि सभी लोग सोच-विचार कर बोलते थे।] केवल विवाह में करपीडन=पाणिग्रहण होता था। [प्रजाओं को कर=शुल्क से पीडित नहीं किया जाता था।] निरन्तर होने वाले यज्ञों के धुआँ के कारण ही आँखों से अश्रुपात होता था। [न कि किसी प्रिय के असामयिक मरणादि के शोक से लोगों के आँसू गिरते थे।] केवल घोड़ों पर कोड़े लगाये=मारे जाते थे। [अन्य किसी को दण्डित करने के लिए कोड़े का प्रहार नहीं होता था क्योंकि सभी अपने-अपने कर्तव्यों का समुचित रीति से पालन करते थे।] और केवल कामदेव में चापध्वनि=धनुष की टंकार होती थी। [प्रजाओं पर किसी शत्रु आदि के धनुष की आवाज नहीं होती थी, क्योंकि शूद्रक की प्रजा पर आक्रमण करना संभव नहीं था।]

उस राजा (शूद्रक) की 'विदिशा' नामक राजधानी थी, जो मानो कलियुग के समय के

---

१. अन्तःपुरिकालकेषु। २. करपीडनम्। ३. अनवरतप्रवृत्त। ४. तुरङ्गमेषु। ५. उद्भूत्। ६. अनुसारिणी।

विस्तीर्णा, मज्जन्मालवविलासिनीकुचतटास्फालन-जर्जरितोर्म्मिमालया जलावगाहनागत-[1] जयकुञ्जर-कुम्भ-सिन्दूर-सन्ध्यायमान-सलिलया उन्मद-कलहंस-कुल-कोलाहल-मुखरित-[2] कूलया वेत्रवत्या[3] परिगता विदिशाभिधाना नगरी राजधान्यासीत् ।

स तस्यामवजिताशेष-भुवनमण्डलतया विगतराज्यचिन्ताभारनिर्वृतः, द्वीपान्त-

बोध्यम् । कलिकाल-भय-पुञ्जीभूतकृतयुगानुकारिणी—कलिकालात् (=कलियुगसमयात्) यद् भयम् (=भीतिः) तस्मात् पुञ्जीभूतम् (=एकत्रीभूतम्) यत् कृतयुगम् (=सत्ययुगम्) तदनुकरोतीति एवंशीला, तादृशी, अतिपुण्यमयीति भावः । त्रिभुवन-प्रसवभूमिः=त्रयाणाम् भुवनानाम् (=लोकानाम्) समाहारस्त्रिभुवनम्=त्रिलोकी, स्वर्ग-मर्त्य-पाताल-लोकत्रयम्, तस्य प्रसवस्य (=उत्पत्तेः), भूमिः (=स्थानम्) इव, विस्तीर्णा=विशाला । मज्जन्मालव-विलासिनी-कुचतटास्फालन-जर्जरितोर्मिमालया—मज्जन्त्यः (=स्नानं कुर्वन्त्यः) याः मालवस्य (=एतन्नामकदेशस्य) विलासिन्यः (=सुन्दर्यः), तासां कुचतटानि (=वक्षोजस्थलानि, स्तनाग्रभागा इति भावः) तेषाम् यद् आस्फालनम् (=आघातः) तेन जर्जरिताः (=क्षीणतामुपगताः, व्याहताः) ऊर्मीणाम् (=तरङ्गाणाम्) मालाः (=श्रेणयः) यस्याः सा तादृश्या । जलावगाहनागत-जयकुञ्जर-कुम्भ-सिन्दूर-सन्ध्यायमानसलिलया—जले (=वेत्रवतीतोये) अवगाहनम् (=मज्जनम्), तदर्थम् आगताः (=समायाताः, क्वचित् 'अवतारिताः' इति पाठः, प्रवेशिताः) ये जयकुञ्जराः (=शत्रुसमूह-विदलन-समर्थाः हस्तिनः) तेषां कुम्भाः (=मस्तकस्थलानि) तेषु स्थितं यत् सिन्दूरम् (=नागसम्भवम्) तेन सन्ध्यायमानम् (=सन्ध्याकालवदाचरितम्, रक्तवर्णमिति भावः) सलिलम् (=जलम्) यस्याः सा, तया, "सिन्दूरं नागसंभवम्" इत्यमरः, "सिन्दूरं तरुभेदे स्यात् सिन्दूरं रक्तचूर्णके" इति मेदिनी च । उन्मदकलहंस-कुलकोलाहल-मुखरित-कूलया= उन्मदाः (=उत्कटमदाः) ये कलहंसाः (=कादम्बाः) तेषां कुलम् (=समूहः), तस्य यः कोलाहलः (=अस्पष्टध्वनिः, कलरव इति भावः) तेन मुखरितम् (=प्रतिध्वनियुक्तम्) कूलम् (=तटम्,) यस्याः सा तादृश्या, वेत्रवत्या=तन्नाम्न्या नद्या, परिगता=सर्वदिक्षु वेष्टिता, विदिशाभिधानाम्=विदिशानाम्नी राजधानी आसीत्=बभूव । अत्र कलिकालेत्यादिविशेषणे पुञ्जीभूतत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा, आर्थी उपमा, त्रिभुवनेत्यादिविशेषणेऽपि उत्प्रेक्षा, कुचतटानाम् आस्फालेन ऊर्मिमालायाः जर्जरित्वस्यासम्बन्धेऽपि तस्य सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः, सन्ध्यायमानेत्यादि-क्यङन्ते व्यङ्ग्योपमा चेत्येतेषां परस्परं नैरपेक्ष्येण स्थित्या संसृष्टिरलंकारः ।

साम्प्रतं शूद्रकस्य समययापनं वर्णयति— स तस्यामिति । स तस्यामतिचिरं सुखमुवास—इति

मय से पुञ्जीभूत=इकट्ठे सत्ययुग का अनुकरण करने वाली=उसके समान पुण्यमयी थी, जो तीनों लोकों की उत्पत्तिस्थल=जन्मभूमि के समान फैली हुई (विशाल) थी। जो (विदिशा नगरी) स्नान करती हुई मालवदेश की सुन्दरियों के स्तनाग्रभागों की टकराहट से छिन्न-भिन्न लहरों वाली, जल में नहलाने के लिए लाये गये विजयी हाथियों के मस्तकपिण्डों पर लगे हुए सिन्दूर [के मिल जाने] से सायंकाल के समान (लाल-लाल) प्रतीत होने वाले जलवाली और उन्मत्त कलहंसों के समूह के कलरव से शब्दयुक्त किनारे वाली 'वेत्रवती' नदी से चारो ओर से घिरी हुई थी।

वह राजा शूद्रक उस विदिशा नामक राजधानी में अपनी यौवनावस्था में बहुत

१. अवतारित, आयात । २. मुखरीकृत । ३. वेत्रवत्या सरिता ।

रागतानेक–भूमिपाल–मौलिमाला–लालित–चरणयुगलो, वलयमिव लीलया भुजेन भुवन-भारमुद्वहन्, अमरगुरुमपि प्रज्ञयोपहसद्भिरनेककुलक्रमागतैरसकृदालोचित–नीतिशास्त्र-निर्म्मलमनोभिरलुब्धैः स्निग्धैः प्रबुद्धैश्चामात्यैः परिवृतः, समानवयोविद्यालङ्कारैरनेकमूर्द्धाभिषिक्त-पार्थिवकुलोद्गतैरखिल-कलाकलापालोचन–कठोरमतिभिरतिप्रगल्भैः कालविद्भिः

मुख्यं वाक्यम् । अत्र प्रथमान्तानि पदानि राज्ञः तृतीयान्तानि च पदानि सचिवानां राजपुत्राणां च विशेषणानीति बोध्यम् । तस्याम्=स्वराजधान्याम्, अवजिताशेषभुवनमण्डलतया=अवजितानि (=स्वाधीनीकृतानि), अशेषाणि (=समस्तानि), भुवनमण्डलानि (=चतुर्दशलोकाः) येन स तस्य भावस्तया तथोक्तया, विगत-राज्यचिन्ताभार-निर्वृतः—विगतः (=अपगतः) यो राज्यस्य चिन्ता एव भारः=दूरीभूतशासनचिन्ताभरः तेन हेतुना निर्वृतः=निश्चिन्तः, सुखसम्पन्न इति भावः । द्वीपान्तरागतानेक-भूमिपाल-मौलिमाला-लालित-चरणयुगलः—अन्यानि (=दूरस्थानीति भावः) द्वीपानि द्वीपान्तराणि, मयूरव्यंसकत्वादित्वात् समासः, तेभ्यः आगताः (=समायाताः) ये अनेके (=बहवः, सर्वे इति भावः) भूमिपालाः (=भूपतयः), तेषां याः मौलीनां (=शिरसाम्, मुकुटानां वा) मालाः (=श्रेणयः) ताभिः लालितम् (=उपसेवितम्) चरणयुगलम् (=पादयुग्मम्) यस्य स तथोक्तः, वलयम्=कटकम्, इव, भुवनभारम्=संसारपालनभरम्, भुजेन=करेण, लीलया=अक्लेशेनैव, अनायासेनैव, उद्वहन्=धारयन्, प्रज्ञया=प्रतिभया, अमरगुरुम्=बृहस्पतिम्, अपि, उपहसद्भिः=उपहासं कुर्वद्भिः, अनेककुलक्रमागतैः=अनेके च ते कुलक्रमागताश्च=वंशपरम्परागताश्चेति द्वन्द्वः, तेनाकुलीनामाधुनिकानां च निरासः, असकृद्=वारं वारम्, आलोचितनीतिशास्त्र-निर्मल-मनोभिः—आलोचितानि (=सम्यगधीतानि) यानि नीतिशास्त्राणि (=राजनीतिशास्त्राणि) तैः निर्मलानि (=विशदानि, सन्देहरहितानि) मनांसि (=चित्तानि) येषां तैः तथोक्तैः, अलुब्धैः=लोभरहितैः, स्निग्धैः=वत्सलैः, प्रबुद्धैः=सततजागरूकैः, राज्यहितचिन्तनसावधानैरिति भावः, च, अमात्यैः=मन्त्रिभिः, परिवृतः=समावृतः, सहितः ।

इतः राजपुत्रान् विशेषयन्नाह—समानवयो-विद्यालङ्कारैः—समानाः (सदृशाः) वयः (=अवस्था), विद्याः (=चतुर्दशविद्याः), अलङ्काराः (=भूषणानि) च येषां ते तथोक्तैः, अनेक-मूर्धाभिषिक्तपार्थिवकुलोद्गतैः=अनेके (=बहवः) मूर्धाभिषिक्ताः (=कृतमूर्द्धाभिषेकाः) ये पार्थिवाः (=राजानः) तेषाम् कुलानि (=वंशानि) तेभ्यः उद्गतैः=समुत्पन्नैः, प्रभवैः, अखिलकला-कलापालोचन-कठोर-मतिभिः—अखिलाः (=सकलाः) या कलाः (=चतुःषष्टिकलाः)

समय तक सुखपूर्वक रहा, क्योंकि सम्पूर्ण संसार को (उसी समय तक) जीत लेने के कारण राज्य [के पालन या दूसरे के आक्रमण] की चिन्ता के भार से मुक्त (निश्चिन्त) था। [उस के प्रति आदर भाव प्रदर्शित करने के लिए] दूसरे द्वीपों (देशों) से आये हुए अनेक राजाओं द्वारा अपने मुकुटों के समूह से उसके दोनों चरण लालित (चूमें जाते) थे। अपनी भुजाओं से संसार [के पालन] का भार उसी प्रकार वहन करता था जैसे कि कगन धारण किये हुए हो। वह ऐसे अनेक मंत्रियों से घिरा रहता था जो (मंत्री) अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा से देवगुरु बृहस्पति का भी उपहास करने वाले थे अर्थात् उन से भी उत्कृष्ट थे; जो अनेक और वंशपरम्परा से आये हुए थे; जिन्होंने बार-बार राजनीति शास्त्र का अच्छी तरह अनुशीलन करने से अपने मन को निर्मल (सन्देहरहित) बना लिया था; जो लोभी नहीं थे; जो स्नेह करने वाले थे; जो प्रबुद्ध (बहुत बुद्धिमान् या जागरूक) थे। वह राजा (शूद्रक) ऐसे राजकुमारों के साथ रमण करता था, मन बहलाया करता था, जो (राजकुमार) आयु, विद्या (=अध्ययन) तथा अलङ्कारधारण

प्रभावाऽनुरक्तहृदयैरग्राम्योपहासकुशलैरिङ्गिताकारवेदिभिः काव्य-नाटकाख्यानकाख्यायिकाऽलेख्यव्याख्यानादिक्रियानिपुणैरतिकठिन-पीवर-स्कन्धोरु-बाहुभिरसकृदवदलित-समद-रिपुगज-घटा-पीठबन्धैः केसरिकिशोरकैरिव, विक्रमैकरसैरपि विनयव्यवहारिभिरात्मनः प्रतिबिम्बैरिव राजपुत्रैः सह रममाणः प्रथमे वयसि सुखमतिचिरमुवास ।

तासां कलापाः (=समूहाः) तेषाम् यत् आलोचनम् (=विमर्शः) तेन कठोरा (=दृढा=प्रौढा) मतिः (=बुद्धिः) येषां ते तादृशैः, अतिप्रगल्भैः=अतिशयप्रतिभान्वितैः "प्रगल्भः प्रतिभान्वितः" इति कोशः, कालविद्भिः=उचितावसरज्ञैः, 'कदा किं करणीय'मिति सम्यग्वेत्तृभिः, प्रभावानुरक्त-हृदयैः—प्रभावः (=माहात्म्यम्, सामर्थ्यं वा) तेन अनुरक्तानि (=आसक्तानि) हृदयानि (=चेतांसि) येषां तैः । अग्राम्योपहास-कुशलैः—(ग्रामे भवः—ग्राम्यः, 'ग्रामाद्यखञौ', तथा न भवतीति) अग्राम्यः=नागरिकः, य उपहासः (=नर्मवचोविलासः, मनोरञ्जनार्थंप्रतिपादकशब्दविशेषप्रयोगः), तस्मिन् कुशलाः (चतुराः) ये तैः । इङ्गिताकारवेदिभिः=इङ्गितम् (चेष्टाविशेषः) आकारः (=आकृतिः) च तौ विदन्ति, तच्छीलाः ये तैः, मानसिक-शारीरिकोभयरहस्यज्ञैरित्यर्थः काव्य-नाटकाख्यानकाख्यायिकालेख्यव्याख्यानादि-क्रिया-निपुणैः=काव्यम् (=श्रव्यं कविकर्म), नाटकम् (=दृश्यं कविकर्म), आख्यानकम् (=चूर्णकम्), आख्यायिका (गद्यकाव्यविशेषः वासवदत्ता-दिरिति भावः), आलेख्यानि (=चित्रनिर्माणानि), व्याख्यानानि (=कस्यापि विषयस्यार्थ-निर्वचनानि, सम्यग् भाषणानि वा) —इत्यादिकाः याः क्रियाः (=कार्याणि), तत्र निपुणाः (कुशलाः) तैः । अतिकठिनपीवर-स्कन्धोरुबाहुभिः—अतिकठिनाः (अतिदृढाः) पीवराः (=पुष्टाः) च, स्कन्धोरुबाहवः (=स्कन्धाः=अंसदेशाः, उरवः=सक्थीनि, बाहवः=भुजाः) येषां ते तैः । असकृदवदलित-समद-रिपु-गजघटा-पीठबन्धैः—असकृत् (=बहुवारम्) अवदलिताः (विमर्दिताः), समदा (=मदसहिता) या रिपुगजघटा (=शत्रूणां करिणां समूहः, "करिणां घटना घटा" इत्यमरः) सा एव पीठबन्धाः (=स्थलविशेषाः पृष्ठदेशासनानि) यैः ते तथोक्तैः, केसरिकिशोरकैः इव=केसरिणाम् (=सिंहानाम्) किशोरकैः (=शिशुभिः, अल्पायुष्कबालैः) इव, यथा सिंहशावकः गजानां पीठबन्धान् विमर्दयति तथैवेमे राजानोऽपीति भावः) विक्रमैकरसैः—विक्रमः (पराक्रमः) एव

में उसी के समान थे; जो अनेक मूर्धाभिषिक्त (श्रेष्ठ) राजाओं के कुलों में उत्पन्न होने वाले थे; जो समस्त कलाओं के समूह का आलोचन (परिशीलन) करने के कारण अत्यन्त कठोर (परिपक्व) बुद्धिवाले थे: जो अतिप्रगल्भ (प्रखर प्रतिभाशाली) थे, जो (प्रत्येक कार्य के समुचित) अवसर का ज्ञान रखने वाले थे, जो (उस शूद्रक के प्रति) प्रेम से अनुरक्त हृदय वाले थे, जो अग्राम्य (=अशिष्टतारहित) परिहास करने में कुशल थे; जो इंगित (चेष्टा या संकेत) तथा आँख आदि अवयवों को अच्छी प्रकार समझने वाले थे; जो काव्य, नाटक, आख्यानक, आख्यायिका, आलेख्य (चित्रकला) तथा व्याख्यान आदि कार्यों में अत्यन्त निपुण थे; जो अत्यन्त कठोर और पुष्ट कन्धों वाले थे, जिन्होंने अनेक बार शत्रुओं के मदमत्त हाथियों के समूह रूपी पीठबन्धों (=बैठने के आसनों) का अवदलन उसी प्रकार किया था जिस प्रकार सिंह के बच्चे करते हैं, अर्थात् उनके सदृश थे; केवल पराक्रम (के प्रदर्शन) में आनन्दानुभव करने वाले होने पर भी विनयपूर्वक व्यवहार करने वाले थे; जो मानो उस (शूद्रक) के अपने प्रतिबिम्ब [परछाईं] के सदृश [दिखाई देते] थे ।

१. आख्यानकालेख्य

तस्य चातिविजिगीषुतया महासत्त्वतया च तृणमिव लघुवृत्ति स्त्रैणमाकलयतः प्रथमे वयसि वर्त्तमानस्यापि[1] रूपवतोऽपि सन्तानार्थिभिरमात्यैरपेक्षितस्यापि सुरतसुखस्योपरि द्वेष इवासीत् ।

एकः (=अद्वितीयः) रसः (=आसक्तिः, अनुरागो वा) येषां ते तैः, अपि, विनयव्यवहारिभिः =विनयेन (=संस्कारजन्यविनम्रतया) व्यवहरन्ति (=आचरन्ति) तच्छीला ये तैः तथोक्तैः, एतेन—सामर्थ्ये सत्यपि विनयातिशयो ध्वनितः । आत्मन =स्वस्य, प्रतिबिम्बैः=प्रतिमूर्तिभिः, इव, राजपुत्रैः=राजसुतैः, सह=सार्धम्, रममाणः=क्रीडन्, सन्, प्रथमे=आद्ये, वयसि=अवस्थायाम् सुखम्=सुखसहितं यथा स्यात् तथा, अतिचिरम्=सुदीर्घकालपर्यन्तम्, उवास=न्यवसत् । अत्र वृद्धत्वापेक्षया वयसः प्राथम्यं बोध्यम् । अग्रे च 'प्रथमे वयसि'=इत्यस्य यौवनावस्थायामित्यर्थो बोध्यः । अन्यथोभयत्र समानार्थत्वेऽन्वयानुपपत्तिरिति बोध्यम् । अत्रोपमा रूपकं चेत्यनयोः संसृष्टिः ।

साम्प्रतं सर्वथा सामर्थ्यवत्त्वेऽपि तस्य राज्ञः सम्भोगसुखनिवृत्तिं प्रतिपादयति— तस्य चेति । अतिविजिगीषुतया—अतिशयेन विजेतुमिच्छुरित्यर्थे—जि + सन्, द्वित्वाभ्यासकार्यानन्तरं "सन्लिटोर्जेः" इति द्वितीयजकारस्य कुत्वे, दीर्घे च कृते—अतिविजिगीष—इति "सनाशंसभिक्ष उः" इत्यनेन 'उ' प्रत्ययेऽल्लोपे च कृते अतिविजिगीषुरिति, तस्य भावस्तत्ता, तया, (=अत्यधिक-विजयेच्छुकतया), महासत्त्वतया—महत् (=बहु, अधिकम् वा) सत्त्वम् (= बलं धैर्यादिकं वा) यस्य सः, तस्य, भावस्तत्ता, तया, च, स्त्रैणम्=स्त्रीणां समूहम्, "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ" इति नञ् प्रत्ययः, तृणम् इव=घासादिकम् इव, लघुवृत्ति=लघ्वी (=तुच्छा) वृत्तिः (= वर्तनं, व्यवहारो वा) यस्य तत् तथोक्तम्, आकलयतः = संभावयतः, प्रथमे=यौवने, वयसि=अवस्थायाम्, वर्तमानस्यापि=विद्यमानस्यापि, रूपवतोपि=सौन्दर्यविशिष्टस्यापि, तस्य = शूद्रकस्य, राज्ञः, सन्तानार्थिभिः=सन्तानम् (= अपत्यम्) तदेवार्थः (= प्रयोजनम्) येषां ते, तैः अमात्यैः=मन्त्रिभिः, अपेक्षितस्यापि=वाञ्छितस्यापि, सुरतसुखस्य=सम्भोग-जनितानन्दस्य, उपरि=विषये, द्वेषः = शत्रुता, इव, आसीत्=अभूत् । अत्र सुरतसुखे द्वेषहेतोरसत्त्वेऽपि तदुत्पत्तेः विभावना, यद्वा सुरतहेतुषु यौवनादिषु विद्यमानेषु सत्स्वपि तदनुत्पत्ते-र्विशेषोक्तिरित्यनयोः संकरः, 'तृणमिव'—इत्यत्रोपमया च संकीर्णः । 'द्वेष इवासीत्' इत्यत्रोत्प्रेक्षा च प्रतीयते ।

वह विजय की अत्यधिक इच्छा रखने वाला और बहुत अधिक शक्तिशाली था इस कारण स्त्रीसमुदाय को तृण के समान तुच्छ समझता था, यौवनावस्था में विद्यमान भी और सौन्दर्य-सम्पन्न होने पर भी उस (राजा शूद्रक) की, सन्तानेच्छुक मन्त्रियों द्वारा चाहे गये भी, सुरतसुख (स्त्रीसंभोग) पर मानो शत्रुता (घृणा) थी ।

विमर्श—कुछ सम्पादकों ने प्रस्तुत वाक्य की समाप्ति आगे के—"सत्यपि रूपविलासो-पहसितरतिविभ्रमे..........चावरोधजने" तक मिलाकर मानी है परन्तु यह तर्कसंगत नहीं है; क्योंकि आगे "स कदाचिदनवरत.... .... आदि की संगति उपपादित करने के लिए उक्त अंश को इसी के साथ जोड़कर पढ़ना चाहिए । अतः "तस्य .... द्वेष इवासीत् ।" यहाँ एक क्रियापद होने से वाक्य को समाप्त हुआ समझना चाहिए ।

---

१. अतिरूपवतोऽपि ।

सत्यपि रूपविलासोपहसित-रतिविभ्रमे लावण्यवति विनयवत्यन्वयवति[1] हृदयहारिणि चावरोधजने, स कदाचिदनवरतदोलायमान-रत्नवलयो घर्घरिकास्फालन-प्रकम्प-झणझणायमान-मणिकर्णपूरः स्वयमारब्धमृदङ्गवाद्यः सङ्गीतकप्रसङ्गेन, कदाचिदविरल-विमुक्त-शरासार-शून्यीकृतकाननो मृगयाव्यापारेण, कदाचिदाबद्धविदग्धमण्डलः काव्यप्रबन्धरच-

---

साम्प्रतं तस्य राज्ञोऽन्यकार्यव्यासक्ततया सुरतसुखनिवृत्तिं साधयितुमाह–सत्यपीति। रूपविलासोपहसितरतिविभ्रमे–रूपम् (=सौन्दर्यम्), विलासाः (=विलसनानि, हावभावादयः) तैः, उपहसिताः (=उपहासास्पदीकृताः) रतेः (कामदेवपत्न्याः) विभ्रमाः (=शृंगारचेष्टाः) येन स तस्मिन् । लावण्यवति=सौन्दर्यसम्पन्ने, विनयवति=अभ्युत्थानादिसंस्कारविशिष्टे, अन्वयवति=अन्वयः=सद्वंशस्तद्वति, उच्चकुलोत्पन्ने, हृदयहारिणि=हृदयाकर्षके, च, अवरोधजने=अन्तःपुर-स्त्रीसमुदाये, सत्यपि=विद्यमानेऽपि, एतेन सर्वविधलक्षणयुक्तत्वं सूचितम्–"स सुहृत्परिवृतो दिवसमनैषीत्"—इति मुख्यं वाक्यम्, "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इति सति सप्तमी बोध्या। सः कथं दिवसमनैषीदिति साधयितुमाह—स कदाचिदिति। अत्र प्रथमान्तानि पदानि राज्ञो विशेषणानि तृतीयान्तानि च पदानि दिवसनयनक्रियायां करणानीति बोध्यम्। सः = शूद्रकः, कदाचित् = कस्मिंश्चिदवसरे, अनवरतदोलायमान-वलयः = अनवरतम् (=सततम् , दोलायमाने (=दोलेवाचरन्ती, उभयतः स्पन्दमाने) वलये (=हस्तधृतकङ्कणे) यस्य स तादृशः, घर्घरिकास्फालन-प्रकम्प-झण-झणायमान-मणिकर्णपूरः=घर्घरिका (=तात्कालिक-वाद्य-विशेषः) तस्याः आस्फालनेन (=करद्वारा वादनेन) यः प्रकम्पः (=विधूननम्) तेन झणझणायमानौ (=झण-झण-इति ध्वनिं कुर्वन्तौ) मणिकर्णपूरौ (=मणिमयकर्णालङ्कारौ) यस्य स तादृशः, स्वयम्=आत्मना एव, आरब्धमृदङ्गवाद्यः =आरब्धम् (=प्रारब्धम्) मृदङ्गवाद्यम् (=मृण्मयवाद्य-विशेषवादनम् येन स तादृशः, सङ्गीतकप्रसङ्गेन=गीत-नृत्य-वाद्यत्रय-रूपसंगीतस्य प्रसङ्गः (= सम्बन्धः) तेन, "गीतं नृत्तं च वाद्यं च त्रयं संगीतमुच्यते" इति सङ्गीतरत्नाकरे। कदाचित्=कस्मिंश्चित्काले, अविरल-विमुक्त-शराऽऽसार-शून्यीकृत-काननः=अविरलम् (=निरन्तरम्) यथा स्यात्तथा विमुक्ताः (=प्रक्षिप्ताः) ये शराः (=बाणाः) तेषाम् आसारः (=धारासम्पातः) तेन शून्यीकृतम् (=हिंस्रपशुरिक्तीकृतम्) काननम् (=अरण्यम्) येन स तादृशः, मृगयाव्यापारेण=मृगयायाः (=आखेटस्य) व्यापारः (=क्रिया, व्यापृतिः) तेन, कदाचित्=जातुचित्, आबद्धविदग्ध-मण्डलः=आबद्धम् (=आरचितम्) विदग्धानाम् (=विदुषाम्) मण्डलम् (=समूहः) येन स तादृशः, काव्यप्रबंधरचनेन=काव्यानि (विशिष्टलक्षणलक्षितानि पद्यमयानि) प्रबन्धाः (=गद्य-

---

यद्यपि उसके रनिवास की रानियाँ सुन्दरता और हावभावादि में रति (=कामदेव की पत्नी) के विलासों का उपहास करने वाली, सुन्दर, विनयशील, कुलीन व चित्ताकर्षक थीं फिर भी—वह शूद्रक कभी निरन्तर हिलते हुए रत्न (—जटित) कंकणयुक्त, घर्घरिका (नामक वाद्यविशेष) को बजाने से होने वाले कम्पन से झनझन करने वाले मणिमय कर्णपूरों से युक्त होता हुआ अपने आप मृदङ्ग बजाना प्रारम्भ करता हुआ संगीत के प्रसंग (सम्बन्ध) से; कभी लगातार छोड़े गये वाणों की वर्षा से वन को (सभी जानवरों से) सूना करता हुआ शिकार खेलने से; कभी विद्वानों के समुदाय को एकत्रित करता हुआ काव्य और कथा आदि की रचना से;

---

१. अन्वयवत्यभिजनवति

नेन, कदाचिच्छास्त्रालापेन, कदाचिदाख्यानकाख्यायिकेतिहासपुराणाकर्णनेन, कदाचिदालेख्यविनोदेन, कदाचिद्वीणया, कदाचिद्दर्शनागत-मुनिजन-चरणशुश्रूषया, कदाचिदक्षरच्युतक-मात्राच्युतक-बिन्दुमती-गूढचतुर्थपाद-प्रहेलिका-प्रदानादिभिः, वनितासम्भोगसुख-पराङ्मुखः

रचनाः) च, तेषां रचनेन (=प्रणयेन), कदाचित्=जातुचित्, शास्त्रालापेन=शास्त्राणि (=न्यायमीमांसाव्याकरणादीनि) तेषामालापः (=संलापः) तेन, कदाचित्=कर्हिचित्, आख्यानकाख्यायिकेतिहासपुराणाकर्णनेन=आख्यानकम् (=स्फुटकथा) आख्यायिका (=गद्यविशेषः वासवदत्तादिः), इतिहासः (=महाभारतादीतिवृत्तग्रन्थः) पुराणानि (=पञ्चलक्षणात्मकं शिवपुराणादीनि) च, तेषाम् आकर्णनेन=श्रवणेन, कदाचित्=कस्मिंश्चित् काले, आलेख्यम् (=चित्रनिर्माणम्) तस्य विनोदः (=तज्जन्यानन्दः) तेन, कदाचित् वीणया=तन्त्र्या, तस्या वादनेन श्रवणेन चेति भावः, कदाचित् दर्शनागत-मुनिजन-चरण-शुश्रूषया=दर्शनाय (=अवलोकनार्थम्) आगताः (=समायाताः) ये मुनिजनाः (=ऋषिलोकाः) तेषां चरणानाम् (=पादानाम्) शुश्रूषया=सेवनया, कदाचित्=जातुचित्, अक्षरच्युतक-मात्राच्युतक-बिन्दुमती-गूढचतुर्थ-पादप्रहेलिका-प्रदानादिभिः=अक्षरस्य (=वर्णस्य) च्युतकम्(=राहित्यं) यस्मिन् तत्, यद्वा अक्षरः च्युतः (=रहितः) यस्मिन् तत्, ततः स्वार्थे कप्रत्ययः, तादृश काव्यम्, यथा—

"कुर्वन् दिवाकराश्लेषं दधच्चरणडम्बरम् ।
देव ! यौष्माकसेनायाः करेणुः प्रसरत्यसौ ॥"

अत्र करेणुपदस्य ककारच्युतौ रेणु-इत्यर्थप्रतीतिरिति भावः । मात्राच्युतकम्=मात्रायाः च्युतम्= (राहित्यम्) यस्मिन् तत्, तदेव इति स्वार्थे कप्रत्ययः । यथा—

"मूलस्थितमधः कुर्वन् पात्रैर्जुष्टो गताक्षरैः ।
विटः सेव्यः कुलीनस्य तिष्ठतः पथिकस्य सः ॥"

अत्र विट-इति पदे इकारमात्रायाश्च्युतौ 'वट' इति वृक्षविशेषस्य प्रतीतिः । बिन्दुमती=पद्येऽक्षराणां या संख्या वर्तते तावत्संख्याकबिन्दूनां निवेशेन तत्तद्वर्णोपलब्धिः, यथा—

ि०००००ा०ं ०िं ०िंोः ०००ीं०ः । ००००ि ००ा०००ी००ो०००ः ॥

अत्र बिन्दूनां स्थानेऽक्षराणां निवेशे इदं पद्यम्—

"त्रिनयनचूडारत्नं मित्रं सिन्धोः कुमुद्वतीबन्धुः ।
अयमुदयति घुसृणारुणरमणीवदनोपमश्चन्द्रः ॥"

गूढचतुर्थपादः—गूढः (=गुप्तः) चतुर्थः (=तुरीयः) पादः (चरणः) यस्मिन् सः । पूर्ववर्तिषु त्रिषु पादेष्वेव चतुर्थपादस्याक्षराः गूढरूपेण तिरोहिताः प्रतीयन्ते, स गूढचतुर्थपादः । उदाहरणं यथा—

कभी शास्त्रों की परिचर्चा से; कभी आख्यानक (=प्रसिद्ध कथानक) आख्यायिका (गद्य-काव्यविशेष) इतिहास (=महाभारतादि) और पुराणों को सुनने से; कभी चित्रनिर्माण के विनोद से; कभी वीणा (बजाने) से; कभी दर्शन करने के लिए आये हुए मुनिजनों के चरणों की सेवा से; कभी अक्षरच्युतक (=जिसमें कोई वर्ण छोड़ दिया गया है), मात्राच्युतक (=जिसमें कोई मात्रा छोड़ दी गयी है), बिन्दुमती (जिसमें वर्णों की संख्या और क्रम के अनुसार बिन्दुएँ लिखी गयीं हैं), गूढचतुर्थपाद (जिसमें तीन पदों में ही चौथा पाद—उसका अर्थ गुप्त है), और पहेली देना आदि से स्त्रीसम्भोग सुख से विमुख होता हुआ, मित्रों से घिरा

सुहृत्परिवृतो दिवसमनैषीत्[1]। यथैव च दिवसमेवमारब्ध-विविध-क्रीडा-परिहास-चतुरैः[2] सुहृद्भिरुपेतो निशामनैषीत्।

एकदा तु नातिदूरोदिते नव-नलिन-दलसम्पुट-भिदि किञ्चिन्मुक्त[3]-पाटलिम्नि

"न मज्जति क्वचिद्दोषे प्रीणाति जगतो मनः।
य एकः स परं श्रीमान् चिरं जयति सज्जनः॥"

अत्र चतुर्थपादार्थसूचकाः वर्णाः पादत्रये एव गूढाः। प्रहेलिकालक्षणम्—

"व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थम् स्वरूपार्थस्य गोपनात्।
यत्र बाह्यान्तरावर्थौ कथ्येते सा प्रहेलिका॥
सा द्विधार्थी च शाब्दी च विख्याता शब्दशासने।
आर्थी स्यादर्थविज्ञानाच्छाब्दी शब्दविभागतः॥

आर्थीप्रहेलिकोदाहरणम्—

'तरुण्यालिङ्गितः कण्ठे नितम्बस्थलमाश्रिता।
गुरूणां सन्निधाने च कः कूजति मुहुर्मुहुः॥'

अत्र सामान्यतया श्रवणे प्रसिद्धस्य वल्लभार्थस्य प्रतीतिः। किन्तु गुरूणाम्=विशालानां घटानाम्, सन्निधाने=सामीप्ये ऊर्ध्वप्रदेशे स्थिते सति, कूजति=शब्दायते—इति गूढार्थप्रतीत्या घटरूपोऽर्थं उत्तरं भवति। एतासां प्रदानादिभिः=उपस्थानादिभिः, हेतुभिः, वनितासम्भोग-सुख-पराङ्मुखः=वनितानाम् (=रमणीनाम्) यः सम्भोगः (=रमणादिकम्) तस्य तेन वा यत् सुखम् (=आनन्दः), तस्मात् पराङ्मुखः (=विमुखः), सुहृत्परिवृतः=सुहृद्भिः (=मित्रैः) परिवृतः=परिवेष्टितः, सन्, दिवसम्=दिनम्, अनैषीत्=निनाय, अयापयत्। यथैव च=येन प्रकारेण च, दिवसम्=दिनम् अनैषीत्, एवम्=तेनैव प्रकारेण, आरब्धविविध-क्रीडा-परिहास-चतुरैः =आरब्धाः (=प्रारब्धाः) ये विविधक्रीडासु=नानाखेलनकेषु, परिहासाः (=उपहासाः) तेषु चतुराः (=दक्षाः) ये तैः, सुहृद्भिः=मित्रैः, उपेतः=संयुतः, सन्, निशाम्=रात्रिम्, अपि, अनैषीत्=प्रापितवान्। एवञ्च रात्रिन्दिवं मित्रैः सह रममाणस्य तस्य स्त्रीसम्पर्कस्य न कालो न वा तत्र प्रवृत्तिरिति तस्य सम्भोगसुखस्योपरि द्वेष इवासीदिति कथनं समीचीनमेव।

साम्प्रतं कथानकं प्रस्तोतुमुपक्रमते—एकदेति। एकदा=एकस्मिन् समये, प्रतीहारी=द्वार-देशे नियुक्ता परिचारिका, समुपसृत्य=राज्ञः समीपमागत्य, राजानम्=नृपम्, शूद्रकमित्यर्थः, सविनयम्=विनयपूर्वकम्, अवोचत्=अकथयदिति मुख्यं वाक्यम्। अत्र प्रथमान्तानि पदानि प्रतीहार्याः विशेषणानीति बोध्यम्। सूर्यवर्णनाव्याजेन उक्त्यवसरमाह—नातिदूरेति। नवनलिन-

हुआ दिन बिताता था। दिन के समान रात भी, आरम्भ की गयी विविध क्रीडाओं में परिहास करने में दक्ष मित्रों से घिरा हुआ होकर, बिताया करता था। (रानियों से सम्पर्क नहीं रखता था) और जिस प्रकार दिन बिताता था उसी प्रकार विभिन्न प्रकार के खेलों और उपहासों को आरंभ करने में चतुर मित्रों के साथ रात भी बिताता था। [अक्षरच्युतक आदि की विशेष व्याख्या और उदाहरण संस्कृत-व्याख्या में देखें।]

एक बार जब नवीन कमलदलों के संपुट को विकसित करने वाले, कुछ कुछ लालिमा को

१. अनयत्। २. चतुरः। ३. उन्मुक्त।

भगवति सहस्रमरीचिमालिनि, राजानमास्थानमण्डपगतमङ्गनाजनविरुद्धेन वामपार्श्वावलम्बिना कौक्षेयकेण सन्निहितविषधरेव चन्दनलता भीषणरमणीयाकृतिः, अविरलचन्दनानुलेपनधवलित-स्तनतटा[1] उन्मज्जदैरावतकुम्भमण्डलेव मन्दाकिनी चूडामणिसंक्रान्तप्रतिबिम्बच्छलेन[2] राजाज्ञेव मूर्तिमती राजभिः शिरोभिरुह्यमाना, शरदिव कलहंसधवलाम्बरा, जाम-

दलसम्पुट-भिदि=नवानि (=नवीनानि) यानि नलिनानि (=कमलानि) तेषां दलानि (=पर्णानि) तेषां सम्पुटः (=मुकुलीभावः) तं भिनत्ति (=उद्घाटयति) इति स तस्मिन् तथोक्ते। किञ्चिन्मुक्तपाटलिम्नि-किञ्चिद् (=ईषत्) मुक्तः (=परित्यक्तः) पाटलिमा (=श्वेतरक्तभावः) येन स तस्मिन् तथोक्ते। भगवति=ऐश्वर्यवति, देवे इत्यर्थः, सहस्रमरीचिमालिनि=सहस्रम् (=सहस्रसंख्याकाः) ये मरीचयः (=किरणाः) तैः मालते (=शोभते) तान् धारयतीति वा यस्तस्मिन् तथोक्ते, भगवति भास्करे वेत्यर्थः। नातिदूरोदिते=नातिदूरम् (=अचिरकालम्) उदितम् (=उद्गमनम्) यस्य स तस्मिन् तथोक्ते, सति, अत्र सति सप्तमी "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इति सूत्रात्। अङ्गनाजनविरुद्धेन—अङ्गनाजनः (=स्त्रीलोकः) तस्य विरुद्धेन (=प्रतिकूलेन) संग्रामादौ गमनायोग्यतया तस्य ग्रहणस्यानौचित्येनेति भावः। वामपार्श्वावलम्बिना-वामपार्श्वे (=सव्येतरभागे) अवलम्बते (=अवतिष्ठते) इत्येवंशीलेन, कौक्षेयकेण=खड्गेन "तरवारिर्मण्डलाग्रः खड्गकौक्षेयकोऽसिः" इति कोशात्। सन्निहितविषधरा=सन्निहिताः (=समीपवर्त्तिनः) विषधराः (=सर्पाः) यस्याः सा तादृशी, चन्दनलता=श्रीखण्डवल्ली, इव=यथा, भीषणरमणीयाकृतिः=भीषणा (=भयानका) रमणीया (=मनोहरा) च आकृतिः (=आकारः, स्वरूपं) यस्याः सा तथोक्ता। स्वभावतः रमणीयाऽपि चन्दनलता यथा सर्पसंसर्गाद् भीषणा दृश्यते तथैव प्रतिहारी अपि स्वभावतः मनोहरापि खड्गधारणेन भीषणा प्रतीयते इति भावः। अविरल-मलयजानुलेपन-धवलितस्तनतटा=अविरलम् (=घनम्), यत् मलयजस्य (=चन्दनस्य) अनुलेपनम् (=उद्वर्तनम्) तेन, धवलितम् (=शुभ्रीकृतम्) स्तनतटम् (=कुचाग्रभागः) यस्याः सा तथोक्ता। उन्मज्जदैरावतकुम्भमण्डला—उन्मज्जन् (=स्नानं कुर्वन्) यः ऐरावतः (=इन्द्रस्य हस्तिविशेषः) तस्य कुम्भमण्डलम् (=शिरःपिण्डचक्रवालम्) यस्यां सा तथोक्ता, मन्दाकिनी=वियदगङ्गा, इव। यथा स्वर्गङ्गायाम् ऐरावतस्य स्नानकाले तस्य शिरःपिण्डानां शोभा भवति तथैव तस्याः प्रतीहार्यास्तनतटैः शोभा भवति। एवञ्चोपमालंकारः। चूडामणिषु (=राजमस्तकस्थितमुकुटमणिषु) प्रतिबिम्बितः (=संक्रान्तः) यः प्रतिबिम्बः (=प्रतिच्छाया) तस्य छलेन (=व्याजेन), राजभिः=नृपैः, शिरोभिः=मस्तकैः, उह्यमाना=धार्यमाणा, मूर्तिमती=शरीरिणी, राजाज्ञा=शूद्रकस्या-

छोड़ने वाले (फैलाने वाले) भगवान् सहस्रमाली=सूर्य आकाश में कुछ ही दूर तक उदित हुए थे, (तभी) सभागृह में विद्यमान राजा शूद्रक के पास पहुँच कर प्रतीहारी—जो स्त्रियों के (आचरण) के विरुद्ध बायीं ओर लटकने वाली तलवार के कारण सर्पयुक्त चन्दनलता के समान भीषण और मनोहर आकारवाली थी, घने चन्दन के लेप के कारण सफेद स्तनतट वाली थी, अतः पानी में डूबे हुए ऐरावत हाथी के (ऊपर निकले) कुम्भमण्डलों से युक्त आकाशगंगा के समान थी, (राजाओं के) मुकुटों की मणियों में पड़ी हुई परछाईं के बहाने से मानों राजाओं द्वारा सिरों से स्वीकार की जाती हुई शरीरधारिणी राजाज्ञा थी, (उड़ते हुए) हंसों से युक्त आकाश वाली अथवा कलहंसरूपी श्वेत वस्त्रोंवाली शरद् ऋतु के समान हंसों के तुल्य उज्ज्वल वस्त्रों वाली

१. मलयजानुलेपन। २. चूडाप्रतिबिम्ब।

दग्न्यपरशुधारेव वशीकृतसकलराजमण्डला, विन्ध्यवनभूमिरिव वेत्रलतावती, राज्याधिदेवतेव विग्रहिणी, प्रतीहारी समुपसृत्य[1] क्षितितल-निहित-जानु-करकमला[2] सविनयमब्रवीत्—

"देव ! द्वारस्थिता[3] सुरलोकमारोहतस्त्रिशङ्कोरिव कुपितशतमखहुङ्कार-निपातिता[4] राजलक्ष्मीर्दक्षिणापथादागता चाण्डाल-कन्यका पञ्जरस्थं शुकमादाय देवं विज्ञापयति-

देशः, इव । शरद् इव=विगतवर्षासमय इव, ऋतुविशेष इव, कलहंसधवला=कलहंसाः (=कादम्बाः) इव धवलम् (=शुभ्रम्) अम्बरम् (=वस्त्रम्) यस्याः सा, पक्षे कलहंसा एव धवलम् अम्बरं यस्याः सा तादृशी । जामदग्न्यपरशुधारा इव=जामदग्न्यस्य (=जमदग्निपुत्रपरशुरामस्य) यः परशुः (=कुठारः) तस्य धारा (=प्रान्तप्रदेशः) इव, वशीकृत-राजमण्डला=वशीकृतम् (=अधीनीकृतम्) राजमण्डलम् (=राजसमूहः) यया सा तादृशी, पक्षे—वशीकृतम्—दर्शनेनाकृष्टं राजमण्डलम्=शूद्रकसमीपवर्तिराजसमूहः यया सा तथोक्ता । विन्ध्यवनभूमिः इव=विन्ध्यम्=विन्ध्याचलम्, तस्य वनम्=काननम्, तस्य भूमिः=पृथिवी, इव, वेत्रलतावती=वेत्राणाम्=वेतसानाम्, लताः=लतातुल्यवक्रवृक्षाः, यस्याः सा, पक्षे वेत्रलता=वेत्रयष्टिः (हस्ते) यस्याः सा तादृशी । राज्याधिदेवता इव= राज्यस्य (=आधिपत्यस्य) अधिदेवता (=अधिष्ठात्री देवी) इव, विग्रहिणी=शरीरधारिणी, प्रतीहारीमेव पुनर्विशिनष्टि—क्षितितलनिहितजानुकरकमला=क्षितितले (=भूतले) निहितौ (=धृतौ) जानू (=उरू) करौ एव कमले (=पद्मे) यया सा तादृशी सती "जानूरुपर्वाष्ठीवदस्त्रियाम्" (अमरः २।६।७२) इत्युभयलिङ्गो जानुशब्दः । प्रतीहारी सविनयमब्रवीदिति सम्बन्धस्तु पूर्वमेवोक्तः ।

सा प्रतीहारी किमब्रवीदिति निर्दिशति—देवेति । देव ! =स्वामिन् !, द्वारस्थिता=द्वारे विद्यमाना, सुरलोकम्=देवलोकम्, आरोहतः=आरोहणं विदधतः, त्रिशङ्कोः=सूर्यवंशीयनृपविशेषस्य, कुपितशतमखहुंकारनिपतिता='अयाज्यस्य देवयागात् स्वर्गे वासो न भवती'त्यतः कुपितः (=क्रुद्धः) यः शतमखः (इन्द्रः) तस्य हुङ्कारः (=क्रोधाभिव्यञ्जकशब्दः) तेन निपातिता (=अधोदेशं प्रक्षिप्ता) राजलक्ष्मीः=नृपश्रीः, इव, दक्षिणपथात्=दक्षिणमार्गात्, दक्षिणप्रदेशादिति भावः, आगता=समायाता, चाण्डालकन्यका=मातङ्गात्मजा, पञ्जरस्थम्=अयोनिर्मितपिञ्जरस्थितम्, शुकम्=कीरम्, आदाय=नीत्वा, गृहीत्वा वा, देवम्=श्रीमन्तम्, शूद्रकमित्यर्थः, विज्ञापयति=

थी, जमदग्निपुत्र परशुराम के फरसे की धार के समान सभी राजसमूह को वश में (अधीन, पक्षे में—आकृष्ट) करने वाली थी, विन्ध्याचल की भूमि के समान बेंत की छड़ी से युक्त थी, (विन्ध्यभूमि बेंत की लताओं से युक्त होती है ।) शरीरधारिणी राज्य की अधिदेवी के समान थी—(उस प्रतीहारी) ने (पास जाकर) अपने घुटनों और कमलरूपी दोनों हाथों को पृथ्वीतल पर रख कर (विनयपूर्वक राजा शूद्रक से) कहा—

"महाराज ! स्वर्गलोक में आरोहण करने वाले त्रिशङ्कु की, इन्द्र के हुंकार से गिराई गई राजलक्ष्मी के समान, दक्षिणदिशा से आयी हुई, पिंजरे में स्थित तोते को लेकर दरवाजे पर खड़ी हुई चाण्डालकन्या श्रीमान् जी से निवेदन कर रही है—"समस्त लोकों के सभी

१. समुपासृत्य । २. कमलम् । ३. द्वारि स्थिता । ४. निपतिता ।

"सकलभुवनतलसर्वरत्नानाम् उदधिरिवैकभाजनं देवः, विहङ्गमश्चायमाश्चर्यभूतो निखिलभुवनतलरत्नमिति कृत्वा देवपादमूलमेनमादायागताऽहमिच्छामि देवदर्शनसुखमनुभवितुम् इति, एतदाकर्ण्य देवः प्रमाणमि'त्युक्त्वा विरराम।

उपजातकुतूहलस्तु राजा समीपवर्त्तिनां राज्ञामवलोक्य मुखानि 'को दोषः, प्रवेश्यताम्' इत्यादिदेश।

निवेदयति। साम्प्रतं चाण्डालकन्यकायाः विज्ञापनां प्रस्तौति—सकलेति। "सकलभुवनतल-सर्वरत्नानाम्=सकलभुवनतलेषु (=निखिललोकतलेषु) यानि सर्वाणि रत्नानि (उदधिपक्षे-चतुर्दशरत्नानि, शूद्रकपक्षे-बहुमूल्यमण्यादीनि) तेषाम्, उदधिः, इव=समुद्रः इव, देवः=स्वामी एकभाजनम्=एकमात्राश्रयः, यथा उदधौ सर्वरत्नानि सन्ति तथैव श्रीमतां समीपे सर्वाणि श्रेष्ठवस्तूनि सन्तीति भावः, अयम्=पञ्जरस्थोऽसौ, विहङ्गमः=शुकः पक्षी, आश्चर्यभूतः=अद्भुतस्वरूपः, निखिलभुवनतलरत्नम्=सकललोकतलश्रेष्ठवस्तु, इति कृत्वा=एवं विचिन्त्य, एनम्=अमुम्, शुकमित्यर्थः, आदाय=गृहीत्वा, देवपादमूलम्=देवस्य (=राज्ञो शूद्रकस्य) पादयोः (चरणयोः) मूलम् (=समीपमित्यर्थः) आगता=समायाता, अहम्=चाण्डालकन्या, देवदर्शनसुखम्=महाराजावलोकनानन्दम्, अनुभवितुम्=साक्षात्कर्तुम्, इच्छामि=अभिलषामि।" एतत्=चाण्डालकन्यकावचनम्, आकर्ण्य=श्रुत्वा, देवः=महाराजः, प्रमाणम्=कार्याकार्यनिर्णये हेतुः, इति=इत्थम्, उक्त्वा=कथयित्वा, विरराम=व्यरमत्, मौनमवलम्बितवतीत्यर्थः।

प्रतीहारीवाक्यं श्रुत्वा राज्ञः प्रतिक्रियां निरूपयति—उपजातेति। उपजातकुतूहलः=उपजातम् (=समुत्पन्नम्) कुतूहलम् (=कौतुकम्) यस्य सः, तादृशः, राजा=नृपः शूद्रकः, समीपवर्तिनाम्=पार्श्वस्थितानाम्, राज्ञाम्=नृपाणाम्, मुखानि=आननानि, अवलोक्य=निरीक्ष्य, 'को दोषः?=किं दूषणम्, न कोऽपि दोष इति भावः, अतः, प्रवेश्यताम्=तत्रानीयताम्, इति=एवम्, आदिदेश=आज्ञापयत्। चाण्डालत्वेन तस्याः प्रवेशायोग्यत्वेऽपि राज्ञां मुखेषु तद्दर्शनौत्सुक्यमवलोक्य राजा तां प्रवेशयितुमाज्ञापयामासेति भावः।

रत्नों के समुद्र के समान एकमात्र आश्रय आप हैं अर्थात् जैसे समुद्र में सभी रत्न हैं वैसे आपके पास भी सभी रत्न हैं। और यह शुक पक्षी अत्याश्चर्यजनक तथा समस्तलोक की श्रेष्ठ वस्तु है, यह सोच कर इस पक्षी को लेकर श्रीमान् के चरणों में उपस्थित मैं महाराज के दर्शनसुख का अनुभव करना चाहती हूँ।" यह सुनकर "महाराज की जो आज्ञा" ऐसा कह कर (वह प्रतीहारी) चुप हो गयी।

[प्राचीन काल में त्रिशंकु नामक राजा ने यज्ञ करके इसी शरीर से स्वर्ग जाने की प्रार्थना वसिष्ठ जी से की थी किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दी। इसके बाद त्रिशंकु इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए वसिष्ठ के पुत्रों के पास पहुँचा। किन्तु उन्होंने सारी स्थिति जानकर क्रुद्ध होकर शाप दे दिया कि 'तुम चाण्डाल हो जाओ।' तब वह विश्वामित्र के पास पहुँचा। विश्वामित्र ने यज्ञ करा कर उसे सशरीर स्वर्ग चढ़ने का आदेश दिया। परन्तु उस समय इन्द्र ने उसे हुंकार से नीचे गिरा दिया। इसी कथा का यहाँ संकेत है।]

उत्पन्न उत्सुकता वाले (=उत्सुक) राजा ने अपने समीप विराजमान राजाओं के मुखों को देख कर "(चाण्डाल होने पर भी उसके प्रवेश में) क्या दोष है? अर्थात् कोई नहीं, अतः उसे प्रविष्ट कराया जाय।" यह आज्ञा दी।

अथ प्रतिहारी नरपतिकथनानन्तरमुत्थाय तां मातङ्गकुमारीं प्रावेशयत् । प्रविश्य च सा नरपतिसहस्र-मध्यवर्त्तिनमशनिभय-पुञ्जितकुलशैलमध्यगतमिव कनकशिखरिणम्, अनेकरत्नाभरण-किरण-जालकान्तरितावयवमिन्द्रायुध-सहस्र-सञ्छादिताष्टदिग्विभागमिव जलधरदिवसम्, अवलम्बितस्थूलमुक्ताकलापस्य कनकशृङ्खला-नियमितमणिदण्डिका-

---

अथेति । अथ नरपतिकथनानन्तरम्=नृपतेः शूद्रकस्यादेशश्रवणानन्तरम्, अथ शब्दो वाक्यालंकारे, अनन्तरशब्देनैव गतार्थत्वादिति बोध्यम्, उत्थाय=भूमितलादुत्थानं विधाय, प्रतीहारी=द्वारपालिका, ताम्=पूर्वोक्ताम्, मातङ्गकुमारीम्=चाण्डालकन्यकाम्, प्रावेशयत्=प्रवेशमकारयत् ।

प्रविश्य चेति । प्रविश्य च सा चाण्डालकन्यका राजानमद्राक्षीत्=अपश्यत इति दूरस्थया क्रियया सम्बन्धो बोध्यः । अत्र द्वितीयान्तानि पदानि 'राजानम्' इत्यस्य विशेषणानि । [यत्तु—'द्वितीयान्तानि पदानि क्रियाविशेषणानीति', तन्न प्रातिपदिकार्थस्य विशेष्यतया विद्यमानत्वात्, क्रियायामन्वयस्यानौचित्याच्च । अत एव 'राजानं विशेषयती'ति प्रमुखाः व्याख्यातारः प्राहुः ।] अशनिभयपुञ्जित-कुलशैलमध्यगतम्=अशनेः (=इन्द्रवज्राद्) यद् भयम् (=भीतिः पक्षच्छेदनरूपेति भावः) तेन पुञ्जिताः (=एकत्रिताः) ये कुलशैलाः (=महेन्द्रादयः कुलपर्वताः) तेषां मध्यगतम् (=अन्तर्विद्यमानम्), कनकशिखरिणम्=सुमेरुपर्वतम्, इव, नरपति-सहस्रमध्यवर्त्तिनम्=नरपतीनाम् (=राज्ञाम्) यद् सहस्रम् (=सहस्रसंख्या) तस्य मध्यवर्तिनम् (=अन्तर्विराजमानम्) । अत्रोपमालंकारः ।

[पुरा पर्वतानां पक्षाः आसन् । तैरुड्डीय ते सर्वान् लोकान् पीडयामासुः । तत इन्द्रो वज्रेण तेषां पक्षच्छेदनं व्यदधात् । तेन त्रस्ताः सर्वे पर्वता एकत्रिता भूत्वा सुमेरुणा सह मन्त्रितवन्तः । तथैवात्र शूद्रकस्य पार्श्वे सर्वे राजानः व्यराजन्त इति भावः ।]

पुनरपि राजानं विशिनष्टि—अनेकेति । अनेक-रत्नाभरण-किरणजालकान्तरितावयवम्=अनेकानि (=बहुविधानि), यानि रत्नाभरणानि (=मणिमयाभूषणानि), तेषां यानि किरणजालकानि (=रश्मिसमूहाः), तैः अन्तरिताः (=आवृताः) अवयवाः (=अङ्गानि) यस्य स तं तादृशम्, अत एव इन्द्रायुधसहस्र-सञ्छादिताष्ट-दिग्विभागम्=इन्द्रायुधानाम् (=इन्द्रचापानाम्) यत् सहस्रम् (=सहस्रसंख्या) तेन सञ्छादिताः (=अन्तरिताः) अष्टौ दिग्विभागाः (=अष्टसंख्याकाः दिशाप्रदेशाः) यस्मिन् तम्, जलधर-दिवसम् इव=वर्षाकालिकदिनम् इव । अत्राप्युपमा ।

राजानं पुनर्विशेषयितुं तस्य वितानं विशिनष्टि—अवलम्बितेति । अवलम्बितस्थूलमुक्ताकलापस्य=अवलम्बिताः (=समाश्रिताः) स्थूलाः (=स्थविष्ठाः) मुक्ताकलापाः (=मणिसमूहाः) यस्मिन् स तस्य, अतः षष्ठ्यन्तानि पदानि 'दुकूलवितानस्य' विशेषणानि ।

तब राजा के कहने (आज्ञा देने) के बाद प्रतीहारी ने उस चाण्डाल कन्या का प्रवेश कराया । और प्रवेश करके उस (चाण्डालकन्या) ने राजा शूद्रक को देखा—जो हजारों राजाओं के बीच में उसी प्रकार स्थित था जिस प्रकार (इन्द्र के) वज्र (-प्रहार) के भय से एकत्रित (महेन्द्रादि आठ) कुलपर्वतों के बीच में सुमेरु पर्वत हो, जो अनेक रत्नजटित आभूषणों की किरणों के समुदाय से आवृत अवयवों वाला वैसा ही था जैसा हजारों इन्द्रधनुषों से आच्छादित आठों दिशाओं वाला वर्षा (या मेघों) का दिन हो, वह रेशमी चन्दोवा के नीचे चन्द्रकान्तमणियों की चौकी (पलंग) पर बैठा था जिस (चन्दोवा) में बड़े-बड़े मोतियों का समूह लटकाया गया था, जिस (चन्दोवा) के मणिजटित चार डंडे सोने की जंजीरों से बांधे गये थे, जो

चतुष्टयस्य गगन-सिन्धु-फेन-पटल-पाण्डुरस्य नातिमहतो दुकूलवितानस्याधस्तादिन्दुकान्त-मणिपर्य्यङ्किकानिषण्णम्, उद्धूयमानसुवर्णदण्डचामरकलापम्, उन्मयूखमुखकान्तिविजयपराभवप्रणते शशिनीव स्फटिकपादपीठे विन्यस्तवामपादम्, इन्द्रनीलमणिकुट्टिमप्रभासम्पर्कश्यायमानैः प्रणत-रिपु-निःश्वासमलिनीकृतैरिव चरण-नखमयूखजालैरुपशोभमानम्, आसनो-

---

कनकशृङ्खला-नियमितमणिदण्डिकाचतुष्टयस्य=कनकम् (=स्वर्णम्) तस्य याः शृंखलाः (=बन्धनरज्जवः) ताभिः संयमिताः (=कोणेषु बद्धाः) मणिदण्डिकाः (=रत्नजटितयष्टयः) तासां चतुष्टयं यस्मिन् तस्य। गगन-सिन्धु-फेन-पटल-पाण्डुरस्य=गगनसिन्धोः (=मन्दाकिन्याः) यत् फेनपटलम् (=फेनसमूहः) तदिव पाण्डुरम् (=शुभ्रम्) तस्य, तादृशस्य, नातिमहतः=नातिविशालस्य, दुकूलवितानस्य (=क्षौमवसननिर्मितोल्लोचस्य ["अस्त्री वितानमुल्लोचो दूष्याद्यं वस्त्रवेश्मनि।" (अमरः २।६।१२०) "क्षौमं दुकूलं स्यात् (अमरः २।६।११३)] अधस्तात्=अधोदेशे, इन्दुकान्तमणि-पर्यङ्किकानिषण्णम्=इन्दुकान्तमणीनाम् (=चन्द्रकान्तमणीनाम्) या पर्यङ्किकाः (=तल्पम्, शय्या) तत्र निषण्णम् (=आसीनम्)। लुप्तोपमालंकारः।

पुनरपि राजानं विशिनष्टि—उद्धूयेति। उद्धूयमान—कनकदण्डचामर-कलापम्=उद्धूयमानः (=भृत्यैः संवीज्यमानः) कनकदण्डः (=सुवर्णमयावलम्बनदण्डः) येषु तथाविधः चामरकलापः (=प्रकीर्णक समुदायः) यस्य तं तथोक्तम्। [चामरं तु प्रकीर्णकम्।" अमरः २।८।३१]

उन्मयूखेति। उन्मयूखकान्तिविजय-पराभव-प्रणते—उत् (=ऊर्ध्वम्) मयूखाः (=किरणाः) यस्य तथाविधस्य मुखस्य (=आननस्य) यः कान्तिनिचयः (=प्रभासमूहः) तेन विजयः (=विशिष्टो जयः) तेन यः पराभवः (=पराजयः) तेन हेतुना प्रणते (=चरणतलसंलग्ने) शशिनि इव=चन्द्रे इव, स्फटिकपादपीठे=स्वच्छमणिमयचरणस्थापनस्थले, विन्यस्तवामपादम्=विन्यस्तः (=निहितः), वामपादः (=सव्यचरणः) येन तं तथोक्तम्।

साम्प्रतं राज्ञश्चरणनखमयूखान् विशिनष्टि—इन्द्रनीलेति। इन्द्रनीलमणि-कुट्टिम-प्रभा-सम्पर्कश्यामायमानैः=इन्द्रनीलमणीनाम् (=मरकतमणीनाम्) यत् कुट्टिमम् (=निबद्धवेदिकाभूमिः) तस्य या प्रभा (=कान्तिः) तस्याः सम्पर्केण (=सम्मिश्रणेन) श्यामायमानैः=श्यामवदाचरद्भिः, (श्याम इवाचरन्तीत्यर्थे क्यङि प्रत्यये आत्मनेपदे शानचि रूपम्) प्रणतरिपु-निःश्वास-मलिनीकृतैः=प्रणताः (=पराजयेन वशीकृता अत एव विनताः) ये रिपवः (=शत्रवः) तेषां ये निःश्वासाः (=शोकोद्गाराः, ऊर्ध्वनिःश्वासाः) तैः मलिनीकृतानि (=मालिन्यं प्रापितानि) तैः इव [अत्रोत्प्रेक्षा], चरण-नख-मयूखजालैः=चरणयोः (=पादयोः) ये नखाः (=पुनर्भवाः) तेषां ये मयूखाः (=किरणाः) तेषां यानि जालानि (=समूहाः) तैः, उपशोभमानम्=अलंकृतम्, विराजमानमित्यर्थः, इदं राज्ञो विशेषणम्।

इदानीं राज्ञ ऊरुद्वयं विशिनष्टि—आसनेति। आसनोल्लसित-पद्मराग-किरण-पाटलीकृतेन=आसने (=उपवेशनस्थले) उल्लसिताः (=प्रकाशमानाः) ये पद्मरागाः (=लोहितमणयः)

आकाश गंगा के फेन के समूह के समान श्वेत था, जो (चन्दोवा) बहुत बड़ा नहीं था, जिस (राजा) पर सोने के डंडे वाले चंवर-समूह डुलाये जा रहे थे, जो ऊर्ध्वगामी किरणों वाले मुख की कान्ति की विजय के कारण (होने वाली) पराजय से नीचे झुके हुए चन्द्रमा के समान (शुभ्र) स्फटिकमणि के पादपीठ (=पायदान) पर बांया पैर रखे हुए था, जो (राजा) इन्द्रनीलमणियों की फर्श की प्रभा (चमक) के सम्पर्क से श्यामवर्ण से होने वाले, (सामने) झुके हुए शत्रुओं के निःश्वास से मलिन किये गये चरणों के नाखूनों के किरणसमूह से सुशोभित हो रहा था, जो

ल्लसितपद्मराग-किरण-पाटलीकृतेनाचिरमृदितमधु-कैटभ-रुधिरारुणेन हरिमिवोरुयुगलेन विराजमानम्, अमृतफेन-धवले गोरोचना-लिखित-हंस-मिथुन-सनाथ-पर्य्यन्ते चारुचामर-वायुप्रनर्त्तितान्तदेशे, दुकूले वसानम्, अतिसुरभि-चन्दनानुलेपन-धवलितोरःस्थलम्, उपरि-विन्यस्त-कुङ्कुमस्थासकम्, अन्तरान्तरानिपतितबालातपच्छेदमिव कैलासशिखरिणम्,

तेषां ये किरणाः (=रश्मयः) तैः पाटलीकृतेन (=श्वेतरीक्तकृतेन) ("श्वेतरक्तस्तु पाटलः।" इत्यमरः), अत एव अचिरमृदित-मधुकैटभ-रुधिरारुणेन=अचिरम् (=सद्य एव) मृदितौ (=हतौ) यौ मधुकैटभौ (=एतन्नामक-राक्षसविशेषौ) तयोः यद् रुधिरम् (=रक्तम्) तेन अरुणम् (=रक्तवर्णम्) तेन, ऊरुयुगलेन=जङ्घाद्वयेन, विराजमानम्=शोभमानम्, हरिम् इव=मधुरिपुं विष्णुम् इव, इदं राज्ञो विशेषणम्। अत्रोपमा।

[पुरा क्षीरशायिनो विष्णोः कर्णमलोत्पन्नौ मधुकैटभाख्यौ राक्षसौ विष्णुनाभिसमुद्भूतं ब्रह्माण-मेव हन्तुं समुद्यतावभूताम्। तत आत्मरक्षार्थं ब्रह्मा जगद्धात्रीमस्तौत्। तदा तुष्टा सा उत्थाय नारायणमपि उत्थापयामास। वरप्राप्तयोः तयोर्वधमनवलोक्य नारायणः स्वोर्वोः संस्थाप्य तयोः राक्ष-सयोः मूर्धानमच्छिनत्। तेन तस्योरू रक्तलिप्तौ जातावित्यादिकथा मार्कण्डेयपुराणस्य अतिप्रसिद्धा।]

साम्प्रतं राज्ञा धृतं पट्टवसनद्वयं विशिनष्टि—अमृतफेनेति। अमृतफेनधवले=अमृतस्य (=पीयूषस्य) यः फेनः (डिण्डीरः) तद्वत् धवले (=श्वेतवर्णे), गोरोचनालिखितहंस-मिथुन-सनाथपर्यन्ते=गोरोचना (=गोपित्तनामकपदार्थविशेषः) तया लिखितानि (=रचितानि) यानि हंसमिथुनानि (=हंसयुगलानि) तैः सनाथाः (=सहिताः) पर्यन्ताः (=प्रान्तभागाः) ययोस्ते तादृशे। चारुचमरवायुप्रनर्तितान्तदेशे=चारुः (=मनोहरः सुखकरः) यः चामरवायुः (=प्रकीर्ण-कोत्पन्नपवनः) तेन प्रनर्तिताः (=सञ्चालिताः, कम्पनाः वा) अन्तदेशाः (=प्रान्तभागाः) ययोस्ते तादृशे, दुकूले=पट्टवसने, वसानम्=दधानम्, इदं राज्ञो विशेषणम्। 'फेनधवले' 'फेनवत् धवले' इत्यर्थतयात्र लुप्तोपमा बोध्या। पुना राजानं विशिनष्टि—अतिसुरभीति। अतिसुरभिचन्दनानुलेपन-धवलितोरस्स्थलम्=अतिसुरभि (=अतिसुगन्धमयं) यच्चन्दनम् (=मलयजम्) तस्य अनुलेपनेन (=अङ्गरागेण) धवलितम् (=शुभ्रीकृतम्) उरःस्थलम् (=वक्षस्स्थलम्) यस्य स तं तादृशम्। उपरिविन्यस्तस्थासकम्=उपरि (=वक्षस उपरि) विन्यस्ताः (=विहिताः) कुङ्कुमस्य (=केशरस्य) स्थासकाः (=हस्तबिम्बाः) यस्य स तं तादृशम्। अन्तरान्तरानिपतितबालातपच्छेदम्=अन्तरा अन्तरा (=मध्ये मध्ये) निपतिताः (=पर्यस्ताः, विकीर्णाः) बालातपस्य (=नवोदित-दिनकरप्रकाशस्य) छेदाः (=खण्डाः) यस्मिन् स एतादृशम्, कैलासशिखरिणम् (=हिमालयम्, कैलास-पर्वतम्) इव, शोभमानम्। वक्षःस्थले स्थासकाः सूर्यप्रकाशखण्डा इव, वक्षःस्थलं च कैलासपर्वत इवेत्युपमा।

(बैठने के) आसन में चमकती हुई पद्मराग मणियों की किरणों से लाल-लाल किये गये (अत एव) तत्काल मर्दित (=काटे गये) मधु और कैटभ नामक असुरों के रक्त से लाल (किये गये) जंघाद्वय से युक्त विष्णु के समान था, जो अमृत के फेना के समान सफेद, गोरोचना से बनाये गये हंसों के जोड़ों से युक्त किनारे वाले, सुन्दर चंवर की हवा से हिलते हुए छोर वाले दो रेशमी वस्त्र धारण किये हुए था, जिसका वक्षः स्थल अति सुगन्धित चन्दन के लेपन से धवलवर्ण का हो गया था, जो (वक्षःस्थल के) ऊपर लगाये गये कुंकुम के स्थासक (हाथ के निशान) वाला था जिसके कारण बीच-बीच में पड़ते हुए प्रातः कालीन सूर्य के प्रकाशखण्ड वाले कैलास पर्वत के समान (प्रतीत हो रहा) था, जिसके मुख को दूसरे चन्द्रमा के भ्रम से नक्षत्रमाला के समान मोतियों

अपर-शशि-शङ्कयानक्षत्रमालयेव हारलतया कृतमुखपरिवेषम्, अतिचपल-राज-लक्ष्मीबन्धनि-गडकटक-शङ्कामुपजनयतेन्द्रमणिकेयूरयुग्मेन मलयज-रस-गन्धलुब्धेन भुजङ्गद्वयेनेव वेष्टित-बाहुयुगलम्, ईषदालम्बि-कर्णोत्पलम्, उन्नत-घोणम्, उत्फुल्लपुण्डरीक-नेत्रम्, अमलकलधौत-पट्टायतम्, अष्टमीचन्द्र-शकलाकारम्, अशेष-भुवन-राज्याभिषेकसलिलपूतम्, ऊर्णासनाथं

पुनरपि राजानं प्रकारान्तरेण विशिनष्टि—अपरेति। अपरशशिशङ्कया=अपरः (=द्वितीयः) यः शशी (=चन्द्रः) तस्य शङ्कया (=भ्रान्त्या), समागता या नक्षत्रमाला (=तारापंक्तिः) तया, इव, हारलतया=लतातुल्यया मुक्तास्रजा, कृतमुखपरिवेषम्=कृतः (=विहितः) मुखस्य (=आननस्य) परिवेशः (=परिधिः) यस्य तं तादृशम्, ["परिवेशस्तु परिधिः" इत्यमरः १।३।३२]। यथा चन्द्रस्य परितः नक्षत्रमाला तिष्ठति तथैव राज्ञः आननचन्द्रस्य परितोऽपि हारावली तिष्ठति। अत्र मुखे शशिभ्रान्त्या 'भ्रान्तिमान्' 'नक्षत्रमालया इव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरालंकारः।

साम्प्रतं केयूरयुग्मं विशिनष्टि—अतिचपलेति। अतिचपल-राज्यलक्ष्मी-बन्ध-निगडशंकाम्=अतिचपला (=अतिचञ्चला) या राज्यलक्ष्मीः (=आधिपत्यश्रीः) तस्याः बन्धः (=बन्धनम् नियमनम्), तदर्थं यो निगडः (=शृङ्खला), तस्य यः कटकः (=बलयम्) तस्य शङ्काम् (=सन्देहम्) उपजनयता=उत्पादयता, एवम्भूतेन इन्द्रमणिकेयूरयुग्मेन=इन्द्रमणिः (=नीलकान्त-मणिः), तेन खचितम्, यत् केयूरयुग्मम् (=अङ्गदद्वयम्) तेन, अत एव मलयजरसगन्धलुब्धेन=मलयजस्य (=चन्दनस्य) रसः (=द्रवः) तस्य यो गन्धः (=परिमलः), तस्मिन् लुब्धेन (=लोलुपेन) भुजङ्गद्वयेन (=सर्पयुगलेन,) इव, वेष्टितबाहुयुगलम्=वेष्टितम् (=आवृतम्) बाहुयुगलम् (=भुजद्वयम्) यस्य स तं तथोक्तम्। अत्र 'शङ्कामुपजनयते'त्यादौ भ्रान्तिमान्, 'भुजङ्गद्वयेनेव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालंकारः।

पुनरपि बहुधा राजानं विशिनष्टि—ईषदिति। ईषदालम्बिकर्णोत्पलम्=ईषत् (=किञ्चित्) आलम्बिनी (=लम्बमाने) कर्णोत्पले (=श्रवणकमले) यस्य स तं तादृशम्, कर्णोत्पल-शब्दः उत्पलसदृशाभूषणे यद्वा तत्तुल्ये कर्णे लाक्षणिकः। उन्नतघोणम्=उन्नता (=उच्चा) घोणा (=नासिका) यस्य स तं तादृशम्। उत्फुल्लपुण्डरीकलोचनम्=उत्फुलम् (=विकसितम्) यत् पुण्डरीकम् (=पद्मम्) तद्वत् लोचने (=नेत्रे) यस्य स तं तादृशम्, उत्फुल्ले ये पुण्डरीके तद्वत् लोचने यस्य स तमिति द्विवचनान्तेनापि विग्रहः साधुः। अत्र वाचकलुप्तोपमा।

साम्प्रतं राज्ञो ललाटं विशिनष्टि—अमलेति। अमल-कलधौत-पट्टायतम्=अमलम् (=स्वच्छम्) यत् कलधौतम् (=स्वर्णम्) तस्य यः पट्टः (=फलकम्) तद्वद् आयतम् (=विस्तीर्णम्),[" कलधौतं रूप्यहेम्नोः।" अमरः ३।३।८३]। अष्टमीचन्द्रशकलाकारम्=अष्टम्याम् (=अष्टमीतिथौ) यच्चन्द्रस्य शकलम् (=चन्द्रस्य भागः, अर्धचन्द्र इति भाव), तद्वत् आकारः

की हार रूपी लता ने घेर (आवृत कर) लिया था, जो अति चांचल राजलक्ष्मी के बन्धन की जंजीर के वलय की शंका उत्पन्न कराने वाले, इन्द्रनीलमणि के दो केयूरों (वाजूवन्दों) से घिरी हुई भुजाओं वाला था, मानों वे चन्दन रस के लोभी दो सापों से घिरी हुई हों, जो कुछ लटकते हुए कर्णकमल (कान में लगे हुए कमलपुष्प वाला या कमलतुल्य सुन्दर कानों वाला) था, ऊँची नाक वाला था, विकसित कमल के समान नेत्रों वाला था, जो स्वच्छ सोने के पट्ट के समान (लम्बे चौड़े) आयत, अष्टमी के चन्द्रमा के खण्ड के आकार (=अर्धचन्द्राकार) वाले, समस्त लोकों के राज्याभिषेक से पवित्र किये गये ऊर्णा (रोमावली) से युक्त मस्तकभाग को धारण किये

ललाटदेशमुद्वहन्तम्, आमोदि-मालतीकुसुमशेखरम्, उषसि शिखर-पर्य्यस्ततारकापुञ्जमिव पश्चिमाचलम्, आभरण-प्रभापिशङ्गिताङ्गतया लग्न-हर-हुताशमिव मकरध्वजम्, आसन्न-वर्त्तिनीभिः सर्वतः सेवार्थमागताभिरिव दिग्वधूभिर्वारविलासिनीभि परिवृतम्, अमल-मणिकुट्टिमसंक्रान्त-सकल-देह-प्रतिबिम्बतया पतिप्रेम्णा वसुन्धरया हृदयेनेवोह्यमानम्, अशेषजनभोग्यतामुपनीतयाप्यसाधारणया राजलक्ष्म्या समालिङ्गितम्, अपरिमितपरि-

---

(=आकृतिः) यस्य स तं तादृशम्। अशेषभुवनराज्याभिषेकपूतम्=अशेषाणि (=सकलानि) यानि भुवनानि (लोकाः) तेषां राज्यम् (=आधिपत्यम्) तस्याभिषेकः (=मङ्गलस्नानम्) तेन पूतम् (=पवित्रम्) ऊर्णासनाथम्=ऊर्णा (=भ्रूयुगममध्यवर्ती लोमावर्त्तः) तया सनाथम् (=सहितम्) ललाटदेशम् (=अलिकप्रदेशम्, मस्तकमिति भावः) उद्वहन्तम् (=धारयन्तम्)। ["ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यादवर्त्तस्त्वन्तरः भ्रुवोः"। अमरः ३।३।५७] पुनरपि तमेव विशिनष्टि—आमोदीति। आमोदि-मालतीकुसुमशेखरम्=आमोदीनि (=सुगन्धीनि) यानि मालत्याः कुसुमानि (=पुष्पाणि) तेषां शेखरः (=चूडाभूषणम्) यस्य तम्, यद्वा—तान्येव शेखरः यस्य स तं तादृशम्, तेन, उषसि=प्रभाते, शिखरपर्यस्ततारकापुञ्जम्=शिखरे (=सानुनि) पर्यस्ताः (=अस्तंगताः, पतिताः) तारकापुञ्जाः (=नक्षत्रसमूहाः) यस्मिन् स तम्, पश्चिमाचलम्=अस्तपर्वतम्, इव। अत्र शैलशिखरनृपोत्तमाङ्गयोः पुष्पपुञ्जतारकयोश्चोपमानोपमेयभावः सुस्पष्टः।

कामदेवतुल्यत्वं निर्दिशति—आभरणेति। आभरण-प्रभापिशङ्गिताङ्गतया=आभरणानाम् (=आभूषणानाम्) या प्रभा (=दीप्तिः) तया पिशंगितानि (=पिङ्गलीकृतानि) अङ्गानि (=अयवयाः) यस्य स तस्य भावस्तत्ता, तया, लग्नहरहुताशम्=लग्नः (=व्याप्तः), हरस्य (=शिवस्य) हुताशः (=तृतीयनेत्रवह्निः) यस्मिन् स तं तादृशम्, मकरध्वजम्=मकरः (=जलजन्तुविशेषः) ध्वजः (=चिह्नम्) यस्य स तं, कामदेवमिति भावः, इव वर्तमानम् अत्राप्युपमानोपमेयभावादुपमालंकारः।

आसन्नेति। आसन्न-वर्तिनीभिः=आसन्नम्=निकटम्, वर्तन्ते तच्छीलाः, ताभिः, सर्वतः=विश्वतः, सेवार्थम्=सपर्यार्थम्, आगताभिः=प्राप्ताभिः, अत एव दिग्वधूभिः=दिश एव वध्वः ताभिः, इव, वारविलासिनीभिः=वाराङ्गनाभिः, परिवृतम्=परिवेष्टितम्। अत्र 'दिग्वधूभिः' इत्यत्र रूपकस्योत्प्रेक्षायाश्चैकाश्रयतयोपस्थितेः सङ्करालङ्कारः।

अमलेति। अमलमणीत्यादिः=अमलाः (=स्वच्छाः) ये मणयः (=रत्नानि), तैः खचिताः कुट्टिमाः (=बद्धभूमयः), तत्र संक्रान्तम् (=पतितम्) यत् सकलदेहप्रतिबिम्बम् (=निखिलशरीर-प्रतिच्छाया) तस्य भावस्तत्ता तया, हेतुना, पतिप्रेम्णा=भर्त्रनुरागेण, वसुन्धरया=पृथिव्या, हृदयेन=चित्तेन, उह्यमानम्, इव=धार्यमाणम्, इव, वर्तमानम्। अत्र इव शब्द उत्प्रेक्षावाचकः।

हुए था, जो सुगन्धित मालती के फूलों के चूडाभूषण (सिर के मुकुट वाला) था अत एव मानों प्रातःकाल शिखर पर गिरे हुए तारों (नक्षत्रों) के पुंज वाला अस्ताचल हो, जो (सोने के) गहनों की कान्ति से पीले अंगों वाला होने के कारण शिव जी की (तीसरी आँख की) आग से युक्त कामदेव के समान था, जो पास में रहने वाली वाराङ्गनाओं से, मानों चारों ओर से सेवा के लिए आई हुई दिशारूपी बधुओं से, घिरा हुआ था, जो स्वच्छ मणियों की फर्श में पड़ी हुई सारे शरीर की परछाईं के कारण मानों पति के प्रेम से पृथिवी द्वारा हृदय से धारण किया जा रहा था, सभी लोगों द्वारा उपभुक्त (भोगी गई) अर्थात् साधारण होती हुई भी असाधारण राज-

वारजनमप्यद्वितीयम्, अनन्त-गज-तुरग-साधनमपि खड्गमात्रसहायम्, एकदेशस्थितमपि व्याप्तभुवनमण्डलम्, आसने स्थितमपि धनुषि निषण्णम्, उत्सादिताशेषद्विषदिन्धनमपि

अशेषेति । अशेषजनभोग्यताम्=अशेषाः (=समस्ताः) ये जनाः (=लोकाः) तेषां भोग्यताम् (=उपभोगयोग्यताम्), उपनीतया अपि (=प्राप्तयाऽपि, सर्वसाधारणयापीति भावः) असाधारणया (=असमानया), राजलक्ष्म्या=भूपतिश्रिया, आलिङ्गितदेहम्=समाश्लिष्टशरीरम् । 'साधारणयाऽपि असाधारणया' इति विरोधः, अन्यस्य कस्यापि नैतादृशी राजलक्ष्मीः, तया समालिङ्गितमिति परिहारः ।

अपरिमितेति । अपरिमितपरिवारजनम्=अपरिमिताः (=असंख्येयाः) परिवारजनाः (=परिच्छदजनाः) यस्य तं तादृशम् अपि अद्वितीयम्=अविद्यमानो द्वितीयः (=अन्यः) यस्य स तं तादृशम् । अत्रापि विरोधः, स्वतुल्यद्वितीयजनरहितमिति तत्परिहारः ।

अनन्तेति । अनन्तगज-तुरगसाधनम्=(गजाश्च तुरगाश्चेति समाहारद्वन्द्वः) गजतुरगम् (=हस्त्यश्वम्) अनन्तं गजतुरगम् (=हस्त्यारोहिसेना अश्वारोहिसेना च) साधनम् (=उपकरणम्, सहायो) यस्य स तं तथोक्तम्, अपि, खड्गमात्रसहायम्=खड्गमात्रम् (=कृपाणम्) एव सहायः= साधनं यस्य तं तथोक्तम् । अत्रापि विरोधः सर्वविध-साहाय्ये विद्यमानेऽपि केवलेन स्वखड्गेनैव समरविजयिनमिति तत्परिहारः ।

एकदेशेति । एकदेशस्थितम् अपि=एकश्चासौ देशः=स्थानम्, सभादिस्थानमित्यर्थस्तत्र स्थितमपि=आसीनमपि, व्याप्तभुवनमण्डलम्=व्याप्तम् (=समाक्रान्तम्) भुवनमण्डलम्=लोकसमुदायः येन तं तथोक्तमिति विरोधः, शरीरेणैकत्र स्थितमपि स्वतेजसा समाक्रान्तं भुवनमण्डलं येन स तं तथोक्तममिति तत्परिहारः ।

आसन इति । आसने=राजसिंहासने, स्थितमपि=निषण्णमपि, धनुषि=चापे, निषण्णम्= आसीनम् । अत्रापि विरोधः, स्वधनुषि विजयविश्वसिनमिति, यद्वा—धनुः=संज्ञा, स्वनाम, तत्र स्थितम् । नामश्रवणमात्रेण साक्षादागत इति विपक्षाणां साक्षात् भयोत्पत्तिरिति परिहारः ।

उत्सादितेति । उत्सादिताशेषद्विषदिन्धनम् अपि=उत्सादितानि (=दग्धानि) अशेषाणि (=सकलानि) द्विषन्तः (=शत्रवः) एव इन्धनानि (=काष्ठानि) येन तं तथोक्तम्, अपि, ज्वलत्प्रतापानलम्=ज्वलन् (दीप्यमानः) प्रतापः (=दण्डकोशजं तेजः) एव अनलः (वह्निः) यस्य तं तादृशम् । अत्रापि विरोधः । इन्धनाभावे कथमनलप्रज्वलनमिति ज्वलन् इत्यस्य प्रबलभावेनावतिष्ठमानः प्रतापानलो यस्येति तत्परिहारः । अत्र द्विषत्सु इन्धनत्वारोपः प्रतापेऽनलत्वारोपस्य हेतुरिति परम्परितरूपसंकीर्णो विरोधाभास इति बोध्यम् ।

लक्ष्मी द्वारा जिसके शरीर का आलिंगन किया गया था; (साधारण और असाधारण में विरोध है अतः असाधारण=सर्वोत्कृष्ट-अर्थ करके परिहार होता है ।), असंख्य परिवारजनों वाला होता हुआ भी अद्वितीय (जिसके साथ कोई दूसरा न हो,) था; (अद्वितीय=जिसके समान कोई दूसरा नहीं था, यह अर्थ करके विरोधपरिहार होता है ।) जो अनन्त हाथी घोड़े रूपी साधन वाला होता हुआ भी केवल तलवार जिसकी सहायक थी, (युद्ध स्थल पर केवल अपनी तलवार पर भरोसा रखने वाला था—इस अर्थ से विरोधपरिहार है ।) जो (राजसभा आदि किसी) एक स्थान पर बैठा हुआ भी भुवनमण्डल को व्याप्त किये हुए था (यश से व्याप्त किये हुए था—इससे विरोधपरिहार है ।) सिंहासन पर बैठा हुआ भी धनुष पर स्थित था; (धनुः=संज्ञा नाम, नाम में

ज्वलत्प्रतापानलम्, आयतलोचनमपि सूक्ष्मदर्शनम्[1], महादोषमपि सकलगुणाधिष्ठानम्, कुपतिमपि कलत्रवल्लभम्[2], अविरत-प्रवृत्त-दानमप्यमदम्, अत्यन्तशुद्ध[3]-स्वभावमपि कृष्ण-चरितम्, अकरमपि हस्तस्थित[4]-सकल-भुवनतलं राजानमद्राक्षीत् ।

आयतेति । आयतलोचनम् अपि=आयते(=विशाले,) लोचने(=नेत्रे) यस्य तं तादृशम्, अपि, सूक्ष्मदर्शनम्=सूक्ष्मे (=लघुनी) दर्शने (=नेत्रे) यस्य तमिति विरोधः । सूक्ष्मे= अध्यात्मविषये दर्शनम् =ज्ञानं यस्य तमिति परिहारः । "सूक्ष्मं स्यात् कैतवेऽध्यात्मे पुंस्यणौ त्रिषु चाल्पके ।" "दर्शनं नयनस्वप्नबुद्धिधर्मोपलब्धिषु ।" इति विश्वकोशः ।

महादोषेति । महादोषम् अपि=महान् (=बहुः) दोषः (=अवगुणः) यस्य तं तादृशम्, अपि, सकलगुणाधिष्ठानम्=समस्तगुणाश्रयमिति विरोधः । महान्तौ=विशालौ, दोषौ=भुजौ यस्य तं तादृशमिति तत्परिहारः । "दोर्दोषा च भुजो बाहुः ।" इति धनञ्जयः ।

कुपतिमपीति । कुपतिम् अपि=कुत्सितश्चासौ पतिश्च (=स्वामी) इति कर्मधारयः, तम्, तादृशम् अपि, कलत्रवल्लभम्=स्त्रीजनप्रियमिति विरोधः । कुः=पृथिवी, तस्याः पतिस्तमिति परिहारः । "गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी ।" इत्यमरः ।

अविरतेति । अविरतप्रवृत्तदानम् अपि=अविरतम् (=निरन्तरं) प्रवृत्तम् (=सन्ततम्) दानम् (=मदजलम्) यस्य तं तादृशम्, अपि, अमदम्=मदजलशून्यमिति विरोधः । अविरतं प्रवृत्तं दानम्=त्यागो यस्यैवम्भूतमपि अमदम्=गर्वशून्यमिति परिहारः ।

अत्यन्तेति । अत्यन्तशुद्धस्वभावम् अपि=अत्यन्तम्(=अतिशयेन) शुद्धः=(निर्मलः,) स्वभावः (=प्रकृतिः) यस्य तं तादृशम्, अपि, कृष्णचरितम्=कृष्णम् (=मलिनम्,) चरितम्(=आचरणं) यस्य तमिति विरोधः । कृष्णस्य चरितमिव चरितं यस्य तमिति परिहारः ।

अकरेति । अकरम् अपि=अविद्यमानौ करौ(=हस्तौ) यस्य तं तादृशम्, अपि, हस्त-

---

स्थित था । अतः नाम सुनते ही इसे आया समझकर शत्रु डर जाते थे—इस अर्थ में विरोधपरिहार ।) शत्रुरूपी ईंधन को नष्ट कर देने वाला होने पर भी जिसकी प्रतापाग्नि जलती रहती थी। (जलती=प्रकाशित होती रहती थी—इस अर्थ में विरोधपरिहार ।) विशाल नेत्रों वाला होता हुआ भी जो सूक्ष्मदर्शन (छोटे नेत्रों वाला) था; (सूक्ष्मदर्शन=अध्यात्म ज्ञान वाला—इस अर्थ में विरोधपरिहार)। महान् दोषों वाला होता हुआ भी जो सम्पूर्ण गुणों का निवास स्थान था, (महादोष= विशाल भुजाओं वाला—इस अर्थ में विरोधपरिहार ।) कुपति (=बुरा पति होता हुआ) भी स्त्रियों का प्रिय था; (कु=पृथिवी का पति=स्वामी—इस अर्थ में विरोधपरिहार) । निरन्तर प्रवृत्त दान=मदजल वाला होता हुआ भी अमद=मदजलरहित था, (दान=त्याग, दान देना—इस अर्थ में विरोधपरिहार ।) अत्यन्त शुद्ध स्वभाव वाला होता हुआ भी जो कृष्णचरित=कलुषित आचरण वाला था; (कृष्णचरित=कृष्ण के समान आचरण वाला—इस अर्थ में विरोधपरिहार ।) अकर=हाथरहित होता हुआ भी सम्पूर्ण भुवनतल को हाथ में रखे हुए था । (अकर=किसी दूसरे राजा को कर=टैक्स न देने वाला—इस अर्थ में विरोधपरिहार ।) [ऐसे राजा को कन्या ने देखा ।]

---

१. सूक्ष्मदर्शिनम् । २. कलत्रचयवल्लभम् ३. अतिशुद्ध । ४. हस्तस्थितभुवनतलम् ।

आलोक्य च सा दूरस्थितैव प्रचलितरत्नवलयेन रक्त-कुवलयदल-कोमलेन पाणिना जर्जरितमुखभागां वेणुलतामादाय नरपतिप्रतिबोधनार्थं[1] सकृत् सभाकुट्टिममाजघान, येन सकलमेव तद् राजकम्[2] एकपदे वनकरियूथमिव तालशब्देन तेन[3] युगपदावलितवदनमवनिपालमुखादाकृष्य चक्षुस्तदभिमुखमासीत् ।

स्थित-सकल-भुवन-तलम्=हस्ते (=करे) स्थितं (=विद्यमानं) सकलभुवनतलं (=समस्तलोकतलं) यस्य तमिति विरोधः, कराभावे तत्र स्थित्यसम्भवात् । अविद्यमानः करः=अन्यदेयः यस्य तमिति परिहारः । (बलिः करो भागधेयः । इति कोषः) । सर्वेषामपि शासकतया कस्मैचिदपि देयाभावात् । "राजानमद्राक्षीदि"त्यनेन सम्बन्ध इति पूर्वमेव प्रतिपादितम् ।

पूर्वोक्तेषु "अशेषजनभोग्यतामुपनीतये"त्यारभ्य "अकरमि"त्यन्तेषु द्वादशवाक्येषु श्लेषेण विरोधस्य परिहारसंभवात् सर्वत्र विरोधाभासोऽलङ्कार इति बोध्यम् ।

साम्प्रतं चाण्डालकन्यकाया आचरणं प्रदर्शयति—आलोक्य चेति । राजानम्, आलोक्य=दृष्ट्वा, सा=चाण्डालकन्यका, दूरस्थिता=दविष्ठप्रदेशस्थिता, एव, चाण्डालकन्यात्वात् राज्ञः समीपे सहसाऽनुमतिमन्तरा गमनमनुचितमिति तस्मात् दूरे विद्यमाना एवेति भावः । प्रचलितरत्नवलयेन=प्रचलितम् (=प्रकम्पितम्) रत्नवलयम् (=मणिखचितकङ्कणम्) यस्मात् स तेन; रक्तकुवलयदलकोमलेन=रक्तम् (=लोहितम्) यत् कुवलयदलम् (=कमलदलम्) तद्वत् कोमलेन=मृदुना । अत्र लुप्तोपमा । पाणिना=करेण । जर्जरितमुखभागाम्=जर्जरितः (=जीर्णतां प्राप्तः), मुखभागः (=अग्रभागः) यस्यास्ताम्, वेणुलताम्=वंशयष्टिम्, आदाय=गृहीत्वा, नरपति-प्रतिबोधनार्थम्=नरपतेः (=नराधिपस्य शूद्रकस्य) यत् प्रतिबोधनम् (=स्वाभिमुखीकरणम्) तदर्थम्, सभाकुट्टिमम्=परिषन्निबद्धभूमिम्, सकृत्=एकवारम्, आजघान=ताडयामास । येन=आघातेन, सकलम्=समस्तम्, एव, तद् राजकम्=नृपतिसमूहः [राज्ञां समूहः=इत्यर्थे "गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुञ् (पा० सू० ४।२।३९) इत्यनेन वुञि प्रत्ययेऽकादेशे राजकमिति रूपम् ।] एकपदे=तत्क्षणे एव, "तत्क्षणैकपदे तुल्ये" इति हलायुधः । तालशब्देन=तालः (=कांस्यकरतालो वाद्यविशेषः) तस्य शब्देन (=तस्मादुत्थितध्वनिना) वनकरियूथम् इव=

विमर्श—यहाँ "अशेषजनभोग्यतामुपनीतयाप्यसाधारणया राजलक्ष्म्या समालिङ्गितदेहम्" इस वाक्य से लेकर आगे वाक्यसमाप्ति तक बारह वाक्यों में विरोध और परिहार हो जाने से 'विरोधाभास' अलंकार है । विशेष ज्ञान के लिए संस्कृत-व्याख्या देखें ।

[अनु०] और [उस राजा शूद्रक को] देखकर [उससे] दूर ही खड़ी हुई उस [चाण्डालकन्या] ने हिलते हुए रत्नमय कंगनवाले, लालकमल के समान कोमल हाथ से फटे हुए अग्र भाग वाली (=मुँहवाली) बाँस की छड़ी लेकर राजा को प्रबोधित (अपनी ओर आकृष्ट) करने के लिये सभा की पक्की जमीन (फर्श) को एक बार पीटा, [उस पर बाँस पटका] उससे जिस प्रकार ताल (काँसे के बने करताल) की आवाज से जङ्गली हाथियों का समूह आकृष्ट होता है, उसी प्रकार तत्क्षण सभी राजा लोग एक साथ मुँह मोड़कर उस राजा की ओर से आँखें हटाकर उस [चाण्डालकन्या] की ओर हो गये । [राजाओं ने शूद्रक की ओर से मुँह और आँखें हटा कर उस चाण्डालकन्या की ओर कर लीं, सभी उसे देखने लगे ।]

१, प्रबोधनार्थम् । २. राजन्यकम् । ३. तेन वेणुलताध्वनिना—इति पाठो न सर्वत्र ।

अवनिपतिस्तु 'दूरादालोकय' इत्यभिधाय प्रतीहार्य्या निर्दिश्यमानां तां वयःपरिणामशुभ्र-शिरसा रक्तराजीवनेत्रापाङ्गेनानवरत-कृत-व्यायामतया यौवनापगमेऽप्यशिथिल-शरीरसन्धिना सत्यपि मातङ्गत्वे नातिनृशंसाकृतिना अनुगृहीतार्य्यवेशेन शुभ्र-वाससा पुरुषेणाधिष्ठितपुरोभागाम्,—

वन्यहस्तिनां समूह इव, तेन=पूर्वोक्तेन, वेणुलताध्वनिना=वंशयष्टिशब्देन, युगपत्=एककालमेव, आवलितवदनम्=आवलितम् (=परावर्तितम्) वदनम् (=आननम्) येन तत् तादृशम्, अवनिपाल-मुखात्=राज्ञः शूद्रकस्य मुखात्, आकृष्य=आकृष्टं कृत्वा, चक्षुः=नयनम्, तदभिमुखम्=तस्याः (=चाण्डालकन्यकायाः) संमुखम्, आसीत्=अभवत्। आकस्मिकशब्दाकर्णनेन सर्वेषां दृष्टिः सत्वरं तद्दिशि एव गतेति भावः। उपमालंकारः।

साम्प्रतं राज्ञो व्यवहारं निरूपयति—अवनिपतिस्त्विति। अवनिपतिः=भूपतिः, शूद्रकः, अनिमिषलोचनः=निमेषोन्मेषवर्जितनेत्रः, ताम्=पूर्वोक्ताम् चाण्डालकन्यकाम्, ददर्श=अपश्यदिति दूरस्थपदान्वयः। दूरात्=विप्रकृष्टात्, आलोकय=पश्य राजानमिति शेषः, अपरिचितायास्तव राज्ञः समीपे गमनमनुचितमिति, यद्वा 'पञ्जरस्थं शुकं दूरादेव राजानं दर्शय' अनुमतिमन्तरा राज्ञः समीपे किमपि नेतुं न शक्यमिति भावः। इति=पूर्वोक्तम्, अभिधाय=कथयित्वा, प्रतीहार्या=द्वार-पालिकया, निर्दिश्यमानाम्='इयमेव सा चाण्डालकन्यका' इति ज्ञाप्यमानाम्। वयः परिणामशुभ्र-शिरसा=वयसः (-अवस्थायाः) परिणामेन (=परिवर्तनेन, वार्धक्येनेति भावः) शुभ्रम्=धवलम्, शिरः (=शिरस्थकेश-समूहः) यस्य स तेन। तृतीयान्तानि पदानि 'पुरुषेण' इत्यस्य विशेषणानि। रक्तराजीवनेत्रापाङ्गेन=रक्तम् (=लोहितम्) यद् राजीवम् (=कमलम्) तद्वत् नेत्रापाङ्गौ (=नयन-प्रान्तभागौ) यस्य स तेन, लुप्तोपमा। अनवरतकृतव्यायामतया=अनवरतम् (=सततम्) कृतः (=विहितः) व्यायामः (=शारीरिकोऽभ्यासादिपरिश्रमः) येन स तस्य भावस्तत्ता तया, हेतुना, यौवनापगमेऽपि=तारुण्यस्य समाप्तौ, अपि, अशिथिलशरीरसन्धिना=अशिथिला (=दृढाः) शरीरस्य (=देहस्य) सन्धयः (=धातूनामस्थ्यादीनां बन्धाः) यस्य स तेन। मातङ्गत्वे=अन्त्यजकुलोत्पन्नत्वे, अपि, नातिनृशंसाकृतिना=नातिनृशंसा (=नातिक्रूरा) आकृतिः (=आकारः) यस्य स तेन, तथोक्तेन। अनुगृहीतार्यवेशेन=अनुगृहीतः (=धृतः, स्वीकृतः) आर्यवेशः=(=सभ्यवस्त्रादिः) येन स तेन। शुभ्रवाससा=शुभ्रम् (=धवलम्) वासः (=वस्त्रम्) यस्य स तेन। पुरुषेण=पुंसा, अधिष्ठितपुरोभागाम्=अधिष्ठितः (=अङ्गीकृतः) पुरोभागः (=अग्रभागः, अग्रेगामित्वम्) यस्यास्सा तां तादृशीम्।

'दूर से ही दर्शन करो' ऐसा कह कर प्रतीहारी द्वारा निर्दिष्ट (संकेतित) की जाती हुई उस (चाण्डाल-कन्या) को राजा (शूद्रक) ने अपलक नेत्रों से देखा, जिस कन्या के आगे एक पुरुष चल रहा था, उम्र के प्रभाव (=परिणाम) के कारण जिसका शिर (=बाल) सफेद था, जिसके नेत्रों के कोने लाल कमल के समान (लाल लाल) थे, जो यौवन के समाप्त हो जाने पर भी, लगातार व्यायाम करने के कारण शरीर के गठीले जोड़ों वाला था, जो चाण्डाल होने पर भी अतिभयानक शरीरवाला नहीं था, जो सभ्य लोगों की वेशभूषा धारण किये हुए था, जो उज्वल

१. वेक्षणापाङ्गे। २. वेषेण। ३. धवल।

आकुलाकुल-काकपक्षधारिणा कनक-शलाका-निर्मितमप्यन्तर्गत-शुकप्रभाश्यामायमानं मरकतमयमिव पञ्जरमुद्वहता चाण्डालदारकेणानुगम्यमानाम्,--

असुर-गृहीतामृतापहरणकृत-कपट[1]-पटु-विलासिनीवेशस्य श्यामतया भगवतो हरेरिवानुकुर्वतीम्, सञ्चारिणीमिवेन्द्र[2]नीलमणिपुत्रिकाम्[3], आगुल्फावलम्बिना[4] नीलकंचुकेनाच्छन्नशरीराम्, उपरि रक्तांशुक-विरचितावगुण्ठनां नीलोत्पलस्थलीमिव निपतितसन्ध्यातपाम्,

---

तत्पृष्ठगामिनं बालकं विशिनष्टि—आकुलेति। तृतीयान्तानीमानि पदानि 'दारकेण' इत्यस्य विशेषणानि। आकुलाकुलकाकपक्षधारिणा=आकुलाकुलः (= इतस्ततो विक्षिप्तः) यः काकपक्षः (= शिखण्डकः) तं धारयतीति तच्छीलः तेन। "काकपक्षः शिखण्डकः" इत्यमरः। कनकशलाकानिर्मितम्=कनकस्य (= स्वर्णस्य) याः शलाकाः (= इषीकाः) ताभिः, निर्मितम् (=रचितम्), अपि, अन्तर्गत–शुक-प्रभाश्यामायमानम्=अन्तर्गतः (= मध्यस्थितः) यः शुकः (= कीरः) तस्य या प्रभा (= कान्तिः) तया श्यामायमानम् (= श्यामवर्णमिव प्रतीयमानम्) तेन हेतुना मरकतमयमिव=मरकतमणिनिर्मितमिव, पञ्जरम्=पिञ्जरम्, पक्षिरक्षणसाधनम्, उद्वहता=धारयता, चाण्डालदारकेण = अन्त्यजस्य पुत्रेण, अनुगम्यमानाम् = अनुव्रज्यमानाम्। 'श्यामायमान'मिति क्यङन्तं पदम्, अत्रोपमा, 'मरकतमयमिव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा। अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

पुनस्तामेव कन्यकां विशिनष्टि—असुरेति। असुरगृहीतेत्यादिः=असुरैः (= राक्षसैः) गृहीतम् (= बलादधीनीकृतम्) यद् अमृतम् (= पीयूषम्) तस्यापहरणम्=अपहारः तस्मिन् तदर्थं वा कृतः (=विहितः) कपटेन (=कैतवेन) पटुः (=प्रकटः) विलासिनी (= मोहिनी) तस्या वेशः (= आकृतिः) येन स तस्य। भगवतः=ऐश्वर्यवतः, हरेः=विष्णोः, श्यामतया =कृष्णवर्णत्वेन, अनुकुर्वतीम्=सादृश्यमनुभवन्तीम्, इव। अत्र कर्मणि "न लोकाव्यय०" पा० सू० २।३।७२ इति निषेधात् सम्बन्धमात्रविवक्षायां हरिशब्दात् शैषिकी षष्ठीति बोध्यम्। क्रियोत्प्रेक्षालंकारः।

पुरा क्षीरसागरमन्थनकाले यदमृतं निःसृतं तदादाय दैत्या पलायिताः। तदा वञ्चितान् देवान् विलोक्य विष्णुना मोहिनीवेशं धृत्वा दैत्यान् संमोह्य च तेभ्योऽमृतं गृहीत्वा देवेभ्यो दत्तमिति पौराणिकी कथाऽतिप्रसिद्धा।

सञ्चारिणीमिति। सञ्चारिणीम् = गमनशीलाम्, जङ्गमप्राणिरूपाम्, इन्द्रनीलमणिपुत्रिकाम्=नीलकान्तमणिनिर्मितपाञ्चालिकामिव विद्यमानाम्। अत्र जात्युत्प्रेक्षा।

आगुल्फेति। आगुल्फावलम्बिना=घुटिकापर्यन्तलम्बनशालिना, नीलकञ्चुकेन=श्यामवर्णकूर्पासकेन, आच्छन्नशरीराम् = आच्छन्नम् (= आवृतम्) शरीरम् (=देहः) यस्याः सा तां तादृशीम्। उपरि=ऊर्ध्वभागे शिरसीत्यर्थः, रक्तांशुकविरचितावगुण्ठनाम्=रक्तांशुकेन (=लोहित-

---

वस्त्रोंवाला था,[वह आगे था]। जिस (कन्या) के पीछे एक बालक चल रहा था, जो अस्तव्यस्त (इधर-उधर बिखरे हुए) बालों वाला था, जो सोने की शलाकाओं (छड़ों) से बने हुए होने पर भी भीतर वर्तमान शुक (तोते) की कान्ति के प्रभाव से श्याम (हरित) वर्ण के समान प्रतीत होने वाले मानों मरकत मणि से बने हुए पिंजरे को उठाये हुए था, जो (कन्या) अपनी श्यामता के कारण, राक्षसों द्वारा गृहीत अमृत के अपहरण (छीनने) के लिये कपट में पटु मोहिनी स्त्री का वेश धारण करनेवाले विष्णु का अनुकरण कर रही थी, जो चलती फिरती इन्द्रनीलमणि (नीलम) की कठपुतली सी थी; जो पैरों की गाँठ तक लटकने वाले नीले रंग के कुर्ते (कँचुक) से ढंके

---

१. कपटविलासिनी…वेषस्य। २. सञ्चारिणीमिन्द्र०। ३. पुत्रिकामिव। ४. गुल्फावलम्बिनीत।

एककर्णावसक्त-[1]दन्तपत्त्रप्रभाधवलितकपोल-मण्डलाम्, उद्यदिन्दु[2]किरणच्छुरित-मुखीमिव विभावरीम्, आकपिल-गोरोचना-रचिततिलक-तृतीय-लोचनाम् ईशानुचरित[3]किरातवेशामिव भवानीम्, उरःस्थल-निवास-संक्रान्त-नारायण-देहप्रभा-श्याम[4]लितामिव श्रियम्, कुपित-

वर्णवस्त्रेण) विरचितम् (= निर्मितम्) अवगुण्ठनम् (= मुखावरणम्) यया सा ताम्। अतएव निपतितसन्ध्यातपाम्=निपतितः (= उपरि समापतितः) सन्ध्यातपः (= सायङ्कालीनसूर्यस्य घर्मः) यस्यामेतादृशीम्, नीलोत्पलस्थलीम् इव = नीलोत्पलानाम् (= कुवलयानाम्) स्थलीम् = अकृत्रिमभूमिम्, इव। यथा तस्याः भूमेः सौन्दर्यं भवति तथैवास्या अपीति भावः। अत्र पदार्थ-हेतुकं काव्यलिङ्गं तेन सङ्कीर्णोपमेति बोध्यम्।

एकेति। एककर्णेत्यादिः=एकस्मिन्कर्णे (= एकश्रोत्रे), अवसक्तम् (= संलग्नम्) यद् दन्तपत्रम् (= कर्णस्याभरणविशेषः) तस्य या प्रभा (= कान्तिः) तया धवलितम् (=श्वेती-कृतम्), कपोलमण्डलम् (= गण्डस्थलम्) यस्याः सा तां तादृशीम्। अतएव उद्यदिन्दुकिरण-च्छुरितमुखीम्=उद्यन् (= उदयं प्राप्नुवन्) यः इन्दुः (=चन्द्रः) तस्य किरणैः (=दीधितिभिः) छुरितम् (=तमोनिवृत्त्या सप्रकाशम्) मुखम् (= अग्रभागः, प्रारम्भिकसमय इत्यर्थः) यस्याः सा तादृशीम्, विभावरीम्=रात्रिम्, इव, विद्यमानाम्। अत्र रात्रिचाण्डालकन्ययोः चन्द्रदन्तपत्रयोश्च सादृश्यं बोध्यम्।

आकपिलेति। आकपिलेत्यादिः = आ (= ईषत्) कपिलम् (= पीतरक्तम्) यद् गोरो-चनम् (= गोपित्तम्) तेन रचितम् (= निर्मितम्) यत् तिलकम् (= पुण्ड्रम्) तदेव तृतीयम् (=तृतीयसंख्याकम्) लोचनम् (= नेत्रम्) यस्याः सा तां तादृशीम्, अतएव, ईशानुचरितकिरात-वेशाम् = ईशस्य (= शङ्करस्य) अनुचरितः (=पश्चात् धृतः) किरातवेशः (= भिल्लीस्वरूपम्) यया सा तां तादृशीम्, भवानीम् = पार्वतीम्, इव, विद्यमानाम्। अत्रोपमा। पुरा श्रीकृष्णप्रेरि-तोऽर्जुनः पाशुपतास्त्रप्राप्तये तपश्चकार। ततः कदाचिद् कश्चिद् दानवस्तं हन्तुं वाराहरूपेणागतः। तं दानवं मारयितुं शिवेन यदा किरातस्य वेशो धृतः तदा तं दृष्ट्वा पार्वत्यपि भिल्लीवेशं धृत्वा तमनुययौ इत्यादि कथा महाभारते प्रसिद्धा।

उरःस्थलेति। उरःस्थलेत्यादिः = उरःस्थले (= वक्षसि) यो निवासः (= स्थितिः), तेन संक्रान्तः (=प्रतिबिम्बितः) यः नारायणस्य (=विष्णोः) देहः (=शरीरम्) तस्य या प्रभा (=कान्तिः) तया श्यामलिताम् (=श्यामवर्णत्वं प्राप्ताम्), श्रियमिव=लक्ष्मीमिव वर्त-मानाम्। अत्रोपमा तद्गुणालंकारश्चेत्यनयोः सङ्करः।

हुए शरीर वाली, ऊपर लाल वस्त्र से अवगुण्ठन (घूंघट) बनाए हुई थी, (इसलिये) नीलकमलों की भूमि के समान थी जिस पर सायंकालीन धूप (सूर्य की लाल किरणें) गिर रही हों; जो एक कान में लगे हुए दन्तपत्र की प्रभा से धवल (=श्वेत) किए गए कपोल मण्डलवाली थी अतः निकलते हुए चंद्रमा की किरणों से युक्त (=प्रकाशित) मुख (=प्रारम्भिक काल) वाली रात के समान थी; जो कुछ पीले गोरोचन से बनाए गए तिलक से तीसरे नेत्रवाली, (इसलिये)

१. मुक्त। २. उद्यदिन्दुबिम्बच्छुरित। ३. ईशानरञ्जनानुरचित, ईशानुरचित, ईशानाचरितानुरचित। ४. श्यामलतां।

हर-हुताशन-दह्यमान-मदन-धूम-मलिनीकृतामिव रतिम्, उन्मद[1]-हलि-हलाकर्षण[2]-भय-पलायितामिव का[3]लिन्दीम्, अतिबहल-पिण्डालक्तक-रस-राग-पल्लवितपादपङ्कजाम्, अचिर-मृदितमहिषासुर-रुधिर-रक्तचरणामिव कात्यायनीम्, आलोहिताङ्गुलि-प्रभा-पाटलित-नखमयूखाम्, अतिकठिन-मणिकुट्टिम-स्पर्शमसहमानां क्षितितले पल्लवभङ्गानिव निधाय

कुपितेति । कुपितहरेत्यादिः=कुपितः (=क्रोधं प्रापितः) यो हरः (=शिवः), तस्य यो हुताशनः (=तृतीयनेत्रनिर्गताग्निः), तेन दह्यमानः (=ज्वाल्यमानः) यो मदनः (=कामदेवः) तस्य यो धूमः (=दहनकेतुः) तेन मलिनीकृताम् (=मालिन्यं प्रापिताम्) रतिम् इव = कामदेव-पत्नीमिव विद्यमानाम् । अत्रोक्तविधधूमेन मलिनीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धकथनादतिशयोक्तिः सादृश्यवाचकत्वादुपमा चेत्यनयोर्मिथोऽङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः ।

उन्मदेति । उन्मदहलीत्यादिः=उन्मदः (=बलदर्पयुक्तः) यो हली (=बलरामः), तस्य यद् हलम् (=लाङ्गलम्) तेन यद् आकर्षणम् (=आकृष्टिः) तस्मात् यद् भयम् (=भीतिः) तेन पलायिताम् (=पलायनं कृतवतीम्, अदर्शनं गतामित्यर्थः) कालिन्दीमिव=यमुनामिव विद्यमानाम् । अत्रोपमा ।

अतिबहलेति । अतिबहलेत्यादिः=अतिबहलः (=अतिप्रचुरः) यः पिण्डालक्तकः (=पिण्डीकृतो यावकः) तस्य यो रसः (=द्रवः) तस्य यो रागः (=लालिमा) तेन पल्लविते (=रक्तवर्णीकृते) पादपङ्कजे (=पादपद्मे) यस्याः सा तां तादृशीम् । अतएव अचिरेत्यादिः=अचिरम् (=सद्य एव) मृदितः (=मर्दितः) यो महिषासुरः (=एतन्नामकोऽसुरः) तस्य यद् रुधिरम् (=रक्तम्) तेन रक्तौ (=लोहितवर्णौ) चरणौ (=पादौ) यस्याः सा ताम्, कात्यायनीम् =महिषासुर-मर्दिनीं दुर्गाम्, इव, विद्यमानाम् । अत्रोपमा । पुरा ब्रह्मणो वरं प्राप्य महिषासुरः जगदपीडयत् । तं दुर्गा स्वयमाविर्भूय हतवतीति कथा मार्कण्डेयपुराणस्थ-दुर्गासप्तशत्यामतीव प्रसिद्धा ।

आलोहितेति । आलोहितेत्यादिः=आलोहिताः (=आरक्ताः) या अङ्गुलयः (= कर-शाखाः) तासां प्रभाभिः (=कान्तिभिः), पाटलिताः (=श्वेतरक्तीकृताः), नखानां मयूखाः (=पुनर्भवानां रश्मयः) यस्याः सा ताम् । 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः ।' इत्यमरः ।

अतिकठिनेति । अतिकठिनेत्यादिः=अतिकठिनम् (=अतिकर्कशम्), यत् मणिकुट्टिमम्

भगवान् शंकर द्वारा धारण किये किरात (भील) के वेश का अनुकरण करके किरातिनी (भीलिनी) का वेश धारण करनेवाली पार्वती के समान थी; जो वक्षःस्थल पर निवास के कारण प्रति-त्रिम्बित [मिश्रित] नारायण भगवान् के शरीर की कान्ति से श्यामवर्ण की गई लक्ष्मी के समान थी; जो क्रुद्ध भगवान् शंकर [के तृतीय नेत्र] की आग से जलते हुए कामदेव के धुएँ से मलिन की गई रति के समान थी; जो मत्त बलराम के हल द्वारा खीचे जाने के भय से भागी हुई यमुना के समान थी; जो अत्यधिक पिण्ड बनाए गए आलता के रस की लालिमा से पल्लव तुल्य (लाल) कमल रूपी पैरों वाली, अतः तत्काल मर्दित (मारे गए) महिषासुर के रक्त से लाल चरणोंवाली कात्यायनी के समान थी; जो कुछ लाल रंगवाली अंगुलियों की कान्ति से गुलाबी रंग के नाखुनों की किरणों वाली थी, अतः अति कठिन मणिमय फर्श के स्पर्श को सहन न करती हुई अतएव मानों पृथ्वी तल पर पल्लवों के टुकड़े रख कर चल रही थी; जो कुछ पीले लाल रंग वाले, ऊपर उठने

---

१. उन्मत्त । २. हलापकर्षणप्रपलायितां । ३. यमुनाम् ।

सञ्चरन्तीम्, आपिञ्जरेणोत्सर्पिणां नूपुरमणीनां प्रभाजालेन[1] रञ्जित-शरीरतया पावकेनेव भगवता रूप[2] एव पक्षपातिना प्रजापतिमप्रमाणीकुर्वता जातिसंशोधनार्थमालिङ्गितदेहाम्, अनङ्ग-वारण-शिरो-नक्षत्रमालायमानेन रोमराजि-लतालवालकेन मेखलादाम्ना[3] परिगतजघनास्थलाम्, अतिस्थूल-मुक्ताफल-घटितेन शुचिना[4] हारेण गङ्गास्रोतसेव कालि-

(=मणिमयबद्धभूमिः), तस्याः स्पर्शम् (=सम्पर्कम्) असहमानाम् (=अक्षममाणाम्) [अति मृदुलपादत्वादिति भावः ।] अतएव क्षितितले (=भूतले), पल्लवभङ्गान् (=किसलयखण्डान्) निधाय (=स्थापयित्वा) इव, सञ्चरन्तीम्=गच्छन्तीम्, एवं कृते पादविकारः पादव्यथा च न जायते इति भावः । अत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

आपिञ्जरेणेति । आपिञ्जरेण=पीतरक्तेन, 'पीतरक्तस्तु पिञ्जरः ।' इत्यभिधानचिन्तामणिः । उत्सर्पिणा=ऊर्ध्वगमनशीलेन, नूपुरमणीनाम्=हंसकस्य रत्नानाम्, प्रभाजालेन=दीप्तिसमूहेन, रञ्जितशरीरतया=रञ्जितम् (=शोभितम्) यत् शरीरम् (=देहः) तस्य भावस्तत्ता, तया, हेतुना रूप एव पक्षपातिना=रूपे (=सौन्दर्ये) एव पक्षपातिना (=अनुरक्तचित्तेन) अतएव प्रजापतिम्=स्रष्टारं ब्रह्माणम् , अप्रमाणीकुर्वता='त्वयैवम्विधा सुन्दरी मातङ्गकुले समुत्पाद्यास्पृश्या विहिता, किन्त्वहमेनां शुद्धां करोमि येन सर्वत्र सम्मान्या स्यादि'ति रूपेण तमप्रमाणं विदधता, भगवता=ऐश्वर्यशालिना, पावकेन=अग्निना, जातिसंशोधनार्थम्=अन्त्यजवंशोत्पन्नतयाऽस्पृश्यायास्तस्याः शुद्धतासम्पादनार्थम्, आलिङ्गितदेहाम् इव= आलिङ्गितः (= आश्लिष्टः) देहः (=शरीरम्) यस्यास्सा तां तादृशीमिव वर्तमानाम् । अत्रोत्प्रेक्षा ।

अनङ्गेति । अनङ्गवारणशिरोनक्षत्रमालायमानेन = अनङ्गः (=कामः) एव वारणः (=हस्ती) तस्य यत् शिरः (=मस्तकम्), तस्मिन् या नक्षत्रमाला (=सप्तविंशतिसंख्याकमौक्तिकस्रक्) तद्वदाचारता, तद्वदाचारार्थे क्यङ् । अनङ्गस्य वारणम्—इति तु न सम्यक्, तस्य वारणस्याप्रसिद्धेः । रोमराजिलतालवालकेन = रोमराजिः (= नाभिप्रदेशादङ्कुतयोर्ध्वगामिनी लोमपंक्तिः) एव लता (= वल्ली) तस्याः आलवालकेन=जलस्थापनाधारस्वरूपेण, मेखलादाम्ना= कटिमेखलाबन्धनरज्वा, परिगतजघनस्थलाम् = परिगतम् (=समन्ताद्व्याप्तम्) जघनस्थलम् (=कटिपुरोभागः) यस्याः सा तां तादृशीं वर्तमानाम् । "सैव नक्षत्रमाला स्यात् सप्तविंशतिमौक्तिकैः ।" "वीथ्यावलिरवलिः पंक्तिः श्रेणी लेखास्तु राजयः ।" "स्यादालवालम्वालमावापः ।" "कट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः ।" इत्यमरः । अत्र रोमराजौ लतात्वस्यारोपः रशनादाम्नि आलवालत्वारोपे निमित्तमिति परम्परितरूपकम्, क्यङन्तोपमा चानयोः संकरः ।

वाले, नुपूर (पायजेब) की मणियों की कान्तिसमूह से रंगे हुए शरीर वाली होने के कारण ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों केवल रूप का पक्षपात करनेवाले [तथा जन्म के पक्षपाती] ब्रह्मा को अप्रमाण बना देने वाले अग्निदेव ने उसकी शूद्र जाति का संशोधन करने के लिये उसके शरीर का आलिंगन (स्पर्श) कर लिया हो; कामदेव रूपी हाथी के मस्तक की नक्षत्रमाला के समान प्रतीत होने वाली (और नाभि से ऊपर उठने वाली) रोम पक्तिरूपी लता के (नये बने हुए) आलबाल के समान प्रतीत होने वाली करधनीरूपी रस्सी ने जिसके जघनस्थल को घेर रखा था

१. प्रभाजालकेनानुरंजित । २. रूपैक० । ३. रसनादाम्ना परिगतजघनाम् । ४. शुचिहारेण ।

न्दीशङ्कया कृतकण्ठग्रहाम्, शरदमिव विकसित-पुण्डरीक-लोचनाम्, प्रावृषमिव घनकेश-जालाम्, मलयमेखलामिव चन्दनपल्लवावतंसाम्, नक्षत्रमालामिव चित्रश्रवणा-भरण-भूषिताम्, श्रियमिव हस्तस्थित-कमलशोभाम्, मूर्च्छामिव मनोहारिणीम्,[1] अरण्यभूमिमिव

अतिस्थूलेति। अतिस्थूलमुक्ताफलघटितेन = अतिस्थूलानि (= महदाकाराणि) यानि मुक्ताफलानि (=मौक्तिकानि) तैर्घटितः (= निर्मितः) तेन। शुचिना=उज्वलेन, हारेण = चतुःषष्टिलतेन, ['चतुःषष्टिलतो हारः।' इत्यमरः] कालिन्दीशङ्कया = यमुनाभ्रान्त्या, गङ्गा-स्रोतसा इव=गङ्गाप्रवाहेण इव, कृतकण्ठग्रहाम्=कृतः (=विहितः) कण्ठग्रहः (=गलसंश्लेषः) यस्यास्तां तादृशीम्। अत्र चाण्डालकन्यायां समानश्यामतया यमुनाभ्रमाद् 'भ्रान्तिमान्' हारे गङ्गाप्रवाहत्वोत्प्रेक्षाद् द्रव्योत्प्रेक्षा चेत्यनयोः मिथोऽङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यात् सङ्कराख्योऽलङ्कारः।

शरदमिति। शरदम्=घनात्यय इव, विकसितपुण्डरीकनेत्राम्=विकसितानि (=प्रस्फुटितानि) पुण्डरीकाणि (=कमलानि) एव नेत्राणि (=लोचनानि) यस्याः सा तादृशीम्। कन्या-पक्षे विकसितपुण्डरीके (=प्रस्फुटितकमले) इव नेत्रे यस्याः सा ताम्। अत्रोपमा।

प्रावृषमिति। प्रावृषमिव = वर्षाकालमिव, घनकेशजालाम् = घनाः (=निविडाः) ये केशाः (=शिरोरुहाः) तेषां जालानि (=समूहाः) यस्याः सा तां तादृशीम्। प्रावृट्पक्षे—घनाः (=मेघाः) एव केशजालानि यस्याः सा तादृशीम्। अस्मिन् पक्षे रूपकमलङ्कारः।

मलयेति। मलयस्य=एतन्नामकपर्वतस्य, मेखला=मध्यदेशः, तामिव। चन्दनपल्लवावतंसाम्=चन्दनस्य (=श्रीखण्डस्य) ये पल्लवाः (=किसलयानि) ते एव अवतंसाः (=भूषणानि) यस्याः सा ताम्। मेखलापक्षे—चन्दनपल्लवानामवतंसा यस्याः सा तामित्ययमर्थोऽपि वक्तुं शक्यते। रूपकमत्र।

नक्षत्रेति। नक्षत्रमालामिव = नक्षत्राणाम् (=उडूनाम्) माला (=स्रक्) तामिव, चित्रश्रवणाभरणभूषिताम् =चित्राणि (=बहुप्रकाराणि) यानि श्रवणस्य (=कर्णस्य) आभरणानि (=भूषणानि) तैः भूषिताम् (=अलंकृताम्)। पक्षे—चित्रश्रवणा-भरणी-संज्ञकैः नक्षत्रैः भूषिताम् यद्वा—चित्राश्रवणावेव आभरणे यस्याः सा तामिव। रूपकमत्र।

श्रियमिवेति। श्रीः=लक्ष्मीः, तामिव, हस्तस्थितकमलशोभाम्=हस्ते (=करे) स्थिता (=विद्यमाना) कमलस्य (=पङ्कजस्य) शोभा (=सौन्दर्यम्) यस्याः सा ताम्। पक्षे—हस्ते स्थितम् (=विद्यमानम्) यत् कमलम् (पद्मम्) तेन शोभा (=सुन्दरता) यस्याः सा ताम्।

मूर्च्छामिवेति। मूर्च्छा=मोहः, तामिव, मनोहारिणीम्=मनोहराम्, पक्षे-चेतनापहारिणीम्।

अति विशाल मुक्ताफल (मोतियों) से बने हुए उज्वल हार ने उसके (श्यामवर्ण के) कण्ठ को उसी प्रकार घेर लिया था जैसे मानों (श्वेत धारावाली) गंगा ने (श्यामवर्ण की धारा वाली) यमुना समझ कर उसके कण्ठ का आलिंगन कर लिया हो। जो खिले हुए कमलरूपी नेत्रों वाली शरद ऋतु के समान थी; (कन्या-पक्ष में—खिले हुए कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाली थी।) जो घन (बादल) रूपी केशों वाली वर्षा ऋतु के समान थी; (कन्यापक्ष में—घने केशों के समूह से युक्त थी।) जो चन्दन के पल्लवरूपी आभूषणों वाली मलयाचल की मेखला (मध्यभाग) के समान थी; (कन्यापक्ष में—चन्दन के नवपल्लवों को ही आभूषण बनाये हुई थी।) जो चित्रा, श्रवण और भरणी नामक नक्षत्रों से युक्त नक्षत्रमाला (नक्षत्रसमूह) के समान थी; (कन्यापक्ष

१. मनोहराम्।

अक्षतरूप[1]-सम्पन्नाम्, दिव्ययोषितमिवाकुलीनाम्, निद्रामिव लोचनग्राहिणीम्, अरण्यकमलिनीमिव मातङ्गकुलदूषिताम्, अमूर्त्तामिव स्पर्शवर्जिताम्, आलेख्यगतामिव

अरण्येति। अरण्यम् = काननम् तस्य, भूमिः = पृथ्वी, तामिव, अक्षत-रूपसम्पन्नाम् = अक्षतम् (= अनष्टं) रूपम् (= आकृतिविशेषः) तेन सम्पन्नाम् (= युक्ताम्)। पक्षे— अक्षतरुभिः = बिभीतक-वृक्षैः, सम्पन्नाम् = सहिताम्। यद्वा—अक्षताः (= अघातिताः) ये रूपाः (= पशवः) तैः सम्पन्नाम् "अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्।' इत्यमरः। "रूपं तु श्लोकशब्दयोः। प्रशावाकारे सौन्दर्ये।" इत्यनेकार्थः। "रुद्राक्षे रावणौ सर्पे बिभीतकतरावपि।" इति हैमः। श्लेषालङ्कारः।

दिव्योषितमिति। दिव्ययोषितमिव = दिव्या (= देवसम्बन्धिनी) योषित् = स्त्री तामिव, अकुलीनाम् = कौ (पृथिव्याम्) लीना न भवति—इति अकुलीना, ताम् ['गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्माऽवनिर्मेदिनी मही। इत्यमरः २।१।३] स्वर्गे विराजमानामित्यर्थः। चाण्डालकन्यापक्षे—कुले (= प्रशस्यवंशे) भवा इत्यर्थे "कुलात्खः [पा० सू० ४।१।१३९] इति खप्रत्ययः, तस्येनादेशः, कुलीना, न कुलीनेति अकुलीना = अन्त्यजकुलोत्पन्नतया गर्हितेत्यर्थः।

निद्रामिति। निद्रामिव = निद्रा (= स्वापः), तामिव, लोचनग्राहिणीम् = सौन्दर्यातिशयेन सर्वेषां नेत्राकर्षिकाम्, निद्रापक्षे—लोचनानाम् = निद्राव्यापाराणाम् ग्राहिणीम् = अवरोधिनीम्। निद्रा यथा सर्वेषां नेत्राणि व्यापारशून्यानि विदधाति तथैव सा कन्यकाऽपि सौन्दर्येण सर्वान् निर्निमेषानकार्षीदिति भावः। श्लेषः।

अरण्येति। अरण्यकमलिनीमिव = अरण्यम् (= वनम्), तस्य या कमलिनी = पद्मिनी, तामिव मातङ्गकुलदूषिताम् = मातङ्गाः (= चाण्डालाः) तेषाम् यत् कुलम् (= वंशः) तेन दूषिताम् = मलिनीकृताम्। कमलिनीपक्षे—मातङ्गकुलेन (= हस्तिसमूहेन) दूषिताम् = निर्मर्षिताम्। "मातङ्गः श्वपचे गजे।" इति मेदिनी।

अमूर्तामिति। अमूर्ताम् इव = मूर्ता = शरीरिणी, यद्वा—इयत्तावच्छिन्नपरिमाणशून्या बुद्धिः, तामिव, स्पर्शवर्जिताम् = स्पर्शः = सम्पर्कः तेन वर्जिताम् = रहिताम्, कन्यकापक्षे—निषिद्धस्पर्शाम्। धर्म-शास्त्रादौ चाण्डालस्पर्शो निषिद्ध इति भावः।

में—चित्र = अद्‌भुत श्रवणाभरण = कानों के आभूषणों से भूषित थी।) जो हाथों में स्थित कमलों से शोभायुक्त लक्ष्मी के समान थी; (कन्यापक्ष में—हाथों में रेखाचिह्न के रूप में बने कमलों से शोभायमान थी।) जो मन (= चेतना) का हरण कर लेने वाली मूर्च्छा (बेहोशी) के समान थी; (कन्यापक्ष में—सभी के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेने वाली थी।) जो अक्ष-तरु-उपसम्पन्न = अक्ष नामक वृक्षों से भरी हुई जंगल की जमीन के समान थी; (कन्यापक्ष में—अक्षत = किसी के द्वारा अभुक्त या अविनष्ट रूप = सौन्दर्य से उपसम्पन्न = युक्त थी।) जो अ-कु-लीन (= पृथ्वी पर न रहनेवाली) दिव्ययोषित् (देवाङ्गना) के समान थीं, (कन्यापक्ष में—अ-कुलीन = उच्चकुल में जन्म न लेनेवाली शूद्र थी।) जो आँखों को पकड़ लेने वाली (विवश कर देने वाली) निद्रा के समान थी, (कन्यापक्ष में— द्रष्टा की आँखों को अपनी ओर खींच लेने वाली थी।) जो मातंग-कुल (हाथियों के समूह) द्वारा दूषित (नष्ट-भ्रष्ट) अरण्य-कमलिनी के समान थी, (कन्यापक्ष में—मातंगकुल = चाण्डालकुल में जन्म लेने से दूषित—किसी के द्वारा स्वीकार न करने योग्य थी।) जिस प्रकार अमूर्त वस्तु का देखना वर्जित =

१. क्वचित् 'अक्षत' पदं न विद्यते।

दर्शनमात्रफलाम्, मधुमास-कुसुम-समृद्धिमिव अजातिम्[1], अनङ्ग-कुसुम-चापलेखामिव मुष्टिग्राह्यमध्याम्, यक्षाधिपलक्ष्मीमिवालकोद्भासिनीम्, अचिरोपरूढयौवनाम्[2], अतिशयरूपाकृतिम्, अनिमिष-लोचनो[3] ददर्श ।

आलेख्येति । आलेख्यगतामिव=आलेख्यम् (=चित्रम्) तत्र गताम् (=प्राप्ताम्, चित्रिताम्) इव, दर्शनमात्रफलाम्=दर्शनम् (=अवलोकनम्) एव फलम् (=प्रयोजनम्) यस्याः सा ताम् । चित्रितवस्तुनः यथा केवलं दर्शनं भवति न तेन किञ्चिदपि साध्यते तथैवास्या अपि केवलं दर्शनं कर्तुं शक्यते न तु सम्पर्कादिकमिति भावः ।

मधुमासेति । मधुमास-कुसुमसमृद्धिमिव=मधुमासः (=वसन्तसमयः) तस्मिन् या कुसुमानाम् (=पुष्पाणाम्) समृद्धिः (=सम्पन्नता) तामिव, अजातिम्=ब्राह्मणत्वादिप्रशस्यजातिरहिताम् इव । वसन्तपक्षे—जातिः=मालती । न विद्यते जातिर्यस्यां सा ताम् । "न स्याज्जातिर्वसन्ते" इति कविसमयप्रसिद्धिः ।

अनङ्गेति । अनङ्गकुसुमचापलेखामिव=अनङ्गः (=कामदेवः) तस्य य, कुसुमचापः =(=पुष्पधनुः) तस्य या लेखा=लता, तामिव, मुष्टिग्राह्यमध्याम्=मुष्टिना (=संपीडिताङ्गुलिना) ग्रहीतुं शक्यः मध्यः=मध्यभागः यस्याः सा ताम् । कन्यकापक्षे—मुष्टिग्राह्यकटिप्रदेशाम् । अनेन कटिप्रदेशस्यातिक्षीणत्वं प्रतीयते । अत्र श्लेषः ।

यक्षाधिपेति । यक्षाधिपलक्ष्मीमिव=यक्षाधिपस्य (=कुबेरस्य) या लक्ष्मीः (=श्रीः) तामिव, अलकोद्भासिनीम्=अलकैः (=केशैः) उद्भासते (=शोभते) इत्येवंशीलाम् । पक्षे—अलका कुबेरनगरी, तया उद्भासनशीलाम् । अत्रापि श्लेषः ।

अचिरेति । अचिरोपरूढयौवनाम्=अचिरम् (=शीघ्रमेव) उपारूढम् (=समागतम्) यौवनम् (=तारुण्यम्) यस्याः सा ताम्, नवयुवतीमित्यर्थः ।

अतिशयेति । अतिशयरूपाकृतिम्=अतिशयेन रूपं यस्यां सा तादृशी=उत्कृष्टरूपा आकृतिः (=आकारः) यस्याः सा तां तादृशीम्, चाण्डालकन्यामनिमेषलोचनो ददर्शेति सम्बन्धः पूर्वमेवोक्तः ।

असंभव है उसी प्रकार जो (कन्या भी) [कुलीन लोगों के] स्पर्श से वर्जित=निषिद्ध थी, जिस प्रकार चित्र में बनी हुई आकृति को केवल देखना ही फल होता है, उसका उपभोगादि करना संभव नहीं होता है, उसी प्रकार जो (कन्या भी) केवल देखने लायक ही थी उपभोग करने योग्य नहीं थी, जिस प्रकार वसन्त ऋतु के महीनों की सम्पन्नता अजाति = चमेली के फूलों से रहित होती है उसी प्रकार जो (कन्या) अजाति = ब्राह्मणत्वादि उच्च जाति से रहित थी, जिस प्रकार कामदेव के धनुष की डंडी का मध्य भाग मुट्ठी से पकड़ने योग्य होता है उसी प्रकार पतली होने के कारण जिसका भी मध्यभाग (कटिप्रदेश) मुट्ठी से पकड़ने योग्य था, जिस प्रकार यक्षाधिप (कुबेर) की राजलक्ष्मी 'अलका' नामक नगरी से उद्भासित होती है, उसी प्रकार जो (कन्या) 'अलकों' (= केशों) से शोभित होने वाली थी, जो कुछ समय पूर्व ही यौवन को प्राप्त कर चुकी थी, जो अत्यधिक उत्कृष्ट आकारवाली थी । [ऐसी चाण्डाल कन्या को राजा शूद्रक अपलक दृष्टि से देखता रहा ।]

१. विजातिम् । २. उपारूढ । ३. अनिमेष ।

दृष्ट्वा[1] च तां समुपजात[2]विस्मयास्याभून्मनसि महीपतेः—'अहो ! विधातुरस्थाने [3]रूप-निष्पादन-प्रयत्नः । तथाहि, यदि नामेयमात्मरूपोपहसिताशेषरूपसम्पदुत्पादिता, किमर्थमपगत-स्पर्श-सम्भोग-सुखे कृतं कुले जन्म[4] ।

मन्ये च "मातङ्ग-जाति-स्पर्श-दोष-भयादस्पृशतेयमुत्पादिता[5] प्रजापतिना, अन्यथा कथमियमक्लिष्टता लावण्यस्य । नहि[6] करतल-स्पर्श-क्लेशितानामवयवानामीदृशी भवति कान्तिः ।

पूर्वोक्तामद्भुतां तां कन्यां दृष्ट्वा = अवलोक्य शूद्रकस्य कीदृशी प्रतिक्रियेति प्रतिपादयितुमाह—समुपजातेति । समुपजातविस्मयस्य = समुपजातः (= समुत्पन्नः) विस्मयः (= आश्चर्यम्) यस्य स तस्य, महीपतेः = भूपतेः, शूद्रकस्येत्यर्थः, मनसि = चित्ते, "एवम् = अग्रे निर्दिश्यमानम्' इति संयोज्यम्, अभूत् = अभवत् । तद् वर्णयति—अहो इति । अहो = आश्चर्यम्, विधातुः = ब्रह्मणः, अस्थाने = अपदे, सौन्दर्यनिष्पादनयत्नः = अद्भुतरूपस्य निर्माणस्य प्रयासः, "युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने ।" इत्यमरः । तदेव दर्शयति—तथा हीति । नाम=कोमलामन्त्रणम्, आत्मरूपोपहसिताशेषरूपसम्पत् = आत्मनः (= स्वस्य), रूपेण (= सौन्दर्येण), उपहसिता (= उपहास्यास्पदीकृता) अशेषा (= समस्ता) रूपसम्पत् (= सौन्दर्यसमृद्धिः) यया सा तादृशी, इयम् = पुरोवर्तमाना चाण्डालकन्यका, यदि = चेत्, उत्पादिता = निर्मिता, 'तर्हि' इति शेषः, किमर्थम् = किन्निमित्तम्, अपगतस्पर्शसंभोगसुखे=अपगते (=दूरीभूते, वर्जिते) स्पर्शः (=संश्लेषः) संभोगसुखम् (=सुरतानन्दः) च ते च यस्मात् तत् तस्मिन्, कुले=वंशे, चाण्डालपरिवारे इत्यर्थः, जन्म=उत्पत्तिः, कृतम्=विहितम् । यदि परमसुन्दरीयं जनिता तथा चाण्डालान्वये उत्पत्तेः कारणं न स्पष्टमिति भावः ।

स्वयमेव निश्चिनोति—मन्ये इति । मन्ये = जाने, अहमिति शेषः, मातङ्गजातिस्पर्शदोषभयात् =मातङ्गजातेः (= चाण्डालजातेः) स्पर्शः (= संश्लेषः) तेन यो दोषः (=दूषणं प्रायश्चित्तमिति भावः) तस्मात् यद् भयम् (= भीतिः) तस्मात्, हेतोरित्यर्थः, अस्पृशता = स्पर्शमकुर्वता, प्रजापतिना = ब्रह्मणा, इयम् = पुरो दृश्यमाना कन्यका, उत्पादिता = रचिता, अन्यथा=पूर्वोक्तवैपरीत्ये, सति, लावण्यस्य = लवणिम्नः, सौन्दर्यस्येत्यर्थः, इयम्=प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणा, अक्लिष्टता = क्लेशरहित ा, कोमलतेति भावः, कथम् = केन प्रकारेण, स्यादिति शेषः । स्वोक्तौ हेतुमाह—न हीति । करतलस्पर्श-क्लेशितानाम् = पाणितल-स्पर्शमर्दितानाम्, अवयवानाम् = अङ्गानाम्, कुचादीनामित्यर्थः, ईदृशी = एतादृशी; कान्तिः सौकुमार्यम्, न हि = नैव, भवतीति भावः ।

और उस (चाण्डालकन्या) को देखकर उत्पन्न हुए विस्मय वाले राजा के मनमें [यह विचार] हुआ—"अहो ! विधाता का अनुचित स्थान पर सौन्दर्य उत्पन्न करने का प्रयास ! क्योंकि—यदि इसे अपने रूप से सम्पूर्ण रूप सम्पत्ति का उपहास करने वाली बनाया तो फिर स्पर्श और संभोगसुख [दोनों] से वर्जित [चाण्डाल] कुल में क्यों पैदा किया ?

और मैं तो ऐसा मानता हूँ कि चाण्डाल जाति के स्पर्श के दोष के भय के कारण ब्रह्मा ने बिना छुए हुए ही इसको बनाया है, यदि ऐसा नहीं होता तो इसकी सुन्दरता की इतनी कोमलता कैसे होती ? क्योंकि [बनाते समय] करतल (हथेली) के स्पर्श से दूषित अंगों की ऐसी कान्ति (चमक) नहीं हो सकती ।

---

१. दृष्टवा च ताम्-इति पाठो कुत्रचिन्नास्ति । २. जात । ३. सौन्दर्य-रूप० ।
४. अस्या जन्म । ५. मनसोत्पादिता । ६. तथा हि ।

सर्वथा धिग् धिग्विधातारम्[1] असदृशसंयोगकारिणम् । मनोहराकृतिरपि[2] क्रूरजातितया[3] येनेयमसुरश्रीरिव सतत-निन्दित-सुरता रमणीयाऽप्युद्वेजयति" इति ।

एवमादि चिन्तयन्तमेव राजानमीषदवगलित-कर्णपल्लवावतंसा प्रगल्भवनितेव कन्यका प्रणनाम ।

कृतप्रणामायाञ्च तस्यां मणिकुट्टिमोपविष्टायाम्, स पुरुषस्तं विहङ्गमं शुकमादाय[4] पञ्जरगतमेव किञ्चिदुपसृत्य राज्ञे न्यवेदयदब्रवीच्च—

साम्प्रतमनुचितकारिणं ब्रह्माणं विनिन्दति—सर्वथेति । असदृश-संयोगकारिणम्=असदृशयोः (=विरुद्धयोः चाण्डालत्वमनोहराकारयोः) यः संयोगः (=एकत्र सम्बन्धः) तं कर्तुं शीलं यस्य स तं तादृशम्, विधातारम्=स्रष्टारम्, सर्वथा=सर्वप्रकारेण, धिक् धिक् भृशं=निन्दामि, (आम्रेडित-धिग्योगे द्वितीया ।) येन=एतादृशासदृशसंयोगेन, मनोहरा=चित्ताकर्षिणी, आकृतिः=आकारः यस्याः सा तादृशी, अपि, क्रूरजातितया=चाण्डालजातितया, असुरश्रीः इव=दैत्यानां लक्ष्मीः इव, सततनिन्दितसुरता=सततम् (=निरन्तरम्) निन्दितम् (=गर्हितम्) सुरतम् (=मैथुनम्) यस्यां सा, तादृशी, पक्षे—सततम् निन्दिता (=तिरस्कृता) सुरता (=सुरसमूहः) यया सा, रमणीया अपि=मनोहरा अपि, उद्वेजयति=वैचित्यं समुत्पादयति ।

चाण्डालकन्यकाया व्यवहारं प्रतिपादयति—एवमादीति । एवमादि=पूर्वोक्तप्रकारादिकम्, चिन्तयन्तमेव=विचारयन्तमेव, राजानम्=नृपम्, शूद्रकमित्यर्थः, ईषदवगलितकर्णपल्लवावतंसा=ईषत् (=अल्पम्) अवगलितौ (=अधः प्रसृतौ) कर्णयोः (=श्रोत्रयोः) पल्लवौ एवावतंसौ पल्लवानां वा अवतंसौ (=आभूषणे) यस्याः सा तादृशी, कन्यका=चाण्डालकन्यका प्रगल्भवनिता इव=तदा पूर्णयुवतित्वाभावादप्रगल्मापि प्रौढनायिका इव, प्रणनाम=नमश्चकार । उपसर्गयोगाणत्वं बोध्यम् ।

कृतप्रणामायामिति । कृतप्रणामायाम्=कृतः (=विहितः) प्रणामः (=प्रणतिः) यया सा तस्याम्, मणिकुट्टिमोपविष्टायाम्=मणिकुट्टिमम् (=रत्नानां बद्धभूमिः) तत्र उपविष्टायाम् (=स्थितायाम्), तस्याम्=चाण्डालकन्यकायाम्, "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इति सूत्रेण सप्तमी, सः=तस्या अग्रे वर्तमानः, पुरुषः=वृद्धो जनः, पञ्जरगतमेव=पञ्जरस्थमेव, न तु ततः पृथक्कृत्येति भावः, तं विहंगमं=तं पक्षिणम्, शुकम्=कीरम्, आदाय=गृहीत्वा,उत्थाप्येति भावः, किञ्चित्=स्वल्पम्, उपसृत्य=पुरः आगत्य, राज्ञे=नृपाय शूद्रकाय, न्यवेदयत्=उपहृतवान् समर्पितवान्, च=तथा, अब्रवीत्=अकथयत् ।

[इस प्रकार के] असदृशों [स्पर्शवर्जित और अतिशयसौन्दर्य—इन दोनों विरुद्धों] के संयोग [एकत्र समावेश] करने वाले ब्रह्मा को बार-बार धिक्कार है, जिस [असदृश संयोग] के कारण मनोहर आकृति वाली भी यह [कन्या] क्रूर जाति [चाण्डाल जाति] वाली होने से सदैव निन्दित संभोग वाली होती हुई रमणीय होती हुई भी उसी प्रकार खेद (घृणा) पैदा करती है जिस प्रकार राक्षसों की लक्ष्मी सदैव देवसमूह की निन्दा करने वाली मनोहारिणी भी [मन में] खेद पैदा करती हैं ।

इसप्रकार से सोचते हुए ही राजा को कुछ पीछे झुके हुए पल्लवनिर्मित कर्णाभूषण वाली उस (चाण्डालकन्या) ने प्रौढा स्त्री के समान [निःशंक होकर] प्रणाम किया ।

उसके प्रणाम कर लेने और मणिमय फर्श पर बैठ जाने पर उस पुरुष ने पिंजरे में स्थित ही उस शुक पक्षी को लेकर कुछ पास जाकर राजा को समर्पित किया और बोला—

१. धिग् । २. अतिमनोहराकृतिरपि । ३. क्रूरजातिजातया । ४. शुकम्—इति क्वचिन्नास्ति ।

"देव ! विदितसकलशास्त्रार्थः, राजनीतिप्रयोगकुशलः, पुराणेतिहासकथालापनिपुणः, वेदिता गीतश्रुतीनाम्, काव्य-नाटकाख्यायिकाख्यानक[1]-प्रभृतीनामपरिमितानां सुभाषितानामध्येता स्वयञ्च कर्त्ता, परिहासालापपेशलः, वीणा-वेणु-मुरजप्रभृतीनां[2] वाद्यविशेषाणामसमः श्रोता, नृत्य[3]प्रयोगदर्शननिपुण, चित्रकर्म्मणि प्रवीणः, द्यूतव्यापारे प्रगल्भः, प्रणयकलह[4]-कुपित-कामिनी[5]-प्रसादनोपायचतुरः, गज-तुरग-पुरुष-स्त्री-लक्षणा-

अधुना शुकविषयकं पुरुषवचनं प्रतिपादयति—देवेति । देव= हे राजन् ! "राजा भट्टारको देवः ।" इत्यमरः । विदितसकलशास्त्रार्थः=विदिताः (=ज्ञाताः) सकलाः (=समस्ताः) शास्त्रार्थाः (=शास्त्रप्रतिपाद्यविषयाः) येन स तादृशः, राजनीतिप्रयोगकुशलः= राजनीतेः (=कामन्दक्यादिराजनयस्य) प्रयोगे (=शिक्षायाम्) कुशलः (= निपुणः), पुराणेतिहासकथाकुशलः=पुराणम् (=पञ्चलक्षणात्मकं शिवपुराणादिकम्) इतिहासः (=महाभारतादिः), तयोः कथाः (=वृत्तान्ताः) तासाम् आलापः (=सम्यग्भाषणम्) तत्र निपुणः (=दक्षः), गीतश्रुतीनाम्= गीतम् (=गानम्) श्रुतयः (=द्वाविंशतिः श्रुतयः) । तदुक्तम्—"सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामाः मूर्च्छाश्चैकोनविंशतिः । ताना एकोनपञ्चाशद् द्व्यधिका विंशतिः श्रुतिः ।") तासाम् वेदिता=ज्ञाता, काव्यनाटकेत्यादिः=काव्यम् (=कविकर्म), नाटकम् (=अभिनेयं कविकर्म) आख्यायिका (=वासवदत्तादिः), आख्यानकम् (=नलवृत्तान्तादिकम्, साम्प्रतिकराजवृत्तादिकं वा) एतत्प्रभृतीनाम्=इत्यादिकानाम्, अपरिमितानाम्=असंख्यानाम्, सुभाषितानाम्=सदुक्तीनाम्, अध्येता=अध्ययनकर्ता, स्वयं च कर्ता= रचयिता, एतेन तस्य विविधकलासु वैदुष्यं प्रदर्शितम् । परिहासालापपेशलः=परिहासः (=अन्येषां नर्मवचनैः हसनम्) तस्य ये आलापाः (=रसाभिव्यञ्जकशब्दप्रयोगाः) तत्र पेशलः (=कुशलः); वीणावेणुमुरजादीनाम्=वीणा (=वल्लकी, ततवाद्यम्) वेणुः (=सुषिरम्, वंशवाद्यम्) मुरजम् (=आनद्धम्, मृदङ्गादिः) प्रभृतिशब्देन कांस्यतालदिकं ग्राह्यम्, एतेषाम् वाद्यविशेषाणाम् असमः= अद्वितीयः, श्रोता=आकर्णयिता; नृत्यप्रयोगदर्शननिपुणः= नृत्यम् (=ताललयाश्रितः शारीरकव्यापारविशेषः) तस्य प्रयोगः (=अनुष्ठानम्) तस्य दर्शनम् (=अवलोकनम्) तत्र निपुणः (=दक्षः); चित्रकर्मणि=आलेख्यक्रियायाम्, प्रवीणः=कुशलः; द्यूतव्यापारे=दुरोदर-क्रीडायाम्, प्रगल्भः = प्रतिभान्वितः; प्रणयकलहकुपितकामिनीप्रसादनोपायचतुरः = प्रणयेन (=स्नेहेन) यः कलहः (=विवादः) तेन कुपिताः (=क्रुद्धाः) याः कामिन्यः (= रमण्यः) तासां प्रसादनम् (=प्रसन्नतापादनम्) तस्य ये उपायाः (=साधनानि) तेषु चतुरः (=दक्षः); गजतुरगपुरुषस्त्रीलक्षणाभिज्ञः=

"राजन् ! समस्त शास्त्रों के प्रतिपाद्य पदार्थों को जानने वाला; राजनीति के प्रयोग (शिक्षा) में चतुर; पुराणों तथा इतिहास की कथाओं के कहने में निपुण; गीत और [२२] श्रुतियों को जानने वाला; काव्य [श्रव्य], नाटक [दृश्य काव्य], आख्यायिका, और आख्यानक आदि अगणित सुभाषितों को पढ़ चुकने वाला तथा स्वयं भी [उनका] निर्माण करने वाला; हँसी-मजाक की बातों में कुशल; वीणा, वेणु, मृदंग आदि विशेष वाद्यों का बेजोड़ सुनने वाला; नृत्य के प्रयोग और दर्शन में निपुण; चित्रकला में प्रवीण; जुआ खेलने में चतुर; प्रेमकलह में नाराज (कुपित) हुई

१. नाटकाख्यानक । २. मुरजादीनाम् । ३. नृत्त । ४. कलह-इति क्वापि नास्ति । ५. कामिनीजन ।

भिज्ञः, सकलभूतल-रत्नभूतोऽयं वैशम्पायनो नाम शुकः। सर्वरत्नानाञ्च[1] उदधिरिव देवो भाजनमिति कृत्वैनमादायास्मत्स्वामिदुहिता देवपादमूलमायाता, तदयमात्मीयः[2] क्रियतामित्युक्त्वा नरपतेः पुरो निधाय पञ्जरमसावपससार[3]।

अपसृते च तस्मिन् स विहङ्गराजो[4] राजाभिमुखो भूत्वा समुन्नमय्य[5] दक्षिणं चरणमति-स्पष्ट-वर्ण-स्वर-संस्कारया[6] गिरा कृतजयशब्दो राजानमुद्दिश्यार्य्यामिमां पपाठ—

गजाः (=करिणः), तुरगाः (=अश्वाः), पुरुषाः (=पुमांसः), स्त्रियः (=कामिन्यः) च तासां लक्षणानि (=सामुद्रिकोक्तानि शुभाशुभसूचकचिह्नानि) तत्राभिज्ञः=विज्ञाता; सकलभूतलरत्नभूतः=सकलपृथ्वीतलोत्कृष्टभूतः, अयम्=पुरो वर्तमानः, वैशम्पायनः नाम=एतन्नाम्ना ख्यातः, शुकः=कीरः। सर्वरत्नानाम्=समस्तोत्कृष्टपदार्थानाम्, उदधिः=समुद्रः, इव, सर्वरत्नाम्, देवः=स्वामी, भवान्, भाजनम्=पात्रम्, यथा समुद्रे सर्वरत्नानि सन्ति तथैव श्रीमतः सविधेऽपि सर्वोत्कृष्टवस्तूनि सन्ति, इति कृत्वा=इति विचार्य, एनम्=शुकम्, आदाय=गृहीत्वा, अस्मत्स्वामिदुहिता=अस्मत्स्वामिनः (=अस्मदधिपस्य) दुहिता (=कन्या) देवपादमूलम्=भवच्चरणान्तिकम्, आयाता=समागता। तत्=तस्मात्, अयम्=एषः, आत्मीयः=स्वीयः क्रियताम्=विधीयताम्, शुक इति शेषः–इत्युक्त्वा=इत्यभिधाय, पञ्जरम्=पक्षिरक्षणाधारम्, नरपतेः=राज्ञः, पुरः=अग्रे, निधाय=स्थापयित्वा, असौ=सः पुरुषः, अपससार=अपसृतोऽभूत्, बहिर्जगामेति भावः।

साम्प्रतमद्भुतस्य शुकस्य कार्यं निरूपयति—अपसृते इति। तस्मिन्=पूर्वोक्ते वृद्धपुरुषे, अपसृते=अपगते, दूरीभूते सति, सः=पूर्वोक्तः, वैशम्पायनः, विहङ्गराजः=पक्षिराजः, राजाभिमुखः=नृपसंमुखः, भूत्वा; दक्षिणम्=अपसव्यम्, चरणम्=पादम्, उन्नमय्य=उत्थाप्य, ऊर्ध्वं विधाय, अतिस्पष्टवर्ण–स्वरसंस्कारया=अतिस्पष्टाः (=अतिप्रकटाः) वर्णाः (=अकारादयोऽक्षराः) स्वराः (=उदात्तादयो वर्णधर्माः) तेषां संस्कारः (=परिपाकः) यस्यां सा तथा तया, गिरा=वाचा, कृतजयशब्दः=कृतः (= विहितः, उच्चारितः) जयशब्दः (–'जय' इत्याकारकध्वनिः) येन स तादृशः, 'भवतां जयोऽस्तु' इत्याकारकध्वनिमुच्चार्येति भावः, राजानम्=नृपम्, शूद्रकम्, उद्दिश्य=निमित्तीकृत्य, इमाम्=वक्ष्यमाणाम्, आर्याम्=मात्रिकच्छन्दोविशेषम्, पपाठ=अपाठीत्।

स्त्रियों को खुश करने के उपायों का मर्मज्ञ; हाथी, घोड़ा, पुरुष तथा स्त्रियों के [सामुद्रिकोक्त] लक्षणों का अच्छा जानकार; समस्त पृथ्वीतल का रत्न यह 'वैशम्पायन' नामक तोता है [और] समुद्र के समान आप महाराज भी सभी रत्नों [उत्कृष्ट पदार्थों] के पात्र [आश्रय] हैं—ऐसा समझ कर इस [अद्भुत] तोते को लेकर हमारे स्वामी की कन्या महाराज के चरणों के मूल (समीप) में आई है। इसलिये इस तोते को आप अपना बना लीजिए अर्थात् स्वीकार कर लीजिए।"

ऐसा कह कर पिंजरे को राजा के सामने रख कर वह पुरुष [वहाँ से] चला गया।

उस वृद्ध पुरुष के चले जाने पर पक्षिराज उस तोते ने राजा की ओर मुख करके दाहिना पैर उठा कर वर्णों और स्वरों के अतिस्पष्ट संस्कार वाली वाणी से 'जय हो' ऐसा शब्द बोल कर राजा को लक्षित करके यह आर्या पढ़ी—

---

१. सर्वरत्नानामुदधिरिव। २. आत्मायत्तः। ३. पञ्जरमपससार। ४. विहङ्गमराजः। ५. उन्नमय्य। ६. इदं क्वापि नास्ति।

'स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः ।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम् ॥ २ ॥'

राजा तु तां[1] श्रुत्वा संजात-विस्मयः सहर्षमासन्नवर्त्तिनम्, अतिमहार्घ[2]हेमासनोप-

अन्वयः—[हे राजन्] अश्रुस्नातम्, हृदयशोकाग्नेः समीपतरवर्ति, विमुक्ताहारम्, भवतः रिपुस्त्रीणां स्तनयुगम्, व्रतम्, चरति, इव ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे राजन् ! इत्यादिकं सम्बोधनपदमध्याहृत्यान्वयः कार्यः । अश्रुस्नातम् = अश्रुभिः (=नयनजलैः) स्नातम् (=विहितस्नानम्, प्रच्छालितमिति भावः), हृदयशोकाग्नेः= हृदये (=चित्ते) यः शोकः (=भर्तृमरणजनितं दुःखम्) स एवाग्निः (=दावानलः) तस्य, समीपतरवर्त्ति=अतिशयेन समीपतरं=निकटतरं वर्तते तच्छीलम्, सन्निहितवर्त्तीत्यर्थः, विमुक्ताहारम्=विमुक्तः (=परित्यक्तः) हारः (=मौक्तिकमाला) येन स तत्, तथा यद्वा–विगतः मुक्ताहारः=मौक्तिकमाला यस्मात् तत् तथा, भवतः=तव, शूद्रकस्येत्यर्थः, रिपुस्त्रीणाम्=शत्रुवनितानाम्, स्तनयुगम्=कुचद्वयम्, व्रतम्=नियमम्, चरति=आसेवते, इव । लोके अन्योऽपि कश्चिद् व्रती शरीरशुद्धयर्थं कालत्रये स्नाति, होमाग्निसमीपे तिष्ठति, वर्जिताहारं परित्यजति । विमुक्ताहारमित्यत्र सभङ्गश्लेषः; हृदयशोकाग्नेः इत्यत्र निरङ्गं केवलरूपकम्, क्रियोत्प्रेक्षा चेत्येतेषामलंकाराणां परस्परमनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिरलंकारः ॥२१॥

आर्याकथनानन्तरं किं वृत्तं तन्निरूपयति—राजेति । राजा=नृपः शूद्रकः, तु=अपि, ताम् = पूर्वोक्तां शुकोच्चारिताम्, आर्याम्, श्रुत्वा = आकर्ण्य, सञ्जातविस्मयः = सञ्जातः (=समुत्पन्नः) विस्मयः (=आश्चर्यम्) यस्य स तथा, सहर्षम्=सानन्दं यथा स्यात्तथा, क्रियाविशेषणमेतत्, आसन्नवर्त्तिनम्=समीपस्थितम्, अतिमहार्घहेमासनोपविष्टम्=अतिमहार्घम् (=अतिबहुमूल्यम्) यद् हेमासनम् (=स्वर्णासनम्) तत्रोपविष्टम् (=निषण्णम्), अमरगुरुम्=सुरगुरुं बृहस्पतिम्, इव, अशेषनीतिशास्त्रपारगम्=अशेषाणि (=सकलानि) यानि नीतिशास्त्राणि (=नयविवेकप्रतिपादकतन्त्राणि) तेषां पारगम् (=पारगामिनम्, रहस्यवेदिनमिति भावः),

"[हे राजन् !] आपके शत्रुओं की स्त्रियों के दोनों स्तन जो [भर्तृवियोग में बहने वाले] आँसुओं से स्नात=भीगे हुए हैं, हृदय में [वर्तमान] शोकरूपी आग के अति समीप में स्थित हैं, विमुक्ताहार=मौक्तिक माला को छोड़ने वाले हैं; मानो व्रत कर रहे हैं । [पक्ष में-विमुक्ताहार = छोड़ दिया है भोजन जिसने वह ।]

[भाव यह है कि लोक में जैसे कोई व्रतादि अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति शुद्धता के लिये कई बार स्नान करता है वैसे ही शत्रुओं की स्त्रियों के दोनों स्तन पति-वियोग में बहते हुए अश्रुजल से सदा स्नान करते रहते हैं । लोक में व्रती पञ्चाग्निके पास बैठकर तपस्या करता है, इसी प्रकार दोनों स्तन हृदयस्थशोकरूपी आग के पास स्थित हैं । लोक में व्रती विमुक्ताहार=आहार छोड़ने वाला होता है वैसे ही स्तनयुगल मुक्ताहार-रहित है । इस प्रकार स्तनयुग और व्रती में पर्याप्त समानता है ।]

उस आर्या (छन्द) को सुनकर आश्चर्यचकित होते हुए राजा (शूद्रक) ने अपने पास वर्तमान, बहुत अधिक कीमती स्वर्णमय आसन पर बैठे हुए, बृहस्पति के समान समस्त नीति-

१. तामार्याम् । २. महार्हासनोपविष्टम्, अतिमहार्हहेमासनोपविष्टम् ।

विष्टम्, अमरगुरुमिवाशेषनीतिशास्त्रपारगम्, अतिवयसमग्रजन्मानमखिलमन्त्रिमण्डले प्रधानममात्यं कुमारपालितनामानमब्रवीत्--

"श्रुत्वा भवद्भिरस्य विहङ्गमस्य स्पष्टता वर्णोच्चारणे, स्वरे च मधुरता ? प्रथमं तावदिदमेव महदाश्चर्य्यम्[1], यदयम[2]सङ्कीर्णवर्णप्रविभागामभिव्यक्तमात्रानुस्वार-स्वर-संस्कार-योगां विशेषसंयुक्ताम्[3] अतिपरिस्फुटाक्षरां[4] गिरमुदीरयति । तत्र पुन[5]रपरम्[6], अभिमतविषये

अतिवयसम्=अत्यन्तमधिकं वयः (=अवस्था) यस्य तम्, अतिवृद्धमित्यर्थः, अग्रजन्मानम्=अग्रे (=प्रथमवर्णे) जन्म (=उत्पत्तिः) यस्य स तं ब्राह्मणमित्यर्थः, तथा अखिलमन्त्रिमण्डले= अखिलम् (=सकलम्) यत् मन्त्रिणाम् (=अमात्यानाम्) मण्डलम् (=समूहः) तस्मिन्, प्रधानम्=प्रमुखम्, कुमारपालितनामानम्=कुमारपालितः नाम यस्य स तम्, कुमारपालिताख्यम्, अब्रवीत्=अवोचत् ।

राज्ञोक्तं निर्दिशति--श्रुत्वेति । भवद्भिः = युष्मद्भिः, अस्य = अमुष्य, सम्मुखस्थस्य, विहङ्गमस्य=पक्षिणः शुकस्येत्यर्थः, वर्णोच्चारणे =वर्णानाम् (=स्वरव्यञ्जनादीनाम्) उच्चारणे (=कथने, वचने) स्पष्टता=स्फुटता, अश्लिष्टता, स्वरे =उदात्तादिस्वरभेदे, ध्वनौ वा, मधुरता= माधुर्यम् च श्रुता=आकर्णिता ? किमिति प्रश्नः काक्वाऽभिव्यज्यते । प्रथमम्=आदौ, तावत्, इदमेव= प्रत्यक्षमनुभूयमानमेव, महद्=बहु, आश्चर्यम्=अद्भुतत्वम्, यद्, अयम्=पुरोवर्त्ती शुकः, असंकीर्ण-वर्णप्रविभागाम्=असंकीर्णः (=साङ्कर्यशून्यः, परस्परवैलक्षण्येन प्रतीयमानः) वर्णानाम् (=अक्षरा-णाम्) प्रविभागः (=पार्थक्यम्) यस्यां सा तथा ताम्, अभिव्यक्त-मात्रानुस्वारसंस्कारयोगाम्= अभिव्यक्ताः (=स्फुटं प्रतीयमानाः) मात्राः (=ह्रस्वदीर्घप्लुतस्वरूपाः) अनुस्वारः (स्वरवृत्तिधर्म-विशेषः) स्वराः (=उदात्तादयः) संस्कारः (=व्याकरणसाधुत्वम्) च--एतेषां योगः (=सम्बन्धः) यस्यां सा तथा ताम्, विशेषसंयुक्ताम्=विशेषेण (=श्लेषादिवैशिष्ट्येन), संयुक्ताम् (=सहिताम्), अतिपरिस्फुटाक्षराम्=अत्यन्तं परिस्फुटाणि (=व्यक्तानि) अक्षराणि यस्यां सा तादृशीम् गिरम्= वाचम्, उदीरयति=उच्चारयति । अत्र सामान्यतया पौनरुक्तिप्रतीतावपि सूक्ष्मभेदेन न कश्चिद्दोष इति बोध्यम् ।

तत्रेति । तत्र=उच्चारणसम्बन्धे, पुनः, अपरम्=अधिकमन्यत्, आश्चर्यमिति शेषः, अभि-मतविषये=स्वाभीष्टे उपादेयेऽर्थे, तिरश्चः अपि =पक्षिणोऽपि, मनुजस्येव=मनुष्यस्येव, संस्कार-

शास्त्रों में पारंगत, अत्यधिक अवस्थावाले (वृद्ध) अग्रजन्मा (ब्राह्मण), सारे मन्त्रि-समुदाय में प्रधान 'कुमारपालित' नामवाले मन्त्री से कहा--

"आपने इस पक्षी (तोता) की वर्णोच्चारण में स्पष्टता [और उदात्तादि] स्वरों में मधुरता सुनी ? पहले तो यही बड़ा आश्चर्य है कि यह पक्षी वर्णों के अलग-अलग स्वरूप वाली, मात्रा, अनुस्वार, स्वर तथा व्याकरणशुद्धि--इनके संस्कार से युक्त, [श्लेषादि] विशेष-सहित अत्यन्त स्पष्ट अक्षरों वाली वाणी का उच्चारण करता है । [भाव यह है कि इसकी वाणी में

१. अतिपरिणतवयसम् । २. महत्तरमाश्चर्यम्, महाश्चर्यम् । ३. 'अयम्'--इति कुत्रचित् नापि पाठः । ४. स्वरसंयोगविशेषयुक्ताम्, स्वरसंयोगाम् । ५. यदयमतिस्फुट०, यदयमतिपरिस्फुटम् । ६. पुनर्यदियम् ।

तिरश्चोऽपि मनुजस्येव संस्कारवती[1] बुद्धिपूर्वा प्रवृत्तिः[2]। तथाहि–अनेन समुत्क्षिप्तदक्षिण-चरणेनोच्चार्य्य जयशब्दमियमार्य्या मामुद्दिश्य परिस्फुटाक्षरं गीता। प्रायेण हि पक्षिणः पशवश्च भयाहारमैथुन-निद्रा-संज्ञामात्र-वेदिनो भवन्ति। इदन्तु महच्चित्रम्।"

इत्युक्तवति भूभुजि कुमारपालितः किञ्चित्स्मितवदनो नृपमवादीत्[3]–"देव! किमत्र[4]

वती=संस्कारः (=तत्तदर्थविषयकानुभवजन्यः,) तद्वती=तद्विशिष्टा, बुद्धिपूर्वा=मतिमूलिका, प्रवृत्तिः=प्रवर्तनम्, उच्चारणमिति भावः।

राज्ञा पूर्वोक्तं कथं ज्ञातं तदेव प्रतिपादयति 'तथाहि' इत्यादिना। तथाहि=एवं प्रकारेण, बोध्यमिति शेषः। समुत्क्षिप्तदक्षिणचरणेन=समुत्क्षिप्तः (=उत्थापितः) दक्षिणः (=अपसव्यः) चरणः (=पादः) येन स तथा तेन, अनेन=पुरोवर्तिना शुकेन, जयशब्दम्='जय जय' इत्याकारकवर्णसमुदायम्, उच्चार्य=उदीर्य, माम्=राजानं शूद्रकम्, उद्दिश्य=अभिलक्ष्य, इयम्=पूर्वोक्ता, सर्वैराकर्णिता, आर्या=मात्रिकछन्दोविशेषः, परिस्फुटाक्षरम्=परिस्फुटानि (=व्यक्तानि) अक्षराणि (=वर्णाः) यस्मिन् तत् यथा स्यात् तथेति क्रियाविशेषणमेतत्, गीता=उच्चारिता। एवञ्च यथा विप्रा आशीर्वचनसमये दक्षिणहस्तमुत्थाय स्वस्ति वदन्ति तथैवायं शुकोऽपि स्वीयं दक्षिणपादमेवोत्थाय मम स्तुतिमकरोत्। एतेनास्य प्राक्तनवासना स्पष्टं प्रतीयते। अत्र किं वैलक्षण्यं तन्निर्दिशति –प्रायेणेति। हि=यतः, प्रायेण=बाहुल्येन, पक्षिणः=विहङ्गमाः, पशवः=चतुष्पादाः मृगादयः, च, भयाहार-मैथुन-निद्रा-संज्ञामात्रवेदिनः=भयम् (=अनिष्ट-हेतुकज्ञानम्, भीतिः), आहारः (=भोजनम्) मैथुनम् (=व्यवायः) निद्रा (=स्वापः), संज्ञा (=लोकव्यवहारसाधकसंकेतविशेषः)च—तन्मात्रवेदिनः (=तन्मात्रबोद्धारः) भवन्ति=जायन्ते, सन्तीति भावः। एवञ्चैतेषु बुद्धिव्यवहारस्य न काप्यावश्यकतेति भावः। इदन्तु=एतत्तु, शुककर्तृकम्, विशिष्टाशयकम् आर्यासमुच्चारणं तु, महत्=अत्यधिकम्, चित्रम्=आश्चर्यजनकम्।"

शूद्रकवचनमाकर्ण्य कुमारपालितेन किमुक्तमिति प्रतिपादयति—इत्युक्तवतीति। भूभुजि=भूपतौ शूद्रके, इति=पूर्वोक्तम्, उक्तवति=कथितवति, सति, किञ्चित्स्मितवदनः=किञ्चिद्=(ईषत्), स्मितम् (=हास्ययुक्तम्), वदनम्=(मुखं) यस्य स तथा, कुमारपालितः=एतन्नामा प्रधानामात्यः,

सभी वर्ण और उनकी विशेषतायें अलग-अलग स्पष्ट प्रतीत होती हैं।] इसके अतिरिक्त फिर यह आश्चर्य है कि अपने अभीष्ट वक्तव्य को कहने में इस पक्षी की भी मनुष्य के समान संस्कार-युक्त बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति है। [जैसे संस्कारयुक्त ब्राह्मणादि दाहिना हाथ उठा कर आशीर्वचन आदि बोलता है वैसे ही इस पक्षी ने भी अपना दाहिना पैर उठा कर 'जय हो' ऐसा बोल कर मेरी स्तुति की है। ये बातें इसके पूर्वजन्म के संस्कार को प्रकट करतीं हैं। इसी को लिख रहे हैं—] यह इस प्रकार समझिए—अपना दाहिना पैर उठा कर, 'जय हो' यह शब्द बोलकर मुझे उद्देश्य बनाकर इसने स्पष्ट अक्षरों से 'आर्या' छन्द गाया है। और अधिकांश पक्षी तथा पशु भय, भोजन, मैथुन, नींद और संज्ञा (अपने बुलाने वाले प्रतीकात्मक नाम) को ही जानने वाले होते हैं। परन्तु यह [इस पक्षी का व्यवहार] तो बहुत आश्चर्यजनक है।"

राजा शूद्रक द्वारा ऐसा (पूर्वोक्त) कहा जाने पर कुछ मुस्कराते हुए मुख वाले कुमार-पालित (प्रधानामात्य) ने राजा से कहा—"महाराज! इसमें क्या आश्चर्य, क्योंकि ये

नोट :—पृष्ठ ६४ पं० १ में 'अतिवयसम्' का पाठभेद नीचे १ संख्या में समझें। अतः मूल में १ को २ समझ कर सभी में एक संख्या बढ़ाकर पाठान्तर देखें।

१. संस्कारवतः २. वाक्प्रवृत्तिः। ३. नृपम्—इदंक्वचिन्न। ४. इदमपि क्वचिन्नास्ति।

चित्रम् । एते हि शुकसारिकाप्रभृतयो विहङ्ग-विशेषा यथाश्रुतां वाचमुच्चारयन्तीत्यधिगतमेव देवेन । तत्राप्यन्यजन्मोपात्त-संस्कारानुबन्धेन[1] वा पुरुषप्रयत्नेन वा संस्कारातिशय उपजायत इति नातिचित्रम् । अन्यच्च, एतेषामपि पुरा पुरुषाणामिवातिपरिस्फुटाभिधाना[2] वागासीत्, अग्निशापात्[3]त्वस्फुटालापता शुकानामुपजाता, करिणाञ्च[4] जिह्वापरिवृत्तिः ।"

नृपम्=राजानम्, शूद्रकमित्यर्थः, अवादीत्=अवोचत् । स आश्चर्यजनकत्वं निराकरोति—देवेति । देव !=राजन् !, अत्र=शुकव्यवहारे, किम् आश्चर्यम्=किमद्भुतत्वम् ? न किमपीत्यर्थः । हि=यतः, एते=इमे, शुकसारिका-प्रभृतयः=शुकाः (=कीराः), सारिकाः (=पीतपादाः स्त्रीत्वजातिविशिष्टाः पक्षिविशेषाः) एतत्प्रभृतयः=एतदाद्याः, विहङ्गविशेषाः=पक्षिविशेषाः, यथाश्रुताम्=यथाऽऽकर्णिताम् अर्थज्ञानरहिताम्, वाचम्=वाणीम्, उच्चारयन्ति=कथयन्ति, अनुकुर्वन्तीति भावः, इति=एवम्, अनेन प्रकारेण, देवेन=महाराजेन, अधिगतमेव=ज्ञातमेव । तत्रापि=पूर्ववक्तव्यतायामपि, अन्यजन्मोपात्तसंस्कारानुबन्धेन=अन्यजन्मनि (=जन्मान्तरे) उपात्तः (=गृहीतः) यः संस्कारः (=वासना, ज्ञानं वा) तस्य अनुबन्धेन (=अनुसरणेन) वा=अथवा, पुरुषप्रयत्नेन=परिपालकलोक-शिक्षणादिप्रयासेन, संस्कारातिशयः=संस्कारे दृढता, उपजायते=उत्पद्यते, इति=हेतोः, अतिचित्रम्=अत्याश्चर्यकरम्, न=नैव, ज्ञेयमिति भावः । ननु तथा प्रयासेऽपि एतादृशी योग्यता नानुभूतेति हेत्वन्तरं प्रदर्शयति—अन्यच्चेति । अन्यच्च=एतदपि कारणमस्ति, पुरा=पूर्वकाले कदाचित्, एतेषामपि=अमीषां शुकादीनामपि, पुरुषाणामिव=मनुष्याणामिव, अतिपरिस्फुटाक्षरा=अति (=अत्यन्तम्), परिस्फुटानि (=स्पष्टानि) अक्षराणि (=वर्णाः) यस्यां सा, तथा, वाक्=वाणी, आसीत्=अभूत् । तु=परन्तु, अग्निशापात्=वह्निशापात्, शुकानाम्=कीराणाम्, अस्फुटालापता=अस्फुटः (=अव्यक्तः) आलापः (=उच्चारणम्) यत्र तस्य भावस्तत्ता, उपजाता=सम्भूता; करिणां च=हस्तिनां च, जिह्वापरिवृत्तिः=जिह्वापरिवर्तनम्, वैपरीत्येन स्थितिः, उपजातेति सम्बन्धः । देवप्रसादादयं शुकः तादृशशापप्रभावरहितः प्रतीयते इति भावः । अतोऽत्र न किमपि महदाश्चर्यकरं ज्ञेयम् ।

महाभारते इयं कथाऽस्ति—तारकासुरेण पीडिताः देवाः प्रजापतिशरणमगच्छन् । तेनोपदिष्टं यद् 'अग्नेः पुत्रः कार्तिकेयो भविता स एव एनमसुरं हनिष्यति । अतोऽग्निमन्विष्य तं प्रार्थयन्तु' इति । ते देवा अग्निमन्वेषयन्तः एकं हस्तिनमग्निविषयेऽपृच्छन् 'तेन गजेनोक्तम् "अश्वत्थवृक्षेऽन्तर्हितोऽग्निः'

तोते मैना आदि विशेष पक्षी जैसी सुनी गई वैसी ही बात का उच्चारण कर देते हैं, यह तो श्रीमान् आप जानते ही हैं । इनमें भी पूर्वजन्म के संस्कार के बने रहने से या [सिखाने वाले] पुरुष के प्रयास से अधिक संस्कार उत्पन्न हो जाता है अर्थात् दक्षता बढ़ जाती है, अतः यहाँ कोई अधिक आश्चर्य [की बात] नहीं है । और भी, प्राचीनकाल में इन [पक्षियों] की भी मनुष्य के समान ही अत्यधिक स्पष्ट अक्षरों वाली वाणी हुआ करती थी । परन्तु अग्निदेव के शाप के कारण तोतों की वाणी की अस्पष्टता हो गई और हाथियों की जीभ उल्टी हो गई ।

विमर्श—महाभारत में यह कथा आई है कि एक बार तारकासुर से पीड़ित देवतालोग ब्रह्मा के पास पहुँचे और रक्षा का उपाय पूछने लगे । ब्रह्मा ने कहा "अग्नि का पुत्र कार्तिकेय होगा वही इस तारकासुर का विनाश करेगा । अतः उसी से प्रार्थना करो ।" देवता अग्नि को ढूंढ़ने लगे ।

---

१. तत्राप्यत्रान्यजन्म । २. अपिपरिस्फुटाक्षरा । ३. अग्निशापादपरि० । ४. शारिकाणाञ्च ।

इत्येवमुच्चारयत्येव तस्मिन्नशिशिरकिरणमम्बरतलस्य मध्यमारूढमावेदयन् नाडिकाच्छेद-प्रहत-पटु-पटह-नादानुसारी मध्याह्न-शङ्खध्वनिरुदतिष्ठत् । तमाकर्ण्य च[2] समासन्नस्नानसमयो विसर्जितराजलोकः क्षितिपतिरास्थानमण्डपादुत्तस्थौ ।

अथ चलति महीपतावन्योन्यमतिरभस-सञ्चलन-चालिताङ्गद-पत्त्रभङ्ग-मकरकोटि-

---

तं श्रुत्वा वृक्षान्निर्गत्याग्निः तं शशाप "तव जिह्वापरिवृत्तिः स्यात् ।" ततःसोऽग्निः पुनः शमीवृक्षेऽन्तर्हितः । देवास्तत्रैकं शुकमग्निविषयेऽपृच्छन् । शुकेनोक्तम् "शमीवृक्षेऽन्तर्हितोऽग्निः ।" तं श्रुत्वा स ततो निर्गत्य तमपि शुकं शशाप "त्वं वाग्विहीनो भव ।" अस्याः कथाया एवात्र संकेतः बाणेन विहितः ।

इत्येवमिति । तस्मिन्=प्रधानामात्ये कुमारपालिते, इत्येवम्=पूर्वोक्तप्रकारेण, उच्चारयत्येव=कथयत्येव, "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इति सति सप्तमी, अशिशिर किरणम्=अशिशिराणि (=उष्णानि) किरणानि यस्य स तम्, सूर्यमित्यर्थः, अम्बरतलस्य=गगनतलस्य, मध्यम्=मध्यदेशम्, आरूढम्=सम्प्राप्तम्, आवेदयन्=ससूचयन्, तथा नाडिकाच्छेद-प्रहत-पटु-पटह-नादानुसारी=नाडिका (=सभासमाप्तिसूचिका घटिका) तस्याः छेदः (=समाप्तिः) तस्मिन्, तदवसरे इत्यर्थः, प्रहतः (=करतलादिना ताडितः) यः पटुः (=महान्) पटहः (=दुन्दुभिः) तस्य यो नादः (=ध्वनिः) तमनुसरति (=अनुगच्छति) तच्छीलः, ["आनकः पटहोऽस्त्रिया" मित्यमरः] मध्याह्नशङ्खध्वनिः =मध्याह्नकालबोधककम्बुशब्दः, उदतिष्ठत्=उत्थितोऽभूत् । तम्=तादृशध्वनिम्, आकर्ण्य=श्रुत्वा, समासन्नस्नानसमयः=समासन्नः (=निकटवर्ती) स्नानसमयः (=शरीराप्लावनकालः) यस्य स तथाविधः, विसर्जितराजलोकः=विसर्जितः (=निर्वर्तितः) राजलोकाः (=राजपरिजनसमूहः) येन स तथाविधः, क्षितिपतिः=धराधिपः, शूद्रक इत्यर्थः, आस्थानमण्डपात्=सभागारात्, उत्तस्थौ =उदतिष्ठत्, सभास्थानमत्यजदिति भावः ।

अथेति । अथ=उत्थानान्तरम्, महीपतौ=भूपतौ, शूद्रके, चलति=प्रयाणं कुर्वति सति, "उत्तिष्ठताम्=उत्थानं विदधताम्, महीपतीनाम्=अन्येषामधीनभूपतीनाम्, अतिमहान्=अतिबहुः, सम्भ्रमः=संमर्दः, आसीत्=अभूत्"— इति पदैः सम्बन्धं कृत्वाऽर्थयोजना कार्या । अत्र सर्वाणि षष्ठ्यन्तानि पदानि 'महीपतीनाम्' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् । अन्योन्यम्=परस्परम्, अतिरभसेत्यादिः=अतिरभसेन (=अतिरयेण) यत् संचलनम् (=प्रस्थानम्), तेन चालितानि (=स्वस्थानात्

उन्होंने एक हाथी से अग्नि के बारे में पूछा । उसने कहा कि "अश्वत्थ=पीपल के पेड़ में अग्नि छिपे हैं ।" इसे सुन कर अग्नि बाहर निकले और 'हाथियों की जीभ उलटी हो जाय', ऐसा शाप दे दिया । अग्नि फिर अन्तर्हित हो गये । तब खोजते हुए देवताओं ने एक तोता से पूछा । उसने कहा "शमी वृक्ष में अग्नि अन्तर्हित हैं ।" यह सुन कर बाहर आकर अग्नि ने शाप दिया "तोता ! तुम वाणीहीन बन जाओ ।" इसी कथा का संकेत यहाँ बाण ने किया ।

[अनु०] कुमारपालित द्वारा ऐसा (पूर्वोक्त बातें) कहे जाने पर ही "सूर्य आकाश के बीच में आ चुका है" इस बात को सूचित करती हुई, [सभासमाप्ति की] घड़ी बीतने पर बजाये गये विशाल नगाड़े की आवाज के पीछे [बाद] बजने वाली, दोपहर [की सूचना देने वाले] शंख की आवाज होने लगी । इस आवाज को सुन कर स्नान का समय समीप में जानने वाला, राजपरिजनों को विदा कर देने वाला राजा शूद्रक सभामण्डप (राजदरवार) से उठ खड़ा हुआ ।

इसके बाद राजा के चलने पर [उसके सम्मानार्थ] उठने वाला [अन्य अधीन]

---

१. मध्यमध्यारूढ । २. चासन्न० ।

पाटितांशुकपटानाम्,[1] आक्षेप-दोलायमान-कण्ठदाम्नाम्,[2] अंसस्थलोल्लासित-कुङ्कुम-पटवास-धूलिपटलपिञ्जरीकृत-दिशाम्,[3] आलोल-मालतीकुसुम-शेखरोत्पतदलिकदम्बकानाम्, अर्द्धावलम्बिभिः कर्णोत्पलैश्चुम्ब्यमानगण्डस्थलानाम्, गमन-प्रणाम-लालसानाम्[4] अहमहमिकया, वक्षःस्थल-प्रेङ्खोलित-हारलतानाम्, उत्तिष्ठतामासीदतिमहान्[5] सम्भ्रमो महीपतीनाम् ।

प्रच्यावितानि) यानि अङ्गदानि (=केयूराणि) पत्रभङ्गानि (=भूषणविशेषाः), मकराः (=मकराकृतिकर्णभूषणानि) तेषां कोटिभिः (=अग्रप्रदेशैः), पाटिताः (=छिन्नाः) अनेकपटाः (= विविधवस्त्राणि) येषां तेषाम् । केचित्तु—अङ्गदपत्रभङ्गैः मकरकोटिभिश्च पाटिताः अनेकपटाः येषां तेषामित्यर्थं स्वीकृत्य अङ्गदपत्राणां त्रुटनैः मकराकृतिभूषणाग्रभागैश्च तेषां वसनानि छिन्नानीति व्याख्यानं कुर्वन्ति । आक्षेपेति । आक्षेपदोलायमानकण्ठदाम्नाम्=आक्षेपः (=परस्पर-शरीरसंलग्नता) तेन दोलायमानानि (=चञ्चलानि) कण्ठदामानि (=ग्रैवेयकहाराः) येषां ते तेषाम् । अंसस्थेति । अंसस्थलेत्यादिः=अंसस्थलेभ्यः (=स्कन्धदेशेभ्यः) उल्लासितानि (=उत्थितानि) यानि कुङ्कुमानि (=केसराणि) पटवासः (=पिष्टातकः सुगन्धितद्रव्यविशेषः) च तयोर्यद् धूलिपटलम् (=धूलिसमूहः) तेन पिञ्जरीकृताः (=पीतरक्तीकृताः) दिशः (=ककुभः) यैस्ते तेषाम्, ["पीतरक्तस्तु पिञ्जरः" इत्यमरः ।] कुङ्कुमं पीतवर्णम्, पटवासः रक्तवर्णः अनयोर्धूलिरपि एतद्वर्णविशिष्ट इति भावः । आलोलेति । आलोलेत्यादिः=आ (=समन्तात्) लोलाः (=चञ्चलाः) ये मालतीकुसुमानाम् (=जातिपुष्पाणाम्) शेखराः (=शिरोभूषणानि) तत्र (=तदुपरि) उत्पतन्तः (=भ्राम्यन्तः) ये अलयः (=भ्रमराः) तेषां कदम्बकानि (=समूहाः) येषां ते तेषाम् । अर्धेति । अर्धावलम्बिभिः=अर्धभागसंलग्नैः, कर्णोत्पलैः=श्रवणस्थकमलैः, चुम्ब्यमानगण्डस्थलानाम्=चुम्ब्यमानम् (=स्पृश्यमानम्), गण्डस्थलम् (=कपोलभागः) येषां तेषाम् । गमनेति । गमने (=राज्ञः प्रस्थाने) प्रणामे (=नमस्कारे) लालसाः (=अभिलाषाः) येषां तेषाम् । अहमहेति । अहमहमिकया= 'अहं पूर्वमहं पूर्वम्' इत्यहमहमिका, तया, वक्षःस्थलप्रेङ्खोल्लितहारलतानाम्=वक्षःस्थले (=उरःस्थले, भुजद्वयान्तरे) प्रेङ्खोल्लिताः (=सञ्चालितः) हारलताः (=मौक्तिकमालाः) येषां तेषाम् । ["अहमहमिका तु सा स्यात् परस्परं यो भवत्यहङ्कारः ।" अमरः २।८ १०१] "उत्तिष्ठतां महीपतीनामतिमहान् संभ्रमः आसीदि" ति पदैः सम्बन्ध इति पूर्वमेव प्रतिपादितम् ।

राजाओं में परस्पर अत्यधिक संभ्रम (—व्यग्रता, टकराहट या खलबली) हो उठा, जिन (राजाओं) के बहुत तेजी से चलने के कारण [अपने वास्तविक स्थान से] हटे हुए (१) अंगद (—केयूर), (२) पत्रभङ्ग (आभूषणविशेष) और (३) मकर (मगर की आकृति के समान आभूषण)—इनके अग्रभाग (नोक) से अनेक वस्त्र (या रेशमीवस्त्र) फाड़ दिये गये थे, आपस में टकराहट के कारण जिनके कंठ की मालाएं हिल रहीं थीं; जिनके कंधों के ऊपर से उठे हुए केसर और पटवास (सुगन्धित पाउडर आदि) के धूलिसमूह से दिशाएँ पिंजरित (पीली लाल) हो गईं थीं; जिनके कुछ हिलते हुए चमेली के फूलों के मुकुट के ऊपर भौरों के समूह उड़ रहे थे; आधे लटकने वाले कानों में लगे हुए कमलों द्वारा जिनके कपोलस्थल का स्पर्श किया जा रहा था; प्रस्थान-काल में [राजा को] प्रणाम करने की जिनकी लालसा थी, 'मैं पहले, मैं पहले—' इस भावना से (अतिशीघ्रता के कारण) जिनके वक्षःस्थल की मौक्तिकमालाएँ हिल रही थीं । [ऐसे राजाओं में परस्पर संमर्द (टकराहट) होने लगा ।]

---

१. पाटितानेक०, पाटितांशुकानाम् । २. मालतीकण्ठदाम्नाम् । ३. पिञ्जरित० । ४. प्रसरणसदालालसानाम् । ५. अतिमहान् सरभः ।

इतश्चेतश्च निष्पतन्तीनां स्कन्धावसक्त-चामराणां[1] चामरग्राहिणीनां कमलमधुपानमत्त-जरत्कलहंस-नाद-जर्जरितेन[2] पदे पदे रणितमणीनां[3] मणिनूपुराणां निनादेन, वारविलासिनीजनस्य सञ्चरतो जघनस्थलास्फालनरसित-रत्नमालिकानां[4] मेखलानां मनोहारिणा झङ्कारेण, नूपुररवाकृष्टानाञ्च धवलितास्थानमण्डप-सोपानफलकानां भवन-दीर्घिकाकलहंसकानां कोलाहलेन, रशनारसितोत्सुकानाञ्च तारतर-विराविणामुल्लिख्यमान-

राज्ञ उत्थानकाले किमन्यद् घटितं तत्प्रतिपादयति—इतश्चेतश्चेति। इतश्च इतश्च=इतस्ततः, "सर्वतः=परितः, तदा=तस्मिन् काले, आस्थानमण्डपम्=समागारम्, क्षुभितमिव=प्राप्तसंक्षोभमिव, अभवत्=अभूत्" इति वक्ष्यमाणपदैः सम्बन्धः कार्यः। मन्थातिरिक्तार्थत्वेन निपातनाभावादिड् "क्षुब्धस्वान्तध्वान्त०" (पा. सू. ७।२।१८) इति सूत्रेण। निष्पतन्तीनाम्=स्खलन्तीनाम्, पलायमानानामिति भावः, स्कन्धावसक्तचामराणाम्=स्कन्धेषु (=अंसदेशेषु) अवसक्तानि (=न्यस्तानि) चामराणि (=वालव्यजनानि) यासां तासाम्, चामरग्राहिणीनाम्=प्रकीर्णकधारिणीनां स्त्रीणाम्, कमलमधुपानेत्यादिः=कमलानाम् (=पद्मानाम्) यन्मधु (=पुष्परसः) तस्य पानम् (=आस्वादः) तेन मत्ताः (=क्षीवाः) ये जरन्तः (=वृद्धाः) कलहंसाः (=कादम्बाः) तेषां यो नादः (=कण्ठध्वनिः) तेन जर्जरितेन (=संभिन्नेन, मिश्रितेन), [अत्र तृतीयान्तानि पदानि "क्षुभित"मिति वक्ष्यमाणक्रियायां करणत्वेन सम्बध्यन्ते इति बोध्यम्।] पदे पदे (=प्रतिपदम्), रणितमणीनाम् रणिताः (=शब्दायमानाः) मणयः (=वैडूर्यादिरत्नानि) येषु ताः तथाविधानाम्, मणिनूपुराणाम् =रत्नजटित-पादकटकानाम्, निनादेन=तदुत्थध्वनिना।

वारेति। सञ्चरतः=गच्छतः, वारविलासिनीजनस्य=गणिकालोकस्य, ["वारस्त्री गणिका वेश्या।" इत्यमरः] जघनेत्यादिः—जघनस्थलानाम् (=कटिपुरोभागस्थलानाम्) यत् स्फालनम् (=ताडनम्) तेन रसिताः (=शब्दं कुर्वाणाः) रत्नमालिकाः (=मणिमालाः) यासु ताः तथाविधानाम्, मेखलानाम्=काञ्चीनाम्, मनोहारिणा=चित्ताकर्षकेण, सुन्दरेणेत्यर्थः, झङ्कारेण="झन-झन" इत्याकारकध्वनिना।

नूपुरेति। नूपुराणाम् (=पादाङ्गदानाम्) यो रवः (=शब्दः) तेनाकृष्टानाम् (=आकर्षितानाम्) धवलितास्थानमण्डपसोपानफलकानाम्=धवलितानि (=शुभ्रीकृतानि) आस्थानमण्डपस्य (=राज्ञः उपनिवेशनस्थानस्य) सोपानफलकानि (=आरोहणवलयः) यैस्तेषाम्, भवनदीर्घिकाकलहंसकानाम्=गृहवापीस्थ-कादम्बकानाम्, कोलाहलेन=कलकलेनाव्यक्तध्वनिनेत्यर्थः।

रसनेति। रसनारसितोत्सुकितानाम्=रसनानाम् (=कटिस्थमेखलानाम्) रसितैः (=शब्दैः)

[उस समय वह सभाभवन ध्वनियों से क्षुभित (व्याकुल) सा हो गया] जो इधर-उधर से आती हुईं, कन्धों पर चाँवर लटकाये हुए चाँवरधारिणी स्त्रियों के, कमल-मधुपान से मत्त वृद्ध कलहंसों के नाद से मिश्रित, पद पद पर बजती हुई मणियों वाले मणिमय नूपुरों (पायजेबों) की उत्कृष्ट ध्वनि से; चलती फिरती वेश्याओं के जघनस्थलों पर टकराने से शब्द करती हुई रत्नमालाओंवाली मणिजटित मेखलाओं (करधनियों) के मनोहर झंकार (झनझन ऐसी ध्वनि) से; और नूपुरों (पायजेबों) की ध्वनि से आकृष्ट होने वाले, सभामण्डप की सीढ़ियों को [अपने बैठने से] सफेद कर देने वाले, घर की बावड़ी के कलहंसों के कोलाहल से; और करधनी की आवाज

१. स्कन्धदेश०। २. मदमत्त। ३. जर्जरेण। ४. मणिमेखलानाम्।

कांस्य-क्रेङ्कारदीर्घेण गृहसारसानां कूजितेन, सरभसप्रचलित-सामन्तशतचरणतलाभिहतस्य चास्थानमण्डपस्य निर्घोषगम्भीरेण कम्पयतेव वसुमतीं ध्वनिना, प्रतिहारिणाञ्च पुरः ससम्भ्रममुत्सारितजनानां दण्डिनां समारब्धहेलमुच्चैरुच्चरतामालोकयतालोकयतेति तारतर-दीर्घेण भवनप्रासाद-कुञ्जेषूच्चरित-प्रतिच्छन्दतया दीर्घतामुपगतेनालोकशब्देन,

उत्सुकितानाम् (=उत्कण्ठितानाम्), तारतरविराविणाम्=तारतरः (=अत्यन्तोच्चैस्तरः) विरावः (=अव्यक्तध्वनिः) अस्ति येषां तेषाम्, उल्लिख्यमान-कांस्यक्रेंकारदीर्घेण = उल्लेख्यमानम् (=घृष्यमाणम्) यत् कांस्यम् (विद्युत्प्रियम्, वाद्यविशेषः) तस्य यः क्रेङ्कः (=कें कें—इत्यव्यक्त-ध्वनिः) तद्वद् दीर्घेण=विस्तृतेन, गृहसारसानाम्=भवनस्थलक्ष्मणाख्यपक्षिणाम्, कूजितेन= अस्पष्टशब्देन।

सरभसेति। सरभसम् (=वेगसहितम्) प्रचलिताः (=गन्तुमुद्यताः) ये सामन्ताः (=अधीनस्थराजानः) तेषां शतम् (=शतसंख्या) तस्य चरणतलैः (= पादतलैः) अभिहतस्य (=ताडितस्य), च, आस्थानमण्डपस्य=सभाभवनस्य, निर्घोषगम्भीरेण=निर्घोषः (=अव्यक्त-ध्वनिः) तद्वत् गम्भीरेण=परिपुष्टेन अतिमहतेत्यर्थः, वसुमतीम्=वसुधाम्, कम्पयता इव= क्षोभयता इव, ध्वनिना=अव्यक्तशब्देन, 'निर्घोषगम्भीरेण' इत्यत्र वाचकलुप्तोपमा, 'कम्पयतेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालंकारः।

प्रतीहारीति। पुरः=अग्रे नृपस्येति शेषः, ससंभ्रमम् = सोद्वेगम्, अतिशीघ्रमित्यर्थः, समुत्सारितजनानाम्=समुत्सारिजाः (=दूरीकृताः) जनाः (=समीपवर्तिलोकाः) यैस्ते तेषाम्, दण्डिनाम्=यष्टिग्राहिणाम्, समारब्ध-हेलम्=समारब्धा (=प्रवर्तिता) हेला (=अवमानना) यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा, 'आलोकयत आलोकयत'="श्रीमान् राजागच्छतीति पश्यत" इति=एवम्, उच्चैः=तारस्वरेण, उच्चारयताम्=प्रभाषमाणानाम्, प्रतीहारिणाम्= द्वारपालजनानाम्, तारतरदीर्घेण = अतिविस्तृतेन । भवनप्रासाद'षु'कुञ्जेषु — भवनानाम् (=सामान्यगृहाणाम्) प्रासादानाम् (=राजभवनानाम्) कुञ्जेषु (=लतान्तरितप्रदेशेषु), उच्चरितः (=उक्तः, उत्थितः) प्रतिशब्दः (=प्रतिध्वनिः) यस्य स तस्य भावस्तया, दीर्घतरताम् =बाहुल्यम्, उपगतेन=प्राप्तेन, आलोकशब्देन=दर्शनवाचकेन "राजानमालोकयतु आलोकयत' इत्येवं शब्देन, केचित्तु-आलोकशब्देन=जयकार-शब्देन' इत्याहुः।

से उत्कण्ठित, बहुत ऊँची आवाज में चिल्लाने वाल, घर में पाले गये सारसों की घिसे जाते हुए कांसे की 'केंकें' ध्वनि के समान तेज कूजन (आवाज) से; और वेगपूर्वक चलते हुए सैकड़ों सामन्तों के चरणतलों से आहत (टकराए हुये) सभा-भवन की वज्र की आवाज के समान गंभीर अतएव मानो जमीन को कँपाती हुई ध्वनि से; और [राजा के] सामने से लोगों को हटाने वाले, [हाथों में] डंडा धारण करने वाले, दूसरों को अपमानित करते हुये—"राजा को देखिये, राजा को देखिये" या सामने देखिये, सामने देखिये —इस प्रकार की ऊँची आवाज करने वाले प्रतीहारियों के अत्यधिक तेज दीर्घ (अत एव) भवनों और महलों के कुंजों में उच्चारित शब्द की प्रतिध्वनि होने से और दीर्घता (तीखापन) प्राप्त किए हुए "आलोक शब्द" ('देखो

१. काञ्ची। २. निर्घातगम्भीरेण, निर्घातनिर्घोषगम्भीरेण। ३. इदं क्वचिन्न पठ्यते। ४. आलोकयन्त्विति। ५. प्रतिशब्दतया।

राज्ञाञ्च ससम्भ्रमावर्जित-मौलिलोल-चूडामणीनां प्रणमताममल-मणिशलाकादन्तुराभिः किरीट-कोटिभिरुल्लिख्यमानस्य मणिकुट्टिमस्य निःस्वनेन, प्रणामपर्य्यस्तानामतिकठिन-मणिकुट्टिमनिपतित[1]रणरणायितानाञ्च मणिकर्णपूराणां निनादेन, मङ्गल[2]पाठकानाञ्च पुरोयायिनां जय जीवे[3]ति मधुरवचनानुयातेन पठतां दिगन्त[4]व्यापिना कलकलेन, प्रचलित-जनचरणशतसंक्षोभा[5]द्विहाय कुसुमप्रकरमुत्पतताञ्च मधुलिहां हुङ्कृतेन, संक्षोभादतित्वरित-

राज्ञाञ्चेति । ससम्भ्रमम्=सहसा, आवर्जितेत्यादिः—आवर्जितेषु (=प्रणामायावनमितेषु) मौलिषु (=शिरस्सु) लोलाः (=चञ्चलाः) चूडामणयः (=शिरोमणयः) येषां ते तेषाम्, प्रणमताम्=शूद्रकाय प्रणतिं कुर्वताम्, राज्ञां च=अधीनस्थनृपाणां च, अमलमणिशलाकादन्तुराभिः=अमलाः (=निर्मलाः) याः मणिशलाकाः (=रत्नेषीकाः) ताभिः दन्तुराभिः (=विषमाभिः) किरीटकोटिभिः=मुकुटाग्रभागैः, उल्लिख्यमानस्य=घृष्यमाणस्य, मणिकुट्टिमस्य=रत्नजटितभूमेः, निःस्वनेन=समुत्थध्वनिना ।

प्रणामेति । प्रणाम-पर्यस्तानाम्—प्रणामे (=नमनावसरे) पर्यस्तानाम् (=स्खलितानाम्) अतिकठिनेत्यादिः—अतिकठिनम् (=अतिकर्कशम्) यत् मणिकुट्टिमम् (=रत्नमयबद्धभूमिः) तस्मिन् निपतनेन (=प्रपातेन) रणरणायितानां=संमुत्पन्नरणरणेतिध्वनीनाम्, च, मणिकर्ण-पूराणाम्=रत्नजटितकर्णाभूषणानाम्, निनादेन=ध्वनिना ।

मङ्गलेति । पुरोयायिनाम्=अग्रेगामिनाम्, पठताम्=कीर्तिगाथामुच्चारयताम्, मङ्गल-पाठकानाम् = माङ्गलिकपाठपरायणानाम्, जयजीवेति-मङ्गलवचनानुगतेन=हे राजन् ! जय, जीव (=युद्धादौ विजयं लभस्व, दीर्घकालं जीवनं धारय—) इति यन्मङ्गलवचनम् (=माङ्गलिक-शब्दोच्चारणम्) तमनुलक्ष्यीकृत्य यातेन—प्रवृत्तेन, दिगन्तव्यापिना=सर्वत्र प्रसारिणा, कलकलेन =कोलाहलेन ।

प्रचलितेति । प्रचलिताः (=गन्तुं प्रवृत्ताः) ये जनाः (=लोकाः) तेषां चरणानाम् (=पादा-नाम्) शतम्, तस्य संक्षोभः (=प्रहारः) तस्माद् यद्भयम् (=भीतिः), तस्मात्, कुसुमप्रकरम्=पुष्पसमूहम्, विहाय=त्यक्त्वा; उत्पतताम्=उड्डयमानानाम्, च, मधुलिहाम् =भ्रमराणाम्, हुङ्कृतेन=हुङ्कारशब्देन ।

देखो' ऐसी आवाज) से; और घबड़ाहट या शीघ्रता के कारण झुकाए गए शिरों पर हिलती हुई चूडामणि (सिर के मुकुट की मणियों) वाले, प्रणाम करने वाले राजाओं के स्वच्छ मणिशला-काओं से दन्तुर (ऊँचे नीचे, विषम) मुकुटों के किनारों से घिसी जाती हुई मणिमय पक्की जमीन (फर्श) की आवाज से; और प्रणाम करने से गिरे हुए और अति कठिन (ठोस) मणि-मय भूमि (पक्की फर्श) पर गिरने के कारण 'रण रण' ऐसी आवाज करने वाले मणिजटित कर्णपूरों की आवाज से; और कीर्तिपाठ करने वाले आगे चलने वाले मंगलपाठ करने वाले वन्दी-गणों के—'जय हो, दीर्घजीवी हो' ऐसे मधुर वचन से अनुसृत [=ऐसा जिसके बाद में बोला जा रहा है], दिगन्तव्यापी कलकल से; और चलते हुए लोगों के सैकड़ों पैरों के कारण व्यग्रता से पुष्पसमूह को छोड़कर उड़ते हुए भौरों के हुंकार से; और व्यग्रता के कारण जल्दी-जल्दी पैरों से

१. निपतन । २. मधुर० । ३. जयेति । ४. दिगन्तर । ५. संक्षोभभयाद् ।

पदप्रवृत्तैरवनिपतिभिः[1] केयूरकोटिताडितानां क्वणित-मुखर-रत्नदाम्नाञ्च मणिस्तम्भानां रणितेन सर्वतः क्षुभितमिव तदास्थानभवनमभवत्।

अथ विसर्जितराजलोको 'विश्रम्यता'मिति स्वयमेवाभिधाय तां चाण्डाल-कन्यकाम्, 'वैशम्पायनः प्रवेश्यतामभ्यन्तरम्'[2] इति ताम्बूलकरङ्क[3]वाहिनीमादिश्य कतिपयाप्तराजपुत्र-परिवृतो नरपतिरभ्यन्तरं प्राविशत्।

अपनीताभरणश्च[4] दिवसकर इव विगलितकिरणजालः, चन्द्रतारकाशून्य इव गगना-

---

संक्षोभादिति। संक्षोभात्=राज्ञः प्रणामाय मानसिकोद्वेगात्, अतित्वरित-पदप्रवृत्तैः=अतित्वरितपदम् (=अतिवेगवत्तरचरणं) यथा स्यात् तथा प्रवृत्तैः (=प्रचलितैः) अवनिपतिभिः =भूपतिभिः, (कर्तृभिः) केयूरकोटिताडितानाम् — केयूराणाम् (=अङ्गदानाम्) ये कोटयः (=अग्रभागाः) तैः ताडितानाम् (=आहतानाम्) क्वणितमुखररत्नदाम्नाम्=क्वणितेन (=तत्ताडनोत्थध्वनिना) मुखराणि (=वाचालानि) रत्नदामानि (=मणिमयवेष्टनरज्जवः) येषु तेषाम्, मणिस्तम्भानाम्=रत्नमयस्थूणानाम्, रणितेन=अव्यक्तध्वनिना, च, तदास्थानमण्डपम्=राजोपवेशनमण्डपम्, क्षुभितमिव अभवदिति अन्वयस्तु पूर्वमेवोक्तः।

अथेति। अथ=एतदनन्तरम्, विसर्जितराजलोकः=विसर्जिताः (=विसृष्टाः) राजलोकाः (=राजपरिजनाः) येन स तादृशः, ताम्=पूर्वोक्ताम्, चाण्डालकन्यकाम्=शूद्रकुमारीम्, 'विश्रम्यताम्'=विश्रामः क्रियताम् इति स्वयमेव=आत्मनैव, अभिधाय=उक्त्वा, वैशम्पायनः=एतन्नामा शुकः, अभ्यन्तरम् = भवनमध्यम्, प्रवेश्यताम् = नीयताम्, इति = एवम्, ताम्बूल-करङ्कवाहिनीम्=नागवल्ली-दलपत्रहारिणीम्, आदिश्य = आज्ञाप्य, कतिपयाप्तपुत्रपरिवृतः= कतिपयैः (=कैश्चिदेव) आप्तैः (=विश्वस्तैः) राजपुत्रैः (=नृपकुमारैः) परिवृतः (=परि-वेष्टितः), नरपतिः=राजा, शूद्रकः, अभ्यन्तरम्=प्रासादमध्यम्, प्राविशत्=प्रवेशं कृतवान्।

अपनीतेति। अपनीताभरणः=अपनीतानि (=दूरीकृतानि) आभरणानि (=आभूषणानि) येन सः, विगलितकिरणजालः=विगलितानि (=विच्युतानि) किरणानां जालानि (=रश्मीनां समूहाः) यस्य स तथाविधः, दिवसकरः=दिनकरः सूर्य, इव, चन्द्रतारका-समूह-शून्यः=चन्द्रः (=शशी) तारकाः (=नक्षत्राणि) तेषां समूहः (=समुदायः) तेन शून्यः (=रहितः) गगना-

---

चलते हुए राजाओं द्वारा केयूरों की नोकों (अग्रभागों) से टकराए हुए, शब्द करने से वाचाल (आवाज करती हुई) रत्नजटित जंजीरों वाले मणिमय खम्भों की आवाज से—वह सभाभवन उस समय मानों चारों ओर से क्षुभित सा हो गया।

इसके बाद राजसमूह (नौकरों) को विदा करके उस चाण्डालकन्या से 'विश्राम करो' ऐसा स्वयं ही कहकर और "वैशम्पायन को भीतर ले जाओ" ऐसा पानदान को पकड़ने वाली स्त्री (सेविका) को आदेश देकर कुछ विश्वस्त राजपुत्रों से घिरा हुआ राजा शूद्रक राजमहल के भीतर चला गया।

आभूषणों को हटा देने वाला वह राजा किरणसमूह से शून्य सूर्य के समान तथा चन्द्रमा और

---

१. त्वरितपदं प्रवृत्तैः, त्वरितपदं प्रसृतैः। २. अभ्यन्तरं स्नानपानाशनादिना च सुखिनमेनं कारयेति. अभ्यन्तरमशनादिना चोपचर्यताम्। ३. करण्ड। ४. अपनीताशेषभूषणश्च।

भोग., समुपाहृत-समुचित-व्यायामोपकरणां व्यायामभूमिमयासीत् ।

स तस्याञ्च समानवयोभिः सह राजपुत्रैः कृतमधुरव्यायामः, श्रमवशादुन्मिषन्तीभिः कपोलयोरीषदवदलित-सिन्दुवार-कुसुम-मञ्जरी-विभ्रमाभिः, उरसि निर्दयश्रम-च्छिन्न-हार-विगलित-मुक्ताफल-प्रकरानुकारिणीभिः ललाटपट्टकेऽष्टमी-चन्द्र-शकल-तलोल्लसदमृत-बिन्दुबिडम्बिनीभिः स्वेदजल-कणिकासन्ततिभिरलङ्क्रियमाणमूर्त्तिः, इतस्ततः स्नानोप-

---

भोगः इव=आकाशविस्तारः इव, स राजा शूद्रकः, समुपाहृत-समुचित-व्यायामोपकरणाम्= समुपाहृतानि (=समुपानीतानि) समुचितानि (=योग्यानि, अपेक्षितानि) व्यायामोपकरणानि (=शारीरिकश्रमसाधनानि) यस्यां सा ताम्, व्यायामभूमिम् = शरीरशक्तिसंवर्धनश्रमसाधन-स्थलम्, अयासीत्=अगमत् ।

स तस्यामिति । तस्याम् च=तादृश्यां व्यायामभूम्यांच, समानवयोभिः=समानम् (=तुल्यम्) वयः (=अवस्था) येषां ते तैः, राजपुत्रैः (=राजसुतैः) सह=सार्धम्, कृतमधुरव्यायामः=कृतः (=विहितः) मधुरः (=साधारणः, सरलः) व्यायामः (=शारीरिकाभ्यासश्रमादिः) येन स तथाविधः, सः=राजा शूद्रकः, स्नानभूमिम्=स्नानस्थलम् अगच्छत्=अव्रजदिति वक्ष्यमाणपदैः सम्बन्धः । अत्र 'उन्मिषन्तीभिः' इत्यादीनि तृतीयान्तानि पदानि 'कणिकासन्ततिभिः' इत्यस्य विशेषणानि तथा 'अलङ्करणक्रियायाः कर्तृवाचकानीति बोध्यम् । श्रमवशात्=व्यायामकारणात्, कपोलयोः=गण्डलयोरुपरि, उन्मिषन्तीभिः=निर्गच्छन्तीभिः प्रकाशं प्राप्नुवन्तीभिरिति भावः । ईषदवदलितेत्यादिः=ईषत् (=किञ्चित्) अवदलितम् (=निर्मर्दितम्) यत् सिन्दुवारस्य (=निर्गुण्ड्याः) कुसुमम् (=पुष्पम्) तस्य मञ्जरी (=वल्लरी) तस्या इव विभ्रमः (=विलासः, भ्रान्तिर्वा) यासु तास्तथाविधाभिः । उरसीति । उरसि=वक्षसि, निर्दयश्रमेत्यादिः —निर्दयः (=कठोरः) य श्रमः (=व्यायामः) तेन छिन्नः (=छिन्नत्वं प्राप्तः) यो हारः (=मौक्तिकमाला) तस्मात् विगलितानि (=प्रच्युतानि) यानि मुक्ताफलानि (=मौक्तिकानि) तेषां यः प्रकरः (=समुदायः) तमनुकारिण्यः (=अनुसरणशीलाः) ताभिः । हाररूपं विहायैकत्रीभूताभिरिति भावः । ललाटेति । ललाटपट्टके = मस्तकस्थले, अष्टमीचन्द्रेत्यादिः—अष्टमीचन्द्रः (=अष्टमीतिथिसमुत्पन्नशशी) एव शकलम् (=खण्डम्) तस्य तलम् (=उत्तानस्थलम्) तत्र उल्लसन्तः (=शोभमानाः) ये अमृतबिन्दवः (=सुधापृषतः) तान् विडम्बयन्ति—अनुकुर्वन्ति एवं शीलाः, तथाविधाभिः । स्वेदजलेत्यादिः—स्वेदजलस्य (=श्रमवशादुत्पन्न-शरीर-जलस्य) याः कणिकाः (=कणाः, बिन्दवः) तासां सन्ततिभिः (= श्रेणीभिः), अलङ्क्रियमाणमूर्तिः— अलंक्रियमाणा (=भूष्यमाणा) मूर्तिः (=शरीरम्) यस्य स तथाविधः । अत्र 'कुसुममञ्जरी-

---

तारागणों से रहित गगनतल के समान [शोभित होता हुआ] ऐसी व्यायामशाला में पहुँचा जहाँ व्यायाम करने के लिये सभी अपेक्षित उपकरण (मुग्दर आदि) एकत्रित कर दिए गये थे ।

और उस राजा ने उस व्यायामशाला में समान अवस्थावाले राजपुत्रों के साथ हल्का व्यायाम किया । इस परिश्रम के कारण गालों पर निकलती हुई (दिखाई देने वाली) उन पसीने की बूंदों से उसका शरीर शोभित हो रहा था जो कुछ-कुछ रगड़े गए (मर्दित) सिन्धुवार के फूलों की मंजरी के समान शोभावाली थीं, जो वक्षस्थल पर कठोर परिश्रम के कारण टूटे हुए हार से गिरे हुए मोतियों के समुदाय का अनुकरण करनेवाली थीं, जो मस्तक-स्थल पर अष्टमी के चन्द्रमा के खण्ड (कला) तल में निकलते हुए (प्रकट होते हुए) अमृत की बूंदों का अनुकरण

---

१. अवगलितसित-सिन्धुवार० । २. रतिश्रम, रतिविभ्रम० ।

करणसम्पादनसत्वरेण पुरःप्रधावता[1] परिजनेन[2] तत्कालं विरलजनेऽपि राजकुले समुत्सारणाधिकारमुचितमाचरद्भिः दण्डिभिरुपदिश्यमानमार्गः, वितत-सितवितानाम्, अनेक-चारणगण-निबध्यमानमण्डलाम्, गन्धोदक-पूर्ण-कनकमयजलद्रोणी-सनाथमध्याम्, उपस्थापित-स्फाटिकस्नानपीठाम्, एकान्तनिहितैरतिसुरभि[3]-गन्ध-सलिलपूर्णैः परिमलावकृष्ट-मधुकर-कुलान्धकारितमुखैरातपभयान्नीलकर्पटावगुण्ठितमुखैरिव स्नानकलशैरुपशोभितां स्नान-

विभ्रमाभिः' रित्यत्र वाच्यलुप्तोपमा।

इतस्तत इति। इतस्ततः=सर्वतः, स्नानम् (=जलाप्लवः) तस्य उपकरणानि (=साधनानि, जलादीनि) तेषां सम्पादने (=निष्पादने, एकत्रीकरणे इत्यर्थः) सत्वरेण=त्वरा-युक्तेन, [अत एव] पुरः=अग्रे, धावता=पलायमानेन, परिजनेन=सेवकलोकेन, तत्कालम्=तदानीम्, विरल-जनेऽपि=स्वल्पलोके सत्यपि, राजकुले=राजभवने, उचितम्=योग्यम्, समुत्सारणाधिकारम्=समुत्सारणम् (=लोकनिवारणम्) तत्र योऽधिकारः (=नियोगः) तम्, आचरद्भिः=कुर्वद्भिः, दण्डिभिः=यष्टिधारिभिः, उपदिश्यमानमार्गः=उपदिश्यमानः (=प्रदर्श्यमानः,) मार्गः (=स्नान भूमिपन्थाः) यस्य स तथाविधः।

विततेति। अत्र सर्वाणि द्वितीयान्तानि पदानि "स्नानभूमिम्" इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्। वितत-सितवितानाम्=विततम् (=उपरि विस्तीर्णम्, निहितम्) सितम् (=श्वेतम्) वितानम् (=उल्लोचः) यस्यां सा ताम्। अनेकेति। अनेके (=बहवः) ये चारणगणाः (=स्तुतिपाठकानां समूहाः) तैः निबध्यमानम् (=निर्मीयमाणम्) मण्डलम् (=मण्डलरूपेणावस्थानम्) यस्यां सा तां तादृशीम्। गन्धोदकेति। गन्धोदकेत्यादिः=गन्धोदकैः (=सुरभिजलैः) पूर्णा (=भृता) कनकमयी (=सुवर्णमयी) द्रोणी (=जलकुण्डिका, बृहज्जलपात्रमिति भावः) तया सनाथः (=सहितः) मध्यः (=मध्यभागः) यस्यां सा तां तथाविधाम्। उपस्थापितेति। उपस्थापितेत्यादिः=उपस्थापितम् (=न्यस्तम्), स्फाटिकम् (=स्फटिकमणिमयम्) स्नानपीठम् (=आप्लवन-चतुष्किका) यस्यां सा तां तथाविधाम्। एकान्तेति। एकान्तनिहितैः=एकस्मिन् प्रदेशेऽवस्थापितैः, अतिसुरभि-गन्ध-सलिल-परिपूर्णैः=अतिशयेन सुरभिः (=घ्राणतृप्तिकारकः,) गन्धः यस्मिन् एवंविधं यत् सलिलम् (=जलम्) तेन पूर्णैः (=परिपूर्णैः, भृतैः), परिमलेत्यादिः=परिमलेन (=सुगन्धेन) अवकृष्टाः (=आकृष्टाः) ये मधुकराः (=भ्रमराः), तेषां यानि कुलानि (=समूहाः)

करने वालीं, अर्थात् उनके समान दिखाई देने वाली थीं। इधर-उधर से स्नान के उपकरणों (सामग्रियों) के सम्पादन (बनाने या एकत्रित करने) में शीघ्रता करने वाले, आगे-आगे चलने वाले नौकरों द्वारा, उस समय उस राजभवन में थोड़े से लोगों के रह जाने पर भी लोगों को हटाने के अपने उचित अधिकार का परिपालन करने वाले दण्डधारी सेवकों द्वारा जिसको [स्नानशाला का] मार्ग बताया जा रहा था, वह राजा ऐसी स्नानभूमि में पहुँचा, जहाँ सफेद चन्दोवे फैलाए गये थे, जहाँ अनेक (स्तुतिपाठक) चारणों के समूह ने मण्डल बना लिया था, जिसके बीच में सुगन्धित जल से भरी हुई सोने की द्रोणी (टब या कुण्ड स्नानपात्र) रखी थी, जिसमें स्फटिक मणि की बनी चौकी रखी हुई थी, [स्नानभूमि के] एक भाग में रखे हुए, अति उत्कट गन्धवाले पानी से भरे हुए, गन्ध से आकृष्ट भ्रमरसमुदाय द्वारा अन्धकारयुक्त मुखवाले, अतएव मानों धूप के भय

१. प्रधाविना। २. परिजनेनानुगम्यमानः। ३. अभिसुरभि०।

भूमिमगच्छत् ।

अवतीर्णस्यच[1] जलद्रोणीं वारविलासिनी-कर-मृदित-सुगन्धामलकलिप्त[2]शिरसो राज्ञः परितः[3] समुपतस्थुरंशुक-निबिडनिबद्ध[4]-स्तनपरिकराः, दूरसमुत्सारित-वलय-बाहुलताः, समुत्क्षिप्तकर्णाभरणाः[5] कर्णोत्सङ्गोत्सारितालकाः गृहीतजल-कलसाः स्नानार्थमभिषेकदेवता इव वारयोषित ।

तैः अन्धकारितानि (=सञ्जातान्धकाराणि) मुखानि (=आननानि) येषां तैः । आतपभयात्=सूर्यकिरणतापभीतेः, नीलकर्पटावगुण्ठितमुखैः=नीलकर्पटैः=(=श्यामवस्त्रखण्डैः) अवगुण्ठितानि (=आवृतानि) मुखानि (=आननानि, अग्रभागाः) येषां तैस्तथाविधैः, इव, स्नानकलशैः=अभिषेकघटैः, उपशोभिताम्=समलङ्कृताम्, स्नानभूमिमगच्छदिति सम्बन्धस्तु पूर्वमेवोक्तः ।

अवतीर्णेति । जलद्रोणीम्=स्नानजलकुण्डिकाम्, अवतीर्णस्य=विहितावतरणस्य, तन्मध्ये प्रविष्टस्येत्यर्थः, च=तथा, वारविलासिनीत्यादिः=वारविलासिनीनाम् (=वेश्यानाम्) करैः (=हस्तैः) मृदितम् (=मर्दितम्) यत् सुगन्धामलकम् (=सुगन्धयुक्तं धात्रीफलम्) तेन लिप्तम् (=व्याप्तम्) शिरः (=मूर्धा) यस्य स तस्य, राज्ञः=नृपस्य शूद्रकस्य, परितः=सर्वतः, [अत्र द्वितीयया भाव्यम्, सम्बन्धसामान्ये षष्ठीति वोध्यम् ।] अंशुकेति । अंशुकेत्यादिः=अंशुकैः (=निजवस्त्रैः) निबिडम् (=दृढम्) यथा स्यात्तथा निबद्धः (=संयतः) स्तनपरिकरः (=कुचाभोगः) यासां याभिर्वा तास्तथोक्ताः । दूरेतिः । दूरेत्यादिः=दूरम् (= विप्रकृष्टम्) समुत्सारितानि (=निराकृतानि) वलयानि (=कङ्कणानि) यासु तथाभूता बाहुलताः (=भुजवल्लयः) यासां तास्तथोक्ताः । समुत्क्षिप्तेति । समुत्क्षिप्तकर्णाभरणाः=समुत्क्षिप्तानि (=ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य बद्धानि) कर्णानाम् (=श्रोत्राणाम्) आभरणानि (=आभूषणानि) याभिस्तथोक्ताः । कर्णेति । कर्णोत्सङ्गोत्सारितालकाः=कर्णोत्सङ्गात् (=श्रोत्रसमीपात्) उत्सारिताः (=अपाकृताः, नेत्रोपरिपतन-निवृत्त्यर्थमिति भावः) अलकाः (=केशाः) याभिस्तास्तथोक्ताः । गृहीतेति । गृहीतजलकलसाः=गृहीताः (=धृताः) जलकलसाः (=वारिघटाः) याभिस्तास्तथोक्ताः । अभिषेकदेवताः=स्नानस्याधिष्ठात्र्यो देव्यः, इव, वारयोषितः=गणिकास्त्रियः, स्नानार्थम्=स्नानविधानार्थम्, समुपतस्थुः=सम्यग्रूपेणोपस्थिताः बभूवुः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

से नीले कपड़े से ढके हुए स्नान (जल) के कलसों से शोभित थी । [ऐसी स्नानशाला में राजा शूद्रक पहुँचा ।]

और पानी के कुण्ड [टब] में उतरे (प्रविष्ट) हुए, वेश्याओं के हाथों से पीसे (मले) गये सुगन्धित आँवला को शिर पर लगाये हुए राजा के चारो ओर—रेशमी वस्त्र से स्तनभाग को दृढतापूर्वक बांधे हुईं, भुजारूपी लताओं से कंकण को दूर [ऊपर] किये हुईं, कानों के गहनों को ऊपर रखे हुईं, कानों पर गिरने वाले केशों को हटाती हुईं, जल के कलसों को लिये हुईं वेश्याएं—मानों स्नान की अधिष्ठात्री देवियाँ—[राजा को] स्नान कराने के लिये वहाँ उपस्थित हुईं थीं ।

---

१. क्वचिच्चकारो नास्ति । २. उपलिप्त । ३. समन्तात् । ४. अंशुकविनिबद्ध ५. चरणाभरणाः ।

ताभिश्च समुन्नत-कुचकुम्भ-मण्डलाभिर्वारिमध्यप्रविष्टः करिणीभिरिव वनकरी परिवृतस्तत्क्षणं रराज राजा।

द्रोणीसलिलादुत्थाय च स्नानपीठममलस्फटिक-धवलं वरुण इव राजहंसमारुरोह।

ततस्ताः काश्चिन्मरकतमणि-कलस-प्रभाश्यामायमाना नलिन्य इव मूर्त्तिमत्यः पत्त्रपुटैः, काश्चिद्रजतकलसहस्ता रजन्य इव पूर्णचन्द्रमण्डलविनिर्गतेन ज्योत्स्नाप्रवाहेण,

---

वेश्याभिः परिवृतस्य राज्ञः सौन्दर्यं निरूपयन्नाह—ताभिश्चेति। समुन्नतकुचकुम्भमण्डलाभिः =समुन्नतम् (=अत्यन्तोच्चम्) कुचकुम्भमण्डलम् (=स्तनकलशसमूहः) यासां तास्ताभिः, ताभिः=पूर्वोक्ताभिः वारयोषिद्भिः, च, करिणीभिः=हस्तिनीभिः, परिवृतः=परिवेष्टितः, वारिमध्य-प्रविष्टः=जलाभ्यन्तरस्थितः, वनकरी=वन्यहस्ती, इव, राजा=नृपः शूद्रकः, तत्क्षणम्=तदानीम्, रराज=अशोभत। जलमध्यस्थितस्यानेककरिणीपरिवृतस्य गजराजस्य यथा शोभा भवति तथैव तदा शूद्रकस्यापि आसीदिति साम्यप्रतिपादनादुपमालङ्कारः।

तदनन्तरं किमरोदिति निर्दिशन्नाह—द्रोणीसलिलादिति। द्रोणीसलिलात्=कुण्डिकाजलात्, उत्थाय=बहिरागत्य, च, अमलस्फटिक-धवलम् :अमलः (=स्वच्छः) यः स्फटिकः (=एतन्नामा-मणिविशेषः), तद्वत् धवलम् (=उज्ज्वलम्) स्नानपीठम्=स्नानचतुष्किकाम्, वरुणः=प्रचेताः, राजहंसम्=राजमरालम्, इव, आरुरोह=आरोहत्, राजेति पूर्ववाक्येनान्वयः। अत्रापि द्विविध-साम्यप्रतिपादनादुपमालङ्कारः।

स्नानपीठारोहणानन्तरं किमभूदिति प्रतिपादयति—तत इति। ततः=राजनि स्नानपीठे समारूढे सति, ताः=पूर्ववर्णिताः, वारयोषितः=वाराङ्गनाः, यथायथम्=यथायोग्यम्, राजानम्=नृपं शूद्रकम्, अभिषिषिचुः=अभिषिक्तवत्य इति अग्रिमपदैः सम्बन्धः। साम्प्रतं वारयोषितः विशेष-यन्नाह—काश्चिन्मरकतेत्यादिः। काश्चित्=काश्चन, मरकतमणिः=मरकतमणिनिर्मितः, यः कलसः=(घटः), तस्य प्रभया=(कान्त्या), श्यामायमानाः (=श्यामवदाचरन्त्यः), अत एव, पत्त्र-पुटैः=पर्णसम्पुटैः, नलिन्यः=कमलिन्यः, इव, राजानम्, अभिषिषिचुः। अत्र साम्यवर्णनादुपमा, उत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा चेत्यनयोः संकरः। काश्चित्=कतिचित् वारयोषितः, रजतकलसहस्ताः=रजत-निर्मितः कलसः (=घटः,) हस्ते (=करे,) यासां ताः, तथोक्ताः, पूर्णचन्द्रमण्डलविनिर्गतेन=समग्रशशि-बिम्बाद् निःसृतेन, ज्योत्स्नाप्रवाहेण=कौमुदीरयेण, [शोभमानाः], रजन्यः=क्षपा इव, राजान-मभिषिषिचुः। अत्र वाराङ्गनासु रजनीत्वजात्युत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः। काश्चित् कतिचित् वाराङ्गनाः, कलसोत्क्षेपश्रमस्वेदार्द्रशरीराः=कलमस्य (=जलपूर्णघटस्य) उत्क्षेपात् (=उत्था-पनात्) यः श्रमः (=आयासः। तेन यः स्वेदः (घर्मजलम्), तेन आर्द्राणि (=क्लिन्नानि)

उन्नत कुचरूपी कलशसमुदायवाली उन वारांगनाओं से घिरा हुआ जलमध्यस्थित राजा शूद्रक उसी प्रकार शोभित हुआ जिस प्रकार हथिनियों से घिरा हुआ जल-मध्य-प्रविष्ट हाथी शोभित होता है।

इसके बाद जल-कुण्डिका से बाहर निकल कर राजा स्वच्छ स्फटिक मणि के समान धवल स्नान की चौकी पर उसी प्रकार आरूढ़ हुआ जिस प्रकार वरुण राजहंस पर आरूढ़ (सवार) होता है।

तब (स्नान पीठ पर राजा के बैठ जाने के बाद) उन (विभिन्न प्रकार की) वेश्याओं ने राजा को यथायोग्य रीति से स्नान कराया जिनमें—कुछ मरकतमणि के बने हुए कलसों की (श्याम=हरी) कान्ति से श्यामवर्ण की होती हुईं मानो शरीरधारिणी कमलिनियाँ पत्रपुटों से

---

१. इदं क्वचिन्न।

काश्चित् कलसोत्क्षेप-श्रम-स्वेदार्द्रशरीरा जलदेवता इव स्फाटिकैः कलसैस्तीर्थजलेन, काश्चिन्मलयसरित इव चन्दनरसमिश्रेण सलिलेन, काश्चिदुत्क्षिप्त-कलस-पार्श्व-विन्यस्त-हस्तपल्लवाः प्रकीर्य्यमाणनख-मयूख-जालकाः प्रत्यङ्गुलि-विवर-विनिर्गत-जलधाराः सलिलयन्त्रदेवता इव, काश्चिज्जाड्यमपनेतुमाक्षिप्त-बालातपेनेव दिवसश्रिय इव कनक-कलशहस्ताः कुङ्कुमजलेन वाराङ्गनाः यथायथं[1] राजानमभिषिषिचुः ।

शरीराणि (=देहाः) यासां तास्तथोक्ताः, स्फाटिकैः=स्फटिकमणिरचितैः, कलसैः=घटैः, तीर्थजलेन=तीर्थ स्थलीयवारिणा, जलदेवताः=जलाधिष्ठात्रीदेव्यः, इव, राजानमभिषिषिचुः। इह वाराङ्गनासु जलदेवतात्वजात्युत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालंकारः। काश्चिदिति। काश्चित्=काश्चन, चन्दनरसमिश्रेण=मलयजस्य द्रवेण संयुक्तेन, सलिलेन=जलेन, मलयसरितः=मलयाचलनद्यः, इव, राजानमभिषिषिचुः। अत्राप्युत्प्रेक्षालंकारः। काश्चिदिति। काश्चित्=काश्चन, उत्क्षिप्तेत्यादिः —उत्क्षिप्ताः (=उत्थापिताः) ये कलसाः (=घटाः), तेषां पार्श्वे (=वामदक्षिणभागे), विन्यस्ताः (=स्थापिताः) हस्तपल्लवाः (=करकिसलयानि) याभिस्तास्तथोक्ताः; प्रकीर्यमाणेत्यादिः—प्रकीर्यमाणानि (=इतस्ततो विपर्यस्तानि), नखानाम् (=कररुहाणाम्) मयूखजालानि (=किरणसमूहाः) यासां ताः; प्रत्यङ्गुलि-विवर-विनिर्गत-जलधाराः=प्रत्यङ्गुलि (=प्रतिकरशाखम्) यानि विवराणि (=छिद्राणि, अन्तरालप्रदेशाः) तेभ्यो विनिर्गताः (=विनिःसृताः), जलधारा=(वारिसन्ततिः) यासां ताः, अत एव, सलिलयन्त्रदेवताः=वारियन्त्राधिदेवताः, इव। अत्रापि वाराङ्गनासु सलिलयन्त्रजात्युत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः। काश्चिदिति। काश्चित्=काश्चनान्याः, कनककलसहस्ताः=कनककलसाः (=सुवर्णनिर्मितघटाः) हस्तेषु (=करेषु) यासां ताः, दिवसश्रियः=दिनलक्ष्म्यः, इव, जाड्यम्=जलीयशैत्यम्, अपनेतुम्=दूरीकर्तुम्, आक्षिप्तबालातपेन=आक्षिप्तः (=आकर्षितः) बालातपः (=सद्य उदितसूर्यः) यस्मिन् तत् तेनेव, कुङ्कुमजलेन=केसरसंयुक्तसलिलेन, यथायथम्=यथायोग्यम्, राजानमभिषिषिचुरिति अन्वयस्तु पूर्वमेवोक्तः। अत्रापि उत्प्रेक्षालंकारः "आक्षिप्तबालातपेनेव" इत्यत्र 'दिवसश्रिय इव' इत्यत्र चेति बोध्यम्।

[स्नान करा रहीं हों], कुछ चाँदी के कलसों को हाथ में लिए हुए थीं अतः मानों रातें पूर्णचन्द्र-मण्डल से निकले चाँदनी के प्रवाह से [राजा को स्नान करा रहीं हों]; कुछ कलसों को उठाने के परिश्रम से [निकले] पसीने से भीगे शरीर वाली थीं अतः मानों जलदेवियाँ स्फटिक मणि के कलसों से तीर्थों के जल से [राजा को स्नान करा रहीं हों]; कुछ चन्दन रससे मिले हुए जल से [राजा को स्नान करातीं हुईं] मानों मलयाचल की नदियाँ थीं; कुछ वे जिन्होंने उठाए हुए कलशों के पार्श्व में (दोनों ओर) कररूपी पल्लव रख लिए थे, जिनके नाखूनों की किरणों का समुदाय फैल रहा था, और जिनके प्रत्येक अंगुली के विवर (मध्य भागस्थ छिद्र) से जलधारायें निकल रहीं थीं, वे मानों सलिलयन्त्र (=फुहारे) की देवीं थीं; कुछ जिनके हाथ में सोने के कलस थे केसर-मिश्रित जल से स्नान करा रहीं थीं, मानों दिनलक्ष्मी [अधिक स्नान करने से उत्पन्न] शीत को दूर करने के लिए प्रातः कालीन सूर्य की धूप से अर्थात् हल्की धूप द्वारा [राजा को स्नान करा रहीं हों]।

१. क्रमेण।

अनन्तरमुदपादि च स्फोटयन्निव[1] श्रुतिपथमनेक-प्रहत-पटु-पटह-झल्लरी-मृदङ्ग-वेणुवीणागीत-निनादानुगम्यमानो वन्दिवृन्द-कोलाहलाकुलो[2] भुवन-विवरव्यापी स्नान-शंखानामापूर्य्यमाणानामतिमुखरो ध्वनिः।

एवञ्च क्रमेण निर्वर्तिताभिषेको विषधरनिर्म्मोक-परिलघुनी धवले परिधाय धौत-वाससी शरदम्बरैकदेश इव जलक्षालन-निर्मल[3]तनुः अतिधवल-जलधर-च्छेद-शुचिना दुकूल-

अनन्तरमिति। अनन्तरम् =जलाभिषेकस्य अनन्तरम्, स्नानशङ्खानाम् =स्नानसमाप्ति-सूचककम्बूनाम्, ध्वनिः =शब्दः, उदपादि = उत्पन्नोऽभूदिति सम्बन्धः कार्यः। कीदृशः स इत्याह—श्रुतिपथम् =श्रवणमार्गम्, स्फोटयन् इव = विदारयन् इव, अनेकेत्यादिः =अनेकैः (=जनैः, प्रकारैर्वा), प्रहताः (=ताडिताः), पटवः (=समर्थाः, उत्कृष्टा इति भावः), ये पटहाः (=दुन्दभयः), झल्लर्यः (=वाद्यविशेषाः 'झाल' इति नाम्ना हिन्द्यां प्रसिद्धाः), मृदङ्गाः (= मुरजाः) वेणवः (=वंश्यः), वीणाः (=तन्त्र्यः) गीतानि (=गानानि) चैतेषां यो निनादः (=ध्वनिः) तमनुगम्यमानः (=तमनुलक्षीकृत्य प्रवर्तमानः), वन्दिवृन्दस्य (= वैतालिक-समूहस्य) कोलाहलेन (= कलकलेन) आकुलः (=व्याप्त), भुवनविवरव्यापी = लोकान्तरान्प्रसारी, अतिमुखरः = बहुशब्दायमानः, आपूर्यमाणानाम् =मुखवायुभिः परिपूर्यमाणानाम्, वाद्यमानानामित्यर्थः, शङ्खानाम् = कम्बूनाम्, ध्वनिः, 'उदपादि'—इत्यन्वयस्तूक्त एव। अत्र भुवनविवरसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादति-शयोक्तिः, 'स्फोटयन्निव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यनयोः मिथोऽनपेक्षया स्थितया संसृष्टिरलङ्कारः।

एवञ्चेति। एवं च =पूर्वोक्तेन प्रकारेण च, निर्वर्तिताभिषेकः = निर्वर्तितः (= सम्पादितः) अभिषेकः (=स्नानम्) येन स तादृशः राजा, देवगृहम् =देवालयम्, अगमत् =अगच्छत्—इति वक्ष्यमाण-पदेनान्वयो बोध्यः। विषधरनिर्मोकपरि-लघुनी =विषधराः (=भुजङ्गाः), तेषां निर्मोकः (= कञ्चुकः) तद्वत् परिलघुनी (= अत्यन्तसूक्ष्मे) धवले = उज्ज्वले, धौतवाससी = प्रक्षालितवस्त्रे, परिधाय = परिधानं कृत्वा, [देवपूजादौ वस्त्रद्वयधारणं—धर्मशास्त्रे निर्दिष्टम्।] शरदम्बरैकदेशः = शरदि (=वर्षापगमे एतन्नाम्ना प्रसिद्धर्तौ) यद् अम्बरम् (= आकाशः) तस्य एकदेशः (=एकभागः) इव, जलक्षालननिर्मलतनुः = जलेन (= वारिणा) यद् क्षालनम् (= धावनम्) तेन निर्मला (= अवगतमला), तनुः (= शरीरम्) यस्य स तादृशः, अति-धवलजलधरच्छेदशुचिना = अतिधवलः (= अतिस्वच्छः) यो जलधरः (= वारिदः) तस्य

इस (राजा के स्नान) के बाद बजाये जाते हुए स्नानशंखों की बहुत तेज आवाज होने लगी, जो श्रुतिपथ (कर्णकुहरों) को फोड़ती हुई सी थी, भुवन-विवर (पृथ्वी और आकाश के मध्यभाग) को व्याप्त करती हुई थी, जिसके पीछे अनेक लोगों द्वारा पीटे (बजाए) गए नगाड़ों, झांझों, मृदंगों, बासुरिओं, और वीणाओं की आवाज तथा मंगलपाठकर्ताओं के गीतों की आवाज हो रही थी, जो वन्दी लोगों के समुदाय के कोलाहल से युक्त थी।

इस प्रकार क्रमशः स्नान सम्पन्न करके सांप की केंचुल के समान अत्यन्त हल्के, उज्वल तथा धुले हुए दो वस्त्रों को पहन कर [पानी से धुल जाने के कारण स्वच्छ] शरद ऋतु के आकाश के एक भाग के समान जलस्नान से स्वच्छ शरीर वाला, अत्यन्त धवल बादल के टुकड़े के समान स्वच्छ रेशमी वस्त्र के किनारे से सिर को लपेटे हुए, पगड़ी पहने हुऐ, वह आकाश

१. अवस्फोटयन्निव, आस्फोटयन्निव। २. कोलाहलो। ३. विमल।

पटपल्लवेन तुहिनगिरिरिव गगनसरित्स्रोतसा कृतशिरोवेष्टनः सम्पादित-पितृजलक्रियो मन्त्रपूततोयाञ्जलिना दिवसकरमभिप्रणम्य देवगृहमगमत् ।

उपरचित[1]-पशुपतिपूजश्च[2] निष्क्रम्य देवगृहान्निर्वर्तिताग्निकार्यो विलेपनभूमौ झङ्कारिभिरलिकदम्बकैरनुबध्यमानपरिमलेन मृगमद-कर्पूर-कुङ्कुमवास-सुरभिणा चन्दनेनानु-

यश्छेदः (= भागः, खण्डः) तद्वत् शुचिना (= निर्मलेन), दूकूलपट्टपल्लवेन = दूकूलपट्टस्य (= क्षौमवसनस्य) पल्लवेन = प्रान्तेन, विस्तरेण वा, ['पल्लवो विस्तरे षिङ्गे किसले विटपे वने ।' त्रिकाण्डशेषः] गगन-सरित्-स्रोतसा = गगनसरित् (= आकाशगंगा) तस्या स्रोतसा (= प्रवाहेण), तुहिनगिरिः = हिमालयः, इव, कृतशिरोवेष्टनः = कृतम् (= विहितम्) शिरोवेष्टनम् (= उत्तमाङ्गपरिवेष्टनम्) येन स तादृशः, धृतोष्णीष इति भावः । [होमकार्ये उष्णीषधारणं धर्मशास्त्रे निर्दिष्टम् ।] सम्पादित-पितृजलक्रियः = सम्पादिता (= निष्पादिता) पितृणाम् जलक्रिया (=जलतर्पणादिव्यापारः) येन स तादृशः, मन्त्रपूतेन=मन्त्रैः पवित्रितेन, तोयाञ्जलिना= जलपूर्णकरसम्पुटेन, दिवसकरम् = सूर्यम्, अभिप्रणम्य = सम्मुखं नत्वा, देवगृहम्=देवालयम्, अगमदिति अन्वयस्तूक्त एव । स्नानान्तरं किंकरणीयमिति स्मृत्यादावुक्तम्—

"स्नात्वा सन्तर्पयेद्देवान् पितृंश्च मानवांस्तथा ।"
"अर्घ्यं दद्यात्तु प्रथमं भास्कराय महात्मने ।
ततो विष्णुं शिवं शान्तः शिवां चैव प्रपूजयेत् ॥"

अत्र 'विषधरनिर्मोके' त्यत्र वाचकलुप्तोपमा 'शरदम्बरैकदेश' इत्यत्र पूर्णोपमा, 'अतिधवलजलधरच्छेदशुचिना' अत्राप्युपमा, 'तुहिनगिरिरिव' इत्यत्राप्युपमैव ।

देवाराधनान्तरं किमकरोदिति प्रतिपादयति— उपरचितेति । उपरचितपशुपतिपूजः=उपरचिता (=सम्पादिता) पशुपतेः (=शिवस्य) पूजा (=अर्चनादिकम्) येन स तादृशः, ['पूजा नमस्यापचितिः ।' इत्यमरः] देवगृहात्=देवमन्दिरात्, निष्क्रम्य=निर्गत्य, निर्वर्तिताग्निकार्यः=निर्वर्तितम् (=विहितम्) अग्निकार्यम् (=वह्निहोमादिकम्) येन स तादृशः । विलेपनभूमौ=अङ्गरागसम्पादनस्थले, झङ्कारिभिः=एतादृशशब्दकारिभिः, अलिकदम्बकैः=भ्रमरसमूहैः, अनुबध्यमानपरिमलेन=अनुबध्यमानः (=नियम्यमानः, सेव्यमानो वा) परिमलः= आमोदः यस्य स तेन, मृगमदकर्पूर-कुङ्कुमवास-सुरभिणा=मृगमदः (=कस्तूरी), कर्पूरः (=हिमबालुका) कुङ्कुमम् (=कश्मीरजम्, केसरम्)—एतेषां वासः (=परिमलः) तेन सुरभिणा=(सुगन्धिना, घ्राणतर्पणेन) [वास्यते=उपसेव्यते लोकैरिति कर्मण्यर्थे चौरादिकस्य 'वास' धातोः रूपं बोध्यम्] चन्दनेन=मलयजेन, अनुलिप्तसर्वाङ्गः=अनुलिप्तानि (=लेपितानि)

गंगा की धारा से [संयुक्त] हिमालय पर्वत के समान [शोभायुक्त होता हुआ], पितरों का जलतर्पण सम्पन्न करके मन्त्रों से पवित्र जलपूर्ण अञ्जलि द्वारा सूर्य को सामने से प्रणाम करके अर्थात् सूर्य को जलार्घ्य देकर देव-मन्दिर की ओर चल दिया ।

[देवालय में] शिव जी की पूजा सम्पन्न करने के बाद मन्दिर से बाहर निकल कर, होमादि कार्य समाप्त करके विलेपनभूमि (=प्रसाधनकक्ष) में ऐसे चन्दन से सारे शरीर में लेप करवाया जिसकी सुगन्ध झंकार-युक्त भौंरो द्वारा उपसेवित की (सूंघी) जा रही थी, जो कस्तूरी, कपूर तथा केसर की सुगन्ध से सुगन्धित था; सुगन्धित चमेली के फूलों का शिरो-

१. चरित । २. पूजनश्च ।

लिप्तसर्वाङ्गो विरचितामोदि-मालतीकुसुमशेखरः कृतवस्त्रपरिवर्तो[1] रत्नकर्णपूरमात्राभरणः समुचितभोजनैः सह भूपतिभिराहारमभिमत-रसास्वाद-जातप्रीतिरवनिपो निर्वर्त्तयामास।

परिपीतधूमवर्त्तिरुपस्पृश्य[2] च गृहीतताम्बूलस्तस्मात् प्रमृष्ट-मणि-कुट्टिम-प्रदेशादुत्थाय नातिदूरवर्त्तिन्या ससम्भ्रम-प्रधावितया प्रतीहार्य्या प्रसारितं बाहुम् अवलम्ब्यान-

सर्वाणि (=सकलानि) अङ्गानि (=अवयवाः) यस्य स तादृशः। विरचितामोदि-मालतीकुसुमशेखरः=विरचितः (=विनिर्मितः), आमोदिभिः (=सुगन्धिभिः) मालतीपुष्पैः (=जातीकुसुमैः) शेखरः (=शिरोभूषणम्) येन सः तादृशः। कृतवस्त्रपरिवर्तः=कृतः (=विहितः) वस्त्रयोः (=पूर्वं परिहितवसनयोः) परिवर्तः (=परिवर्तनम्) येन स तादृशः। रत्नकर्णपूरमात्राभरणः — रत्नकर्णपूरमात्रम् (=रत्नखचितः कर्णपूरः=कर्णाभरणम् एव) आभरणम् (=आभूषणम्) यस्य स तादृशः। [भोजन-कालेऽनेकाभूषण-धारणस्यानावश्यकत्वात् केवलं कर्णपूरयुक्त आसीदिति भावः।] समुचितभोजनैः=समुचितम् (=योग्यम्) भोजनम् (=सहाशनम्) एषां तथाविधैः, भूपतिभिः=राजभिः, सह=सार्धम्, अभिमतरसास्वादजातप्रीतिः= अभिमताः (अभिलषिताः, रुचिकराः) ये रसाः (= मधुरादयः षड्विधाः) तेषाम् आस्वादः= (=उपभोजनम्) तेन, जातप्रीतिः=जाता (=उत्पन्ना) प्रीतिः (=प्रसन्नता, सन्तुष्टिः) यस्य स तादृशः, अवनिपः=पृथ्वीपालकः, शूद्रकः, आहारम्=भोजनम्, निर्वर्तयामास=सम्पादयामास। 'एकः स्वादु न भुञ्जीत' इति वचनमाश्रित्य बहुभिः सहाभीष्टं भोजनमकरोदिति भावः।

भोजनानन्तरं कृत्यं वर्णयति—परिपीतेत्यादि। भुक्त्वा=भोजन कृत्वा, परिपीतधूमवर्तिः= परिपीता (=मुखसौगन्ध्यसम्पादनाय समास्वादिता) धूमवर्तिः=ताम्बूलादि-निर्मित-पदार्थविशेषः) येन स तादृशः, च=तथा, उपस्पृश्य=आचम्य, गृहीतताम्बूलः=गृहीतम् (=आत्तम्) ताम्बूलम् (=नागवल्लीदलम्) येन सः तादृशः। तस्मात्=पूर्वमधिष्ठितात् प्रमृष्टमणिकुट्टिमप्रदेशात्=प्रमृष्टम् (=जलादिना परिशोधितम्) मणिकुट्टिमम् (=रत्नमयबद्धस्थलम्) यस्मिन् स तस्मात् प्रदेशात् (=स्थानात्), उत्थाय=उत्थान कृत्वा; नातिदूर-वर्तिन्या=नातिदूरे (=नातिविप्रकृष्टे) वर्तते या सा तया, ससम्भ्रम-प्रधावितया=ससम्भ्रमम् (=सोद्वेगम्), प्रधावितया (=शीघ्रं समागच्छन्त्या) प्रतीहार्या=द्वारपालिकया, प्रसारितम्=सेवार्थं विस्तारितम्, अनवरत-वेत्रलता-ग्रहण-प्रसङ्गात्=अनवरतम् (= सततम्) यत् वेत्रलतायाः (= वेतसयष्टयाः) ग्रहणम् (= धारणम्) तस्य प्रसङ्गात् (= अभ्यासादिति भावः), अतिकठिनकिसलयानुकारि-करतलम् = अतिकठिनम् (= बहुकठोरम्) यत् किसलयम् (= पल्लवम्), तदनुकरोति, तच्छीलम्, करतलम् (= हस्तमध्यभागः) यस्य तं तथोक्तम्, बाहुम् = भुजम्,

भूषण धारण किये हुए, [पहले धारण किये गये] वस्त्रों को बदल करके, केवल कान के आभूषणों को धारण किये हुए राजा शूद्रक ने अपने साथ भोजन करने योग्य राजाओं के साथ अभीष्ट [रुचिकर] रसों के आस्वाद से सन्तुष्ट होते हुए भोजन सम्पन्न किया।

भोजन करने के बाद धूमवर्तिका (सिगरेट के समान कोई वस्तुविशेष) को पीकर आचमन करके, ताम्बूल ग्रहण करके उस स्वच्छ मणि-जटित स्थान से उठ कर, पास में स्थित, घबड़ा कर तेजी से दौड़ती हुई द्वारपालिका द्वारा फैलाई गई भुजाएँ जो सदा बेंत की छड़ी पकड़ने के अभ्यास से अत्यन्त कठोर पल्लव का अनुकरण करने वाले अर्थात् उसके समान करतलों वालीं

१. कृताम्बरपरीवर्त्तः। २. धूप, धूमधूप०।

वरतवेत्रलताग्रहण-प्रसङ्गादतिजरठ-किसलयानुकारि-करतलं[1] करेण,[2] अभ्यन्तरसञ्चार-समुचितेन परिजनेनानुगम्यमानो धवलांशुक-परिगतपर्य्यन्ततया[3] स्फटिक-मणिमय-भित्ति-बद्धमिवोपलक्ष्यमाणम्, अतिसुरभिणा मृगनाभिपरिमलेनामोदिना[4] चन्दनवारिणा सिक्त-शिशिरमणिभूमिम्,[5] अविरलविप्रकीर्णेन विमल-मणिकुट्टिम-गगनतलतारागणेनेव[6] कुसुमो-पहारेण निरन्तरनिचितम्, उत्कीर्णशालभञ्जिकानिवहेन सन्निहितगृहदेवतेनेव[7] गन्धसलिल-

करेण=हस्तेन अवलम्ब्य=गृहीत्वा । अभ्यन्तरसंचारसमुचितेन = अभ्यन्तरम् (=प्रासादस्य-मध्यभागः) तत्र यः संचारः (= संचरणम्) तत्र समुचितः = योग्यः स तथोक्तेन, परिजनेन= सेवकलोकेन, अनुगम्यमानः = अनुस्रियमाणः, ["आस्थानमण्डपम् = सभाभवनम्, अयासीत् = अग-मदिति" वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः,] धवलांशुकपरिगतपर्यन्ततया = धवलम् (= शुभ्रम्) यत् अंशुकम् (= वस्त्रम्) तेन परिगतः (= परिवेष्टितः) पर्यन्तः (= प्रान्तभागः) यस्य स तस्य भावस्तया, हेतुनानेनेति भावः, स्फटिकमणिमयभित्तिबद्धम् = स्फटिकमणिमयी (= एतन्नामकमणिविशेषयुक्ता) या भित्तिः (= कुड्यम्) तया बद्धम् (= निर्मितम्) इव, उपलक्ष्यमाणम् = अवलोक्यमानम् । [अत्र द्वितीयान्तानि पदानि 'आस्थानमण्डपम्' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् । इव शब्दः उत्प्रेक्षा-याम् । सा च वाच्या क्रियोत्प्रेक्षेति ज्ञेयम् ।] अतिसुरभिणा = अतिशयसुगन्धयुक्तेन, मृगनाभि-परिमलेन = कस्तूरीगन्धेन, आमोदिना = अत्यन्तसुगन्धिना, चन्दनवारिणा = मलयजमिश्रित-जलेन, सिक्तशिशिरमणिभूमिम्=सिक्ता (=सिञ्चिता) अत एव शिशिरा (= शीतला) मणि-भूमिः = मणिजटिता भूः यस्मिन् तत् तादृशम्, अविरल-विप्रकीर्णेन = अविरलम् (= सान्द्रं यथा स्यात् तथा) विप्रकीर्णेन = पर्यस्तेन, विमलेत्यादिः = विमलमणीनाम् (= निर्मलरत्नानाम्), यत् कुट्टिमम् (= रत्ननिबद्धभूमिः) गगनतलमिव(=आकाश-तलमिव तस्य) तारा-गणेन=(नक्षत्रसमू-हेन,) इव, कुसुमोपहारेण =पुष्पसमूहेन, निरन्तरनिचितम्=अनवरतं व्याप्तम्, 'मणिकुट्टिमगगनतलम्' इत्यत्र लुप्तोपमा इवशब्देन चोपमा, अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालंकारः । उत्कीर्णेत्यादिः = उत्कीर्णः (=उत्कीर्य रचितः) शालभञ्जिकानाम् (=पुत्तलिकानाम्) निवहः (=समूहः)

थीं, उनको [अपने] हाथ से पकड़ कर अर्थात् उनका सहारा लेकर, महल के भीतर चलने के योग्य सेवकों द्वारा अनुगमन किया जाता हुआ [अर्थात् जिसके पीछे पीछे नौकर चल रहे हैं, वह] राजा ऐसे सभामण्डप में पहुँचा, जो—श्वेत रेशमी वस्त्र से घिरे हुए किनारों वाला होने के कारण मानों स्फटिक मणिओं की दीवालों से घिरा हुआ दिखाई दे रहा था; जो अत्यन्त सुगन्धित कस्तूरी से मिश्रित [अत एव] अतिशय सुगन्धित चन्दन-मिश्रित जल से सींचीं गईं शीतल मणियों से जटित भूमिवाला था; जो घने बिखरे हुए, निर्मल मणिमय फर्श जो आकाशतल के सदृश था वह तारागणों के समान फूलों के समुदाय से खूब भरा हुआ था; जो खुदी हुई [ऊपर नक्कासी करके बनाई गईं] पुत्तलिओं के समूहवाले अतएव मानों गृहाधिष्ठात्री देवियों से

---

१. प्रसङ्गानति, प्रसङ्गादनति । २. करतलकरेण । ३. शुकजवनिकापरिगत० ।
४. परिगतेन । ५. शिशिरकर । ६. विमलमणिकुट्टिमं गगनतलं तारागणेनेव ।
७. दैवतेनेव ।

क्षालितेन कलधौतमयेन स्तम्भसञ्चयेन विराजमानम्, अतिबहलागुरु-धूप-परिमलम्, अखिलविगलित-जलनिवह-धवल-जलधर-शकलानुकारिणा कुसुमामोदवासित-प्रच्छदपटेन, पट्टोपधानाध्यासित[1]शिरोधाम्ना[2], मणिमयप्रतिपादुकाप्रतिष्ठितपादेन पार्श्वस्थ-रत्नपाद-[3] पीठेन तुहिनगिरिशिलातल-सदृशेन[4] शयनेन सनाथीकृतवेदिकं भुक्त्वास्थानमण्डपमयासीत् ।

यत्र तत् तथोक्तेन, सन्निहितगृहदेवतेन=सन्निहिताः (=समीपस्थिताः); गृहदेवताः (=भवनाधिष्ठात्र्यो देव्यः) यस्मिन् तेन, इव, गन्धसलिलक्षालितेन=सुगन्धिवारिभिः धावितेन, कलधौतमयेन=स्वर्णनिर्मितेन, स्तम्भसञ्चयेन = स्थूणानां समुदायेन, विराजमानम् = शोभमानम्। अत्र 'इव' शब्दः क्रियोत्प्रेक्षावाची। ['कलधौतं रूप्यहेम्नोः।' अमरः ३।३।८३] अतिबहलागुरुधूपपरिमलम्=अतिबहलः=अतिप्रचुरः, यः अगुरुः (=कृष्णागुरुः) तस्य धूपस्य परिमलः (=सौरभम्) यस्मिन् तत् तथोक्तम्। अखिलेत्यादिः = अखिलः (=सकलः) विगलितः (निःसृतः) जलनिवहः (=वारिसमूहः) यस्मात् स, अत एव धवलः (=उज्ज्वलः) यो जलधरः (=वारिदः) तस्य शकलम् (=खण्डम्) अनुकर्तुं शीलं यस्य तत् तथोक्तेन। इत आरभ्य तृतीयान्तानि पदानि 'शयनेन' इत्यस्य विशेषणानीति ज्ञेयम्। कुसुमेत्यादिः=कुसुमानाम् (=पुष्पाणाम्) य आमोदः (=परिमलः) तेन वासितः (=सुगन्धीकृतः) प्रच्छदपटः (=आस्तरणवसनम्) यस्मिन् तत् तादृशेन। पट्टोपधानाध्यासितशिरोधाम्ना=पट्टस्य (=क्षौमवसनस्य) यद् उपधानम् (=उच्छीर्षकम्) तेनाध्यासितम् (=आश्रितम्) शिरोधाम (=शिरःस्थलम्) यस्मिन् तत् तथोक्तेन, मणिमयप्रतिपादुका-प्रतिष्ठितपादेन—मणिमय्यः (=रत्नखचिताः) याः प्रतिपादुकाः (=आधार-पीठानि) तासु प्रतिष्ठिताः (=सन्निहिताः) पादाः (=पल्यंकपादाः) यस्य तत् तथोक्तेन, पार्श्वस्थरत्नपादपीठेन—पार्श्वस्थम् (=समीपस्थम्) रत्नपादपीठम् (=मणिमयपादासनम्) यस्य तत् तथोक्तेन, तुहिनगिरिशिलातलसदृशेन=तुहिनगिरेः (=हिमालयपर्वतस्य) यत् शिलातलम्=(= प्रस्तरतलम्) तत्सदृशेन(=तत्सन्निभेन,) अतिधवलेनेति भावः, शयनेन =शय्यया [अधिकरणे ल्युटि शयनशब्दः शय्यावाचीति बोध्यम्।] सनाथीकृतवेदिकम्=सनाथीकृता (=युक्ता) वेदिका (=परिष्कृतभूमिः) यस्मिन् तत् तथोक्तम्, आस्थानमण्डपम्=सभामण्डपम्, भुक्त्वा = भोजनं कृत्वा, अयासीत्=अगमदिति सम्बन्धस्तूक्त

युक्त सुगन्धित जल से धोये गए, सोने के बने हुए खम्भों के समुदाय से शोभायुक्त प्रतीत हो रहा था; जो बहुत अधिक अगुरु (अगरबत्तिओं) की धूप की सुगन्धवाला था: जो—सारे जलसमूह के बरस जाने से अति स्वच्छ बादल के टुकड़े का अनुकरण करने वाले अर्थात उसके समान, फूलों की सुगन्ध से सुगन्धित चादर वाले, रेशमी उपधान (तकिया) से युक्त सिराहने वाले; मणिमय प्रतिपादुकाओं [छोटी छोटी चौकिओं] पर रखे गये पादों (पावों) वाले, पास ही रखे हुए रत्नजटित पायदान वाले, हिमालय पर्वत के शिलातल के समान पलंग से सज्जित—वेदिका (चबूतरा) से युक्त था। [ऐसे सभाभवन में राजा ने प्रस्थान किया।]

विमर्श—"भुक्त्वाऽस्थानमण्डपम् अयासीत्" यहाँ 'भुक्त्वा' यह पद अन्त में है किन्तु इसका सम्बन्ध प्रारम्भ में ही करना चाहिए, क्योंकि भोजन के बाद ही धूमपान और ताम्बूलग्रहण अनु-

---

१. अध्यवसित। २. शिरोभागेन। ३. रत्नपठित, रत्नमयपीठेन।
४. तुहिनशिलातलसदृशशयनेन।

तत्र च शयने[1] निषण्णः क्षितितलोपविष्टया शनैः शनैरुत्सङ्ग-निहितासिलतया खड्गवाहिन्या नव-नलिन-दल-कोमलेन करसम्पुटेन संवाह्यमानचरणस्तत्कालोचितदर्शनैरवनिपतिभिरमात्यैर्मित्रैश्च सह तास्ताः कथाः कुर्वन् मुहूर्त्तमिवासाञ्चक्रे।

ततो नातिदूरवर्त्तिनीम् 'अन्तःपुराद्वैशम्पायनमादायागच्छ' इति समुपजात-तद्वृत्तान्तप्रश्न-कुतूहलो राजा प्रतीहारीमादिदेश।

एव। अत्र "जलधरशकलानुकारिणा" तथा 'तुहिनगिरिशिलातलसदृशेन' इत्यत्रोपमालंकारः। 'अयासीदि'ति "या प्रापणे" इत्यस्य लुङि रूपं बोध्यम्।

अन्ते विद्यमानमपि 'भुक्त्वे'ति पदमादौ संयोज्यान्वयः कार्यः, भोजनानन्तरमेव धूमवर्तिकापानं ताम्बूलग्रहणं च लोकानुभवसिद्धम्।

तत्र चेति। तत्र=तस्मिन् सभाभवने, शयने=पर्यङ्के, निषण्णः=आसीनः, राजा शूद्रकः, क्षितितलोपविष्टया=क्षितितले (=भूतले) उपविष्टया (=स्थितया), उत्सङ्गनिहितासिलतया=उत्सङ्गे (=क्रोडे) निहिता (=स्थापिता) असिलता (=खड्गलता) यया सा तया, खड्गवाहिन्या=कृपाणधारिण्या कयाचित् सेविकया, नवनलिनदलकोमलेन=नवम् (=नूतनम्) यद् नलिनम् (=कमलम्) तस्य यानि दलानि (=पत्राणि), तद्वत् कोमलेन (=मृदुलेन) करसम्पुटेन=हस्तयुगलेन, शनैः शनैः=मन्दं मन्दम्, संवाह्यमानचरणः=संवाह्यमानौ (=संमर्द्यमानौ, उपसेव्यमानौ) चरणौ (=पादौ) यस्य स तादृशः। तत्कालोचितदर्शनैः=तत्काले (=तस्मिन् समये) उचितम् (=योग्यम्) दर्शनम् (=विलोकनम्, साक्षात्कारः) येषां ते तैः, अवनिपतिभिः=पृथ्वीपतिभिः, अमात्यैः=मन्त्रिभिः, मित्रैः=सुहृद्भिः, च, ताः ताः=प्रस्ताविताः प्रस्ताविताः नानाविधाः, कथाः=वार्तालापान्, कुर्वन्=विदधत्, मुहूर्तम्=क्षणम्, इव, आसाञ्चक्रे=विरराज। 'इव' शब्दो वाक्यालंकारे।

ततः किमकरादिति वर्णयति—तत इति। ततः=विविधविषयक-वार्तालापानन्तरम्, समुपजातेत्यादिः—समुपजातम् (=समुत्पन्नम्) तस्य (=शुकस्य) वृत्तान्तप्रश्ने (=प्रवृत्ति-पृच्छायाम्) कुतूहलम् (=कौतुकम्) यस्य स तादृशः, राजा=नृपः शूद्रकः, अन्तःपुरात्=अवरोधात्, वैशम्पायनम्=एतन्नामकं शुकम्, आदाय=गृहीत्वा, आगच्छ=आव्रज, इति=इत्येवं रूपम्, नातिदूरवर्त्तिनीम्=समीपस्थिताम्, प्रतीहारीम्=द्वारपालिकाम्, आदिदेश=आज्ञापयामास। "वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्।" "प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च।" "स्त्र्यगारं भूभुजामन्तःपुरं स्यादवरोधनम्। शुद्धान्तश्चावरोधश्च।" [अमरः २।२ ११-१२]

भव सिद्ध हैं। कुछ व्याख्याकारों के द्वारा एकपद बनाकर "भोजन के बादवाला सभाभवन" ऐसा किया गया है। इसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

[अनु०] उस सभा भवन में पलंग पर बैठा हुआ राजा, जिसके पैर, जमीन पर बैठी हुई, गोद में तलवार को रखे हुई तलवार-धारिणी सेविका द्वारा नवीन कमलपत्र के समान कोमल दोनों हाथों से दबाये जा रहे थे; उस समय दर्शन (साक्षात्कार) करने योग्य राजाओं, मन्त्रियों तथा मित्रों के साथ उन उन नाना प्रकार की बातें करता हुआ कुछ देर तक बैठा रहा।

इसके बाद उस वैशम्पायन शुक के वृत्तान्त को पूछने के लिये उत्पन्न हुई उत्कण्ठा वाले राजा ने समीपवर्तिनी द्वारपालिका को "अन्तःपुर से वैशम्पायन को लेकर आओ" ऐसी आज्ञा दी।

---

१. शयनतलनिषण्णः।

सा क्षितितल-निहित-जानु-करतला 'यथाज्ञापयति देवः' इति शिरसि कृत्वाज्ञां यथादिष्टमकरोत् ।

अथ मुहूर्त्तादिव[1] वैशम्पायनः प्रतीहार्य्या गृहीतपञ्जरः कनकवेत्रलतावलम्बिना किञ्चिदवनतपूर्वकायेन सितकञ्चुकावच्छन्नवपुषा[2] जराधवलितमौलिना गद्गदस्वरेण मन्दमन्दसञ्चारिणा विहङ्गजातिप्रीत्या जरत्कलहंसेनेव कञ्चुकिनानुगम्यमानो राजान्तिकमाजगाम ।

सेति । सा=द्वारपालिका, क्षितितलनिहितजानुकरतला=क्षितितले (=पृथ्वीतले) निहिते (=स्थापिते) जानूकरतले (=ऊरुपर्वहस्ततले) यया सा तथोक्ता, "देवः=स्वामी, यथा=येन प्रकारेण, आज्ञापयति=आदिशति, तथैव विधास्यामीति भावः, इति=अनेन प्रकारेण, शिरसि=मस्तके, आज्ञाम्=आदेशम्, कृत्वा=विधाय, स्वीकार्येति भावः, यथादिष्टम्=यथाज्ञप्तम्, अकरोत्=अकार्षीत् ।

अथेति । अथ=एतदनन्तरम्, मुहूर्तादिव=क्षणविलम्बाद् इव, प्रतीहार्या=द्वारपालिकया, गृहीतपञ्जर=गृहीतम् (=धृतम्) पञ्जरम् (=लौहशलाकानिर्मित-पक्षिनिवाससाधनम्) यस्य स तादृशः, कनकवेत्रलतावलम्बिना=कनकमयी (=सुवर्णमयी) या वेत्रलता (=वेतसयष्टिः) तामवलम्बते तच्छीलस्तेन । किञ्चिदवनतपूर्वकायेन=किञ्चिद् (=अल्पम्) अवनतः (=नम्रीभूतः) पूर्वकायः (=शरीरपूर्वभागः) यस्य स तथोक्तेन, सितकञ्चुकावच्छन्नवपुषा=सितः (=शुभ्रः) यः कञ्चुकः (=कूर्पासकः) तेनावच्छन्नम् (=आच्छादितम्) वपुः (=शरीरम्) यस्य स तथोक्तेन, जराधवलितमौलिना=जरया (=वार्धक्येन) धवलितः (=शुभ्रीकृतः) मौलिः (=शिरःस्थकेशराशिः) यस्य स तथोक्तेन, गद्गदस्वरेण=गद्गदः (=अस्फुटस्तादृशः) स्वरः (=कण्ठस्वरः) यस्य स तथोक्तेन, मन्दमन्दसञ्चारिणा=मन्दं मन्दम् (=शनैः शनैः) सञ्चरितुं शीलं यस्य स तथोक्तेन, विहङ्गजातिप्रीत्या=पक्षित्वजाति-प्रेम्णा, जरत्कलहंसेन इव=वृद्धराजहंसेन इव, कञ्चुकिना=सौविदल्लकेन, अनुगम्यमानः=अनुव्रज्यमानः, वैशम्पायनः=एतन्नामकः शुकः, राजान्तिकम्=राज्ञः शूद्रकस्य समीपम्, आजगाम=आययौ । यथा कश्चन वृद्धो राजहंसोऽन्यं पक्षिणमनुसरति तथैव वृद्धकञ्चुकी वैशम्पायनमनुकुर्वन्नागत इति साम्यप्रतिपादनादत्रोपलंकारः "जरत्कलहंसेनेव" इत्यत्रेति बोध्यम् । 'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः । सर्वशास्त्रार्थकुशलः 'कञ्चुकी'त्यभिधीयते ।।" (सा० द०)

जमीन पर अपने घुटनों और करतलों को रखती हुई उस द्वारपालिका ने "महाराज की जैसी आज्ञा (वैसा करती हूँ)" यह कह कर आज्ञा को सिर पर धारण (स्वीकार) करके राजा की आज्ञानुसार कार्य कर दिया ।

इसके बाद थोड़ी ही देर में वैशम्पायन राजा के पास आ गया । प्रतीहारी ने उसका पिंजड़ा पकड़ा था, और स्वर्णजटित बेंत की छड़ी का सहारा लिये हुए, कुछ झुके हुए शरीर के पूर्व भाग वाला, सफेद कंचुक से आच्छादित शरीर वाला, बुढ़ापे के कारण सफेद हुए शिर के बाल वाला, गद्गद (=अस्पष्ट) कण्ठस्वर वाला, धीरे धीरे चलने वाला, पक्षित्व जाति से प्रेम के कारण बूढ़े कलहंस (राजहंस) के समान कञ्चुकी उसके (वैशम्पायन के) पीछे-पीछे चल रहा था ।

---

१. मुहूर्तादिव । २. अवच्छन्न, अवच्छिन्न ।

क्षितितल-निहितकरतलस्तु[1] कञ्चुकी राजानं व्यज्ञापयत्[2]—'देव ! देव्यो विज्ञापयन्ति, देवादेशादेष वैशम्पायनः स्नातः कृताहारश्च देवपादमूलं प्रतीहार्य्या नीत' इत्यभिधाय गते[3] च तस्मिन् राजा वैशम्पायनमपृच्छत्—'कच्चित् अभिमतमास्वादितमभ्यन्तरे भवता किञ्चिदशनजातम् ?' इति ।

स प्रत्युवाच—'देव किं वा नास्वादितम् ?' आमत्त-कोकिल-लोचनच्छविर्नीलपाटलः कषायमधुरः प्रकाममापीतो जम्बूफलरसः, हरि-नखर[4]भिन्न-मत्तमातङ्गकुम्भ-मुक्तरक्तार्द्र-

शुके राज्ञः समीपे समागते कञ्चुकी किमकरोदिति वर्णयति—क्षितितलेति । क्षितितल-निहितकरतलः=क्षितितले (=भूतले) निहितम् (=स्थापितम्) करतलम् (=प्रसृतहस्ततलम्) येन स तादृशः कंचुकी । 'तु' शब्दो वाक्यालंकारे । राजानम्=नृपं शूद्रकम्, व्यज्ञापयत्=विज्ञापनमकरोत् । हे देव !, =हे स्वामिन् !, देव्यः=महिष्यः, विज्ञापयन्ति=मन्मुखेन विज्ञप्तिं कुर्वन्ति, किं तदिति प्रतिपादयति—"देवादेशात्=भवतामाज्ञया, एषः=पुरोवर्ती, वैशम्पायनः=एतन्नामकः शुकः, स्नातः=कृताभिषेकः, च=तथा, कृताहारः=कृतः (= विहितः) आहारः (=अशनम्) येन स तादृशः, प्रतीहार्या=द्वारपालिकया, देवपादमूलम् = श्रीमत्सन्निधिम्, नीतः=प्रापितः" इति=पूर्वोक्तम्, अभिधाय=उक्त्वा, तस्मिन्=कञ्चुकिनि, गते=प्रयाते सति च, राजा=नृपः शूद्रकः, वैशम्पायनम्=एतन्नामकं शुकम्, अपृच्छत्=पृष्टवान्, "अभ्यन्तरे=अन्तःपुरे, भवता=त्वया, शुकेनेति भावः, अभिमतम् = इष्टं रुचिकरम्, किंचित्=तृप्तिकारकम्, अशनजातम् = भक्ष्यवस्तु-समूहः, आस्वादितम् = भुक्तम्, इति काकुः, भुक्तं किमिति तात्पर्यम्, इति कच्चित् = अहं ज्ञातुमिच्छामि । "धरा धरित्री, धरणी क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः ।' (अमरः २।१।२) "राजा भट्टारको देवः ।" (१।७।१३) "कच्चित् कामप्रवेदने ।" (अमरः ३।४।१४)

स प्रत्युवाच=राज्ञः प्रश्नमाकर्ण्य वैशम्पायनः प्रत्यब्रवीत्, "देव ! = श्रीमन् ?, किं वा न आस्वादितम् ? = किं किम् अशनजातं न भक्षितम् ? इति काकुः, अर्थात् सर्वमेव भक्ष्यमास्वादितम् । तदेव वर्णयति—आमत्तेत्यादिः=आमत्तः (=मधुपानेन मदोन्मत्तः) यः कोकिलः (=पिकः) तस्य लोच्छनच्छविः (= लोचनच्छविरिव छविः = कान्तिर्यस्य स तादृशः), नीलपाटलः (=नीलश्चासौ पाटलश्च=श्वेतरक्तश्च) कृष्ण-श्वेत-रक्तवर्णः, कषायमधुरः (= कषायः=आम्लः, मधुरः =मिष्टश्च) जम्बूफलरसः=जम्बूः (=सुरभिपत्रा) तस्याः फलानि तेषां रसः (=अन्तर्भूतद्रवः), प्रकामम् = अतिशयेन आ=तृप्तिमर्यादम्, पीतः = पानविषयीकृतः । हरिनखरेत्यादिः—हरेः (= सिंहस्य) ये नखराः (=पुनर्भवाः) तैर्भिन्नाः (=विदारिताः) ये मातङ्गानाम् (=उन्मत्त-

भूतल पर अपने करतल रखे हुए कञ्चुकी ने राजा से निवेदन किया—"महाराज ! महारानियाँ यह निवेदित कर रहीं हैं कि श्रीमान् की आज्ञा से नहाया हुआ और भोजन किया हुआ यह वैशम्पायन शुक प्रतीहारी द्वारा श्रीमान् के चरणों में लाया गया है ।" ऐसा कह कर जब वह कंचुकी चला गया तब राजा शूद्रक ने उस वैशम्पायन शुक से पूछा—"क्या राजभवन में आपने कुछ अभीष्ट (मनचाही) भोजन सामग्री का आस्वादन किया ?"

वह शुक बोला "महाराज ! मैंने क्या नहीं खाया ? [अर्थात् सभी कुछ खाया ।] मधुपान से उन्मत्त कोयल के नेत्रों की कान्ति के समान कान्ति वाले, नीले और पाटल (=श्वेतरक्त),

१. विहितकरतलस्तु, निहितकरस्तु । २. व्यजिज्ञापयत् । ३. अपगते । ४. करखरनखरनिर्भिन्न ।

मुक्ताफलत्वींषि खण्डितानि दाडिम-बीजानि, नलिनीदल-हरिन्ति द्राक्षाफल-स्वादूनि च दलितानि[1] स्वेच्छया प्राचीनामलकीफलानि। किं वा प्रलपितेन बहुना, सर्वमेव देवीभिः स्वयं करतलोपनीयमानममृतायते' इति।

एवंवादिनो वचनमाक्षिप्य नरपतिरब्रवीत्—आस्तां तावत् सर्वम्, अपनयतु नः कुतूहलम्, आवेदयतु भवानादितः प्रभृति कार्त्स्न्येनात्मनो जन्म कस्मिन् देशे ? भवान् कथं

गजानाम्) कुम्भाः (=मस्तकस्थाः मांसपिण्डाः) तेभ्यो मुक्तानि (= निपतितानि) यानि रक्तानि (=रुधिराणि) तैरार्द्राणि (= स्विन्नानि) मुक्ताफलानि (= मौक्तिकानि) तेषां त्विषः (= कान्तयः) इव त्विषः येषां तानि तादृशानि, दाडिमबीजानि = दाडिमफलान्तःस्थबीजानि, खण्डितानि=शकलीकृतानि, चञ्चुपुटेनेति भावः। नलिनीदलहरिन्ति—नलिनी (=कमलिनी) तस्या दलानि (=पत्राणि) तानि इव हरिन्ति (=हरिद्वर्णानि) तथा, द्राक्षाफलस्वादूनि=द्राक्षा (=गोस्तनी) तस्याः यानि फलानि तानीव स्वादूनि (=मिष्टानि), प्राचीनामलकीफलानि= पक्वक्षीरधात्रीफलानि, स्वेच्छया=निजेच्छया, दलितानि=चूर्णितानि, चञ्चवा चूर्णीकृत्य खादितानीति भावः। अत्र वाक्यत्रये उपमालंकारः। बहुना=अधिकेन प्रलपितेन=कथनेन, किं वा=किं फलम्, न किमपीति भावः। देवीभिः=राजमहिषीभिः, स्वयम्=आत्मनैव, न तु अन्यैरित्यर्थः, करतलोपनीयमानम् = हस्ततलेन दीयमानं मह्यमिति भावः, सर्वमेव=सकलमेव भक्ष्यजातम्, अमृतायते= अमृतवद् आचरति, तत्तुल्यं भवतीति भावः। "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" (पा० सू० ३।१।११) इत्यनेनाचारार्थे क्यङि रूपं बोध्यम्। "वर्तमानसामीप्ये, वर्तमानवद्वा" (पा० सू० ३।३।१३१) इत्यनेन लट्। तेन किञ्चिदेव भूतकालिकत्वं प्रतीयते। 'इति' शब्दः वाक्यसमाप्तौ "इति हेतु-प्रकरण-प्रकाशादिसमाप्तिषु।" (अमरः ३।३।२४६)

शुकविहितां प्रशंसामाकर्ण्य राज्ञा किमाचरितमिति प्रतिपादयति— एवमिति। एवम्= पूर्वोक्तप्रकारेण, वादिनः=भाषमाणस्य शुकस्य, वचनम्=वाक्यम्, आक्षिप्य=मध्ये एव निवार्य, नरपतिः=भूपतिः शूद्रकः, अब्रवीत्=अवोचत्। इदम्—त्वया पूर्वोक्तम्, सर्वम्=सकलम्, आस्ताम्= तिष्ठतु, 'तावत्' इदं वाक्यालंकारे। एतत्कथनस्य काप्यावश्यकता नास्तीति भावः। नः=अस्माकम्, कुतूहलम्=औत्सुक्यम्, अपनयतु=अपगमयतु भवान्=त्वम्, आदितः=प्रारम्भात्, प्रभृति=आदाय, कार्त्स्न्येन=पूर्णतया, आत्मनः=स्वस्य, सर्वम्, आवेदयतु=सूचयतु, कस्मिन् देशे=कस्मिन् स्थान-विशेषे, जन्म=उत्पत्तिः ? भवान्=त्वम्, कथम्=केन प्रकारेण, जातः=समुत्पन्नः ? केन=केन

कसैले-मीठे जामुन के फलों के रस को यथेष्ट (जीभर खूब) पिया है; सिंह के नाखूनों से फाड़े गए मत्त हाथी के कुम्भ-स्थल (माथे) से निकले हुए खून से आर्द्र (भीगे हुए) मोतियों की कान्तिसदृश कान्ति वाले अनार के दानों (बीजों) को [चोंच से] कुतरा; [उनका स्वाद चखा;] कमलिनी के पत्तों के समान हरे, द्राक्षाफल (अंगूर) के समान स्वाद वाले पुराने आँवलों को अपनी इच्छा से चूर्ण किया; [चबा चबाकर खाया] अधिक कहने से क्या लाभ ? महारानियों द्वारा स्वयं अपने हाथों से दिये गये सारे भोजन अमृतके समान हो जाते हैं।"

इस प्रकार से कहने वाले तोते की बात को बीच में रोककर राजा शूद्रक बोले—"यह सब रहने दीजिये; हम लोगों की उत्कण्ठा शान्त कीजिए; आप आदि से लेकर अपना सारा वृत्तान्त कहिये—किस देश में आपका जन्म हुआ ? आप किस प्रकार उत्पन्न हुए ? किसने आपका

१. चूर्णितानि, चर्वितानि, समास्वादितानि।

जातः ? केन वा नाम कृतम् ? का ते माता ? कस्ते पिता ? कथं वेदानामागमः ? कथं शास्त्राणां परिचयः ? कुतः कला आसादिताः ? किंहेतुकं जन्मान्तरानुस्मरणम् ? उत वरप्रदानम्, अथवा विहगवेष-धारी कश्चिच्छन्नो निवससि ? क्व पूर्वमुषितम् ? कियद्वा वयः ? कथं पञ्जरबन्धनम् ? कथं चण्डालहस्तगमनम् ? इह वा कथमागमनम् ?

वैशम्पायनस्तु स्वयमुपजातकुतूहलेन सबहुमानमवनिपतिना पृष्टो मुहूर्त्तमिव ध्यात्वा सादरमब्रवीत्—"देव । महतीयं कथा, यदि कौतुकमाकर्ण्यताम्"—

प्राणिना, वा, नाम=अभिधानम्, कृतम्=विहितम् ? ते=तव, माता=जननी, का=किन्नामधेया ? ते=तव, पिता=जनकः कः=किन्नामधेयः ? वेदानाम्=ऋग्यजुः-सामाथर्वणाम् आगमानाम्, आगमः=ज्ञानम्, कथम्=केन प्रकारेण जातम् ? शास्त्राणाम्=व्याकरण-न्याय-मीमांसादीनाम्, परिचयः=अवबोधः, कथम्=केन प्रकारेण ? कलाः=चतुःषष्टिसंख्याकाः नृत्यगीतादिकाः, कुतः=कस्मात् शिक्षकात्, समासादिताः=समधिगताः ? जन्मान्तरानुस्मरणम्=पूर्वजन्मनोऽनुस्मरणम्, किंहेतुकम्=किंनिमित्तकम् ? उत=अथवा, वरप्रदानम् = कस्माच्चिद् देवात् महापुरुषाद् वा वरप्राप्तिः ? अथवा=पक्षान्तरे, विहगवेशधारी=विहगस्य (=पक्षिणः) वेशम् (=आकारम्) धारयति तच्छीलः, कश्चित्, छन्नः = गुप्तः, सन्, वससि=निवससि ? पूर्वम्=अत्रागमनात् प्रथमम्, क्व=कस्मिन् स्थाने, उषितम्=अवस्थितम् ? वा, कियत्=किंपरिमाणकम्, वयः=अवस्था, आयुः ? कथम्=कस्मात् हेतोः, पंजरबन्धनम्=लौहनिर्मितशलाका-गृहावस्थानम् ? कथम्=केन प्रकारेण, चाण्डालहस्तगमनम्=चाण्डालस्य (=अन्त्यजस्य) हस्ते (=करे) गमनम् (=प्राप्तिः) ? वा=अथवा, इह=अस्मिन् स्थाने, च, कथम्=केन प्रकारेण, आगमनम्=सम्प्राप्तिः ?

राज्ञो विविधान् प्रश्नान् समाकर्ण्यात्मनो विषये प्रतिपिपादयिषुः राजानं कथयितुमुत्सुको भवति । तदनन्तरं वैशम्पायनः=एतन्नामा शुकः, 'तु' शब्दः पुनरर्थे, उपजातकुतूहलेन=उत्पन्नौत्सुक्येन, अवनिपतिना=भूपतिना, स्वयम्=आत्मनैव न तु अन्येन, सबहुमानम्=सह बहुमानेन=आदरेण वर्तमानं यथा स्यात् तथेति क्रियाविशेषणम्, पृष्टः=कृतप्रश्नः, मुहूर्तमिव=घटिका-द्वयमिव, ध्यात्वा=ध्यानं कृत्वा, सादरम्=आदरेण सह यथा स्यात् तथा, अब्रवीत्=अवोचत् । तत्किमिति वर्णयति—देव ! =महाराज, इयम्=भवता मद्विषये पृष्टा, कथा=वृत्तान्तः, महती=अतिविस्तृता, यदि=चेत्, भवतः कौतूहलम्=श्रवणौत्सुक्यम्, तदा; आकर्ण्यताम्=श्रूयताम् ।

[यह] नाम रखा ? आप की माता कौन है ? आपके पिता कौन हैं ? वेदों का अध्ययन कैसे हुआ ? शास्त्रों का ज्ञान कैसे हुआ ? किससे कलाएँ सीखीं ? पूर्ववर्त्ती जन्म के स्मरण का क्या कारण है ? अथवा [पूर्व जन्म का स्मरण रखना] वरप्राप्ति है ? अथवा पक्षी का वेश धारण किये हुए आप गुप्त रूप से कोई रह रहे हैं ? इससे पहले कहाँ रहते थे ? आपकी अवस्था कितनी है ? पिंजरे में कैसे [पकड़ कर] बन्धन में डाले गये ? चाण्डाल के हाथ में कैसे आए ? और यहाँ किस प्रकार आये ?"

स्वयं उत्पन्न कुतूहल वाले राजा शूद्रक द्वारा बहुत अधिक सम्मानपूर्वक पूछे जाने पर उस वैशम्पायन तोता ने कुछ देर सोंच कर आदरसहित कहा "महाराज ! यह लम्बी कथा है, यदि कौतूहल है तो सुनिये—।"

१. कौतूहलम् ।

अस्ति[1] पूर्वापर-जलनिधि-वेलावनलग्ना मध्यदेशालङ्कारभूता मेखलेव भुवः, वन-करिकुल-मदजल-सेक-संवर्द्धितैरतिविकच-धवल-कुसुमनिकरमत्युच्चतया तारा[2]-गणमिव शिखरदेश[3]लग्नमुद्वहद्भिः पादपैरुपशोभिता, मदकल-कुररकुल-दश्यमान-मरिचपल्लवा, करिकलभ-करमृदित-तमालकिसलयामोदिनी, मधुमदोपरक्त-केरली-कपोल-च्छविना[4] सञ्च-

अस्तीति । 'अस्ती'ति क्रियापदमन्तिमेन 'विन्ध्याटवीति' कर्तृपदेनान्वेति । एवञ्च विन्ध्याटवी-नामकमेकमतिप्रसिद्धं स्थानमस्ति । "अटव्यरण्यं विपिनम् ।" [अमरः २।४।१] अत्रत्यानि प्रथमान्तानि पदानि 'विन्ध्याटवी'—विशेषणानि । तानि प्रस्तौति—पूर्वेति । पूर्वापरजलनिधि-वेलावनलग्ना — पूर्वापरौ (=प्राच्यप्रतीच्यौ) यौ जलनिधी (= सागरौ) तयोः या वेला (=तटम्) तत्र स्थितं यत् वनम् (=काननम्) तत्पर्यन्तम् लग्ना (=सम्बद्धा, पूर्वसागरतटा-दारभ्य पश्चिमसागरतटपर्यन्तं प्रसृतेति भावः ।) मध्यदेशालङ्कारभूता—मध्यदेशस्य(= सह्यहिमा-लयोर्मध्यवर्तिक्षेत्रस्य) [हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग् विनशनादपि । प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।। मनुः] अलङ्कारभूता=भूषणस्वरूपा, भुवः=पृथिव्याः, मेखला इव=रशनादामा इव, [स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा । अमरः २।६।१०८] । वनकरीत्यादिः—वने (=अरण्ये) ये करिणः (=गजाः) तेषां यानि कुलनि (=समूहाः) तेषां मदजलस्य (=दानवारिणः) सेकेन (=सिञ्चनेन) संवर्द्धितैः (=वृद्धिमुपगतैः), [इमानि तृतीयान्तानि पदानि "पादपै"रित्यस्य विशेषणानि,] अत्युच्चतया =अत्युन्नतया, शिखरदेशलग्नम् = शिरोभागस्थितम्, तारागणम्= नक्षत्रसमूहम्, इव=यथा, अतिविकचधवलकुसुमनिकरम्=अतिविकचानाम् (=पूर्णविकसितानाम्) धवलानाम् (=शुभ्राणाम्) कुसुमानाम् (=पुष्पाणाम्) निकरम् (= समूहम्,) उद्वहद्भिः= धारयद्भिः, पादपैः=वृक्षैः, उपशोभिता=समलङ्कृता; [अत्र "शिखरदेशलग्नं तारागणमिव" इत्यत्र नोपमा, अपि तु जात्युत्प्रेक्षेति बोध्यम् ।] मदकलेत्यादिः=मदेन (=मत्ततया) कलाः (=मनोहराः) ये कुरराः (=मत्स्याशनाः पक्षिणः) तेषां कुलानि (=समूहाः) तैः दश्यमानाः (=आस्वाद्यमानाः) मरिचानाम् (=कोलकानाम्) पल्लवाः (=किलयानि) यस्यां सा तादृशी कुररपक्षिणामेष स्वभावः । [मरीचं कोलकं कृष्णमूषणं धर्मपत्तनम्" (२।९।३६) 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम् । (२।४।१४) 'उत्क्रोशकुररौ समौ' (२।४।२३)] करिकलभेत्यादिः=करिणाम् (=गजानाम्) ये कलभाः (=शावकाः) तेषां करैः (=शुण्डादण्डैः). मृदितानि (=मर्दितानि)

एक विन्ध्याटवी (विन्ध्याचल का वन) है, जो पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों के तटों के वनों से लगी (सम्बद्ध) है, जो मध्य देश की आभूषणस्वरूपा मानों पृथ्वी की मेखला (करधनी) हो, जो जंगली हाथियों के मदजल के सेचन के द्वारा खूब बढ़े हुए, बहुत अधिक ऊँचे होने के कारण, अत्यधिक विकसित फूलों के समूह को मानों शिखरप्रदेश (चोटियों) पर सलंग्न तारा-गणों को धारण किए हुए वृक्षों से शोभायमान है; जिसमें मद [आनन्द या मत्तता] के कारण सुन्दर [दिखाई देने वाले] कुरर नामक पक्षिओं के समुदाय द्वारा मिर्च के पत्ते काटे (कुतरे) जा रहे हैं; जो हाथियों के बच्चों की सूड़ों द्वारा मसले गये तमाल (तम्बाकू) के पत्तों की सुगन्ध से युक्त है; जो केरल की स्त्रियों के मदिरा के मद से रक्तवर्ण के गालों के समान सुन्दरतावाले इसीलिये मानों [चारों ओर] घूमती हुई वनदेवी के पैरों में लगे हुए आलते के रस से रंगे हुए

१. वेलावलग्ना । २. तारका० । ३. प्रदेशसंलग्नम् । ४. छविना इति कुत्रचिन्नास्ति ।

रद्धनदेवताचरणालक्तक-रस-रञ्जितेनेव पल्लवचयेन[1] संछादिता, शुककुल-दलितदाडिमी-फल-द्रवार्द्रीकृततलैरतिचपल-कपि-कम्पित[2]-कक्कोल[3]-च्युतपल्लव-फलशबलैः[4] अनवरत-[5]निपतितकुसुमरेणुपांसुलैः पथिक-जन-रचित-लवङ्गपल्लवसंस्तरैः[6], अतिकठोर-नारिकेल-केतकी-करीरबकुल-परिगतप्रान्तैः, ताम्बूलीलतावनद्ध-पूग-खण्डमण्डितैर्वनलक्ष्मी-वास-

---

यानि तमालकिसलयानि (=तापिच्छपल्लवाः) तेषामामोदः (=परिमलः) विद्यते यस्यां सा तथाभूता। [कलभः करिशावकः। (अमरः २।८।८५) करो वर्षोपले रश्मौ पाणौ प्रत्याय-शुण्डयोः। (इति मेदिनी) तमालस्तिलके खड्गे तापिच्छे वरुणद्रुमे। (अमरः २।४।६८)] मधुमदेत्यादिः—मधु (=मद्यम्) तस्य यो मदः (=तस्य पानेन या मत्तता) तेन उपरक्ताः (=ईषल्लोहितस्वरूपाः) ये केरलीनाम् (=केरलदेशोद्भवानां स्त्रीणां) कपोलाः (=गल्लप्रदेशाः) तेषामिव कोमला (=मृद्वी) छविः (=कान्तिः) यस्य तेन, तादृशसौन्दर्यवतेति भावः, सञ्चरदवनेत्यादिः=सञ्चरन्त्याः (=इतस्ततो भ्राम्यन्त्यः) याः वनदेवताः (=वनाधिष्ठात्र्यो देव्यः) तासां चरणानाम् (=पादानाम्) योऽलक्तकरसः (=यावकद्रवः) तेन रञ्जितेन इव=रक्तीकृतेन इव, पल्लवचयेन=किसलयसमुदायेन, सञ्छादिता=आच्छादिता; [अत्र "·····कोमलकपोलच्छविना' इत्यत्र सादृश्यप्रतीत्या वाचकशब्दाभावाच्च 'लुप्तोपमा', 'रञ्जितेनेव' इत्यत्र च क्रियोत्प्रेक्षा। अनयोः संकरः।] शुककुलेत्यादिः—शुककुलैः (=कीरसमूहैः) दलितानि (=चञ्चुपुटेन विदारितानि) यानि दाडिमीफलानि (=करकफलानि), ["समौ करकदाडिमौ।" अमरः २।४।६४] तेषां द्रवेण (=रसेन) आर्द्रीकृतानि (=आर्द्रस्व-रूपगतानि) तलानि (=अधोवर्तिमध्यस्थानानि) येषां तैः, [इत आरभ्य तृतीयान्तानि पदानि अग्रिमस्य "लतामण्डपैः" इत्यस्य विशेषणानि, एतच्च 'विराजिता' इत्यस्मिन् करणत्वेनान्वेतीति बोध्यम्।] अतिचपलेत्यादिः—अतिचपलाः (=अत्यन्तं चञ्चलाः) ये कपयः (=वानराः) तेषां कुलैः (=समूहैः) कम्पिताः (=विधूनिताः, आन्दोलिताः) ये कक्कोलाः (=कोशफलवृक्षाः) ["अथ कोलकम्। कक्कोलकं कोशफलम्। अमरः २।५।१२९-३१] तेभ्यः च्युतानि (=पतितानि) यानि पल्लवफलानि (=किसलयफलानि) तैः शबलैः (=कर्बुरैः) [शकलैरिति पाठे पल्लवफलानां शकलानि खण्डानि येषु तैरित्यर्थो बोध्यः।] अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (=निरन्तरम्) निपतितानि (=प्रच्युतानि) यानि कुसुमानि (=पुष्पाणि) तेषां ये रेणवः (=परागाः) तैः पांसुलैः (=सरजस्कैः); पथिकजनेत्यादिः—पथिकजनैः (=पान्थलोकैः) रचितः (=निर्मितः) लवङ्गपल्लवानाम् (=लवङ्गवृक्षविशेष-किसलयानाम्) संस्तराः (=आसनानि) येषु ते तैः। अतिकठोरेत्यादिः—अतिकठोराः (=अतिकठिनाः, परिपक्वा इत्यर्थः) ये नारिकेराः (=लाङ्गल्यः),

---

पत्तों के समुदाय से ढकी हुई है; वह ऐसे लता-मंडपों से सुशोभित है जो तोतों के समूह द्वारा फाड़े गए अनारफलों के रस से गीले किए गए तल (बीच के भाग) वाले हैं जो अत्यधिक चंचल बन्दरों द्वारा हिलाए गए कक्कोलनामक पेड़ों से गिरे हुए पत्तों और फलों से चितकबरे हैं, लगातार गिरने वाले पुष्पपराग से धूलियुक्त हैं, पथिकजनों द्वारा बनाए गए लौंग के पत्तों के बिछौनों से युक्त हैं, अत्यन्त कठोर नारियल, केतकी (केवड़ा), करीर और बकुल (मौलसिरी) से

---

१. पल्लवप्रचयेन। २. कम्पित—इति पाठः क्वचिन्नास्ति। ३. कम्पिल्ल, कङ्कोल।
४. शकलैः। ५. धूलीलतावनद्ध। ६. स्तरैः।

भवनैरिव[1] विराजिता[2] लतामण्डपैः, उन्मद-मातङ्ग-कपोलस्थल-गलित[3]-सलिल[4]-सिक्तेनेव अनवरतमेलालतावनेन[5] मदगन्धिनान्धकारिता, नख-मुख-लग्नेभकुम्भ-मुक्ताफल-लुब्धैः शबरसेनापतिभिरभिहन्यमानकेशरिशता, प्रेताधिपनगरीव सदासन्निहितमृत्यु-भीषणा

केतक्यः (=क्रकचयणाः), करीराः (=ग्रन्थिलाः), बकुलाः (=केसराः) च तैः परिगताः (=परितः व्याप्ताः) प्रान्ताः (=पर्यन्तदेशाः) येषां ते तैः, ["नालिकेरस्तु लाङ्गली।" अमरः २।४।१६८। "अथ केसरे। बकुलः...."। अमरः २।४।६४। "करीरे तु क्रकरग्रन्थिलावुभौ।" अमरः २।४।६७) ताम्बूलीलतेत्यादिः—ताम्बूली (=नागवल्ली) सा चासौ लता (=वल्ली इति कर्मधारयः) ताभिः अवनद्धम् (=बद्धम्) यत् पूगखण्डम् (=क्रमुकवनम्), तेन मण्डितैः (=अलङ्कृतैः), अत एव वनलक्ष्म्याः (=विपिनश्रियः) वासभवनैः-वासस्य (=वसतेः, निवासस्य) यानि भवनानि (=गृहाः) तैः, इव=यथा, लतानाम्=वल्लरीणाम्, भवनैः=जनाश्रयैः, विराजिता=समलङ्कृता। अत्र 'इव' शब्द उत्प्रेक्षावाची।

उन्मदेति। उन्मदेत्यादिः—उन्मदाः (=उन्मत्ताः) ये मातङ्गाः (=करिणः), तेषां यानि कपोलस्थलानि (=गण्डप्रदेशाः) तेभ्यः गलितैः (=च्युतैः) सलिलैः (=मदजलैः) सिक्तेन इव=सिञ्चितेन, इव, अत एव, मदगन्धिना=गजदानजलगन्ध इव गन्धो यस्मिन् तेन, एलालतावनेन=चन्द्रबाललता-काननेन, अनवरतम्=निरन्तरम्, अन्धकारिता=श्यामीकृता, आच्छादितेति भावः। अत्र क्रियोत्प्रेक्षालंकारः।

नखेति। नखमुखेत्यादिः—नखानाम् (=पुनर्भवानाम्) यानि मुखानि (=अग्रभागाः) तेषु लग्नानि (=आसक्तानि) यानि इभकुम्भानाम् (=गजमस्तकपिण्डानाम्) मुक्ताफलानि (=मौक्तिकानि) तेषु लुब्धैः (=लोलुपैः), शबरसेनापतिभिः=किरात-सेनाध्यक्षैः, हन्यमानकेशरिशता=हन्यमानम् (=व्यापाद्यमानम्) केशरिशतम् (=सिंहसमूहः) यस्यां सा तथोक्ता।

प्रेतेति। प्रेताधिपेत्यादिः—प्रेताधिपस्य (=यमराजस्य) नगरी (=संयमिनीपुरी) इव, सदा=सर्वदा, सन्निहितमृत्युभीषणा=सन्निहितः (=समीपवर्त्ती) यो मृत्युः (=यमः) तेन, भीषणा (=भयदायिनी), पक्षे—मृत्युकारकसिंहादिपशुभिर्भयप्रदायिनी, तथा महिषाधिष्ठिता=महिषः (=यमस्य वाहनम्) तेन अधिष्ठिता (=सहिता) पक्षे—महिषैः (=वन्यसैरिभैः) अधिष्ठिता (=व्याप्ता)। अत्रोपमा।

घिरे हुए प्रान्त भाग (किनारों) से युक्त हैं, ताम्बूललता (पान की बेल) से घिरे हुए सुपाड़ी के (वृक्षों के) समूह से अलंकृत वनलक्ष्मी के भवनों के समान [लतामण्डपों से सुशोभित] है; जो मानों अतिमत्त हाथिओं के कपोलस्थलों से गिरनेवाले मदजल से लगातार सींचे गये इसीलिए मद की गन्धवाले घने इलायची की लताओं के वन से अन्धकारयुक्त है, जहाँ [सिंहों के] नाखूनों के अगले हिस्से में लगे हुए हाथियों के कुम्भस्थल (—मस्तक) से निकले हुए मुक्ताफलों (मोतियों) के लोभी भील सेनापतियों द्वारा सैकड़ों सिंह मारे जाते हैं; जो सदैव निकटवर्ती मृत्यु के कारण भयानक और यमराज के वाहन भैंसे से युक्त प्रेताधिपति यमराज की नगरी (संयमिनी) के समान है; [विन्ध्याटवी पक्ष में—जो मृत्युकारक सिंह आदि के सदा समीप में रहने से भयानक है और जंगली भैंसों से युक्त हैं।] जो वाणासन (=धनुषों) पर चढ़ाए गये शिली-

१. वासभुवनैरिव। २. विराजितमण्डपैः। ३. स्रवण, प्रस्रवण, सलिलप्रस्रवण। ४. मदसलिल। ५. निरन्तरमेखला०।

महिषाधिष्ठिता च, समरोद्यतपताकिनीव[1] बाणासनारोपितशिलीमुखा[2] विमुक्त-सिंहनादा[3] च, कात्यायनीव प्रचलितखड्गभीषणा रक्तचन्दनालङ्कृता च, कर्णीसुतकथेव सन्निहित-

अत्रेदमवधेयम्—अस्माद् वाक्यादारभ्य 'क्वचिद् गृहीतव्रतेव' इत्यन्तं सर्वेषु वाक्येषु उपमालङ्कारः।

समरेति। समरेत्यादिः—समरे (=युद्धे) उद्यता (=प्रवृत्ता) या पताकिनी (=सेना) तद्वदिव=तत्तुल्या, बाणासनारोपितशिलीमुखा=बाणासनेषु (=चापेषु) आरोपिताः (=संस्थापिताः) शिलीमुखाः (=लौहबाणाः) यया सा तादृशी, पक्षे—बाणासु=तदाख्यवृक्षेषु नीलीझिण्टेषु, असनेषु=पीतशालेषु वृक्षेषु, आरोपिताः (=संस्थापिताः) शिलीमुखाः (=भ्रमराः) यस्यां सा तादृशी, च=तथा, विमुक्तः (=विहितः शूरैरिति भावः) सिंहनादः (=केसरिध्वनिः) यस्यां सा तथा, पक्षे—विमुक्तः (=परित्यक्तः) सिंहैः (=केशरिभिः) नादः (=गर्जनशब्दः) यस्यां सा तादृशी। अत्राप्युपमा।

कात्यायिनीति। कात्यायिनी=सिंहवाहिनी दुर्गा, इव=यथा, प्रचलितखड्गभूषणा—प्रचलितेन (=राक्षसानां विनाशाय संचलितेन) खड्गेन (=असिना), भीषणा (=भयकारिणी), रक्तचन्दनालङ्कृता—रक्तचन्दनेन (=रक्तमलयजेन) अलङ्कृता=भूषिता, लिप्ता, पक्षे—प्रचलितैः=सञ्चरद्भिः, खड्गैः=गण्डकैः, भीषणा=भयप्रदा, तथा रक्तचन्दनैः=तन्नामकवृक्षैः, अलङ्कृता=सुशोभिता। अत्राप्युपमा।

कर्णीसुतः। कर्णीसुतकथा—कर्णीसुतः (=चौर्यशास्त्रप्रवर्तकः कश्चित्क्षत्रियविशेषः) तस्य कथा (=वृत्तान्तः) तद्वदिव=तत्तुल्येव, सन्निहितविपुलाचला—सन्निहितौ (=समीपवर्तिनौ) विपुलाचलौ (=एतन्नामकौ सुहृदौ) यस्यां सा तथोक्ता, शशोपगता=शशेन (=शशनामकेन सचिवेन) उपगता (=सहिता) च, पक्षे—सन्निहिताः (=समीपस्थाः) विपुलाः (=विशालाः) अचलाः (=पर्वताः) यस्यां सा तथोक्ता, शशाः (=मृदुलोमकाः, लोध्रवृक्षाः वा) तैः उपगता [=सहिता]। ["शशो लोध्रे नृभेदे च।" इत्येनेकार्थः]

"कर्णीसुतः करटकः स्तेयशास्त्र-प्रवर्त्तकः। तस्य ख्यातौ सखायौ द्वौ विपुलाचलसंज्ञितौ। शशो मन्त्रिवरस्तस्य……। (इति बृहत्कथायाम्)।

कल्पान्तेति। कल्पान्तप्रदोषसन्ध्या—कल्पान्तस्य (=युगान्तस्य) यः प्रदोषः (=सन्ध्यामुखम्), तस्य सन्ध्या (=सायम्), इव=यथा, प्रनृत्यन्नीलकण्ठा=प्रनृत्यन् (=संसारसंहाराय प्रकृष्टरूपेण पादक्षेपं कुर्वन्) नीलकण्ठः (=महादेवः) यस्यां सा तादृशी, च=तथा, पल्लवारुणा—पल्लववद् (=किसलयवत्) अरुणा (=रक्ता) च। पक्षे—प्रनृत्यन्तः (=भृशं नृत्यं कुर्वन्तः,)

मुखों (भ्रमरों) से युक्त और [योद्धाओं द्वारा] किए गए सिंहसदृश गर्जनवाली युद्ध के लिए तत्पर सेना के समान है; [विन्ध्याटवी पक्ष में—बाण और असन नामक वृक्षों पर स्थित भ्रमरों वाली और सिंहों द्वारा किये नाद वाली है।] जो चलते हुए खड्गों से भीषण और रक्त (खून) तथा चन्दन से सुशोभित कात्यायिनी (दुर्गा) के समान है; [विन्ध्या०—घूमते हुए गैंडों से भयानक है और लालचन्दन के वृक्षों से सुशोभित है।] जो 'विपुल' और 'अचल' [नामक मित्रों] से युक्त और 'शश' [नामक मन्त्री] से युक्त कर्णीसुत (एक क्षत्रियविशेष) की कथा के समान है; [विन्ध्या०—विशाल अचल=पर्वत जिसमें हैं और शश=खरगोशों से युक्त है।] जो नाचते

१. सेनेव। २. समारोपित। ३. विविक्त।

विपुलाचला शशोपगता च, कल्पान्तप्रदोषसन्ध्येव प्रनृत्यन्नीलकण्ठा[1] पल्लवारुणा च, अमृतमथनवेलेव श्रीद्रुमोपशोभिता वारुणी-परिगता[2] च, प्रावृडिव घनश्यामला अनेकशतह्लदालङ्कृता च, चन्द्रमूर्त्तिरिव सततमृक्षसार्थानुगता हरिणाध्यासिता च, राज्यस्थितिरिव

नीलकण्ठाः (=मयूराः) यस्यां सा, तादृशी, तथा, पल्लवैः (=नवकिसलयैः) अरुणा (=रक्तरूपा) च।

अमृतेति। अमृतमथनवेला—अमृताय (=सुधार्थं) यन्मथनम् (=समुद्रस्य विलोडनम्) तस्य वेला (=कालः), इव=यथा, श्रीद्रुमोपशोभिता–श्रिया (=लक्ष्म्या), द्रुमेण (=कल्पवृक्षेण च) उपशोभिता=समलङ्कृता, वारुणी-परिगता च=वारुणीम् (=मदिराम्) परिगता च (=प्राप्ता) च। पक्षे–श्रीद्रुमैः (=बिल्ववृक्षैः) परिगता (=सहिता), वारुणीम् (=पश्चिमदिशाम्) परिगता (=उपगता च), पश्चिमे क्षेत्रे तस्याः स्थितत्वादिति भावः।

प्रावृडिति। प्रावृट्=वर्षर्तुः, इव, घनश्यामला–घनैः (=मेघैः) श्यामला (=श्यामवर्णा), अनेकशतह्लदालङ्कृता=अनेकाभिः (=बहुभिः) शतह्लदाभिः (=तडिद्भिः) अलङ्कृता (=सुशोभिता), पक्षे—घना (=निबिडा) चासौ श्यामला च (=कृष्णवर्णा च) अत्यन्तं निबिडतयाऽन्धकारयुक्तेति भावः, तथा अनेकशतैः (=बहुसंख्याकैः) ह्लदैः (=तडागैः) अलङ्कृता (=सहिता); ["स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा....।" अमरः २।४।९ "शम्पा-शतह्लदा-ह्लादिन्यैरावत्यः क्षणप्रभाः। अमरः १।३।९] "जलाशयो जलाधारस्तत्रागाधजलो ह्लदः ॥ अमरः १।१०।२५)

चन्द्रमूर्तिरिवेति। चन्द्रमूर्तिः=चन्द्रस्य (=शशिनः) मूर्तिः (=शरीरम्) तद्वदिव सततम्=निरन्तरम्, ऋक्षसार्थानुगता=ऋक्षाणि (=ताराः) तेषां सार्थः (=समूहः) तेन अनुगता (=अनुयाता) तथा हरिणा=मृगाङ्केन, अध्यासिता=समाश्रिता, पक्षे—सततम्=सदा, ऋक्षाः (=भल्लूकाः) तेषां सार्थः (=समुदायः) तेन अनुगता (=व्याप्ता), तथा हरिणैः (=मृगैः) अध्यासिता (=सहिता)।

राज्येति। राज्यस्थितिरिव=राज्यस्य स्थितिः=मर्यादा इव, चमरमृग-बालव्यजनोपशोभिता—चमराः (=चमर्यः) मृगाः (=हरिणाः), तेषां बालानां व्यजनानि (=चामराणि) तैः उपशोभिता=समलंकृता, च=तथा, समदगजघटा-परिपालिता—समदाः (=मदेन सह वर्तमानाः)

हुए नीलकण्ठ (=शंकर) से युक्त और पल्लवों के समान रक्तवर्णवाली युगान्तकालीन सन्ध्या के समान है; [विन्ध्या०—जो नाचते हुये नीलकण्ठों=मयूरों से युक्त और रक्तवर्णवाली है।] जो श्री (लक्ष्मी) और द्रुम (=कल्पद्रुम) से सुशोभित तथा वरुणी (मदिरा) से युक्त अमृतमन्थन की वेला (=समय) के समान है; [विन्ध्या०—श्रीद्रुम=बेल के वृक्षों से शोभित और वरुणी=वरुण नामक वृक्षविशेष से शोभायुक्त है।] जो घनों=बादलों से श्यामवर्णवाली और अनेक शतह्लदों =बिजलियों से अलंकृत वर्षा ऋतु के समान है; [विन्ध्य०—घने वृक्षों से घनी और श्यामला =श्यामवर्ण वाली तथा अनेकशत=हजारों ह्रदों=तालाबों से युक्त है।] जो सदा तारागणों से अनुगत (युक्त) और हरिण के चिह्न से युक्त चन्द्रमा की मूर्ति के समान है; [विन्ध्या०—ऋच्छसार्थ=भालुओं के समूह से अनुगत=युक्त और हरिण=हिरनों से युक्त है।] जो चमर-

---

१. प्रनृत्तनील। २. वारुण।

चमरमृग-बालव्यजनोपशोभिता समदगजघटा-परिपालिता च, गिरितनयेव स्थाणुसङ्गता मृगपतिसेविता च, जानकीव प्रसूतकुशलवा निशाचरपरिगृहीता[1] च, कामिनीव चन्दन-मृगमदपरिमलवाहिनी रुचिरागुरु[2]-तिलकभूषिता च, सोत्कण्ठेव[3] विविधपल्लवानिलवीजिता

ये गजाः (=करिणः) तेषां घटाः (=समूहाः) ताभिः परिपालिता, यद्वा ताः परिपालिताः यया सा तादृशी, पक्षे—चामरमृगाणाम् बालाः (=केशाः) एव व्यजनानि (=तालवृन्तानि) तैः उपशोभिता तथा मदमत्तगजसमूहेन परिपालिता=परिरक्षिता। [संस्था तु मर्यादा धारणा स्थितिः। अमरः २।८।२६ व्यजनं तालवृन्तकम्। अमरः २।६।१४०। करिणां घटना घटा। अमरः २।८।१०७]

गिरीति। गिरितनया=गिरेः (=हिमालयस्य) तनया (=पुत्री, पार्वती) इव स्थाणु-संगता=स्थाणुना (=शिवेन) संगता=मिलिता, च=तथा मृगपति-सेविता=मृगपतिना (=सिंहेन) सेविता(=वाहनरूपेण सेवां प्रापिता,) पक्षे—स्थाणुभिः (=पत्रशाखादिशून्यैः वृक्षैः) संगता=युक्ता, तथा मृगपतिभिः (=सिंहैः) सेविता=समाश्रिता। [स्थाणु रुद्र उमापतिः। अमरः १।१।३४ "स्थाणुर्वा ना ध्रुवः शङ्कु'''''। अमरः २।४।८]

जानकीति। जानकीव=जनकपुत्री सीता इव, प्रसूतकुशलवा=प्रसूतौ (=उत्पादितौ) कुशलवौ (=एतन्नामकौ सुतौ) यया सा तादृशी, च=तथा, निशाचरपरिगृहीता=निशाचरः (=राक्षसः रावणः) तेन परिगृहीता (=अपहृता), पक्षे—प्रसूताः (=उत्पन्नाः) कुशानाम् (=दर्भाणाम्) लवाः (=अङ्कुराः) यस्यां सा तादृशी, तथा निशाचरैः (=रात्रिसंचरणशीलैः उलूकादिभिः) परिगृहीता (=परितः समाक्रान्ता)।

कामिनीति। कामिनीव=कामातुरा शृङ्गारनायिका इव, चन्दनमृगमद–परिमलवाहिनी —चन्दनम् (=मलयजम्) मृगमदः (=कस्तूरी) तयोर्यः परिमलः (=सौगन्ध्यम्) तं वहति (=धारयति) एवंशीला, च=तथा, रुचिरागुरुतिलकभूषिता=रुचिरस्य (=सुन्दरस्य) अगुरोः (=काकतुण्डस्य) यत् तिलकम् (=मस्तकादौ पुण्ड्रकम्) तेन भूषिता (=अलङ्कृता), पक्षे—चन्दनानाम् (=तन्नामकवृक्षाणाम्) मृगमदानाम् (=कस्तूरीणां च) तत्र संसर्गात् यः परिमलः, तं वहति=धारयति, एवंशीला, तथा रुचिराभ्याम् (=सुन्दराभ्याम्) अगुरुतिलकाभ्याम् (=तन्ना-मकवृक्षविशेषाभ्याम्) भूषिता=शोभिता। [मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी च''''। अमरः २।५।१२८] विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे। अमरः १।५।१०। वंशिकागुरुराजार्हलोहकृमिजजोङ्गकम्। अमरः २।६।१२६। तिलकः क्षुरकः श्रीमान्। अमरः २।४।४०। तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेष-कम्। अमरः २।६।१२३]

सोत्कण्ठेति। सोत्कण्ठा=प्रियसङ्गमोत्सुका नायिका, इव, विविधपल्लवानिलवीजिता—

मृगों के बालों के व्यजन [चामर] से शोभायुक्त और मदमत्त हाथियों के समूह से परिपालित राज्यस्थिति (राज्य की मर्यादा) के समान है; [विन्ध्य०—चमरमृगों के बाल (रोम) रूपी पंखों से शोभायुक्त और मदमत्त हाथियों से रक्षित है।] जो स्थाणु (शंकर जी) से युक्त और मृगपति (सिंह) द्वारा उपसेवित पार्वती के समान है; [विन्ध्य०—स्थाणु=ठूंठ वृक्षों से युक्त और मृगपतियों (सिंहों) से परिरक्षित है।] जो कुश और लव को उत्पन्न करने वाली और

१. पतिगृहीता। २. कृष्णागुरु। ३. सोत्कण्ठवनितेव।

समदना च, बालग्रीवेव व्याघ्रनखपङ्क्तिमण्डिता[1] गण्डकाभरणा च, पानभूमिरिव[2] प्रकटित-मधुकोश[3]-शता प्रकीर्णविविधकुसुमा च, क्वचित् प्रलयवेलेव महावराह-दंष्ट्रा-समुत्खात-

विविधाः (=अनेकविधाः) ये पल्लवाः (=किसलयानिः) तेषाम् अनिलेन (=तदुत्पादितपवनेन) वीजिता (=सम्पर्कं प्रापिता), च=तथा, समदना=कामवासनासहिता, पक्षे—विविधपल्लवोत्थापितवायुसम्पर्कं प्रापिता तथा मदनाख्यवृक्षैः सहिता। [मदनो मन्मथो मारः....। अमरः १।१।२५। मातुलो मदनश्च....। अमरः २।४।७८।]

बालग्रीवेति। बालग्रीवा=बालानाम् (=स्तनन्धयानाम्) ग्रीवा=गलप्रदेशः, इव, व्याघ्रनखपङ्क्तिमण्डिता=व्याघ्राणाम् (=शार्दूलानाम्) ये नखाः (=पुनर्भवाः) तेषां पंक्तिभिः (=श्रेणीभिः) मण्डिता (=शोभिता) च=तथा, गण्डकाभरणा—गण्डकः (=विविधानिष्टशमनार्थं गलप्रदेशे वर्तमानं यन्त्रादिविशिष्टं सूत्रम्), आभरणम् (=अलङ्कारः) यस्यां सा, पक्षे—सञ्चरतां व्याघ्राणां नखपङ्क्तिभिः शोभिता, गण्डका=पशुविशेषाः एव आभरणानि यस्याः सा तादृशी।

पानभूमिरिति। पानभूमिः=मद्यपानार्थं स्थानम्, तद्वदिव, प्रकटितमधुकोशशता=प्रकटितम् (=पानाय समुपस्थापितम्) यत् मधु (=मद्यम्) तस्य कोशानाम् (=पानपात्राणाम्) शतम् (=शतसंख्याकम्) यस्यां सा, तथोक्ता, च=तथा, प्रकीर्णविविधकुसुमा=प्रकीर्णानि (=यत्र तत्र विपर्यस्तानि) विविधानि (=अनेकविधानि) कुसुमानि (=पुष्पाणि) यस्यां सा तादृशी, पक्षे—प्रकटितम् (=प्रकाशितम्) मधूनाम् (=पुष्परसानाम्) कोशानाम् (=तदाश्रयभूतस्थानानाम्) च शतं यस्यां सा तादृशी, विपर्यस्तानि विविधकुसमानि यस्यां सा तादृशी। [मधु क्षौद्रं माक्षिकादि। अमरः १।४।१५ मध्वासवो माधवको मधु माध्वीकमद्वयोः। अमरः २।१०।४०]

क्वचिदिति। क्वचित्=कस्मिंश्चित् प्रदेशे, प्रलयवेला इव=सृष्टिसंहारकाले सर्वत्र जलमयः तस्यावसर इव, महावराहसमुत्खातधरणिमण्डला=महावराहः (=परमेश्वरस्य तृतीयावतारः) तेन समुत्खातम् (=दंष्ट्राभिः सम्यक्रूपेण खनित्वोपरि समानीतम्) धरणिमण्डलम् (=भूमण्डलम्) यस्यां सा तादृशी, पक्षे—महावराहैः=विशालशूकरैः संखनितं पृथ्वीमण्डलं यस्यां सा तादृशी। [संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि। अमरः १।४।२२। धरा धरित्री धरणिः क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः। अमरः २।१।२।]

निशाचर (रावण) से पकड़ी गयी सीता के समान है; [विन्ध्य०—कुशों के लव=खण्डों से युक्त और निशा में उड़ने वाले चमगादड़ों आदि से युक्त है।] जो चन्दन तथा मृगमद (कस्तूरी) की सुगन्ध धारण करने वाली तथा सुन्दर अगुरु के तिलक से सजी हुई कामिनी (प्रियसंगमोत्सुका) के समान है; [विन्ध्या०—चन्दन और कस्तूरी की खुशबू से युक्त और सुन्दर अगुरु तथा तिलक (नामक वृक्षों) से सुशोभित है।] जो अनेक प्रकार के पल्लवों की हवा से सेवित और कामवासनायुक्त सोत्कण्ठित नायिका के समान है; [विन्ध्या०—अनेक प्रकार के पल्लवों की हवा से युक्त और मदननामक वृक्षविशेष से युक्त है।] जो बाघ के नाखूनों के समूह से युक्त और गण्डा से सजी हुई बालक की ग्रीवा के समान है; [विन्ध्य०—बाघों के नाखूनों के चिह्नों] की पंक्तियों से सुशोभित तथा गैण्डा रूपी अलंकार वाली है।] जो सैकड़ों मधुकोशों (=मदिरा के प्यालों)

१. पदपङ्क्तिमण्डिता। २. आपान। ३. कोशकशता।

धरणिमण्डला, क्वचिद्दशमुखनगरीव चाटुलवानरवृन्द-भज्यमान-तुङ्गशालाकुला, क्वचिदचिरनिर्वृत्त-विवाह-भूमिरिव हरित-कुश-समित्-कुसुम-शमी-पलाशशोभिता, क्वचिदुन्मत्त-मृगपति-नाद-भीतेव कण्टकिता, क्वचिन्मत्तेव कोकिलकुल-कलप्रलापिनी, क्वचिदुन्मत्तेव

क्वचिदिति । क्वचित्=कस्मिंश्चित्स्थाने, दशमुखनगरी इव=दशमुखस्य (=दशाननस्य) नगरी=पुरी लङ्का, इव, चटुलेत्यादिः—चटुलाः (=चंचलाः) ये वानराः (=कपयः) तेषां वृन्देन (=समूहेन) भज्यमानाः (=त्रोट्यमानाः) तुङ्गाः (=उच्चाः) याः शालाः (=भवन-भागाः) तैः आकुला (=व्याप्ता), पक्षे—चञ्चलवानरसमूहेन भज्यमानाः तुङ्गाः (=विशालाः) शालाः (=शालवृक्षाः) तैः आकुला=व्यग्रा । [वासः कुटी द्वयोः शाला''''। अमरः २।२।६। ।]

क्वचिदिति । क्वचित्=कस्मिंश्चित् स्थाने, अचिरेत्यादिः—अचिरम् (=सद्य एव) निर्वृत्तः (=सम्पन्नः) यो विवाहः (=परिणयः) तस्य भूमिः=स्थलम्, इव, हरितेत्यादिः—हरिताः (=हरिद्वर्णाः) ये कुशाः (=दर्भाः) समिधः (=यज्ञीयकाष्ठानि), कुसुमानि (=पुष्पाणि) शमी (=शिवा) पलाशाः (=किंशुकाः कर्चूराः वा) तैः शोभिता (==भूषिता), पक्षेऽपि समानार्थता । [पालाशो हरितो हरित् । अमरः १।५।१४। काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित् स्त्रियाम् । अमरः २।४।१३ । शमी, सक्तुफला शिवा । अमरः २।४।५२ । कर्चूरोऽपि पलाशोऽथ''''। अमरः २।४।५४ । पलाशे किंशुकः पर्णो वातप्रोथोऽथ''''अमरः २।४।२९]

क्वचिदिति । क्वचित्=कुत्रचित्, उन्मत्तेत्यादिः—उन्मत्तः (=मदमत्तः) यो मृगपतिः (=मृगाधिपः) तस्य नादेन (=गर्जनेन) भीता=भयग्रस्ता, नायिकादिः, तस्या इव, कण्टकिता=रोमाञ्चिता [कण्टकाः सञ्जाता अस्या इत्यर्थे इतच् ।] पक्षे—कण्टकयुक्ता ।

क्वचिदिति । क्वचित्=कस्मिंश्चिद् स्थले, मत्ता=मधुपानोन्मत्ता, इव, कोकिलकुलकल-प्रलापिनी=कोकिलकुलवत्(=पिकसमूहवत्) कलम् (=अव्यक्तमधुरम्) प्रलपितुम् (=अनर्थकं

को प्रकाशित (प्रदर्शित) करने वाली और अनेक प्रकार के बिखरे हुए फूलों वाली मद्यपानभूमि के समान है; [विन्ध्य०— मधु=शहद और कोश=मक्खियों के छत्तों को प्रदर्शित करने वाली तथा अनेक प्रकार के बिखरे हुए फूलों से युक्त है ।] जो कहीं पर महावराह (वाराह-अवतारी विष्णु) की दाढ़ द्वारा उखाड़ी (उठाई) गई पृथ्वी के मण्डल से युक्त प्रलयकाल के समान है; [विन्ध्य०—जिसमें बड़े-बड़े सूअर दाढ़ों से पृथ्वी के टुकड़े कर रहे हैं ।] जो कहीं पर चंचल बन्दरों द्वारा तोड़ी जाती हुई ऊँची और विशाल शालाओं (भवनों) से युक्त रावण की नगरी लंका के समान है; [विन्ध्या०—चंचल बन्दरों द्वारा तोड़े जाते हुए ऊचे और विशाल शाल वृक्षों से युक्त है ।] जो कहीं पर हरे (ताजे) कुश, समिधा (हवन की लकड़ियाँ) फूल, शमी (सेमर) और पलाश (नव-पल्लव) से शोभायमान तत्काल सम्पन्न विवाह-स्थल के समान है; [विन्ध्य०—हरे कुश, समिधा, फूल, शमी, पलाश (ढांक, धा पल्लव) से युक्त है ।] जो कहीं पर दुर्वृत्त=क्रूर मृगपति (सिंह) की नाद से डरी हुई कण्टकित (रोमाञ्चयुक्त) स्त्री के समान है; [विन्ध्या०—कण्टकों से युक्त है ।] जो कहीं पर कोयलसमूह के समान मधुर आवाज करनेवाली मत्त स्त्री के समान है; [विन्ध्या० कोकिलसमूह की मधुर आवाजवाली है ।] जो कहीं पर वायुवेग (रोग) के कारण ताली बजाने वाली उन्मत्त

१. भृङ्ग, उत्तुङ्ग । २. उदवृत्त ।

वायुवेगकृत-तालशब्दा, क्वचिद्विधवेव उन्मुक्ततालपत्रा, क्वचित् समरभूमिरिव शर-शत-निचिता, क्वचिदमरपतितनुरिव नेत्रसहस्र-सङ्कुला, क्वचिन्नारायणमूर्त्तिरिव तमालनीला, क्वचित् पार्थरथपताकेव वानराक्रान्ता[1], क्वचिदवनिपति[2]-द्वारभूमिरिव वेत्रलताशतदुष्प्र-

भाषितुम्) शीलमस्याः सा, पक्षे —कोकिलकुलस्य(=पिकसमूहस्य) कलप्रलापः (=मधुररवः) अस्याम् अस्ति सा तादृशी ।

क्वचिदिति । क्वचित्=कुत्रचित्, उन्मत्ता=उन्मादवातसहिता, स्त्री इव, वायुवेगकृततालशब्दा =पवनजवविहितकरतलध्वनिः, उन्मत्ता करतलानि ताडयित्वा भ्राम्यतीति लोकानुभूतिः । पक्षे—वायुवेगेन=पवनबाहुल्येन कृतः=विहितः, तालशब्दः=तालवृक्षध्वनिः यस्यां सा तादृशी । [तृणराजाह्वयस्तालः"""। अमरः २।४।१६८]

क्वचिदिति । क्वचित्=कुत्रचित्, विधवा=मृतपतिका, [विगतः=मृतः, धवः=पतिः यस्याः सा तादृशी] इव=यथा उन्मुक्ततालपत्रा=उन्मुक्तम् (=परित्यक्तम्) तालपत्रम् (=ताटङ्कः, कर्णाभरणविशेषः) यया सा तादृशी, पक्षे—उन्मुक्तानि (=परिपतितानि, वायुबाहुल्येनेति भावः) तालपत्राणि (=तालवृक्षाणां पर्णानि) यस्यां सा । [पतिशाखिनरा धवः । अमर ३।३।२०७ कर्णिका तालपत्रं स्यात्"""। अमरः २।६।१०३]

क्वचिदिति । क्वचित्=कुत्रचित्, समरभूमिः=युद्धस्थलम्, इव, शरशतनिचिता=शराणाम् (=वाणानाम्) शतेन निचिता=व्याप्ता, पक्षे—शराणा=मुञ्जदण्डानां समूहेन व्याप्ता । [गुन्द्रस्तेजनकः शरः । अमर. २।४।१६२ । कलम्बमार्गणशराः पत्री रोप इषुर्द्वयोः । अमरः २।८।८७]

क्वचिदिति । क्वचित्=कुत्रचित्, अमरपतितनुः=इन्द्रस्य देहः, इव, नेत्रसहस्रसङ्कुला= नेत्राणाम् (=नयनानाम्) सहस्रम् (=सहस्रसंख्या) तेन सङ्कुला=व्याप्ता, शापवशादिन्द्रस्य शरीरे सहस्राणि नेत्राणि जातानीति पुराणादौ प्रसिद्धम् । पक्षे—नेत्राणाम्=वृक्षविशेषाणाम्, यद्वा वृक्षीयजटानाम् सहस्रं तेन संकुला=परिपूर्णा । [अमरा निर्जरा देवा—। अमरः १।१।७ स्याज्जटांशुकयोर्नेत्रम् । अमरः ३।३।१८० लोचनं नयनं नेत्रम्ः । अमरः २।६९३ "नेत्रं मन्थगुणे वस्त्रभेदे मूले द्रुमस्य च ।" इति मेदिनी ।

क्वचिदिति । क्वचित्=कस्मिश्चित् स्थले, नारायणमूर्तिः=नारायणस्य (=विष्णोः) मूर्तिः (=शरीरम्) इव, तमालनीला=तमालम् (=तापिच्छम्) तद्वन्नीला (=श्यामा) पक्षे— तमालैः (=तापिच्छनामकवृक्षैः) नीला (=नीलवर्णा) । [तालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छ"""। अमरः ।२।४।६८]

क्वचिदिति । क्वचित्=कुत्रचित्, पार्थरथपताका=अर्जुनरथस्य वैजयन्ती, इव, वानरा-

स्त्री के समान है; [विन्ध्या०—वायु के वेग से ताड़ के वृक्षों के शब्दों से युक्त है ।] जो कहीं पर तालपत्रों (कर्णाभूषणों) को छोड़ देने वाली विधवा स्त्री के समान है; [विन्ध्य० तालपत्र= ताड़ वृक्ष के पत्तों को गिरा देनेवाली है ।] जो कहीं पर सैकड़ों शरों (वाणों) से युक्त युद्धभूमि के समान है; [विन्ध्य०—सैकड़ों शर=सरकण्डों से भरी हुई है ।] जो कहीं पर हजारों नेत्रों से व्याप्त इन्द्र के शरीर के समान है; [विन्ध्या०—नेत्र नामक हजारों वृक्षों से युक्त है ।] जो कहीं पर तमालपत्र के समान नील=श्याम वर्णवाली विष्णु की मूर्ति के समान है; [विन्ध्या०— तमालपत्रों से श्यामवर्णवाली है ।] जो कहीं पर कपि (=हनुमान) से आक्रान्त (अधिष्ठित)

१. कप्याक्रान्ता, कप्याक्रान्ता । २. अमरपति ।

वेशा, क्वचिद्विराटनगरीव कीचकशताकुला[1], क्वचिदम्बरश्रीरिव व्याधानुगम्यमान-तरल-तारक-मृगा, क्वचिद्गृहीतव्रतेव दर्भ-चीर-जटा-वल्कल-धारिणी, अपरिमित-बहल[2]पत्रसञ्च-

क्रान्ता=वानरेण (=हनुमता) आक्रान्ता (=सहिता), पक्षे—वानरैः (=कपिभिः), आक्रान्ता (=व्याप्ता)। [पताका वैजयन्ती स्यात् । अमरः २।८।९९]

क्वचिदिति । क्वचित्=कस्मिंश्चित् प्रदेशे, अमरपतीत्यादिः=अमराणाम् (=देवानाम्) पतिः (=स्वामी, इन्द्रः) तस्य द्वारभूमिः (=प्रतीहारोपवेशनस्थलम्) इव, वेत्रेत्यादिः=वेत्राणाम् (=वेतसानाम्) शतम् (=शतसंख्या) तेन दुष्प्रवेशा (=दुःखेन प्रवेष्टुमर्हा), पक्षे—वेत्राः (=वेतसाः) लताः (=व्रततयः) च, तासां शतम् (=समूहः) तेन दुष्प्रवेशा (=दुर्गमा।) द्वारे वेत्रलतायुक्ताः प्रतीहारिणः तिष्ठन्ति, ते सामान्यजन-प्रवेशं निषेधन्ति, अत्र च वेतसानामन्यसां च लतानां बाहुल्यात् प्रवेशोतिकष्टसाध्य इति भावः।

क्वचिदिति । क्वचित्=कुत्रचित्, विराटनगरी इव=मत्स्याधिपतेः राजधानी इव, कीचकशतावृता=कीचकाः (=निजप्रियायाः बान्धवाः, श्यालकाः) तेषां शतेन (=शतसंख्यया) आवृता-(=परिवृता, युक्तेति भावः।) पक्षे—कीचकाः (=सच्छिद्रवेणवः, छिद्रेषु प्रविष्टवायुसमुत्पादितध्वनियुक्ता वेणवः) तैः आवृता=व्याप्ता। [वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः। अमरः २।४।१६१।]

क्वचिदिति । क्वचित्=कुत्रचित्, अम्बरश्रीः इव=आकाशस्य लक्ष्मीः=शोभा इव, व्याधेत्यादि=व्याधेन (=व्याधरूपग्राहिणा शङ्करेण) अनुगम्यमानम् (=अनुव्रज्यमानम्) अतएव तरलम् (=सत्रासम्) तारकमृगम् (=मृगशिरोनामकं नक्षत्रम्) यस्यां सा तादृशी। पक्षे—व्याधैः (=हिंसकैर्भिल्लादिभिः) अनुगम्यमानाः (=अनुस्रियमाणाः) अतएव तरलाः (=सभयाः, चञ्चलाः) तारकाः (=लोचनकनीनिकाः) येषां ते तादृशाः मृगाः (=हरिणः), यस्यां सा तादृशी।

[अत्र शिवपुराणस्य कथा—कदाचित् प्रजापतिः परमसुन्दरीं स्वतनयां सन्ध्यामवलोक्य कामान्धो भूत्वा तामन्वधावत्। आत्मनो रक्षार्थं सा हरिणीस्वरूपमाश्रित्य पलाय्य शिवस्य शरणमुपगता। प्रजापतिरपि हरिणस्वरूपमाश्रित्य तत्रापि आययौ। तदानिष्टं विलोक्य शिवः प्रजापतेः शिरः कर्त्तनाय स्वधनुषो वाणं व्यसृजत्। तमवलोक्य लज्जितस्त्रस्तश्च प्रजापतिः मृगशिरोनक्षत्रे प्राविशत्। शिवस्य वाणोपि आर्द्रानक्षत्ररूपेण तदन्वतिष्ठत्।]

क्वचिदिति । क्वचित्=कुत्रचित्, गृहीतव्रता=गृहीतम् (=धृतम्) व्रतम् (=नियमः)

अर्जुन के रथ की पताका के समान है; [विन्ध्य०—कपियों=बन्दरों से युक्त है।] जो कहीं पर सैकड़ों वेंतलताओं वालों (छड़ीधारियों) के कारण बहुत कष्ट से प्रवेश करने योग्य राजा के द्वारस्थान के समान है; [विन्ध्य०—वेतस तथा दूसरी लताओं के कारण कष्ट से प्रवेश के योग्य है।] जो कहीं पर सैकड़ों कीचकों (मत्स्यराज के सालों) से युक्त विराटनगरी के समान है; [विन्ध्या०—कीचक=पोले बांस जिनमें हवा भर जाने पर आवाज हुआ करती है उनसे युक्त है।] जो कहीं पर व्याध (का रूप धारण करने वाले शिवजी) द्वारा पीछा किये जाते हुए अत एव भय से व्याकुल तारकमृग (=मृगशिरा नामक नक्षत्र) से युक्त आकाश की श्री=सुन्दरता के समान है; [विन्ध्या०—व्याध्रों द्वारा पीछा किये जाने के कारण चञ्चल तारक (आँख की पुतली) वाले

१. कीचकावृता, कीचकाकुला। २. बहुल।

याऽपि सप्तपर्णभूषिता,[1] क्रूरसत्त्वाऽपि मुनिजनसेविता, पुष्पवत्यपि पवित्रा विन्ध्याटवी नाम। तस्याञ्च दण्डकारण्यान्तःपाति सकलभुवनविख्यातम्[2] उत्पत्तिक्षेत्रमिव भगवतो

यथा सा तादृशी, इव, दर्भेत्यादिः=दर्भाः (=कुशाः), चीराणि (=जीर्णवस्त्रखण्डानि), जटाः (=शिफाः), वल्कलानि (=चोचानि) च धारयितुं शीलं यस्याः सा तादृशी, पक्षे—दर्भाः (=कुशाः), चीराः (=तृणविशेषाः) जटाः (=वृक्षमूलानि), वल्कलानि (=वल्कानि) च धारयितुं शीलं यस्याः सा तादृशी। [शिफाजटे संहृतौ कचौ। अनेकार्थः। समे शाखालते स्कन्धशाखाशाले शिफाजटे। अमरः २।४।११ व्रततिस्तु जटा सटा। अमरः २।६।९७]

उपमया विन्ध्याटवीमुपवर्ण्य साम्प्रतं विरोधाभासेन तां वर्णयति—अपरिमितेति। अपरिमितेत्यादिः=अपरिमितानि (=असङ्ख्येयानि) बहलानि (=सघनानि) च पत्राणि (=पर्णानि) तेषां सञ्चयः (=समूहः) अस्यां सा तादृशी, अपि, सप्तपर्णभूषिता=सप्तभिः पर्णैः=(पत्रैः) भूषिता (=अलङ्कृता)—इत्येवं विरोधः। सप्तपर्णनामकवृक्षविशेष-शोभितेति तत्परिहारः। "विरोध इव भासेत विरोधोऽसौ प्रकीर्तितः।" [सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः।" अमरः २।४।२३। पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्। २।४।१४:] क्रूरसत्त्वाऽपि=क्रूरम् (=दुष्टम्) सत्त्वम् (=हृदयम्) यस्याः सा तादृशी, अपि, मुनिजनसेविता=मुनिजनैः (=ऋषिलोकैः) सेविता(=उपासिता)—इति विरोधः, क्रूराः=हिंस्राः, सत्त्वाः=व्याघ्रादिप्राणिनः यस्यां सा तादृशीति परिहारः। [सत्त्वं द्रव्ये गुणे चित्ते व्यवसायस्वभावयोः।" अनेकार्थः। "द्रव्यासु-व्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु।" अमरः ३।३।२१३।] पुष्पवती=रजोधर्मवती, अपि, पवित्रा=पूतेति विरोधः। पुष्पाणि=कुसुमानि सन्ति अस्याः—इति तत्परिहारः। [स्याद्रजः पुष्पमार्तवम्। अमरः २।६।२१। स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्। अमरः। २।४।१७ पवित्रः प्रयतः पूतः····। अमरः २।७।४५।] विन्ध्याटवी=विन्ध्याख्यं वनम् अस्तीति प्रथमपदेन सम्बन्धः। [अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्। अमरः २।४।१]

तस्यां विन्ध्याटव्यामगस्त्यस्याश्रम आसीदिति प्रतिपादयितुमुपक्रमते—तस्याञ्चेति। तस्याम्=पूर्वोक्तायां विन्ध्याटव्याम्, "अगस्त्यस्य=कुम्भयोनेः, आश्रमपदम्=आश्रमस्थलम्, आसीद्" इति वक्ष्यमाणैः पदैः सम्बन्धो बोध्यः। [अत्र प्रथमान्तानि पदानि 'आश्रमस्य' विशेषणानि।] दण्डकारण्यन्तः पाति=दण्डक-वनस्याभ्यन्तरवर्ति, सकले—त्यादिः=सकलेषु

मृगों से युक्त है।] जो कहीं पर दर्भ=कुश, चीर=वस्त्रखण्ड, जटा और वल्कल=पेड़ों की छाल को धारण करने वाली व्रतानुष्ठानकर्त्री स्त्री के समान हैं; [विन्ध्या०-कुश, चीर, जटा=पेड़ों की जड़ें, या ऊपर निकलने वाली जटायें, तथा वल्कल से युक्त है।] जो असीमित और अत्यधिक पल्लवों के समूह वाली होकर भी [केवल] सप्तपर्ण [सात पत्तों] से सुशोभित है, [विरोध का परिहार, सप्तपर्ण=छितवन के वृक्षों से युक्त हैं।] जो क्रूरसत्त्व (दुष्ट वृत्ति) वाली होकर भी मुनिजनों से उपसेवित है; [विरोध का परिहार—क्रूर=निर्दय सिंह आदि सत्त्वों=प्राणियों वाली है।] जो पुष्पवती=रजोधर्म से युक्त होती हुई भी पवित्र है, [विरोध का परिहार—पुष्पवती=फूलों से युक्त है।] [इस प्रकार की एक विन्ध्यी-अटवी=विन्ध्याचल का वन] है।

उस विन्ध्याटवी (विन्ध्यपर्वत के वन) में दण्डकारण्य के भीतर पड़ने वाला, [अगस्त्य

१. सप्तपर्णोपभूषिता। २. भुवनख्यातम्, भुवनतलख्यातम्।

धर्मस्य, सुरपति-प्रार्थना-पीत[1]-सकल-सागर-सलिलस्य[2] मेरु-मत्सराद्[3] गगनतल[4]-प्रसारित-शिरः[5]सहस्रेण दिवसकर-रथगमन[6]-पथमपनेतुमभ्युद्यतेन अवगणितसकलसुर[7]-वचसा विन्ध्य-गिरिणाप्यनुल्लङ्घिता[8]ज्ञस्य, जठरानल-जीर्ण-वातापिदानवस्य सुरासुर-मुकुट[9]-मकरपत्र-

(=समस्तेषु) भुवनेषु (=लोकेषु मध्ये) विख्यातम् (=विश्रुतम्), भगवतः=ऐश्वर्यविशिष्टस्य, माहात्म्यवतः, धर्मस्य=श्रेयसः, सुकृतस्य, उत्पत्तिक्षेत्रम् इव,=जन्मभूमिरिव, तत्र सर्वविधि-धर्मोत्पत्तेर्दर्शनादिति भावः। सुरपतीत्यादिः=सुराणाम् (=देवानाम्) पतिः (=स्वामी इन्द्रः) तस्य या प्रार्थना (=अभ्यर्थना) तया पीतम् (=चुल्लकेनास्वादितम्) सकलानाम् (=समस्तानां) सागराणाम् (=वारिधीनाम्) सलिलम् (=जलम्) येन स तादृशस्य; [इत आरभ्य षष्ठयन्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'अगस्त्यस्य' विशेषणानीति ध्येयम्।] मेरुमत्सराद्=मेरोः (=सुमेरोः) मत्सराद् (=ईर्ष्यया, द्वेषाद् वा), गगनतलेत्यादिः=गगनतले (=अम्बरतले) प्रसारितानि (=विस्तारितानि) विकटानि (=विपुलानि, विशालानि) यानि शिरांसि (=मस्तकानि,) तेषां सहस्रम् (=समूहः) येन स तादृशेन, दिवसकररथगमनपथम्=सूर्यरथगमनमार्गम्, अपनेतुम्=दूरीकर्तुम्, अभ्युद्यतेन=प्रवृत्तेन, अवगणित-सकल-सुरवचसा=अवगणितानि (=तिरस्कृतानि), सकलसुराणाम् (=समस्तदेवानाम्), वचांसि (=वचनानि) येन स तादृशेन, विन्ध्यगिरिणा=विन्ध्यपर्वतेन, अपि, अनुल्लङ्घिताज्ञस्य=अनुल्लङ्घिता (=अनतिक्रान्ता) आज्ञा (=आदेशः) यस्य स तथोक्तस्य।

[स्कन्दपुराणे इयं कथा—एकदा पर्यटन् नारदो विन्ध्यगिरिं प्रति प्राप्तः, तत्र तेन सत्कृतो नारदस्तं प्रत्युवाच "हे गिरिवर! सूर्यः सुमेरुं प्रत्यहं परिक्रामति त्वां कथं नेति विचिन्त्य मम मनसि कष्टं भवति। तद्वाक्यं श्रुत्वा विन्ध्यगिरिः कदाचित् क्रुद्धः सूर्यमार्गमवरोद्धुं वृद्धिं गच्छन् देवैः प्रार्थितोऽपि न शान्तः। तदैकभागे सूर्यस्यातितापात् अपरभागे च प्रकाशाभावात् सर्वे लोकाः दुःखिनः संजाताः। तैः देवाः प्रार्थिताः। देवाश्च काश्यां महर्षेरगस्त्यस्याश्रमं प्रापुः। तं च विन्ध्यवृद्धिवारणाय प्रार्थयामासुः। प्रसन्नोऽगस्त्यः सभार्यः विन्ध्यमुपजगाम। तं समागत दृष्ट्वा विन्ध्यः स्वशिरोऽवनमय्य तदातिथ्यं चकार। तेन तुष्टोऽगस्त्योऽवोचत् "वत्स! यावदहं न प्रत्यावृत्तः स्यां त्वं तावदेवंविध एव तिष्ठ।" महर्षिवचनमनुसृत्य विन्ध्यः तादृश एव स्थितः। महर्षिस्तु नाद्यावधि प्रत्यागतः, अतो महर्षेर्माहात्म्यं सिध्यति।]

जठरेति। जठरानलेन (=उदराग्निना) जीर्णः (=अन्तस्तिरोहितत्वं प्रापित,) वातापिदानवः (=एतन्नामकदैत्यः) येन स तादृशस्य।

[पुरा इल्वलवातापिनामानौ भ्रातरावसुरावास्ताम्। कदाचित् विप्रस्वरूपं धृत्वा इल्वलः मेषस्वरूपवन्तं वातापिनं हृत्वा तन्मासं पक्त्वा तत्र स्थितान् विप्रान् भोजयामास। तदनन्तरं तेन

महर्षि का] एक आश्रम था जो सम्पूर्ण संसार में प्रसिद्ध था; भगवान् धर्म का तो मानो जन्म-स्थान था। जिसे सुरपति (इन्द्र) की प्रार्थना से समुद्र के सारे जल को पी लेने वाले—सुमेरु पर्वत की ईर्ष्या के कारण गगनतल तक अपनी विकट चोटियों (शिखरों) को फैलाने वाले, सूर्य के रथ के गमन-मार्ग को समाप्त करने के लिए तैयार खड़े होने वाले, देवताओं के वचनों की उपेक्षा कर देने वाले विन्ध्य पर्वत ने भी—जिन (अगस्त्य) की आज्ञा का उल्लघंन नहीं किया था, अर्थात् मानी थी; जिन्होंने वातापी दैत्य को अपने उदर में पचा (जीर्ण कर) डाला था;

१. निपीत। २. जलस्य। ३. मेरुशिखर। ४. अम्बरतल। ५. शिखरस्य। ६. गतिपथ। ७. सुरसमूह। ८. अलङ्घित। ९. मुकुटतटघट्टितमरकतमयपत्रभंगकोटि।

कोटि-चुम्बितचरण-रजसो दक्षिणाशा-मुख-विशेषकस्य[1] सुरलोकादेकहुङ्कारनिपातित[2]-नहुषप्रकट[3]प्रभावस्य भगवतो महामुनेरगस्त्यस्य भार्य्यया[4] लोपामुद्रया स्वयमुपरचितालबालकैः करपुटसलिलसेक-संवर्द्धितैः सुतनिर्विशेषैरुपशोभितं पादपैः, तत्पुत्रेण च गृहीतव्रते-

स्वभ्राताऽऽकारितः 'हे वातापिन् ! आगच्छ ।' प्राप्तवरदानेन सः तेषामुदराणि विदार्य बहिरागतः । तदनन्तरं तौ तेषां सर्वं द्रव्यादिकं चोरितवन्तौ । ततो देवा अगस्त्यस्य शरणमुपागताः, तेन प्रार्थितोऽगस्त्यः तन्मांसं भुक्त्वा उदरे जीर्णं कृतवानिति महाभारतीया कथा ।]

सुरासुरेति । सुराः (=देवाः) असुराः (=राक्षसाः) च तेषां मुकुटेषु (=किरीटेषु) यानि मकरपत्राणि (=मकराकारपक्षाः) तेषां कोटियः (=अग्रभागाः) तैः चुम्बितानि (=स्पर्शितानि, पूजितानि) चरणरजांसि (=पाद-धूलिकणाः) यस्य स तादृशस्य ।

दक्षिणेति । दक्षिणा (=अवाची) या आशा (=दिशा) सा एव वधूः (=नायिका) तस्याः यन्मुखम् (=आननम्) तस्मिन् विशेषकस्य (=तिलकस्य), [तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम् ।" अमरः २।६।१२३/ 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितस्तथा ।" अमरः १।३।१]

सुरेति । सुरलोकात् (=देवपुरात् स्वर्गादित्यर्थः) एकहुङ्कारेण (=सकृतहुङ्कृतिमात्रेण) निपातितः (=प्रभ्रंशितः,) यो नहुषः (=तन्नामा नृपः) तेन तस्मिन् वा प्रकटः (=स्फुटः) प्रभावः (=माहात्म्यम्) यस्य स तादृशस्य, भगवतः=माहात्म्यशालिनः, महामुनेः =महर्षेः,—

[पुरा इन्द्रेण दधीच्यस्थिनिर्मितेन वज्रेण त्वष्टुः पुत्रं वृत्रं हत्वा ब्रह्महत्यापापयुक्तेन मानसरोवरे स्थितम् । तदा देवैः अराजकं स्वर्गं विलोक्य चन्द्रवंशीयो राजा नहुषः स्वस्वतेजोभिर्विवर्द्धयं स्वर्गराज्ये प्रतिष्ठापितः । कदाचित् स आत्मानमिन्द्रं मन्यमान इन्द्राणीं कामवासनायोपजगाम । तया कथितम् "हे राजन् ! भवान् यदि महर्षिभिर्वाहितां शिविकामारुह्य मद्भवनमागन्तुं शक्नोति तदाहं त्वां सेविष्ये ।" तदा कामान्धो नहुषस्तद्वचनं स्वीकृत्य भृगवादीन् महर्षीन् वाहकतया नियोज्य शिविकामारूढ इन्द्राणीं प्रति गच्छन् द्रुततरं गन्तुमग्रेग्रामिनं भृगुं मूर्ध्नि 'सर्प सर्प' इति वदन्नताडयत् । तदा तस्य जटासु प्रच्छन्नोऽगस्त्यः पादप्रहारेण क्रुद्धः सन् तं शशाप "त्वं सर्पः सन् पतितो भव ।" तेन च नहुषः सर्पः सन् हिमालय-गुहायामपतदिति महाभारते कथा ।]

अगस्त्यस्य=एतन्नामकमहर्षिविशेषस्य, भार्यया=धर्मपत्न्या, लोपामुद्रया=तन्नाम्न्या, स्वयम्=आत्मनैव, उपरचितालवालकैः=उपरचितानि (=विनिर्मितानि) आलवालकानि (=आवापाः) येषां तैः, करेत्यादिः=करपुटेन (=करद्वयेन), यः सलिलसेकः (=जलसेचनम्) तेन सम्वर्द्धितैः(=

जिनकी चरण-रज देवों और दैत्यों के मुकुट के मकरपत्रों (=मगर की आकृति के समान बने हुये) के अग्रभाग से चुम्बित (=स्पृष्ट) की जाती थी; जो दक्षिण दिशारूपी नायिका के मुख (मस्तक के) तिलक थे; जिन्होंने एक ही हुंकार द्वारा नहुष को स्वर्ग से गिराने में अपने प्रभाव को प्रकट किया था;—ऐसे अति माहात्म्य वाले महर्षि 'अगस्त्य' की धर्मपत्नी 'लोपामुद्रा' द्वारा अपने आप जिनके आलवाल (पानी के थाल) बनाये गये थे, जिन्हें दोनों हाथों से दिये गये जल के सिंचन से खूब बड़ा किया गया था, जो [उनके अपने] पुत्रों के समान थे,—ऐसे वृक्षों से शोभित [आश्रम] था; और उन [महर्षि अगस्त्य] के उस 'दृढदस्यु' नामक पुत्र द्वारा पवित्र किया गया था, जिस (पुत्र) ने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया था, जिसने पलाश का दण्ड धारण

१. दक्षिणाशावधूमुख । २. निपतित । ३. प्रकटन । ४. तद्भार्यया ।

नाषाढिना[1] पवित्रभस्म-विरचित-त्रिपुण्ड्काभरणेन कुश-चीवर[2]-वाससा[3] मौञ्जमेखलाकलित-मध्येन गृहीत-हरितपर्ण[4]पुटेन प्रत्युटजमटता भिक्षां दृढदस्युनाम्ना पवित्रीकृतम्, अतिप्रभूतेध्माहरणाच्च यस्येध्मवाह इति पिता परिसरं द्वितीयं नाम चकार, दिशि दिशि शुकहरि[5]तैश्च कदलीवनैः श्याम[6]लीकृत परिसरं सरिता च कलशयोनिपरिपीतसागरमार्गानुगतयेव बद्धवेणिकया गोदा[7]वर्य्या परिगतमाश्रमपदमासीत् ।

वृद्धिं प्रापितैः, सुतनिर्विशेषैः=सुतेभ्यः (=पुत्रेभ्यः) निर्गतः (=निष्क्रान्तः) विशेषः (=भेदः) येषान्तैः, पुत्रसदृशैरित्यर्थः, पादपैः=वृक्षैः, उपशोभितम्, अस्य 'आश्रमपदम्' इत्यनेनान्वयः ।

तत्पुत्रेण च=अगस्त्यसुतेन च, गृहीतव्रतेन=धृतव्रतेन, आषाढिना=पालाशदण्डवता; ["आषाढो व्रतिनां दण्डे, मासे मलयपर्वते ।" इति विश्वः । "ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ" इति मनुवचनात् पलाशदण्डधारिणेति भावः ।] पवित्रेत्यादिः=पवित्रम् (=पूतम्), यद् भस्म (=भसितम्), तेन विरचितम् (=विहितम्) त्रिपुण्डकम् (=रेखात्रयविशिष्टस्तिलकविशेषः), एव, आभरणम् (=भूषणम्) यस्य येन वा स तेन, कुशचीवरवाससा=कुशाः (=दर्भाः) एव, चीवर-वासः (=चीरवस्त्रं) यस्य स तेन, मौञ्जेत्यादिः=मौञ्जी (=मुञ्जः=शराख्यस्तृणविशेषः, तेन विरचिता, मुञ्जमयीत्यर्थः) या मेखला (=रशना) तया कलितः (=बद्धः) मध्यः (=शरीरमध्यदेशः) यस्य तेन; गृहीतेत्यादिः=गृहीतम् (=आत्तम्) हरितम् (=हरिद्वर्णम्), पर्णपुटम् (=पत्रनिर्मितपुटकाख्यं भिक्षापात्रं) येन स तेन, प्रत्युटजम्=प्रतिपर्णशालम्, भिक्षाम्=भिक्षार्थम्, अटता=भ्राम्यता, दृढदस्युनाम्ना=दृढदस्यु--रिति नाम (=संज्ञा) यस्य स तेन, पवित्रीकृतम्=पवित्रतां प्रापितम्, पिता=जनकः, अतिप्रभूतानि=अत्यधिकानि, यानि इध्मानि (=यज्ञीयकाष्ठानि) तेषाम् आहरणात्=आनयनात्, हेतोः, 'इध्मवाह' [इध्मं वहतीति) इति=इदम्, द्वितीयम्=अपरम्, नाम=अभिधेयम्, चकार=कृतवान्, दिशि दिशि=प्रतिदिशम्, शुकहरितैः=शुकवद्हरितवर्णैः कदलीवनैः=रम्भाकाननैः, च, श्यामलीकृतपरिसरम्=श्यामलीकृतः (=हरिद्वर्णीकृतः) परिसरः (=पर्यन्तभूः) यस्य तत् तादृशम् । कलसयोनीत्यादिः=कलसयोनिना (=अगस्त्येन) परिपीतः (=चुलुकीकृतः) यः सागरः (=समुद्रः), तस्य मार्गम् (=अध्वानम्) अनुगतया=अनुव्रजितया, इव, बद्धवेणिकया=बद्धा (=संयमिता) वेणिका (=प्रवाहः केशरचनाविशेषः च) यया तादृश्या, गोदा-

---

किया था, जिसने पवित्र भस्म द्वारा त्रिपुण्ड (मस्तक में तीन रेखाओं के तिलक) रूपी आभरण की रचना की थी; जो कुशों के बने चीवर वस्त्र धारण किये हुए था; जिसने मूंज की मेखला (करधनी) अपने मध्य भाग (कमर) में बांध रक्खी थी, जो हरे-हरे पत्तों का दोना (पुटक) लेकर प्रत्येक कुटी में भिक्षा के लिए घूमता था, अत्यधिक (यज्ञीय) काष्ठ लाने के कारण जिसका 'इध्मवाह' ऐसा दूसरा नाम पिता अगस्त्य ने रख दिया था; जो (आश्रम) हर दिशा में शुकों के समान हरे रंगवाले केलों के वनों से अन्धकारयुक्त (श्यामलीकृत) सीमाओं वाला था, जो (आश्रम) घड़े से उत्पन्न (अगस्त्य) ऋषि द्वारा पिये गये समुद्र के मार्ग का मानो अनुसरण करती हुई, वेंणी (चोटी, जलधारा) युक्त (सदैव जलधारा वाली) गोदावरी नदी द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ था ।

---

१. आषाढिव्रतिना । २. चीर । ३. वल्कल, मुञ्ज ।
४. हरिणकर्ण, पत्रपुटेन । ५. शुककुल । ६. श्यामीकृत । ७. कावेर्या ।

यत्र च दशरथवचनमनुपालयन्नुत्सृष्टराज्यो दशवदन लक्ष्मी-विभ्रमविरामो राम[1]ो महामुनिमगस्त्यमनुचरन् सह सीतया लक्ष्मणोपरचित-रुचिर-पर्णशालः पञ्चवट्यां कञ्चित् कालं सुखमुवास। चिर[2]शून्येऽद्यापि यत्र शाखानिलीन-निभृत-पाण्डु-कपोतपङ्क्तयोऽमल[3]-लग्नतापसाग्नि-होत्र-धूमराजय इव लक्ष्यन्ते तरवः। बलिकर्म्म-कुसुमान्युद्धरन्त्याः सीतायाः करतलादिव सङ्क्रान्तो यत्र रागः स्फुरति लताकिसलयेषु। यत्र च पीतोद्गीर्ण-

वर्या=तक्षाम्न्या, सरिता=नद्या, परिगतम् (=परिवेष्टितम्) आश्रमपदम् आसीदिति अन्वयस्तु पूर्वमेवोक्तः।

पुनस्तमेवाश्रमं विशेषयितुमाह—यत्र चेति। यत्र=यस्मिन् आश्रमे, च, दशरथवचनम् =दशसु दिशासु अप्रतिहतो रथो यस्य तस्य स्वपितुः वचनम्=आज्ञाम् अनुपालयन्=यथादिष्टं तथैव समाचरन्—अतएव, उत्सृष्ट–राज्यः=उत्सृष्टम् (=परित्यक्तम्) राज्यम् (=राजकर्म) येन स तादृशः, दशवदनेत्यादिः=दशवदनः (=दशसंख्याकानि वदनानि=मुखानि यस्य सः रावण इत्यर्थः) तस्य या लक्ष्मीः (=राज्यश्रीः, वैभवमिति भावः) तस्याः ये विभ्रमाः (=हावभावविलासाः) तेषाम्, विरामः (=अवसानम्, समाप्तिः) यस्मात् स तादृशः, रामः= रामचन्द्रः, महामुनिम्=महर्षिम्, अगस्त्यम्=कलशोद्भवम्, अनुचरन्=अनुसरन्, लक्ष्मणेत्यादिः= लक्ष्मणेन (=सौमित्रिणा, स्वानुजेन) उपरचिता (=विनिर्मिता) रुचिरा (=मनोहरा) पर्ण-शाला (=उटजः) यस्मै यस्य वा स तादृशः, पञ्चवट्याम्=पञ्चविधवृक्षयुक्ते जनस्थाने, सीतया=स्वधर्मपत्न्या, सह=सार्धम्, कञ्चित्कालम्=कञ्चित्समयम्, सुखम्=सुखपूर्वकम्, उवास =अवसत्। चिरशून्येऽपि=दीर्घकालात् मुनिजनरहिते, अपि, यत्र=यस्मिन् आश्रमपदे, शाखा-निलीनेत्यादिः=शाखासु (=वृक्षशाखासु) निलीनाः (=संलग्नाः, अवस्थिताः) निभृताः (=निःशब्दाः) पाण्डवः (=श्वेताः) ये कपोताः (=पारावताः) तेषां पङ्क्तयः (=श्रेणयः) येषु ते तथोक्ताः, अत एव, अमललग्नेत्यादिः=अमलाः (=निर्मलाः) लग्ना (संलग्नाः), ताप-सानाम् (=तपस्विनाम्) यद् अग्निहोत्रम् (=दैनिकं हवनकर्म) तस्य धूमानाम् (=अग्निशिखा-नाम्) राजयः (=पङ्क्तयः) येषु ते तथोक्ताः, इव, तरवः=वृक्षाः, लक्ष्यन्ते=अवलोक्यन्ते। अत्र 'इव' शब्दः क्रियोत्प्रेक्षायाम्। बलिकर्मेत्यादिः=बलिकर्मार्थम् (=देवपूजार्थम्) कुसुमानि= पुष्पाणि, उद्धरन्त्याः=अवचयं कुर्वन्त्याः, सीतायाः=जनकनन्दिन्याः करतलात्=हस्ततलात्, लताकिसलयेषु=व्रतति-पल्लवेषु, सङ्क्रान्तः=कृतसंक्रमणः, लग्न इत्यर्थः, इव, सन्, रागः= लौहित्यम्, स्फुरति=स्फूर्तिमान् भवति, शोभते इति भावः। अत्रापि 'इव' शब्द उत्प्रेक्षायाम्।

और जिस आश्रम में पञ्चवटी में [अपने पिता] 'दशरथ' की आज्ञा का पालन करते हुए, [अयोध्या के] राज्य को छोड़ देने वाले, दशमुख (रावण) की राज्यलक्ष्मी के विलास को समाप्त कर देने वाले (रावण के राज्य को समाप्त कर देने वाले), लक्ष्मण द्वारा बनाई गई सुन्दर कुटिया वाले 'राम' ने महामुनि 'अगस्त्य' की सेवा करते हुए सीता के साथ कुछ दिनों तक आनन्द-सहित निवास किया था। बहुत अधिक समय से [ऋषियों से] सूने (रहित) भी जिस आश्रम में आज भी वृक्षों की शाखाओं में लीन (शान्त बैठे हुए) अत्यधिक श्वेतवर्ण के कबू-तरों की पंक्तियों वाले वृक्ष ऐसे लगते हैं मानों उनमें तपस्वियों के अग्निहोत्रों की स्वच्छ धुए की पंक्तियाँ लगीं हो। [कबूतर श्वेत होते है। दैनिक पवित्र अग्निहोत्र का धुआँ भी ऊपर पहुँचने पर उसी प्रकार श्वेत सा हो जाता है।] जहाँ लताओं के कोमल पत्तों पर लालिमा ऐसी प्रतीत

१. रामो। २. अतिचिर। ३. अमल—इति कुत्रचित् न पाठः।

जलनिधि-जलमिव मुनिना निखिलमाश्रमोपान्तवर्त्तिषु विभक्तं महाह्रदेषु। यत्र च[1] दशरथ-सुत-निशित[2]शरनिकर-निपात-निहत-रजनीचर-बल-बहल[3]-रुधिर-सिक्त[4]-मूलमद्यापि तद्रागाविद्ध[5]-निर्गतपलाशमिवाभाति नवकिसलय[6]मरण्यम् । अधुनापि यत्र जलधरसमये गम्भीर[7]मभिनव-जलधर-निवह[8]-निनादमाकर्ण्य भगवतो रामस्य त्रिभुवन-विवर-व्यापिनश्चा

यत्र चेति। यत्र=यस्मिन् आश्रमे, मुनिना=अगस्त्येन, निखिलम्=सकलम्, पीतोद्गीर्णेत्यादिः=पीतम् (=पूर्वं चुलुकीकृतम्) पश्चाद् उद्गीर्णम् (=वान्तम्) च, जलनिधेः (=समुद्रस्य) जलम् (=सलिलम्), आश्रमोपान्तवर्तिषु=आश्रमस्य (=अगस्त्यनिवासस्थानस्य), उपान्तवर्तिषु=मध्यभागस्थितेषु, महाह्रदेषु=विशालतडागेषु, विभक्तम् इव=विभज्य निहितम् इव। अत्र 'इव' शब्द उत्प्रेक्षायाम्।

यत्र चेति। यत्र=यस्मिन् आश्रमे, च, दशरथेत्यादिः=दशरथसुतयोः (=दशरथपुत्रयोः रामलक्ष्मणयोः) निशिताः (=तीक्ष्णाः) ये शराः (=वाणाः) तेषां यो निकरः (=समूहः) तस्य निपातेन (=प्रहारेण) निहताः (=घातिताः) ये रजनीचराः (=निशाचराः राक्षसाः), तेषां यद्बलम् (=सैन्यम्), तस्य बहलम् (=अत्यधिकम्) रुधिरम् (=रक्तम्), तेन सिक्तम् (=कृतसेकम्) मूलम् (=अधोदेशः) यस्य तत्, नवकिसलयम्=नवानि (=नूतनानि) किसलयानि (=पल्लवाः) यस्मिन् तत्, ताद्दशम्, अरण्यम्=वनम्, अद्यापि=अधुनापि, तद्रागेत्यादिः—तस्य (=रुधिरस्य) यो रागः (=लौहित्यम्) तेन आविद्धानि (=युक्तानि) सन्ति, निर्गतानि (=उद्भूतानि, निःसृतानि) पलाशानि (=पत्राणि) यत्र तत् ताद्दशम्, इव आभाति=शोभते। अत्रापि 'इव' शब्दः क्रियोत्प्रेक्षायाम्।

अधुनापीति। अधुनापि=इदानीमपि, यत्र=यस्मिन् आश्रमे, जलधर—समये=जलधराणाम् (=वारिदानाम्) समये (=काले) वर्षर्तौ मेघगर्जनावसरे इत्यर्थः, गम्भीरम्=गभीरम्, अभिनव-जलधर-निवह-निनादम्=अभिनवाः (=नूतनाः जलपूर्णा इत्यर्थः) ये जलधराः(=वारिदाः) तेषां निवहस्य (=समूहस्य) निनादम् (=गर्जनम्) आकर्ण्य=श्रुत्वा, भगवतः=ऐश्वर्यवतः पूज्यस्य, रामस्य=रामचन्द्रस्य, त्रिभुवनविवरव्यापिनः=त्रिभुवनम् (=विष्टपम्) तस्य विवराणि (=छिद्राणि) व्याप्नोत्येवं शीलः तस्य चापघोषस्य=धनुःशब्दस्य, स्मरन्तः=स्मरणं कुर्वन्तः ["कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव" इति वचनमनुसृत्य सम्बन्ध-

होती है मानों बलिकर्म (पूजनादि) के फूलों को तोड़ती हुई सीता के करतल से निकल कर उनमें संक्रान्त (लग गई) हो। और जहाँ महर्षि अगस्त्य द्वारा पहले पीने के बाद उगला गया सारे समुद्र का पानी आश्रम के समीपवर्ती बड़े बड़े तालाबों में बांट दिया गया हो। जहाँ नवीन पल्लवों वाला अरण्य दशरथ के पुत्र राम के तीखे बाणों के समूह के लगने (प्रहार) से मारे गये राक्षसों की सेना के अत्यधिक रुधिर से सींचो गयी जड़ों वाला [था, अतएव] आज भी उस रुधिर की लालिमा से संसक्त होकर निकले हुए [लाल-लाल] पत्तों वाला प्रतीत हो रहा है। जहाँ आज भी बादलों के समय (वर्षा के दिनों) में नये-नये बादलों के समुदाय का गंभीर गर्जन

१. 'च' इति कुत्रचित्पठ्यते । २. 'निशित' इत्यपि न क्वचित्। ३. बहुल। ४. रक्त। ५, तद्रागानुविद्ध । ६. किशलयम्। ७. गंभीररवम्। ८. 'निवह' इति क्वचिन्न पठ्यते।

पघोषस्य स्मरन्तो न गृह्णन्ति शष्प-कवलमजस्रमश्रु-जल-लुलित-दृष्टयो वीक्ष्य शून्या दश दिशो जराजर्ज्जरित-विषाणकोटयो जानकीसंवर्द्धिता जीर्णमृगाः। यस्मिन्ननवरत-मृगया-निहत शेष-वनहरिण-प्रोत्साहित इव कृतसीताविप्रलम्भः कनकमृगो राघवमतिदूरं जहार। यत्र मैथिलीवियोगदुःखदुःखितौ रावण-विनाश-सूचकौ चन्द्रसूर्य्याविव कबन्धग्रस्तौ समं

विवक्षायां कर्मण्यपि षष्ठीति बोध्यम्।] अजस्रम् (=निरन्तरम्), अश्रुजललुलितदृष्टयः= अश्रुजलेन (= तद्वियोगोत्पन्ननेत्रजलेन) लुलिताः (=विह्वलीभूताः, कातरा इत्यर्थः) दृष्टयः (=नेत्राणि) येषां ते तथोक्ताः, तथा जराजर्ज्जरित-विषाणकोटयः=जरया (=वार्धक्येन) जर्जरिताः (=जीर्णतामुपगताः) विषाणानाम् (=शृङ्गाणाम्) कोटयः (=अग्रभागाः) येषां ते तथोक्ताः, जानकीसंवर्द्धिताः=सीता-परिपालिताः, जीर्णमृगाः=वृद्धहरिणाः, दश=दशसंख्याकाः दिशः=आशाः, शून्याः=सीतारामादि-रहिताः, वीक्ष्य=विलोक्य, शष्पकवलम्=शष्पम् (= बालतृणम्) तस्य कवलम् (=ग्रासम्) न=नैव, गृह्णन्ति=आददते। विरहव्याकुलतया भोजनमपि न तेभ्यो रोचते इति भावः।

यस्मिन्निति। यस्मिन्=यत्र वने, अनवरतेत्यादिः=अनवरतम् (=निरन्तरं यथा स्यात् तथा) या मृगया (=आखेटः) तस्यां निहताः (=व्यापादिताः) तेभ्यः शेषाः (=अवशिष्टाः) ये वनहरिणाः (=आरण्यमृगाः) तैः प्रोत्साहितः (=उत्साहं प्रापितः), इव, कृतसीता-विप्रलम्भः =कृतः (=विहितः) सीतायाः (=जानक्याः) विप्रलम्भः (=विप्रतारणम्) येन स तादृशः, कनकमृगः (=मिथ्यास्वर्णहरिणः) राघवम्=रामम्, अतिदूरम्=बहुविप्रकृष्टम्, जहार= निनाय। अत्र 'इव' शब्द उत्प्रेक्षायाम्।

यत्रेति। यत्र=यस्यां पञ्चवट्याम्, मैथिलीत्यादिः=मैथिल्याः (=सीतायाः) यो वियोगः (=हरणजनितविरहः) तेन यद्दुखम् (=कष्टम्) तेन दुःखितौ (=दुःखयुक्तौ) रावणविनाश-सूचकौ=रावणस्य (=लंकाधिपतेः) यो विनाशः (=मरणम्) तस्य सूचकौ (= ज्ञापकौ), कम्बन्धग्रस्तौ = कम्बन्धेन = राहुणा, पक्षे—राहुतुल्यराक्षसेन, ग्रस्तौ = कवलितौ, पक्षे-गृहीतौ, चन्द्रसूर्यौ = निशाकरदिवाकरौ, इव = यथा, रामलक्ष्मणौ = दशरथापत्यौ, समम्=युगपत्, एककालम्, यद्वा सहचरितौ रामलक्ष्मणौ, महत् = अत्यधिकम्, त्रिभुवनभयम् = त्रैलोक्यभीतिमः, चक्रतुः = कृतवन्तौ। अत्र 'इव' शब्द उपमायाम्।

सुनकर भगवान राम के तीनों लोकों के छिद्र (स्थान) को व्याप्त कर देने वाले धनुष की आवाज को याद करते हुए, बुढ़ापे के कारण सींगों के जीर्ण अग्रभाग वाले, दशों दिशाओं को (सभी ओर) शून्य देखकर निरन्तर बहते हुये आँसुओं से व्याकुल [अवरुद्ध] नेत्रों वाले, जानकी द्वारा पाले गये बूढ़े मृग घास के कवल (ग्रास) ग्रहण नहीं कर रहे हैं। जहाँ निरन्तर शिकार करने से (राम द्वारा) मारे गये से बचे हुए जंगली हरिणों के द्वारा मानो प्रोत्साहित किया गया, (अतएव) सीता को धोखा देने वाला स्वर्ण मृग रामचंद्र को बहुत दूर तक ले गया था। और जहाँ, सीता के वियोग के दुःख से दुःखी और रावण के विनाश की सूचना देने वाले, चंद्र और सूर्य के समान, कवन्ध (१. राहु २. राम को ग्रसित करने वाला एक राक्षस) द्वारा ग्रस्त राम और लक्ष्मण ने तीनों लोकों के लिये एक साथ बहुत अधिक भय उत्पन्न कर दिया था। और जहाँ दशरथ-पुत्र राम के बाणों से

१. सम्यक् शष्प। २. लुलितदीनदृष्टयो। ३. निःशेष, अशेष।
४. प्रोत्सारित। ५. दशवदन।

रामलक्ष्मणौ त्रिभुवनभयं महच्चक्रतुः[1]। अत्यायतश्च यस्मिन् दशरथसुत बाण[2]-निपातितो योजनबाहोर्बाहुरगस्त्य-प्रसादनागत[3]नहुषाजगर-कायशङ्कामकरो[4]दृषिजनस्य। जनकतनया[5] च भर्त्रा विरहविनोदनार्थ[6]मुटजाभ्यन्तर[7]लिखिता यत्र रामनिवासदर्शनोत्सुका पुनरिव धरणीतलादुल्लसन्ती[8] वनचरैरद्याप्यालोक्यते[9]।

तस्य[10] च सम्प्रत्यपि प्रकटोपलक्ष्यमाण-पूर्ववृत्तान्तस्यागस्त्याश्रमस्य नातिदूरे जल-

---

यस्मिन्निति। यस्मिन् = वने, दशरथेत्यादिः=दशरथसुतस्य (=रामस्य) वाणेन (=शरेण) निपातितः (= भूमि प्रपातितः, कर्तयित्वा शरीरात् पृथक् कृत इति भावः), अत्यायतः=अति-विशालः, च, योजनबाहोः = क्रोशचतुष्टय-विशालभुजस्य दनुकम्बन्धनामकस्य राक्षसस्य, बाहुः= छिन्नः भुजः, ऋषिजनस्य = मुनिलोकस्य, अगस्त्येत्यादिः = अगस्त्यस्य (= कलसोद्भवस्य) प्रसादनाय (= प्रसन्नतार्थम्, 'पूर्व' प्रदत्तशापस्य प्रशमार्थमिति भावः) आगतः (= सम्प्राप्तः) यो नहुषाजगरः (= अजगररूपधारी नहुषाख्यो नृपः) तस्य कायशङ्काम् (= शरीरसन्देहम्) अकरोत्=अजनयत्। अत्र भ्रान्तिमानलङ्कार इति बोध्यम्।

जनकेति। यत्र=यस्मिन् वने, भर्त्रा = पत्या, रामचन्द्रेणेति भावः, विरहविनोदार्थम्=सीता-वियोगदूरीकरणार्थम्, उटजाभ्यन्तर-लिखिता = उटजस्य (= पर्णशालायाः) आभ्यन्तरे (= मध्ये) लिखिता (= निर्मिता, चित्रीकृता) सती जनकतनया = जनकपुत्री सीता, रामनिवासदर्शनोत्सुका =रामस्य (= स्वपत्युः) निवासस्य (= अवस्थानभूमेः) दर्शनाय (=विलोकनाय) उत्सुका (=उत्कण्ठिता), सती, पुनः=भूयः, धरणीतलात्=पातालात्, उल्लसन्ती, इव=देदीप्यमाना, निष्क्रामन्ती, इव, वनचरैः=किरातादिभिः, अद्यापि=अधुनापि, आलोक्यते=दृश्यते। अत्र 'इव' शब्द उत्प्रेक्षायाम्।

पुनरपि आश्रमं विशिनष्टि—तस्येति। तस्य=पूर्वोक्तस्य च, सम्प्रत्यपि=अधुनापि; प्रकटेत्यादिः—प्रकटम् (=स्पष्टम्), उपलक्ष्यमाणः (=ज्ञायमानः) पूर्ववृत्तान्तः (=प्राक्तनोदन्तः) यस्य तादृशस्य, अगस्त्याश्रमस्य=अगस्त्यनिवासस्थलस्य, नातिदूरे=समीपे एव, "पम्पाभिधानं पद्मसरः" इत्य-ग्रिमपदैः सम्बन्धः। अत्र प्रथमान्तानि पदानि 'पद्म सरसः' विशेषणानीति बोध्यम्। जलनिधी-

---

(काटकर) गिराई गई योजनबाहु की अत्यन्त लम्बी भुजा ने ऋषियों के मन में यह शंका उत्पन्न करा दी थी कि महर्षि अगस्त्य को प्रसन्न करने के लिए आये हुए अजगर रूपधारी नहुष का शरीर हो। [योजनबाहु एक राक्षस था जिसकी भुजाएं एक योजन लम्बी थी, उसे दनु कबन्ध कहा जाता था। राम ने उसकी भुजा काट डाली थी।] और जहाँ सीता के वियोग के दुःख को दूर करने के लिए राम द्वारा कुटिया के भीतर बनाई गई सीता की मूर्ति आज भी वनचरों द्वारा ऐसी देखी जा रही है, मानों राम का निवास-स्थान देखने के लिए उत्कण्ठित होकर सीता पुनः पृथ्वीतल से निकल रही हों।

और जिसके पूर्वकालिक वृत्तान्त (घटनायें) इस समय भी स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं, ऐसे उस महर्षि अगस्त्य के आश्रम से कुछ ही दूर पर 'पम्पा' नामक एक पद्मसर (कमलों

---

१. अतिमहच्चक्रतुः। २. शर। ३. प्रसादेनागत। ४. चकार। ५. तनया च। ६. विनोदार्थम्। ७. अभ्यन्तरे। ८. तलादुल्लसन्तीव। ९. उपलक्ष्यते। १०. चैवंविधस्य।

निधिपान[1]प्रकुपित-वरुणप्रोत्साहितेन अगस्त्यमत्सरात्तदाश्रमसमीपवर्त्यपर इव वेधसा जलनिधि[2]रुत्पादितः, प्रलयकाल-विघट्टिताष्ट[3]-दिग्विभाग-सन्धिबन्धं[4] गगनतलमिव भुवि निपतितम्, आदिवराहसमुद्धृत-धरामण्डल-स्थानमिव जलपूरितम्[5], अनवरत-मज्जदुन्मद-शबरकामिनी-कुचकलशलुलित-जलम्, उत्फुल्ल-कुमुद-कुवलय-कह्लारम्, उन्निद्रारविन्द-

---

त्यादिः=जलनिधेः (=सागरस्य) यत् पानम् (=चुलुकीकरणम्) तेन प्रकुपितः (=क्रोधं प्रापितः) यो वरुणः (=जलाधिपतिः) तेन प्रोत्साहितेन (=दत्तोत्साहेन) तथोक्तेन वेधसा=प्रजापतिना, अगस्त्य-मत्सरात्=अगस्त्यविद्वेषात्, तदाश्रमसमीपवर्ती=अगस्त्याश्रम-निकटस्थ एव, अपरः=अन्यः, जलनिधिः, इव=समुद्रः, इव, उत्पादितः=निर्मितः। अत्र इव शब्दो द्रव्योत्प्रेक्षावाची। प्रलयेत्यादिः—प्रलयकाले (=कल्पान्तावसरे), विघटिताः (=विस्खलिताः), येऽष्टानाम्, दिशाम् (=ककुभाम्) विभागाः (=प्रदेशाः) तेषां सन्धि बन्धाः (=सन्धि बन्धनानि) यस्मिन् एवंभूतम्, अतः, भुवि=पृथिव्याम्, निपतितम्=समापतितम्, गगनतलम्=नभस्तलम्, इव। अत्रापि उत्प्रेक्षा बोध्या। जलनैर्मल्यसादृश्यात्तदुपमानमित्यपरे। आदिवराहेत्यादिः—आदिवराहेण (=विष्णोस्तृतीयावतारेण) समुद्धृतम् (=सम्यग्रूपेण जलाद् बहिरानीतम्), यत् धरामण्डलम् (=भूमण्डलम्) तस्य स्थानम् (=अवकाशः) इव, जलपूरितम्=सलिलपरिपूर्णम्। अत्र पूरितमिवेत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा स्थानमिवेत्यन्वये उपमा बोध्या।

अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (=सततम्) मज्जन्त्यः (=अवगाहमानाः, स्नानं कुर्वन्त्यः) याः उन्मदाः (=यौवनगर्वोन्मताः), शबरकामिन्यः (=भिल्लानां रमण्यः) तासां कुचकलशैः (=स्तनकुम्भैः) लुलितम् (=समालोडितम्) जलम् (=पानीयम्) यस्मिन् तत् तथोक्तम्। कुचाः कलसा इवेत्यर्थे उपमा, कुचा एव कलसा इत्यर्थे रूपकमिति सन्देहसङ्करः।

उत्फुल्लेत्यादि। उत्फुल्लानि (=विकसितानि) कुमुदानि (=श्वेतकमलानि), कुवलयानि (=नीलकमलानि), कह्लाराणि (=सौगन्धिकानि) यस्मिन् तत् तथोक्तम्। "सिते कुमुदकैरवे।" [अमरः १।१०।३७] "स्यादुत्पलं कुवलयमथ नीलाम्बुजन्म च।" [अमरः १।१०।३७] "सौगन्धिकं तु कह्लारम्।" [अमरः १।१०।३६] उन्निद्रेत्यादिः—उन्निद्राणि (=विकसितानि) यानि अरविन्दानि (=कमलानि), तेषां ये मधुविन्दवः (=मकरन्दविन्दवः) तेषां

वाला तालाब) है, जो समुद्र को पी लेने के कारण क्रुद्ध हुए वरुण द्वारा प्रोत्साहित (उकसाये गये) ब्रह्मा द्वारा अगस्त्य के प्रति ईर्ष्या के कारण उनके आश्रम के समीप ही बनाया गया मानों दूसरा समुद्र है, जो प्रलयकाल में टूटे हुए आठ दिशाओं के विभागों के सन्धिबन्धन (जोड़) वाला, धरातल पर गिरा हुआ मानों गगनतल है; जो [विष्णु के अवतारी] आदि वराह द्वारा उठाये गये (दाढ़ से खोद कर बाहर निकाले गये) पृथ्वी-मण्डल का [उस समय खाली हुआ और इस समय] जल से भरा हुआ मानों स्थान हैं, जिसका जल सदैव स्नान करने वाली (डुबकियाँ लगाने वाली) मदयुक्त शबर-स्त्रियों के स्तनरूपी कलसों से आलोडित (क्षुब्ध) होता रहता है; जो खिले हुए कुमुद (सफेद कमल), कुवलय (नील कमल) और सुगन्धयुक्त कह्लारों (कमल

---

१. पानकुपितवरुणोत्साहितेन। २. महाजलनिधिः। ३. विघटिताष्ट। ४. बन्धनम्। ५. सलिलपूरितम्।

मधुबिन्दुनिष्यन्दबद्धचन्द्रकम्[1], अलिकुलपटलान्धकारितसौगन्धिकम्, सारसित[2]-समद-सारसम्, अम्बुरुह-मधुपान-मत्त-कल-हंसकामिनीकृत-कोलाहलम्, अनेक-जलचर-पतङ्ग[3]शत-सञ्चलन[4]चलित-वाचाल-वीचिमालम्, अनिलोल्लासित[5]कल्लोल-शिखर-शीकरा[6]रब्ध-दुर्दिनम्, अशङ्कितावतीर्णाभिरम्भः[7] क्रीडारागिणीभिः स्नानसमये वनदेवताभिः केश-

निष्यन्दैः (=द्रवैः) बद्धाः (विहिताः) चन्द्रकाः (=मयूरपिच्छचन्द्राकाराः) यस्मिन् तद् तथोक्तम्। अलिकुलेत्यादिः—अलीनाम् (=भ्रमराणाम्) यानि कुलानि (=वृन्दानि) तेषां पटलेन (=समूहेन) अन्धकारितानि (=सञ्जातान्धकाराणि) कह्लाराणि (=सौगन्धिकानि) यस्मिन् तद् तथोक्तम्। सारसितेत्यादिः—सारसितेन (=शब्दितेन) सह वर्तमाना अतएव समदाः (=मदोन्मत्ताः) सारसाः (=पुष्कराह्वाः जलीयपक्षिविशेषाः) यस्मिन् तद् तथोक्तम्। "पुष्कराह्वस्तु सारसः।" [अमरः २।५।२२] अम्बुरुहेत्यादि—अम्बुरुहाणाम् (=जलजानाम्) यत् मधु (=पुष्परसः) तस्य पानेन (=आस्वादेन) मत्ताः (=मदोन्मत्ताः) याः कलहंसानाम् (=कादम्बानाम्) कामिन्यः (=स्त्रियः, वरटा इत्यर्थः) ताभिः कृतः (=विहितः) कोलाहलः (=कलकलध्वनिः) यस्मिन् तद् तथोक्तम्। "कादम्बः कलहंसः स्यात्।" [अमरः २।५।२३] "हंसस्य योषिद् वरटा। [अमरः २।५।२५] अनेकेत्यादिः। अनेके (=बहवः) ये जलचराः (=सलिलसञ्चारिणः नक्रझषादयः) पतङ्गाः (=पक्षिणः) तेषां यत् शतम् (=शत-संख्याधिकम्) तस्य यत् सञ्चलनम् (=इतस्ततः गमनं स्फुरणमित्यर्थः) तेन चलिताः (=क्षोभमुपगताः) अतएव वाचालाः (=मुखराः) वीचयः (=लहर्यः) तासां मालाः (=पङ्क्तयः) यस्मिन् तद् तथोक्तम्।

अनिलेत्यादिः। अनिलेन (=वायुना) उल्लासिताः (=उत्थापिताः) ये कल्लोलाः (=ऊर्ध्वतरङ्गाः) ते एव शिखराणि (=उन्नततया शृङ्गाः) तेषां शीकरैः (=अम्बुकणैः) [शिशिरशीकरैरिति पाठे-शीतलजलकणैरित्यर्थः] आरब्धम् (=विहितम्) दुर्दिनम् (=मेघाच्छन्नदिनम्) यस्मिन् तद् तथोक्तम्। अत्र वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः। ["महत्सूल्लोल-कल्लोलौ....." [अमरः १।१०।६] "शीकरोम्बुकणाः स्मृताः। [अमरः १।३।११] "मेघाच्छन्नेंऽह्नि दुर्दिनम्।" [अमरः १।३।१२]

अशङ्कितेत्यादिः। अशङ्कितम् (=शून्यतया शङ्कारहितम्) यथा स्यात् तथा अवतीर्णाभिः= अन्तः प्रविष्टाभिः, अम्भः-क्रीडारागिणीभिः=जलक्रीडायां मनोरथयुक्ताभिः, वनदेवताभिः=वना-

विशेष) से युक्त है, जो विकसित कमलों के निकलते हुए मधु की बिन्दुओं से बने हुए [मोर-पंख के समान] चन्द्रकों से युक्त है; जो भ्रमरकुल के समूह द्वारा अन्धकारयुक्त किये गये सौगन्धिकों (कमल-विशेषों) से भरा हुआ है; जो आवाज करने वाले=चिल्लाने वाले मदयुक्त सारसों से युक्त है; जो कमलों के मधु को पीने से मत्त हुयी कलहंस की कामिनियों (हंसिनियों) द्वारा किये गये कोलाहल से युक्त है; जो विविध प्रकार के सैकड़ों जलचर पक्षियों (हंस, सारस, बत्तख आदि) के इधर-उधर चलने फिरने से चञ्चल और ध्वनि करने वाली लहरों की मालाओं से युक्त है; हवा द्वारा उठाई गयीं बड़ी-बड़ी लहरों के शिखरों के जलकणों से जिसमें दुर्दिन (मेघाच्छन्न-वर्षा का दिन) आरम्भ हो गया है; जलक्रीडा की अनुरागिनी, विना किसी शंका के अवतीर्ण (जल

१. मधुद्रव, मधुबिन्दुनिष्पन्द, ...मकरन्दबिन्दुबद्ध। २. आरसित। ३. पतत्रि। ४. सञ्चलित। ५. अनिलोल्लसित। ६. कल्लोलशिखरशीकररचित। ७. अन्तः।

पाशकुसुमैः[1] सुरभीकृतम्, एकदेशावतीर्णमुनिजनापूर्य्यमाण-कमण्डलु-कल- जलध्वनि[2]-मनोहरम्, उन्मिषदुत्पलवनमध्यचारिभिः[3] सवर्णतया रसितानुमेयैः कादम्ब-कदम्बकैः[4]रासेवितम्, अभिषेकावतीर्ण-पुलिन्दराज-सुन्दरी[5]-कुच-चन्दनधूलि-धवलित-तरम्[6], उपान्त[7]-केतकी-रजः पटल-बद्ध-कूल-पुलिनम्, आसन्नाश्रमागत-तापसक्षालितार्द्र-वल्कल-कषाय-पाटल-तटजलम्,

धिष्ठातृदेवीभिः, स्नानसमये=मज्जनकाले, केशपाशकुसुमैः=कचसमूहस्थ-पुष्पैः, सुरभीकृतम्=सौगन्ध्यं प्रापितम् ।

एकदेशेत्यादिः । एकदेशे (=कस्मिंश्चित भागे), अवतीर्णाः (=समागताः, कृतावतरणाः) ये मुनिजनाः (=ऋषिलोकाः) तैः आपूर्यमाणानि (=जलेन ध्रियमाणानि) यानि कमण्डलूनि (=जलपात्रविशेषाणि) तेषां कलः (=मनोहारी) यो ध्वनिः (=शब्दः) तेन मनोहरम् (=अभिरामम्) ।

उन्मिषदित्यादिः । उन्मिषन्ति (=विकसन्ति) यानि उत्पलानि (=कमलानि), तेषां यद् वनम्, (=समूहः, विपिनं वा) तस्य मध्ये (=अन्तः) चारिभिः (=संचरणशीलैः) सवर्णतया=सादृश्येन, रसितेन (=शब्देन) अनुमेयैः (=अनुमातुं योग्यैः, न तु पार्थक्येनेति भावः) कादम्बकदम्बकैः=कलहंसानां समूहैः, आसेवितम्=सर्वतः समुपासितम् । "स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम् ।" [अमरः २।५।४०] कादम्बः कलहंसः स्यात् । अमरः २।५।२३]

अभिषेकेत्यादिः । अभिषेकाय (=स्नानाय) अवतीर्णाः (=जलमध्ये प्रविष्टाः) याः पुलिन्दराजस्य (=शबराधिपतेः) सुन्दर्यः (=कामिन्यः) तासां कुचाः (=स्तनाः) तेषु ये चन्दनधूलयः (=मलयजपांशवः तै धवलिततरम् (=अतिशयेन शुभ्रीकृतम्) । 'धवलिततट' मिति पाठे धवलितानि तटानि यस्य तत् तथोक्तमित्यर्थः ।

उपान्तेति । उपान्ते (=सलिलसमीपे) केतकीनाम् (=सूचीपुष्पाणाम्, मालतीनामिति तु न संङ्गतम्) रजः पटलैः (=परागसमूहैः) बद्धम् (=आनद्धम्) कूले (=तटे) पुलिनम् (=सलिलादचिरनिर्गततटम्) यस्मिन् तत् तथोक्तम् । "[तोयोत्थितं तत्पुलिनम्]" अमरः १।१०।९]

आसन्नेति । आसन्नाः (=समीपवर्तिनः) ये आश्रमाः (=तपस्विनिवासाः) तेभ्य आगताः (=आयाताः) ये तापसाः (=तपस्विलोकाः) तैः क्षालितानि (=धौतानि), अतएव आर्द्राणि

प्रविष्ट) वन-देवियों द्वारा स्नान के समय में अपने केशपाश के फूलों से (उनसे निकल कर पानी में गिरे फूलों से) जो सुगन्धित वना दिया गया है; किसी एक भाग में उतरे (जल में स्थित) मुनिजनों द्वारा भरे जाते हुए कमण्डलुओं की मधुर जल की ध्वनि से जो मनोहर है; जो खिलते हुए कमलों के वन के मध्य में घूमने वाले, (सफेदी के कारण कमलों के) समान होने से केवल आवाज से पहचाने जाने वाले कादम्बों (कलहंसों) के समूह द्वारा उपसेवित है; स्नान करने के लिये उतरी हुई (जल में प्रविष्ट) शबरराज की स्त्रियों के स्तनों के चन्दनों से जो धवलित (श्वेत की गई) तरङ्गों से युक्त है; जो समीप में उगे हुए केतकी (केवड़ा) के फूलों के परागसमूह से रेतीले बांध से युक्त है; समीपवर्ती आश्रमों से आए हुए तपस्वियों से द्वारा [उसके जल में]

१. पाश—इदं क्वचिन्न । २. कलध्वनि । ३. उन्मिषित० । ४. कादम्बैः । ५. शबरी । ६. धवलितरंगम् । ७. जात—इत्यपि पाठः कुत्रचित् ।

उपतट-विटपि-पल्लवानिल-वीजितम्[1], अविरल-तमाल-वीथ्यन्धकारिताभिर्वालिनिर्वासितेन[2] संचरता प्रतिदिनमृष्यमूकवासिना सुग्रीवेणावलुप्त-फल-लघु-लताभिः[3], उदवासितापसानां देवतार्च्चनोपयुक्त-कुसुमाभिरुत्पतज्जलचर-पक्षपुट-विगलित-जलबिन्दुसेकसुकुमार-किंसल-[4]

(= क्लिन्नानि) यानि वल्कलानि (= परिधेय-तरुत्वचः) तैः कषायम् (= तुवरम्) पाटलम् (= श्वेतरक्तम्) तटजलम् (= तीरसलिलम्) यस्य तद् तथोक्तम् । ["त्वक् स्त्री वल्कं वल्कलमस्त्रियाम् ।" अमरः २।४।१२ "तुवरस्तु कषायोऽस्त्री । अमर २।५।९ श्वेतरक्तस्तु पाटलः । [अमरः १।५।१५]

उपतटेति । उपतटम् (= तटस्य समीपे) ये विटपिनः (=वृक्षाः) तेषां ये पल्लवाः (= किसलयानि) तैः कृतो योऽनिलः (= वायुः) तेन वीजितम् (=कृत-व्यजनम्, व्यजनवात इवाचरितम्) ।

अविरलेत्यादिः । अग्रे वक्ष्यमाणस्य "वनराजिभि" रित्यस्य विशेषणानि निरूपयति—अविरलेति । अविरला (= सान्द्रा) या तमालवीथी (=तापिच्छपङ्क्तिः) तया अन्धकारिताभिः (= कृतान्धकाराभिः, तिमिरिताभिरिति भावः) ["कालस्कन्धस्तमालः स्यात् तापिच्छोऽपि ।" अमरः]

वालिना=स्वज्येष्ठभ्रात्रा, निर्वासितेन=राज्याद् बहिष्कृतेन, प्रतिदिनम्=प्रतिदिवसम्, सञ्चरता=विचरता, ऋष्यमूकवासिना=ऋष्यमूकपर्वतनिवशनशीलेन, सुग्रीवेण=तन्नाम्ना वाल्यनुजेन, अवलुप्तानि (=दूरीकृतानि, गृहीतानीति भावः) फलानि याभ्यः अतएव लघ्व्यः (=फलभारशून्याः) लताः (=व्रततयः) यासु ताः, तादृशीभिः ।

उदवासिनः (=उदके निवसनशीलाः) ये तापसाः (=तपस्विनः) तेषाम्, देवतार्चनेषु (=देवपूजनेषु) उपयुक्तानि (=सोपयोगानि) कुसुमानि (=पुष्पाणि) यासु ताः तादृशीभिः ।

उत्पतन्तः (=जलाद्बहिर्गच्छन्तः) ये जलचराः (=जलजन्तवः, सारसकलहंसादयः) [नक्रादयः इति तु नोचितम् तेषां पक्षाद्यभावात् ।] पतङ्गाः (=पक्षिणः) तेषां पक्षपुटेभ्यः (=पतत्रयुगलेभ्यः) विगलिताः (=पतिताः, स्रस्ताः) ये जलबिन्दवः (=सलिलकणाः) तेषां सेकेन (=सिञ्चनेन) सुकुमाराणि (=सुकोमलानि किसलयानि) यासां ताः ताभिः । लतेत्यादिः

धोने के कारण गीले बल्कलों से [गिरते रंगीन पानी से] जिसके किनारों का पानी कसैला और पाटल (लाल सफेद मिले हुए) रंग वाला हो गया है । जो किनारे लगे हुए वृक्षों के पत्तों की हवा से किये गये पंखों वाला है; जो (पद्मसर) ऐसी वन-पंक्तियों द्वारा घिरे हुए तटों वाला है जो (वन-पंक्तियाँ) घने तमालवृक्षों की पंक्तियों के द्वारा किये गये अन्धकार से युक्त हैं, जो (वनपंक्तियाँ) बाली द्वारा [राज्य से] निष्कासित, प्रतिदिन इधर-उधर घूमने वाले ऋष्यमूक पर्वत पर रहने वाले सुग्रीव द्वारा तोड़े गये फलों के कारण [फलभार-रहित] हलकी लताओं से युक्त हैं; जो जल में निवास, करने वाले (खड़े होकर पूजा करने वाले) तपस्वियों की पूजा में उपयोगी फूलों से युक्त हैं; जो [पानी से ऊपर] उड़ते हुए जलचर पक्षियों के पंखों से गिरे हुए पानी की बूंदों के द्वारा सींचे जाने के कारण सुकोमल पल्लवों से युक्त है; जो लतामण्डपों के

१. वृक्षपल्लवपुटानिल । २. वीथिका० । ३. परिलघु० ।
४. पतङ्ग—इत्यधिकः पाठः क्वचित् ।

याभिः लतामण्डपतल[1]-शिखण्डि-मण्डलारब्ध-ताण्डवाभिः अनेककुसुम-परिमलवाहिनी-भिर्वनदेवताभिः[2] स्वश्वासवासिताभिरिव वनराजिभिरुपरुद्धतीरम्[3], अपरसागरशङ्किभिः सलिलमादातुमवतीर्णैर्जलधरैरिव बहल-पङ्क-मलिनैर्वनकरिभिरनवरतापीयमानसलिलम्[4], अगाधमनन्तमप्रतिमम्[5] अपां निधानं पम्पाभिधानं पद्मसरः ।

यत्र च[6] विकच-कुवलय-प्रभा-श्यामायमान-पक्षपुटान्यद्यापि मूर्त्तिमद्रामशापग्रस्ता-

---

—लतानाम् (=व्रततीनाम्) ये मण्डपाः (=समाच्छादितभागाः) तेषां तलेषु (=अधोदेशेषु) शिखण्डिमण्डलेन (=मयूरसमूहेन) आरब्धम् (=उत्पादितम्) ताण्डवम् (=नृत्यम्) यासु, ताः तादृशीभिः । अत्र ताण्डवशब्दो नृत्यसामान्ये बोध्यः । ["ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च नर्तनम् ।" [अमरः १।७।१०]

अनेकेति । अनेकानि (=विविधानि) यानि कुसुमानि (=पुष्पाणि) तेषां यः परिमलः (=गन्धः) तं वहन्ति (=नयन्ति) तच्छीलाः तादृशीभिः, अतएव, वनदेवताभिः=वनाधिष्ठातृ-देवीभिः, स्वश्वासवासिताभिः=निजश्वासवायुना सुगन्धीकृताभिरिव विद्यमानाभिः, वनराजिभिः= काननसमूहैः, उपरुद्धतीरम्=व्याप्ततटम् (उपरुद्धानि=व्याप्तानि, तीराणि=तटानि यस्य तादृशम्) । अत्र 'वासिताभिरिवे' त्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

अपरेति । अपरः (=अन्यः) यः सागरः (=जलनिधिः) तं शङ्कन्ते (=सन्दिहते) तच्छीलैः, अतएव, सलिलम्=जलम्, आदातुम्=ग्रहीतुम्, अवतीर्णैः=गगनादधः समागतैः, जलधरैः=मेघैः, इव, बहलः = शरीरलग्नः अत्यधिकः यः कर्दमः = पङ्कः, तेन मलिनैः = श्यामीभूतैः, वनकरिभिः= आरण्यकहस्तिभिः, अनवरतम् (= निरन्तरम्) पीयमानम् (= पानविषयीक्रियमाणम् धीयमानम्) सलिलम् (= जलम्) यस्य तत् तादृशम् ।

अगाधेति । अगाधम् = अलब्धतलम् अनन्तम् = अन्तशून्यमपरिमितमित्यर्थः, अपां निधानम् =जलानां शेवधिभूतम्, पम्पाभिधानम् = 'पम्पा' इति अभिधानम् (= नामधेयम्) यस्य तत् तादृशम्, पद्मसरः = कमलानां सरः, पद्मप्रचुरं सर इति मध्यमपदलोपी समासः । अस्तीति शेषः

यत्र चेति । यत्र = यस्मिन् पम्पासरसि । मध्यचारिणाम् = पम्पसरोवरान्तर्भ्रमणशीलानाम्, चक्रवाकनाम्नाम् = रथाङ्ग-संज्ञकानाम्, पक्षिणाम् = पतत्रिणाम्, विकचेत्यादिः—विकचानि (=

नीचे मयूर-समूह द्वारा आरम्भ किये गये नृत्य (ताण्डव) से युक्त हैं, जो विविध फूलों की सुगन्ध का वहन करने वाली (साथ में लेकर उड़ने वाली) [इस कारण] मानों वन देवियों द्वारा अपनी सांसों से सुगन्धित हैं; [ऐसी वनपक्तियों से जिस पम्पासर के तट घिरे हुए हैं ।] जो [सरोवर] अत्यधिक कीचड़ से लिप्त शरीर वाले हाथियों द्वारा निरन्तर पिये जाते हुये पानी वाला है, जो [हाथी] मानों दूसरे समुद्र की शंका [भ्रम] से पानी लेने के लिए उसमें नीचे उतरे हुए बादल हैं । जो अगाध है, अनन्त है, अनुपम है, जो जल का निधान [निधि] है । [ऐसा 'पम्पा' नामक कमलों का वन है ।]

जिस पम्पासरोवर में मध्य में घूमने वाले चक्रवाक पक्षियों के जोड़े खिले हुए नीलकमलों

---

१. स्थित-इत्यधिकं क्वचित् । २. वनदेवतानिःश्वास, वनदेवताभिः श्वास । ३. उप-इति पाठः-कुत्रचित् नापि दृश्यते । ४. पीयमान । ५. अप्रतिष्ठम् । ६. च-इति क्वचित् नाप्युपलभ्यते ।

नीव मध्यचारिणामालोक्यन्ते[1] चक्रवाकनाम्नां[2] पक्षिणां मिथुनानि।

तस्यैवंविधस्य[3] सरसः पश्चिमे तीरे राघव-शर-प्रहार-जर्जरित-बालतरु[4]-षण्डस्य च समीपे दिग्गज-करदण्डानुकारिणा जरदजगरेण सततमावेष्टितमूलतया बद्धमहालवाल इव तुङ्ग-स्कन्धावलम्बिभिरनिलवेल्लितैरहिनिर्म्मोकैर्धृतोत्तरीय इव, दिक्चक्रवाल-

---

विकसितानि) यानि कुवलयानि (= नीलकमलानि,) तेषां याः प्रभाः (=कान्तयः) ताभिः श्यामायमानानि (= श्यामवदाचरन्ति अतिसामीप्यात्) पक्षपुटानि (= पत्रपुटानि) येषां तानि, मिथुनानि = द्वन्द्वानि, अद्यापि = अद्युनापि, मूर्तिमद्रामशापग्रस्तानि = मूर्तिमान् (=शरीरधारी, साक्षादित्यर्थः) यो रामस्य (= रामचन्द्रस्य) शापः (= शपनम्) तेन ग्रस्तानि = गृहीतानि, इव आलोक्यन्ते = दृश्यन्ते, तत्रागतैर्लोकैरिति शेषः। अत्र इव शब्दः क्रियोत्प्रेक्षायाम्।

तस्यैवमिति। एवंविधस्य = पूर्वोक्तप्रकारस्य, तस्य = पूर्वोक्तस्य, सरसः = पम्पासरसः, पश्चिमे = प्रतीचि, तीरे = तटे, तथा, राघवस्य (= रामचन्द्रस्य) ये शराः (= बाणाः) तेषां प्रहारेण (= आघातेन, वेधेन) जर्जरिताः (=विदारिताः) ये बालतरवः (= ह्रीवेरवृक्षाः, यद् वा बालाश्च ते तरवः [तालतरवः इति पाठे-तालसंज्ञकवृक्षा-इत्यर्थो बोध्यः] तेषां यः षण्डः= समूहः, तस्य, च, समीपे=निकटे, "महान्=अतिविशालः, जीर्णः=प्राचीनः, शाल्मली वृक्षः= रोचनाख्यो वृक्षः—" इत्यग्रिमपदैः सम्बन्धः। अत्र प्रथमान्तानि पदानि 'शाल्मलीवृक्ष' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्। दिग्गजेति। दिक्षु (=अष्टदिशासु) स्थिताः, गजाः (=हस्तिनः ऐरावतादयः) तथा चोक्तम्—

'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः॥ [अमरः १।३।३] तेषां तस्य वा यः करदण्डः (=शुण्डादण्डः) तमनुकर्तुं शीलं यस्य तेन तथोक्तेन दिग्गजशुण्डसदृशविशालेनेति भावः, जरजदगरेण=जरन् (=वृद्धः) योऽजगरः (=वाहसः) तेन ['अजगरे शयुर्वाहस इत्युभौ।" अमरः १।८।५] सततम्=निरन्तरम्, आवेष्टितमूलतया— आवेष्टितम् (=आवृतम्) मूलम् (= अधोदेशः) यस्य स तस्य भावस्तत्ता तया, परिवृताधोदेशत्वेनेत्यर्थः, बद्धमहालवालः=बद्धम् (=विरचितम्) महत् (=विशालम्) आलवालम् (= आवापः) यस्य स तथोक्त, इव। अत्रोत्प्रेक्षावाची 'इव' शब्दः। इदं 'शाल्मली' वृक्ष इत्यस्य

का कान्ति से श्यामवर्ण के होते हुए पङ्खों वाले होकर आज भी मानों राम के मूर्तिमान् शाप से ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं।

—इस प्रकार के उस 'पम्पा' सरोवर के पश्चिमी किनारे पर तथा रामचन्द्र के बाणों के प्रहार से जर्जर किये गये 'ह्रीवेर' [अथवा ताड़ के] वृक्षों के समूह के निकट एक विशाल [और] पुराना 'सेमल' का पेड़ स्थित है [था], जो [पेड़] दिग्गजों के सूंड़ रूपी दण्ड का अनुकरण वाले अर्थात् उसके समान बूढ़े अजगर द्वारा सदैव घिरी हुई जड़वाला होने से मानों बँधे हुए विशाल आलवाल [पानी भरने के लिये बने हुये थाला] से युक्त है; जो ऊँची-ऊँची शाखाओं पर लटकने वाली, हवा से हिलती हुई साँप के केचुलों से मानों उत्तरीय वस्त्र धारण किये हुये है, जो मानों लोकों

---

१. मध्यचारिणलोक्यते। २. चक्रनाम्नां। ३. एवंविधस्य—इति नाप्यस्ति कुत्रचित्। ४. ताल।

परिमाणमिव गृह्णता भुवनान्तरालविप्रकीर्णेन शाखासंचयेन प्रलयकाल-ताण्डव-प्रसारित-भुजसहस्रमुडुपतिशेखरमिव[1] विडम्बयितुमुद्यतः, पुराणतया पतनभयादिव वायुस्कन्ध-[2]लग्नः, निखिलशरीरव्यापिनीभिरतिदूरोन्नताभिर्जीर्णतया शिराभिरिव परिगतो व्रततिभिः, जरा-तिलकबिन्दुभिरिव कण्टकैराचिततनुः,[3] इतस्ततः परिपीतसागरसलिलैर्गगनागतैः,[4] पत्र-

विशेषणम्। तुङ्गस्कन्धावलम्बिभिः=तुङ्गाः (=उन्नताः) ये स्कन्धाः (=प्रकाण्डाः) तान् अव-लम्बन्ते (=आश्रयन्ते) तच्छीलैः अनिलवेल्लितैः (=वायुप्रकम्पितैः,) अहिनिर्मोकैः=(सर्पकञ्चुकैः,) धृतोत्तरीयः=धृतम् (=परिहितम्), उत्तरीयम् (=संव्यानम्) येन स तथोक्त इव। ["संव्यान-मुत्तरीयं च.........। अमरः २।६।११८] अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः।

दिक्चक्रेत्यादिः। दिशाम्=दिशानाम्, यत् चक्रवालम् (=मण्डलम्) तस्य परिमाणम् (=परिमितिम्) गृह्णता (=कुर्वता) इव, भुवनान्तरालविप्रकीर्णेन—भुवनानाम् (=लोका-नाम्) यत् अन्तरालम् (=मध्यभागः) तस्मिन् विप्रकीर्णेन (=इतस्ततः विपर्यस्तेन), शाखा-सञ्चयेन=लतानां सन्दोहेन, [शिखा शाखालताः समाः। अमरः] हेतुना, प्रलयकालेत्यादिः—प्रलयकाले (=कल्पान्तसमये, सृष्टिसंहारावसरे इति भावः) यत् ताण्डवम् (=शिवस्य नृत्य-विशेषः) तस्मिन् प्रसारितम् (=विस्तारितम्, ऊर्ध्वीकृतम्) भुजसहस्रम् (=बाहुसहस्रम्) येन स तादृशम्, उडुपतिशेखरम्=उडुपतिः (=ताराधिपश्चन्द्रः) शेखरे (=मस्तकोपरि) यस्य तं तादृशम् शिवम्, विडम्बयितुम्=अनुकर्तुम्, उद्यतः=कृतप्रयत्नः, इव। अत्र 'गृह्णता इव' 'उद्यत इव' उभयत्राप्युत्प्रेक्षा। 'विडम्बयितुमि' त्यत्रोपमा।

पुराणतयेति। पुराणतया=जीर्णतया, पतनभयाद्=प्रपातभीत्या, इव, वायुस्कन्धलग्नः=वायोः (=पवनस्य) स्कन्धे (=अंसदेशे) लग्नः (=आश्रितः), यथा कश्चिद् वृद्धः पतनभया-दन्यस्य स्कन्धमाश्रयति तथैव शाल्मलीवृक्षोपि वायोः स्कन्धमाश्रयतीति भावः। अतएव समासोक्तिः हेतूत्प्रेक्षा चेति बोध्यम्।

निखिलेति। निखिलम् (=समस्तम्) यत् शरीरम् (=कलेवरम्) तद् व्याप्तुं शीलं यासां तास्तादृशीभिः, अतिदूरोन्नताभिः=अतिविप्रकृष्टोच्चाभिः, जीर्णतया=वार्धक्येन, प्राचीनतया वा शिराभिः=अस्थिबन्धनैः, इव, व्रततीभिः=लताभिः परिगतः=परिवेष्टितः। अत्रोत्प्रेक्षा।

जरातिलकेति। जरायाम् (=वृद्धावस्थायाम्) ये तिलकबिन्दवः (=वार्धक्ये निखिल-शरीरे उत्पद्यमाना श्यामवर्णाश्चिह्नविशेषाः) तैः, इव, कण्टकैः=वृक्षाणां छेदनसमर्थाङ्गैः, आचिततनुः=आचिता (=व्याप्ता) तनुः (=शरीरम्) यस्य स तादृशः।

के मध्य में फैली हुई शाखाओं के समूह द्वारा दिशामण्डल के परिमाण को ग्रहण करता [नापता] हुआ, प्रलयकाल में ताण्डवनृत्य में हजारों भुजायें फैलानेवाले चन्द्रशेखर [शंकर भगवान्] का अनुकरण [बराबरी] करने में तत्पर है, जो मानों पुराना [जीर्ण] होने से गिरने के भय से वायु के कन्धों का सहारा लिए हुये हैं; जो सम्पूर्ण शरीर में लिप्त रहने वाली तथा बहुत ऊँची लताओं द्वारा ऐसा लगता है मानों वृद्धावस्था के कारण लम्बी और ऊँची शिराओं [नसों] से व्याप्त है; जो काटों से युक्त शरीर वाला मानों बुढ़ापे में निकले काले धब्बो [दागों चकत्तों] से युक्त है; समुद्रों का पानी पिये हुए इधर उधर से आकाश से आए हुए शाखाओं में छिपे हुए पक्षियों के समान,

१. उडुपतिशकलशेखरमिव। २. पवनस्कन्ध, गगनस्कन्ध। ३. निजकण्टकैः। ४. जलैः।

रथैरिव शाखान्तरेषु[1] निलीयमानैः क्षणमम्बुभारालसैरार्द्रीकृतपल्लवैर्जलधरपटलैरप्यदृष्टशिखरः[2], तुङ्गतया[3] नन्दनवनश्रियमिवावलोकयितुमभ्युद्यतः, स्वसमीपवर्त्तिनामुपरि[4] संचरतां गगनतल-[5] गमन-खेदायासितानां रविरथतुरङ्गमाणां सृक्कपरिस्रुतैः[6] फेनपटलैः सन्देहित-तूलराशिभिर्धवली-कृतशिखरशाखः, वनगजकपोलकण्डूयन-लग्नमद-निलीन-मत्तमधुकरमालेन लोहशृङ्खलाबन्धन-[7]

इतस्तत इति । परिपीतसागर-सलिलैः—परिपीतम् (= पानविषयीकृतम्) सागराणाम् (= समुद्राणाम्) सलिलम् (= जलम्) यैस्तैः, गगनागतैः—गगनात् (= आकाशात्) आगतैः (=आयातैः), [8]शाखान्तरेषु (=लतानां मध्येषु) निलीनैः (=गुप्ततया स्थितैः) पत्ररथैः = पक्षिभिः, इव = तुल्यैः क्षणम् = किञ्चित्कालम्, अम्बुभारालसैः = जल-भारेणालस्ययुक्तैः, मन्थरैरिति भावः, आर्द्रीकृतपल्लवैः = आर्द्रीकृतानि (=आर्द्रतां प्रापितानि), पल्लवानि (= किसलयानि) यैस्तैः जलधर-पटलैः = जलधराणाम् (= वारिदानाम्) पटलैः (= समूहैः) अपि, अदृष्टशिखरः = अदृष्टम् (= अनवलोकितम्) शिखरम् (= शृङ्गम्, प्रान्तभागः) यस्य स तादृशः ;

तुङ्गतयेति । तुङ्गतया = उच्चतया नन्दनवनश्रियम् = इन्द्रकानन-शोभाम्, अवलोकयितुम् = द्रष्टुम्, अभ्युद्यतः = उद्युक्तः, तत्परः, इव । अत्र क्रियोत्प्रेक्षा । [नन्दनं वनम् । अमरः १।१।४५]

स्वसमीपेति । स्वसमीपवर्तिनाम् = स्वस्य (= निजस्य) समीपे (= निकटे) वर्तन्ते तच्छीलास्तेषाम्, उपरि = ऊर्ध्वम्, संचरताम् = गच्छताम्, गगनेत्यादिः—गगनतले (= नभस्तले) यद् गमनम् (=प्रयाणम्) तेन यः खेदः (= परिश्रमः) तेन आयासितानाम् (= खिन्नानाम्, परिश्रान्तानामित्यर्थः), रविरथतुरङ्गमाणाम् = सूर्यस्यन्दनाश्वानाम्, सृक्कपरिस्रुतैः—सृक्कभ्याम् (= ओष्ठप्रान्ताभ्याम्) परिस्रुतैः (= पतितैः) ["प्रान्तावोष्ठस्य सृक्कणी ।" अमरः २।६।९१] सन्देहिततूलराशिभिः = सन्देहितः (=सन्देहविषयीकृतः) तूलराशिः (=कार्पासकसमूहः) यैः तैस्तादृशैः, फेनपटलैः = मुखाद्वहिर्निर्गतफेनसमूहैः, धवलीकृतशिखरशाखः = धवलीकृताः (= शुभ्रीकृताः) शिखराणाम् (= प्रान्तदेशानाम्), शाखाः (= लताः), यस्य स तादृशः । [समे शाखालते··· । अमरः २।४।१०] अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः ।

वनगजेति । वनगजेत्यादिः—वनगजानाम् (=आरण्यकहस्तिनाम्) कपोलयोः (=गण्ड-स्थलयोः) यत् कण्डूयनम् (=खर्जूनम्) तेन लग्नः (= सक्तः) यो मदः (=दानवारि) तस्मिन् निलीनाः (=संसक्ताः) ये मत्ताः (=क्षीबाः) मधुकराः (= भ्रमराः) तेषां माला (= पङ्क्तयः) यस्मिन् स तेन तादृशेन, अतएव लोहशृङ्खलाबन्धननिश्चलेन—लोहशृङ्खलया (=आयसनिगडेन) यद् बन्धनम् (=नियमनम्) तेन निश्चलेन (=स्थिरेण), इव, कल्पस्थायिना = प्रलयपर्यन्तं विद्यमानेन,

क्षण भर में जल के बोझ से अलसाए हुए, पत्तों को गीला कर देने वाले बादलों के समूह द्वारा भी जिसका शिखर (चोटी) नहीं देखा जा सकता है, अत्यधिक ऊँचाई के कारण जो मानो (इन्द्र के) 'नन्दनवन' की शोभा देखने के लिए तत्पर है; अपने (वृक्ष के) समीप में स्थित, ऊपर चलने वाले, आकाशतल में चलने के परिश्रम से थके हुए सूर्य के रथ के घोड़ों के ओठों के किनारे से निकले हुए फेना के समूहों, जिन्होंने रुई के समूह की शंका उत्पन्न करा दी है, के द्वारा जिस [वृक्ष] की शाखायें सफेद कर दी गई हैं; जो [वृक्ष] जंगली हाथियों द्वारा गण्डस्थलों को खुजलाने से लगे हुए

१. शाखान्तदेशेषु । २. शिखरदेशः । ३. उत्तुङ्गतया । ४. स्व-इति नास्त्यपि क्वचित् ।
५. मम्बरतल । ६. मदसलिल । ७. बन्धनिश्चलेनेव ।
८. समे शाखालते··· । अमरकोषावयं लतावाचकोऽपि ।

निश्चलेनेव कल्पस्थायिना मूलेन समुपेतः, कोटराभ्यन्तरनिविष्टैः स्फुरद्भिः[1] सजीव इव मधुकरपटलैः, दुर्योधन इवोपलक्षित-शकुनिपक्षपातः, नलिननाभ[2] इव वनमालोपगूढः, नवजलधरव्यूह इव नभसि दर्शितोन्नतिः[3], अखिलभुवनतलावलोकनप्रासाद इव वनदेवतानाम्, अधिपतिरिव

मूलेन = बुध्नेन, समुपेतः = संयुक्तः । ["मदो दानम्···" अमरः २।८।३७ । "मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः ।" अमरः २।४।१२]

कोटरेति । कोटराभ्यन्तरनिविष्टैः = कोटरस्य (= निष्कुहस्य), अभ्यन्तरे (= मध्यभागे), निविष्टैः (= निलीनैः, स्थितैरित्यर्थः) ["निष्कुहः कोटरं वा ना·····।" अमर. २।४। ३] स्फुरद्भिः = सञ्चरद्भिः, मधुकरपटलैः = भ्रमरसमूहैः, सजीवः = सप्राणः, जीवित इत्यर्थः, इव । अत्रोत्प्रेक्षा । उपमेत्यन्ये ।

दुर्योधन इति । दुर्योधनः = धृतराष्ट्रस्य ज्येष्ठसुतः, इव = यथा, उपलक्षित-शकुनि-पक्षपातः = उपलक्षितः (= अवलोकितः, लोकैरिति शेषः) शकुनीनाम् (= पक्षिणाम्) पक्षाणाम् (= छदानाम्) पातः (= पतनम्) यस्मिन् स तादृशः, पक्षे—उपलक्षितः (= लोकैर्लोचन-विषयीकृतः) शकुनौ (= गान्धारदेशाधिपतौ स्वमातुले) पक्षपातः (= प्रणयः) यस्य स तादृशः । अत्रोपमा ।

नलिन इति । नलिननाभः = नलिनम् (= कमलम्) नाभौ यस्य सः विष्णुरित्यर्थः, स इव, वनमालोपगूढः = वनमालया (= काननसमूहेन) उपगूढः (= आच्छादितः), पक्षे—वनमालया (= विविधपुष्पस्रजा) उपगूढः (= समलङ्कृतः) । वनमालालक्षणम्—

आजानुलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्वला ।
मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्तिता ॥

समासान्त-'अच्' प्रत्यये भसंज्ञत्वादिकारलोपे 'नलिननाभ' 'पद्मनाभ' इत्यादिशब्दाः साधवः ।

नवेति । नवाः (= नूतनाः, सद्योभृतजला इत्यर्थः) ये जलधराः (= वारिदाः) तेषां व्यूहः (= समूहः), इव = यथा, नभसि = आकाशे, दर्शितोन्नतिः = दर्शिता (= प्रकटिता) उन्नतिः (= उच्चत्वम्) येन स तादृशः । पक्षे—नभसि = श्रावणे मासे, दर्शिता = प्रकटिता उन्नतिः = वृद्धिर्येन स तादृशः । ["नभः खं श्रावणो नभः ।" अमरः ३।३।२३३]

मदजल में डूबे हुए मत्त भौंरों के समूह वाली, जो मानों लोहे की जंजीर से बँधे होने से निश्चल, अत एव कल्पपर्यन्त स्थायी है ऐसी जड़ से युक्त (घिरा हुआ) है; जो [वृक्ष] कोटर के भीतर प्रविष्ट और चलने फिरने वाले भौंरों के समूह द्वारा सजीव [साँसें लेता] सा है, दुर्योधन जिस प्रकार शकुनि (अपने मामा) में पक्षपात करते देखा जाता था उसी प्रकार उस वृक्ष में शकुनियों (= पक्षियों) के पक्षों (= पंखों) का पात (= पतन गिरना) देखा जाता है; नलिन जिनकी नाभि में है ऐसे विष्णु जिस प्रकार 'वनमाला' से युक्त हैं उसी प्रकार जो वनों की माला = पंक्ति से घिरा हुआ है, नभ = श्रावण मास में जिस प्रकार नवीन मेघों का समूह उन्नति (ऊँचाई, वृद्धि) दिखाता है उसी प्रकार जो नभ = आकाश में ऊँचाई प्रदर्शित करने वाला है, जो मानों वन की अग्निष्ठातृ-देवियों का सम्पूर्ण भुवनतलों को देखने का राजप्रासाद (महल) है; जो मानों दण्डकारण्य का राजा

१. पतद्भिः । २. पद्मनाभ । ३. कृतोन्नतिः ।

दण्डकारण्यस्य, नायक इव सर्वंवनस्पतीनाम्, सखेव विन्ध्यस्य[1],शाखाबाहुभिरुपगुह्येव[2] विन्ध्याटवीमवस्थितो[3] महान् जीर्णः शाल्मलीवृक्षः[4]।

तत्र च शाखाग्रेषु कोटरोदरेषु पल्लवान्तरेषु स्कन्धसन्धिषु जीर्णवल्कल[5]विवरेषु च महावकाशतया विश्रब्ध-विरचित-कुलायसहस्राणि दुरारोहतया विगतभयानि[6] नानादेशसमा-

अखिलेति। वनदेवतानाम् = वनाधिष्ठातृदेवीनाम्, अखिलेत्यादिः—अखिलानि (=समस्तानि) यानि भुवनतलानि (=लोकतलानि) तेषाम् यद् अवलोकनम् (=दर्शनम्) तदर्थं प्रासादः (=राजभवनम्) इव। ["हर्म्यादि धनिनां वासः प्रासादो देवभूभुजाम्।" अमरः २।२।९] दण्डकारण्यस्य = दण्डकारण्यवनस्य, अधिपतिः = स्वामी, इव। अत्रोत्प्रेक्षा, उपमेत्यन्ये। सर्वंवनस्पतीनाम् = पुष्परहितानां सकलतरुणाम्, ["वनस्पतिवृक्षमात्रे विना पुष्पफलद्रुमे।" इति विश्वः। "वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद् वनस्पतिः।" अमरः २।४।६] नायकः=नेता इव, विन्ध्यस्य = एतन्नामकपर्वतस्य, सखा = सुहृद्, इव। शाखाबाहुभिः = शाखा एव बाहवः [= कराः] तैः, विन्ध्याटवीम् = विन्ध्यारण्यम्, उपगुह्य = आश्लिष्य, इव स्थितः = विद्यमानः "महान् जीर्णः शाल्मलीवृक्ष" इत्यन्वयस्तु पूर्वमेवोक्तः। रूपकं क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करात्योऽलङ्कारः।

साम्प्रतं स्वसजातीयनिवासवर्णनमाध्यमेन स्वपितरमुपवर्णयति—तत्र चेति। तत्र = तस्मिन् शाल्मलीवृक्षे, शाखाग्रेषु = शाखानां प्रान्तभागेषु, कोटरोदरेषु = निष्कुहाणां मध्यदेशेषु, पल्लवान्तरेषु= किसलयानां मध्येषु, स्कन्धसन्धिषु = प्रकाण्डानां बन्धनस्थानेषु, जीर्णवल्कलविवरेषु = जीर्णानि (= पुरातनानि) यानि वल्कलानि (= वृक्षत्वचः) तेषां विवरेषु (= छिद्रेषु), महावकाशतया = महान् (= महीयः) योऽवकाशः (=अन्तर्विस्तारः) तस्य भावस्तत्ता तया प्रचुरस्थानत्वेनेत्यर्थः, विश्रब्धेत्यादिः—विश्रब्धम् = विश्वस्तम्, सन्देहरहितं यथा स्यात् तथा विरचितानि (=निर्मितानि) कुलायानाम् (= नीडानाम्) सहस्राणि यैस्तानि तादृशानि, तथा दुरारोहतया= दुःखेन (=अतिकष्टेन) आरोहः (=आरोढुं शक्यः) तस्य भावस्तत्ता तया, अत्यन्तोन्नततया सामान्य-प्राणिना तत्रारोहणं दुःशकमिति भावः, विगतभयानि=विगतम् (= दूरीभूतम्) भयम् (=ग्रहणस्य आक्रमणस्य च भीतिः) येभ्यस्तानि, नानादेशसमागतानि=विभिन्न-प्रदेशेभ्यस्तत्रा-

है, जो मानों सभी वनस्पतियों का नेता है, जो मानों विन्ध्यपर्वत का मित्र है, जो अपनी शाखारूपी भुजाओं द्वारा 'विन्ध्याटवी' का आलिंगन करके स्थित है। [इस प्रकार का जीर्ण और विशाल शाल्मली=सेमल का पेड़ है।]

और उस शाल्मली (सेमल) वृक्ष में (उसकी) शाखाओं के छोरों पर, कोटर के भीतर, पत्तों के बीच में, प्रकाण्ड (तनों) के जोड़ों में, जीर्ण छाल के छिद्रों में, अत्यधिक (पर्याप्त) स्थान होने के कारण, निश्शङ्क होकर हजारों घोसले बना लेने वाले [अत्यधिक ऊँचा होने से] चढ़ने में अत्यधिक कष्टप्रद होने से भयरहित, [उस वृक्ष पर] विभिन्न स्थानों से आने वाले तोते

१. विन्ध्याचलस्य। २. उपगृह्येव। ३. स्थितः।
४. शाल्मलि। ५. वल्क। ६. विगतविनाशसमयानि, विगलितविनाशभयानि।

गतानि शुक-शकुनि-कुलानि प्रतिवसन्ति स्म। यैः परिणामविरलदलसंहतिरपि[1] स वनस्पतिरविरल-दल-निचय-श्यामल[2] इवोपलक्ष्यते दिवानिशं निलीनैः।

ते च[3] तस्मिन् वनस्पतावतिवाह्याऽतिवाह्य निशा[4]मात्मनीडेषु[5] प्रतिदिनमुत्थायोत्थायाहारान्वेषणाय नभसि विरचितपङ्क्तयो मदकल-बलभद्र-हलधर-हलमुखाक्षेप[6]-विकीर्ण[7]बहुस्रोतसमम्बरतले कलिन्दकन्यामिव दर्शयन्तः, सुरगजोन्मूलित-विगलदाकाशगङ्गा-कमलिनीशङ्कामुत्पा-

---

गत्यैकत्रीभूतानि, शुकशकुनिकुलानि = शुकाः (= कीराः) अन्ये शकुनयः (= पक्षिणश्च) तेषां कुलानि (=समूहाः), प्रतिवसन्ति स्म = निवासमकुर्वन्।

यैरिति। दिवानिशम् = रात्रिन्दिवम्, निलीनैः = स्थितैः, यैः = शुकशकुनिकुलैः, परिणामेत्यादिः = परिणामेन (=वयःपरिणत्या वार्धक्येन पुरातनतयेति वा), विरलानि (=स्वल्पानि) दलानि (=पत्राणि) तेषां संहतिः (=समूहः) यस्मिन् सः तादृशः, अपि, सः, वनस्पतिः = शाल्मलीवृक्षः, अविरल-दलेत्यादिः—अविरलानि (=घनानि) दलानि (=पत्राणि) तेषां यः निचयः (=समूहः) तेन श्यामलः (= नीलवर्णः) इव उपलक्ष्यते = दृश्यते, लोकैरिति भावः। अत्र श्यामलत्वरूप-गुणस्योत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षाऽलङ्कारः।

साम्प्रतं तत्रस्थानां पक्षिणां विचरणप्रकारं वर्णयति—ते चेति। ते = शकुनयः "विचरन्ति स्म" इत्यग्रिमेणान्वयो बोध्यः। तस्मिन् = पूर्वोक्ते, वनस्पतौ = शाल्मलीवृक्षे, आत्मनीडेषु = निजकुलायेषु, निशाम् = रात्रिम्, अतिवाह्य अतिवाह्य = यापयित्वा यापयित्वा, प्रतिदिनम् = प्रतिदिवसम्, उत्थाय उत्थाय = उत्थानं विधाय विधाय, आहारान्वेषणाय = भोजनमार्गणाय, नभसि = गगने, [इतोऽग्रे यानि प्रथमान्तानि पदानि तानि 'ते शुकशकुनयः' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्।] विरचितपङ्क्तयः = विरचिता (= निर्मिता) पंक्तिः (= श्रेणी) यैस्ते तादृशाः। मदकलेत्यादिः—मदेन (= मधुपानजन्यमदेन) कलः (= मनोज्ञः) यो हलधरः (=बलरामः) तस्य यद् हलम् (= सीरः), तस्य यद् मुखम् (= अग्रभागः) तेन य उत्क्षेपः (= ऊर्ध्वदेशे विक्षेपणम्) तेन विकीर्णानि (= पर्यस्तानि) बहूनि (= अनेकानि) स्रोतांसि (= प्रवाहाः) यस्याः सा तां तथोक्ताम्, कलिन्दकन्याम् =यमुनाम्, इव, अम्बरतले = गगनतले, दर्शयन्तः = अवलोकनीयत्वं प्रापयन्तः। अत्र द्रव्योत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः।

सुरगजेति। सुरगजेन (= देवहस्तिना ऐरावतेनेति भावः) उन्मूलिता (= उत्पाटिता) अत एव विगलन्ती (= नीचैः पतन्ती) या आकाशगङ्गा (=मन्दाकिनी) तस्याः या कमलिनी

और दूसरे पक्षियों के समुदाय रहा करते थे। पुराना होने से थोड़े पत्तों वाला होता हुआ भी वह शाल्मली वृक्ष दिन-रात बैठे रहने वाले उन पक्षियों के कारण घने पत्तों के समूह से श्यामलवर्ण वाला सा दिखाई पड़ता है।

और वे तोते (तथा अन्य) पक्षी उस शाल्मली (सेमल) वृक्ष पर अपने-अपने घोसलों में रातें बिता बिताकर प्रतिदिन उठ उठकर भोजन खोजने के लिये आकाश में पंक्ति बनाये हुए; मानों मद से मनोहर बलराम के हल के अग्रभाग द्वारा फेकने से फैली हुई अनेक धाराओं वाली यमुना को आकाशतल में दिखलाते हुए; देवताओं के हाथी (ऐरावत) द्वारा उखाड़ी गई (अत एव) गिरती हुई आकाशगंगा की कमलिनी के भ्रम को उत्पन्न कराते हुए; आकाशतल को सूर्य के रथ के घोड़ों

---

१. विरलसंहतिः, विरलदलसन्ततिः। २. श्यामः। ३. ते च-इदं नास्त्यपि क्वचित्। ४. रजनीम्। ५. आत्मनो नीडेषु। ६. बलभद्रहलमुखाक्षेप। ७. विप्रकीर्ण।

दयन्तः,[1] दिवसकर-रथतुरग-प्रभानुलिप्तमिव[2] गगनतलं प्रदर्शयन्तः,[3] सञ्चारिणीमिव मरकतस्थलीं विडम्बयन्तः, शैवलपल्लवावलीमिवाम्बरसरसि प्रसारयन्तः,गगनावततैः[4] पक्षपुटैः कदलीदलैरिव दिनकर-खरकर[5]-निकर-परिखेदितान्याशामुखानि[6] वीजयन्तः,[7] वियति विसारिणीं[8] शष्पवीथी-मिवारचयन्तः, सेन्द्रायुधमिवान्तरिक्षमादधाना[9] विचरन्ति स्म।

(= पद्मिनी) तस्याः शङ्काम् (= भ्रान्तिम्) उत्पादयन्तः (= उपपादयन्तः), अत्र 'भ्रान्तिमान्' इत्याख्योऽलङ्कारः स्पष्टः।

दिवसकरेति। गगनतलम् = आकाशतलम्, दिवसकरेत्यादिः—दिवसकरस्य (=दिनकरस्य), ये रथतुरगाः (= रथाश्वाः) तेषां प्रभाभिः (= हरितकान्तिभिः), अनुलिप्तम् (= लेपनविषयी-कृतम्) इव, प्रदर्शयन्तः (= प्रदर्शनं कुर्वन्तः)। अत्रोत्प्रेक्षा।

सञ्चारिणीमिति। सञ्चारिणीम् = सञ्चरणशीलाम्, मरकतस्थलीम् = नीलमणिम्, विडम्बयन्तः = अनुकुर्वन्तः इव। अत्रोत्प्रेक्षालंकारः।

शैवलेति। अम्बरसरसि=अम्बरम् (=गगनम्) एव सरः (= तडागः) तत्र, शैवलेत्यादिः—शैवालस्य (= शेवलस्य) पल्लवानाम् (= पत्राणाम्) या अवली, ताम्, प्रसारयन्तः = विस्तारयन्तः, इव, ["जलनीली तु शेवालं शैवालोऽथ कुमुद्वती।" अमरः १।१०।३८।] अत्र 'अम्बरमेव सरः' इत्यत्र रूपकम्, 'प्रसारयन्त इव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा च।

गगनावततैरिति। दिनकरेत्यादिः—दिनकरस्य (= सूर्यस्य) खराः (=तीक्ष्णाः) ये कराः (= किरणाः) तेषां यो निकरः (=समूहः) तेन, परिखेदितानि (= संक्लमितानि) यानि, आशामुखानि (= दिङ्मुखानि) तानि, कदलीदलैः (= रम्भापत्रैः) इव, गगनविततैः (= आकाशे विस्तृतैः) पक्षपुटैः (= पक्षच्छदैः) वीजयन्तः = व्यजन-समुत्पन्नवातकर्म कुर्वन्तः। ["भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्।" अमरः १।३।३३।] "दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः।" अमरः १।३।१] अत्र 'कदलीदलैरिव' इत्यत्रोपमा।

वियतीति। वियति = गगने, विसारिणीम् = विस्तारशीलाम्, शष्पवीथीम् = बालतृणो-पयुक्तपद्धतिम्, आरचयन्तः = निर्मापयन्तः, इव। अत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

सेन्द्रायुधमिति। अन्तरिक्षम् = आकाशम्, सेन्द्रायुधम् = शक्रधनुःसहितम्, आदधानाः = कुर्वाणाः, इव, "शुकशकुनयः विचरन्ति स्म" इत्यस्यान्वयस्तु पूर्वमेवोक्तः।

की (हरित) कान्ति से अनुलिप्त सा बनाते हुए; चलती फिरती (घूमने वाली) मरकत-स्थली (मरकत मणिनिर्मित जमीन) का अनुकरण करते हुए; आकाशरूपी तालाब में मानों शैवाल (सिवाल) के पत्तों के समूह को फैलाते हुए, सूर्य की तीखी किरणों के समूह से खिन्न हुए दिशाओं के मुखों के लिए, आकाश में फैले हुए पंख-समूह से मानों केला के पत्तों द्वारा पंखा डुलाते हुए; मानों आकाश में फैलने वाले नई घास के तृणों के मार्ग (शष्पवीथी) को बनाते हुए; मानों अन्तरिक्ष (आकाश) को इन्द्रधनुष से युक्त बनाते हुए, घूमा करते थे।

---

१. उपजनयन्तः। २. अनुलिप्तगगनतलम्। ३. उपपादयन्तः।
४. गगनविततैः। ५. खर-इति पाठः क्वचिन्नास्ति। ६. परिखेदिताशामुखानि।
७. परिवीजयन्तः। ८. विस्तारिणीम्। ९. शुकशकुनयः—इत्यधिकं क्वचित्।

कृताहाराश्च पुनः प्रतिनिवृत्त्यात्मकुलायावस्थितेभ्यः[1] शावकेभ्यो विविधान्[2] फलरसान्[3] कलममञ्जरीविकारांश्च प्रहत-हरिण-रुधिरानुक्त-शार्दूलनखकोटिपाटलेन चञ्चुपुटेन दत्त्वा दत्त्वा अधरीकृत-सर्वस्नेहेनासाधारणेन गुरुणाऽपत्यप्रेम्णा तस्मिन्नेव[4] क्रोडान्तर्निहिततनयाः[5] क्षपाः क्षपयन्ति स्म।

एकस्मिंश्च[6] जीर्णकोटरे जायया सह निवसतः पश्चिमे वयसि वर्तमानस्य कथमपि पितु-

---

कृताहाराश्चेति। कृताहाराः = कृतः (= विहितः, सम्पादितः) आहारः (= भोजनम्) यैस्ते तथोक्ताः, पुनः = तदनन्तरम्, प्रतिनिवृत्य = परावृत्य, आत्मकुलायावस्थितेभ्यः = आत्मनः (= आत्मीयाः) ये कुलायाः (=नीडानि) तेषु अवस्थितेभ्यः (= विद्यमानेभ्यः), शावकेभ्यः (= शिशुभ्यः), विविधान् (= अनेक-प्रकारान्), फलरसान् (= सस्यनिर्यासान्, द्रवान्), कलम-मञ्जरीविकारान् = कलमानाम् (= धान्यविशेषाणाम्) याः मञ्जर्यः (= वल्लयः) तासां विकारान् (= परिपाकविशेषेण परिणतान् कणादीन्) च, प्रहतेत्यादिः—प्रहतः (= सद्यो व्यापादितः) यो हरिणः (= मृगः) तस्य यद् रुधिरम् (= रक्तम्) तेन अनुरक्ता (= रक्तवर्णीकृता) या शार्दूलस्य (= सिंहस्य) नखानां कोटिः (= पुनर्नवाणामग्रदेशः) तद्वत् पाटलेन (= तत्तुल्यश्वेतरक्तवर्णेन), चञ्चुपुटेन (= त्रोटीसम्पुटेन), दत्वा दत्वा (= वार वारं प्रदाय), अधरीकृतसर्वस्नेहेन = अधरीकृतः (= तिरस्कृतः न्यूनीकृत इत्यर्थः) सर्वः (= सकलः) स्नेहः (= प्रेम) येन तादृशेन, असाधारणेन (=तन्मात्रवृत्तिना, असामान्येनेत्यर्थः) गुरुणा (= महता) अपत्यप्रेम्णा (= सन्तान-स्नेहेन) तस्मिन्नेव (= तत्र शाल्मलीवृक्षे एव) क्रोडान्तर्निहिततनयाः =क्रोडानाम् (= उत्सानाम्, भुजमध्य-देशानाम्), अन्तः (= मध्ये) निहिताः (= संरक्षिताः, स्थापिताः) तनयाः (= अपत्यानि) यैस्ते तादृशाः सन्तः, क्षपाः = निशाः, क्षपयन्ति स्म = अयापयन्।

एकस्मिंश्चेति। एकस्मिन् च = कस्मिंश्चित् च, जीर्णकोटरे = पुरातनतया जीर्णनिष्कुहे, जायया = भार्यया, सह = साकम्, निवसतः = वासं कुर्वतः, पश्चिमे = चरमे, वयसि = अवस्थायाम्, वर्तमानस्य = विद्यमानस्य, वृद्धस्येति भावः, पितुः = जनकस्य, कथमपि = महता कष्टेन, प्रयासेन वा, विधिवशात् = भाग्यवशात्, अहमेव, (अनेनात्मानं निर्दिशति।) एकः =एकाकी, सुनुः = सुतः, अभवम् = अभूवम्; अजनिषि इति भावः।

और फिर भोजन कर चुकने वाले वे पक्षी वापस लौटकर अपने घोसलों में बैठे हुए बच्चों को, अनेक प्रकार के फलों के रसों तथा कलम (एक प्रकार के धान) की बालियों के कणों को, तत्काल मारे गये हिरन के खून से लाल-लाल हुए सिंह के नाखूनों के अग्रभाग के समान लाल-लाल चोंच के अग्रभाग से दे देकर (उन्हें खिला खिला कर) अन्य सभी वस्तुओं के प्रेम को तिरस्कृत = न्यून कर देने वाले, असाधारण, अत्यधिक सन्तानप्रेम से, अपने बच्चों को गोद में (पंखों के भीतर) छिपाये हुए उसी (शाल्मली वृक्ष) पर रातें बिताया करते थे।

---

१. कलमफलविकारान्। २. प्रसक्त। ३. एकदैव पाठः क्वचित्।
४. स्वस्मिन्नेव। ५. सुखम्-इत्यधिकः पाठः क्वाप्यन्यत्र।
६. तत्र-इत्यधिकः पाठोपि क्वचित्।

रहमेवैको[1] विधिवशात् सूनुरभवम् । अतिप्रबलया[2] चाभिभूता ममैव जायमानस्य प्रसववेदनया जननी मे लोकान्तरमगमत्[3] । अभिमतजायाविनाशशोकदुःखितोऽपि[4] खलु तातः सुतस्नेहादभ्यन्तरे निगृह्य[5] पटुप्रसरमपि शोकमेकाकी[6] सत्संवर्धनपर एवाभवत् । अतिपरिणतवयाश्च[7] कुशचीरानुकारिणीमल्पावशिष्ट-जीर्ण-पिच्छजाल-जर्जराम्[8] अवस्रस्तांसदेशशिथिलाम्[9] अपगतोत्पतनसंस्कारां

अतिप्रबलेति । मम, जायमानस्य एव = उत्पद्यमानस्य एव, अतिप्रबलया = अतिकष्टकारिण्या, महत्या, प्रसववेदनया = प्रसूतिपीडया, अभिभूता = पीडिता, मे = मम, जननी = माता, परलोकम् = लोकान्तरं स्वर्गमित्यर्थः, अगमत् = अगच्छत्, मृतेत्यर्थः ।

अभिमतेति । अभिमतेत्यादिः—अभिमतायाः (= अभीष्टायाः प्रियायाः) जायायाः (=पत्न्याः), विनाशेन (= मृत्युना), यः शोकः (= दुखम्) तेन दुःखितः (= शोकाक्रान्तः), अपि, तातः = मत्पिता, पटुप्रसरम्—पटुः (= स्पष्टः) प्रसरः (= वेगः) यस्य स तादृशम्, अपि, शोकम् = दुःखम्, सुतस्नेहात् = पुत्रप्रेम्णा, अभ्यन्तरे = हृदयाभ्यन्तरे, निरुध्य = अवरुध्य, एकाकी = एकः, पत्नीवियुक्तः, मत्संवर्धनपरः = मम परिपोषणलग्नः, एव, अभवत् = अभूत् । जायावियोगं सहमानोऽपि मामपालयदित्यर्थः ।

अतिपरिणतेति । अतिपरिणतवयाः = अतिपरिणतम् (= अत्यन्तं पक्वम्) वयः (=अवस्था) यस्य सः, अतिवृद्ध इत्यर्थः, कुशचीरानुकारिणीम् = कुशम् (= दर्भः) चीरम् (= जीर्णवस्त्रखण्डं च), तदनुकरोति (=विडम्बयति) तच्छीलाम्, तत्समानामित्यर्थः, अल्पावशिष्टेत्यादिः—(वार्धक्यवशात्) अल्पानि (= स्तोकानि) अवशिष्टानि (= विद्यमानानि) जीर्णानि (= शीर्णानि), यानि पिच्छानि (=बर्हाणि) तेषां जालम्=समूहः, तेन जर्जराम् (=अवशीर्णाम्); अवस्रस्तेत्यादिः—अवस्रस्तः (=गलितः) योऽसंदेशः (=स्कन्धस्थानमिति भावः) तत्र शिथिलाम् = शैथिल्ययुक्ताम्, अदृढावयवसंयोगाम्; अपगतोत्पतनसंस्काराम् = अपगतः (= समाप्तः) उत्पतने (=ऊर्ध्वगमने) उत्पनस्य (= आकाशगमनस्य) वा संस्कारः (= सामर्थ्यविशेषः) यस्याः सा तां तथोक्ताम्, पक्षसन्ततिम् = बाजसमूहम्, उद्वहन् = धारयन् ।

और (उस शाल्मली वृक्ष की) एक पुरानी खोह (कोटर) में अपनी पत्नी के साथ रहते हुए अपनी आयु के अन्तिम चरण (वृद्धावस्था) में विद्यमान अर्थात् बूढ़े पिता का भाग्यवश किसी प्रकार मैं अकेला ही पुत्र उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने वाले मेरे प्रसव (उत्पत्ति) की अत्यधिक पीड़ा से पीड़ित (आक्रान्त) मेरी माता परलोक चली गई, (मर गई)। अपनी प्रिय पत्नी की मृत्यु के शोक से दुःखी होते हुए भी (मेरे) पिता मुझ अपने पुत्र के स्नेह के कारण, अत्यधिक प्रभावी (प्रसारी) शोक को भी अन्दर (अपने हृदय में) रोक कर, अकेले ही मेरे पालन-पोषण में तत्पर हो गये। और अत्यधिक वृद्ध अवस्था वाले (मेरे पिता)—कुश के चीवर (चिथड़ों) के समान प्रतीत होने वाले, बहुत कम बचे हुए पुराने पंखों के समूह से जर्जर, झुके हुए कन्धों पर शिथिल, (आकाश में) उड़ने के संस्कार से शून्य (उड़ने में असमर्थ) पंखों के समूह को धारण करते हुए;

१. अहमेकः । २. प्रबलया । ३. परलोकमगच्छत् ।
४. दुःखितोऽपि, दुःखदुःखितोऽपि । ५. अभ्यन्तरे निरुध्य । ६. शोकवेगम् ।
७. अतिपरिणततया । ८. जर्जरेम् । ९. स्रस्तांसदेशाम् ।

पक्षसन्ततिम्[1] उद्वहन्, उपारूढकम्पतया[2] सन्तापकारिणीमङ्गलग्नां जरामिव विधुन्वन्, अकठोरशेफालिकाकुसुम-नाल-पिञ्जरेण[3] कलममञ्जरी-दलन-मसृणित-क्षीणोपान्त्यलेखेन[4] स्फुटिताग्रकोटिना चञ्चुपुटेन, परनीडपतिताभ्यः[5] शालिवल्लरीभ्यस्तण्डुलकणानादायादाय वृक्षमूल-निपतितानि[6] च शककुलावदलितानि फलशकलानि समाहृत्य परिभ्रमितुमशक्तो मह्यमदात्[7]। प्रतिदिवसमात्मना च मदुपभुक्तशेषम् अकरोदशनम्।

एकदा तु प्रभातसन्ध्यारागलोहिते गगनतले, कमलिनी-मधुरक्त-पक्षसम्पुटे वृद्धहंस इव

उपारूढेति। उपारूढकम्पतया- उपारूढः (= वार्धक्यवशात् स्वभावत एव सम्प्राप्तः) कम्पः (= वेपथुः, शरीरचलनम्) यस्य स तस्य भावस्तत्ता तया, सन्तापकारिणीम् = दुःखोत्पादिकाम्, अङ्गलग्नाम् = शरीर-सम्पृक्ताम्, जराम् = वृद्धावस्थाम् इव, तामेव पक्षसन्ततिम्, विधुन्वन् = कम्पयन्, तां दूरीकर्तुमिति भावः। अत्र 'जरामिव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा।

अकठोरेति। अकठोरेत्यादिः—अकठोरम् (=सुकोमलम्) यत् शेफालिकाकुसुमम् (= निर्गुण्डी-पुष्पम्) तस्य यत् नालम् (= वृत्तम्, दण्डः) तद्वत् पिञ्जरेण (= पिङ्गलवर्णेन), कलमेत्यादिः—कलमस्य (= एतदाख्यस्य धानविशेषस्य) याः मञ्जर्यः (= वल्लर्यः), तासां यत् दलनम् (= विदारणम्, कर्तनम्) तेन मसृणिता (= सञ्जातचिक्कणा), क्षीणा (= क्षयं प्राप्ता) च उपान्तलेखा (= प्रान्तनिकटवर्तिनी) लेखा (= रेखा) यस्य स तेन तादृशेन; स्फुटिताग्रकोटिना = स्फुटिता (= त्रुटिता, भग्ना) अग्रकोटिः (= अग्रिम-तीक्ष्णतरभागः) यस्य स तेन, तादृशेन, चञ्चुपुटेन = त्रोटीसंपुटेन, करणे तृतीया। परनीडपतिताभ्यः = परेषाम् (= अन्येषाम्) यानि, नीडानि (= कुलायाः) तेभ्यः पतिताभ्यः (= अवस्रस्ताभ्यः), शालिवल्लरीभ्यः (= धानविशेषस्य मञ्जरीभ्यः) तण्डुलकणान् = तण्डुललघुभागान्, आदाय आदाय = गृहीत्वा, गृहीत्वा, वृक्षमूलनि-पतितानि = तरुमूलावस्रस्तानि, शुककुलावदलितानि—शुकानाम् (= कीरपक्षिणाम्) यानि कुलानि (= समूहाः) तैः अवदलितानि (= विखण्डितानि), फलशकलानि = फलानां खण्डानि, च, समाहृत्य = आनीय, परिभ्रमितुम्=सञ्चरितुम्, अशक्तः=असमर्थः, सन्, मह्यम् = स्वसुताय, अदात्= अददात्। च=एवम्, प्रतिदिवसम् = प्रतिदिनम्, (अनेन रूपेणानीतं भक्ष्यं प्रथमं मह्यं प्रदाय) मदुप-भुक्तशेषम् = मया उपभुक्ताद् अवशिष्टम्, आत्मना, अशनम् = भक्षणम्, अकरोत् = अकार्षीत्। 'आत्मना' इत्यत्र चतुर्थ्यर्थे तृतीया बोध्या।

एकदेति। एकदा = एकस्मिन् समये, "मृगया-कोलाहलध्वनिरुदचरत्" इति दूरं वक्ष्यमाणेना-न्वयः। प्रभातेत्यादिः—प्रभातस्य (= प्रातःकालस्य) या सन्ध्या (= सन्धिकालः), तस्याः यो रागः

(शरीर के) कम्पनयुक्त होने से मानों (शरीर के अंगों में) लगी हुई, सन्ताप उत्पन्न कराने वाली वृद्धावस्था को झाड़ कर दूर करते हुए; (इधर उधर) घूमने (उड़ने) में असमर्थ होते हुए (मेरे पिता) कोमल शेफालिका के फूल के नाल (दंड) के समान लाल-लाल, कलम (धानविशेष) की मंजरी (बालियों) को कुतरने (काटने) के कारण चिकनी और घिसी हुई अगली प्रान्तलेखा (नोक) वाली चञ्चुपुट द्वारा, दूसरे घोसलों से गिरी हुई शालिनामक धान की बल्लरी (बालियों) में से चावल के कण (दाने) ला ला कर और तोतों के समूह द्वारा कुतरे (काटे) गये फलों के टुकड़े जो पेड़ों की जड़ों पर गिरे थे, उन्हें एकत्रित करके मुझे (अपने पुत्र को) दिया करते थे। और प्रतिदिन मेरे खाने से बचे हुए को अपना भोजन बनाते थे, खाया करते थे।

---

१. पक्षसंहतिम्। २. च इत्यधिकः पाठः क्वाप्यन्यत्र। ३. कुसुमपिञ्जरेण। ४. क्षीरोपान्तलेखेन। ५. निपतिताभ्यः ६. तरु०। ७. मह्यमाहारम्।

मन्दाकिनीपुलिनादपर-जलनिधि-तटमवतरति चन्द्रमसि, परिणत-रङ्कु-रोम-पाण्डुनि व्रजति विशालतामाशाचक्रवाले, गजरुधिर-रक्त-हरिसटा-लोहिनीभिः प्रतप्त-लाक्षिक-तन्तु-पाटलाभिरायामिनीभिः अशिशिरकिरणदीधितिभिः पद्मरागशलाकासम्मार्जनीभिरिव समुत्सार्य्यमाणे गगन-

(= रक्तिमा), तेन लोहिते (= रक्ते) गगनतले = नभस्तले, [अत्रैवंविधवाक्येषु 'सतिसप्तमी' बोध्या ।] कमलिनी-मधु-रक्त-पक्ष-संपुटे = कमलिन्याः (= पद्मिन्याः) यत् मधु (= लोहितवर्णः पुष्परसः) तेन रक्तम् (= अनुरञ्जितम्) पक्षपुटम् (= छदसंपुटम्) यस्य स तस्मिन्, वृद्धहंसे = जरत्कलहंसे, इव, चन्द्रमसि = निशाकरे, मन्दाकिनी-पुलिनात् = वियद्गङ्गासैकतात्, अपरजलनिधि-तटम् = अपरः (= अन्यः, पश्चिम इत्यर्थः) यो जलनिधिः (= सागरः) तस्य तटम् (= तीरम्), अवतरति = उत्तीर्णे सति । "वृद्धहंस इव" इत्यत्रोपमा ।

परिणतेति । परिणतरङ्कुरोमपाण्डुनि = परिणतः (= पक्वः, पुरातन इति भावः) यो रङ्कुः (= मृगविशेषः) तस्य रोमाणि (= तनुरुहाणि), तद्वत् पाण्डुनि (= पीतशुभ्रे), आशाचक्रवाले = दिङ्मण्डले, विशालताम् = विपुलताम्, व्रजति = गच्छति सति । तमोऽपगमात् तादृशी अवस्था जातेति भावः । अत्र वाचकलुप्तोपमा ।

गजरुधिरेति । गजरुधिरेत्यादिः = गजानाम् (= हस्तिनाम्) यद् रुधिरम् (= शोणितम्) तेन रक्ता (= लोहितवर्णा) या हरेः (= सिंहस्य) सटा (= केसराः, ग्रीवास्थकेशाः) तद्वत् लोहिनीभिः (= रक्तवर्णाभिः) । अत्र 'रुधिररक्त-पदार्थयोः सामान्यतया पौनरुक्त्य-प्रतीतावपि उपर्युक्त-व्याख्यानेनात्र 'पुनरुक्तवदाभासाख्योऽलङ्कारो बोध्यः । तथा चोक्तं साहित्यदर्पणे—

"आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥ (सा० द० १०)

प्रतप्तेत्यादि । प्रतप्ताः (= सन्तप्ताः) ये लाक्षिकाः (=जतुविकारोत्पन्नाः) तन्तवः (= सूत्राणि) तद्वत् पाटलाभिः (= श्वेतरक्ताभिः) । अत्र लुप्तोपमा । आयामिनीभिः = विस्तारवतीभिः, अशिशिरकिरणदीधितिभिः = अशिशिराः (= उष्णाः) किरणाः (= रश्मयः) यस्य सः, सूर्य इत्यर्थः, तस्य दीधितिभिः = प्रभाभिः; पद्मरागशलाकासंमार्जनीभिः = पद्मरागस्य (= लोहित-कमणेः) ["शोणरत्नं लोहितकः पद्मरागः······ । अमरः २।९।९२] याः शलाकाः (= इषीकाः) तासां संमार्जनीभिः (= शोधनीभिः) ["संमार्जनी शोधनी स्यात्······ ।" अमरः ३।२।१८] इव, विद्यमानाभिः । अत्र जात्युत्प्रेक्षा । गगनकुट्टिमकुसुमप्रकरे = गगनम् (= नभः) एव कुट्टिमम् (= बद्धभूमिः बहिर्द्वारं वा) तस्मिन् तस्य वा यः कुसुमानाम् (= पुष्पाणाम्) प्रकरः (=समूहः)

एक बार प्रातःकालीन सन्ध्या (उषा) की लालिमा से लाल वर्ण के आकाशतल में कमलिनी के मधु से लाल पक्षपुटों (पंखों) वाले बूढ़े हंस के समान चन्द्रमा के आकाश-गंगा के रेतीले (पूर्वी) किनारे से पश्चिमी समुद्र के तट पर उतर जाने पर; [अथवा चन्द्रमा, जो मानों कमलिनी के मधु से लाल पंखों वाला बूढ़ा हंस हो, के आकाश गंगा के रेतीले तट से दूसरे पश्चिमी समुद्र के किनारे पर उतर जाने पर]; बूढ़े रंकु (मृगविशेष) के रोमों के समान पाण्डु वर्ण वाले दिशा-समूह के विशालता को प्राप्त कर लेने पर; हाथी के खून से लाल हुई शेर की सटाओं (=केसरों, ग्रीवास्थित केशों) के समान लाल लाल, खूब गरम की गई लाख के तन्तुओं के समान पाटल (श्वेत+रक्त)

१. प्रतप्तलाक्षिक, सन्तप्तलाक्ष, प्रतप्तलाक्षा । २. आगामिनीभिः ।
३. रत्नशलाकासंमर्जनीभिः ।

कुट्टिमकुसुमप्रकरे तारागणे, सन्ध्यामुपासितुमुत्तराशाऽवलम्बिनि मानससरस्तीरमिवावतरति[1] [2] सप्तर्षिमण्डले, तटगत-विघटित-शुक्ति-सम्पुटविप्रकीर्णमरुणकर-प्रेरणाधोगलितमुडुगणमिव मुक्ताफलनिकरमुद्वहति धवलितपुलिनमुदन्वति[3] पूर्वेतरे, तुषारबिन्दुवर्षिणि विबुद्धशिखिकुले विजृम्भमाणकेशरिणि करिणी-कदम्बक-प्रबोध्यमान-समदकरिणि[4] क्षपाजलजडकेसरं कुसुमनिकर-

तस्मिन्, तारागणे = नक्षत्रसमुदाये, समुत्सार्यमाणे = दूरीक्रियमाणे सति। अत्र गगने कुट्टिमत्वारोपो तारागणे कुसुमप्रकरत्वस्य समारोपे निमित्तमिति परम्परितरूपकमलङ्कारः।

सन्ध्यामिति। उत्तराशावलम्बिनि = उत्तराम् (= उदीचीम्) आशाम् (= दिशम्) अवलम्बते (= आश्रयति) तच्छीले, सप्तर्षिमण्डले = सप्तर्षिसमूहे, सन्ध्याम् = प्राभातिकसन्ध्याम्, उपासितुम् = सम्पादयितुम्, इव, मानससरस्तीरम् = मानससरोवरतटम्, अवतरति = अवतीर्णे सति।

सप्तर्षयश्च—"मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठश्चेति सप्तैते ज्ञेयाश्चित्रशिखण्डिनः।" "उपासितुमिवे" त्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

तटगतेति। पूर्वेतरे = पूर्वः इतरो यस्मात् सः तस्मिन्, पश्चिमे इत्यर्थः, उदन्वति = समुद्रे ["उदन्वानुदधिः सिन्धुः"·······। अमरः १।१०।१। बहुव्रीहौ गौणतया पूर्वेतरशब्दस्य सर्वनामत्वाभावान्न तत्प्रयुक्तं कार्यमिति बोध्यम्।] तटगतेत्यादिः = तटगतानि (= तीरस्थितानि) विघट्टितानि (= स्फुटितानि) यानि शुक्तिसंपुटानि (= वारिधिमण्डूकीपुटानि) तेभ्यो विप्रकीर्णम् (= विपर्यस्तम्, बहिर्भूय इतस्ततो विक्षिप्तम्); धवलितपुलिनम् - धवलितम् (=शुभ्रीकृतम्) पुलिनम् (= सैकतम्, जलोज्झिततटम्) येन तं तथोक्तम् अरुणकरप्रेरणाधोगलितम् = अरुणस्य (= सूर्यस्य) करैः (= रश्मिभिः) या प्रेरणा (= नोदना) तया अधोगलितम् (= नीचैर्निपतितम्, भूमिपतितमिति भावः) ["विकर्तनार्कमार्तण्डमिहिरारुणपोषणः।" अमरः १।३।२९] उडुगणम् = नक्षत्रसमुदायम्, इव, मुक्ताफलनिकरम् = मौक्तिकसमुदायम्, उद्वहति सति = धारयति सति। अत्र 'उडुगणमिव' इत्यत्र जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा, न तूपमेति बोध्यम्।

तुषारेति। साम्प्रतं काननस्य वैशिष्ट्यं निरूपयति। अतः सप्तम्यन्तानि पदानि 'कानने' इत्यस्याग्रिमस्य विशेषणानि। तुषारबिन्दुवर्षिणि = तुषारस्य (= तुहिनस्य) ये बिन्दवः (= कणाः) तान् वर्षति (= पातयति) तच्छीले। विबुद्धशिखिकुले = विबुद्धम् (= जागरितम्) शिखिनाम् (= मयूराणाम्) कुलम् (= समूहः) यस्मिन् तादृशे। विजृम्भमाणकेशरिणि = विजृम्भमाणाः (= जृम्भायुक्ताः) केशरिणः (= सिंहाः) सन्ति यस्मिन् तस्मिन् तादृशे, करिणीकदम्बेत्यादिः— करिणीनाम् (= हस्तिनीनाम्) यत् कदम्बकम् (= समूहः) तेन प्रबोध्यमानाः (= जागरणं प्राप्यमाणाः) समदाः (= मदजलयुक्ताः) च करिणः (= हस्तिनः) सन्ति यस्मिन् तस्मिन् तादृशे, कानने = वने। क्षपेति। क्षपायाः (= रात्रेः) जलेन (= सतुषारवारिणा) जडानि (= स्तम्भितानि) केसराणि (= किंजल्कानि) यस्य तं तादृशम् कुसुमनिकरम् = पुष्पसमूहम्, उदयगिरि-

वर्ण वाली, खूब लम्बी-लम्बी सूर्य की किरणें, जो मानों पद्मराग मणि की सींकों (सलाइयों) से बनी झाड़ू हैं, के द्वारा आकाशरूपी फर्श के पुष्पसमूह के समान तारासमूह को दूरकर (झाड़) दिये जाने पर; उत्तर दिशा में लटकते हुए (स्थित) सप्तर्षिमण्डल के मानों (प्रातः कालीन) सन्ध्या की उपासना के लिए मानसरोवर के तट पर उतर आने पर; पूर्व से भिन्न पश्चिमी समुद्र के द्वारा तट पर स्थित फूटी सीपों के संपुटों से बिखरे हुए, पुलिन (सिकतामय तट) को श्वेत कर देने वाले

१. मानससरसः। २. अम्बरादवतरति। ३. पुलिनतटम्, पुलिनतलम्।
४. मानमदकरिणि स्पष्टे च जाते प्रभाते।

मुदयगिरिशिखरस्थितं[1] सवितारमिवोद्दिश्य पल्लवाञ्जलिभिः समुत्सृजति[2] कानने, रासभ-रोम-धूसरासु[3] वनदेवताप्रासादानां तरूणां शिखरेषु पारावतमालायमानासु धर्म्मपताकास्विव[4] समुन्मिषन्तीषु तपोवनाग्निहोत्रधूमलेखासु, अवश्यायशीकरिणि लुलितकमलवने रतिखिन्न-[5]शबरसीमन्तिनी-स्वेदजलकणापहारिणि[6] वनमहिष-रोमन्थफेनबिन्दुवाहिनि चलितपल्लव-लता-

शिखरस्थितम् = उदयगिरेः (= उदयाचलस्य) शिखरे (= शृङ्गे) स्थितम् (= विद्यमानम्) सवितारम् = सूर्यम्, उद्दिश्य = उद्देशं विधाय, इव, पल्लवाञ्जलिभिः = पल्लवानि (= किसलयानि) एव अञ्जलयः (= करसम्पुटाः) तैः, समुत्सृजति = प्रक्षिप्य समर्पणं कुर्वति सति। 'उद्दिश्य इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'पल्लवाञ्जलिभिः' इत्यत्र रूपकम्, सर्वत्र समासोक्तिश्चेति, एषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कार इति बोध्यम्।

रासभेति। रासभरोमधूसरासु = रासभस्य (= गर्दभस्य) यानि रोमाणि (= तनूरुहाणि) तद्वत् धूसरासु (= धूम्रवर्णासु), वनदेवताप्रासादानाम् (= वनाधिष्ठातृदेवीसमुन्नत-भवनानाम्), तरुणाम् (= वृक्षाणाम्), शिखरेषु = प्रान्तभागेषु, पारावतमालायमानासु = पारावतानाम् (= कपोतानाम्), माला (= पङ्क्तिः) तद्वद् आचरन्तीषु (= संलग्नासु), तपोवनाग्नि-होत्र-धूमलेखासु - तपोवनेषु (= तपश्चरणस्थलेषु) यद् अग्निहोत्रम् (=अग्न्याधानादिकर्म) तस्य धूमलेखासु (= धूम्रपङ्क्तिषु), धर्मपताकासु = पुण्याचरणसूचकवैजयन्तीषु, इव, समुन्मिषन्तीषु = समुत्सर्पन्तीषु। अत्र 'रासभरोम-धूसरासु' इत्यत्र वाचकलुप्तोपमा, 'पारावतमालायमानासु' इत्यत्र क्यङ्प्रत्ययान्तोपमा, 'धर्मपताकास्विव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा चेत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन संङ्करालङ्कार इति बोध्यम्।

पुनश्च कस्मिन् सतीति प्रतिपादयितुमाह—अवश्यायेति। अवश्यायशीकरिणि = अवश्यायः (= हिमम्) तस्य शीकराः (= अम्बुकणाः) सन्ति अस्मिन् तस्मिन्, [अत्र सप्तम्यन्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'मातरिश्वनि' इत्यस्य विशेषणानि।] लुलितकमलवने = लुलितम् (= प्रकम्पितम्) कमलानाम् (= पद्मानाम्) वनम् (= काननम्) येन स तस्मिन्; रतिखिन्नेत्यादिः = रतम् (= मैथुनम्) तत्र खिन्नाः (= खेदं प्राप्ताः) याः शबराणाम् (= भिल्लानाम्) सीमन्तिन्यः (= रमण्यः) तासां यत् स्वेदजलम् (= घर्मसलिलम्) तस्य कणाः (= बिन्दवः) तान् अपहरति (=स्वस्पर्शेन दूरीकरोति) तच्छीलस्तस्मिन्, घर्मबिन्दुविनाशिनीति भावः, वनमहिषेत्यादिः=वनमहिषाः (= आरण्यसैरिभाः) तेषां यः रोमन्थः (=चर्वितचर्वणम्) तस्य फेनः (= कफः) तस्य बिन्दवः

मोतियों के समूह, जो मानों सूर्य की किरणों द्वारा नीचे गिराये गये तारागण हों, को धारण कर लेने पर; जिस (वन) में ओस की बूदों की वर्षा हो रही थी, जिसमें मोर जाग चुके थे, जिसमें सिंह जमुहाई ले रहे थे, जिसमें हथिनियों के समूह द्वारा मस्त हाथियों को जगाया जा रहा था, ऐसे वन द्वारा रात्रिकालीन जल (= ओस बिन्दुओं) से जड़ीभूत केशर वाले पुष्प-समुदाय को पल्लवरूपी अंजलियों द्वारा उदयगिरि की चोटी पर स्थित सूर्य को मानो उद्देश्य करके दिये जाने पर; गधों के रोम के समान धूसरित वर्णवाली, वन के देवताओं के प्रासाद [राजमहल] वृक्षों की चोटियों पर कबूतरों की माला (पंक्ति) के समान आचरण करने वाली (= दिखाई देने वाली), धर्म की पताकाओं के समान,तपोवन के अग्निहोत्रों की धुएँ की रेखाओं के द्वारा ऊपर फैलती हुई होने पर; ओस की बूंदों से युक्त, कमलवन को हिला देने वाली, कामक्रीडा से अलसाई हुई शबर-पत्नियों के पसीने

१. स्थितसवितारम्। २. उत्सृजति। ३. धूसरासु वनराजिषु।
४. पताकासु। ५. रत। ६. स्वेदजलकणिका, स्वेदकणिका।

लास्योपदेश-व्यसनिनि विघटमान-कमलखण्ड[1]-मधुसीकरासारवर्षिणि कुसुमामोदतर्पितालिजाले निशावसानजातजडिम्नि मन्द-मन्दसञ्चारिणि प्रवाति प्राभातिके मातरिश्वनि, कमलवन[2]प्रबोध-मङ्गलपाठकानाम् इभगण्डडिण्डिमानां मधुलिहां[3] कुमुदोदरेषु घटमान[4]-दलपुट-निरुद्ध[5]पक्ष-संहतीनामुच्चरत्सु हुङ्कारेषु[6], प्रभातशिशिरवाय्वाहत[7]मुत्तप्तजतुरसाश्लिष्ट-पक्ष्ममालमिव[8] सशेष-

(= पृषताः) तान् वहति (= धारयति) इत्येवंशीलस्तस्मिन्, तादृशे, चलितेत्यादिः—चलिताः (= कम्पिताः) पल्लवाः (= किसलयानि) यासामेवंविधाः या लताः (= व्रततयः) तासां यत् लास्यम् (= नृत्यम्) तस्य उपदेशः (= प्रशिक्षणम्) तस्य व्यसनम् (= आसक्तिः) अस्ति अस्य तस्मिन् तादृशे, विघटेत्यादिः—विघटमानानि (= विकाशं प्राप्यमाणानि) यानि कमलखण्डानि (= पद्मवनानि) तेषां मधु (= रसः) तस्य सीकराः (= कणाः) तेषाम् आसारम् (= धारा-सम्पातम्) वर्षति (= क्षिपति) एवंशीले, कुसुमेत्यादिः--कुसुमानाम् (= पुष्पाणाम्) य आमोदः (= परागः) तेन तर्पितम् (= प्रीणितम्) अलिजालम् (= भ्रमरसमूहः) येन स तादृशे, निशाव-सानेत्यादिः = निशायाः (= रात्रेः) यद् अवसानम् (= समाप्तिः) तेन जातः (= उत्पन्नः) जडिमा (= जडत्वम्, भारवत्त्वं वा) यस्य स तादृशे, अत एव, मन्द-मन्द-सञ्चारिणि = शनैः शनैः सञ्चरति एवंशीले, प्राभातिके = प्रत्यूषसम्बन्धिनि मातरिश्वनि = वायौ, प्रवाति = प्रवहति सति ["श्वसनः स्पर्शनो वायुर्मातरिश्वा सदागतिः" अमरः १।१।६१ ।]

साम्प्रतं भ्रमरस्थितिं निरूपयति—कमलेति । कमलवनस्य (= पद्मकाननस्य) प्रबोधे (= जागरणे) मङ्गलपाठकानाम् (= माङ्गलिकोच्चारणरतानाम्), इभगण्डडिण्डिमानाम् = इभानाम् (= गजानाम्) यो गण्डः (= करटः) तस्मिन् डिण्डिमानाम् (= पटहानाम्, तत्तुल्यमाचरताम्), कुमुदोदरेषु (= कमलविशेषमध्यभागेषु), घटमानेत्यादिः—घटमानानि (= सूर्योदयवशात् संकोचं प्राप्यमाणानि) यानि दलपुटानि (= पत्रकोशानि) तेषु तैर्वा निरुद्धा (= अवरुद्धा) पक्षसंहतिः (= छदसमूहः) येषां ते तादृशानाम्, मधुलिहाम् = भ्रमराणाम्, हुङ्कारेषु = 'हुम्' इत्याकारका-व्यक्तध्वनिषु, उच्चरत्सु = ब्रुवत्सु सत्सु । अत्र मधुलिट्सु मङ्गल-पाठकत्वस्य समारोपः शाब्दः, कमलवने स्वामित्वस्यारोपस्त्वार्थः—इत्येवमेकदेशविवर्तिरूपकम्, इभगण्डडिण्डिमानामित्यत्र च निरङ्गकेवलरूपकम्, एतयोः परस्परमनपेक्षया स्थित्या संसृष्टिरलङ्कार इति बोध्यम् ।

पुनः केषु सत्स्विति वर्णयति—प्रभा[ते]ति । ऊषरेत्यादिः—ऊषरा (= तृणशून्या) या शय्या (= शयनप्रदेशः) तेन धूसरा (= धूम्रवर्णा) क्रोडरोमराजिः (= हृदयप्रदेशस्थलोमश्रेणिः) येषां ते तादृशेषु, वनमृगेषु = अरण्यहरिणेषु, प्रभातशिशिरवाय्वाहतम् = प्रभातम् (= प्रत्यूषः) तस्य यः शिशिरः (= शीतलः) वायुः (= पवनः) तेन आहतम् (= पीडितम्, संस्पृष्टमिति भावः),

की बूँदों को सुखा देने वाली, जंगली भैंसों के जुगाली के फेने की बूँदों को वहन करने वाली, हिलते पल्लवों से युक्त लताओं को नृत्य के उपदेश के व्यसनवाली, खिलते हुए कमलों के समूह के पुष्परस की बूँदों की घनी वर्षा करने वाली, फूलों की गन्ध से भ्रमर-समूह को सन्तुष्ट कराने वाली, रात्रि की समाप्ति से उत्पन्न जडता (शीतलता) वाली, धीरे-धीरे चलने वाली प्रातःकालीन हवा के चलने पर;

---

१. षण्ड । २. वन इति क्वचित् नाप्युपलभ्यते । ३. मधुलिहां पटलेषु ।
४. विघटमान, घनघटमान । ५. निबद्ध । ६. झङ्कारेषु, टङ्कारेषु ।
७. मारुताहत, वायवाहत । ८. पक्ष्मजालमिव ।

निद्राजिह्मितारं[1] चक्षुरुन्मीलयत्सु शनैः शनैरुषरशय्या-धूसरक्रोडरोमराजिषु[2] वनमृगेषु, इतस्ततः सञ्चरत्सु वनचरेषु, विजृम्भमाणे श्रोत्रहारिणि पम्पासरः कलहंसकोलाहले,[3] समुल्लसति नर्तितशिखण्डिनि[4] मनोहरे वनगजकर्णतालशब्दे, क्रमेण च गगनतलमवरतो[5] दिवसकर-वारणस्यावचूल[6]चामरकलाप इवोपलक्ष्यमाणे मञ्जिष्ठारागलोहिते किरणजाले, शनैःशनैरुदिते

उत्तप्तेत्यादिः— उत्तप्ता (= अग्न्यादिनोष्णीकृतः) यो जतुरसः (= लाक्षारसः) तेनाश्लिष्टा (= आलिङ्गिता) पक्ष्ममाला (= नेत्ररोमसमूहः) यस्य तद्, इव, सशेषनिद्राजिह्मितारम् = सशेषा (= किञ्चिदवशिष्टा) या निद्रा (= स्वापः) तया जिह्मा (= कुटिला) तारा (= कनीनिका) यस्य तत्, तादृशम्, चक्षुः = नयनम्, शनैः शनैः = मन्दं मन्दम्, उन्मीलयत्सु = उद्घाटयत्सु सत्सु ।

पुनः केषु सत्स्विति निरूपयति—इतस्तत इति । इतस्ततः = सर्वत्र, वनचरेषु = अरण्य-चारिषु प्राणिषु, संचरत्सु = विचरत्सु, श्रोत्रहारिणि = श्रोत्राणि (= कर्णानि) हरति (=आकर्षयति) तच्छीले, पम्पासरःकलहंसकोलाहले = पम्पासरसः (= एतन्नामकस्य पूर्वोक्तस्य सरसः), कलहंसानाम् (= कादम्बानाम्) कोलाहले (= कलकले), विजृम्भमाणे = समुद्भूते सति, प्रसृते सतीति भावः । नर्तितशिखण्डिनि = नर्तिताः (= नाटिताः, नृत्यं कारिताः) शिखण्डिनः (= मयूराः) येन स तादृशे, मनोहरे = चित्ताह्लादके, वनगजकर्णतालशब्दे = वनगजानाम् (= आरण्यहस्तिनाम्), कर्णयोः (= श्रोत्रयोः) तालवत् (= करतलवत्) शब्दः (= ध्वनिः) तस्मिन्, समुल्लसति सति = सम्यग्रूपेणोत्थिते सति ।

क्रमेणेति । क्रमेण = परिपाट्या,गगनतलम् = आकाशतलं, मार्गमिति भावः अवतरतः = अधिरोहतः, दिवसकरवारणस्य = सूर्यहस्तिनः, मंजिष्ठारागलोहिते = मंजिष्ठा (= औषधविशेषः) तस्य यो रागः (= लौहित्यम्) तद्वत् लोहिते (= रक्तवर्णे), अवचूलचामरकलापे = अवनतः (= अधोमुखीभूता) चूला (= चूडा, अग्रभागः) यस्य स अवचूडः, स चासौ चामरकलापः (= प्रकीर्णकसमूहः) तस्मिन्, इव, उपलक्ष्यमाणे = दृश्यमाने, किरणजाले = रश्मिसमूहे सति, भगवति = ऐश्वर्यवति, सवितरि = श्रीसूर्ये, शनैः शनैः = मन्दं मन्दम्, उदिते = उदयं प्राप्ते सति ।

कमलवन को जगाने के लिये मंगल वचनों का उच्चारण करने वाले, हाथियों के गण्डस्थलों (गालों) पर डिण्डिम (नगाड़े) के सदृश आवाज करने वाले भ्रमर जिनके पंख-समूह कुमुदों (कमलविशेष) के मध्य भाग में बन्द होती हुई पंखुड़ियों में बन्द हो रहे थे, ऐसे भ्रमरों के हुंकार का उच्चारण करने पर; ऊषर (तृणादिशून्य) भूमि में शयन (लेटने) से धूसरित वक्षःस्थल के रोमसमूह वाले वनमृगों (जंगली हिरन या पशुओं) के प्रभातकालीन शीतल हवा से ताड़ित, मानों [आग में] तपाये गए लाख के रस से चिपकाए गए पलकों वाले, कुछ अवशिष्ट निद्रा के कारण जिह्म (तिरछी या अलसाई) पुतली वाले नेत्रों को धीरे धीरे खोले जाने पर; वनचरों के इधर-उधर घूमने पर; कानों को आकृष्ट करने वाले, पम्पासरोवर के कलहंसों के कोलाहल के बढ़ जाने पर; मोरों को नचाने वाले मनोहारी, जंगली हाथियों के कानों के ताल-शब्द (फड़फड़ाहट या वाद्यविशेष की

१. जिह्मिततारम्, जिह्मिततारकम् ।　२. राजिषु च ।　३. कलहंसकुल ।
४. शिखण्डिमण्डले ।　५. गगनतलमार्गम् ।　६. अवचूड, अवचूत ।

भगवति सवितरि, पम्पासरःपर्य्यन्त-तरु-शिखर-सञ्चारिणि,[1] अध्यासित-गिरिशिखरे दिवसकर-जन्मनि हृततारे पुनरिव कपीश्वरे वनमभिपतति बालातपे, स्पष्टे जाते प्रत्यूषसि, नचिरादिव दिवसाष्टमभागभाजि[2] स्पष्टभासि भास्वति भूते, प्रयातेषु च[3] यथाभिमतानि दिगन्तराणि शुक-कुलेषु, कुलाय-निलीननिभृत-शुक-शावकसनाथेऽपि[4] निःशब्दतया शून्य इव तस्मिन् वनस्पतौ,

पम्पासर इति। पम्पासर इत्यादिः—पम्पासरसः (= एतन्नामक-सरोवरस्य) पर्यन्तानि (=प्रान्तस्थितानि) यानि तरुशिखराणि (= वृक्षोर्ध्वभागाः) तेषु संचरति तच्छीलस्तादृशे, अध्यासितगिरिशिखरे = अध्यासितानि (= समाश्रितानि) गिरिशिखराणि (=पर्वतशृङ्गाणि) येन स तादृशे, दिवसकरजन्मनि = दिवसकरात् (= सूर्यात्) जन्म (= उत्पत्तिः) यस्य स तादृशे, हृततारे = हृता (=दूरीकृताः) ताराः (=नक्षत्राणि) येन स तादृशे (इदं बालातपपक्षे; सुग्रीवपक्षे तु—दिवसकरात् =सूर्यात्, जन्म = उत्पत्तिर्यस्य स तस्मिन्, हृता = अपहृता, तारा = ज्येष्ठभ्रा : वालिनः एतन्नाम्नी पत्नी येन स तादृशे), बालातपे = नवोदितसूर्यलोके, कपीश्वरे = सुग्रीवे, इव, वनम् = अरण्यम्, अभिपतति =अभिगच्छति सति। [सुग्रीवस्य जन्म सूर्यादभूदिति वाल्मीकीय-रामायणे स्पष्टम्।] अत्रोपमालुप्तोपमा च स्तः।

स्पष्ट इति। प्रत्यूषसि = प्रभाते, स्पष्टे = स्फुटतरे, व्यक्ते वा, जाते = भूते सति, भास्वति = सूर्ये, नचिरादिव = अल्पसमयेनैव, दिवसाष्टभागभाजि—दिवसस्य (= दिनस्य) योऽष्टमो भागः (= अष्टमोंऽशः) तं भजते इति तस्मिन् तादृशे, स्पष्टभासि =स्पष्टाः (= व्यक्ताः) भासः (=कान्तयः) यस्य स तादृशे, भूते = जाते सति। अत्र 'नचिरादिव' इत्यत्र 'न' शब्देन समासस्तेन 'नलोपो नञः' इत्यनेन लोपाभावः। गुणोत्प्रेक्षालंकारः।

प्रयातेष्विति। शुककुलेषु =कीरसमुदायेषु, यथाभिमतानि = यथेप्सितानि, दिगन्तराणि= दिशाविभागान्, प्रयातेषु = प्रव्रजितेषु, भोजनाहरणायेति शेषः। कुलाय-निलीनेत्यादिः—कुलायाः (=नीडाः) तेषु निलीनाः (=सुप्ताः प्रच्छन्नाः) अत एव निभृताः (=निश्चलाः निःशब्दाः) ये शुकशावकाः (=कीरशिशवः) तैः सनाथेऽपि =संयुक्तेऽपि, निःशब्दतया = भयात् कोलाहल-रहिततया, तस्मिन् =पूर्वोक्ते, वनस्पतौ = वृक्षे, शून्ये इव = पक्ष्यादिरहिते इव, विद्यमाने सतीति

आवाज) के फैलने पर; मंजीठ की लालिमा के समान लाल किरणसमूह के क्रमशः आकाशतल में उतरते हुए सूर्यरूपी हाथी के नीचे मुख वाले [मजीठ सदृश लाल रंग वाले] चामरसमूह के समान दिखाई देने पर; भगवान् सूर्य के धीरे-धीरे उदित हो जाने पर; पम्पासरोवर की सीमाओं [तटों] पर [लगे हुए] वृक्षों की चोटिओं पर विचरण करने वाले, पहाड़ की चोटिओं पर रहने वाले, सूर्य से उत्पन्न होने वाले, [सुग्रीवपक्ष में— सूर्य के पुत्र], तारों का हरण करने वाले [सुग्रीव पक्ष में—वालि-पत्नी तारा का हरण करने वाले], बाल आतप =प्रातःकालीन धूप के मानों फिर से बानरराज सुग्रीव के समान वन में आ जाने पर; [प्रातःकालीन धूप ऐसी लग रही थी मानों कपिराज सुग्रीव दुबारा वन में आ गए हों।] प्रातःकाल के स्पष्ट प्रतीत हो जाने पर; कुछ ही समय बाद दिन के आठवें भाग (= चार घड़ी) को प्राप्त करने वाले सूर्य के स्पष्ट प्रभावाला होने जाने पर; तोतों के समूहों के अपनी अभीष्ट दिशाओं की ओर चले जाने पर; घोसलों में छिपे हुए निश्चल

१. सञ्चारिणाम्। २. अष्टभागभाजि।
३. इह 'च'—इति नास्ति क्वचित्। ४. कुलाय, निभृतशावक।

स्वनीडावस्थित एव ताते, मयि च शैशवादसञ्जातबलसमुद्भिद्यमानपक्षपुटे[1] पितुः समीपवर्त्तिनि[2] कोटरगते, सहसैव तस्मिन् महावने संत्रासितसकलवनचरः, सरभसमुत्पतत्पतत्रिपक्षपुटशब्दसन्ततः[3],भीत-करिपोत-चीत्कारपीवरः,प्रचलितलताकुल-मत्तालिकुलक्वणितमांसलः[4],परिभ्रमदुद्घोण-वनवराह-रवघर्घरो[5], गिरिगुहा-सुप्त-प्रबुद्ध-सिंहनादोपबृंहितः[6], कम्पयन्निव तरून्, भगीरथाव-

भावः। अन्नोत्प्रेक्षा। स्वनीडावस्थिते = निजकुलाये तिष्ठति एव, ताते = पितरि, शैशवात् = बाल्यात्, असंजातेत्यादिः—असंजातम् (= अनुत्पन्नम्) बलम् (= उड्डयनादिसामर्थ्यम्) यस्य स तादृशं तथा समुद्भिद्यमानम् (=समुत्पद्यमानम्, यथाक्रमं द्योतमानं वा) पक्षपुटम् (=पतत्रयुग्मम्) यस्य स तस्मिन् तादृशे, मयि =शुके वैशम्पायने, पितुः =जनकस्य, समीपवर्तिनि =निकटस्थायिनि, कोटरगते =निष्कुहस्थिते सति।

सहसैवेति। तस्मिन् = पूर्वोक्ते महावने = महारण्ये, (महदरण्यमित्यर्थे 'अरण्यानी' ति शब्दः साधुः। तेन 'अरण्यान्यामि' त्यर्थः।) सहसा एव = अकस्मादेव, "मृगयाकोलाहलध्वनिः उदचरदि'ति वक्ष्यमाणेनान्वयो बोध्यः; मृगया = आखेटः, तस्याः कोलाहलध्वनिः = कलकलरूपो निनादः, उदचरत् = समुदपद्यत। कीदृशो ध्वनिस्तं प्रतिपादयति—संत्रासितेत्यादिः—संत्रासिताः (= भयं प्रापिताः) सकलाः (=समस्ताः) वनचराः (=अरण्यचारिणः जीवाः) येन स तादृशः। सरभसेत्यादिः—सरभसम् (= सवेगं यथा स्यात् तथा), समुत्पतन्तः (= उड्डीयमानाः) ये पतत्रिणः (= पक्षिणः) तेषां यानि पक्षपुटानि (=छदपुटानि) तेषां शब्दः (= निनादः) तेन सन्ततः (= सम्यग्रूपेण विस्तीर्णः), भीतेत्यादिः—भीताः (= भयग्रस्ताः) ये करिपोताः (= कलभाः)तेषां चीत्काराः (=शब्दविशेषाः) तैः पीवरः (= परिपुष्टः), प्रचलितेत्यादिः—प्रचलिताः (=प्रकम्पिताः) याः लताः (= व्रततयः) तासु आकुलाः (= व्याकुलाः) मत्ताः (= मदसहिताः) च ये अलयः (= भ्रमराः) तेषां यानि कुलानि (= समूहाः) तेषां क्वणितेन (= ध्वनिना) मांसलः (= परिपुष्टः), परिभ्रमदित्यादिः परिभ्रमन्तः (= इतस्ततः संचरन्तः) उद्घोणाः (= उन्नत-नासिकाः) ये वनवराहाः (= अरण्यशूकराः) तेषां रवः (= विशिष्टशब्दः) तेन घर्घरः (=कठोरः), गिरिगुहेत्यादिः—गिरिगुहासु (=पर्वतकन्दरासु), सुप्तप्रबुद्धाः (=पूर्वं सुप्ताः पश्चात् प्रबुद्धाश्च) ये सिंहाः (=मृगेन्द्राः) तेषां निनादेन(=गर्जनशब्देन) उपबृंहितः (= वृद्धिं प्रापितः)।

कम्पयन्निति। भगीरथेत्यादिः—भगीरथेन = एतन्नामकेन सगरपौत्रेण राज्ञा, अवतार्यमाणः (= अधोदेशे नीयमानः) यो गंगाप्रवाहः (=स्वर्धुनीस्रोतः), तस्य यः कलकलः (= कल्लोलः),

शुकों के बच्चों से युक्त होने पर भी शब्दरहित होने के कारण उस (शाल्मली) वृक्ष के सूना सा लगने पर; [मेरे] पिता के घोसले में बैठे ही रहने पर,और बचपन के कारण जिन में [उड़ने की] शक्ति उत्पन्न नहीं हो पाई थी और जो बाहर निकल रहे थे ऐसे पंखों वाले, [अपने] पिता के समीप रहने वाले मेरे कोटर में रहने पर; उस विशाल वन में अचानक ही मृगया (शिकार) के कोलाहल की आवाज होने लगी, जो सभी वनचरों को त्रस्त कर देने वाली, वेगपूर्वक उड़ने वाले पक्षियों के पंखों के पुट के शब्द से विस्तृत हो जाने वाली, डरे हुए हाथियों के बच्चों की चीत्कार से बढ़ी हुई, हिलती हुई लताओं में व्याकुल और मत्त भ्रमरसमूह की गुंजन से मांसल (खूब बढ़ी हुई), इधर उधर घूमने वाले अपने थूथन [नाक] को ऊपर कर लेने वाले जंगली सुअरों की [घरघर]

१. असञ्जातबले। २. तातस्य। ३. सततं सरभससमु०।
४. प्रचलितलताकुलित,प्रचलितलताकुलमत्तालिकुल। ५. वराहघर्घरकठोरः। ६. नादबृंहितः।

[1] तार्य्यमाणगङ्गाप्रवाहकलकल-बहलो भीतवनदेवताकर्णितो मृगयाकोलाहलध्वनिरुदचरत्।

आकर्ण्य च [2] तमहमश्रुतपूर्वमुपजातवेपथुरर्भकतया जर्ज्जरित-कर्णविवरो भयविह्वलः समीपवर्त्तिनः पितुः प्रतीकारबुद्ध्या [3] जराशिथिलपक्षपुटान्तरमविशम्।

अनन्तरञ्च [4] सरभसम् 'इतो गजयूथपति-लुलित-कमलिनी-परिमलः; इतः क्रोडकुल-दश्यमान-भद्रमुस्ता-रसामोद; इतः करिकलभ-भज्यमान-सल्लकी-कषाय-गन्धः; इतो निपतित-शुष्क-

तद्वत्, बहलः (= प्रभूतः), भीतेत्यादिः—भीताः (= भयं प्रापिताः) याः बनदेवताः (= वनाधिष्ठातृदेव्यः) ताभिः आर्काणतः (= श्रुतः), तरून् = वृक्षान्, कम्पयन् इव = प्रचालयन् इव, "मृगयाकोलाहलध्वनिरुदचरदि"त्यन्वयस्तु पूर्वमेवोक्तः।

आकर्ण्य चेति। अहम् = वैशम्पायनः, अश्रुतपूर्वम् = अनाकर्णितपूर्वम्, तम् = पूर्वोक्तम्, मृगयाकोलाहलध्वनिमिति भावः आकर्ण्य = श्रुत्वा, उपजातवेपथुः = उपजातः (= समुत्पन्नः) वेपथुः (= कम्पः) यस्य स तादृशः, अर्भकतया = शावकतया, जर्जरितकर्णविवरः = जर्जरितम् (= विदीर्णम्) कर्णयोः (= श्रोत्रयोः) विवरम् (= रन्ध्रम्) यस्य स तादृशः, भयविह्वलः = भयातुरः, प्रतीकारबुद्धया = त्रासनिराकरणबुद्ध्या, समीपवर्तिनः = निकटस्थायिनः, पितुः = जनकस्यः, जराशिथिलपक्षपुटान्तरम् = जरया (= वार्धक्येन) शिथिलम् (= श्लथम्) यत् पक्षपुटम् (= छदद्वन्द्वम्) तस्य अन्तरम् (= मध्यम्) अविशम् = प्रविष्टोऽभवम्।

साम्प्रतं कोलाहलध्वनिस्वरूपं प्रतिपादयितुमाह—अनन्तरञ्चेत्यादि। अनन्तरं च = पितुः पक्षपुटप्रवेशानन्तरं च, "कोलाहलम् = कलकलम्, अश्रणवम् = श्रुतवान्" इत्यग्रिमेणान्वयो बोध्यः, इतः = अस्मिन् प्रदेशे, सरभसम् = सवेगम्, गजयूथेत्यादिः गजयूथपतिना (= हस्तिसमूहाधिपेन गजराजेनेत्यर्थः) लुलिता (= मर्दिता) या कमलिनी (= पद्मिनी) तस्याः परिमलः (= विमर्दोत्पन्नामोदः), [एतेनात्र गजानां सत्तेत्यनुमीयते इति भावः।] इतः = अत्रस्थाने, क्रोडकुलेत्यादिः = क्रोडकुलैः (= वराहसमूहैः), दश्यमाना (= दष्ट्वा चर्व्यमाणा) या भद्रमुस्ताः (= गुन्द्राः हिन्वां,

आवाज से कठोर, पहाड़ों की गुफाओं में सोए हुए [आवाज सुन कर] जाग जाने वाले सिंह की नाद [गर्जन] से बढ़ी हुई, मानों वृक्षों को हिला डालने वाली, भगीरथ द्वारा [स्वर्ग से पृथ्वी पर] उतारी जाती हुई गंगा के प्रवाह के कलकल ध्वनि के समान प्रचुर, डरी हुई वन-देवताओं द्वारा सुनी गई थी। [ऐसी शिकार के कोलाहल की ध्वनि होने लगी।]

[उससे] पहले कभी भी न सुनी गई उस [शिकार के कोलाहल की आवाज] को सुन कर बच्चा होने के कारण काँपता हुआ, जर्जरित (विदीर्ण) कर्ण-छिद्रों वाला, भय से व्याकुल मैं [शुक शावक] प्रतीकार-बुद्धि [भय दूर करने की भावना] से पास में स्थित [अपने] पिता के वार्धक्य से शिथिल पंखपुट के भीतर घुस गया (छिप गया)।

उस [अभूतपूर्व कोलाहल] के बाद शिकार में लगे हुए, वृक्षों के कुंजों में [अपने] शरीर को छिपाए हुए विशाल जनसमूह का उस वन को क्षुब्ध कर देने वाला कोलाहल सुना जो [जनसमूह] परस्पर इस प्रकार से वेगपूर्वक कह रहा था—"इस ओर हाथियों के स्वामी (गजेन्द्र) द्वारा रौंदी गई कमलिनी की खुशबू है; इस ओर जंगली सुअरों के समूह द्वारा चबाई जाती हुई नागरमोथा के रस की गन्ध है; इस ओर हाथियों के बच्चों द्वारा तोड़ी जाती हुई सल्लकी (हाथियों की प्रिय भोज्य) पौधों

१. आवार्यमाए। २. आकर्ण्य तं। ३. जरातिशिथिल।
४. इदं क्रियाविशेषणं कोलाहलविशेषणं वा।

पत्त्रमर्म्मरध्वनिः, इतो वनमहिष-विषाण-कोटिकुलिश-भिद्यमान-वल्मीकिधूलिः, इतो मृग-कदम्बकम्, इतो वनगजकुलम्, इतो वनवराहयूथम्[1], इतो वनमहिषवृन्दम्, इतः शिखण्डि-मण्डल-विरुतम्, इतः कपिञ्जल-कुल-कलकूजितम्, इतः कुररकुल-क्वणितम्, इतो मृगपतिनख-भिद्यमान-कुम्भ-कुञ्जर-रसितम्, इयमार्द्र-पङ्कमलिना वराहपद्धतिः[2], इयमभिनव-शष्पकवल-रस-

नागरमोथे'ति प्रसिद्धाः) तासां रसस्य (= द्रवस्य) आमोदः (= सौरभम्),] एतेनात्र वराहाणां स्थितिरित्यनुमीयते। "दंष्ट्री घोणी स्तब्धरोमा क्रोडो भूदार इत्यपि।" अमरः २।५।२। "स्याद् भद्रमुस्तको गुन्द्रा" अमरः २।४।१६०] इतः = अत्र प्रदेशे, करिकलभेत्यादिः—करिकलभैः (= गजशावकैः) भज्यमानाः (= आमर्द्यमानाः) याः सल्लक्यः (= गजानां प्रियभक्ष्याः) तासां कषायः (= तुवरः) गन्धः = आमोदः ["गन्धिनी गजभक्ष्या······।···सल्लकी ह्लादिनीति च।" अमरः २। ।१२४]" इतः = अस्मिन् स्थाने, निपतितेत्यादिः—निपतितानि (= तरुभ्योऽधः प्रच्युतानि) यानि शुष्कपत्राणि (= नीरस-दलानि) तेषां मर्मर-ध्वनिः (= 'मर्मर' इति शब्द। [एतेनात्र कश्चिद्वन्यश्चतुष्पाद् विचरतीति बोध्यम्।] वनमहिषेत्यादिः = वनमहिषाः (= आरण्यकसैरिभाः) तेषां विषाणानि (= शृङ्गाणि) तेषां कोटयः (= अग्रभागाः) त एव कुलिशम् (= वज्रम्) यद्वा कोटयः कुलिशानीवेति तेन तैर्वा भिद्यमानम् (= विदीर्यमाणम्) यद् वल्मीकम् (= नाकुः, ऊर्मीकाकृतमृत्तिकास्तूपः) तस्य धूलिः (= रजः) दृश्यते इति शेषः। [एतेन तत्र वनमहिषाणामस्तित्वमनुमीयते।] 'वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुन्नपुंसकम्।" अमरः २।१।१।७]

इत इति। इतः = अत्र प्रदेशे, मृगकदम्बकम् = हरिणानां समुदायः, इतः = अत्र प्रदेशे, वनगजकुलम् = आरण्यहस्तिनां समूहः; इतः = उक्तोऽर्थः, वनवराहयूथम् = आरण्यशूकरमण्डलम्; इतः = उक्तोऽर्थः, वनमहिषवृन्दम् = आरण्यसैरिभ-समूहः; इतः = उक्तोऽर्थः, शिखण्डिमण्डलविरुतम् = शिखण्डिनाम् (= मयूराणाम्) यन्मण्डलम् (= समूहः) तस्य विरुतम् (= शब्द केकेत्यर्थः) ["केका वाणी मयूरस्य······।" अमरः २।५।३१] इतः = उक्तोऽर्थः, कपिञ्जलकुलकलकूजितम् = कपिञ्जलानाम् (= गौरतित्तिराणाम्) कुलम् (= समूहः) तस्य कलम् (= मधुरम्) कूजितम् (= शब्दितम्); इतः = उक्तोऽर्थः, कुररकुलक्वणितम् = कुरराणाम् (= मत्स्यनाशकपक्षिविशेषाणाम्) कुलम् (= समूहः) तस्य क्वणितम् (= शब्दितम्)।

इत इति। मृगपतीत्यादिः = मृगपतिः (= सिंहः) तस्य ये नखाः (= पुनर्भवाः) तैर्भिद्यमानाः (= विदार्यमाणाः) कुम्भः (= शिरः पिण्डः) येषामेवंभूताः ये कुञ्जराः (= हस्तिनः) तेषां रसितम् (= आक्रन्दितम्); इयम् = पुरो दृश्यमाना, आर्द्रपङ्कमलिना = आर्द्रः (= शुष्कः) यः पङ्कः (= कर्दमः) तेन मलिना (= मलीमसा) वराहपद्धतिः = वनक्रोडपन्थाः; इयम् = पूर्वोक्तोऽर्थः, अभिनवेत्यादिः = अभिनवानि (= अचिरोत्पन्नानि) यानि शष्पाणि (= बालतृणानि) तेषां ये कवलाः (= ग्रासाः) [तथोक्तानां चर्व्यमाणशष्पाणामिति भावः] तेषां यो रसः (= नि-

की कसैली गन्ध है; यहाँ गिरे हुए सूखे पत्तों की मर्मर आवाज है; यहाँ जंगली भैंसों के सींगों के अग्रभाग रूपी वज्र द्वारा गिराए जाते हुए दीमकों के बने हुए ढेर की धूलि है; यहाँ हिरनों का समूह है; यहाँ हाथियों का समुदाय है; यहाँ जंगली सुअरों का समूह है; यहाँ जंगली भैंसों का समुदाय है; यहाँ मयूरों के समूह की आवाज है; यहाँ कपिञ्जल (सफेद तीतर या चातक) पक्षियों के समुदाय की मधुर आवाज है; यहाँ कुरर नामक पक्षियों के समूह की आवाज है; यहाँ सिंह के नाखूनों से

१. इतो वराहयूथम्। २. वराहकुलपद्धतिः।

श्यामला हरिण-रोमन्थ-फेन-संहतिः, इयमुन्मद-गन्धगजगण्ड-कण्डूयन-परिमलनिलीन-मुखरमधुकर-विरुतिः, एषा निपतितरुधिरबिन्दुसिक्त-शुष्कपत्र-पाटला रुरुपदवी, एतद्द्विरद-चरण-मृदित-विटप-पल्लवपटलम्, एतत् खड्गिकुल-क्रीडितम्, एष नखकोटि-विकटविलिखित-पत्रलेखो रुधिरपाटलः करिमौक्तिक-दन्तुरो मृगपतिमार्गः, एषा प्रत्यग्रप्रसूतवनमृगीगर्भ-रुधिर-लोहिनी

र्यासः, द्रवः), तेन श्यामला (= कृष्णवर्णा) हरिणरोमन्थफेन-संहतिः = हरिणानाम् (= मृगाणाम्) यो रोमन्थः (= चर्वित-चर्वणम्) तस्य फेनः (= कफः) तस्य संहतिः (=समूहः); इयम् = पुरो दृश्यमाना, उन्मदगन्धेत्यादिः = उन्मदाः (= मदमत्ताः) ये गन्धगजाः (=गन्धहस्तिनः, मदविशिष्टद्विपा इत्यर्थः) तेषां यो गण्डः (= करटः) तस्य कण्डूयनेन (= कण्डूत्या) यः परिमलः (= मदगन्धः) तस्मिन् निलीनाः (= संसक्ताः) मुखराः (= वाचालाः, गुञ्जन्तः) ये मधुकराः (=भ्रमराः) तेषां विरुतिः (= झङ्कारः); एषा = पुरो विलोक्यमाना, निपतितेत्यादिः = निपतितम् (=स्रस्तम्) यद् रुधिरम् (= रक्तम्) तस्य ये विन्दवः (= पृषताः) तैः सिक्तानि (= क्लिन्नानि, सिञ्चितानि) यानि शुष्कपत्राणि (= नीरसदलानि) तैः पाटला (=श्वेतरक्ता), रुरुपदवी = रुरुनामकमृगविशेषाणां मार्गः; ["श्वेतरक्तस्तु पाटलः ।" अमरः] एतद्= अग्रे विद्यमानम्, द्विरदचरणेत्यादिः = द्विरदानाम् (= द्वौ रदौ येषां तेषां हस्तिनामित्यर्थः) चरणैः (= पादैः) मृदितम् (= मर्दितम्); विटपानाम् (= तरूणाम्) पल्लवपटलम् (= किसलयमण्डलम्); एतत् = पुरोवर्ति, खड्गिकुलक्रीडितम् = गण्डकानां समूहस्य विहृतम्, क्रीडासङ्केत इति भावः; एषः = पुरोवर्ती, नखकोटीत्यादिः— नखानाम् (= पुनर्भवाणाम्) ये कोट्यः (= अग्रदेशाः) तैः विकटाः (= भयङ्कराः) विलिखिताः (= चित्रीकृताः) पत्रलेखाः (= पत्राकृतिलक्षणानि) यस्मिन् स तथोक्तः, रुधिरपाटलः = रुधिरेण (= शोणितेन) पाटलः (= श्वेतरक्तवर्णः), करिमौक्तिकदन्तुरः = करिणाम् (= व्यापादित-गजानाम्) मौक्तिकैः (= मुक्तामणिभिः) दन्तुरः (= उच्चावचः), मृगपतिमार्गः = सिंहस्य संचरणपथः; एषा = पुरोऽवलोक्यमाना, प्रत्यग्रप्रसूतवनेत्यादिः— प्रत्यग्रं प्रसूता = सद्यः प्रसविनी, वनमृगी (= अरण्यहरिणी), तस्याः गर्भः (= भ्रूणः) तस्य रुधिरेण (= रक्तेन) लोहिनी (= रक्तवर्णा) भूमिः = पृथिवी; इयम् = समीपवर्त्तिनी, वेणिकानुसारिणी = वेणिकाम्

विदीर्ण किए जाते हुए मस्तकों वाले हाथियों की चीत्कार है; यह गीले कीचड़ से मलिन [गन्दी] सुअरों का रास्ता है; यह नई (ताजी) घास के कौर (ग्रास) के रस से सांवला, हरिनों के जुगाली के, फेने का समुदाय है; यह मदमत्त गन्ध-युक्त हाथियों द्वारा गण्डस्थल को खुजलाने के कारण निकली हुई गन्ध में लीन (डूबे हुए) शब्द करने वाले भौंरों का शब्द = झंकार है; यह गिरे हुए खून की बूंदों से सींचे गए सूखे पत्तों से पाटल वर्णवाला (गुलाबी), रुरु नामक मृगों का रास्ता है; यह हाथियों के पैरों से मर्दित वृक्ष के पत्तों का समूह है, यह गैंडों के समूह का खेलना (क्रीडास्थल) है; यह नाखूनों के अग्रभाग (नोक) द्वारा भयंकर चित्रित पत्रलेखावाला (पत्तों के समान आकार वाला), रक्त से पाटलवर्ण वाला, हाथियों की मुक्ताओं के कारण ऊँचा नीचा (विषम) सिंह का (आने जाने का) रास्ता है; यह तत्काल व्याई हुई हिरनी के गर्भ (से निकले हुए) खून से लाल

१. आलीनः । २. शिखण्डिकुलक्रीडितम् ।
३. विकटविलिखित-पत्रलेख । ४. मौक्तिकदन्तुरः ।

भूमिः,इयमटवी वेणिकानुसारिणी[1] पक्षचरस्य[2] यूथपतेर्मदजलमलिना,सञ्चार-वीथी-चमरीपङ्क्ति-रियमनुगम्यताम्, उच्छुष्कमृग-करीष-पांसुला त्वरिततरमध्यास्यतामियं वनस्थली, तरुशिखर-मारुह्यताम्, आलोक्यतां दिगियम्, आकर्ण्यतामयं शब्दः, गृह्यतां धनुः, अवहितैः स्थीयताम्, विमुच्यन्तां श्वानः'—इत्यन्योन्यमभिवदतो[3] मृगयासक्तस्य[4] महतो जनसमूहस्य तरुगहनान्तरित-विग्रहस्य क्षोभितकाननं कोलाहलमश्रृणवम् ।

(=केशबन्धम्) अनुकरोति, तच्छीला, केशवेणीतुल्या विषमेति भावः, पक्षचरस्य=समूहसंचारिणः, यूथपतेः=यूथनाथस्य द्विपेन्द्रस्य, मदजलमलिना=दानवारिश्यामा, अटवी=अरण्यभूमिः; [केचित्तु—'अटवीवेणिकानुसारिणी' इति समस्तपदं मत्वा 'संचारवीथी' इत्यस्य विशेषणं स्वीकुर्वन्ति, तत्परम्परा-विरुद्धमिति बोध्यम् ।] इयम् = पुरोवर्तमाना, सञ्चारवीथी-चमरीपङ्क्तिः = सञ्चारवीथ्याम् (=भ्रमणमार्गे) चमरीपङ्क्तिः = चमरीनामकगोविशेषस्य परम्परा, अनुगम्यताम्=अनुव्रज्यताम्, युष्माभिर्हननायेति शेषः; उच्छुष्कमृगकरीषपांसुला=उच्छुष्कैः (=शुष्कतां सम्प्राप्तैः) मृगकरीषैः (=हरिणपुरीषैः) पांसुला = धूलिविशिष्टा, इयम् = पुरोदृश्यमाना, वनस्थली = अरण्यभूमिः, त्वरितम् = सत्वरम्, अध्यास्यताम् = अवलम्ब्यताम्, हरिणानां हननायेति शेषः; [गोविट् गोमय-मस्त्रियाम् । तत्तु शुष्कं करीषः······।। अमरः २।९।५१], तरुशिखरम्=वृक्षाग्रप्रदेशः, आरुह्यताम्=आरोहणविषयीक्रियताम्; इयम्=एषा दिक्=दिशा, आलोक्यताम्=दृश्यताम्; अयम्=पुरःश्रूयमाणः, शब्दः=ध्वनिः, श्रूयताम्=आकर्ण्यताम्; धनुः=चापः, गृह्यताम्=ध्रियताम्; अवहितैः=सावधानैः, स्थीयताम्=उपविश्यताम्; श्वानः=कौलेयकाः, विमुच्यन्ताम् = प्रस्थाप्यन्ताम्, इति = पूर्वोक्तरूपेण, अन्योन्यम् = परस्परम्, अभिवदतः = सम्भाषमाणस्य, मृगयासक्तस्य = आखेटलग्नस्य, महतः = विशालस्य जनसमूहस्य=जनसमुदायस्य, तरुगहनान्तरितविग्रहस्य=तरूणाम् (=वृक्षाणाम्) गहनम् (= निकुञ्जम्) तेन अन्तरितः (= व्यवधानीकृतः) विग्रहः (= शरीरम्) यस्य स तथोक्तस्य, क्षोभितकाननम्=आन्दोलितवनम्, कोलाहलम्=कलकलम्, अश्रृणवम्=श्रुतवान् ।

अथेति । अथ=कोलाहलाकर्णनान्तरम्, नातिचिराद् एव=स्वल्पकालेनैव, "सर्वतः=सर्वासु दिक्षु, प्रचलितमिव=संचलितमिव, तदरण्यम्=तत्काननम्, अभूत=अभवद्" इति वक्ष्यमाणेनान्वयो

जमीन है; यह समूह के साथ चलने वाले गजाधिप के मदजल से मलिन, वेणिका (स्त्रियों की चोटी) का अनुकरण करने वाली अटवी (जंगल की भूमि) है ।[5]

संचरणमार्ग में चमरी गाय की इस पंक्ति (समूह) का पीछा करो;हिरनों के सूखे पुरीष (मल) से धूलिवाली इस वनस्थली में तुरन्त पहुँचो, अधिकार कर लो; पेड़ों की चोटी पर चढ़ जाओ, इस दिशा की ओर देखो; यह आवाज सुनो; धनुष पकड़ लो, सावधान खड़े हो जाओ, (शिकारी) कुत्तों को [जंगली जानवरों का पीछा करने के लिए] छोड़ दो ।" [इस प्रकार के कोलाहल को मैंने सुना ।]

१. वेणुकानुकारिणी । २. एकचरस्य, समीपचरस्य ।
३. अभिदधतो, अभिवदतो । ४. मृगयाप्रसक्तस्य, मृगयाप्रसक्तास्ते ।
५. वनभूमि रूपी चोटी का अनुकरण करने वाला, समुदायचारी गजाधिप का मदजल से मलिन संचरण-मार्ग है ।

अथ नातिचिरादेवानुलेपनार्द्र-मृदङ्गध्वनिधीरेण[1] गिरिविवर-विजृम्भित-प्रतिनादगम्भी-[2][3]रेण,शबर-[4]शर-ताडितानां केसरिणां निनादेन,संत्रस्त-यूथ-मुक्तानामेकाकिनाञ्च सञ्चरतामनवरतकरास्फोटमिश्रेण जलधर-रसितानुकारिणा गजयूथपतीनां कण्ठ[5]गर्जितेन,रसभस-सारमेयविलुप्यमानावयवानामालोल-तरल-[6]तारकाणामेणकानाञ्च करुण-कूजितेन, निहतयूथपतीनां वियो-

बोध्यः । [अत्र यानि तृतीयाविभक्त्यन्तानि पदानि तानि 'प्रचलितमि'ति वक्ष्यमाणक्रियायां विशेषणानीति बोध्यम् ।] अनुलेपनेत्यादिः = अनुलेपनम् (=उभयभागे चर्मोपरि द्रवद्रव्यविशेषसंश्लेषः) तेनार्द्रः (= क्लिन्नः) यः मृदङ्गः (= मुरजः) तस्य ध्वनिः (=तदुत्थशब्दः) तद्वत् धीरेण (=गम्भीरेण), [अत्र लुप्तोपमा बोध्या ।] गिरिविवरेत्यादिः = गिरिविवरेषु (= पर्वतच्छिद्रेषु) विजृम्भितः (= प्रसृतः) यः प्रतिनादः (=प्रतिध्वनिः) तेन गम्भीरेण (=गभीरेण, वर्द्धितेनेति भावः), शबरेति । शबरशरताडितानाम् = शबराः (=भिल्लाः) तेषां शराः (=त्यक्तवाणाः) तैः ताडितानाम् (=व्यथितानाम्, न तु मृतानामिति भावः) केशरिणाम्=सिंहानाम्, निनादेन=गर्जनशब्देन । संत्रस्तेत्यादिः = संत्रस्तम् (= व्याकुलम्) यत् यूथम् (=समुदायः) तस्मात् मुक्तानाम् (= परित्यक्तानाम्) अत एव एकाकिनाम्=अद्वितीयानाम् च, सञ्चरताम् = इतस्ततो गच्छताम्, गजयूथपतीनाम्= हस्तिसमूहाधिपतीनाम्, अनवरतकरास्फोटमिश्रेण = अनवरतम् (= निरन्तरम्) यः करास्फोटः (=शुण्डादण्डाघातः) तेन मिश्रम् (=संवलितम्) तेन । जलधररसितानुकारिणा=जलधरस्य (=वारिदस्य) यत् रसितम् (=गर्जितम्) तदनुकारिणा (=तदनुकरोति तच्छीलेन, तत्तुल्येनेति भावः), कण्ठगर्जितेन = गलविवरनिःसृतचीत्कारशब्देन । सरभसेत्यादिः = सरभसैः (= वेगसहितैः) सारमेयैः (=कुक्कुरैः) विलुप्यमानाः (=दन्तैस्त्रोटयमानाः) अवयवाः (=अङ्गानि) येषां तेषां तादृशानाम्, आलोलतरलतारकाणाम् = आलोलाः (= चञ्चलाः) तरलाश्च (=स्फुटिताश्च) तारकाः (=कनीनिकाः) येषां तेषां, तादृशानाम्, एणकानाम् = मृगाणाम्, च, करुणकूजितेन = शोकसमुत्पादकशब्देन । निहतेत्यादिः = निहताः (= व्यापादिताः) यूथपतयः (= स्वसमूहस्वामिनः) यासां तासां तादृशानाम्, वियोगिनीनाम् = मृतभर्तृकाणाम्, अनुगतकलभानाम् च =अनुगताः (= पश्चादागताः) कलभाः (=कारिशावकाः) यासां तासां तादृशीनाम्, स्थित्वा स्थित्वा = यत्र तत्रावस्थाय-अवस्थाय, कलकलम् = पूर्वोक्तं कोलाहलम्, समाकर्ण्य = संश्रुत्य, उत्कर्णपल्लवानाम् = उद् (= उर्ध्वम्) कर्णपल्लवानि (= श्रोत्रकिसलयानि) यासां तासां तादृशीनाम्, इतस्ततः = यत्र तत्र, परिभ्रमन्तीनाम् = परिभ्रमणं विदधतीनाम्, करिणीनाम् = हस्तिनीनाम्, प्रत्यग्रपतिविनाशशोकदीर्घेण = प्रत्यग्रः

तब कुछ ही देर के बाद । खाल पर लगाए गए] लेप से गीले मृदङ्ग की आवाज के समान गम्भीर, [और] पहाड़ों की गुफाओं में [से बढ़ कर निकली हुई] अत्यधिक प्रतिध्वनि से घनीभूत, सैकड़ों भीलों द्वारा मारे गए सिंहों की निनाद [दहाड़ से; तथा भयातुर [अपने] साथियों के समूह से अलग हुए [अत एव] अकेले भटकने वाले, हाथियों के समूह के सरदारों के निरन्तर सूड़ों के प्रहार (=चलाने से उत्पन्न ध्वनि) से मिश्रित, [और] मेघों की गर्जन का अनुकरण करने वाली अर्थात् उसके समान प्रतीत होने वाली कण्ठगर्जित = चिंघाड़ से; और वेगवाले [तेज दौड़ने वाले] कुत्तों द्वारा काटे जाते हुए अङ्गोंवाले तथा अत्यन्त चंचल और डरी हुई पुतलियों वाले हिरनों

१. …विवा… । २. …ध्वान… । ३. प्रतिनिनाद० । ४. क्वचित् 'शबर' इति पदं नास्त्यपि । ५. क्वापि 'कण्ठ' इति नास्त्यपि । ६. आलोलकातर ।

गिनीनामनुगत-कलभानाञ्च[1] स्थित्वा स्थित्वा समाकर्ण्य कलकलमुत्कर्णपल्लवानामितस्ततः परिभ्रमन्तीनां प्रत्यग्र-पतिविनाशशोकदीर्घेण करिणीनां चीत्कृतेन, कतिपय-दिवस-प्रसूतानाञ्च खड्गिधेनुकानां त्रास-परिभ्रष्ट-पोतकान्वेषिणीनामु[2]न्मुक्तकण्ठ[3]मारसन्तीनामाक्रन्दितेन,तरुशिखर-समुत्पतितानामाकुलाकुलचारिणाञ्च पत्त्ररथानां कोलाहलेन,[4]रूपानुसार-प्रधा[5]वितानाञ्च मृगयूणां[6] युगपदतिरभसपाद-पा[7]ताभिहताया भुवः कम्पमिव जनयता चरणशब्देन, कर्णान्ताकृष्टज्यानाञ्च

(= तत्कालीनः सद्योभव इति भावः) यः पतिविनाशः (=स्वामिनिधनम्) तेन यः शोकः (=दुःखम्) तेन दीर्घेण (= विपुलतामुपगतेन) चीत्कृतेन = चीत्कारध्वनिना । कतिपयेत्यादिः = कतिपये (= कियन्तः) ये दिवसाः (= दिनानि) तेषु प्रसूतम् (= प्रसवः कृतः) याभिस्ताभिस्तादृशीभिः, त्रासेत्यादिः =त्रासेन (= भयेन) परिभ्रष्टाः (= अदृश्यतामुपगताः) ये पोतकाः (=स्तनन्धयाः शिशवः) तान् अन्वेष्टुम् (= मार्गयितुम्) शीलं यासां तासां तादृशीनाम्, अतएव, उन्मुक्तकण्ठम् यथा स्यात् तथा आरसन्तीनाम्=आरटन्तीनाम्, खड्गिधेनुकानाम्=गण्डकस्त्रीणाम्, आक्रन्दितेन = आर्तध्वनिना, तरुशिखरेत्यादिः-तरुशिखरेभ्यः (=वृक्षप्रान्तेभ्यः) समुत्पतितानाम् (=समुड्डीयमानानाम्) आकुलाकुलचारिणाम्=आकुलाकुलं यथा स्यात् तथा विहारिणाम्, च, पत्त्ररथानाम् (=पक्षिणाम् च) कोलाहलेन = कलकलध्वनिना, ["पतत् पत्त्ररथाण्डजाः ।" अमरः २।५।३३] रूपानुसारेत्यादिः-रूपाणाम् (=मृगाणाम्) अनुसारेण (=अनुगमनेन) प्रधावितानाम् च (=प्रचलितानाम् च) मृगयूणाम् =व्याधानाम् युगपत्=एकस्मिन्नेव समये, अतिरभसपादपाताभिहतायाः (=अतिरभसेन (= अतिवेगेन) ये पादपाताः (= चरणविक्षेपाः) तैरभिहतायाः (= प्रताडितायाः) भुवः= पृथिव्याः, कम्पम् इव =वेपथुम् इव, जनयता=समुत्पादयता, चरणशब्देन =पादध्वनिना । ["रूपं मृगेऽपि बोध्यम् ।" इति हलायुधः । "व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकोऽपि सः ।" अमरः २।१०।२१] [कुत्रचित्तु—"मृगयूणामित्यस्य स्थाने "मृगयूथाना'मिति पाठः, तत्र 'रूपानुसारप्रधावितानाम्= रूपम्=शारीरिकीशक्तिस्तदनुसारेण प्रधावितानामि'त्यर्थो बोध्यः ।] कर्णान्ताकृष्टेति । कर्णान्तम् (= श्रोत्रपर्यन्तम्) आकृष्टा (= आकर्षिता) ज्या (= प्रत्यञ्चा) येषां तानि तादृशानाम्, च,

के करुण क्रन्दन से; और मारे गए स्वामियों वाली वियोगिनी तथा किशोर शिशुओं द्वारा अनुगम्यमान [जिनके पीछे पीछे छोटे बच्चे चल रहे हैं ऐसी], रुक रुक कर [उस] कोलाहल को सुनकर कर्णपल्लवों को ऊपर उठा लेने वाली, इधर उधर भटकती हुई हथिनियों के ताजे (उसी समय) पति के विनाश के शोक से बढ़े हुए चीत्कार से; और कुछ ही समय पहले ब्याई हुई [तथा] भय से नष्ट या खोये हुए बच्चों को खोजने वाली [अत एव] ऊँचे-ऊँचे स्वर से चिल्लाने वाली मादा गैंडाओं के [करुण] क्रन्दन से; और पेड़ों की चोटिओं से उड़ने वाले अत्यन्त व्याकुल होकर घूमने वाले पक्षियों के [चीं-चीं—इस प्रकार के] कोलाहल से; और मृगादि पशुओं के पीछे दौड़ने वाले शिकारियों की, एक साथ [और] अत्यन्त वेग से पैरों द्वारा ताड़ित पृथ्वी के मानों कम्पन को उत्पन्न कराते हुए पैरों की आवाज से; और कानों तक खींची गई डोरियों वाले, वाणों की वर्षा करने वाले धनुषों की, मद से

१. कलभकानाम् । २. पोतान्वेषणीनाम् । ३. कण्ठकरुणं, कण्ठं करुणं, कण्ठमतिकरुणं ।
४. निनादेन । ५. प्रस्थितानां च । ६. मृगयूथानां । ७. पादघातात् ।

मदकल-कुररकामिनी-कण्ठकूजितकलशबलितेन शरनिकरवर्षिणां[1] धनुषां निनादेन, पवनाहति-[2]
क्वणितधाराणामसीनाञ्च कठिन-महिष-स्कन्धपीठपातिनां[3] रणितेन, शुनाञ्च सरभसविमुक्त-
घर्घरध्वनीनां वनान्तरव्यापिना ध्वानेन सर्वतः प्रचलितमिव तदरण्यमभवत्[4]।

अचिराच्च प्रशान्ते तस्मिन् मृगयाकलकले, निर्वृष्ट-मूक-जलधर-वृन्दानुकारिणि मथनावसानोपशान्तवारिणि सागर इव स्तिमिततामुपगते[5] कानने,[6] मन्दीभूतभयोऽहमुपजात-[7]

शरनिकरवर्षिणाम् = वाणसमूहं वर्षन्ति इत्येवंशीलानि यानि तेषाम्, धनुषाम् = चापानाम्, मदकलेत्यादिः = मदेन कलाः (= मनोहराः) याः कुररकामिन्यः (= मत्स्यनाशनपक्षिविशेषस्त्रियः) तासां कण्ठकूजितवत् (= गलनिनादवत्) कलः (= मधुरः) तेन शबलितेन (= मिश्रितेन), निनादेन = ध्वनिना। पवनाहतीति। पवनस्य (= वायोः] आहत्या (= आहननेन) क्वणिताः (= शब्दिताः) धाराः (= तीक्ष्णांशाः) येषां ते तेषाम्, कठिनेत्यादिः = कठिनः (= कठोरः) यो महिषस्य (= सैरिभस्य) स्कन्धः (= भुजशिरः) स एव पीठम् (= स्थलम्) तत्र पातिनाम् (= प्रपतनशीलानाम्), असीनाम् = खड्गानाम्, च रणितेन = शब्दितेन। शुनामिति। सरभसविमुक्तघर्घरध्वनीनाम् = सरभसम् (= सवेगम्) विमुक्ताः (= परित्यक्ताः) घर्घरध्वनयः (=घर्घर्-इत्याकारकशब्दाः) यैस्ते तेषाम्, तथोच्चारणपराणामिति भावः, शुनाम् = सारमेयाणाम्, कुक्कुराणामित्यर्थः, वनान्तरव्यापिना = अरण्याभ्यन्तर-प्रसरणशालिना, ध्वानेन = निनादेन, सर्वतः प्रचलितमिव (कम्पितमिव), तदरण्यम् = तद्वनम्, अभूदित्यन्वयस्तु पूर्वमेवोक्तः। प्रचलितमिवेत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा बोध्या। [कौलेयकः सारमेयः कुक्कुरो भगदंशकः।" अमरः २।१०।२१। "शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वान-रव-स्वनाः।" अमरः २।६।२२।]

अचिरादिति अचिरात् = अल्पकालेन, च, तस्मिन् पूर्वोक्ते, मृगया-कलकले = आखेटोत्पन्नकोलाहले, प्रशान्ते = शान्तिं प्राप्ते, समाप्ते इति भावः निर्वृष्टेत्यादिः। निर्वृष्टाः (= निशेषेण सम्पादितवर्षणाः) [अत एव] मूकाः (= गर्जनशून्याः) ये जलधराः (= वारिदाः) तेषां यद् वृन्दम् (= समूहः) तदनुकर्तुं शीलं यस्य स तस्मिन्, तथोक्ते, कानने = वने, मथनेत्यादिः = मथनस्य सुरासुरैर्विहितमन्थनस्य, अवसाने (= समाप्तौ) उपशान्तम् (= स्वस्वरूपेणावस्थितम्) वारि (= जलम्) यस्य स तस्मिन् तादृशे, सागरेः = समुद्रे, इव = यथा, स्तिमितताम् = निश्चलताम्, उपगते = प्राप्ते सति, मन्दीभूतभयः = मन्दीभूतम् (= मन्दतामुपगतम्) भयम् (= भीतिः) यस्य स तादृशः, उपजातकुतूहलः = उपजातम् (= समुत्पन्नम्) कूतूहलम् (= औत्सुक्यम्) यस्य स तादृशः,

सुन्दर कुररनामक [मछली खाने वाले] पक्षियों की स्त्रियों के कण्ठ से निकली मधुर ध्वनि से मिले हुए, टंकार से; और हवा से टकराने के कारण शब्द करती हुई धारा वाली, भैंसों के कठोर कन्धों पर गिरने वाली [लगने वाली] तलवारों की आवाज [खनखनाहट] से; और बड़ी तेजी के साथ घुर्‌घुर् आवाज करने वाले [भौंकने वाले] कुत्तों की वन के मध्यभाग को व्याप्त कर लेने वाली आवाज [भौंक] से—वह वन सभी ओर से मानों कांप [हिल] उठा था।

१. कूजितकलेन, कूजितकलशबलेन। २. पवनाहृति। ३. पीठपाटितानाम्। ४. तदारण्यम्।
५. उपागते। ६. अत्र 'तस्मिन्' इत्यधिकः पाठोऽपि। ७. साध्वसोऽहम्।

कुतूहलः पितुरुत्सङ्गादीषदिव निष्क्रम्य कोटरस्थ एव शिरोधरां प्रसार्य्य सन्त्रास-तरल-तारकः[1] शैशवात् किमिदमित्युपजातदिदृक्षस्तामेव[2][3] दिशं चक्षुः प्राहिणवम्।

अभिमुखमापतच्च[4] तस्माद्वनान्तरादर्जुनभुजदण्ड-सहस्र-विप्रकीर्णमिव नर्म्मदाप्रवाहम्, अनिलचलितमिव[5] तमालकाननम्, एकीभूतमिव कालरात्रीणां यामसङ्घातम्, अञ्जनशिला-

अहम् = वैशम्पायनाख्यः शुकः, पितुः = जनकस्य, उत्सङ्गात् = क्रोडात्, ईषद् इव = किञ्चिदिव, निष्क्रम्य = वहिरागत्य, कोटरस्थः = वृक्षविवरस्थितः, एव, शिरोधराम् = ग्रीवाम्, प्रसार्य = विस्तार्य, सन्त्रासतरलतारकः = सन्त्रासेन (= भीत्या) तरले (=चञ्चले, क्षुब्धे) तारके (= कनीनिके) यस्य स तादृशः, शैशवात् = बाल्यात् हेतोः, 'इदम् = तदोत्पन्नमेतत्, किम्' इति = हेतोः संजातदिदृक्षः = संजाता (= समुत्पन्ना) दिदृक्षा (= द्रष्टुमिच्छा) यस्य स तादृशः, ताम् एव = कोलाहलाक्रान्तां तामेव, दिशम् = आशाम्, प्रति, चक्षुः = नेत्रम्, प्राहिणवम् = प्रेषितवान्, ददर्शेत्यर्थः। अत्रोपमालङ्कारः।

अभिमुखमिति। तस्मात् = पूर्वोक्तात्, वनान्तरात् = अरण्यमध्यात्, "अभिमुखम् आपतत् शबरसैन्यम् अद्राक्षम्" इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। [अत्र द्वितीयाविभक्त्यन्तानि पदानि शबरसैन्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्।] अभिमुखम् = सम्मुखम्, आपतत् = आगच्छत्, अर्जुनेत्यादिः = अर्जुनस्य (= सहस्रबाहोः कीर्तवीर्यस्य) राज्ञः, ये भुजदण्डाः (= बाहुदण्डाः) तेषां सहस्रम् (= दशशती) तेन विप्रकीर्णम् (= इतस्ततः पर्यस्तम्) नर्मदाप्रवाहम् = मेखलाद्रिजायाः स्रोतः, इव। [प्राचीनकाले हैहयदेशाधिपः कार्तवीर्यो राजा स्वसहस्रबाहुभिः नर्मदाप्रवाहमवरुध्य जलक्रीडां कृतवानित्यादिकं रामायणे प्रसिद्धम्।] अनिलचलितम् = वायुकम्पितम्, तमालकाननम् = तापिच्छवनम्, इव। उभयत्रोपमा। एकीभूतमिति। कालरात्रीणाम् = प्रलयकालीननिशानाम्, एकीभूतम् = एकस्मिन् संमिल्य स्थितम्, यामसंघातम् = प्रहर-समुदायम् इव। अत्रोत्प्रेक्षा।

अञ्जनेति। क्षितिकम्पविघूर्णितम् = क्षितेः (= पृथिव्याः) कम्पेन (= कम्पनेन)विघूर्णितम् (= क्षान्दोलितम्), अञ्जनशिलास्तम्भसंभारम् = अञ्जनशिलानाम् (= कज्जलपाषाणाम् यद्वा

और थोड़ी ही देर में उस शिकार के कोलाहल के शान्त हो जाने पर, वन के पूरी वर्षा कर देने से गर्जन शब्द-रहित बादलों के समूह का अनुकरण वाला हो जाने पर, [अत एव] मन्थन के अन्त में शान्त जल वाले समुद्र के समान निश्चलता प्राप्त कर लेने पर,कुछ कम भय वाला और कौतुक-युक्त मैं अपने पिता की गोद (=पंखों के भीतर) से कुछ ही बाहर निकल कर कोटर में ही स्थित रहता हुआ [अपनी] गर्दन फैलाकर, भय के कारण चंचल या क्षुब्ध पुतलियों वाला, लड़कपन के कारण 'यह क्या हुआ है ?' इस प्रकार की उत्पन्न हुई इच्छा वाला होता हुआ (मैं) उसी दिशा की ओर दृष्टि दौड़ाने लगा, देखने लगा।

और इस के बाद उस वन के बीच से सामने आते हुए एक शबरसैन्य (भीलों की सेना) को देखा, जो मानो सहस्रार्जुन (कार्तवीर्य) के हजारों भुजदण्डों द्वारा इधर-उधर बिखेरा गया नर्मदा का प्रवाह था; जो मानों हवा द्वारा प्रकम्पित तमालवृक्षों का वन था; जो मानों कालरात्रियों के एकत्रित किये गये प्रहरों का समूह था; जो मानों भूकम्प से हिलाई गई अंजन-शिला के स्तम्भों का

१. तरलतर। २. किमिति। ३. समुपजातविस्मयो दिदृक्षुः, संजातदिदृक्षः, उपजातदिदृक्षः।
४. आपतितम्, आपतन्तम्। ५. अनिलबलचलितम्, अनलवशाच्चलितमिव।

स्तम्भ-सम्भारमिव क्षितिकम्प-विघूर्णितम्, अन्धकारपुञ्जमिव[1] रविकिरणाकुलितम्[2], अन्तक-परिवारमिव परिभ्रमन्तम्, अवदारित-रसातलोद्भूतमिव[3] दानवलोकम्, अशुभ-कर्म्म-समूहमिवैकत्र समागतम्, अनेक[4]-दण्डकारण्यवासि[5]-मुनिजन-शाप-सार्थमिव सञ्चरन्तम्, अनवरत-शर-निकर-वर्षि-राम-निहत[6]-खर-दूषण-बलनिवहमिव तदपध्यानात् पिशाचतामुपगतम्[7], कलि-

---

कज्जलवत् श्यामवर्णानामिति भावः), ये शिलास्तम्भाः (= प्रस्तरनिर्मितस्थूणाः) तेषां संभारम् (= समूहम्) इव । अत्रोपमा ।

अन्धकारेति । रविकिरणाकुलितम् = रविकिरणैः (= सूर्यरश्मिभिः) आकुलितम् (=संचाल्य व्याकुलीभूतम्), अन्धकारपुञ्जम् = तिमिरसमुदायम् इव । अत्रान्धकारत्वजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा ।

अन्तकेति । परिभ्रमन्तम् = इतस्ततः पर्यटन्तम्, अन्तकपरिवारम् = अन्तकस्य (= यमस्य) परिवारम् (= परिच्छदम्) परिजनवर्गम्, इव । अत्रापि जातिस्वरूपोत्प्रेक्षैव ।

अवदारितेति । अवदारितेत्यादिः = अवदारितम् (= विदीर्णम्) यद् रसातलम् (= रसायाः = पृथिव्याः तलम्) तस्माद् उद्भूतम् = प्रकटीभूतम्, दानवलोकम् = दैत्यसमूहम् इव । अत्राप्युत्प्रेक्षा ।

अशुभेति । एकत्र = एकस्मिन् स्थाने, सङ्गतम् = मिलितम्, अशुभेत्यादिः = अशुभानाम् (= पापानाम्) कर्मणाम् (= कार्याणाम्) [कर्मधारयोऽत्र बोध्यः ।] समूहम् = संघातम्, इव । सम्पूर्णे पदे चषष्ठीतत्पुरुषः । अत्राप्युत्प्रेक्षैव ।

अनेकेति । सञ्चरन्तम् = इतस्ततः पर्यटन्तम्, अनेकेत्यादिः = अनेके (= बहवः) च ये दण्डकारण्यवासिनः (= दण्डकवननिवासिनः) मुनिजनाः (= ऋषिलोकाः) तेषां शापानाम् (= अशुभाशंसनानाम्) सार्थम् = समूहम्, इव । अत्रोत्प्रेक्षा ।

अनवरतेति । तदपध्यानात् = तस्मिन् (= रामचन्द्रे) अपध्यानम् (= दुश्चिन्तनम्) तस्मात् हेतोः, पिशाचताम् = भूतताम्, उपगतम् = प्राप्तम्, अनवरतेत्यादिः = अनवरतम् (=सततम्) शरनिकरम् (= वाणसमूहम्) वर्षतीत्येवंशीलो यो रामः (=दशरथपुत्रः) तेन निहतौ (=व्यापादितौ) यौ खरदूषणौ (= एतन्नामकराक्षसविशेषौ) तयोः बलनिवहः (= सैन्यसमूहः) तम् इव । अत्राप्युत्प्रेक्षा ।

कलिकालेति । एकत्र = एकस्मिन् स्थले, संगतम् = मिलितम्, कलिकालबन्धुवर्गम् = कलिकालः (= कलियुगः) तस्य बन्धुवर्गम् (= आत्मीयजनसमूहम्) इव । अत्रोत्प्रेक्षा ।

ढेर था; जो मानों सूर्य की किरणों से व्याकुल किया गया अन्धकार का समूह था, जो मानो इधर-उधर घूमता हुआ यमराज का परिवार था; जो मानों विदीर्ण (खोदी गई) पृथ्वीतल = पाताललोक से निकलता हुआ दानवों का समूह था; जो मानों एक स्थान पर आया हुआ पाप-कर्मों का समूह था; जो मानो दण्डकारण्य में रहने वाले अनेक मुनिजनों के शापों का समूह घूम रहा था; निरन्तर वाणों के समूह की वर्षा करने वाले रामचन्द्र द्वारा मारे गये खर और दूषण की सेना जो मानों उस (राम)

---

१. पुञ्जमिव । २. आकुलम् । ३. तलोद्गतमिव ।
४. अशेष । ५. वासित । ६. निहतम्, हतखरदूषणनिवहमिव । ७. उपागतम् ।

कालबन्धुवर्गमिवैकत्र[1] सङ्गतम्, अवगाहप्रस्थितमिव[2] वनमहिषयूथम्, अचल-शिखर-स्थित[3]-केसरि-करा-कृष्टि-पतन[4]विशीर्णमिव[5] कालाभ्रपटलम्, अखिलरूप-विनाशाय धूमकेतुजालमिव समुद्गतम्, अन्धकारित[6]काननम् अनेकसहस्रसंख्यम्, अतिभयजनकम्[7], उत्पात-वेतालव्रातमिव शबरसैन्यमद्राक्षम्।

मध्ये च तस्य महतः[8] शबरसैन्यस्य प्रथमे वयसि वर्त्तमानम्, अतिकर्कशत्वादायसमय[9]-

अवगाहेति। अवगाहप्रस्थितम् = अवगाहः (= जलादौ निमज्जनम्) तदर्थम् प्रस्थितम् (= प्रचलितम्) वनमहिषयूथम् = आरण्यसैरिभसमुदायम्, इव। अत्रोत्प्रेक्षा।

अचलेति। अचलेत्यादिः = अचलः (= पर्वतः) तस्य यत् शिखरम् (= शृङ्गम्) तस्मिन् स्थितः (= वर्तमानः) यः केसरी (= मृगाधिपः) तस्य कराभ्याम् (= पाणिभ्याम्) या आकृष्टिः (= आकर्षणम्) तया यत् पतनम् (= भूमौ भ्रंशः) तेन विशीर्णम् (= विशीर्णतामुपगतम्, बहुखण्डीभूतम्) कालाभ्रपटलम् (= श्याममेघसमूहम्) इव। ["कृष्णे नीलासित-श्याम-काल-श्यामलमैचकाः।" अमरः १।५।१४]

अखिलेति। अखिलरूपविनाशाय = अखिलानाम् (= समस्तानाम्) रूपाणाम् (= रूपधारि-पदार्थानाम्) विनाशाय (= विध्वंसाय) समुद्गतम् = उदयं प्राप्तम्, धूमकेतुजालम् = धूमकेतुसमूहम्, इव। [धूमकेतूदये सति महान् विनाशो भवतीति ज्योतिर्विदां मतम्।] अत्रोत्प्रेक्षा।

अन्धकारितेति। अन्धकारितकाननम् = अन्धकारितम् (= संजातान्धकारम्) काननम् (= अरण्यम्) येन तत् तादृशम्। अनेकसहस्रसंख्यम् = अनेकानि (= बहूनि) सहस्राणि (= दश-शतीपरिमिता) संख्या (= गणना) यस्य तत् तादृशम्। अतिभयजनकम् = उत्कृष्टभीति-समुत्पादकम्, उत्पातवेतालव्रातम् = उत्पाताय (= अशुभसूचनाय) यो वेतालव्रातः (= भूताधिष्ठितमृतकगण-समूहः) तमिव, शबरसैन्यम् = भिल्लानीकम्, अद्राक्षम् = अपश्यमिति अन्वयस्तु पूर्वमेवोक्तः॥

साम्प्रतं शबरसेनापतेः स्वरूपं वर्णयितुमारभते — मध्ये चेति। तस्य = पूर्ववर्णितस्य, महतः = विशालस्य, शबरसैन्यस्य = भिल्लानीकस्य, च, मध्ये = अन्तरे, "मातङ्गनामानं शबरसेनापतिमपश्यमि"ति

के प्रति अशुभचिन्तन के कारण पिशाचत्व को प्राप्त हुई थी; जो एक ही स्थान पर आये हुए कलियुग का बन्धुसमूह था, जो मानों [तालाब आदि में] नहाने के लिए चला हुआ जंगली भैंसों का समूह था; जो मानो किसी पर्वत पर बैठे हुए सिंह के हाथों से खीचने के कारण गिरने से इधर-उधर बिखरा हुआ काले मेघों का समूह था। [काला='काल' संस्कृत शब्द है। देखो संस्कृत-व्याख्या में अमरकोश] जो मानो सम्पूर्ण रूपवाले पदार्थों या वन्य प्राणिओं के विनाश [की सूचना देने] के लिए प्रकट हुआ धूमकेतुओं का समूह था; जो मानो सम्पूर्ण वन को अन्धकारयुक्त बनाने वाला, कई हजार की संख्या वाला, अत्यधिक भय को उत्पन्न कराने वाला, उत्पात (के सूचक या करने वाले) वेतालों का समूह था। [इसमें शबरसैन्य की विभिन्न काले, भयानक और विध्वंसक पदार्थों के रूप में उत्प्रेक्षा की गई है। अतः उत्प्रेक्षा अलंकार है।]

और मैंने भीलों की उस विशाल सेना के बीच में शबरसेनापति को देखा, जो प्रथम अवस्था = यौवनावस्था में विद्यमान अर्थात् नवयुवक था, जो अत्यधिक कठोर [शरीर वाला] होने के कारण

१. कलिकालवर्णमिव समुद्गतम्,—वर्गमिवैकत्र समागतम्। २. अवगाहोच्छ्रितप्रस्थितमिव। ३. अचलशिखरस्थसिंह। ४. शीर्णमिव। ५. कालमेघ। ६. अन्धकारिताशेषकाननम्। ७. जननम्। ८. तस्यातिमहतः। ९. आयसमिव।

मिव, एकलव्यमिव जन्मान्तरगतम्[1], उद्भिद्यमान-श्मश्रुराजितया प्रथम-मदलेखा-मण्डयमान-गण्डभित्तिमिव गजयूथपतिकुमारम्[2], असित-कुवलय-श्यामलेन[3] देहप्रभा-प्रवाहेण कालिन्दी-जलेनेव पूरिताऽरण्यम्[4], आकुटिलाग्रेण स्कन्धावलम्बिना कुन्तल-भारेण केसरिणमिव गजमद-

---

वक्ष्यमाण-पदैः सम्बन्धो बोध्यः। [अत्र द्वितीयाविभक्त्यन्तानि पदानि यानि तानि 'शबरसेनापते' विशेषणानीति बोध्यम् ।] प्रथमे=आद्ये, अत्र वार्धकापेक्षया प्राथम्यं ज्ञेयम्, तेन यौवने इत्यर्थः सिध्यति, वयसि=अवस्थायाम्, वर्तमानम्=विद्यमानम् युवकमिति भावः; अतिकर्कशत्वात्=अतिकठिनत्वात्, आयसमयम् इव=अयो=लोहस्तेन रचितमिव, अत्र क्रियोत्प्रेक्षावाचीवशब्दः; जन्मान्तरगतम्=द्वितीयजन्मप्राप्तम्, एकलव्यमिव द्रोणाचार्यशिष्यः शबरस्तम् इव अत्र द्रव्योत्प्रेक्षा।

निषादाधिपतेर्हिरण्यधनुषः पुत्रः एकलव्यो द्रोणाचार्यसमीपं धनुर्विद्यामधिगन्तुं गतः। किन्तु पार्थिव-पक्षपतिना द्रोणाचार्येण निराकृतः। तदनु तमेव गुरुं मन्यमानस्तस्य मृण्मयीं मूर्तिं विधाय तत्संमुखं स्वीयाभ्यासं कृत्वा महाधनुर्धरो जात इति महाभारते दृश्यते।]

उद्भिद्यमानेति। उद्भिद्यमानेत्यादिः=उद्भिद्यमानानि (=उत्पद्यमानानि) यानि श्मश्रूणि (=मुखलोमानि) तेषां राजि (=पंक्तिः) यस्य स तस्य भावस्तत्ता तया, प्रथमेत्यादिः=प्रथमा (=आद्या) या मदलेखा (=दानवारिरेखा), तया मण्ड्यमाने (=अलंक्रियमाणे) गण्डभित्ती (=कपोलदेशौ) यस्य स तं तादृशम्, गजयूथपतिकुमारम् = गजयूथपतेः (=हस्तिसमूहाधिपस्य) कुमारम्=युवसुतकलभम्, इव। अत्र प्रसिद्धसाम्यवर्णनादुपमालंकारः।

असितेति। असितेत्यादिः=असितम् (=नीलम्) यत् कुवलयम् (=कमलम्) तद्वत् श्यामलेन (=कृष्णवर्णेन), देहप्रभाप्रवाहेण = देहः (=शरीरम्) तस्य या प्रभा (=कान्तिः) तस्याः प्रवाहेण (=ओघेन, स्रोतसा), कालिन्दीजलेन इव=यमुनायाः सलिलेन इव, पूरितारण्यम् = पूरितम् (=भृतम्) अरण्यम् (=वनम्) येन स तं तादृशम्। कालिन्दीजलं नीलं शबरसेनापतिशरीरमपि नीलमित्युभयोः साम्यम्। अत्र वाचक-लुप्तोपमा, कालिन्दीजलेनेवेत्यत्र द्रव्योत्प्रेक्षा, तादृशकान्तिप्रवाहेण वनपूरणसम्बन्धाभावेऽपि तस्य सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिश्चेति एषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन स्थितेः सङ्करालंकार इति प्राहुः।

आकुटिलाग्रेणेति। गजमदमलिनीकृतेन=गजानाम् (=हस्तिनाम्) मदेन (=व्यापादन-लक्षणेन दानवारिणा) मलिनीकृतेन = कृष्णीकृतेन, केसरकलापेन = सटासमूहेन, उपेतम्=युक्तम्, केसरिणमिव=सिंहमिव, आकुटिलाग्रेण=आ (=ईषत्) कुटिलम् (=कुञ्चितम्) अग्रम् (=अग्रभागः) यस्य तत् तादृशेन, स्कन्धावलम्बिना = स्कन्धे (=अंसदेशे) अवलम्बते तच्छीलेन, अंसस्थायिनेति भावः, कुन्तलभारेण=केशकलापेन, उपेतम्=सहितम्। अत्र साम्यवर्णनादुपमा।

मानों लौह (फौलाद) से बना हुआ हो; [वह ऐसा दिखाई दे रहा था] मानों दूसरे जन्म में आया हुआ 'एकलव्य' (द्रोणाचार्य की मूर्ति को गुरु मानकर धनुर्विधा सीखने वाला) हो, जो अभी निकली हुई दाढ़ी और मूंछों की रेखा से उसी प्रकार अच्छा लग रहा था जिस प्रकार प्रथमतः निकली हुई मदजल की रेखा से अलंकृत गजपति का राजकुमार हो; जो नीलकमल के समान श्यामली देह की

---

१. जन्मान्तरागतम्। २. कुमारकम्। ३. श्यामेन। ४. पूरयन्तमरण्यम्।

मलिनीकृतेन केसरकलापेनोपेतम्, आयतललाटम्[1], अतितुङ्ग-घोरघोणम्[2], उपनीतस्यैककर्णाभरणतां भुजगफणामणेरापाटलैरंशुभिरालोहितीकृतेन[3] पर्णशयनाभ्यासाल्लग्न-पल्लवरागेणेव वामपार्श्वेन विराजमानम्, अचिर-प्रहत[4]-गज-कपोल-गृहीतेन सप्तच्छदपरिमलवाहिना कृष्णागुरु[5]-पङ्केनेव सुरभिणा मदेन कृताङ्गरागम्, उपरि तत्परिमलाऽन्धेन[6] भ्रमता[7] मायूर-पिच्छात[8]-

आयतेति। आयतललाटम् = आयतम् (= विस्तृतम्) ललाटम् (= भालप्रदेशः) यस्य स तं तादृशम्; अतितुङ्गघोणम् = अतितुङ्गा (= अत्युन्नता) घोरा (= रौद्रा) च घोणा (= नासिका) यस्य स तं तादृशम्। [···"घोणा नासा च नासिका।" अमरः २।६।८९]

उपनीतस्येति। एककर्णाभरणताम् = एकं च तत्कर्णम्, (= श्रोत्रम्) तस्य आभरणताम् (= भूषणताम्) उपनीतस्य = प्रापितस्य, सव्यश्रोत्रे निहितस्येति भावः, भुजगफणामणेः = भुजगस्य (= सर्पस्य) फणामणेः (= फणास्थितरत्नस्य) आपाटलैः = ईषच्छ्वेतरक्तैः, अंशुभिः = किरणैः, आलोहितीकृतेन = ईषदरुणीकृतेन, अत एव, पर्णशयनाभ्यासात् = पर्णेषु (= पत्रेषु) यत् शयनम् (= स्वापः) तस्य योऽभ्यासः (= पुनः पुनरनुभवः) तस्मात्, लग्न-पल्लवरागेण = लग्नः (= समाक्रान्तः) पल्लवानाम् (= किसलयानाम्) रागः (= आरुण्यम्) यस्मिन् तत्, तादृशेन, इव, वामपार्श्वेन = सव्यपार्श्वेन, विराजमानम् = शोभमानम्, अत्रोत्प्रेक्षा।

अचिरेति। अचिरप्रहतेत्यादिः = अचिरम् (= तत्कालम्) प्रहतः (= मारितः) यो गजः (= करी) तस्य कपोलाभ्याम् (= गण्डस्थलाभ्याम्) गृहीतेन (= समानीतेन); सप्तच्छदेत्यादिः = सप्तच्छदस्य (= सप्तपर्णवृक्षस्य) परिमलम् (= गन्धम्) वहति (= धारयति) एवंशीलस्तेन तथोक्तेन, कृष्णागुरुपङ्केन = कृष्णागुरुः (= कालागुरुः) तस्य पंकेन इव = कर्दमेन इव, सुरभिणा = सुगन्धिना, मदेन = दानवारिणा, कृताङ्गरागम् = कृतः (= विहितः) अङ्गरागः (= विलेपनम्) येन तं तथोक्तम्। अत्रोपमोत्प्रेक्षे च।

उपरीति। तत्परिमलेन = तस्य (= मदजलस्य) यः परिमलः (= उत्कृष्टगन्धः) तेन अन्धेन

कान्ति के प्रवाह द्वारा मानों उस जंगल को यमुना के जल से भर रहा था; जो आगे कुछ टेढ़े तथा कन्धों पर लटकने वाले केशों के समूह से ऐसा लग रहा था मानों हाथी के मदजल से मलिन किये गये केसरकलाप (ग्रीवास्थित जटाओं) से युक्त सिंह था; जो बहुत चौड़े मस्तकवाला था; जो बहुत ऊंची और भयानक नासिका वाला था; जो एक कान की आभूषण बनाई गई, सांप के फन की, मणि की आलोहित (= कुछ लाल लाल) किरणों से लाल-लाल किये गये अपने वामपार्श्व (बायीं ओर) से सुशोभित था अतः ऐसा लग रहा था मानों पत्तों पर शयन के अभ्यास (बार-बार शयन) से नव पल्लवों का लाल रंग लग गया हो; जिसने अचिर (कुछ समय पहले) मारे गये हाथी के कपोलस्थल से लिए गये, सप्तच्छद (सात सात पत्तों वाले छितवन) नामक वृक्ष की गन्ध को साथ में रखने वाले,

१. आयतललाटमासिनम्। २. तुङ्गघोरघोणम्। ३. भुजङ्गफणामणेः।
४. अचिराहत। ५. कृष्णागुरु। ६. पतत्।
७. परिभ्रमता। ८. मयूरपिच्छच्छत्रानुकारिणा।

पत्रानुकारिणा मधुकरकुलेन तमाल-पल्लवेनेव निवारितातपम्, आलोलपल्लवव्याजेन[1] भुजबल-निर्जितया भयप्रयुक्तसेवया विन्ध्याटव्येव करतलेनामृज्यमान-गण्डस्थल-स्वेदलेखम्,[2] आपाटलया हरिणकुल-काल-रात्रि-सन्ध्यायमानया[3] शोणितार्द्रयेव दृष्ट्या रञ्जयन्तमिवाशा-

(=विह्वलेन, समाकृष्टेनेति भावः) अत एव, उपरि=उपरिष्टात्, शिर ऊर्ध्वभागे इत्यर्थः, भ्रमता= संचरता, मायूरेत्यादिः=मायूरम् (= मयूरसम्बन्धि) यत् पिच्छम् (=बर्हम्) तस्य यत् आतपत्रम् (=तद्विरचितच्छत्रम्) तदनुकारिणा (=तदनुकर्तुं शीलमस्य तेन) तादृशेन, मधुकरकुलेन= भ्रमरसमूहेन, तमालपल्लवेन इव=तापिच्छस्य किसलयेन इव, निवारितातपम्=निवारितः (=दूरीकृतः) आतपः (= सूर्यालोकः) यस्य स तं तादृशम् । अत्रार्थी श्रौती चोपमाद्वयम् ।

आलोलेति । भुजबलनिर्जितया = भुजयोः (= करयोः) बलेन (= शक्त्या) निर्जितया (=स्ववशीकृतया), अत एव, भयप्रयुक्तसेवया = भयेन (= भीत्या) प्रयुक्ता (= आरब्धा) सेवा (=शुश्रूषा) यया सा तया तथोक्तया, विन्ध्याटव्या=विन्ध्यवनस्थल्या कर्त्र्या, आलोलपल्लव-व्याजेन=आलोलाः (= चंचलाः) ये पल्लवाः (= किसलयानि) तेषां व्याजेन (= कपटेन) करतलेन=भुजतलेन, इव, अपमृज्यमानेत्यादिः = अपमृज्यमाना (= प्रोञ्छ्यमाना) गण्डस्थलयोः (=कपोलयोः) स्वेदलेखा (=घर्मजलपङ्क्तिः) यस्य स तं तादृशम् । अत्रोत्प्रेक्षा ।

आपाटलयेति । आपाटलया=ईषच्छ्वेतरक्तया, हरिणकुलेत्यादिः = हरिणकुलस्य (= मृगाणां वंशस्य) या कालरात्रिः (= क्षययामिनी) तस्याः सन्ध्यायमानया (= सन्ध्याकालवदाचरितया) शोणितार्द्रया=रुधिरक्लिन्नया, इव, दृष्ट्या= नेत्रेण, आशाविभागानाम्=दिग्विभागानाम्, रञ्जयन्तम्= शोभयन्तम्, इव । [अत्र कर्मणि षष्ठी बोध्या । क्वचित्तु—'आशाविभागान्' इति द्वितीयान्तः पाठः । "दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः ।" अमरः १।३।१] 'सन्ध्यायमानये'ति क्यङन्तस्तेनात्रोपमा, 'शोणितार्द्रये' त्यत्र शोणितत्वगुणोत्प्रेक्षा, 'रञ्जयन्तमि' वेत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गि-भावेन सङ्करात् सङ्करालङ्कार इति प्राहुः ।

सुगन्ध से सुगन्धित मद से, मानो कृष्णागुरु (काली अगर) के कीचड़ से लेप किया हो, उसकी उत्कट गन्ध से अन्धे बनाये गये, ऊपर उड़ने वाला तथा मोर के पंखों के बने हुए छाता के समान दिखाई देने वाला भ्रमरसमूह जो कि मानो तमाल पल्लव था, के द्वारा उस (शबरसेनापति) की धूप हटायी (रोकी) जा रही थी; [कान में लगे हुए] हिलते हुए पल्लव के बहाने से मानो भुजबल से जीती गई [अत एव] भय के कारण सेवा में लगी हुई विन्ध्याटवी ही अपने करतल द्वारा जिसके गालों पर आये हुए पसीने की रेखाओं को पोंछ रही हो; (सुखा रही हो); जो कुछ लाल-लाल (गुलाबी) तथा हरिणों के समूह (वंश) के लिए कालरात्रि की (सूचक) सन्ध्या के समान बनी हुई,मानों रक्त से लाल-लाल दृष्टि (आखों) से दिशाओं के प्रदेशों की (लाल रंग से) रंग रहा हो; जो घुटनों तक लटकने वाले, मानों हाथी की सूड़ के प्रमाण (माप) से बनाए गए, चण्डिका देवी को रुधिर की बलि देने के लिए बार-बार तेज (पैने) किए गए (खड्गादि) शस्त्रों के द्वारा किए गए घर्षणों (खरोंचों) से विषमित (ऊँचे-नीचे, खुरदुरे) अग्रभाग वाले भुजद्वय से उपशोभित था; [उसकी दोनों भुजाएँ घुटनों तक लटकने वाली थीं,मानों किसी हाथी की सूड़ की माप लेकर उसी प्रकार

१. आलोलकर्णपल्लवव्याजेन । २. सलिललेखम् । ३. मृगकुलक्षयरात्रि ।

विभागानाम्,[1] आजानुलम्बेन[2] कुञ्जर-[3]करप्रमाणमिव गृहीत्वा निर्म्मितेन चण्डिका-[4]रुधिरबलि-प्रदानाया[5]ऽसकृन्निशितशस्त्रोल्लेख-विषमित-शिखरेण भुजयुगलेनोपशोभितम्, अन्तरान्तरा[6] लग्नाश्यान-हरिण-रुधिरबिन्दुना स्वेदजल-कणिका-चितेन[7] गुञ्जाफलमिश्रैः[8] करिकुम्भमुक्ता-फलैरिव रचिता[9]भरणेन विन्ध्यशिला-विशालेन[10] वक्षःस्थलेनो[11]द्भासमानम्, अविरतश्रमा-

आजानुलम्बेनेति । आजानुलम्बेन = अष्ठीवत्पर्यन्तायतेन, दिक्कुञ्जरकरप्रमाणम् = दिक्कुञ्जरः (= दिग्गजः) तस्य यः करः (= शुण्डादण्डः) तस्य प्रमाणम् (= परिमाणम्) गृहीत्वा इव = आदाय इव, निर्मितेन (= रचितेन), चण्डिकेत्यादिः = चण्डिका (= काली) तस्यै रुधिरबलेः (= रक्तोपहारस्य) प्रदानाय (= समर्पणाय), असकृत् = बारंवारम्, निशितशस्त्रोल्लेखेत्यादिः = निशितानि (= तेजितानि) यानि शस्त्राणि (= खड्गादीन्यायुधानि) तेषाम् उल्लेखः (= घर्षणम्) तेन विषमितम् (= उच्चावचीकृतम्) शिखरम् = अग्रभागः यस्य स तादृशेन, भुजयुगलेन = बाहुद्वयेन, उपशोभितम् = विराजितम् । अत्रोत्प्रेक्षा । [“जानुपर्वाष्ठीवदस्त्रियाम् ।” अमरः २।६]

अन्तरेति । अन्तराऽन्तरा = मध्ये-मध्ये, लग्नाश्यानेत्यादिः = लग्नाः (= संसक्ताः) आश्यानाः (= ईषच्छुष्काः) हरिणस्य (= मृगस्य) यद् रुधिरम् (= रक्तम्) तस्य बिन्दवः (= कणाः) यस्मिन् तेन; स्वेदजलकणिकाचितेन = स्वेदजलम् (= घर्मजलम्) तस्य कणिकाः (= क्षुद्रबिन्दवः) ताभिः चितेन (= व्याप्तेन), अतएव, गुञ्जाफलमिश्रैः = गुञ्जाफलैः (= कृष्णलाफलैः) मिश्राणि (=संयुक्तानि) तैः तादृशैः, करिकुम्भमुक्ताफलैः = गजशिरःपिण्डरसोद्भवैः, रचिताभरणेन = रचितम् (= विनिर्मितम्) आभरणम् (= आभूषणम्) यस्य तेन, तादृशेनेव विद्यमानेन, विन्ध्यशिला-विशालेन = विन्ध्यशिला (= विन्ध्यगिरिपाषाणः) इव विशालेन (= विस्तीर्णेन) वक्षःस्थलेन = उरःस्थलेन, उद्भासमानम् = सुशोभमानम् । अत्र 'विराचिताभरणेनेवे' त्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'विन्ध्यशिलाविशालेने'त्यत्र लुप्तोपमा चेत्यनयोः संसृष्टिः ।

अविरतेति । अविरतश्रमाभ्यासात् = अविरतम् (= निरन्तरम्) यः श्रमः (= शक्तिवृद्ध्यर्थं व्यायामादिरूपः श्रमः) तस्य अभ्यासात् (= भूयोभूयोऽनुष्ठानेन) उल्लिखितोदरम् = उल्लिखितम् (= चिह्नितम्, तनूकृतमिति भावः) उदरम् (= जठरम्) यस्य स तं तादृशम् ।

की बनाई गई थीं, चण्डी देवी को खून की बलि देने के लिये शस्त्र को बार-बार पैना करने के कारण जिनका अगला हिस्सा खुरखुरा हो गया हो।] जो बीच-बीच में लगे हुए हिरन के सूखे खून के बिन्दुओं (धब्बों) से युक्त तथा पसीने की बूदों से व्याप्त वक्षःस्थल से शोभायमान था, जो (वक्षःस्थल) मानो गुंजाफल से मिश्रित हाथी की मुक्ताओं द्वारा आभरण-युक्त होते हुए विन्ध्य-शिला के समान विशाल था; [उसकी छाती पर खून के लाल-लाल सूखे धब्बे और सफेद-सफेद पसीने की बूंदें ऐसी लग रही थीं कि विन्ध्यपर्वत की शिला पर गुंजाओं के साथ में हाथी की मुक्ताएँ मिल गई हों।] निरन्तर शारीरिक श्रम करने के कारण जिसका मध्यभाग (उदर या कटिप्रदेश) पतला हो गया था; जो अपने

१. आशाविभागान् । २. आजानुलम्बिना । ३. दिक्कुञ्जर, वनकुञ्जर । ४. कालिका ।
५. प्रदानार्थम् । ६. अन्तरालग्न० । ७. कण । ८. विमिश्रैः ।
९. विरचिता० । १०. विन्ध्यशिलातल० । ११. वक्षःस्थलेन, वक्षस्थलेन ।

भ्यासादुल्लिखितोदरम्[1], इभ-मद-मलिनमालान-स्तम्भयुगलमुपसहन्तमिवोरुदण्डद्वयेन, लाक्षा-लोहित-कौशेयपरिधानम्, अकारणेऽपि क्रूरतया[2] बद्धत्रिपताकोदग्रभ्रुकुटीकराले[3] ललाटफलके[4] प्रबलभक्त्याराधितया 'मत्परिग्रहोऽयमि'ति कात्यायन्या त्रिशूलेनेवाङ्कितम्,उपजातपरिचयैरनु-गच्छद्भिः, श्रमवशाद् दूरविनिर्गताभिः[5] स्वभाव-पाटलतया शुष्काभिरपि हरिण-शोणितमिव

इभमदेति उरुदण्डद्वयेन—ऊर्वोः (=अष्ठीवतोः) यद् दण्डद्वयम् (= दण्डयुगलम्) तेन, हेतुना, इभमदमलिनम् = गज-दानवारिदूषितम्, आलानस्तम्भयुगलम् = आलानम् (= गजबन्धनस्तम्भः) तयोर्युगलम् (=द्वन्द्वम्) उपहसन्तम् इव=तिरस्कुर्वन्तम् इव। अत्र क्रियोत्प्रेक्षा, आर्थी उपमा चेत्यनयोः सङ्करः। ["इभः स्तम्बेरमः पद्मी······।" अमरः २।८।३५। "आलानं बन्धस्तम्भेऽथ शृङ्खला।" अमरः २।८।४१।]

लाक्षेति। लाक्षेत्यादिः = लाक्षया (= जतुना) लोहितम् (= रक्तीकृतम्) कौशेयम् (=कृमिकोशोत्थं क्षौमवसनम्) तदेव परिधानम् (= अधोऽशुंकम्) यस्य तं तादृशम्।

अकारणेऽपीति। अकारणेऽपि = हेतोरभावेऽपि, क्रूरतया = नृशंसतया कारणेन, बद्धेत्यादिः = बद्धा (= विहिता) त्रिपताका (= पताकावत् त्रिवलिः) याभ्यां ते तादृश्यौ उदग्रे (= उन्नते) ये भ्रुकुट्यौ (=भ्रूकुट्यौ) ताभ्यां करालम् (= भीषणम्) तस्मिन् तादृशे, ललाटपट्टे = भालप्रदेशे; प्रबलभक्त्या = उत्कृष्टसेवया,आराधितया = सेवितया, कात्यायन्या = भवान्या, 'अयम् = एष मातङ्गः, तत्परिग्रहः = ममपरिजनः, कृपापात्रमिति भावः, इति कृत्वा, त्रिशूलेन = निजायुधविशेषेण; अङ्कितम् इव = चिह्नितम् इव। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। ["नृशंसो घातुकः क्रूरः······। अमरः ३।१।४७। "उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे ···।" ३।१।७० 'भ्रकुटिभ्रुकुटिर्भ्रूकुटिः स्त्रियाम्।' १।७।३७। "पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः।" अमरः ३।३।२३८।"]

उपजातेति। उपजातपरिचयैः = उपजातः (= समुत्पन्नः) परिचयः (= साङ्गत्यम्) येषां ते तैः, परिचितैरिति भावः, [अत्रेदृशानि पुंल्लिङ्गतृतीयान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'श्वभि—' रित्यस्य विशेषणानि, 'श्वभिरि'त्यस्य वक्ष्यमाणे-'अनुगम्यमानम्' इति पदेऽन्वयो बोध्यः।]अनुगच्छद्भिः= अनुव्रजद्भिः शबरसेनाधिपतेरिति शेषः।

उरुदण्डद्वय (दोनों जंघाओं) द्वारा मानों हाथी के मद से मलिन (दूषित) दो आलान-स्तम्भों (हाथी बाधने के खम्भों) का उपहास कर रहा था; [उसकी जांघें हाथी को भी बांध कर रोकने में समर्थ थीं।] लाख से लाल रंगे हुए रेशमी वस्त्र पहने हुए था; कोई विशेष कारण न होने पर भी [स्वभावतः] क्रूर होने के कारण त्रिवली (तीन सलवटें) बांध लेने वाली और ऊँची भौंहों से भयानक मस्तक पटल पर, मानों अत्यधिक भक्ति से प्रसन्न कराई गई कात्यायनी (दुर्गा) द्वारा "यह मेरा भक्त है' इस उद्देश्य से, त्रिशूल द्वारा जिसे चिह्नित कर दिया गया हो; [उसके माथे पर बनी तीन सलवटें दुर्गा के त्रिशूल के चिह्न को सूचित करती हों।] उसके पीछे अनेक रंगों वाले ऐसे कुत्ते चल रहे थे जो अत्यन्त परिचित थे, इसी कारण पीछे चल रहे थे, जो (कुत्ते) [दौड़ना आदि] परिश्रम के कारण दूर तक (लम्बी) निकली हुई, सूखी होने पर भी स्वभावतः पाटल

---

१. उल्लिखिताम्बरम्। २. क्रूरजातितया। ३. बद्धत्रिपताकाभ्रुकुटिकराले। ४. ललाटपट्टे। ५. दरविनिर्गताभिः।

क्षरन्तीभिर्जिह्वाभिरावेद्यमानखेदैः, विवृतमुखतया स्पष्ट-दृष्ट-दन्तांशून्[1] दंष्ट्रान्तराल[2]-लग्न-केसरिसटानिव[3] सृक्वभागानुद्वहद्भिः, स्थूलवराटक-मालिका-परिगत-कण्ठैर्महावराह - दंष्ट्रा-प्रहार-जर्जरैः, अल्पकायैरपि महाशक्तित्वादनुपजात-केसरैरिव केसरिकिशोरकैः[4], मृगवधू-वैधव्य-

श्रमवशादिति। श्रमवशात् = दूरदेशगमनजन्यखेदवशात्, दूरविनिर्गताभिः = दूरम् (= मुखाद् विप्रकृष्टम्) निर्गताभिः = निःसृताभिः. स्वभावपाटलतया = स्वभावः (= निसर्गः) तेन पाटलतया (= श्वेतरक्ततया) शुष्काभिरपि = शुष्कतामुपगताभिरपि, हरिणशोणितम् = मृगरक्तम्, क्षरन्तीभिः इव = स्रवन्तीभिः इव जिह्वाभिः = रसनाभिः, आवेद्यमानखेदैः = आवेद्यमानः (= परेभ्यो ज्ञाप्यमानः) खेदः (= क्लान्तिः, विषण्णता वा) यैस्तैस्तादृशैः। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः।

विवृतेति : विवृतमुखतया = विवृतम् (=विदीर्णम्) यन्मुखम् (= आस्यम्) तस्य भावस्तत्ता तया, स्पष्टदृष्टदन्तांशून् = स्पष्टम् (= स्फुटम्) यथा स्यात् तथा, दृष्टाः (= अवलोकिताः) दन्त शवः (= दशनकिरणाः) येषु तान् तादृशान्, अत एव, दंष्ट्रान्तरालेत्यादिः - दंष्ट्राणाम् (= बृहद्दन्तानाम्) अन्तरालेषु (= मध्यभागेषु) लग्नाः (= संसक्ताः) केसरिणाम् (= सिंहानाम्) सटा (= स्कन्धस्थजटा) येषु तान् तादृशानिव, सृक्कभागान् = ओष्ठप्रान्तदेशान्, उद्वहद्भिः = धारयद्भिः। अत्राप्युत्प्रेक्षालङ्कारः। ["किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिधृष्णयः।" अमरः १।३।३३]···जटा सटा। अमरः २।६।९६। "प्रान्तावोष्ठस्य सृक्विणी। अमरः २।६।९१। सृक्किणीत्यपि पाठः।]

स्थूलेति। स्थूलवराटकेत्यादिः = स्थूलाः (= स्थविष्ठाः) ये वराटकाः (= कपर्दकाः) तेषां याः मालिकाः (= मालाः) ताभिः परिगताः (=युक्ताः) कण्ठाः (=ग्रीवाप्रदेशाः) येषां ते तैस्तादृशैः। महावराहेत्यादिः = महान्तः (= विशालकायाः) ये वराहाः (= शूकराः) तेषां दंष्ट्रा-प्रहारेण (= दाढाभिघातेन) जर्जरैः (= शिथिलावयवैः)।

अल्पकायैरिति। अल्पकायैरपि = अल्पाः (= क्षुद्राः) कायाः (= देहाः) येषां ते तैरपि, महाशक्तित्वात् = अतिशयसामर्थ्यात्, अनुपजातकेसरैः = अनुपजाताः (=अनुत्पन्नाः) केसराः (=सटाः) येषां तैस्तादृशैः, केसरिकिशोरकैः इव=सिंहानां शावकैः इव। इह 'इव' शब्दः सादृश्ये तेनोपमालंकारः।

मृगवध्विति। मृगेत्यादिः = मृगवधूनाम् (= हरिणीनाम्) यद् वैधव्यदीक्षादानम् (= विगत-

(गुलाबी) होने के कारण मानों हिरनों के रक्त को चुवाती हुई जीभों से अपनी थकान सूचित रहे थे; जो (कुत्ते) फैले (खुले) हुए मुखों वाला होने के कारण स्पष्टरूप से दिखाई पड़ने वाली दांतों की किरणों वाले, मानों दाढ़ों के बीच में (बाहरी ओर) लगी हुई सिंह की सटाओं (ग्रीवाम्थित केशों) वाले सृक्कभागों (ओष्ठ के किनारों) को धारण किये हुए थे; [कुत्तों के दांतों की चमक से ऐसा लग रहा था कि वे भी सिंह के समान सटायुक्त सृक्क =ओंठ के किनारों को धारण किए हुए थे।] जिन (कुत्तों) के गले में बड़ी बड़ी कौड़ियों की मालायें पड़ी थीं; जो (कुत्ते) बड़े-बड़े सुअरों की दाढ़ों के प्रहार से जर्जर (घायल या निर्बल) हो गए थे; जो (कुत्ते) छोटे आकार वाले होने पर भी अत्यधिक शक्तिवाले होने से, जिनकी सटायें (गरदन के बाल) नहीं निकली थीं ऐसे, सिंह के बच्चों के समान थे; जो (कुत्ते) मृगों की वधुओं (मृगियों) को वैधव्य की दीक्षा देने में अत्यन्त कुशल

१. स्पष्टदंष्ट्रांशून्। २. दन्तान्तराल। ३. सटामिव। ४. किशोरैः।

[१]दीक्षादान-दक्षैरनेकवर्णैः श्वभिः; अतिप्रमाणाभिश्च केसरिणामभयप्रदान-याचनार्थमागताभिः सिंहीभिरिव [२]कौलेयककुटुम्बिनीभिरनुगम्यमानम्, कैश्चिद्[३]गृहीत-चमर-बालगजदन्तभारैः, कैश्चिदच्छिद्र-पर्ण-बद्ध-मधुपुटैः,कैश्चिन्मृगपतिभिरिव गज-कुम्भ-[४]मुक्ताफलनिकर-सनाथ-पाणिभिः, कैश्चिद्यातुधानैरिव गृहीत[५]पिशितभारैः; कैश्चित् प्रमथैरिव केसरिकृत्तिधारिभिः, कैश्चित्

भर्तृकात्वव्रतदानम्) तत्र दक्षैः (= निपुणैः), अनेकवर्णैः = अनेके (=विविधाः) वर्णाः (= रक्त-पीतादिवर्णाः) येषां ते तैस्तादृशैः, श्वभिः = सारमेयैः, अनुगम्यमानमित्यत्रान्वयः ।

अतिप्रमाणेति । अतिप्रमाणाभिः = विशालाकाराभिः, केसरिणाम् = सिंहानाम्, अभय-प्रदानयाचनार्थम् = अभयप्रदानम् (=जीवनरक्षणम्) तस्य याचना (=प्रार्थना) तदर्थम्, आगताभिः= प्राप्ताभिः, सिंहीभिरिवः = सिंहपत्नीभिरिव, कौलेयककुटुम्बिनीभिः = सारमेयभार्याभिः, कुकुरीभिरिति भावः, च, अनुगम्यमानम् = अनुव्रज्यमानम् । 'सिंहीभिरिवे'त्यत्रोत्प्रेक्षालंकारः न तूपमेति बोध्यम् ।

कैश्चिदिति । [इतः प्रभृति सर्वाणि तृतीयाबहुवचनान्तानि पदानि 'शबरवृन्दैः'रिति वक्ष्य-माणस्य विशेषणानि, तत् च 'परिवृत' मिति क्रियायामन्वेतीति बोध्यम् ।] गृहीतेत्यादिः = गृहीताः (= धृताः) चमराणाम् (= एतन्नाम्ना प्रसिद्धानां गवयानाम्) बालाः (= केशाः) गजानाम् (= हस्तिनाम्) दन्ताश्च (= दशनाश्च) तेषां भारः (= समूहाः) यैस्ते तादृशैः, कैश्चित् = कैश्चन, शबरवृन्दैरिति भावः । अग्रेऽपि अयमेवार्थो बोध्यः ।

कैश्चिदच्छिद्रेति । अच्छिद्रेत्यादिः = अच्छिद्राणि (= छिद्रशून्यानि, निविडानीति भावः) यानि पर्णानि (=दलानि) तैः बद्धानि (= नद्धानि) मधुनः (= क्षौद्रस्य) पुटानि (=सम्पुटानि) यैस्ते तादृशैः, कैश्चित् = कैश्चन ।

कैश्चिन्मृगेति । मृगपतिभिरिव = सिंहैरिव, गजकुम्भेत्यादिः = गजानाम् (= हस्तिनाम्) ये कुम्भाः (= शिरःपिण्डाः) तेषां मुक्ताफलानि (= मौक्तिकानि) तेषां निकरः (= समूहः) तेन सनाथाः (=सहिताः) पाणयः (=कराः) येषां ते तैस्तादृशैः कैश्चित् । करशब्दः शुण्डादण्डस्य बाहुदण्डस्य च वाचकः । अत्र पूर्णोपमा अभङ्गश्लेषश्चेत्यनयोः संकरः ।

अर्थात् मृगों को मारने में निपुण थे । और उस (शबर सेनापति) के पीछे कुतियाँ भी चल रही थीं, जो (कुतियाँ) बहुत बड़ी-बड़ी और (अपने पतियों) सिंहों के लिए अभय-प्रदान करने की प्रार्थना करने के लिए आई हुई सिंहिनियों के समान प्रतीत हो रही थीं; वह (शबर सेनापति) शबरों के समूह से घिरा हुआ था, जो अनेक प्रकार के आचरण (कार्य) कर रहे थे, कुछ शबरों ने चमरीमृग के बाल और हाथी के दाँतों के भार (= समुदाय, बोझ) को पकड़ रखा था; कुछ ने छिद्ररहित पत्तों में शहद ले रखा था; कुछ ने सिंह के समान अपने हाथों में हाथी के मस्तक-पिण्डों की मुक्ताओं के समूह को ले रखा था; [जिस प्रकार सिंह हाथी की मुक्ताओं को अपने हाथ = पंजे में पकड़ लेता है उसी प्रकार वे शबर भी अपने हाथों में मुक्ताओं को लिए हुए थे ।] कुछ ने यातुधानों (राक्षसों) के समान मांस का भार पकड़ रखा था; कुछ ने प्रमथों (शिव के गणों) के समान सिंह

१. दीक्षा—इति पदं क्वचिन्नपि पठ्यते । २. कौलेय, कौलटेय । ३. आगृहीत
४. विभिन्न—इत्यधिकं क्वचित् । ५. पिशिताहारैः ।

क्षपणकैरिव मयूरपिच्छधारिभिः[1], कैश्चिच्छिशुभिरिव काकपक्षधरैः, कैश्चित् कृष्णचरितमिव दर्शयद्भिः समुत्खात-विधृत-गजदन्तैः, कैश्चिज्जलदागमदिवसैरिव जलधरच्छायामलिनाम्बरैः[2],

कैश्चिद्यातुधानेति । यातुधानैः = राक्षसैः, इव, गृहीतपिशितभारैः = गृहीतः (= आत्तः) पिशितस्य (= मांसस्य) भारः (=भरः) यैस्ते तादृशैः कैश्चित् । अत्राप्यभङ्गश्लेषः, उपमा चेत्यनयोः संकरः । ["यातुधानः पुण्यजनो नैर्ऋतो यातुरक्षसी ।" अमरः १।१।६० ।"पिशितं तरसं मांसम्···।" अमरः २।६।६३]

कैश्चित्प्रमथेति । प्रमथैः = शिवगणैः, इव, केसरिकृत्तिधारिभिः = केसरिणाम् (=सिंहानाम्) कृत्तिम् (= चर्म) धारयन्ति एवंशीलैः, कैश्चित् = कैश्चन । केसरिशब्दोऽत्र व्याघ्रपरः, लोके व्याघ्रकृत्तेरेव प्रमथधारित्वं प्रसिद्धम् ।

कैश्चित्क्षपणकेति । क्षपणकैः = जैनैः दिगम्बरैः, इव, मयूर-पिच्छधारिभिः = मयूराणाम् (= बर्हिणाम्) पिच्छानि (= छदानि, बर्हाणि) धारयन्ति एवंशीलैः कैश्चित् । दिगम्बरेषु तद्धारणप्रसिद्धिः, भिल्ला अपि हतमयूराणां पिच्छं शोभार्थं धारयन्तीति भावः । अत्रोपमा ।

कैश्चिदिति । शिशुभिरिव = बालकैरिव, काकपक्षधरैः = शिखण्डधारकैः शबरवृन्दपक्षे— काकानाम् (= वायसानाम्) पक्षाणाम् (=छदानाम्) धराः = धारकाः, तैः कैश्चित् । ["काकपक्षः शिखण्डकः ।" अमरः २।६। ९६ ।]

कैश्चिदिति । समुत्खातविधृतदन्तैः = पूर्वं समुत्खाताः (= सम्यग्रूपेणोत्पाटिताः) पश्चाच्च विधृताः (= गृहीताः) गजदन्ताः (=हस्तिदशनाः) यैस्तैः, अत एव कृष्णचरितम् = वासुदेवविजृम्भितम्, दर्शयद्भिः = प्रकटयद्भिः, इव कैश्चित = कैश्चन । अत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

कंसाज्ञया तस्य हस्तिपकः श्रीकृष्णस्य वधाय कुवलयापीडनामानं हस्तिनं प्रेरितवान् । किन्तु श्रीकृष्णस्तस्यैव गजस्य दन्तावुत्पाटच तं हस्तिपकं च हतवानिति भागवतीया कथाऽत्र द्रष्टव्याः ।

कैश्चिज्जलेति । जलदागमदिवसः = जलदानाम् (= मेघानाम्) आगमः (= उत्पत्तिः) येषु ते तादृशैः दिवसैः (= दिनैः). इव, जलधरच्छायामलिनाम्बरैः = जलधराः (= मेघाः) तेषां (छाया =कान्तिः) तया मलिनम् (= मलीमसम्) अम्बरम् (= गगनम्) येषु तैस्तादृशैः; पक्षे— जलधरछायावत् मलिनानि अम्बराणि = वस्त्राणि येषां ते तैः कैश्चित् । अत्रोपमा श्लेषश्च ।

के चर्म को ओढ़ लिया था । [प्रमथ व्याघ्रचर्म रखते हैं । अतः यहाँ केसरी को व्याघ्र का उपलक्षक समझना चाहिए ।] कुछ ने क्षपणकों (जैन संन्यासियों) के समान मयूरपिच्छ धारण कर लिया था; [जिस प्रकार दिगम्बर जैन भिक्षु मोर के पंखों को साथ में रखते हैं उसी प्रकार कुछ शबर भी मोर-पंख लिए हुए थे ।] कुछ बच्चों के समान काकपक्ष (घुंघराले बालों की चोटी, शबरपक्ष में—कौवों के पंख) धारण किए हुए थे; [बालक जिस प्रकार काकपक्ष = चोटी धारण करते हैं वैसे ही वे शबर काकपक्ष = कौवों के पंख धारण किए हुए थे ।] कुछ कृष्णचरित प्रदर्शित करते हुए उखाड़ कर हाथी का दांत लिये हुए थे; [जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने कंस द्वारा प्रेरित कुवलयापीड हाथी और उसके महावत को मार कर हाथी के दांत निकाल कर पकड़ रखे थे उसी प्रकार कुछ शबर भी हाथियों के दांत उखाड़ कर पकड़े हुए थे ।] कुछ जलदागम (वर्षा ऋतु) के दिनों के समान, मेघों की छाया

१. बार्हिभिः ।　　　　२. मलिनैरम्बरैः ।

अनेकवृत्तान्तैः शबरवृन्दैः परिवृतम्, अरण्यमिव सखड्गधेनुकम्, अभिनव-जलधरमिव मयूर-पिच्छ-चित्र-चापधारिणम्, बकराक्षसमिव गृहीतैकचक्रम्, अरुणानुजमिवोद्धृतानेक-महानाग-दशनम्, भीष्ममिव शिखण्डि-शत्रुम्, निदाघदिवसमिव सतताविर्भूत-मृगतृष्णम्, विद्या-

अनेकेति । अनेकवृत्तान्तैः = अनेके (= विविधाः), वृत्तान्ताः (=चरित्राणि) येषां तैस्तादृशैः, शबरवृन्दैः = भिल्लसमूहैः, परिवृतम् = परिवेष्टितम्, 'शबरसेनापतिमपश्यमि' त्यत्रान्वयः ।

अरण्यमिवेति । अरण्यम् = वनम्, इव, सखड्गधेनुकम् = खड्गः (= असिः) धेनुका (=छुरिका) च, ताभ्यां सह वर्तमानम्, अरण्यपक्षे—खड्गाः (=गण्डकाः) धेनुकाः (= अरण्यकरिण्यः) च, तैः सह=युक्तम् । उपमा । ["छुरिका चासिधेनुका" । अमरः २।८।९२ "धेनुका तु करेण्वां च···।" अमरः २।८।३६ "गण्डके खड्गखड्गिनौ ।" अमरः २·५।४]

अभिनवेति । अभिनवजलधरम् = अभिनवः (= नूतनः) यो जलधरः (=वारिदः) तम् इव, मयूरेत्यादिः = मयूराणाम् (= बर्हिणाम्) पिच्छानि (= छदाः) तद्वत् चित्रम् (= विविध-वर्णधारि) यच्चापम् (= धनुः) तद्धारिणम् (= तद्धत्ते इत्येवंशीलम्); पक्षे = मयूरपिच्छवत् चित्रम् चापम् = इन्द्रधनुस्तद्धारिणमित्यर्थः । अत्रोपमा ।

बकराक्षसमिति । बकराक्षसम् = बकः=बकाख्यो यो राक्षसः (= यातुधानः) तम् इव, गृहीतैकचक्रम्=गृहीतम् (=धृतम्) एकचक्रम्=एकम् (=अद्वितीयम्) चक्रम् (=आयुधविशेषः) येन तम्, पक्षे—गृहीता (=स्ववशीकृता) एकचक्रा (=एतन्नामिका नगरी) येन स तं तादृशम् । अत्रोपमा ।

अरुणेति । अरुणानुजम् = अरुणः (= सूर्यसारथिः) तस्यानुजः = भ्राता गरुडः, तमिव, उद्धृतानेकमहानागदशनम् = उद्धृताः (= उत्खाताः) अनेकेषाम् (= बहूनाम्), महानागानाम् (=विशालगजानाम्) दशनाः (=दन्ताः) येन स तं तादृशम्, पक्षे—उद्धृताः अनेकेषां महानागानाम् (= विशालसर्पाणाम्) दशनाः (= दन्ताः) येन स तम् । अत्रोपमा । ["मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरः वाणः करी ।" अमरः २।८।३४ "नागाः काद्रवेयास्तदीश्वराः ।" अमरः १।८।४]

भीष्ममिति । भीष्मः = देवव्रतः, तमिव, शिखण्डिशत्रुम् = शिखण्डिनः (= मयूराः) तेषां शत्रुः (=घातकः) तमिव, पक्षे—शिखण्डिनः=एतन्नाम्नः द्रुपदात्मजस्य, शत्रुम्=रिपुम्, इव । अत्राप्युपमा । अत्र विषये महाभारतीया कथाऽतिप्रसिद्धा ।

निदाघेति । निदाघदिवसमिव = निदाघः (= ग्रीष्मकालः) तस्य दिवसः (= दिनम्)

(परछाईं या कान्ति) के समान मलिन वस्त्र वाले थे, [वर्षा ऋतु के दिन भी मेघों की छाया से अम्बर को मलिन कर देने वाले हैं । अम्बर = वस्त्र और अम्बर=आकाश दो अर्थों का वाचक है । शबर पक्ष में वस्त्र और वर्षा-ऋतु-दिवस पक्ष में आकाश अर्थ है ।] पूर्वोक्त विशेषताओं वाले शबरों से वह सेनापति घिरा हुआ था । जो (शबरसेनापति) खड्ग (= गैंडा) और धेनुका (= हथिनी) से युक्त वन के समान खड्ग (तलवार) और धेनुका (चाकू) से युक्त था; जो मयूरपिच्छों (मोर के पंखों) के समान रंग बिरंगे इन्द्रधनुष को धारण करने वाले नये बादल के समान मयूरपिच्छों (मोर के पंखों) से सुशोभित धनुष को धारण किये हुए था; जिस प्रकार बक नामक राक्षस ने एकचक्रा नामक नगरी को अपने अधीन कर लिया था उसी प्रकार जिस (शबरसेनापति) ने एक चक्र (पहिया) को (शस्त्र के रूप में) पकड़ रखा था; जिस प्रकार अरुण (=सूर्य के सारथि) के अनुज गरुड़ ने अनेक महानागों (विशाल सांपों) के दशन (दांत) उखाड़ दिये थे उसी प्रकार जिस (शबरसेनापति) ने अनेक महानाग (= विशाल हाथियों) के दाँतों को उखाड़ लिया था;

धरमिव मानसवेगम्, पराशरमिव[1] योजनगन्धानुसारिणम्, घटोत्कचमिव भीमरूपधारिणम्, अचलराजकन्यका-केशपाशमिव नीलकण्ठ-चन्द्रकाभरणम्, हिरण्याक्ष[2]-दानवमिव महावराह-दंष्ट्रा-

तम् इव, सततविर्भूतमृगतृष्णम् = सततम् (= निरन्तरम्) आविर्भूता (= प्रकटीभूता) मृगेषु (=हरिणेषु, तद्वधेषु इति भावः) तृष्णा (=अभिलाषः, हननेच्छा) यस्य स तम् । पक्षे—सततम् आविर्भूता मृगतृष्णा (=मृगमरीचिका सूर्यकिरणेषु जलभ्रमः) यस्मिन् स तं तादृशम् । उपमा श्लेषश्च ।

विद्याधरमिवेति । विद्याधरः :: देवयोनिविशेषः, तमिव, मानसवेगम्—मानेन (=अहंकारेण) सवेगम् = वेगसहितम्, तीव्रगतिकम्, यद्वा मानसम् = चित्तम् तद्वत् वेगः यस्य स तं तादृशम् । पक्षे— मानसे - मानसाख्ये सरोवरे,वेगः=गमनाय जवः,यस्य स तं तादृशम्, अत्रोपमा । ["विद्याधरोऽप्सरोय-क्षरक्षो गन्धर्वकिन्नराः ।" अमरः १।१।११ "···स्वान्तं हृन्मानसं मनः ।।" अमरः ।४।३१ ।]

पराशरमिवेति । पराशरः=एतन्नाम्ना ख्यातः व्यासपिता तमिव, योजनगन्धानुसारिणम्= योजनम् (=चतुष्कोशव्यापि) गन्धः (=सौरभम्) अस्ति यस्य सः—योजनगन्धः = कस्तूरीमृगः, [अत्र बहुव्रीहिणैव निर्वाहे मत्वर्थीय-प्रत्ययचिन्ता न समीचीना ।] तम् अनुसरति = अनुगच्छति— इत्येवंशीलः स तम्, पक्षे—योजनगन्धा = धीवरराजकन्या व्यासमाता, तामनुसरति = अनुरुणद्धि, इत्येवंशीलः, तम् । "योजनं परमात्मनि । चतुष्कोश्यां च योगे च ।" इति मेदिनी । "व्यासमातरि । कस्तूरीशीतयोश्च ।" इति भानुचन्द्रोद्धृत-कोशः ।

पुरा कदाचित् पराशरमुनिर्धीवरराजकन्यां योजनगन्धामवलोक्य तस्यामासक्तोऽभवत्,तदा तपोबलेन कुहकं निर्माय मैथुनायोपाक्रमत, तेन च कृष्णद्वैपायनो व्यासो जात इति प्रसिद्धा कथाऽत्र द्रष्टव्या ।

घटोत्कचमिवेति । घटोत्कचः=हिडिम्बायां भीमसेनेन जातः सुतः, तमिव, भीमरूपधारिणम्= भीमम् (= भयानकम्) रूपम् (= आकारम्) धारयति, इत्येवंशीलस्तम्, पक्षे—भीमस्य (=स्वपितुः वृकोदरस्य) रूपम् (=आकृतिम्) धारयति इत्येवंशीलस्तं तादृशम् । अत्रोपमा ।

अचलराजेति । अचलेत्यादिः=अचलराजः (=गिरिराजो हिमालयः) तस्य कन्यका (=पुत्री

जो शिखण्डी (=द्रुपदराज के पुत्र) के शत्रु भीष्म के समान शिखण्डी = शिखण्डियों (= मोरों) का शत्रु था; जो अनवरत मृगतृष्णा (= मृगमरीचिका) को प्रकट करनेवाले निदाघ (=गर्मी) के दिनों के समान सदैव मृगों (को मारने) की तृष्णा (लालच) प्रकट करनेवाला था; जो मानसरोवर की ओर वेग से जाने वाले विद्याधर (देवयोनि-विशेष) के समान मान (अहंकार) से सवेग (= तेज चलने वाला) था; [अथवा—मानस = मन के समान वेगवाला था ।] जो योजनगन्धा (= व्यास की माता सत्यवती) का अनुसरण करने वाले, (उस पर कामासक्त होने वाले) पराशर ऋषि के समान योजन (चार कोस) से गन्धयुक्त कस्तूरी मृग का पीछा करने वाला था; [एक बार मल्लाह की कन्या सत्यवती को देखकर पराशर ऋषि कामान्ध हो गए और उसके पिता से उसको माग लिया। उसी से पुराणरचयिता व्यास की उत्पत्ति हुई थी । जैसे पराशर योजनगन्धा के पीछे दौड़ पड़े वैसे शबरसेनापति गन्धमृग के पीछे दौड़ता था । अथवा एक योजन दूर से गन्ध का अनुभव कर लेता था ।] जिस प्रकार घटोत्कच (हिडिम्बा राक्षसी के पुत्र) ने भीमसेन (अपने पिता) का रूप (आकार) धारण किया था उसी प्रकार जो (सेनापति) भीम (भयानक) आकार धारण किये हुए था । [पुत्र प्रायः पिता की आकृति के समान आकृति वाले होते हैं । अथवा "आत्मा वै जायते पुत्रः" के अनुसार वह घटोत्कच भीम का ही रूप धारण किए हुए था ।] पर्वतराज हिमालय की पुत्री पार्वती जिस प्रकार नीलकण्ठ (शंकर) के चन्द्रमा को आभूषण बनाये हुए हैं, उसी प्रकार उसने भी नीलकण्ठ (= मोर) के चन्द्रकों (पंखों) को आभूषण

१. पाराशरमिव । २. हिरण्याक्ष ।

विभिन्न-वक्षःस्थलम्, अतिरागिणमिव कृत-बहु-बन्दी-परिग्रहम्,[1] पिशिताशनमिव रक्तलुब्धकम्,[2] गीतकलाविन्यासमिव निषादानुगतम्,[3] अम्बिका-त्रिशूलमिव महिष-रुधिरार्द्रकायम्, अभिनव-

---

पार्वती) तस्याः यः केशपाशः (=कचसमूहः), तमिव,नीलकण्ठ-चन्द्रकाभरणम्=नीलकण्ठः (=मयूरः) तस्य चन्द्रका (=मेचकाः) एव आभरणानि यस्य स तं तादृशम्, यद्वा—नीलकण्ठः=मयूरः, तस्य चन्द्रकाः=मेचकाः, तेषामा=समन्ताद् भरणम्=धारणम् यस्मिन् स तादृशम्। पक्षे—नीलकण्ठः= शंकरः, तस्य चन्द्र एव=चन्द्रकः (=शशी) स एव आभरणम् (=आभूषणम्) यस्य स तं तादृशम्। अर्धनारीश्वररूपत्वेन चन्द्रस्योभयाभूषणत्वसम्भवात्। ["केका वाणी मयूरस्य समौ मेचकचन्द्रकौ।" अमरः २।५।३१]

हिरण्याक्षेति। हिरण्याक्षदानवम्=हिरण्याक्षः (=हिरण्यकशिपोः भ्राताः) दानवः (=दैत्यः) तम् इव, महावराहेत्यादिः = महावराहाः (= विशालाः वनशूकराः) तेषां दंष्ट्राः (= दाढाः) ताभिः विभिन्नम् (=विक्षतम्) वक्षःस्थलम् (=उरःस्थलम्) यस्य स तं तादृशम्। पक्षे—महावराहः= विष्णोस्तृतीयावतारः शूकरः, तेन दंष्ट्रया विभिन्नम् (=विदारितम्) वक्षःस्थलं यस्य स तं तादृशम्। अत्रोपमा।

पुरा हिरण्याक्षासुरो सर्वान् पीडयति स्म। तस्य वधार्थं भगवता विष्णुना वराहरूपं धृत्वा स्वदंष्ट्राभिस्तस्य वक्षस्थलं विदीर्य तं जघान, सलिलमग्नां पृथ्वीं चोदधारयदिति प्रसिद्धा कथा।

अतिरागिणमिति। अतिरागिणमिव=अतिरागाभिभूतमति-यशोऽभिलाषिणमिव, कृतबहुबन्दी-परिग्रहम् = कृतः (=विहितः) बहूनाम् (=अनेकेषाम्) वन्दीनाम् (= अपहृतवधूनाम्) परिग्रहः (=पत्नीत्वेन स्वीकारः) येन स तं तादृशम्, पक्षे—कृतो बहूनां वन्दिनाम् (=मङ्गलपाठकानाम्) परिग्रहः (=एकत्रीकरणम्) येन स तं तादृशम्। 'बन्दीपरिग्रहम्'—इत्यत्र श्लेषेणार्थद्वयप्रतीतिः, किन्तु ह्रस्वत्वं कथमिति चिन्त्यम्। केचित्तु—'श्लेषे स्वरो न गण्यते' इति ह्रस्वदीर्घार्थः श्लेषः। अत्रोपमा श्लेषश्च।

पिशितेति। पिशिताशनम् = पिशितम् (= मांसम्) अशनम् (= भोजनम्) यस्य स तम्; मांसभक्षकम्, इव, रक्तलुब्धकम् = रक्ताः (= अनुरक्ताः) लुब्धकाः (= व्याधाः) यस्मिन् स तं तादृशम्। पक्षे—रक्ते (= शोणिते) लुब्धकम् (= साभिलाषम्) स्वार्थे कः प्रत्ययः, उपमालंकारः। ["पिशितं तरसं मांस पललं क्रव्यमामिषम्।" अमरः २।६।६३ "व्याधो मृगवधाजीवा मृगयुर्लुब्धकोऽपि सः।" अमरः २। ०।२१।]

गीतकलेति। गीतकलाविन्यासमिव=गीतकला (=ज्ञेयविज्ञानम्) तस्या विन्यासः (=रचना) तमिव, निषादानुगतम् = निषादैः (= भिल्लैः) अनुगतम् (= पश्चाद्गतम्), पक्षे—निषादः (=तन्त्रीकण्ठोद्भवः स्वरः) तेन अनुगतम् (=सहितम्)।

बनाया था; जिस प्रकार हिरण्याक्ष दानव का वक्षःस्थल महावराह (= वराह अवतार) द्वारा दाढ़ से विदीर्ण किया गया था, उसी प्रकार उसका वक्षःस्थल भी महावराह (= बड़े-बड़े सुअरों) द्वारा दाढ़ से फाड़ा गया था; जिस प्रकार अत्यन्त रागी (विषयासक्त) व्यक्ति बहुत सी वन्दी (बलपूर्वक जीतकर अधीन की गई) स्त्रियों को रखता है उसी प्रकार उसने भी अनेक स्त्रियों को बन्दी बनाकर रखा था; [अथवा रागी व्यक्ति जिस प्रकार बहुत से वन्दी = चापलूसों को रखता है उसी प्रकार उसने भी अनेक लोगों को साथ में रख लिया था।] जिस प्रकार पिशिताशन (मांसभक्षी राक्षस) रक्त के विषय में लालचयुक्त रहता है उसी प्रकार वह भी रक्त (अनुरक्त) लुब्धकों (= व्याधों)

---

१. वन्दि···। २. ···विन्यासमिव, ···कलाभिलाष। ३. बहुरक्त।

यौवनमपि क्षपित-[1]बहुवयसम्, कृत-सारमेय-संग्रहमपि फलमूलाशनम्,[2] कृष्णमप्यसुदर्शनम्,

"निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः।
पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकुण्ठोत्थिताः स्वराः॥ अमरः १।७।१।
निषादश्वपचावन्तेवासिचाण्डालपुक्कसाः॥" अमरः २।१०।२०

अम्बिकेति। अम्बिकात्रिशूलम् = अम्बिका (= भवानी) तस्याः त्रिशूलम् (= आयुधविशेषः), तदिव, महिषरुधिरार्द्रकायम्—महिषाणाम् (= सैरिभाणानाम्) रुधिरेण (= रक्तेन) आर्द्रः (= क्लिन्नः, लिप्तः) कायः (= देहः) यस्य तं तादृशम्; पक्षे—महिषस्य (= महिषासुरस्य) रक्तेन क्लिन्नः कायः यस्य स तम्।

अभिनवेति। अभिनवयौवनम् = अभिनवम् (= नवीनम्, मनोहारि वा) यौवनम् (= तारुण्यम्) यस्य स तम्, तादृशमपि, क्षपितबहुवयसम् = क्षपितानि (= व्यतीतानि) बहूनि (= अनेकानि) वयांसि (= बाल्याद्यवस्थाः) येन स तम्—अत्र विरोधः; परिहारस्तु—क्षपितानि (= हतानि) बहूनि (= अनेकानि) वयांसि (= पक्षिणः) येन स तं तादृशम्। "अत्र विरोधाभासोऽलंकारः। ["खगबाल्यादिनोर्वयः। अमरः ३।३।२३१]

कृतसारमेयेति। कृतसारमेयसंग्रहम् = कृतः (= विहितः) सारस्य (= धनादेः) मेयस्य (= परिमातुं योग्यस्य धान्यादेः) संग्रहः (= संचयः) येन स तम्, तादृशमपि, फलमूलाशनम्—फलानि मूलान्येव च अशनम् (= भक्षणम) यस्य स तं तादृशमिति विरोधः परिहारस्तु—कृतः सारमेयाणाम् (= शुनाम्) संग्रहो येन स तं तादृशमिति। "सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु।" अमरः ३।३।१७१ इत्यनुसारं सारशब्दोऽत्रोत्तमार्थपरो बोध्यः, तेन कृतः साराणाम् = उत्तमानाम्, मेयानां पदार्थानां संग्रहो येनेत्यर्थः समीचीनः।

कृष्णमिति। कृष्णम् = विष्णुम्, अपि, असुदर्शनम् = अविद्यमानम् सुदर्शनम् (= एतन्नामकं चक्रम्) यस्य स तम्, तादृशमपि—इति विरोधः, परिहारस्तु—कृष्णम् (= श्यामवर्णम्) अपि, असुदर्शनम् (= सुन्दरदर्शनशून्यम्, भीमदर्शनमिति भावः)। विरोधाभासोऽलङ्कारः। ["विष्णुर्नारायणः कृष्णः ······। अमर १।१।१८। "कृष्णे नीलासितश्याम-कालश्यामलमेचकाः।" १।५।१४। "शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यश्चक्रं सुदर्शनः।" अमरः १।१।२८]

से युक्त था; जिस प्रकार गीतकला का विन्यास (रूपविशेष) निषाद नामक स्वर से अनुगत (युक्त) होता है उसी प्रकार वह भी निषादों (एक निकृष्ट जातिविशेष के लोगों) से युक्त था; जिस प्रकार अम्बिका (दुर्गा) का त्रिशूल (शस्त्रविशेष) भैंसे के खून से गीले शरीरवाला होता है उसी प्रकार वह भी भैंसे के खून से आर्द्र शरीरवाला था; [यहाँ से विरोधाभास द्वारा शबरसेनापति का वर्णन प्रस्तुत है -- वह नयी जवानी से युक्त था तो भी बहुत अवस्था बिता चुका था; [यह विरोध है, अतः 'क्षपित-बहुवयसम् = मार डाले हैं बहुत से पक्षी जिसने ऐसा यह अर्थ करके विरोध दूर करना चाहिए है। वयः = अवस्था, और पक्षी] तौलनेयोग्य सारभूत (उत्कृष्ट) वस्तुओं का संग्रह किये हुए भी केवल फल और मूल (जड़ों) को खाने वाला था; [यह विरोध है अतः 'कृतसारमेयसंग्रहम् = किया है सारमेय = कुत्तों का संग्रह जिसने—यह अर्थ करके परिहार करना चाहिये।] वह कृष्ण होता हुआ भी असुदर्शन = सुदर्शन चक्र से रहित था; [यह विरोध है, अतः 'असुदर्शन = अच्छे

१. क्षयित। २. फलमूलाशिनम्, फलाशिनम्।

स्वच्छन्दचारमपि[1] दुर्गैकशरणम्, क्षितिभृत्पादानुवर्तिनमपि राजसेवानभिज्ञम्, अपत्यमिव विन्ध्याचलस्य[2], अंशकाऽवतारमिव कृतान्तस्य, सहोदरमिव पापस्य, सारमिव[3] कलिकालस्य, भीषणमपि महासत्त्वतया गभीरमिवोपलक्ष्यमाणम्, अनभिभवनीयाकृतिम्[4], मातङ्गनामानं[5]

स्वच्छन्देति । स्वच्छन्दचारम् = स्वच्छन्देन (= स्वेच्छया) चारः (= भ्रमणम्) यस्य स तं तादृशमपि, दुर्गैकशरणम् = दुर्गम् (= कोट्टम्, दुर्गमस्थानं वा) एव एकम् (= एकमात्रम्) शरणम् (= आश्रयः) यस्य स तं तादृशमिति विरोधः, परिहारस्तु--दुर्गा (= भवानी) एव एकम् (= प्रमुखम्) शरणम् (= रक्षिका) यस्य स तं तादृशमिति । ["अभिप्रायवशौ छन्दौ···।" अमरः ३।३।८८] 'स्वाम्यमात्यसुहृत् कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च । राज्याङ्गानि···।" अमरः २।८।१७। शरणं गृहरक्षित्रोः।" अमरः ३।३।५३]

क्षितिभृदिति । क्षितिभृत्पादानुवर्तिनम् = क्षितिः (= पृथ्वी) तां बिभर्ति (= पालयति) इति क्षितिभृत् = भूपतिः, तस्य पादौ (= चरणौ) अनुवर्तते (= सेवते), इत्येवंशीलः यः तं तादृशमपि, राजसेवानभिज्ञम् = राज्ञः (= नृपस्य) सेवा (= शुश्रूषा) तस्या अनभिज्ञम् (= अज्ञातारम्, अकुशलमिति भावः)--इति विरोधः, परिहारस्तु--क्षितिभृतः (= पर्वतस्य) पादान् (= प्रत्यन्त-पर्वतान्), अनुवर्तते (= आश्रयति) इत्येवंशीलस्तं तादृशमिति । अत्रापि विरोधाभासः । ["···पादाः प्रत्यन्तपर्वताः ।" अमरः २।३।७ "पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम् ।" २।६।७१]

अपत्यमिति । विन्ध्याचलस्य = विन्ध्यपर्वतस्य, अपत्यम् = सन्तानम्, इव, काठिन्ये साहश्यात् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

अंशकेति । कृतान्तस्य = यमस्य, अंशकावतारम् = एकदेशावतारम्, इव, जीवविनाशे साहश्यात् । 'कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड् यमः ।" अमरः १।१।५८ । उत्प्रेक्षालंकारः ।

सहोदरमिति । पापस्य = एनसः, सहोदरम् = सोदरम्, इव, प्राणिनां यातनाविधायित्वरूप-सादृश्यात् ।

सारथिमिति । कलिकालस्य = कलियुगस्य, सारम् = तत्त्वम्, सर्वस्वम्, इव, बहुविधपापाचार-प्रसक्तत्वात् । अत्र सर्वत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

भीषणमिति । भीषणमपि = भयानकमपि, महासत्त्वतया = महच्च सत्त्वं चेति महासत्त्वम्, तस्य भावस्तत्ता तया, (= प्रकृष्टोत्साहस्वभावतया), गभीरमिव = गांभीर्यगुणयुक्तमिव, उपलक्ष्यमाणम् = अवलोक्यमानम्, अन्यैरिति शेषः । अत्राप्युत्प्रेक्षालङ्कारः ।

अनभीति अनभीत्यादिः--अभिभवनीया = तिरस्करणीया तथा न भवति, आकृतिः (=

दर्शन वाला नहीं अर्थात् कुरूप था, यह परिहार करना चाहिए ।] वह स्वच्छन्द विचरण करनेवाला होता हुआ भी केवल दुर्ग (किला) की शरण लेने वाला (उसी में रहने वाला) था; [यह विरोध है अतः 'दुर्गैकशरणम्' दुर्गा ही है एकमात्र शरण = सहायक जिसकी--यह परिहार करना चाहिए ।] क्षितिभृत् = राजा के पैरों के समीप रहने वाला होता हुआ भी राजा की सेवा से अनभिज्ञ था; [यह विरोध है "क्षितिभृत्-पादानुवर्तिनमपि" = क्षितिभृत् = पर्वतों के पाद = घाटियों में रहने वाला था--यह परिहार करना चाहिए । अब उत्प्रेक्षा के द्वारा उसका वर्णन प्रस्तुत है--] जो मानों विन्ध्याचल का पुत्र था; मानों कृतान्त (यमराज) का अंशावतार था; मानों पाप का सगा भाई था; मानों कलियुग का सार था; जो भयानक होता हुआ भी अतिशय शक्तिवाला होने के कारण गंभीर सा दिखाई देता था; जिसका आकार अभिभव = तिरस्कार या पराजय के योग्य नहीं था; जिसका

१. स्वच्छन्दप्रचारमपि । २. विन्ध्यस्य । ३. सारथिमिव ।
४. अनभिभवाकृतिम् । ५. मातङ्गकनामानम् ।

शबरसेनापतिमपश्यम्[1]। अभिधानन्तु तस्य[2] पश्चादहमश्रौषम्।

आसीच्च मे मनसि—'अहो! मोहप्रायमेतेषां[3] जीवितम्[4], साधुजन-गर्हितञ्च चरितम्। तथाहि—पुरुष-पिशितोपहारे धर्म्मबुद्धिः, आहारः साधुजनविगर्हितो[5] मधुमांसादिः, श्रमो मृगया, शास्त्रं[6] शिवारुतम्, उपदेष्टारः[7] सदसतां कौशिकाः, प्रज्ञा शकुनिज्ञानम्, परिचिताः श्वानः, राज्यं शून्यास्वटवीषु[8], आपानकमुत्सवः, मित्राणि क्रूरकर्मसाधनानि धनूंषि[9], सहाया विषदिग्ध[10]-

---

आकारः) यस्य स तं तादृशम्। मातङ्गनामानम् = मातङ्गसंज्ञकम्, शबरसेनापतिम् = शबरसैन्याध्यक्षम्, अपश्यम् = व्यलोकयम्। तु = परन्तु, तस्य = पूर्वोक्तस्य शबरसेनापतेः, अभिधानम् = नाम, अहम् = शुकशावकः, पश्चात् = अनन्तरम्, अश्रौषम् = समाकर्णयम्।

तं शबरसैन्यापतिमवलोक्य तस्य शुकस्य का प्रतिक्रियेति प्रतिपादयितुमाह—आसीदिति। मे = मम, वैशम्पायनशुकस्येत्यर्थः, मनसि = चित्ते, आसीत् = अभूत्, खेद इति शेषः। तदेव दर्शयति—अहो = इत्याश्चर्ये, एतेषाम् = अमीषां शबराणाम्, जीवितम् = जीवनम्, मोहप्रायम् = अज्ञानबहुलम् (मोहः = अज्ञानम्, प्रायः = बहुलम् यस्मिन् तत् तादृशम्), चरितम् = आचरणम्, च, साधुजनगर्हितम् = साधुजनैः (= शिष्टलोकैः ऋष्यादिभिः) गर्हितम् = (निन्दितम्)। पूर्वोक्तमेवोपपादयति तथाहीति। पुरुषपिशितोपहारे = पुरुषस्य (= पुंसः) यत् पिशितम् (= मांसम्) तस्य य उपहारः (= स्वेष्टदेव्यै समर्पणम्) तस्मिन्, धर्मबुद्धिः = श्रेयोमतिः, 'इदं पुण्य-जनकमिति ज्ञानम्'। साधुजनगर्हितः = साधुजनैः (= शिष्टलोकैः) गर्हितः (= विनिन्दितः), मधुमांसादिः = मधुपललादिः, यद्वा मधु = क्षौद्रम्, मांसादिकं च, आहारः = भोजनम्। श्रमः = शक्तिवर्धनायानुष्ठीयमानो व्यायामादिः, मृगया = आखेटकः। शास्त्रम् = उच्चस्वरेण वेदादिपाठः, यद्वा अनुशासनवचनम्, शिवारुतम् = शिवा (= शृगाली) तस्याः रुतम् (= शब्दितम्)। सदसताम् = शुभाशुभानाम्, उपदेष्टारः = उपदेशकाः, बोधकाः, कौशिकाः = उलूकाः, तेषां ध्वनिमाकर्ण्यैव शुभाशुभयोर्ज्ञानं कुर्वन्तीति भावः। प्रज्ञा = विशिष्टबुद्धिः, शकुनिज्ञानम् = पक्षिविषयकबहुविधज्ञानम्। श्वानः = सारमेयाः, परिचिताः = प्राप्तपरिचयाः, विश्वस्ता इत्यर्थः। शून्यास्वटवीषु = निर्जनवनप्रदेशेषु, राज्यम् =

'मातङ्ग' यह नाम था। [उसे मैंने = वैशम्पायन शुक ने देखा।] किन्तु उस शबरसेनापति का 'मातङ्ग' यह नाम तो मैंने बाद में सुना था।

और मेरे (शुक के) मन में [विचार] हुआ—"अहो! इनका जीवन कितना अज्ञानपूर्ण है और इनका आचरण सज्जनों द्वारा निन्दित है। उदाहरणार्थ—मनुष्यों के मांस की (देवताओं की) भेंट में धर्म का ज्ञान है; [मनुष्यों को मार कर देवताओं को समर्पित करना—इनकी दृष्टि में धर्म है।] सज्जनों द्वारा निन्दित मधु (मदिरा या शहद) और मांसादि आहार है; शिकार [शारीरिक शक्ति बढ़ाने के लिये किया जाने वाला] श्रम है; सियारिनों की आवाज शास्त्र है; [सियारिनों की 'हुवा हुवा' ऐसी ध्वनि को कर्तव्याकर्तव्य का निर्णायक शास्त्र मानते हैं।] उल्लू सत् और असत् (शुभ और अशुभ) के उपदेश देने वाले हैं; पक्षियों का (विविध) ज्ञान प्रज्ञा (विवेक ज्ञान) है; कुत्ते परिचित हैं, [अत एव विश्वासपात्र हैं।] सूने जगलों में आधिपत्य है; मित्रों आदि के साथ मदिरा पीना उत्सव है; हिंसादि क्रूर कर्म में सहायक धनुष मित्र हैं; [धनुष ही मित्रों के समान सदा

---

१. सर्वशबर। २. तस्य—इदं क्वचिन्नापि पठ्यते। ३. घोरप्रायम्, मोहप्राज्यम्, एतेषाम्। ४. निर्वाहितम्। ५. निन्दितः, गर्हितः। ६. शास्त्रे। ७. समुपदेष्टारः। ८. शून्याटवीषु। ९. मित्राणि, क्रूरकर्माणि, धनं धनूंषि। १०. दग्ध।

मुखा भुजङ्गा[1] इव सायकाः, गीतमुत्साहकारि[2] मुग्धमृगाणाम्, कलत्राणि बन्दी-गृहीताः[3] परयोषितः, क्रूरात्मभिः शार्दूलैः सह संवासः, पशुरुधिरेण देवतार्च्चनम्[4], मांसेन बलिकर्म, चौर्य्येण जीवनम्[5] भूषणानि भुजङ्गमणयः[6] वनकरि-मदैर[7]ङ्गरागः, यस्मिन्नेव[8] कानने निवसन्ति, तदेवोत्खातमूलमशेषतः कुर्वते[9]।

आधिपत्यम्। आपानकम् = मद्यपानगोष्ठी, उत्सवः = प्रमोदव्यापारः। क्रूरकर्मसाधनानि = क्रूरं यत्कर्म (= हिंसादि) तस्य साधनानि (= करणानि, सहायकानि) धनूंषि (= चापाः) मित्राणि = सुहृदः, तेषु मित्रवद् विश्वसन्तीति भावः। विषदिग्धमुखः = विषेण (= गरलेन) दिग्धम् (= लिप्तम्) मुखम् (= अग्रभागः आननं च येषां ते तादृशाः, भुजङ्गाः = सर्पाः इव, विषदिग्ध-मुखाः, सायकाः = बाणाः, विषयुक्ताः शरा इत्यर्थः, सहायाः = अभीष्टकार्यसम्पादन-साहाय्यकारकाः। मुग्धमृगाणाम् = मूढाः (=विवेकशून्याः) च ते मृगाः (= हरिणाः) तेषाम्, उत्साहकारि = स्तब्धता-विधायकम्, 'उत्सादकारि' इति पाठान्तरे 'विनाशकारी'त्यर्थः, गीतम् = गायनम्। यदा मृगा मधुर-ध्वनिमाकर्णयन्ति तदा ते मूढा जयन्ते तेन व्याधास्तेषां वधं कुर्वन्तीति प्रसिद्धिः। वन्दीगृहीताः = बन्दी (= ग्रहः बलपूर्वकं स्वाधीनीकरणम्) तद्रूपत्वेन गृहीताः (=स्वीकृताः) परयोषितः = अन्येषां स्त्रियः; पत्न्यः, कलत्राणि=भार्याः। क्रूरात्मभिः = क्रूरः (= घातुकः) आत्मा (= स्वभावः) येषां ते तादृशैः, शार्दूलैः = व्याघ्रैः, सह = सार्धम्, संवासः = सहावस्थानम्। पशुरुधिरेण = पशवः (= महिषादयः) तेषां रुधिरेण (= रक्तेन) देवतार्चनम् = देवपूजनम्, न तु पुष्पादिभिरिति भावः। मांसेन = आमिषेण, बलिकर्म = देवतोपहारकृत्यम्। तथाचोक्तं मनुना—

"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ [मनुः ३।७०]

चौर्येण = चुराकर्मणा परकीयद्रव्याद्यपहारेण, जीवनम् = प्राणधारणम्, जीविकानिर्वाह इत्यर्थः। भुजङ्गमणयः = सर्पसम्बन्धीनि रत्नानि, भूषणानि = अलङ्काराः। वनकरिमदैः = अरण्यहस्ति-दानवारिभिः, अङ्गरागः = अङ्गविलेपनम्। यस्मिन् एव = यत्र कुत्रचित् एव, कानने = विपिने, निवसन्ति = निवासं कुर्वन्ति, तदेव = तदरण्यमेव, अशेषतः = पूर्णतः, उत्खातमूलम् = उत्खातम् (=उत्पाटितम्) मूलम् (=मध्यभागः) यस्य तत् तथाविधम्, कुर्वते = विदधति। स्वस्याश्रय-

---

सहायक रहते हैं।] विष से व्याप्त मुख वाले सापों के समान विष से लिप्त अग्रभाग (नोक) वाले बाण सहायक हैं; भोले भाले मृगों को सुनने में उत्साह बढ़ाने वाला गीत है। [मधुर गीतादि सुन कर हिरन मुग्ध हो जाते हैं तब ये शबरादि उनका वध कर डालते हैं।] बन्दी बनाकर पकड़ी गई दूसरों की स्त्रियाँ पत्नियाँ हैं, [अतः इनका विवाह नहीं होता है। किसी की भी पत्नी को पकड़ कर अपनी स्त्री बना लेते हैं।] क्रूर (हिंसक) स्वभाव वाले बाघों के साथ रहना होता है; पशुओं के रक्त से देवताओं की पूजा करते हैं; [मनुष्य या पशु आदि के] मांस द्वारा बलिकर्म करते हैं, चोरी के द्वारा इनका जीवनयापन होता है; सापों की मणियाँ इनके आभूषण हैं, जंगली हाथियों के मदजल से अंगों में लेप (उबटन आदि) किया जाता है। ये जिसी वन में रहते हैं उसीको पूर्णरूप से उखाड़

---

१. भुजङ्गमाः। २. उत्सादकारि। ३. वन्दिगृहीताः।
४. अत्र 'एव' इत्यधिकं क्वचित्। ५. जीवितम्। ६. भुजगमणयः।
७. वनगजमदैः। ८. अत्र 'च' इत्यधिकं क्वचित्। ९. कुर्वन्ति।

इति चिन्तयत्येवमयि स शबर-सेनापतिः[1] रटवीभ्रमणसमुद्भवं[2], श्रममपनिनीषुरागत्य तस्यैव शाल्मली[3]तरोरधश्छायाया[4]मवतारित-कोदण्डस्त्वरित-परिजनोपनीत[5]पल्लवासने समुपाविशत्।

अन्यतमस्तु[6] शबरयुवा ससम्भ्रममवतीर्य्य तस्मात् करयुगल-परिक्षोभिताम्भसः सरसो वैदूर्य्यद्रवानुकारि प्रलय-दिवसकर-किरणोपतापादम्बरैकदेशमिव विलीनम्, इन्दुमण्डलादिव

भूतवनस्यैव विनाशं कुर्वन्तीति भावः। ["पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमामिषम्।" अमरः २।६।६३। "मधु क्षौद्रं माक्षिकादि…।" अमरः २।९।१०७। 'मध्वासवो माधवको मधु माध्वीकमद्वयोः।" अमरः २।१०।४१। "महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकाः।" अमरः ३।३।१० "स्त्रियां शिवा भूरिमाय-गोमायुमृगधूर्तकाः। २।५।५ "खग-बाल्यादिनोर्वयः।" ३।३।२३१।]

इतीति। इति=पूर्वोक्तरूपेण, मयि=शुके, चिन्तयति = ध्यायति सति एव, शबरसेनापतिः= भिल्लानीकाधिपतिः; अटवीभ्रमणसमुद्भवम् = अटव्याः (= वनस्य) यद् भ्रमणम् (=संचरणम्) तेन समुद्भवम् (=समुत्पन्नम्) श्रमम् (= खेदम्), अपनिनीषुः (=अपचिकीर्षुः, दूरीकर्तुमिच्छुकः) सन्, तस्य एव = पूर्ववर्णितस्य एव, शाल्मलीतरोः = शाल्मलीपादपस्य, अधः = नीचैः, छायायाम् = आतपशून्यस्थले, आगत्य = आगमनं कृत्वा, अवतारितकोदण्डः = अवतारितम् (= स्वस्कन्धाद् पृथक्-कृतम्) कोदण्डम् (= धनुः) येन स तादृशः, त्वरितपरिजनोपनीते = त्वरितः (= त्वरायुक्त) परिजनः (= सेवकजनः) तेन उपनीतम् (= समानीतम्) यत् पल्लवासनम् (=किसलयासनम्) तस्मिन्, समुपाविशत्=अतिष्ठत्।

शबरसेनापतेः उपवेशनानन्तरं किमभूदिति प्रतिपादयति—अन्यतमस्त्विति। अन्यतमः = बहुषु सैनिकेषु सेवकेषु च कश्चिदनिर्दिष्टनामा, शबरयुवा = शबरः (=भिल्लः) चासौ युवा (=तरुणः), ससम्भ्रमम् =सवेगम्, अवतीर्य =तदन्तः प्रविश्य, तस्मात् =पूर्वोक्तात् 'पम्पे'ति विख्यातात्, करयुगल-परिक्षोभिताम्भसः= करयुगलेन (=हस्तद्वयेन) परिक्षोभितम् (= व्यालोडितम्, नलिन्याद्यपसारणयेति भावः) अम्भः (=जलम्) यस्य तत् तादृशात्, सरसः = सरोवरात्। "कमलिनीपत्रपुटेन अम्भो मृणालिकाश्च समुपाहरदि"ति वक्ष्यमाणेनान्वयो बोध्यः।] वैदूर्यद्रवानुकारि= वैदूर्यम् (=वाल्वायजम्) तस्य यो द्रवः (= कल्कः) तदनुकारि (= तदनुकरोति तच्छीलम्, तत्सदृशमिति फलितार्थः), प्रलयदिवसकर-किरणोपतापात् = प्रलये (= कल्पान्तसमये) यो दिवसकरः (= दिनकरः) तस्य ये

डालते हैं, समूल नष्ट कर डालते हैं।

इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति) से मैं जब सोच ही रहा था कि वह शबर-सेनापति वन में घूमने से उत्पन्न हुई थकावट को दूर करने की इच्छा वाला होता हुआ उसी शाल्मली (सेमल) पेड़ के नीचे छाया में आकर धनुष को कन्धे से उतार कर सेवकों द्वारा लाये गये पत्तों के आसन पर बैठ गया।

उनमें से कोई एक शबरयुवक जल्दी-जल्दी (उस सरोवर में) उतर कर (जाकर) [विसतन्तु, कमलिनी आदि अनावश्यक वस्तुओं को हटाने के लिए] दोनों हाथों से हिलाये गए जलवाले उस सरोवर से कमलिनी के पत्तों से बनाए गए दोने में जल लाया, जो जल वैदूर्यमणि के द्रव (तरल तत्त्व) के समान था, जो मानों प्रलय के समय के सूर्य की किरणों की गर्मी (उपताप) से पिघला हुआ

---

१. शबरसेनापतिश्च। २. श्रमणसमुद्भवश्रमम्। ३. शाल्मलि। ४. छायाम्। ५. जनोपनीत-पल्लवासने। ६. अन्यतरस्तु।

प्रस्यन्दितम्, द्रुतमिव[1] मुक्ताफल-निकरम्, अत्यच्छतया स्पर्शानुमेयं हिमजडम् अरविन्दकोश-रजःकषायमम्भः कमलिनीपत्त्रपुटेन[2] प्रत्यग्रोद्धृताश्च धौतपङ्कनिर्म्मला मृणालिकाः[3] समुपाहरत्।

आपीत-सलिलश्च सेनापतिस्ता[4] मृणालिकाः शशिकला इव सैंहिकेयः क्रमेणादशत्। अपगतश्रमश्चोत्थाय परिपीताम्भसा सकलेन तेन शबर-सैन्येनानुगम्यमानः शनैः शनैरभिमतं

किरणाः (= गभस्तयः) तेषाम् य उपतापः (= सन्तापः) तस्मात्, विलीनम् = क्षरितम्, द्रवीभूय पतितमिति भावः, अम्बरैकदेशम् इव = आकाशस्य एकभागमिव, इन्दुमण्डलात् = शशिविम्वात्, प्रस्यन्दितमिव = क्षरितमिव, द्रवीभूय भूमौ निपतितमिवेति भावः, मुक्ताफल-निकरम् = मुक्ताफलानाम् (= मौक्तिकमणीनाम्) निकरम् (= समूहम्), द्रुतमिव = द्रवीभूतमिव; अत्यच्छतया = अति-स्वच्छतया, स्पर्शानुमेयम् = स्पर्शेन (= स्पर्शक्रिया) अनुमेयम् (= अनुमातुं योग्यम्) हिमजडम् = हिमवत् (= तुहिनवत्) जडम् (= स्तब्धम्), यद्वा—हिमेन जडम् (= स्तब्धतां प्रापितम्), यदा स्पर्शस्तदैव तस्यानुभव इति भावः अरविन्दकोशरजः कषायम् = अरविन्दानाम् (= कमलानाम्) ये कोशाः (= कर्णिकाधाराः) तेषां यद् रजः (= धूलिः पराग इति भावः) तेन कषायम् (= तुवरम्, सौरभयुक्तं वा), तादृशम् अम्भः = सलिलम्, प्रत्यग्रोद्धृताः = तत्कालमुत्पाटिताः, धौतपङ्कनिर्मलाः = धौतः (= प्रक्षालितः) पङ्कः (= कर्दमः) यासां ताः, अत एव निर्मलाः (= मालिन्यादिशून्याः, स्वच्छाः) मृणालिकाः = अल्पानि मृणालानि तान्येव मृणाल्यः। मृणाल्य एवेति स्वार्थे कः। 'मृणाली'त्यत्र अवयवापचयविवक्षायां ङीष् बोध्यः तथा चोक्तम् "स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिर्विवक्षापचये यदि।" [अमरः ३।५।७] एवं च क्षुद्रबिसतन्तूनि जलं चेत्यर्थः, कमलिनीपत्त्रपुटेन = नलिनीदलपुटेन, समुपाहरत् = समानयत्, आनीय समर्पितवानित्यर्थः।

आपीतेति। आपीतसलिलः = आपीतम् (= सम्यग् रूपेण पीतम्) सलिलम् (= जलम्) येन स तादृशः, च, सेनापतिः = शबरसैन्याधिपतिः, सैंहिकेयः = सिंहिकासुतो राहुः, शशिकलाः = चन्द्रकलाः, इव, ताः = शबरयुवकानीताः पूर्वोक्ताः, मृणालिकाः = अल्पबिसतन्तूनि, क्रमेण = सरोजल-पानान्तरम्, अदशत् = दशनैरखादत्, चर्वितवानिति भावः। राहुर्यथा चन्द्रकलानां क्रमेण भक्षणं करोति तथैवायमपि क्रमशस्ताः मृणालिका अभक्षयदिति साम्यादुपमालङ्कारः! अपगतश्रमः = अपगतः

आकाश का एक हिस्सा था, जो (जल) मानो चन्द्रमण्डल से चुआ (चूकर नीचे आया हुआ) था, जो (जल) मानों पिघले हुए मोतियों का समूह था, जो (जल) अत्यधिक स्वच्छ होने के कारण केवल स्पर्श से अनुमान (ज्ञान) करने योग्य था, बर्फ के समान शीतल था; कमल के पराग से कसैला (या सुगन्धित) था; और छोटे छोटे मृणाल भी लाया जो कि उसी समय उखाड़े गये थे और जिनका कीचड़ धो दिया गया था अतः अत्यन्त निर्मल = स्वच्छ थे।

और पानी पीने के बाद उस शबरसेनापति ने उन मृणालिकाओं को उसी प्रकार क्रमशः खा डाला जिस प्रकार राहु चन्द्रमा की कलाओं को क्रमशः खा डालता है। थकान दूर हो जाने पर (थकानरहित) वह सेनापति जिसके पीछे पानी पी चुकने वाली सारी शबरसेना चल रही थी,

१. हृतमिव। २. पत्रसंपुटेन।
३. निर्मलमृणालिका। ४. शबरसेनापतिः।

दिगन्तरमयासीत् ।

एकतमस्तु[1] जरच्छबरस्तस्मात् पुलिन्द-वृन्दादनासादितहरिण-पिशितः पिशिताशन इव[2] विकृतदर्शनः पिशितार्थी तस्मिन्नेव तरुतले[3] मुहूर्तमिव व्यलम्बत। अन्तरिते च तस्मिन् शबरसेनापतौ स जीर्णशबरः पिबन्निवास्माकमायूंषि रुधिरबिन्दुपाटलया कपिलभ्रू[4]लता-परिवेष-भीषणया दृष्ट्या गणयन्निव शुककुल-कुलायस्थानानि[5] श्येन इव विहगामिषास्वाद-लालसः[6] सुचिर-[7]

(=दूरीभूतः) श्रमः (=परिभ्रमणक्लान्तिः) यस्य स तादृशः, भूत्वा, उत्थाय = उत्थानं कृत्वा, परिपीताम्भसा = परिपीतम् (= सम्यक् पानविषयीकृतम्) अम्भः (= जलम्) येन तादृशेन, सकलेन = समस्तेन, तेन = पूर्ववर्णितेन, शबरसैन्येन = भिल्लानीकेन, अनुगम्यमानः = अनुव्रज्यमानः, सन्, शनैः शनैः = मन्दं मन्दम्, अभिमतम् = अभीष्टम्, दिगन्तरम् = अन्यदिशां प्रति, अयासीत् = अगमत् । ["तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः ।" अमरः १.३।२६]

एकतमस्त्विति । तु = परन्तु, एकतमः = अन्यतमः, तेषु मध्ये एक इत्यर्थः, जरच्छबरः = वृद्धभिल्लः पुलिन्दवृन्दात् = शबरसमुदायात्, अनासादितहरिणपिशितः = अनाशादितम् (=अप्राप्तम्) हरिणस्य (= मृगस्य) पिशितम् (= मांसम्) येन स तथाभूतः, पिशितार्थी = मांसार्थी सन्, पिशिताशनः = पिशितम् (= मांसम्) अश्नातीति मांसभक्षी व्याघ्रादिरिव, विकृतदर्शनः = विकृतम् (=करालम्) दर्शनम् (=अवलोकनम्) यस्य स तथाभूतः, तस्मिन्नेव = पूर्वोक्ते एव, तरुतले = वृक्षस्याधोदेशे, मुहूर्तमिव = किञ्चित्कालमिव, क्षणमिवेति भावः, व्यलम्बत = विलम्बं चकार । अत्रोपमा ।

अन्तरिते चेति । तस्मिन् = पूर्ववर्णिते, सेनापतौ = सेनाधिपतौ, अन्तरिते = व्यवहिते सति, वृक्षादिनेति भावः, सः = पूर्वोक्तः जीर्णशबरः = वृद्धकिरातः, अस्माकम् = खगानाम्, आयूंषि = जीवितानि, जीवनक्षणान्, पिबन् = पानं कुर्वन्, इव, [अत्रोत्प्रेक्षा] रुधिरबिन्दुपाटलया = रुधिरस्य (= रक्तस्य) यो विन्दुः (= पृषत्) तद्वत् पाटलया (= श्वेतरक्तया), कपिलभ्रूलतापरिवेष-भीषणया = कपिला (= पिङ्गला) या भ्रूलता (= नयनोर्ध्वरोमपंक्तिः) तस्याः परिवेषः (=परिधिः) तेन भीषणया (=करालया) दृष्ट्या = नेत्रेण, शुककुलकुलायस्थानानि = शुककुलस्य

(वहाँ से) उठ कर अपनी अभीष्ट दिशा की ओर धीरे-धीरे चल दिया। [जब सेनापति ने पानी पी लिया, छोटे छोटे मृणाल खा लिये, थकान दूर कर ली, तब उठ कर आगे अभीष्ट स्थान पर चल दिया। उसके सैनिक भी पानी पीकर उसी के पीछे पीछे चल दिये ।]

उन भीलों में से एक बूढ़ा भील जिसे उस भीलसमुदाय से हिरन का मांस नहीं प्राप्त हुआ था, जो मांसभक्षी सिंह आदि के समान भयानक दिखाई दे रहा था, मांस पाने की इच्छा करता हुआ उसी सेमल के पेड़ के नीचे कुछ देर के लिए रुक गया। और उस शबरसेनापति के आखों से ओझल हो जाने पर वह बूढ़ा भील, मानों हमारी (तोतों की) आयु को पीते हुए, खून के बूंदों के समान पाटल

१. एकतरस्तु । २. इवातिविकृतदर्शनः । ३. तरुमूले च तस्मिन् । ४. कपिलभ्रुवा । ५. शुककुलावस्थानानि । ६. विहङ्गमिव, विहगामिषस्वादः । ७. सुदचिरम् ।

मारुरुक्षुस्तं वनस्पतिमामूलादपश्यत् ।

उत्क्रान्तमिव तस्मिन् क्षणे तदालोकन-भीतानां[1] शुककुलानामसुभिः ।

किमिव हि दुष्करमकरुणानाम् ? यतः स तमनेक-ताल-तुङ्गमभ्रङ्कष-शाखाशिखरमपि सोपानैरिवायत्नेनैव पादपमारुह्य[2]ताननुपजातोत्पतनशक्तीन्, कांश्चिदल्पदिवस-जातान्

(= कीरसमूहस्य) कुलायस्थानानि = नीडाधारस्थलानि, गणयन् इव = गणनाविषयीकुर्वन्निव, कियन्ति तानीत्याकलयन्निव, श्येन इव = शशादन इव, विहगामिषास्वादलालसः = विहगानाम् (= पक्षिणाम्) यद् आमिषम् (= मांसम्) तस्या य आस्वादः (= भक्षणम्) तस्मिन् लालसः (=लम्पटः) इव, तम् = पूर्वोक्तम्, वनस्पतिम् (= शाल्मलीतरुम्) आरुरुक्षुः = आरोढुमिच्छुकः सन्, आमूलात् =मूलं मर्यादीकृत्य प्रान्तभाग-पर्यन्तम्, सुचिरम् =चिरकालपर्यन्तम्, अपश्यत् = ददर्श । ["भेदाः किरातशबरपुलिन्दाः म्लेच्छजातयः ।" अमरः २।१०।२० । "परिवेषस्तु परिधिः······।" अमरः १।३।३२ । "कुलायो नीडमस्त्रियाम् ।" अमरः २।५।३७ । "लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसोपि सः ।" इति यादवः ।

उत्क्रान्तमिवेति । तस्मिन् क्षणे = काले, तदालोकन-भीतानाम् = तस्य (= वृद्धशबरस्य) यद् आलोकनम् (= आमूलाद् वीक्षणम्) तेन भीतानाम् (= प्राप्तभयानाम्), शुककुलानाम् = शुकसमूहानाम्, असुभिः =प्राणैः, उत्क्रान्तमिव=निष्क्रान्तमिव । अत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

किमिवेति । हि = यतः, अकारण-दुष्करुणानाम् = अहेतुकनिर्दयानाम्, किमिव, दुष्करम् = कठिनं कार्यम्, न किमपीत्यर्थः, त उचितानुचितं सर्वं विधातुं शक्नुवन्तीति भावः । तदेव प्रदर्शयति— यत इति । यतः = येन कारणेन, सः =पूर्वोक्तः वृद्धशबरः, अनेकतालतुङ्गम् = अनेके (= विविधाः) च तालाः (=तालाख्यवृक्षाः) तद्वद् तुङ्गम् (=उन्नतम्), अभ्रङ्कषशाखाशिखरम् = अभ्रम् (=मेघम्) कषन्ति (= विलिखन्ति) इति अभ्रङ्कषाणि (= मेघस्पर्शशालीनि), शाखानाम् (= स्कन्धानाम्)

(गुलाबी) और पीली भ्रूलता (भौंह के बालों) के परिवेष से भयानक आखों द्वारा मानों तोतों के समूह के घोसलों को गिनते हुए, बाज पक्षी के समान पक्षियों के मांस (खाने) का लालची (होते हुए) उस वृक्ष पर चढ़ने का इच्छुक होते हुए बहुत देर तक जड़ से चोटी तक उस पेड़ को घूरने लगा । [वह बूढ़ा भील उस पेड़ पर चढ़ने की इच्छा से जड़ से चोटी तक घूर कर देखने लगा, मानों वह उन शुकों की आयु ही पी रहा हो, मानों भीषण दृष्टि से उनके घोसलों को गिन रहा हो । वह बाज पक्षी के समान दिखाई दे रहा था ।]

उस समय उस वृद्धशबर के देखने से भयभीत तोतों के समूह के प्राण मानों निकल गये थे । क्योंकि बिना कारण के ही निर्दय लोगों के लिये क्या दुष्कर (करने में कठिन) होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं । क्योंकि उस बूढ़े शबर ने [नीचे से ऊपर रखे गये] अनेक ताड़ वृक्षों के समान ऊँचाई वाले और गगन चुम्बी चोटी (शाखाओं) वाले भी उस वृक्ष पर, बिना किसी कष्ट के मानों सीढ़ियों द्वारा [चढ़ा और] चढ़ कर उस वृक्ष की शाखाओं के जोड़ों में और खोहों के भीतर से शुकों के बच्चों को एक एक करके उस पेड़ के फल के समान पकड़ लिया और प्राणहीन करके [मार

१. तदालोकभीतानाम् । २. वृक्षमारुह्य ।

गर्भच्छवि-पाटालाञ्शाल्मली-कुसुमशङ्कामुपजनयतः,[1] कांश्चिदुद्भिद्यमानपक्षतया नलिन-[2]संवर्त्तिकानुकारिणः, कांश्चिदर्कफलसदृशान्, कांश्चिल्लोहितायमान-चञ्चु-कोटीन्, ईषद्विघटित-दल-पुट-पाटलमुखानां कमलमुकुलानां श्रियमुद्वहतः,[3] कांश्चिदनवरत-शिरःकम्प-व्याजेन निवारयत इव प्रतीकारा-समर्थान्,[4] एकैकतया फलानीव तस्य वनस्पतेः शाखासन्धिभ्यः[5] कोटरान्तरेभ्यश्च शुक-शावकान-ग्रहीत्, अपगतासूंश्च कृत्वा क्षितावपातयत् ।

शिखराणि (= अग्रभागाः) यस्य तं तादृशम्, तं पादपम् = पूर्वोक्तं शाल्मलीतरुम्, सोपानैरिव = आरोहणैरिव, अयत्नेनैव = अनायासेनैव, आरुह्य = आरोहणं कृत्वा, [शुकशावकानग्रहीदिति वक्ष्यमाणेनान्वयः ।] अनुपजातोत्पतनशक्तीन् = अनुपजाता (= अनुत्पन्ना) उत्पतनस्य (= उड्डयनस्य गगनगमनस्य) शक्तिः (=सामर्थ्यम्) येषां तान्, तादृशान्, अल्पदिवसजातान्=स्वल्पदिनोत्पन्नान्, अत एव गर्भच्छविपाटलान् = गर्भस्य (= भ्रूणस्य) या छविः (= कान्तिः) तद्वत् पाटलान् (=श्वेतरक्तवर्णान्) अत एव शाल्मलीकुसुमशङ्काम् = शाल्मलीकुसुमानाम् = शाल्मलीपुष्पाणाम्, शङ्काम् = सन्देहम्, उपजनयतः = उत्पादयतः, कांश्चित्; उद्भिद्यमानपक्षतया = उद्भिद्यमानौ (= प्रादुर्भूयमानौ) पक्षौ (= पतत्रे) येषां तेषां भावस्तत्ता, तया, नलिनसंवर्त्तिकानुकारिणः = नलिनानाम् (= कमलानाम्) संवर्तिकाः (= नवदलानि) ताः अनुकर्तुं शीलं येषां तान् तादृशान्, कांश्चित्; अर्कफलसदृशान् = मन्दार-पुष्पतुल्यान्, कांश्चित्, लोहितायमान-चञ्चुकोटीन् = लोहितायमानाः (=अलोहिताः लोहिताः सम्पद्यमानाः भवन्तीति लोहितायमानाः=रक्तायमानाः) चञ्चूनाम् (=त्रोटीनाम्) कोटयः (= अग्रभागाः) येषां तान् तादृशान्, अत एव, ईषद्विघटित-दलपुट-पाटलमुखानाम् = ईषद्विघटितम् (= किञ्चिद् विकसितम्) यद् दलपुटम् (= पत्रपुटकम्) तेन पाटलानि (= श्वेत-रक्तानि) मुखानि (= आस्यानि) येषां तेषाम्, कमलमुकुलानाम् (= पङ्कजकुड्मलानाम्) श्रियम् (= शोभाम्) उद्वहतः = धारयतः, कांश्चित्; अनवरतशिरःकम्पव्याजेन = अनवरतम् (= निरन्तरम्) यः शिरःकम्पः (=मूर्ध्नः वेपथुः) तस्य यो व्याजः (= छलम्) तेन निवारयत इव = 'वयं तव न किञ्चित् कुर्मः, अशक्ताः बालाः स्मः, अस्मान् न जही'ति प्रतिषेधं कुर्वत इव, [अत्रोत्प्रेक्षा],

---

डाल कर] पृथ्वी पर गिरा दिया । वे शुकशावक जिनमें अभी उड़ने की शक्ति नहीं पैदा हो पाई थी, उनमें कुछ तो थोड़े दिनों पहले ही पैदा हुये थे, [इसी लिए] गर्भ की कान्ति (लालिमा) से लाल लाल रंग वाले थे, इस कारण वे शाल्मली वृक्ष के फूलों की शंका पैदा कर रहे थे, [उन्हें देख कर यह भ्रम हो रहा था कि वे उस सेमल वृक्ष के फूल हों ।] उनमें कुछ ऐसे थे जिनके नये नये पंख निकल रहे थे अतः कमल की नयी नयी पत्तियों के समान [दिखाई दे रहे] थे, कुछ अर्क [मदार अकौड़ा] के फल के समान थे; कुछ जिनकी चोंच के अग्रभाग लाल लाल हो रहे थे अतः थोड़े से खिलते हुए पत्रपुटों के कारण पाटल (गुलाबी) हुये मुख (सिरा) वाली कमल की कलियों की सुन्दरता धारण कर रहे थे, उन कलियों के समान सुन्दर दिखाई दे रहे थे, कुछ लगातार अपने सिर को हिलाने के बहाने से मानों वैसा करने से [अर्थात् निरपराध हम लोगों को मत मारिये] मना कर रहे थे, वे प्रतीकार करने में असमर्थ थे ।

---

१. शाल्मलि ।　　२. नलिनी० ।　　३. उद्वहन्तः ।
४. प्रतीकारानेकैकशः एकैकतया ।　　५. शाखान्तरेभ्यश्च ।

तातस्तु तं महान्तमकाण्ड[1] एव प्राणहरमप्रतीकारमुपप्लवमुपनतमालोक्य[2] द्विगुणतरोपजातवेपथुर्मरणभयादुद्भ्रान्त-तरल-तारको[3] विषादशून्यामश्रुजलप्लुतां दृशमितस्ततो दिक्षु विक्षिपन्, उच्छुष्कतालुरात्मप्रतीकाराक्षमः, त्रास-स्रस्त-सन्धि-शिथिलेन पक्षपुटेनाच्छद्य[4] मां

प्रतीकारासमर्थात् = प्रतीकारः (= स्ववधनिवारणोपायः) तत्रासमर्थान् (= अशक्तान्) कांश्चित्, एकैकतया = एकम् एकं कृत्वा, फलानि इव = सस्यानीव, तस्य = पूर्वोक्तस्य, वनस्पतेः = शाल्मलीवृक्षस्य, शाखासन्धिभ्यः = स्कन्धानां सम्मिलनस्थलेभ्यः, कोटराभ्यन्तरेभ्यः = विवरमध्येभ्यः, च, शुकशावकान् = कीरापत्यानि, अग्रहीत् = गृहीतवान्, अपगतासून् = अपगताः (= निर्गताः) असवः (= प्राणाः) येषां तथाविधान्, कृत्वा = विधाय, च, क्षितौ = पृथिव्याम्, अपातयत् = पातयामास ।

अत्र केचित्—"एषु हि 'किमिव हि दुष्करम्' इत्यत्रार्थापत्तिः, 'सोपानैरिव' इत्यत्र जात्युत्प्रेक्षा, 'शाल्मलीकुसुमशङ्कामुपजनयत इव' इत्यत्र पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गसंमिश्रो भ्रान्तिमान्,नलिन-संवर्त्तिकानुकारिणः' इत्यत्र 'अर्कफलसदृश' इत्यत्र च आर्थी उपमा, 'कमलमुकुलानां श्रियमुद्वहतः' इत्यत्र-निदर्शना, 'निवारयत इव' इत्यत्र सापह्नवक्रियोत्प्रेक्षा, 'फलानीव' इत्यत्रोपमा, 'किमिव हि दुष्करमकरुणानाम्' इत्यस्यैव हि 'यतः स' इत्यादिना समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः, अयमेव हि प्रधानम्, एतस्यैव चार्थापत्यादयोऽङ्गमिति सङ्करालङ्कार" इत्याहुः ।

'दुष्करम्—दुःखेन कर्तुशक्यमित्यर्थ "ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्" (पा० सू० ३।३।१२६) इति खल् प्रत्ययः । 'अभ्रङ्कष' इत्यत्र "सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः" (पा० सू० ३।२।१७२) इत्यनेन खचि प्रत्यये मुमि चागमे रूपम् । 'लोहितायमान' क्यषन्तं रूपम् । ["द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रं व्योम पुष्करमम्बरम् ।" अमरः १।२।१ । "आरोहणं स्यात् सोपानम्......।" अमरः २।२।१८ । "संवर्त्तिका नवदलम्......।" अमरः १।१०।४३ ।]

तातस्त्विति । तातस्तु = मम पिता तु, ["क्रोडविभागेन मामवष्टभ्य तस्थौ" इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः]; महान्तम् = महीयांसम्, अकाण्डे एव = अनवसरे एव, प्राणहरम् = प्राणनाशकम्, अप्रतीकारम् = अचिकित्स्यम्, उपप्लवम् = विपत्तिम्,उपनतम् = उपस्थितम्, आलोक्य = दृष्ट्वा, द्विगुणतरोपजातवेपथुः = द्विगुणतरः (= पूर्वस्माद् द्विगुणितः उपजातः (= समुत्पन्नः) वेपथुः (= शरीरकम्पनम्) यस्य स तादृशः, मरणभयात् = मृत्युभीत्या, उद्भ्रान्ततरलतारकः = उद्भ्रान्ते (= अतिशयेन भ्रमिते) तरले (= चञ्चले) च तारके (= कनीनिके) यस्य स तादृशः, विषादशून्याम् = विषादेन (= शोकेन) शून्याम् (= लक्ष्यहीनाम् , अश्रुजलप्लुताम् = अश्रुजलेन (= नेत्राम्बुना), प्लुताम् (= प्लाविताम्) दृशम् = दृष्टिम्, इतस्ततः = समन्ततः, दिक्षु = दिशासु, निक्षिपन् =

[मेरे] पिता ने असमय में ही प्राण ले लेने वाली, प्रतीकार-रहित (असाध्य), उस बहुत बड़ी विपत्ति को आई हुई देखा, देख कर उनका कांपना दूना हो गया; (वह बहुत अधिक कांपने लगे ।) मृत्यु के भय से उनकी आखों की पुतलियाँ घूमने लगीं और चंचल हो गयीं; शोक के कारण सूनी और आँसुओं से भरी (धुंधली) दृष्टि सभी दिशाओं में (चारों ओर) फेकी; उनका तालु बहुत सूख गया; अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो गया; उस (पिता) ने भय से ढीले हुए जोड़ों

---

१. अतिमहान्तम् । २. अवलोक्य ।
३. तरलतारकाम्, तरलतरतारकान् । ४. पक्षसंपुटेन ।

तत्कालोचितं[1] प्रतीकारं मन्यमानः स्नेहपरवशो मद्रक्षणाकुलः[2] किंकर्त्तव्यताविमूढः[3] क्रोडविभागेन[4] माममवष्टभ्य तस्थौ ।

असावपि पापः क्रमेण शाखान्तरैः सञ्चरमाणः कोटरद्वारमागत्य जीर्णासित-भुजङ्गभोग-भीषणं प्रसार्य्य विविध-वन-वराह-वसा-विस्र[5]गन्धिकरतलं अनवरत[6]-कोदण्ड-गुणाकर्षण-

पातयन्, सर्वत्र पश्यन्निति भावः, उच्छुष्कतालुः = उच्छुष्कम् (= अत्यनार्द्रम्) तालु (= काकुदम्) यस्य स तादृशः, आत्मप्रतीकाराक्षमः = आत्मनः (= स्वस्य) यः प्रतीकारः (= आपत्तिनिवारणोपायः), तस्मिन् अक्षमः (= असमर्थः), त्रासस्त्रस्तसन्धिशिथिलेन = त्रासात् (= भयात्), त्रस्ताः (= विदीर्णाः, विश्रृङ्खलिताः) ये सन्धयः (= अस्थिबन्धाः) तैः शिथिलेन (= श्लथेन) पक्षपुटेन = छदपुटेन, माम् = स्वसुतम्, आच्छाद्य = आवृत्य, तत्कालोचितम् = तत्काले (= तस्मिन्नवसरे) उचितम् (= योग्यम्) प्रतीकारम् (= इममेव यं श्योपायम्) मन्यमानः = जानन्, विचारयन्, स्नेहपरवशः = स्नेहेन (= पुत्रप्रेम्णा) परवशः (= पराधीनः) मद्रक्षणाकुलः = मम (= स्वशावकस्य) यद् रक्षणम् (= परित्राणम्) तत्राकुलः (= व्यग्रः) किंकर्तव्यताविमूढः = किंकर्तव्यतायाम् (= किम् इदानीं कर्तव्यम् = विधेयम् —इत्यस्य भावः—किंकर्तव्यता, तस्याम्) विमूढः (= भ्रष्टमतिकः) सन्, क्रोडविभागेन = उत्सङ्गप्रदेशेन, भुजद्वयमध्यदेशेन, माम् = स्वपुत्रम्, अवष्टभ्य = नीत्वा, अवलम्ब्य, तस्थौ = अतिष्ठत् ।

असावपीति । असौ = पूर्वोक्तो जरच्छबरः, पापः = पापाचारी अतिनृशंसः = अत्यन्तक्रूरः अपि, शाखान्तरैः = शालान्तरैः, सञ्चरमाणः = प्रवर्त्तमानः, सञ्चरणं कुर्वन्, कोटरद्वारम् = निष्कुह-द्वारम्, आगत्य = एत्य, ["तातमपगतासुमकरोदि"त्यग्रिमेणान्वयः ।] जीर्णासितेत्यादिः = जीर्णः (= जरीयान्, परिणतवयाः) असितः (= कृष्णः) यो भुजङ्गः (= सर्पः) तस्य भोगः (= कायः) स इव भीषणः (= भयङ्करः) तम्, विविधवनेत्यादिः = विविधाः (= अनेके) ये वनवराहाः

से शिथिल (अशक्त) पंखपुट द्वारा मुझ (शुकशावक) को ढक कर छिपा कर, [इस काम को ही] उस समय का उचित प्रतीकार (भयनिवृत्ति का उपाय) समझते हुए पुत्रप्रेम के कारण पराधीन होकर मेरी रक्षा के लिये व्याकुल हो गये; किंकर्त्तव्यताविमूढ (क्या करना उचित है—इस प्रकार का निश्चय करने में असमर्थ) हो कर अपनी गोद के (पंखों के भीतरी) एक भाग से मुझे संभाल कर बैठ गये ।

उस अत्यन्त क्रूर पापी (वृद्ध शबर) ने भी, एक शाखा से दूसरी शाखा पर चलते हुये कोटर के द्वार पर आकर अपना बाँया हाथ फैलाया जो (हाथ) बूढ़े काले साँप के शरीर के समान भयानक था, जो अनेक जंगली सुअरों की चर्बी और कच्चे मांस की गंध से युक्त करतल वाला था,

१. तत्कालोचितं प्रतिकारम् ।　　२. मद्रक्षाकुलः ।
३. किंकर्त्तव्यतामूढः ।　　४. क्रोडभागेन ।
५. विमिश्र० ।　　६. इदं पद क्वचिन्नापि दृश्यते ।

व्रणाङ्कित-प्रकोष्ठम्, अन्तक-दण्डानुकारिणं वामबाहुमतिनृशंसो मुहुर्मुहुर्दत्तचञ्चु-प्रहारमुत्कूजन्त-माकृष्य[1] तातमपगतासुम[2]करोत्। मान्तु स्वल्पत्वाद्[3] भयसम्पिण्डिताङ्गत्वात् सावशेषत्वाच्चायुषः कथमपि पक्षसंपुटान्तर-गतं[4] नालक्षयत्। उपरतञ्च[5] तम[6]वनितले शिथिलशिरोधरमधोमुखममुञ्चत्।

(= अरण्यशूकराः) तेषां या वसा (= स्नायुः) तया विस्रगन्धि (= आमगन्धि) करतलम् (= हस्ततलम्) यस्य स तं तादृशम्; अनवरतेत्यादिः = अनवरतम् (= सततम्) कोदण्डस्य (= धनुषः) यो गुणः (= प्रत्यञ्चा) तस्याकर्षणम् (= आक्षेपः) तेन यो व्रणः (= किणः) तेन अङ्कितः (= चिह्नितः) प्रकोष्ठः (= कूर्परादधोदेशः) यस्य स तं तादृशम्; अन्तकदण्डानुकारिणम् = अन्तकस्य (= यमस्य) यो दण्डः (= लगुडः) तमनुकरोति, यमदण्डसदृशमिति भावः, वामबाहुम् = सव्यभुजम्, प्रसार्य = विस्तार्य, मुहुर्मुहुः = वारंवारम्, दत्तचञ्चुप्रहारम् = दत्तः (= विहितः) चञ्चुप्रहारः (= त्रोटीप्रघातः) येन स तं तादृशम्, उत्कूजन्तम् = उच्चैः स्वरेण रुवन्तम्, तातम् = मत्पितरम्, अपगतासुम् = अपगताः (= निर्गताः) आसवः (= प्राणाः) यस्य स तं तादृशम्, मृतमित्यर्थः अकरोत् = अकार्षीत्। [नृशंसो घातुकः क्रूरः पापः······। अमरः ३।१।४७।" निष्कुहः कोटरं वा ना······।" अमरः २।४।१३। "भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः।" अमरः ३।३।२३। "मेदस्तु वपा वसा।" अमरः २।६।६४। "विस्रं स्यादामगन्धि यत्।" अमरः १।५।१२। "मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः···। अमरः २।८।८५। "व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः क्लीबे।" अमरः २।६।५४।]

मां त्विति। स्वल्पत्वात् = अत्यल्पशरीरत्वात्, भयसम्पीडिताङ्गत्वात् = भयात् (=मरणभीतेः) सम्पीडितानि (= सङ्कुचितानि) अङ्गानि (= अवयवाः) यस्य स तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्, आयुषः = जीवितव्यस्य, सावशेषत्वात् = अवशिष्टत्वात्, च, कथमपि = केनापि रूपेण, महता क्लेशेनेति भावः, पक्षसम्पुटान्तरगतम् = पक्षसम्पुटस्य (= छदपुटस्य) अन्तरे (= मध्ये) गतम् (= प्राप्तम्, विद्यमानम्) मां तु = वैशम्पायनं तु, न = नैव, अलक्षयत् = अपश्यत्।

उपरतमिति। उपरतम् = मृतम्, च, अतएव शिथिलशिरोधरम् = शिथिला (= श्लथा) शिरोधरा (= ग्रीवा) यस्य तं तादृशम्, अधोमुखम् = अवाङ्मुखम्, तम् = मत्पितरम्, अवनितले = भूतले, अमुञ्चत् = अक्षिपत्।

जो धनुष की डोरी खीचने से होने वाले घाव (खरोंच) से अंकित प्रकोष्ठ (कलाई तथा कोहनी दोनों का मध्यभाग) वाला था, जो यमराज के दण्ड का अनुकरण करने वाला अर्थात् उसके सदृश था; इसके बाद उस क्रूर ने बार बार चोंच मारने वाले, जोर जोर से चिल्लाने वाले मेरे (शुक के) पिता को खींच कर प्राणरहित कर दिया, मार डाला। किन्तु छोटा शरीरवाला होने से, भय से सिकुड़े हुए अंगों वाला होने से और आयु शेष रह जाने के कारण पंखों के भीतर छिपे हुए मुझे किसी प्रकार नहीं देख पाया। मरे हुए मेरे पिता को जिनकी गर्दन शिथिल (ढीली) हो गई थी, नीचे मुख कर के जमीन पर गिरा दिया।

---

१. समाकृष्य।　　२. गतासुम्।　　३. स्वल्पशरीरत्वात्।
४. पक्षपुटान्तरगतम्।　　५. एनम्।　　६. तातम्।

अहमपि तच्चरणान्तरे[1] निवेशितशिरोधरो[2] निभृतमङ्क-निलीनस्तेनैव[3] सहापतम्[6]। अवशिष्टपुण्यतया[4] तु पवनवशसंपुञ्जितस्य महतः शुष्कपत्त्रराशेरुपरि[5] पतितमात्मानमपश्यम्। अङ्गानि येन मे नाशीर्य्यन्त[7]।

यावच्चासौ तस्मात्तरुशिखरान्नावतरति तावदहमवशीर्ण-पत्त्र-सवर्णत्वादस्फुटोपलक्ष्यमाण-मूर्त्तिः पितरमुपरतमुत्सृज्य नृशंस इव प्राणपरित्यागयोग्येऽपि काले बालतया[8] कालान्तर-

अहमपीति अहमपि = शुकः वैशम्पायनोऽपि, तच्चरणान्तरे = तस्य (= स्वजनकस्य) चरणयोः (= पादयोः) अन्तरे (= मध्ये) निवेशितशिरोधरः = निवेशिता (= स्थापिता) शिरोधरा (= ग्रीवा) येन स तादृशः, निभृतम् = निःशब्दम्, अत्यन्तं वा यथा स्यात् तथा, अङ्कनिलीनः=अङ्के (= पक्षाभ्यन्तरे, भुजद्वयमध्यदेशे) निलीनः (= अन्तर्हितः) सन्, तेनैव=स्वपित्रा एव, सह=सार्धम्, अपतम् = पतनमकरवम्, निपतित इति भावः। अवशिष्टपुण्यतया तु = परन्तु अवशिष्टम् (=असमाप्तम्) पुण्यम् (= सुकृतम्) यस्य सः तस्य भावस्तत्ता, तया, पवनवश पुञ्जितया = पवनवशेन (= वायु-प्रभावेण) पुञ्जितस्य (= एकीभूतस्य), महतः = विपुलस्य, शुष्कपत्त्रराशेः = शुष्काणि (=नीरसानि) यानि पत्त्राणि (= पल्लवानि) तेषां राशिः (= समूहः) तस्य, उपरि = ऊर्ध्वम्, पतितम् = स्रस्तम्, आत्मानम् = स्वम्, स्वशरीरमिति भावः, अपश्यम् = अवालोकयम्। येन = पूर्वोक्तेन हेतुना मे=मम, शुकस्य, अङ्गानि=अवयवाः, न=नैव, अशीर्यन्त = विगलितानि अभूवन्। तत्र पत्त्रपुञ्जे काठिन्याभावादिति भावः।

यावदिति। यावत् = यावता कालेन, असौ = वृद्धशबरः, तस्मात् = पूर्वोक्तात्, तरुशिखरात्= शाल्मलीपादपाग्रभागात्, न = नैव, अवतरति = उत्तरति, अवरोहति, तावत् = तावत् कालपर्यन्तम्, अहम् = शुको वैशम्पायनः, ['तमालविटपिनो मूलदेशमविशम्' इति वक्ष्यमाणेनान्वयः।] अवशीर्णानि (= विगलितानि) यानि पत्त्राणि (= किसलयानि) तेषां सवर्णत्वात् (= समानवर्णत्वात्), तत्तुल्यहरितवर्णत्वादिति भावः, अस्फुटोपलक्ष्यमाणमूर्तिः = अस्फुटम् (= अप्रकटं यथा स्यात् तथा)

मैं (शुक) भी उन (अपने पिता) के पैरों के बीच में गर्दन छिपाये हुए निश्चल (या चुपचाप) गोद में छिपा हुआ उन्हीं (अपने पिता) के साथ ही गिर पड़ा। किन्तु पुण्य बाकी बचे रहने के कारण अर्थात् सौभाग्यवश हवा द्वारा एकत्रित किये गये सूखे पत्तों के एक विशाल ढेर पर गिरे हुये अपने को पाया अर्थात् सूखे पत्तों के ढेर पर गिर पड़ा। इस कारण मेरे अङ्ग नहीं टूटे, चकनाचूर नहीं हुए।

जब तक वह बूढ़ा भील उस शाल्मलीवृक्ष से नीचे उतरा तब तक [उससे पहले] नीचे गिरे हुए पत्तों के समान रंगवाला होने से स्पष्ट न दिखाई देने वाली आकृति वाला, क्रूर के समान मैं मरे हुए पिता को छोड़ कर [पिता के वियोग में अपने] प्राण छोड़ देने के योग्य समय में भी, [जब वियोग में मुझे भी मर जाना चाहिए था उस समय भी] बचपन के कारण भविष्य में होने

१. तच्चरणान्तराले। २. प्रवेशित०। ३. अंकदेशनिलीनः, अंकविलीनः।
४. आयुषोऽवशिष्टतया। ५. पर्णराशेः। ६. निपतितम्।
७. नावशीर्यन्त। ८. पर्ण। ९. बालकतया।

भुवः स्नेहरसस्यानभिज्ञो[1] जन्मसहभुवा भयेनैव केवलमभिभूयमानः किञ्चिदुपजाताभ्यां पक्षाभ्यामीषत्कृतावष्टम्भो लुठन्नितस्ततः कृतान्तमुख-कुहरादिव विनिर्गतमात्मानं मन्यमानो नातिदूरवर्त्तिनः, शबरसुन्दरी-कर्णपूर-रचनोपयुक्त-पल्लवस्य, सङ्कर्षण-पट-नील-च्छायया[2] उपहसत इव गदाधर-देहच्छविम्, अच्छैः कालिन्दी-जल-च्छेदैरिव विरचितच्छदस्य, वनकरिमदोपसिक्त-[3]

उपलक्ष्यमाणा (=अवलोक्यमाना) मूर्तिः (=आकृतिः) यस्य स तथाविधः, नृशंसः =क्रूरः, इव, उपरतम्= मृतम्, पितरम् = जनकम्, उत्सृज्य = त्यक्त्वा, प्राणपरित्यागयोग्ये = जीवितोत्सर्गोचिते, काले=समये, अपि, तदानीं मया प्राणा हातव्या आसन् तथापि, बालतया = शिशुतया, कालान्तरभुवः = कालान्तरे भाविनः, स्नेहरसस्य = प्रेमविषयकरसस्य, अनभिज्ञः = अज्ञाता, जन्मसहभुवा = जन्मना (= उत्पत्तिकालेन) सह (= सार्धम्) भवति (= जायते) इति तादृशेन, भयेन = भीत्या, एव, केवलम् = सर्वतः, अभिभूयमानः = पीड्यमानः, किञ्चित् = ईषत्, उपजाताभ्याम् = उत्पन्नाभ्याम्, पक्षाभ्याम्= छदाभ्याम्, ईषत्कृतावष्टम्भः = ईषत् (= स्तोकम्) कृतः (= विहितः) अवष्टम्भः (= आधारः, अवलम्बः) यस्य स तादृशः, इतस्ततः = यत्र तत्र, लुठन् = भूमौ निपतन्; आत्मानम् = स्वम्, कृतान्तमुखकुहरात् = कृतान्तः (= यमः) तस्य मुखमिव मुखं यस्यैवंभूतात्, कुहरात् (= सुषिरात्), विनिर्गतम् = निःसृतम्, इव, मन्यमानः = बुध्यमानः, अत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

साम्प्रतं कथं स न गृहीतस्तेन शबरेणेति प्रतिपादयति—नातिदूरेति । नातिदूरवर्तिनः = न (=निषेधे) अतिदूरे वर्तते तादृशस्य,समीपस्थायिन इत्यर्थः, [इमानि षष्ठ्यन्तानि पदानि 'तमालविटपिनो' विशेषणानीति बोध्यम् ।] शबर-सुन्दरी-कर्णपूर-रचनोपयुक्तपल्लवस्य—शबराणाम् (= भिल्लानाम्) याः सुन्दर्यः (= कामिन्यः) तासां यानि कर्णपूराणि (= कर्णभूषणानि) तेषां रचना (=निर्मितिः) तस्याम्, उपयुक्ताः (= उपयोगिनः) पल्लवाः (= किसलयानि) यस्य स तथाविधस्य; सङ्कर्षणपटनीलच्छायया = सङ्कर्षणः (= बलरामः) तस्य यः पटः (=वस्त्रम्) तद्वत् नीला (= श्यामा) छाया (= कान्तिः) तया, गदाधर-देहच्छविम् = गदाधरः (=श्रीकृष्णः) तस्य यो देहः (= शरीरम्) तस्य छविम् (=कान्तिम्) उपहसतः (=उपहासं कर्वतः) इव; अच्छैः = निर्मलैः, कालिन्दीजलच्छेदैरिव = कालिन्दी (= यमुना) तस्याः जलम् (= वारि) तस्य छेदाः (=खण्डाः) तैरिव, विरचितच्छदस्य=विरचितानि (= निर्मितानि) छदानि (= पत्राणि) यस्य स तथाविधस्य;वनकरिमदोपसिक्तकिसलयस्य =वनकरिणाम् (= वन्यगजानाम्) मदाः (= दानजलानि) तैः उपसिक्तानि (=उप-

वाले (पुत्र-) स्नेह रस से अपरिचित, जन्म के साथ ही उत्पन्न होने वाले केवल भय से अभिभूत (समाक्रान्त) होता हुआ, कुछ निकले हुए पंखों से कुछ सहारा लिये हुए इधर-उधर लुढ़कता हुआ, अपने को यमराज के मुखविवर से निकला हुआ सा समझता हुआ, पास में स्थित एक बहुत बड़े तमाल वृक्ष के मूल प्रदेश (जड़ के भीतर) जिसमें सूर्य की किरणें भी प्रविष्ट नहीं होती थीं, जो मानों दूसरे पिता की गोद था; [जिस तमाल वृक्ष के मूलप्रदेश में मैं घुस गया था] उस तमाल वृक्ष के पत्तों को भीलों की पत्नियाँ अपने कान के आभूषण बनाने में प्रयुक्त करती थीं; जो बलराम के नीले वस्त्र की कान्ति के समान नीली कान्ति से मानों श्रीकृष्ण भगवान की देह की छवि का

१. ईषत्कृतगमनावष्टम्भः । २. नीलया ।
३. मदसलिलैरिवोपसिक्त, मदसलिलैरिव संसक्त० ।

किसलयस्य, विन्ध्याटवी-केशपाश-श्रियमुद्वहतः[1], दिवाप्यन्धकारितशाखान्तरस्य, अप्रविष्ट-सूर्य्य-किरणमतिगहनमपरस्येव पितुरुत्सङ्गमतिमहतस्तमालविटपिनो मूलदेशमविशम्।

अवतीर्य्य च स तेन समयेन क्षितितल-विप्रकीर्णान्[2] संहृत्य तान् शुकशिशूननेकलता-पाश-संयतानाबद्धय[3] पर्णपुटेऽतित्वरित-गमनः सेनापतिगतेनैव वर्त्मना तामेव दिशमगच्छत्[4]।

सिञ्चितानि)किसलयानि (=पल्लवाः) यस्य तथाविधस्य, विन्ध्याटवी-केशपाशश्रियम् = विन्ध्याटव्याः (= विन्ध्यवनस्य) यः केशपाशः (= केशकलापः) तस्य श्रियम् (= शोभाम्) उद्वहतः = प्राबल्येन धारयतः; दिवापि = दिनेऽपि, अन्धकारितशाखान्तरस्य = अन्धकारितानि (= सूर्यसम्पर्काभावात् सञ्जातान्धकाराणि) शाखान्तराणि (= विटपमध्यभागाः) यस्य स तथाविधस्य, अतिमहतः = अत्यन्तविशालस्य, तमालविटपिनः = तमालवृक्षस्य, अप्रविष्टसूर्यकिरणम् = अप्रविष्टाः (= अनधिगत-प्रवेशाः) सूर्यस्य (= रवेः) किरणाः (= रश्मयः) यस्मिन् तं तादृशम्, अतिगहनम् = अति-गम्भीरम्, अपर्याप्तावकाशम्, अपरस्येव = अन्यस्येव, पितुः = जनकस्य, उत्सङ्गम् = अङ्कम्, मूलदेशम् = बुध्नभागम्, अविशम् = प्रविष्टवान्। अत्रोभयत्रोत्प्रेक्षानिदर्शनानां सङ्करः। ["मूर्तिः काठिन्य-काययोः।" अमरः ३।३।६६। "······अथावलम्बितः। अविदूरोऽप्यवष्टब्धः···।" अमरः ३।३।१०४ इत्यनुसारम् 'अवष्टम्भस्य' अवलम्बः, आश्रयो वार्थः। "···कुहरं सुषिरं विवरं विलम्।" अमरः १।८।१। "सङ्कर्षणः सीरपाणिः कालिन्दीभेदनो बलः।" अमरः १।१।२४। "···प्रसन्नोऽच्छः···।" अमरः १।१०।१४। "कललं गहनं समे।" ३।१।८५। "पल्लवोऽस्त्री किसलयम्···। अमरः २।४।१४ इत्यनुसारं पल्लवशब्दः पुंस्येव, किसलयं तु पुंनपुंसके]

अवतीर्येति। सः = वृद्धशबरः, तेन समयेन = तेनैव कालेन, अवतीर्य = वृक्षादुत्तीर्य, क्षितितलविप्रकीर्णान् = क्षितितले = भूतले, विप्रकीर्णान् = यत्र तत्र विपर्यस्तान्, शिशून् = शुकशावकान्, संहृत्य = एकीकृत्य, एकलतापाशसंयतान् = एका चासौ लता (= वल्ली) तद्रूपो यः पाशः (= बन्धनरज्जुः) तेन संयतान् (= बद्धान्, निगडितान्) तान्, पर्णपुटे = पत्रपुटके, आबद्धय = बन्धनं कृत्वा, स्थापयित्वेति भावः, अतित्वरितगमनः = अतित्वरितम् (= बहुशीघ्रम्) गमनम् (= व्रजनम्) यस्य स तथाभूतः, सेनापतिगतेन एव = शबरसैन्याध्यक्ष-प्रयातेनैव, येन स सेनापतिर्गतस्तेनैवेति भावः, वर्त्मना = मार्गेण, तामेव = सेनापतिगृहीतामेव; दिशम् = काष्ठाम् अगच्छत् = अव्रजत्।

उपहास करता था, मानों निर्मल यमुनाजल के खण्डों से उसके पत्ते बनाये गये थे, जंगली हाथियों के मदजल द्वारा जिसके नव पल्लवों पर छिड़काव किया गया था, जो विन्ध्याटवी (रूपी नायिका) के केशपाश की शोभा धारण कर रहा था, [केशपाश के समान शोभायमान था] दिन में भी जिसकी शाखाओं के मध्य में अन्धेरा रहता था, मैं उसकी जड़ में घुस गया।

उस समय तक [वृक्ष से] उतर कर वह बूढ़ा भील जमीन पर इधर उधर गिरे हुये शुकों के बच्चों को (इकट्ठा करके) लतापाश (= लता से बने जाल) से बाँध कर पत्तों की टोकरी (पुटक) में रखकर बहुत तेज चाल से उसी मार्ग की ओर चल पड़ा जिस ओर शबरसेनापति गया था।

---

१. उद्वहतः। २. विकीर्णान्।
३. आविध्य। ४. अन्वगच्छत्।

मान्तु लब्ध-जीविताशं प्रत्यग्र-पितृमरण-शोक-शुष्क-हृदयम् अतिदूरापाता[1]दायासित-शरीरं [2]सन्त्रास-जाता सर्वाङ्गोपतापिनी बलवती पिपासा परवशमकरोत् ।

अनया च काल-कलया [3]सुदूरमतिक्रान्तः स पापकृदिति परिकलय्य किञ्चिदुन्नमितकन्धरो भयचकितया दृशा [4]दिशोऽवलोक्य तृणेऽपि चलति पुनः प्रतिनिवृत्त इति तमेव पदे पदे पापकारिणमुत्प्रेक्षमाणो निष्क्रम्य [5]तस्मात्तमालतरुमूलात् सलिल-समीपं [6]सर्त्तुं प्रयत्नमकरवम् ।

मान्त्विति । लब्धजीविताशम् = लब्धा (= प्राप्ता) जीवितस्य (= जीवनस्य) आशा (=संभावना) येन स तं तादृशम्, प्रत्यग्रेत्यादिः—प्रत्यग्रः (=नवीनः, तत्कालोत्पन्नः) यः पितृमरण-शोकः (=जनकमृत्युदुःखम्) तेन शुष्कम् (= संकुचितम् प्राप्तशोषम्) हृदयम् (= चित्तम्) यस्य स तं तादृशम्, अति-दूरपातात् = दविष्ठप्रदेशभ्रंशात्, आयासित-शरीरम् = आयासितम् (=परिश्रान्तम्) शरीरम् (= कायः) यस्य स तं तादृशम्, मां तु = शुकशावकं तु, सन्त्रासजाता = सन्त्रासेन (= भयातिशयेन) जाता (= उत्पन्ना), सर्वाङ्गोपतापिनी = सकलावयवपीडिनी, बलवती = दृढतरा, भूयसी, पिपासा = जलपानेच्छा, परवशम् = पराधीनम्, अकरोत् = कृतवान् । अहमत्यन्तं पिपासितोऽभवमिति भावः ।

अनयेति । अनया = एतया, च, कालकलया = कालस्य भागेन, तत्क्षणेनेति भावः, सः = पूर्वोक्तः, पापकृत् = हिंसकः, सुदूरम् = बहुदूरम्, अतिक्रान्तः = प्राप्तः, गतः, इति = एवं प्रकारेण, परिकलय्य = मनसि विचार्य, किञ्चिदुन्नमितकन्धरः = किञ्चित् (= ईषत्) उन्नमिता (= ऊर्ध्वीकृता) कन्धरा (= ग्रीवा) येन स तादृशः, भयचकितया = भयेन (= भीत्या) चकिता (= त्रस्ता) या तादृश्या, दृशा (= नेत्रेण) दिशः = काष्ठाः, सर्वत्रेति भावः, अवलोक्य = निरीक्ष्य, तृणेऽपि = अर्जुनेऽपि, कस्मिंश्चिदपि पदार्थे इत्यर्थः, चलति = कम्पमाने, चेष्टमाने सति, सः, पुनः = भूयः, प्रतिनिवृत्तः = प्रत्यागतः, इति = एवं प्रकारेण, तम् = पूर्वोक्तं शबरम्, पापकारिणम् = दुष्कर्मविधातारम्, एव, उत्प्रेक्षमाणः = संभावयन्, परिकल्पयन्नित्यर्थः; तस्मात् = पूर्वोक्तात्, तमालतरुमूलात् = तापिच्छवृक्षाधोदेशात्, निष्क्रम्य = बहिरागत्य, सलिलसमीपम् = जलसन्निकटम्, सर्त्तुम् = गन्तुम्, प्रयत्नम् = प्रयासम्, अकरवम् = अकार्षम् । ["प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः ।" अमरः ३।१।७७ । "कला शिल्पे कालभेदेऽपि··· ··· । अमरः ३।३।१९८ । "ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि ।" अमरः २।६।८८ । "······तृणमर्जुनम् ।" अमरः २।४।१६७]

जिसको जीने की आशा प्राप्त हो गयी थी, जो तत्काल मरे हुए पिता के शोक से सूखे हुये (अति दुःखी) हृदयवाला था, बहुत दूर से गिरने के कारण जिसके शरीर में बहुत थकान आ चुकी थी, ऐसे मुझको अत्यधिक भय से उत्पन्न सारे अवयवों को सन्तप्त कर (कष्ट) देने वाली, प्रबल प्यास ने पराधीन (अत्यन्त व्याकुल) कर दिया । [मुझे बहुत जोर से प्यास लगी ।]

इतनी देर में वह पापी बहुत दूर जा चुका होगा, ऐसा मन में सोच कर, गर्दन को थोड़ी सी उठा कर, भय से घबड़ायी हुई दृष्टि से दिशायें (सभी ओर) देख कर तिनका भी हिलने पर 'वही फिर लौट आया' इस प्रकार पग पग पर उसी पापी की सम्भावना करता हुआ, उस तमालवृक्ष की जड़ से निकल कर पानी के समीप जाने के लिये प्रयास करने लगा ।

---

१. पातायासितशरीरं । २. सन्त्रासजातवेपथुम् । ३. प्राक्रान्तः ।
४. विलोक्य । ५. तमालतरुतलमूलात् । ६. उपसर्तुं ।

अजातपक्षतया[1] नातिस्थिरतर-चरण-सञ्चारस्य[2] मुहुर्मुहुर्मुखेन पततो[3] मुहुस्तिर्यङ्ङ्निपतन्तमात्मानमेकया पक्षपाल्या सन्धारयतः क्षितितलसंसर्पण-श्रमातुरस्य[4] अनभ्यासवशादेकमपि दत्त्वा पदमनवरतमुन्मुखस्य, स्थूलस्थूलं[5] श्वसतो[6] धूलिधूसरस्य संसर्पतो ममाभून्मनसि[7] '—अतिकष्टास्ववस्थास्वपि[8] जीवित-निरपेक्षा न भवन्ति खलु जगति प्राणिनां[9] प्रवृत्तयः। नास्ति जीवितादन्यदभिमततरमिह जगति सर्वजन्तूनाम्[10]। एवमुपरतेऽपि सुगृहीतनाम्नि

अजातपक्षतेति। "मम मनसि समभूदि"ति सम्बन्धो बोध्यः। [अत्र षष्ठ्यन्तानि पदानि 'मम' इत्यस्य विशेषणानि।] अजातपक्षतया = अजातौ (= अनुत्पन्नौ) यौ पक्षौ (= छदौ) तयोर्भावस्तत्ता तया, नातिस्थिरतरसंचारणस्य = न विद्यमानः अतिस्थिरतरः (= पुष्टतरः) चरणयोः (=पादयोः) संचारः (= निक्षेपः) गमनसामर्थ्यमिति भावः, यस्य स तादृशस्य, मुहुर्मुहुः = वारं वारम्, मुखेन = वदनेन, पततः = पतनं कुर्वतः, भूमौ लुठत इति भावः, मुहुः = वारं वारम्, तिर्यक् = तिरश्चीनम्, निपतन्तम् = भ्रश्यन्तम्, आत्मानम् = स्वम्, एकया = केवलया, पक्षपाल्या = छदसंहत्या, संधारयतः = रक्षतः, पतनादात्मनो रक्षां विदधत इत्यर्थः, क्षितितलसंसर्पण-श्रमातुरस्य = क्षितितले (= भूतले) यत् संसर्पणम् (= गमनम्) तस्माद् यः श्रमः (= खेदः) तेनातुरस्य (= व्यथितस्य), अनभ्यासवशात् = अभ्यासः (= पुनः पुनः करणम्), तस्य अभाववशात् (= विरहवशात्) एकमपि = एकसंख्याकमपि, पदम् = चरणम्, दत्त्वा = निधाय, अनवरतम् = निरन्तरम्, उन्मुखस्य = ऊर्ध्वाननस्य, स्थूलस्थूलम् = दीर्घ-दीर्घं यथा स्यात्तथा, श्वसतः = श्वासपरित्यागं कुर्वतः, धूलिधूसरस्य = धूलिः (= रजः) तेन धूसरस्य (= धूम्रवर्णस्य) संसर्पतः = सञ्चलतः, मम = शुकशावकस्य, मनसि = चित्ते, समभूत् = सञ्जातम्, वक्ष्यमाणं मनसि समुत्पन्नमिति भावः। ["एके मुख्यान्यकेवलाः......। अमरः ३।१।१६। "पालिः कर्णलतायां स्यात् प्रदेशे पंक्तिचिह्नयोः।" इत्यजयकोषः। "ईषत्पाण्डुस्तु धूसरः। अमरः १।५।१३]

मनसि सञ्जातं तदेव विवृणोति—अतिकष्टास्विति। जगति = संसारे, अतिकष्टासु = अतिकष्टम् (= अतिकृच्छ्रम्) यासु, तादृशीषु, अवस्थासु = दशासु, अपि, प्राणिनाम् = जीवानाम्, प्रवृत्तयः = प्रवर्त्तनरूपाः क्रियाः, जीवितनिरपेक्षाः = जीवितम् (= जीवनम्) तस्मिन् निरपेक्षाः (= गतस्पृहाः) न = नैव, भवन्ति = विद्यन्ते। विविधक्लेशाननुभवन्तोऽपि प्राणिनः प्राणरक्षणे सावधानाः भवन्तीति

पंख उत्पन्न (बड़े) न होने के कारण मेरे पैर अधिक दृढ़ता से नहीं चल पा रहे थे; [अतः] बार बार मुंह के बल गिर पड़ता था; बार बार तिरछा (एक ओर) गिरते हुये अपने को एक ओर के पंखों से [किसी प्रकार] संभाल लेता था; जमीन पर सरकने के श्रम से अत्यधिक व्याकुल हो रहा था, अभ्यास न होने के कारण एक भी पग चल कर लगातार मुंह को ऊपर किये था; लम्बी लम्बी सासें ले रहा था; धूलि से धूसरित (युक्त, मटमैला) होता हुआ जब मैं सरक रहा था तो मेरे मन में यह [विचार] उठा (मैं यह सोचने लगा)—"संसार में प्राणियों की प्रवृत्तियाँ (क्रिया-कलाप) अत्यन्त कष्टप्रद दशाओं में भी जीवन से निरपेक्ष नहीं होती हैं, जीने की इच्छा नहीं छोड़ पाती हैं। संसार में सभी जीवों को अपने जीवन से अधिक अभीष्ट (प्रिय) कोई दूसरी चीज नहीं

---

१. अनुपजातपक्षतया। २. नातिस्थिरचरण०। ३. अधोमुखेनापततः।
४. श्रमातुरस्य। ५. मुहुर्मुहुः—इत्यधिक क्वचित्। ६. निःश्वसतः।
७. मम समभून्मनसि। ८. दशास्वपि। ९. सर्वप्राणिनाम्। १०. सर्वजन्तूनामेव।

ताते यदहमविकलेन्द्रियः पुनरेव प्राणिमि। धिङ्मामकरुणमतिनिष्ठुरमकृतज्ञम्। अहो! सोढपितृमरणशोकदारुणं[1] येन मया जीव्यते,[2] उपकृतमपि नापेक्ष्यते। खलं हि खलु मे हृदयम्।

अहं हि लोकान्तरगतायाम्[3] अम्बायां नियम्य शोकावेगमा[4]प्रसव-दिवसात् परिणतवयसाऽपि सता तातेन तैस्तैरुपायैः संवर्द्धनक्लेशमतिमहान्तमपि स्नेहवशादगणयता यत् परिपालितः,

भावः। इह = अस्मिन्, जगति = लोके, सर्वजन्तूनाम् = सकलजीवानाम्, जीवितात् = जीवनात्, अन्यत् = इतरत्, अभिमततरम् = अभीप्सिततरम्, वस्तु, नास्ति = नैव वर्तते। स्वोक्तौ हेतुं प्रदर्शयति– एवमिति। यत् = यस्मात्, सुगृहीतनाम्नि = सुगृहीतम् (= सदा ग्रहणयोग्यम्) नाम (= अभिधेयम्) यस्य स तादृशे, ताते = जनके, एवम् = पूर्वोक्तरूपेण, उपरते = मृते, अपि, जरच्छवरेण क्षेपणेन मृत्युमधिगतेऽपीत्यर्थः, अविकलेन्द्रियः = अविकलानि (= स्वस्वविषय-ग्रहणयोग्यानि) इन्द्रियाणि (= हृषीकाणि) यस्य स तादृशः, पुनरेव = भूयोऽपि, साम्प्रतमपीत्यर्थः, अप्यर्थे एवकारः; प्राणिमि = जीवामि। अकरुणम् = निर्दयम्, अतिनिष्ठुरम् = अतिक्रूरम्, अकृतज्ञम् = कृतमुपकारं जानातीति कृतज्ञः, तादृशो न भवतीति, कृतघ्नमित्यर्थः, माम् = शुक-शावकम्, धिक् = धिक्कारः। "उपसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इति वार्त्तिकाद्धिग्योगे द्वितीया। अहो = आश्चर्यम्, येन मया = शुकशावकेन, सोढपितृमरणशोकदारुणम् = सोढः (= मर्षितः) यः पितुः = जनकस्य) मरणशोकः (= मृत्युकष्टम्) तेन दारुणम् (= भीषणम्) यथा स्यात् तथा, जीव्यते = प्राणाः धार्यन्ते, उपकृतमपि = पितृविहितोपकारोऽपि, न = नैव, अपक्ष्यते = अपेक्षाविषयीक्रियते, स्मिर्यते, इति भावः। अतोऽपि धिङ्मामिति भावः। यतः मे = मम, हृदयम् = चित्तम्, खलम् = नीचम्, खलु = निश्चयेन। ["स सुगृहीतनामा स्यात् यः प्रातरनुचिन्त्यते।" इति त्रिकाण्डशेषः। "हृषीकं विषयीन्द्रियम्।" अमरः १।५।८। दारुणं भीष्मं घोरं भीमं भयानकम्।" अमरः १।७।२०। "पिशुनो दुर्जनः खलः।" अमरः ३।१।४७।]

अहं हीति। हि = यतः, लोकान्तरगतायाम् = लोकान्तरम् (= परलोकम्) गता (= प्रयाता) तस्याम्, अम्बायाम् = मातरि, सत्याम्, शोकावेगम् = दुःखप्रवाहम्, नियम्य = अन्तर्निरुध्य, परिणतवयसापि = परिणतम् (= वृद्धत्वमुपगतम्) वयः (= अवस्था) यस्य तेन, वृद्धेनापीति भावः, सता अपि = भवतापि, तातेन = जनकेन, आप्रसवदिवसात् = जन्मदिनादारभ्य, तैस्तैः = अनेकप्रकारैः, उपायैः = पूर्वोक्तैः भोजनादि-प्रदानरूपैः कार्यैः, अतिमहान्तमपि = अति-

होती है, क्योंकि सदा ग्रहण करने योग्य (उच्चारणीय या स्मरणीय) नाम वाले पिता के इस प्रकार से [मेरे समक्ष ही दयनीय रीति से] मर जाने पर भी सब समर्थ इन्द्रियों वाला मैं पुनः जी रहा हूँ। [उनकी मृत्यु के साथ मुझे भी मरना चाहिए था किन्तु मैंने प्राण नहीं छोड़े।] निर्दय, क्रूर और कृतघ्न मुझे धिक्कार है। आश्चर्य है कि मैं पिता की मृत्यु का दुःख सहन करता हुआ इतनी कठोरता से जी रहा हूँ। [मृत पिता द्वारा अपने ऊपर] किये गये उपकारों की अपेक्षा नहीं कर रहा हूँ। [उन पर कोई ध्यान नहीं दे रहा हूँ।] वास्तव में मेरा हृदय बहुत दुष्ट है।

[मेरी] माता के परलोक चले जाने पर [जब मेरी माँ की मृत्यु हो गयी थी तब] अपने शोक के प्रवाह को [अपने भीतर मन में] रोक कर, बूढ़े होते हुए भी पिता ने जन्म के समय से लेकर, पालन पोषण के अत्यधिक कष्ट को भी मेरे प्रति स्नेह के कारण न गिनते हुए, उन उन (अनेक) उपायों से मुझे पाला पोसा था, वह सब मैंने एक बार में ही भुला दिया। [मेरे पिता

१. प्रकृतज्ञं विसोढपितृ०। २. मरणम्। ३. लोकान्तरमुपगतायाम्। ४. शोकवेग।

तत्सर्वमेकपदे विस्मृतम्। अतिकृपणा: खल्वमी प्राणा:[1], यदुपकारिणमपि तातं क्वापि गच्छन्तमद्याऽपि[2] नानुगच्छन्ति। सर्वथा न कश्चिन्न खलीकरोति जीवित-तृष्णा, यदीदृगवस्थमपि[3] मामयमायासयति[4] जलाभिलाषः।

मन्ये चागणित-पितृमरण-शोकस्य निघृंणतैव[5] केवलमियं मम सलिलपानबुद्धिः।

विपुलमपि, संवर्द्धनक्लेशम् = मत्परिपालनकष्टम्, स्नेहवशात् = वात्सल्यातिशयात्, अगणयता = तद्गणनामकुर्वता अचिन्तयतेत्यर्थः, अहम् = शुकशावकः, यत् परिपालितः = परिपोषितः, तत् सर्वम् = तत्समस्तम्, एकपदे = अकस्मात्, तत्क्षणे एव, विस्मृतम् = स्मृतिपथान्निःसारितम्। मम जीवनरक्षणार्थं पितृकृताः सर्वेऽपि अविस्मरणीया उपकारास्तदा विस्मृताः, आत्मरक्षैव चिन्तितेति भावः ["एकपदं तत्काले नपुंसकं वर्त्मनि स्त्री स्यात्।" इति रामाश्रमीटीका। "तत्क्षणैकपदे तुल्ये।" इति हलायुधश्च।]

अतिकृपणा इति। अमी = एते, प्राणाः = ममासवः, अतिकृपणाः = अतिनिष्ठुराः, यत् = यतो हि, उपकारिणमपि = उपकारविधायिनमपि, तातम् = जनकम्, क्वापि=कुत्रचित् अज्ञातस्थाने, गच्छन्तमपि = व्रजन्तमपि, अद्यापि=साम्प्रतमपि, न=नैव,अनुगच्छन्ति=अनुव्रजन्ति। अनुसरणयोग्येऽपि पितरि नानुसरन्तीति तेषां प्राणानां कृपणत्वमिति बोध्यम्। सर्वथा = सर्वप्रकारेण, येन केनापि रूपेणेत्यर्थः, जीविततृष्णा = जीवनेच्छा, जिजीविषा, कंचित् = कञ्चन, जनम् = प्राणिनम्, न खलीकरोति = नाधमीकरोति, इति न=नैव, अपि तु खलीकरोत्येवेति भावः। ["द्वौ नञौ प्रकृतार्थं दृढयतः' इति न्यायेनोक्तोर्थः फलतीति बोध्यम्। अखलं खलं सम्पद्यमानं करोतीति खलीकरोति, अत्राभूततद्भावे च्विः प्रत्ययः।] यत् = यस्मात् कारणात्, ईदृगवस्थमपि =ईदृशी (= पूर्ववर्णिता) अवस्था (= दशा) यस्य स तं तादृशम्, अत्यन्तव्याकुलमपीति भावः, माम् = शुकशावकम्, अयं जलाभिलाषः = इयं पिपासा, आयासयति = खेदयति।

मन्ये इति। अगणितपितृमरणशोकस्य = अगणितः (= न गणनाविषयीकृतः, अचिन्तितः) पितुः (= जनकस्य) मरणशोकः (= मृत्युदुःखम्) येन स तादृशस्य, मम = शुकशावकस्य, केवलम् = एकमात्रम्, इयम् = अनुभूयमाना, सलिलपानबुद्धिः = जलपानाभिलाषः, निघृंणता=

ने अपनी प्रियतमा मेरी माता की मृत्यु का महान् शोक हृदय में ही छिपा लिया था। जन्म के समय से उन्होंने अपने कष्ट न देखते हुए हर प्रकार से मुझे पाला पोसा। वह सारा उपकार मैंने पूरी तरह भुला दिया।] मेरे प्राण सचमुच अति कृपण (लोभी या निकृष्ट) हैं जो कहीं (अज्ञात स्थान पर) जाते हुए उपकारी पिता का अनुगमन अभी भी नहीं कर रहे हैं। जीने की इच्छा, ऐसा कोई नहीं है, जिसे दुर्जन न बना देती हो (अर्थात् सभी को दुष्ट बना देती है वह हर प्रकार से जीने का प्रयास करने लगता है) जो कि इस (दुःखग्रस्त) अवस्था में पड़े हुए भी मुझे पानी पीने की इच्छा कष्ट दे रही है।

और मैं तो यह मानता हूँ कि पिता की मृत्यु के शोक की गणना न करने वाले अर्थात् उस पर कुछ भी ध्यान न देने वाले मेरी यह पानी पीने की इच्छा केवल क्रूरता ही है। अभी भी तालाब

---

१. मे प्राणा, मम प्राणा।

२. तातमद्यातिगच्छन्तम्, तातं नाधिगच्छन्तम् अपि'''मद्य क्वापि'''यान्तं।

३. ईदृगवस्थम्। ४. मामायासयति, मामभिलाषयति, मामयमासयति। ५. निघृंणतयैव।

अद्यापि[1] दूर एव सरस्तीरम्। तथाहि--जलदेवतानुपूर-रवानुकारि[2] दूरेऽद्यापि कलहंस-विरुतम्[3]। अस्फुटानि[4] श्रूयन्ते सारसरसितानि। अयं च विप्रकर्षादाशामुखविसर्पण-विरलः सञ्चरति नलिनीषण्डपरिमलः।

दिवसस्य चेयं कष्टा[6] दशा वर्तते। तथाहि—रविरम्बरतलमध्यवर्ती स्फुरन्तमातपमनवरतमनल-धूलि-निकरमिव विकिरति करैः। अधिकामुपजनयति तृषं[7] सन्तप्त[8]-पांसु-पटल-दुर्गमा भूः[9]। अतिप्रबल-पिपासावसन्नानि गन्तुमल्पमपि मे नालमङ्गकानि। अप्रभुरस्म्यात्मनः[10]।

निष्करुणता, एव। अन्यथा तादृशपितुर्मृत्युनापि मे जीवितार्थं कथं प्रवृत्तिः। अद्यापि = इदानीमपि, सरस्तीरम् = कासारतटम्, दूरे = विप्रकृष्टे, एव। तस्य दूरत्वं प्रतिपादयितुमाह -- तथा हीति। तथा हि, जलदेवतानूपुर-रवानुकारि = जलदेवतायाः (= जलाधिष्ठातृदेव्याः), नूपुराणाम् (= पादकटकानाम्) यो रवः (= ध्वनिः) तमनुकर्तुं शीलं यस्य तत्, तत्सदृश-मित्यर्थः, कलहंसविरुतम् = कादम्बकूजितम्, अद्यापि = साम्प्रतमपि; दूरे = विप्रकृष्टे। तथा, अस्फुटानि = अव्यक्तानि, सारसरसितानि = सारसानाम् (= लक्ष्मणानाम्), रसितानि = कूजितानि, श्रूयन्ते = आकर्ण्यन्ते। च = तथा, विप्रकर्षात् = दूरात्, आशामुखविसर्पणविरलः = आशानाम् (= दिशानाम्) मुखेषु (= आननेषु,नानादिशास्वित्यर्थः) यत् विसर्पणम् (=प्रसरणम्) तेन हेतुना, विरलः (= स्वल्पः) अयम् = एषः, नलिनीषण्डपरिमलः = नलिनीषण्डानाम् (= कमलवनानाम्) परिमलः = सौरभम्, संचरति = इतस्ततः प्रसरति।

दिवसस्येति। दिवसस्य च=दिनस्य च, इयम्=एषा, कष्टा=क्लेशप्रदा, दशा= अवस्था, वर्तते= विद्यते। कष्टप्रदत्वं प्रदर्शयितुमाह–तथाहीति। अम्बरतलमध्यवर्ती = अम्बरतलस्य (=गगनतलस्य)मध्ये (=मध्यभागे) वर्तते (= विद्यते) तादृशः, गगनमध्यगामीत्यर्थः, रविः=सूर्यः, अनवरतम्=निरन्तरम्, स्फुरन्तम् = दीप्यमानम्, आतपम् = तेजः, धर्ममित्यर्थः, अनलधूलिनिकरम् = अग्निकणिका-समुदायम्, इव, करैः = किरणैः, विकिरति = क्षिपति, अधिकाम् = उत्कटाम्,तृषाम् = पिपासाम्,

---

का किनारा दूर ही है क्योंकि—जलदेवता = परियों के पैरों के घुंघुरुओं की आवाज के सदृश कलहंसों की यह आवाज दूर ही [सुनाई दे रही] है। सारसों की कूजन भी स्पष्ट रूप से नहीं सुनाई पड़ रही है। कमलवन की खुशबू दूर होने के कारण सभी ओर फैलने के कारण विरल (फीकी) फैल रही है, [दूर से आने के कारण उसका प्रभाव कम हो रहा है।]

दिन की यह कष्टकारक अवस्था है। वह इस प्रकार है—आकाश के बीच में पहुँचा हुआ सूर्य बढ़ती हुई ऊष्मा (चिलचिलाती धूप) को किरणों से ऐसे बिखेर रहा हो मानों (कोई अपने हाथों से) आग के कणों (अंगारों) को फैला रहा हो। खूब तपी हुई धूलिसमूह (बालू) के कारण अत्यन्त कठिनता से चलने योग्य भूमि और अधिक प्यास उत्पन्न कर रही है। बहुत तेज

---

१. दूरत एव। २. नुपूरानुकारि। ३. विरुतमेतत्।
४. एतानि चास्फुटानि। ५. अयं चेति पाठः कुत्रचिन्नास्ति।
६. इयं कष्टदशा, अतिकष्टा च दशा। ७. तृषाम्। ८. आतपस्पर्शसन्तप्तः।
९. भूमिः। १०. अलमप्रभुर०।

सीदति मे हृदयम्। अन्धकारतामुपयाति चक्षुः। अपि नाम खलो विधिरनिच्छतोऽपि मे मरणमद्यैव[1] उपपादयेत् ?

इत्येवं[2] चिन्तयत्येव मयि तस्मात् सरसो नातिदूरवर्त्तिनि[3] तपोवने जाबालिर्नाम महातपा मुनिः प्रतिवसति स्म[4]। तत्तनयश्च हारीतनामा मुनिकुमारकः[5] सनत्कुमार इव सर्वविद्यावदात-

जनयति = उत्पादयति। सन्तप्तपांसुपटल-दुर्गमा = सन्तप्तम् (= उष्णीकृतम्) यत् पांसुपटलम् (= धूलिसमूहः) तेन दुर्गमा (=गन्तुमयोग्या) भूः = भूमिः, वर्तते। अति-प्रबलपिपासावसन्नानि = अतिप्रबला (= अत्यधिका) या पिपासा (= जलपानाभिलाषः) तया अवसन्नानि (= खिन्नानि) मे = मम, शुकशावकस्य, अङ्गकानि = अल्पाः शरीरावयवाः, अल्पमपि = स्तोकमपि गन्तुम् = यातुम्, न = नैव, अलम् = समर्थानि। आत्मनः = देहेन्द्रियसमुदायस्य, अप्रभुः = असमर्थः, अस्वामीत्यर्थः, अस्मि = वर्ते। मे = मम, हृदयम् = चित्तम्, सीदति = खिद्यते, विशीर्यते। चक्षुः = नेत्रम्, अन्धकारताम् = तिमिरत्वम्, उपयाति = प्राप्नोति। अपि = इदं प्रश्ने, नाम = इदं सम्भावनायाम्, खलः = दुष्टः, विधिः = विधाता, अनिच्छतः = असमीहमानस्य, अपि, मे = मम शुकशावकस्य, मरणम् = मृत्युम्, अद्यैव = अस्मिन्नेव दिवसे, उपपादयेत् = विदध्यात् ? ["मृणालं विसमब्जादिकदम्बे षण्डमास्त्रियाम्।" अमरः १।१०।४२। "......समूहे पटलं न ना।" अमरः ।३।२०२] "गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि।" अमरः ३।३।२४९। "नाम प्राकाश्यसम्भाव्य-क्रोधोपगमकुत्सने।" अमरः ३।३।२५२। "नाम कामे (कोपोऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च। सम्भाव्य कुत्साप्राकाश्यविकल्पेष्वपि दृश्यते।" इति मेदिनी।

इत्येवमिति। इत्येवम् = पूर्वोक्तप्रकारेण, मयि = शुके, चिन्तयति = विचारयति, एव, तस्मात् = पूर्ववर्णितात्, सरसः = तडाकात्, नातिदूरवर्तिनि = नाधिकविप्रकृष्टस्थायिनि, समीपवर्तिनीति भावः, तपोवने = तापसजनाधिष्ठितकानने, जाबालिर्नाम = जाबालिसंज्ञकः, महातपाः = महत् (= अत्युग्रम्) तपः (= तपश्चरणम्) यस्य स तादृशः, मुनिः = ऋषिः, प्रतिवसति स्म = प्रत्यवसत्। भूतकालार्थे स्म प्रयोगे लट्बोध्यः।

तत्तनय इति। तत्तनयः = तस्य (= जाबालेः) तनयः (=आत्मजः), च=पुनरित्यर्थः, हारीतनामा = हारीत इति नाम (= अभिधानम्) यस्य स तादृशः,मुनिकुमारकः=तापसबालकः, ["तदेव कमलसरः सिस्नासुरुपागमत्" इति वक्ष्यमाणेनान्वयो बोध्यः।]सनत्कुमारः = सनतः = ब्रह्मणः, कुमारः = पुत्रः, एतन्नाम्ना ख्यातः, इव = तुल्यः, सर्वविद्यावदातचेताः = सर्वासु

प्यास के कारण खिन्न मेरे छोटे छोटे अंग थोड़ा भी चलने में समर्थ नहीं हैं। मैं अपने शरीर का नियन्त्रण करने में समर्थ नहीं हूँ। [निराशा के कारण] मेरा हृदय बैठा जा रहा है। आँखें अन्धकारता (धुंधलापन) को प्राप्त कर रही हैं, [कमजोर होती जा रही हैं।] सम्भव है दुष्ट विधाता न चाहने वाले भी मेरी मृत्यु आज ही कर डालेगा।

जब मैं इस प्रकार (पूर्वोक्तरीति से) सोंच रहा था कि उस पम्पासरोवर से अधिक दूर पर नहीं स्थित अर्थात् समीप में ही वर्तमान[एक]तपोवन में जाबालि नामक एक महान् तपस्वी रहता था। और उस तपस्वी का पुत्र हारीत नाम का तपस्वी कुमार जो सनत्कुमार के समान समस्त विद्याओं [के ज्ञान]से

---

१. अद्य, अथ। २. एवम्। ३. सरसोऽदूरवर्तिनि।
४. स्म इति क्वचिन्न। ५. तापसकुमारकः।

चेताः, सवयोभिरपरैस्तपोधन-कुमारकैरनुगम्यमानस्तेनैव पथा द्वितीय इव भगवान् विभावसुरतितेजस्वितया दुर्निरीक्ष्यमूर्त्तिः, उद्यतो दिवसकर-मण्डलादिवोत्कीर्णः, तडिद्भिरिव रचितावयवः, तप्त-कनक-द्रवेणेव बहिरुपलिप्त-मूर्त्तिः, पिशङ्गावदातया देह-प्रभया स्फुरन्त्या सबालातपमिव दिवसं सदावानलमिव वनमुपदर्शयन्, उत्तप्त-लोहलोहिनीनामनेक-तीर्थाभिषेकपूतानाम-

(= सकलासु) विद्यासु (= वेद्यविषयेषु) अवदातम् (= शुद्धम्) चेताः (= चित्तम्) यस्य स तादृशः, निखिलविद्यानिर्मलमना इत्यर्थः । सवयोभिः = समानम् (= तुल्यम्) वयः (=अवस्था) येषां तैः, समानस्य 'स' आदेशः, सदृशवयोभिः, अपरैः = अन्यैः, तपोधनकुमारकैः = तापसबालकैः, अनुगम्यमानः = अनुस्रियमाणः; तेनैव पथा = तेनैव मार्गेण, द्वितीयः = अपरः, भगवान् = ऐश्वर्यवान् ज्ञानवान् वा, विभावसुः = अग्निः, इव अतितेजस्वितया = अति (= उत्कृष्टम्) तेजः (= दीप्तिः) यस्य स अतितेजस्वी, तस्य भावस्तत्ता, तया, अतिशयदीप्तिमत्तयेति भावः, दुर्निरीक्ष्या (= दुःखेन अवलोकयितुं शक्या) मूर्तिः (= शरीरम्), यस्य स तादृशः । अत्र 'इव' शब्द उत्प्रेक्षायाम् । उद्यतः = उदयं प्राप्नुवतः, दिवसकर-मण्डलात् = सूर्यबिम्बात्, उत्कीर्णः = उल्लिख्य उद्धृतः, इव, अत्राप्युत्प्रेक्षा । तडिद्भिः = विद्युद्भिः, रचितावयवः = रचिताः (= निर्मिताः) अवयवाः (= अङ्गानि) यस्य स तादृशः, इव, अत्राप्युत्प्रेक्षा । तप्तकनकद्रवेण = तप्तः (= सन्तप्तः उष्णः) यः कनकस्य (= स्वर्णस्य द्रवः (= रसः) तेन, इव, बहिः = बाह्यदेशे, उपलिप्तमूर्तिः = उपलिप्ता (= संलिप्ता, व्याप्ता) मूर्तिः (= शरीरम्) यस्य स तादृशः । अत्राप्युत्प्रेक्षैव । सा च क्रियाविषयिणीति बोध्यम् । ["आत्मजस्तनयः सूनुः ।" अमरः । "सनत्कुमारो वैधात्रः···।" अमरः१।१।५१ । "भगं श्रीयोनिवीर्येच्छाज्ञानवैराग्यकीर्तिषु । माहात्म्यैश्वर्ययत्नेषु धर्मे मोक्षेऽथ ना रवौ ।" मेदिनी । "सप्तार्चिर्दमुना शुक्रश्चित्रभानुर्विभावसुः ।" अमरः १।१।५६]

पिशङ्गेति । स्फुरन्त्या = दीप्यमानया, पिशङ्गावदातया = पिशङ्गा (= पीता) चासौ अवदाता (= धवला) चेति तया, देहप्रभया = शरीरकान्त्या, सबालातपम् = बालातपेन (= सद्य उदित-सूर्यालोकेन) सह विद्यमानम्, इव, दिवसम् = दिनम्. सदावानलम् = हव्यवाहिना युक्तम्, इव, वनम् = काननम्, उपदर्शयन् = प्रकटयन् । उत्प्रेक्षालङ्कारः 'सबालातपमिव' इत्यत्र 'सदावानलमित्यत्र' चेति बोध्यम् ।

उत्तप्तेति । उत्तप्तेत्यादिः = उत्तप्तम् (= उष्णीकृतम्) यत् लोहम् (= अश्मसारः), तद्वत् लोहिनीनाम् (= लोहितवर्णानाम्) । लुप्तोपमाः । अनेकेत्यादिः = अनेकानि (= विविधानि) च यानि तीर्थानि (= गङ्गाप्रभृतिपूतस्थानानि) तेषु अभिषेकः (= स्नानम्) तेन पूतानाम्

शुद्ध चित्त वाला, अपने समान अवस्था वाले दूसरे मुनिकुमारों से अनुगम्यमान (अनुगत होता हुआ) उसी सरोवर में स्नान करने की इच्छा वाला उसी मार्ग से वहाँ आ गया । अत्यन्त तेजस्वी होने से उसका आकार अत्यन्त कष्ट से देखने योग्य था [अतः] मानों वह दूसरा अग्निदेव हो, वह मानों [प्रातः काल] उदित होते हुए सूर्य-मण्डल से गढ़ कर [काट कर] बनाया गया हो । मानों उसके शरीर के अवयव बिजली से काट कर बनाए गए हों । उसका बाह्य शरीर मानों पिघलाए गए सोने के द्रव (रस = पानी) से रंगा गया हो; वह फैलती हुई कुछ कुछ पीली और उज्वल शरीरकान्ति से दिन को ऐसा बना रहा था कि मानों प्रातःकालीन धूप से युक्त हो और वन को ऐसा दिखा रहा था मानो दावाग्नि से युक्त हो । वह तपाये गए लोहे के समान, अनेक तीर्थों के [जल के] अभिषेक से पवित्र तथा कन्धों पर लटकने वाली, जटाओं के समूह से युक्त था ।

१. समवयोभिः, समानवयोभिः । २. कुमारैः । ३. विरचितावयवः । ४. शिङ्गावदातया ।

सस्थलावलम्बिनीनां[1] जटानां निकरेणोपेतः, स्तम्भितशिखा-कलापः, खाण्डववन-दिधक्षया कृत-कपट-वटु[2]-वेष इव भगवान् पावकः, तपोवनदेवतानूपुरानुकारिणा धर्मशासन-कटकेनेव स्फाटिकेनाक्षवलयेन दक्षिणश्रवणावलम्बिना[3] विराजमानः, सकल-विषयोपभोग-निवृत्त्यर्थम्[4]उपपादितेन[5]

(= पवित्रीकृतानाम्); अंसस्थलावलम्बिनीनाम् = असंस्थलम् (= भुजशिरः) तत्र अवलम्बिनीनाम् (= अवलम्बमानानाम् वेल्लन्तीनाम्), जटानाम् = सटानाम्, निकरेण = समुदायेन, उपेतः = युक्तः । ["लोहोऽस्त्री शस्त्रकं तीक्ष्णं पिण्डं कालायसायसी । अश्मसारः······। अमरः २।९।९८] "स्कन्धो भुजशिरोंऽसः······।' अमरः २।६।७८ । "व्रतिनस्तु जटा सटा ।" अमरः २।६।९७ ।

स्तम्भितेति । स्तम्भितशिखाकलापः = स्तम्भितः = बद्धः, शिखाकलापः = चूडानां समूहो येन स तादृशः, खाण्डववनदिधक्षया = खाण्डववनम् (= खाण्डवाख्यारण्यम्) तस्य दिधक्षा = दग्धुमिच्छा, तया, कृतकपटवटुवेशः = कृतः (= रचितः) कपटेन (= व्याजेन) वटोः (= ब्रह्मचारिणः) वेशः (= रूपम्) येन स तादृशः, भगवान् = माहात्म्यवान् । पावकः = अग्निः, इव, दीप्तिमानिति शेषः । अत्रोपमा । शिखाशब्दश्चूडायां ज्वालायां च वर्तते । अग्निना श्रीकृष्णस्य पार्थस्य च साहाय्येन खाण्डववनं दग्धमिति महाभारतीया कथा द्रष्टव्या ।

तपोवनेति । तपोवनेत्यादिः = तपोवनस्य (= तपश्चरणारण्यस्य) या देवता (=अधिष्ठात्री देवी) तस्या नूपुरम् (= पादकटकम्) तस्य अनुकारिणा (=अनुकरणशीलेन, तत्सदृशेनेति भावः), धर्मशासनकटकेन = धर्मस्य (= विधिनिषेधरूपस्य) शासनम् (= आज्ञा) तस्य कटकम् (= वलयम्, परित्राणाय परिधिरूपेण विद्यमानम्) तेन, इव, दक्षिणश्रवणावलम्बिना = सव्येतर-कर्णावलम्बनशीलेन, स्फाटिकेन = स्फाटकमणिनिर्मितेन, अक्षवलयेन =अक्षमालिकया, विराजमानः = शोभमानः ।

सकलेति । सकलेत्यादिः = सकलाः (= समस्ताः) ये विषयाः (=उपभोज्यपदार्थाः) तेषां य उपभोगः (= परिभोगः, संसेवनम्), तस्माद् निवृत्त्यर्थम् (=निवारणाय), उपपादितेन = विरचितेन, त्रिसत्येन = त्रयाणां सत्यानां समाहारः, मानसिक-वाचिक-कायिक-लक्षणरूपः तेन, इव, भस्मत्रिपुण्ड्रकेण = विभूतित्रितिलकेन, ललाट-पट्टके = भालपट्टके, अलकृतः = विभूषितः । अत्रोत्प्रेक्षा । "सत्यं कृते च शपथे तथ्ये च त्रिषु तद्वति ।" इति मेदिनी ।

वह अपनी चोटिओं के समूह को बाँधे हुए ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अपनी ज्वालाओं (लपटों) के समूह को रोके हुए, खाण्डववन को जलाने की इच्छा से वनावटी ब्रह्मचारी का वेष बनाए हुए भगवान् अग्निदेव हों। वह तपोवन की देवी के नूपुरों के समान प्रतीत होने वाली, धार्मिक उपदेश की रक्षा करने वाली सेना के समान प्रतीत होने वाली, दाहिने कान में लटकने वाली, स्फटिक मणि से बनी हुई अक्षमाला से सुशोभित था। सभी प्रकार के [ऐन्द्रिय] विषयों के उपयोग की निवृत्ति के लिए बनाए गए त्रिसत्य [तीन बार कही गई प्रतिज्ञा] के समान भस्म के त्रिपुण्ड्र से ललाट पट्ट पर अलङ्कृत था, [उसके मस्तक पर त्रिपुण्ड्र की तीन रेखाएँ थीं जिनसे लग रहा था कि इन्द्रिय-सुखोपभोग को छोड़ने की तीन बार प्रतिज्ञा की हो।] उसके बाएँ करतल में स्फटिक मणि-निर्मित

---

१. जटावलीनां । २. वटुवेष इव । ३. अनुलम्बिना, विलम्बिना ।
४. निवृत्तिमुप० । ५. उत्पादितेन ।

ललाटपट्टके[1] त्रिसत्येनेव[2] भस्मत्रिपुण्ड्रकेणालङ्कृतः, गगन-गमनोन्मुखबलाकानुकारिणा[3] स्वर्ग-मार्गमिव दर्शयता सततमुद्ग्रीवेण स्फटिक-मणि[4]-कमण्डलुनाध्यासित-वामकरतलः, स्कन्धदेशाव-लम्बिना कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा[5] तपस्तृष्णानिपीतेनान्तर्निष्पतता[6] धूम-पटलेनेव परीत-मूर्त्तिः, अभिनव-बिससूत्र-निर्मितेनेव परिलघुतया पवनलोलेन निर्म्मांस-विरलपार्श्वकपञ्जरमिव[7]

गगनेति गगनेत्यादिः = गगने (= आकाशे) गमनाय (= उड्डयनाय) उन्मुखी (= ऊर्ध्वानना) या बलाका (= बिसकण्ठिका) तामनुकर्तुं (= विडम्बयितुम्) शीलं यस्य स तेन । स्वर्गमार्गम् = सुरलोकपथम्, दर्शयता = प्रकटयता, इव, सततम् = निरन्तरम्, उद्ग्रीवेण = उत् (= उन्नता) ग्रीवा (= कन्धरा) यस्य स तेन तादृशेन, स्फटिक-मणि-कमण्डलुना = स्फटिकमणिविनिर्मितकुण्डया, अध्यासितवामकरतलः = अध्यासितम् (= आश्रितम्) वामम् (= सव्यम्) करतलम् (= हस्ततलम्) यस्य स तादृशः । ....'बलाकानुकारिणा' इत्यत्र आर्थी उपमा, 'दर्शयतेव' इत्यत्र चोत्प्रेक्षा, अनयोः सांकर्यात् सङ्करालङ्कारः । ["...ग्रीवायां-शिरोधिः कन्धरेत्यपि ।" अमरः २।६।८८ । "अस्त्री कमण्डलुकुण्डी...।" अमरः २।७।४६ ।]

स्कन्धदेशेति । तपस्तृष्णानिपीतेन = 'तपो मे भवतु' इत्याकारिकेच्छा = तपस्तृष्णा, तया निपीतेन (= पानविषयीकृतेन, निगीर्णेन), अन्तर्निष्पतता = अन्तः (= देहाभ्यन्तरे देहाभ्यन्तराद् वा) निष्पतता (= निस्सरता) धूमपटलेनेव = धूमसमुदायेनेव, विद्यमानेन, स्कन्धदेशावलम्बिना = स्कन्धदेशम्, (= अंसस्थलम्) अवलम्बते (= आश्रयति) तच्छीलेन, नीलपाण्डुभासा = नीला (= श्यामा) पाण्डुः (= श्वेता) च भाः (= कान्तिः) यस्य स तेन तादृशेन, कृष्णाजिनेन = कृष्णमृगचर्मणा, परीतमूर्तिः = परीता (= व्याप्ता) मूर्तिः (= शरीरम्) यस्य स तादृशः । 'धूमपटलेनेव' इत्यत्र उत्प्रेक्षा । ["अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री...।" अमरः २।७।७६ ।

अभिनवेति । अभिनवेत्यादिः = अभिनवैः (= प्रत्यग्रैः) बिससूत्रैः (= कमलनालतन्तुभिः) निर्मितेन इव = रचितेन इव, परिलघुतया = अत्यन्तलाघवयुक्ततया, पवनलोलेन = पवनेन (= वायुना) लोलः (= चञ्चलः) तेन, निर्मांसेत्यादिः = निर्मांसम् (= पललरहितम्), विरलम् (= असङ्कीर्णम्, पृथक्तया दृश्यमानम्) यत् पार्श्वास्थिपञ्जरम् (= पार्श्वगतास्थिसमूहः) तद्

कमण्डलु था, जिस (कमण्डलु) की ग्रीवा सदैव ऊपर रहने से ऐसा लग रहा था मानों आकाश में जाने के लिए तत्पर गर्दन ऊपर उठाए हुए बलाका (बगुली) हों तथा मानों स्वर्ग के मार्ग को दिखाने वाला हो । कन्धे पर लटकने वाले नीले और पीले अर्थात् हरे रंग की कान्तिवाले कृष्णमृग-चर्म से आवृत शरीरवाला वह ऐसा लग रहा था मानों तपस्या करने की प्रबल तृष्णा (पिपासा) के कारण पिए गए [अतः] शरीर के बाहर निकलते हुए धुएँ से युक्त शरीर वाला हो । [उसके कन्धों पर लटकता हुआ कृष्ण मृगचर्म ऐसा दिखाई दे रहा था कि मानों तपस्या में पान किया गया धुआँ अब बाहर निकल कर शरीर को घेर रहा हो ।] वह बाएँ कन्धे पर लटकते हुए यज्ञोपवीत से शोभित हो रहा था जो [यज्ञोपवीत] मानों ताजे कमलनाल से बनाया गया हो, अत्यन्त हल्का होने से हवा से हिल रहा था, अधिक मांस-रहित अतएव विरल पसलियों को मानों गिन रहा हो । उसका

१. ललाटपट्टे । २. त्रिसत्यकेन । ३. अनुकारिस्वर्गमार्गमिव ।
४. 'मणि' अयं पाठः कुत्रचिन्नापि दृश्यते । ५. नीलया ।
६. अन्तरमपगच्छता, अन्तर्निवसता । ७. पार्श्वपञ्जरमिव ।

गणयता वामांसावलम्बिनायज्ञोपवीतेनोद्भासमानः, देवतार्च्चनार्थमागृहीत-वनलता-कुसुमपरि-[1] पूर्णपर्णपुट-सनाथ-शिखरेणाषाढदण्डेन व्यापृत-सव्येतरपाणिः, विषाणोत्खातामुद्वहता[2] स्नान-मृदमुपजात-परिचयेन नीवारमुष्टि-संवर्द्धितेन कुश-कुसुम-लतायास्यमान-लोल-दृष्टिना[3] तपोवन-मृगेणानुगम्यमानः,[4]—

—विटप इव कोमल-वल्कलावृत-शरीरः,[5] गिरिरिव समेखलः, राहुरिवासकृदास्वादित-

गणयतेव = तत्सख्यां कुर्वतेव, वामांसावलम्बिना = वामे (= सव्ये) अंसे (= स्कन्धदेशे) अवलम्बितुं शीलमस्य स तेन तादृशेन, यज्ञोपवीतेन = यज्ञसूत्रेण, उद्भासमानः = शोभमानः, अत्र "······निर्मितनेव" "गणयता इव" उभयत्र क्रियोत्प्रेक्षा। ["मृणालं बिसमब्जादि······।" अमरः १।१०।४२] "बाहुमूले उभौ कक्षौ पार्श्वमस्त्री तयोरधः।" अमरः २।६।७९।

देवतार्च्चनेति। देवतार्च्चनार्थम् = देवानां पूजनार्थम्,आगृहीतेत्यादिः = आ (=समन्तात्) गृहीतानि (= आत्तानि) यानि वनलतानाम् (= आरण्यव्रततीनाम्) कुसुमानि (= पुष्पाणि) तैः परिपूर्णम् (= सर्वतः भृतम्) यत् पर्णपुटम् (= पल्लवपुटकम्) तेन सनाथम् (=सहितम्) शिखरम् (=ऊर्ध्वभागः) यस्य स तेन तादृशेन, आषाढ-दण्डेन=पालाशदण्डेन, व्यापृतसव्येतरपाणिः= व्यापृतः (= व्यापारवान् सलग्न इति भावः) सव्येतरः = सव्यात् (= वामात्, इतरः = भिन्नः, दक्षिण इति भावः) पाणिः (= हस्तः) यस्य स तादृशः। "पालाशो दण्ड आषाढ······।" अमरः २।७।४५। "वाम शरीरं सव्य" स्यात्······।" अमरः २।१।८४।

विषाणोत्खातामिति। विषाणोत्खाताम् = विषाणेन (= शृङ्गेण) उत्खाताम् = उत् खनिताम्, स्नानमृदम् = स्नानमृत्तिकाम्, उद्वहता = धारयता, उपजातपरिचयेन = उपजातः (= समुत्पन्नः) परिचयः (= संपर्कः, विशेषज्ञानं वा) यस्य स तेन, नीवारमुष्टि-संवर्द्धितेन = नीवाराणाम् (= वनव्रीहीणाम्) या मुष्टिः (= परिमाणविशेषः) तया संवर्धितेन (= वृद्धिं प्रापितेन), कुशकुसुमेत्यादिः = कुशाः (=दर्भाः) कुसुमानि (= पुष्पाणि), लताः (=व्रतत्यः) ताभिः आयास्यमाने (= खेदं प्राप्यमाणे) अत एव लोले (= चञ्चले) दृष्टी (= नेत्रे) यस्य स तेन तादृशेन, तपोवनमृगेण = तपःकाननहरिणेन, अनुगम्यमानः (= अनुव्रज्यमानः)।

विटप इति। विटप इव = तरुशाखा इव, कोमलवल्कलावृतशरीरः = कोमलम्

दाहिना हाथ आषाढ़ दण्ड (पलाश दण्ड) से युक्त था जिसके एक सिरे पर देवताओं की पूजा के लिए जंगली लताओं से चुने गए फूलों से भरा हुआ दोना बंधा था। उस [मुनिकुमार] के पीछे-पीछे तपोवन का एक मृग चल रहा था जो अपने सींग से खोदी हुई स्नानमृत्ति लिए हुए था, जो खूब परिचित हो चुका था, जो नीवार की मुट्ठियों से (खिला-खिला कर के) बढ़ाया (पाला पोसा) गया था, जो कुश, फूल और लताओं से [वार वार देखने से] थकाईं गईं अत एव चंचल आंखों वाला था।

जिस प्रकार वृक्ष कोमल वल्कल (छाल) से ढके हुए शरीर वाला होता है उसी प्रकार वह मुनिकुमार भी कोमल वल्कल से ढके हुए शरीरवाला था। जिस प्रकार पर्वत मेखला (मध्यभाग) से युक्त

---

१. कुसुमपूर्ण।　　२. विषाणशिखरोत्खाताम्।　　३. उपास्यमान।
४. अनुयातः।　　५. वल्कावृत०।

सोमः, पद्मनिकर[1] इव दिवसकर-मरीचिपः, नदी-तट-तरुरिव सततजल-क्षालन-विमलजटः[2], करि-कलभ[3] इव विकच-कुमुद-दल-शकलसित-दशनः, द्रौणिरिव कृपानुगतः, नक्षत्र-राशिरिव

(= सुकुमारम्) यत् वल्कलम् (= वल्कम्) तेन आवृतम् (= आच्छादितम्) शरीरम् (=देहः) यस्य स तादृशः। वृक्षो मुनिकुमारकश्चोभौ वल्कलावृतौ। गिरिः इव = पर्वतः इव, समेखलः = मध्यदेशेन युक्तः। हारीतपक्षे--मुञ्जनिर्मितमेखला-सहितः। राहुः इव = सिंहिकासुतः, इव, असकृत् = बहुवारम्, आस्वादितः (= पीतः) सोमः (= चन्द्रः) येन स तादृशः। हारीतपक्षे-असकृत् आस्वादितः सोमः (=सोमलतारसः) येन स तादृशः। पद्मनिकर इव = कमलसमूहः, इव, दिवसकर-मरीचिपः = दिवसकरस्य (= सूर्यस्य) मरीचीन् (= किरणान्) पिबति (=स्पृशति) तादृशः, हारीतपक्षे--दिवसकरस्य मरीचीन्=किरणान् पिबति (= पञ्चाग्निमध्ये तिष्ठन् अनुभवति) तादृशः। नदीतटतरुः इव = नद्याः (= सरितः) तटे (= तीरे, स्थितः) तरुः (= वृक्षः) इव, सततजलक्षालनविमलजटः = सततम् (= निरन्तरम्) जलेन (=वारिणा) यत् क्षालनम् (= धावनम्, 'धावु' गतिशुद्ध्योः रूपम्), तेन विमलाः (= निर्मलाः) जटाः (= शिफाः) यस्य स तादृशः, हारीतपक्षे--जटाः (=सटाः) यस्य स तादृशः। [शिफा जटे। अमरः २।४।११। "व्रतिनस्तु जटा सटा इत्यमरः २।६।९७] वृक्षस्य जलप्रवाहात् मूलदेशे मृत्तिका-भावः, हारीतस्य च स्नानादिना केशेषु मृत्तिकादि-परिमार्जनेन स्वच्छत्वमिति भावः। करिकलभः = गजशावक इव, विकच-कुमुद-दल-शकलसितदशनः = विकचम् (=विकसितम्) यत् कुमुदम् (= कैरवम्) तस्य दलानि (=पत्राणि) तेषां यत् शकलम् (= खण्डः) तद्वत् सितौ (= स्वच्छौ) दशनौ (= दन्तौ) यस्य स तादृशः, हारीतपक्षे--सिताः (= निर्मलाः) दन्ताः (= दशनाः) यस्य स तादृशः। द्रौणिः इव=अश्वत्थामा, इव, कृपानुगतः=कृपेण(=कृपाचार्येण) अनुगतः (= सहितः), हारीतपक्षे--कृपया (= दयया) अनुगतः (= युक्तः)। नक्षत्रराशिः इव = नक्षत्राणाम् (= तारकाणाम्) राशिः (= समूहः) इव, चित्रमृगकृत्तिकाश्लेषशोभितः= चित्रम् (= चित्राख्यनक्षत्रम्), मृगः (= मृगशिरोनामकं नक्षत्रम्) कृत्तिका (= कृत्तिकाख्यं

होता है उसी प्रकार वह भी मेखला (मूंज की करधनी) से युक्त था। जिस प्रकार राहु ने अनेक बार सोम (चन्द्रमा) को निगला था उसी प्रकार उसने भी अनेक बार सोम रस का पान किया था। जिस प्रकार कमलों का समूह सूर्य की किरणों का पान करता है उसी प्रकार वह [तपस्या करता हुआ] सूर्य की किरणों का पान करने वाला था। जिस प्रकार नदी के तट पर स्थित वृक्ष जल से निरन्तर धोई जाने से अत्यन्त विमल जटाओं (जड़ों या बरगद आदि की लटकने वाली जटाओं) से युक्त होता है उसी प्रकार वह भी जल से सदा स्वच्छ की गईं अतएव निर्मल जटाओं वाला था। जिस प्रकार हाथी का बच्चा खिले हुए कमल-दल के टुकड़ों [को खाने] से श्वेत दाँतों वाला होता है उसी प्रकार वह भी खिले हुए श्वेत कमल की पंखुड़ियों के समान श्वेत(चमकते हुए) दाँतों वाला था। जिस प्रकार द्रौणि (द्रोणपुत्र अश्वत्थामा) कृपा = कृपाचार्य से अनुगत था उसी प्रकार वह कृपा= दया से युक्त था। जिस प्रकार नक्षत्रराशि चित्रा, मृगशिरा, कृत्तिका, आश्लेषा से शोभायुक्त होती है उसी प्रकार वह चित्तमृगकृत्तिका = चितकबरे मृग के चर्म के आश्लेष (संयोग) से शोभायुक्त था।

१. बिलकर। २. विरल। ३. कलम।

चित्रमृग-कृत्तिकाऽश्लेषोपशोभितः,[1] घर्म्मकाल-दिवस इव क्षपितबहुदोषः,[2] जलधर-समय इव प्रशमितरजः प्रसरः, वरुण इव कृतोदवासः, हरिरिवापनीत-नरकभयः, प्रदोषारम्भ इव

नक्षत्रम्), आश्लेषः (= एतन्नामकं नक्षत्रम्) च एतैर्नक्षत्रैः उपशोभितः (= अतिशोभितः), हारीतपक्षे--चित्रमृगस्य (= कर्बुरहरिणस्य) या कृत्तिका (= चर्म) तस्या आश्लेषण (= सम्बन्धेन) शोभां प्रापितः । "नामैकदेशे नामग्रहणम्" इति न्यायेन प्रसिद्धनक्षत्राणां ग्रहणम् । ["अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री······।" अमरः २।७।४६] घर्मकालदिवसः = घर्मकालस्य (= ग्रीष्मसमयस्य) दिवसः (= दिनम्) इव, क्षपितबहुदोषः = क्षपितानि (= ह्रासं प्रापितानि) बहूनि (= अनेकानि) दोषा (= रात्रयः) येन सः । हारीतपक्षे--क्षपिताः (= विनाशिताः) बहवः दोषाः (= कामक्रोधादयः) येन स तादृशः । ["दिवाऽह्नीत्यथ दोषा च नक्तं च रजनावपि ।" (अमरः ३।४।६) इत्यनुसारेणाधिकरण-शक्तिप्रधानार्थकं 'दोषा' इति अव्ययम् । एवं च "क्षपितं बहु दोषा = रात्रयः येन सः इत्येव विग्रहो न्याय्यः । यदि तु "दोषा रात्रिमुखे रात्रावत्रान-व्ययमप्यसौ ।" इति विश्वकोषः, तदा 'क्षपिता = समुत्पादितह्रासा, बह्वी दोषा = रात्रिर्यस्य स तादृश' इत्यपि वक्तुं शक्यते तस्माद्दोषा शब्दस्याव्ययत्वमेव घोषयन्तो विद्वांसश्चिन्त्या एवेत्यलम् ।]

जलधर-समय इवेति । जलधराणाम् (= मेघानाम्) समयः (= कालः, वर्षर्तुः) इव, प्रशमित-रजःप्रसरः = प्रशमितः (= वर्षया शान्तः) रजसाम् (= धूलीनाम्) प्रसरः (= विस्तारः) येन यस्मिन् वा स तादृशः । हारीतपक्षे--प्रशमितः (= चित्तवृत्तेर्निरोधाभ्यासेन निवारितः), रजसः (= रजोगुणस्य) प्रसरः (= प्रवर्तनव्यापारः) येन स तादृशः । ["रजो रेणौ परागे स्यादार्तवे च गुणान्तरे ।" मेदिनी] वरुण इव = प्रचेताः इव, कृतोदवासः = कृतः (= विहितः) उदके (= वारिणि) वासः (= वसतिः) येन स तादृशः । "पेषं वासवाहन-धिषु" (पा०सू० ६।३।५८)इति सूत्रेण वासशब्दयोगे 'उदकस्य' 'उद' इत्यादेशे 'उदवास' इति । हारीत-पक्षे--कृतः उदवासः = एतन्नामकव्रतविशेषः येन स तादृशः । अत्र 'उदकस्योदः संज्ञायाम्" इति सूत्रेणोदादेशः । हरिरिव = कृष्ण इव, अपनीतनरकभयः = अपनीतम् (= दूरीकृतम्) नकरात् (= एतन्नामकासुरात्) भयम् (= भीतिः) येन स तादृशः । हारीतपक्षे--अपनीतम् नरकस्य (= निरयस्य) भयम् सत्कर्मभिर्येन स तादृशः । ["स्यान्नारकस्तु नरको निरयो दुर्गतिः-स्त्रियाम् ।" अमरः १।९।१] प्रदोषारम्भ इव = प्रदोषः (= रात्रिमुखम्) तस्य आरम्भः (= प्रारम्भः) इव, सन्ध्यापिङ्गलतारकः = सन्ध्यया (= दिवसरजन्योः सन्धिकालः तेन)

जिस प्रकार ग्रीष्मकाल का दिन बहुत छोटी की गई दोषा = रात्रि वाला होता है उसी प्रकार वह भी बहुत से दोषों को नष्ट कर चुकने वाला था । जिस प्रकार बादलों का समय (वर्षा ऋतु) रजःप्रसार = धूल उड़ना शान्त (बन्द) कर देती है उसी प्रकार उसने भी रजोगुण का प्रसार (कामादि व्यापार) शान्त कर लिया था । जिस प्रकार वरुण उदवास (पानी में निवास) करने वाला है उसी प्रकार उसने भी (तपस्या करते समय) उदक में वास या उदवास व्रत किया था । जिस प्रकार हरि (विष्णु) नरकासुर के भय को दूर करने वाले हैं उसी प्रकार वह भी नरक के भय को दूर करने वाला था । जिस प्रकार प्रदोष काल का आरम्भ सन्ध्या के कारण पिङ्गलवर्ण के तारकों (नक्षत्रों) से युक्त होता है उसी प्रकार वह भी सन्ध्या के समान पीले तारकों = पुतलियों

१. विश्लेषाः । २. क्षयितबहुदोषः ।

सन्ध्या-पिङ्गलतारकः,[1] प्रभातकाल इव बालातप-कपिलः, रविरथ इव दृढनियमिताक्षचक्रः,[2] सुराजेव निगूढ-मन्त्रसाधन-क्षपित-[3]विग्रहः, जलधिरिव[4] कराल-शङ्खमण्डलावर्त्त-गर्त्तः,[5] भगीरथ

पिङ्गलाः (= पीतवर्णाः) तारकाः (= नक्षत्राणि) यस्मिन् स तादृशः। हारीतपक्षे--सन्ध्यावत् (= दिवसरात्र्योः सन्धिकालवत्) पिङ्गले (= पीतवर्णे), तारके (= कनीनिके) यस्य स तादृशः। ["प्रदोषो रजनीमुखम्" ...। अमरः १।४ ६] "... दिनान्ते तु सायं सन्ध्या पितृप्रसूः।" अमरः १।४।३। "नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाप्युडु वा स्त्रियाम्" अमरः ३।४।२१। "......तारकाक्ष्णः कनीनिका।" अमरः २।६।९२] प्रभातकाल इव = प्रातःसमय इव, बालातप-कपिलः = बालः (= नवीनः) यः आतपः (= सूर्यद्योतः) तेन कपिलः (= पीतरक्तवर्णः), हारीतपक्षे--बालातपवत् (= नवोदितदिनकरद्योत इव) कपिलः। ["प्रकोशो द्योत आतपः। अमरः १।३।३४]

रविरथ इव = सूर्यस्यन्दनः इव, दृढनियमिताक्षचक्रः = दृढम् (= गाढम्) यथा स्यात् तथा नियमितम् (= निबद्धम्) अक्षः (= मध्यदण्डः) चक्रम् (= प्रसिद्धः स्यन्दनावयवश्च) यस्य स तादृशः। हारीतपक्षे--दृढं नियमितम् अक्षाणाम् (= इन्द्रियाणाम्) चक्रम् (= समुदायः) येन स तादृशः। "...... अथाक्षमिन्द्रिये। ना द्यूताङ्गे कार्यचक्रे व्यवहारे कलिद्रुमे।" अमरः ३।३।२२२। सुराजा इव = सुन्दरः भूपतिः इव, निगूढमन्त्रसाधनक्षपितविग्रहः = निगूढः (= अतिगुप्तः), यो मन्त्रः (= रहस्यालोचनम्) साधनम् (= गजाश्वादिसहायभूतम्) च ताभ्याम् क्षपितः (= विनाशितः) विग्रहः (= शत्रुसंग्रामः) येन स तादृशः। हारीतपक्षे— निगूढम् (= अति गुप्तम्) यत् मन्त्रसाधनम् (= इष्टदेवविषयकमन्त्राराधनम्) तेन क्षपितः (= क्षयं प्रापितः) विग्रहः (= शरीरम्) येन स तादृशः। ["भेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः......।" अमरः ३।३।१६७। "विग्रहः कामविस्तारविभागे ना रणेऽस्त्रियाम्।" मेदिनी। जलनिधिः इव = समुद्र इव, कराल-शङ्खमण्डलावर्त्तगर्तः = करालः (= दन्तुरः, विशालः) चासौ शङ्खः (= कम्बुः) तथा मण्डलावर्तः (= मण्डलाकारेण जलभ्रमिश्च) नाभिगर्तं इव (= नाभिश्वभ्रः इव) यत्र सः। हारीतपक्षे—करालः (= दन्तुरः) यः शङ्खः (= कम्बुः) तस्य मण्डलावर्तवत् (= मण्डलाकार-भ्रमिवत्) नाभिगर्तः (= नाभिदेशः) यस्य स तादृशः।] "स्यादावर्त्तोऽम्भसां भ्रमः। अमरः १।१०।६। ["गर्तावटौ भुविश्वभ्रे।" अमरः १।८।२। 'करालो दन्तुरे तुङ्गे... ...। अमरः ३।३।२०५।

भगीरथ इव = सगरपौत्र इव, दृष्टगङ्गावतारः = दृष्टः (= विलोकितः) गङ्गायाः

वाला था। जिस प्रकार प्रातःकाल बाल सूर्य (या प्रारम्भिक धूप) से कपिल वर्ण का होता है उसी प्रकार वह बाल=नवोदित सूर्य के समान पिङ्गलवर्ण का था। सूर्य का रथ जिस प्रकार अच्छी तरह बंधे हुए अक्षचक्र=आरों से युक्त पहिया वाला है उसी प्रकार वह अक्षचक्र = इन्द्रिय-समूह को अच्छी तरह नियन्त्रित (वशीभूत) रखने वाला था। जिस प्रकार अच्छा राजा अतिगुप्त मन्त्र (सन्धि-विग्रहादि) के अनुष्ठान से विग्रह (युद्ध) को समाप्त कर देने वाला होता है उसी प्रकार वह गुप्त वेद मन्त्रों के अनुष्ठान से अपने विग्रह (शरीर) को दुर्बल बनाने वाला था। जिस प्रकार समुद्र कराल (= ऊँचे-नीचे) शंखमण्डल, आवर्त (= लहरों की भँवर) तथा गर्त्त (= गड्ढों) वाला होता है उसी प्रकार वह कराल (= ऊँचे नीचे) शंख-मण्डल (= ललाट-मण्डल), आवर्त = भौंरी और नाभिगर्त से युक्त था। [उसका ललाट-मण्डल बीच में उठा हुआ, किनारों पर दबा हुआ था,

१. पिशङ्ग। २. नियमिताक्षचक्रः, दृढसंयमिता०। ३. क्षयित। ४. जलनिधिरिव। ५. आवर्त्तनाभिगर्त्तः।

इव दृष्ट-गङ्गावतारः[1], भ्रमर[2] इवासकृदनुभूतपुष्कर-वनवासः,—

—वनचरोऽपि कृतमहालयप्रवेशः, असंयतोऽपि मोक्षार्थी, सामप्रयोगपरोऽपि सतताव-

(= जाह्नव्याः) अवतारः (= विष्णुपदादधोऽवतरणम्) येन स तादृशः। हारीतपक्षे—दृष्टः गङ्गाया अवतारः (= घट्टः) येन स तादृशः। "घट्टस्तीर्थावतारे" इति प्रसिद्धम्। भ्रमर इव = मधुकर इव, असकृदनुभूतपुष्करवनवासः = असकृत् (= अनेकवारम्) अनुभूतः (= अनुभवविषयीकृतः) पुष्करवने (= कमलकानने) वासः (= वसतिः) येन स तादृशः। हारीतपक्षे—अनुभूतः पुष्करे (= जले एतत्संज्ञकतीर्थस्थले च) वने (= अरण्ये) च वासः येन स तादृशः। ["पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले। व्योम्नि खड्गफले पद्मे तीर्थौषधिविशेषयोः।] अमरः ३।३।१८६-८७ ["विटप इव......" इत्याद्यारम्य "भ्रमर इवासकृदनुभूतवनवासः" इत्यादौ सर्वत्र पूर्णोपमा। केचित्तु श्लेषोपमेति वदन्ति।]

पुनरपि तमेव मुनिकुमारकं विशेषयति—वनचरोऽपीति। वनचरः = वने (= कानने) चरति (= भ्राम्यति, निवसतीति भावः) यः स तादृशः, अपि, कृतमहालयप्रवेशः = कृतः (= विहितः) महालयेषु (= विशालभवनेषु) प्रवेशः (= अन्तर्गमनम्) येन स तादृशः—इति विरोधः। परिहारपक्षे—कृतः (= चित्तवृत्तिनिरोधादिना संपादितः) महालये (= परमात्मनि) प्रवेशः (= आत्मस्वरूपनिवेशः) येन सः; यद्वा—महालये (= मोक्षे) प्रवेशः (= वसतिः) येन स तादृशः। ["गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालयाः।" अमरः २।२।५। "महालयो विहारे स्यात् तीर्थे च परमात्मनि" मेदिनी।]

असंयत इति। असंयतोऽपि = असंयमवानपि, धारणाध्यानरूपसमाधिहीनोऽपीति भावः, मोक्षार्थी = मोक्षाभिलाषुकः, धारणाध्यानादीनामभावे कथं मोक्षार्थित्वमिति विरोधः। परिहारपक्षे—असंयतोऽपि = अबद्धोऽपि, सांसारिक-प्रपञ्चेनेति भावः, यद्वा तत्काले तादृशः सन्नपि भविष्यत्काले संयमाश्रयणात् मोक्षार्थित्वमुपपन्नम्।

सामेति। सामप्रयोगपरः = साम (= सान्त्वनम्) तस्य प्रयोगः (= अनुष्ठानम्) तत्र परः (= उद्युक्तः) सन्नपि, सततावलम्बितदण्डः = सततम् (= निरन्तरम्) अवलम्बितः (= समाश्रितः) दण्डः (= दण्डाख्यश्चतुर्थोपायः) येन स इति यो हि सामाख्यतृतीयोपायपरः सः कथं दण्डाख्यचतुर्थोपाय-पर इति विरोधः। परिहारपक्षे—साम (= एतन्नामकतृतीयवेदः) तस्य प्रयोग-परः (= गानादिपरायणः) अपि, सततम् आलम्बितः दण्डः (= ब्रह्मचारिदण्डः) येन स इति।

वालों में दक्षिणावर्त भौंरी का स्वरूप था, नाभि गहरी थी।] भगीरथ ने जिस प्रकार गङ्गा का अवतार = अवतरण देखा था उसी प्रकार वह भी गङ्गा का अवतार (उतरने वाली सीढ़ियाँ) देख चुका था। जिस प्रकार भ्रमर अनेक बार पुष्करवन (कमलवन) में रहने का अनुभव करता है उसी प्रकार वह भी अनेक बार पुष्कर नामक तीर्थ में और वन में रहने का अनुभव कर चुका था।

[यहाँ से विरोधाभास है—] वह वन में इधर-उधर घूमने वाला होता हुआ भी महान् आलयों (भवनों) में प्रवेश किये हुए था। [विरोध का परिहार महालय=परमात्मा, ब्रह्म में प्रवेश कर चुका था, समाधि लगा चुका था।] वह असंयत (संयमरहित) होता हुआ भी मोक्षार्थी = मोक्ष का अभिलाषी था। [विरोधपरिहार-सांसारिक वासना के वशीभूत न होता हुआ मोक्षाभिलाषी था।], वह]

१. असकृद्दृष्ट। २. मधुकरः।

लम्बितदण्डः, सुप्तोऽपि प्रबुद्धः, सन्निहित-नेत्रद्वयोऽपि परित्यक्तवामलोचनस्तदेव कमलसरः सिस्नासुरुपागमत् ।

प्रायेणाकारण-मित्राण्यतिकरुणार्द्राणि च सदा खलु भवन्ति सतां चेतांसि । यतः स मां तदवस्थमालोक्य समुपजातकरुणः[1] समीपवर्त्तिनमृषिकुमारकमन्यतममब्रवीत्[2]—'अयं कथमपि

सुप्त इति । सुप्तः अपि = निद्रितोऽपि, प्रबुद्धः = जागरितः, अत्र विरोधः । परिहारपक्षे— सुप्तः = शयनावस्थावत् जगज्ज्ञानशून्योऽपि, प्रबुद्धः = "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादिप्रतिपादितज्ञान-विशिष्टः । अत्र व्याख्यायां भानुचन्द्रस्तु—"सुष्ठु प्ताः = जटाः यस्य स इति व्याख्यां विधाय शृङ्गार-तिलकटीकायाः पद्यमेकमुदारणत्वेनोपन्यस्तवान् "राजा राजार्चित······स प्ताः सप्ताश्वनुन्नारुण-किरणनिभाः पातु बिभ्रत्त्रिनेत्रः ।"

सन्निहितेति । सन्निहितनेत्रद्वयः = सन्निहितम् (= सम्यग्रूपेण स्थापितम्) नेत्रद्वयम् (= चक्षुर्द्वयम्) येन स तादृशः सन्नपि, परित्यक्तवामलोचनः = परित्यक्तम् (= दूरीकृतम्) वामम् (= सव्यम्) लोचनम् (= नयनम्) येन स इति नेत्रद्वयविशिष्टस्य कथमेकनेत्र-परित्याग इति विरोधः, परिहारपक्षे—सन्निहितनेत्रद्वयोऽपि, परित्यक्ता वामलोचना (= रमणी) येन स तादृश इति । एवं गुणविशिष्टो हारीतनामा मुनि-कुमारकः, तदेव = पूर्वोक्तं पम्पाभिधानमेव, सरः = पद्मसरोवरम्, सिस्नासुः = स्नातुमिच्छुः, [स्नाधातोः सन्नन्ताद् 'उ' प्रत्यये रूपम् ।] उपागमत् = समीपमागमत् ।

साम्प्रतं तस्य मुनिकुमारकस्य व्यवहारं वर्णयति—प्रायेणेति । सताम् = सज्जनानाम्, चेतांसि = हृदयानि, सदा = सदैव, प्रायेण = बाहुल्येन, अकारणमित्राणि = अकारणेऽपि (= हेत्वभावेऽपि) मित्राणि (= सौहार्दयुक्तानि), अतिकरुणार्द्राणि = अतिकरुणया (=अतिशय-दयया) आर्द्राणि (= क्लिन्नानि, व्याप्तानीति भावः), च, भवन्ति = सन्ति, खलु इदं निश्चये । यतः = यस्मात्कारणात्, सः = पूर्ववर्णितः मुनिकुमारकः, तदवस्थम् = सा (=तादृशी, पूर्वोक्ता) अवस्था (= दशा) यस्य स तं अत्यन्तकष्टापन्न-दशमित्यर्थः, माम् = शुकम्, आलोक्य = दृष्ट्वा, समुपजातकरुणः = समुपजाता (= समुत्पन्ना) करुणा (= दया) यस्य स तादृशः, समीप-वर्त्तिनम् = समीपे (= निकटे) वर्तते (= तिष्ठति, विद्यते वा) एतच्छीलम्, निकटस्थितम्, अन्यतमम् = कमप्येकम्, ऋषिकुमारकम् = मुनितनयम्, अब्रवीत् = अवोचत् ।

साम (शान्ति) के प्रयोग में लगा हुआ भी सदैव दण्ड का अवलम्बन करने वाला था । [विरोध-परिहार— सामनीति का प्रयोक्ता होता हुआ भी दण्ड= ब्रह्मचारी के पालाश दण्ड को पकड़े हुए था ।] वह सोया हुआ भी प्रबुद्ध = जागृत था । [विरोध-परिहार—सोया हुआ भी प्रबुद्ध = प्रकृष्ट ज्ञानवाला था ।] वह समीप में विद्यमान दोनों नेत्रों वाला होता हुआ भी वामलोचन का परित्याग करने वाला था । [विरोधपरिहार—वामलोचना = स्त्री का परित्याग करने वाला था ।] इस प्रकार जाबालिपुत्र हारीत उसी मार्ग से उसी पम्पासरोवर में स्नान करने की इच्छा से आया ।

सज्जनों के हृदय सदा प्रायः बिना कारण मैत्री भाव वाले और अत्यन्त दया वाले होते हैं । [सज्जनों की मित्रता और दया में किसी कारणविशेष की आवश्यकता नहीं होती है ।] क्योंकि वह मुनिकुमार हारीत मुझे उस प्रकार की कष्टयुक्त दशावाला देख कर अत्यन्त दयायुक्त होता हुआ

१. वयः । २. समीतस्र्वतिनम् ।

शुक-शिशुरसञ्जात-पक्षपुट एव तरुशिखरादस्मात् परिच्युतः, श्येन-मुख-परिभ्रष्टेन वाऽनेन[1] भवितव्यम्[2]। तथाहि—अतिदवीयस्तया प्रपातस्याऽल्पशेषजीवितोऽयमामीलित-लोचनो मुहुर्मुहु-र्मुखेन पतति[3], मुहुर्मुहुरत्युल्बणं श्वसिति[4], मुहुर्मुहुश्चञ्चुपुटं विवृणोति, न शक्नोति शिरोधरां धारयितुम्। तदेहि, यावदेवायमसुभिर्न विमुच्यते[5] तावदेव गृहाणेमम्[6], अवतारय सलिल-समीपम्' इत्यभिधाय तेन मां सरस्तीरमनायत्।

किमब्रवीदिति वर्णयति—अयमिति। अयम् = पुरोवर्ती एषः, शुकशिशुः = कीरशावकः, असञ्जातपक्षपुटः = असञ्जातः (= असमुत्पन्नः) पक्षपुटः (= छदपुटः) यस्य स तादृशः; एव, कथमपि = केनापि प्रकारेण, महता दौर्भाग्येन, अस्मात् = पुरोवर्तिन एतस्माद्, तरुशिखराद् = विटपोर्ध्वदेशात्, परिच्युतः = परिपतितः, वा = अथवा, अनेन = एतेन, श्येनमुखपरिभ्रष्टेन = श्येनस्य (= शिञ्जानकनामकपक्षिणः) मुखात् (= आननात्) भ्रष्टेन (= निपतितेन) भवितव्यम् = भाव्यम्। अयं स्वयमशक्त्या पतितः श्येनादिना वा पातित इति भावः।

स्वोक्तौ मुनिकुमारकः हेतुं प्रदर्शयितुमाह—तथा हीति। तथा हि = तच्च एवं वेदितव्यम्, प्रपातस्य = प्रपतनस्थानस्य, (प्रपतति अस्मादिति अपादाने साधु) अतिदवीयस्तया = अतिदवीयः (=अतिदूरम्) तस्य भावस्तया, अत्यन्तदूरत्वेन, अयम् = एषः शुकशिशुः, अल्पशेषजीवितः = अल्पम् (= स्तोकम्) शेषम् (= अवशिष्टम्) जीवितम् (= जीवनम्) यस्य स तादृशः, आमीलित-लोचनः = संकुञ्चितनयनः, मुखेन = आननेन, मुहुर्मुहुः = वारम्वारम्, पतति = निपतति, भ्रश्यति, मुहुर्मुहुः = वारम्वारम्, अत्युल्वणम् = अत्युत्कष्टम्, अतिस्फुटं वा, श्वसिति = प्राणिति। चञ्चुपुटम् = त्रोटिपुटम्, मुहुर्मुहुः = वारम्वारम्, विवृणोति = विस्फारयति। शिरोधराम् = ग्रीवाम्, धारयितुम् = स्थापयितुम्, न = नैव, शक्नोति = प्रभवति, समर्थो भवति। तद् = तस्मात्, एहि = आगच्छ, अयम् = एषःशुकशिशुः, यावदेव = यावत्कालमेव, असुभिः = प्राणैः, न = नैव, विमुच्यते = परित्यज्यते, न म्रियते इति भावः, तावदेव = तावति समये एव, इमम् = अमुं शुकशिशुम्, गृहाण = धारय, सलिलसमीपम् = जलनिकटम्, अवतारय = प्रापय, इति = एवम्, अभिधाय = उक्त्वा, तेन = अन्यतमेन ऋषिकुमारकेण, प्रयोज्यकर्त्रा, माम् = शुकशिशुम्,

समीपवर्त्ती किसी एक ऋषिकुमार से बोला—"यह तोते का बच्चा जिसके पंख भी नही निकले हैं, इस पेड़ की चोटी से किसी प्रकार (हवा के झोंके आदि से) गिर पड़ा है अथवा यह बाज के मुख से छूट कर गिरा हुआ होना चाहिए। क्योंकि गिरने का स्थान (वृक्षशिखर के) बहुत दूर होने के कारण इसका जीवन बहुत थोड़ा ही बचा है, (अब कुछ देर ही जीना शेष है।) आखें बन्द किए हुए यह बार-बार मुंह के बल गिर रहा है, बहुत तेजी से बार-बार सांसें ले रहा है, बार-बार चोंच फैला रहा है, अपनी गरदन भी नहीं सँभाल पा रहा है। इसलिए आओ, जब तक प्राण इसे नहीं छोड़ते (अर्थात् मृत्यु से पहले ही) इसे पकड़ लो और पानी के पास उतार दो (पहुँचा दो)"—ऐसा कहकर उस ऋषिकुमार ने मुझे पम्पासरोवर के निकट पहुँचवाया।

१. प्रायः—इत्यधिकं क्वचित्। २. तथाहि—अस्याल्पशेषं जीवितम्, प्रपातस्याशेषजीवितः।
३. वमति। ४. निश्वसिति।
५. वियुज्यते। ६. एनम्।

उपसृत्य च जल-समीपमेकदेश-निहित-दण्ड-कमण्डलुरादाय स्वयमामुक्तप्रयत्न-[1] मुत्तानित-मुखमङ्गुल्या[2] कतिचित् सलिल बिन्दूनपाययत्।

अम्भःक्षोदकृतसेकश्चोपजातनवीन-प्राणमुपतट-[3]प्ररूढस्य[4] नवनलिनीदलस्य जलशिशिरायां छायायां निधाय[5] स्वोचितमकरोत्[6] स्नानविधिम्। अभिषेकावसाने चानेकप्राणायामपूतोऽपि[7]

सरस्तीरम् = पम्पासरोवरनिकटम्, अनाययत् = प्रापयत्। 'णीञ् प्रापणे' इत्यस्य णिजन्तस्य लुङि रूप बोध्यम्। "प्रपातस्त्वतटो भृगुः।" [अमरः २।३।८] "स्पष्टं स्फुटं प्रव्यक्तमुल्वणम्।" [अमरः ३।१।८१]

असौ मुनिकुमारकः किमकरोदिति वर्णयति—उपसृत्येति। जलसमीपम् = सलिलसन्निकटम्, उपसृत्य = प्राप्य, गत्वा, च, एकदेशेत्यादिः = एकदेशे (= एकस्मिन् भागे) निहितौ (= स्थापितौ) दण्डकमण्डलू (= पालाशदण्डकुण्डिके) येन स तादृशः, स्वयम् = आत्मनैव, आदाय = गृहीत्वा मामिति शेष, आमुक्तप्रयत्नम् = आमुक्तः (= परित्यक्तः) प्रयत्नः (= स्वजीवनरक्षार्थं शारीरिकव्यापारः) येन स तं तादृशम्, उत्तानितमुखम् = ऊर्ध्वीकृताननम्, माम्, अङ्गुल्या = करशाखया, कतिचित् = कांश्चित्, सलिलबिन्दून् = वारिकणान्, अपाययत् = अधाययत्, पानमकारयत्।

अम्भःक्षोदेति। अम्भःक्षोदकृतसेकम् = अम्भःक्षोदैः = अम्भसाम् (= जलानाम्) क्षोदैः (= कणैः) कृतः (= विहितः) सेकः (= सेचनम्) यस्य स तं तादृशम्, चकारः समुच्चये। उपजातनवीनप्राणम् = उपजाताः (= पुनः समुत्पन्नाः) नवीनाः (= नूतनाः) प्राणाः (= असवः) यस्य स तं तादृशम्, मामिति शेषः। उपतटप्ररूढस्य—उपतटम् (= तटस्य समीपे) प्ररूढस्य (= प्रादुर्भूतस्य) नवस्य (= सद्योजातस्य) नलिनीदलस्य (= कमलिनी-पत्रस्य), जलशिशिरायाम् = वारिशीतलायाम्, छायायाम् = अनातपे, निधाय = स्थापयित्वा, स्वोचितम् = स्वस्य (= आत्मनः) उचितम् (= योग्यम्), स्नानविधिम् = जलनिमज्जनादिविधानम्, अकरोत् = अकार्षीत्।

अभिषेकेति। अभिषेकावसाने = अभिषेकस्य (= स्नानस्य) अवसाने (= समाप्तौ), च = इवं समुच्चये, अनेकप्राणायामपूतः = अनेकैः (= बहुविधैः) प्राणायामैः (= पूरककुम्भक-रेचकाभिधैः योगाङ्गविशेषैः) पूतः (= पवित्रः) अपि, अघमर्षणानि = अब्देवतास्तुतिरूपाणि [अघम् = पाप, मृष्यते = प्रमृज्यते एभिरिति करणे ल्युटि अघमर्षणशब्दः। "सर्वैनसामपध्वंसि जप्यं त्रिष्वघमर्षणम्।"

और जल के समीप पहुँच कर अपना दण्ड और कमण्डलु एक ओर रखा और [जीवन के लिए] प्रयत्न छोड़ देने वाले, ऊपर की ओर मुख फैलाए हुए मुझे स्वयं लेकर (उठा कर) अपनी अंगुलियों से पानी के कुछ बूंद पिलाए।

उसने जल [पिलाते समय शरीर पर गिरी हुई] बून्दों से मुझे सींच (शीतल कर) दिया था अतः मुझमें नये प्राणों का संचार हो गया था, मुझे तट के किनारे उगी हुई नवीन नलिनी-दल की जल [के सम्पर्क] से शीतल छाया में रख कर अपने योग्य विधि से स्नानकृत्य सम्पन्न किया। स्नान के समाप्त हो जाने पर अनेक प्राणायामों से पवित्र भी वह मुनिकुमार अघमर्षण मन्त्रों को जपता हुआ,

---

१. प्रमुक्तप्रयत्नम्। २. उन्नमितमुखम्, उत्तानितमन्मुखम्। ३. सञ्जातप्राणम्। ४. उपतटप्ररूढनव, यत्नमनवनलिनीदलस्य। ५. समुपचितन्। ६. अभिमतामिषेक। ७. पूतो जपन् पवित्राण्यघमर्षणानि।

जपन्नघमर्षणानि प्रत्यग्रभग्नैरुन्मुखो रक्तारविन्दैर्नलिनीपत्र-पुटेन भगवते सवित्रे दत्त्वा-र्घमुदतिष्ठत्[1] ।

आगृहीत-धौत-धवल-वल्कलश्च[2] सहज्योंत्स्न[3] इव सन्ध्यातपः करतल-निर्धूनन-विशद-सटः[4] प्रत्यग्रस्नानार्द्र-जटेन[5] सकलेन तेन मुनिकुमार-कदम्बकेनानुगम्यमानो[6] मां गृहीत्वा तपोवनाभिमुखं शनैः शनैरगच्छत्[7] ।

इति अमरः २।७।४७]जपन्=जपं कुर्वन्,उन्मुखः=सूर्याभिमुखः सन्,प्रत्यग्रभग्नैः=सद्य एवावचितैः, रक्तार-विन्दैः=रक्तकमलैः, नलिनीपत्रपुटेन=नलिन्याः (=कमलिन्याः) पत्रपुटेन (=दलपुटेन,आधारभूतेनेति भावः) भगवते=माहात्म्यवते; सवित्रे=सूर्याय, अर्घम्=पूजाम्, दत्वा=समर्प्य, उदतिष्ठत्=उत्थित-वान् । ["ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" इत्यारभ्य "दिवञ्चपृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः" इत्यन्तानि वरुणदेवतास्तुतिरूपाणि अघमर्षाणानि प्रसिद्धानि ।]

आगृहीतेति । आगृहीतेत्यादिः = आगृहीतम् (=स्नानानन्तरं सम्यक् परिहितम्), धौतम् (=प्रक्षालितम्) अतएव, धवलम् (=उज्वलम्) वल्कलम् (=वृक्षत्वक्) येन स तादृशः, च= इदं समुच्चये । अतएव, सहज्योत्स्नः = ज्योत्स्नया सहितः, सन्ध्यातपः=सायन्तनसूर्यप्रकाशः, इव [सहज्योत्स्नः' इत्यत्र बहुव्रीहौ 'वोपसर्जनस्य' इति सूत्रेण विकल्पेन सहस्य स इत्यादेशः ।] करतले-त्यादिः=करतलेन (=हस्ततलेन) यत् निर्धूननम् (=आच्छोटनम्, संचालनं वा), तेन विशदा (=विमला, पृथग्भूय स्थिताः वा) सटाः (= जटाः) यस्य स तादृशः । प्रत्यग्रस्नानार्द्रजटेन = प्रत्यग्रम् (= तत्कालमेव विहितम्) यत् स्नानम् (=जलमज्जनम्) तेन आर्द्राः (=क्लिन्नाः) जटाः (=सटाः) येषां तत् तेन तादृशेन, तेन, सकलेन=सम्पूर्णेन, मुनिकुमारकदम्बकेन = ऋषि-सुतसमूहेन, अनुगम्यमानः = अनुस्रियमाणः, माम् = शुकशावकम्, गृहीत्वा = धृत्वा, तपोवनाभि-मुखम् =स्वीयाश्रमं प्रति, शनैः शनैः = मन्दं मन्दम्, अगच्छत् = अचलत् ।

ऊपर [सूर्य की ओर] मुख करते हुए, उसी समय तोड़ कर लाए गए लाल कमलों से कमलिनी के पत्रपुटक [दोना] द्वारा सूर्य को अर्घ्य देखकर उठ खड़ा हुआ ।

और धुले हुए [अत एव] उज्वल वल्कल को धारण किए हुए, [इस कारण] चाँदनी सहित सायंकालीन सूर्य के प्रकाश के समान सा होता हुआ, अपने करतलों [हथेलिओं] से फटकारने (झाड़ने) से स्वच्छ या बिखरी हुई जटाओं वाला, [वह मुनिकुमार], तत्काल स्नान करने से गीली जटाओं वाले उन मुनिकुमारों के समूह द्वारा अनुगमन किया जाता हुआ, मुझे लेकर तपोवन की ओर धीरे-धीरे चल पड़ा ।

---

१. अर्घ्यम् । २. आगृहीतधवल । ३. सज्योत्स्नः इव । ४. विधूतविशदजटः । ५. कमण्डलुमापूर्य कमलकिञ्जल्क-सुरभिणा शुचिना सरोवारिणा प्रत्यग्रस्नानार्द्रजटेन । ६. कुमारक । ७. कुत्रचित् 'शनैः' इत्येकदैव दृश्यते ।

अनतिदूरमिव गत्वा दिशि-दिशि सदा सन्निहित-कुसुमफलैः[1] ताल-तिलक-तमाल-हिन्ताल-[2] बकुलबहुलैः, एलालताकुलित-नालिकेरी-कलापैः,[3] लोल-लोध्र-लवली-लवङ्ग-पल्लवैः,[4][5] उल्लसित-[6] चूत-रेणु-पटलैः, अलिकुल-झङ्कार-मुखर-सहकारैः, उन्मद-कोकिल-कुल-कलाप-कोलाहलिभिः,[7] उत्फुल्ल-केतकी-रजःपुञ्ज-पिञ्जरैः,[8] पूगीलता-दोलाधिरूढ-वनदेवतैः, तारका-वर्षमिवाधर्म्म-[9]

साम्प्रतं महर्षि-जाबालेराश्रमस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादयितुमुपक्रमते— अनतिदूरमिवेति । अनति-दूरम् = किञ्चिदेव दवीयासं मार्गम्, गत्वा = अतिक्रम्य, ['आश्रममपश्यमि'' ति दूरस्थेन क्रियापदेन सम्बन्धो बोध्यः । अत्र 'इव' शब्दो वाक्यालङ्कारे । द्वितीयान्तानि पदानि आश्रमम्' इत्यस्य विशेष-णानि । तच्चाश्रमं कीदृशमिति प्रतिपादयितुं बहुधा विशेषणानि प्रयुक्तानि । प्रथमं तावत् तृतीयान्तानि पदानि 'काननै' रित्यस्य विशेषणानि ।]

दिशि दिशीति । दिशि दिशि = प्रतिदिशम्, सदा = सर्वदा, सन्निहितकुसुमफलैः = सन्निहितानि (= समीपवर्तीनि), कुसुमानि (= पुष्पाणि), फलानि (= रसोद्भवानि) येषु तानि तैः, तालेत्यादिः-तालाः (=एतन्नाम्ना प्रसिद्धाः वृक्षविशेषाः, तृणराजाः), तिलकाः (=श्रीमन्तः वृक्षविशेषाः, क्षुरकाः), तमालाः (= तापिच्छाः), हिन्तालाः (= फलतरुविशेषाः), बकुलाः (= केशराः) च बहुलाः (= प्रचुराः) येषु तानि तैः । [यद्वा एतैः, बहुलैः = दृढैः । ''नीरन्ध्रं बहुलं दृढैः'' इति कोशः] एलालतेत्यादिः—एलालताः (= चन्द्रवाललताः) ताभिः, आकुलिताः (= व्याप्ताः) नालिकेरीकलापाः (= लाङ्गलीवृक्षसमूहाः) येषु तानि, तैः । लोलेत्यादिः— लोलाः (= चपलाः) लोध्राः (= गालवाः), लवल्यः (= लताविशेषाः) लवङ्गाः (= श्रीसंज्ञकाः) च, एतेषां पल्लवाः सन्ति येषु तानि तैः । अत्र 'लोलाः' इदं पल्लवानां विशेषणम् । उल्लसितेत्यादिः— उल्लसितानि (= बहिरागतानि) चूतरेणूनाम् (= सहकार-मञ्जरीपरागाणाम्) पटलानि (=समूहाः) येषु तानि तैः अलिकुलेत्यादिः—अलिकुलानाम् (= भ्रमरसमुदायानाम्) ये झङ्काराः (= झं झम्'-इत्याकारकध्वनिविशेषाः) तैः मुखराः (= वाचालाः, शब्दायमानाः) सहकाराः (= रसालाः) येषु तानि तैः । उन्मदेत्यादिः—उन्मदानि (= मदोन्मत्तानि) यानि कोकिलकुलानि (= पिककुलानि) तेषां यः कलापः (= समूहः) तस्य कोलाहलः (= कलकलः अस्ति येषु तानि तैः । उत्फुल्लेत्यादिः= उत्फुल्लानाम् (= विकसितानाम्) केतकीनाम् (= क्रकचच्छदविशेषाणाम् शिवपूजनवर्जितपुष्पविशे-

जाबालि-आश्रम-वर्णन

[यहाँ 'अनतिदूरमिव गत्वा आश्रमम् अपश्यम्—' यह मुख्य वाक्यांश है । मध्य में उस जाबालि आश्रम की विशेषता बताने वाले अनेक विशेषणों का प्रयोग है ।]

थोड़ी सी दूर जाकर [मैने = शुकने महर्षि जाबालि का] आश्रम देखा जो (आश्रम) ऐसे वनों से व्याप्त (घिरा हुआ) था जो (वन) सदैव फूलों और फलों से युक्त ताल (ताड़ा), तिलक, तमाल (तम्बाकू) हिन्ताल और बकुल (मौलिसिरी) की अधिकता वाले थे, जो एला (इलायची) की लताओं से घिरे हुए नारियल के वृक्षों के समूह से युक्त थे, जो लोध्र, लवली, और लौंग के हिलते हुए पल्लवों से युक्त थे, जो उड़ती हुई आम की मंजरी के समूह से युक्त थे, जिनमें गुनगुनाते हुए भौरों के कारण आम के वृक्ष झंकार-युक्त थे, जो मदमत्त कोयल-कुल के समूह के कोलाहल से युक्त थे, जो खिले हुए केतकी (केवड़े) के परागपुञ्ज से पीले थे, जिनमें पूगीलता (सुपारियों की लता) रूपी झूला में वन की अधिष्ठातृ देविया चढ़ी हुई (विराजमान) थीं, जो (वन)

१. कुसुमपटलैः । २. तिलकतालीतमाल । ३. नारिकेल । ४. आलोल । ५. पुष्पैः । ६. उल्लसत् । ७. कुलकलालाप । ८. केतकमञ्जरीरजः,केतकीकुसुमरजः । ९. तारकावृष्टिम् ।

विनाश-पिशुनं[1] कुसुम-निकरमनिल-चलितमनवरतमतिधवलमुत्सृजद्भिः, संसक्तपादपैः काननैरुपगूढम्,—

—अचकित-प्रचलित-कृष्णसार[2]-शत-शबलाभिः, उत्फुल्ल-स्थलकमलिनी[3]-लोहिनीभिः, मारीचमायामृगावलून[4]-प्ररूढ-वीरुद्दलाभिः[5], दाशरथि-चाप-कोटि-क्षत-कन्द[6]-गर्तविषमित-तलाभिः, दण्डकारण्यस्थलीभिरुपशोभितप्रान्तम्,—

षाणाम्), रजः पुञ्जाः (= परागसमूहाः) तैः पिञ्जरैः (= पीतरक्तैः) । अत्र बहुव्रीहिर्न सम्यक् । पूगीलतेत्यादिः—पूगीलताः (= क्रमुकवल्ल्यः) एव दोलाः (= प्रेङ्खाः) ताः तासु वा अधिरूढाः (= आश्रिताः) वनदेवताः (= अरण्याधिष्ठात्र्यो देव्यः) येषु तानि तैः ।

अधर्मेति । अधर्मविनाश-पिशुनम् = अधर्मस्य (= पापस्य) यः विनाशः (= ध्वंसः) तस्य पिशुनम् (= सूचकम्), अनिलचलितम् = पवनप्रकम्पितम्, अतिधवलम् = अतिशयोज्ज्वलम्, कुसुमनिकरम् = पुष्पसमूहम्, तारकावर्षम् = नक्षत्रवृष्टिम्, इव, अनवरतम् = निरन्तरम्, उत्सृजद्भिः = विकिरद्भिः, ससंक्तपादपैः = संसक्ताः (= मिथोमिलिताः) पादपाः (= वृक्षाः) येषु तानि तैः, तादृशैः पूर्वोक्तैः, काननैः = वनैः, उपगूढम् = समाच्छादितम् । 'आश्रमम्' इति विशेष्योऽग्रे वक्ष्यते । अत्रातिशयोक्तिः उपमा च ।

अचकितेति । [अत्र 'अचकिते' त्यारभ्य यानि स्त्रीलिङ्ग-तृतीयान्तानि पदानि तानि 'दण्डकारण्य-स्थलीभि' रित्यस्य विशेषणानि । तच्च 'उपशोभितप्रान्तम् आश्रमम्' इत्यस्य विशेषणम् ।] अचकितेत्यादिः—अचकिताः (= अत्रस्ताः, निर्भयाः) प्रचलिताः (= सञ्चलन्तः) ये कृष्णसाराः (= एतन्नाम्ना ख्याताः मृगविशेषाः) तेषां शतम् (= दशशती महती संख्येत्यर्थः) तेन शबलाभिः (= विचित्रवर्णाभिः) । उत्फुल्लस्थलकमलिनीलोहिनीभिः = उत्फुल्लाः (= विकसिताः) याः स्थलकमलिन्यः (= स्थलपद्मिन्यः) ताभिः लोहिनीभिः (= रक्तवर्णाभिः) मारीचेत्यादिः—मारीचः (= एतन्नाम्ना प्रसिद्धो राक्षसः) एव मायामृगः (= कपट-स्वर्णहरिणः) तेन अवलूनानि (छिन्नानि भक्षणार्थमिति शेषः) पश्चात् प्ररूढानि (= उत्पन्नानि) वीरुधाम् (= लतानाम्) दलानि (= पत्राणि) यासु ताः तादृशीभिः । दाशरथीत्यादिः—दाशरथिः (= दशरथात्मजो रामः) तस्य यः चापः (= धनुः) तस्य कोटिः (= अग्रभागः) तया क्षतानि (= उत्खातानि) यानि कन्दानि (= मूलानि) तेषां गर्तैः (= गह्वरैः) विषमितम् (= उच्चनीचतां प्राप्तम्) तलम् (= अधोभागः) यासु ताः ताभिः, तादृशीभिः । [कन्दशब्दः पुन्नपुंसकलिङ्ग इति बोध्यम् ।] दण्डकारण्यस्य

अधर्म के विनाश के सूचक उल्कापात के सदृश, वायु से हिलाये गए, अत्यन्त उज्वल—पुष्पसमूह को सदा बिखेरने वाले, अत्यन्त घने वृक्षों वाले थे ।

जिस (आश्रम) के प्रान्तभाग दण्डक वन की उन स्थली = अकृत्रिम भूमियों से उपशोभित थे जो (स्थली) अचकित (निर्भय) घूमते हुए सैकड़ों कृष्णसारों (मृगविशेषों) से रंगविरंगी थीं, जो (स्थली) खिली हुई स्थलकमलिनियों से लाल वर्ण की थीं, जो मारीच रूप मायामृग (स्वर्णिम हिरन) द्वारा काटी गई बाद में फिर उगी हुई लताओं के पत्तों से युक्त थीं, जो दशरथ-पुत्र रामचन्द्र के धनुष की नोंक (कोटि) से उखाड़े गए कन्दों के गड्ढों के कारण ऊँचे-नीचे तल प्रदेश वाली थीं ।

१. क्वचित् 'काननैः' इदं न । २. सारसारङ्ग । ३. क्वचित् 'स्थल' इति पदं नास्ति ।
४. मारीचि । ५. दल । ६. कन्दर ।

—आगृहीतसमित्कुशकुसुममृद्भिः[1] अध्ययन-मुखर-शिष्यानुगतैः[2] सर्वतः प्रविशद्भिः[3] मुनिभिरशून्योपकण्ठम्,[4] उत्कण्ठित[5]शिखण्डिमण्डल[6]-श्रूयमाणजल-कलश-पूरणध्वानम्, अनवरताज्याहुतिप्रीतैश्चित्रभानुभिः सशरीरमेव मुनिजनममरलोकं निनीषुभिः, उद्धूयमान-धूमलेखाच्छलेनाबद्धचमान-स्वर्गमार्ग-गमन-सोपान-सेतुमिवोपलक्ष्यमाणम्,—

(= दण्डकवनस्य) स्थलीभिः (= अकृत्रिमभूमिभिः), उपशोभितप्रान्तम्—उपशोभितः (= शोभां प्रापितः) प्रान्तः (= पश्चात्प्रदेशः) यस्य स तं तादृशम् ।

आगृहीतेति । आगृहीतेत्यादिः— आगृहीताः (= सम्यगात्ताः, होमादिकार्यार्थमिति भावः), समिधः (= हवनोपयोगीनि एधांसि), कुशाः (= दर्भाः), कुसुमानि (= पुष्पाणि), मृदः (= मृत्तिकाः) च यैस्तैस्तादृशैः । अध्ययनेत्यादिः—अध्ययनेन (= पठनेन, वेदपाठेनेति भावः), मुखराः (= वाचालाः) ये शिष्याः (= अन्तेवासिनः) तैरनुगतैः (= अनुव्रजितैः, सहितैः) । सर्वतः = अभितः, समन्तात्, प्रविशद्भिः = प्रवेशं कुर्वद्भिः, मुनिभिः = मननशीलैः ऋषिभिः, अशून्योपकण्ठम्—अशून्यः (= परिपूर्णः) उपकण्ठः (= समीपदेशः) यस्य स तं तादृशम् ।

उत्कण्ठितेति । उत्कण्ठितेत्यादिः—उत्कण्ठिताः (= मेघगर्जनभ्रान्त्या समुत्पन्नोत्कण्ठाः) ये शिखण्डिनः (= मयूराः) तेषां यत् मण्डलम् (= समूहः) तेन श्रूयमाणः (= आकर्ण्यमानः) जलैः (= सलिलैः) कलशपूरणस्य (= घटपूरणस्य) ध्वानः (= शब्दः) यस्मिन् तं तादृशम् ।

अनवरतेति । अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (=सततं यथा स्यात् तथा) या आज्यानाम् (=घृतानाम्) आहुतयः (=हवनानि) ताभिः प्रीतैः (=प्रसन्नैः), चित्रभानुभिः (=अग्निभिः, दक्षिणाग्नि-गार्हपत्याग्न्याहवनीयाख्यैरिति भावः), सशरीरम्=सदेहम् एव, मुनिजनम्=ऋषिगणम्, अमरलोकम्=देवलोकं स्वर्गमिति भावः, निनीषुभिः=नेतुमिच्छद्भिः । उद्धूयमानेत्यादिः—उद्धूयमाना (=वायुना ऊर्ध्वंनीयमानत्वात् कम्पमाना) या धूमलेखा (= अग्निसमुत्पादितरेखा) तस्याः छलेन (=कपटेन) आबद्धयमानेत्यादिः—आबद्धयमानः (=विरच्यमानः), स्वर्गमार्गगमनाय (= देवलोकमार्गगमनार्थम्) सोपानसेतुम् (=आरोहणसाधनभूतपदार्थविशेषम्) ['सीढ़ी' इति हिन्दीभाषायाम्] इव, उपलक्ष्यमाणम्=व्यज्यमानम् । अत्र वस्तुतो धूमलेखां संगोप्य स्वर्गगमनसोपानसेतुत्वस्य उत्प्रेणात् सापह्नवोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

जिस (आश्रम) के समीपवर्त्ती स्थान चारों ओर से प्रवेश करते हुए उन मुनियों से भरे हुए थे, जो (मुनि) समिधायें (हवन की लकड़ियाँ), कुश, पुष्प और मृत्तिका लिए हुए थे, जिनके पीछे पीछे अध्ययन (वेदादिपाठ) करने के कारण बोलते हुए शिष्यगण चल रहे थे । जिस (आश्रम) में उत्कण्ठायुक्त मयूरों के समूह द्वारा घड़े भरने पर होने वाली ध्वनि को सुना जा रहा था । जो (आश्रम) निरन्तर घृत की आहुतियों से प्रसन्न होने वाली, मानों मुनिसमूह को सशरीर ही स्वर्ग ले जाने की इच्छुक (इस कारण) ऊपर उठते हुए धुएँ की रेखा के बहाने से स्वर्गपथ पर जाने के लिए सोपान-सेतु (सीढ़ियों का पुल) बनाती (बांधती) सी हुई अग्नियों से युक्त दिखाई दे रहा था ।

१. मृत्तिकैः । २. शिष्यागतैः ।
३. प्रसरद्भिः । ४. अविशून्योप० ।
५. उत्कण्ठ । ६. मण्डलीमण्डलः ।

—आसन्न-वर्त्तिनीभिस्तपोधन-सम्पर्कादिवापगतकालुष्याभिः, तरङ्ग-परम्परा-संक्रान्त-रविबिम्ब-पङ्क्तिभिः, तापसदर्शनागतसप्तर्षि-मालाविगाह्यमानाभिरिव, अति-विकच-कुमुद-वनमृषिजनमुपासितुमवतीर्णं ग्रहगणमिव निशासूद्वहन्तीभिर्दीर्घिकाभिः परिवृतम्,—

— अनिलावनमितशिखराभिः प्रणम्यमानमिव वनलताभिः, अनवरतमुक्तकुसुमैरभ्यर्च्य-

---

आसन्नेति। अत्र तृतीयान्तानि पदानि 'दीर्घिकाभिरि' त्यस्य विशेषणानि। आसन्नवर्त्तिनीभिः= समीपस्थायिनीभिः, तपोधनसम्पर्कात् = तापसानां सम्बन्धात्, इव, अपगतकालुष्याभिः—अपगतम् (= विनष्टम्) कालुष्यम् (= मलिनता) यासां याभ्यो वा ताः तादृशीभिः। तरङ्गेत्यादिः—तरङ्गाणाम् (= कल्लोलानाम्) परम्परासु (= श्रेणीषु) सङ्क्रान्ताः (= प्रतिफलिताः) रवि-बिम्बस्य (= सूर्यबिम्बस्य) पङ्क्तयः (= राजयः) यासु तास्ताभिः, तादृशीभिः। तापसेत्यादिः—तापसानाम् (=तपोधनानां जाबाल्यादीनाम्) दर्शनाय (=अवलोकनाय, साक्षात्काराय) आगता (= सम्प्राप्ता) या सप्तर्षिमाला (=कश्यपादिसप्तर्षिपङ्क्तिः) तया विगाह्यमानाभिः (=विलो-ड्यमानाभिः), इव। तथा निशासु=रात्रिषु, ऋषिजनम्=जाबालिप्रभृतितपोधनगणम्, उपासितुम्= सेवितुम्, अवतीर्णम्=उपरिलोकाद् भूमौ समागतम्, ग्रहगणम् इव=ग्रहसमूहम् इव, विकचकुमुदवनम् —विकचानि (=विकसितानि) यानि कुमुदानि (= कमलानि) तेषां वनम् (=समुदायम्) उद्वह-न्तीभिः=धारयन्तीभिः, दीर्घिकाभिः=वापीभिः, परिवृतम्=परिवेष्टितम्। अत्र 'तपोधनसम्पर्कादिव' 'विगाह्यमानाभिरिव' 'ग्रहगणमिव' इत्येतेषु क्रमशः हेतु-क्रिया-जाति समाश्रिता उत्प्रेक्षेति बोध्यम्।

अनिलेति। अनिलावनमितशिखराभिः=अनिलेन (= पवनेन) अवनमितानि (= अवनम्री-भूतानि) शिखराणि (= अग्रभागाः) यासां तास्ताभिः, वनलताभिः=विपिनव्रततीभिः, प्रणम्यमानम् इव=नमस्क्रियमाणम् इव। अत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

अनवरतेति। अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (= निरन्तरं यथा स्यात्तथा) मुक्तानि (= परि-त्यक्तानि) कुसुमानि (= सुमनांसि) यैस्तैस्तादृशैः, पादपैः=वृक्षैः, अभ्यर्च्यमानम् इव=वन्द्यमानम् इव। अत्रापि क्रियोत्प्रेक्षा।

जो (आश्रम) ऐसी दीर्घिकाओं (बावड़ियों) से सभी ओर घिरा हुआ था, जो (दीर्घिकाएँ) समीप में स्थित थीं, तपस्वियों के सम्पर्क के कारण मानो जिनका कालुष्य (गन्दगी) दूर हो चुका था, जिनकी लहरों में सूर्य प्रतिबिम्ब का समूह पड़ रहा था, अतः ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों [आश्रमस्थ] तपस्वियों के दर्शनार्थ आए हुए सप्तर्षियों के समूह द्वारा आलोडित की जा रही हों, जो रात में अत्यन्त खिले हुए कुमुद-समूह को इस प्रकार से धारण किए हुई थीं मानों [आश्रमस्थ] ऋषि जनों की उपासना करने के लिए तारे उतर कर आए हों। [कुमुद-पुष्प-समूह में तारों की उत्प्रेक्षा है।]

जो (आश्रम) वायु द्वारा (झोंकों से) नीचे किए गए अग्रभाग वाली वनलताओं द्वारा मानों प्रणाम किया जा रहा हो। निरन्तर फूलों को गिराने वाले वृक्षों द्वारा मानों जिसकी पूजा

---

१. तपोवन०।
२. क्वचित्तु 'बिम्ब' इति पदं न दृश्यते।
३. विकच।
४. शिखाभिः।

मानमिव पादपैः, आबद्धपल्लवाञ्जलिभिरुपास्यमानमिव विटपैः[1], उटजाजिर-प्रकीर्ण-शुष्यच्छ्यामाकम्, उपसंगृहीतामलक-लवली-लवङ्ग[2]-कर्कन्धू-कदली-लकुच-चूत-पनस-तालफलम्,—

—अध्ययनमुखर-वटुजनम्, अनवरत-श्रवण-गृहीत-वषट्कार-वाचालशुककुलम्, अनेक-

आबद्धेति । आबद्धेत्यादिः—आबद्धाः (= विरचिताः) पल्लवा एव (= कुसुमान्येव) अञ्जलयः यैस्तादृशैः, विटपैः=स्कन्धैः, [वृक्षैरित्यर्थस्सूचितः] उपास्यमानम् इव=सेव्यमानम् इव। 'पल्लवा एव अञ्जलयः, इत्यत्र रूपकम्, 'सेव्यमानमिवे' त्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारः ।

उटजेति । उटजाजिरेत्यादिः—उटजानाम् (= पर्णकुटीनाम्) अजिरेषु (= प्राङ्गणेषु) प्रकीर्णाः (= प्रसारिताः), अतएव, शुष्यन्तः (= शुष्कतामुपगच्छन्तः रविघर्मेणेति शेषः) श्यामाकाः (= धान्यविशेषाः) यस्मिन् तं तादृशम् ।

उपसंगृहीतेति । उपसंगृहीतेत्यादिः—उपसंगृहीतानि (=एकत्रीकृतानि) आमलकम् (= धात्रीफलम्), लवली (= लताविशेषः), लवङ्गम् (= एतन्नाम्ना प्रसिद्धम्), कर्कन्धूः (= बदरी), कदली (= रम्भा), लकुचः (= डहुः, वृक्षविशेषः) चूतः (= रसालः), पनसः (= कण्टकी), ताली (= तृणराजः) च-एतेषां फलानि यस्मिन् तं तादृशम् । विविधफल-सहितमिति भावः ।

अध्ययनेति । अध्ययनेनेत्यादिः—अध्ययनेन (= वेदपाठेन) मुखराः (= वाचालाः) वटुजना (=ब्रह्मचारिजनाः) यस्मिन् तं तादृशम् ।

अनवरतेति । अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (=निरन्तरम्) यथा स्यात्तथा,श्रवणेन (=आकर्णनेन) गृहीताः (= शिक्षां प्राप्ताः) ये वषट्काराः (= वषट्-इत्याकारकशब्दाः) तैः (= तेषामभ्यासैरित्यर्थः) वाचालम् (= शब्दायमानम्) शुकानाम् (=कीराणाम्) कुलम् (= समुदायः) यस्मिन् तं तादृशम् ।

अनेकेति । अनेकेत्यादिः—अनेकाभिः (= बहुसंख्यकाभिः) सारिकाभिः (=पीतपादाभिः, 'मैना' इति हिन्द्यां प्रसिद्धाभिः), उद्घुष्यमाणम् (=उच्चैः पाठ्यमानम्) सुब्रह्मण्यम् (= वेदः) यस्मिन् तं तादृशम् [वस्तुतस्तु—सुब्रह्मण्याख्यो निगदो वर्तते । उच्चैरपादबन्धं यजुरात्मकं यन्मन्त्रवाक्यं पठ्यते स निगदः । नितरां गद्यते-इत्यर्थे—"नौ नदगद०" इत्यादिसूत्रेण अप् प्रत्ययः । तस्य च सुब्रह्मण्योपलक्षकत्वात् 'सुब्रह्मण्या' शब्दोऽपरित्यक्तस्त्रीलिङ्ग एव निगदविशेषस्य नाम । एवञ्च सुब्रह्मण्यमिति वदन्तो व्याख्याकारा निरस्ताः । तस्माद् उद्घुष्यमाणा सुब्रह्मण्या यस्मिन् तं तादृशमित्येव व्याख्योचितेति बोध्यम् ।]

की रही हो । पल्लवरूपी अञ्जलि बाँधे हुए वृक्षों द्वारा जिसकी उपासना की जा रही हो । जिस (आश्रम) में पर्णशालाओं के आँगनों में [सुखाने के लिए] फैलाए गए अत एव सूखते हुए साँवाँ (श्यामउ) थे । जिस (आश्रम) में आमलक (आँवला), लवली, लौंग, कर्कन्धू (बेर) कदली (केला) लकुच (बड़हर), आम, कटहल और ताड़ - इन सभी के फल एकत्रित किए गये थे ।

जो (आश्रम) वेदपाठ (अध्ययन) करते हुए बोलने वाले बटुकजनों से युक्त था । जिस (आश्रम) में निरन्तर सुनने से ग्रहण (=स्मरण) किए गए वषट्कार को बोलने वाले तोताओं का समूह था ।

१. पल्लवपुटाञ्जलिभिः ।

२. क्वचित्तु 'लवङ्ग' इति पदं न दृश्यते ।

सारिकोद्घुष्यमाण-सुब्रह्मण्यम्, अरण्य-कुक्कुटोपभुज्यमान-वैश्वदेवबलिपिण्डम्, आसन्न-वापी-कलहंसपोत-भुज्यमान-नीवारबलिम्,एणीजिह्वापल्लवोपलिह्यमानमुनिबालकम्,अग्निकार्य्यार्द्ध[1]-दग्धमिसमिसायमान-समित्कुश[2]कुसुमम्, उपल-भग्ननालिकेर[3]-रसस्निग्धशिलातलम्, अचिर-क्षुण्ण-वल्कल-रस-पाटलभूतलम्, रक्तचन्दनोपलिप्तादित्यमण्डल-निहित[4]-करवीर-कुसुमम्,

अरण्येति । अरण्येत्यादिः—अरण्यकुक्कुटैः (= वनचरणायुधैः) उपभुज्यमानाः (= भक्ष्यमाणाः) वैश्वदेवस्य (= देवयज्ञविशेषस्य) बलिपिण्डाः (= हन्तकाराः विश्वदेवदेवतोद्देश्येन दीयमानाः पिण्डविशेषाः) यस्मिन् तं तादृशम् ।

आसन्नेति । आसन्नेत्यादिः— आसन्ना (=समीपस्था) या वापी (=दीर्घिका), तस्यां ये कलहंसपोताः (=कादम्बानां शिशवः) तैः भुज्यमानाः (=भक्ष्यमाणाः) नीवाराणाम् (=मुन्यन्नविशेषाणाम्) बलयः (= उपायनानि) यस्मिन् तं तादृशम् ।

एणीति । एणीत्यादिः—एण्यः (= मृग्यः) तासां जिह्वा (= रसना) एव पल्लवाः (= किसलयानि) तैः उपलिह्यमानाः (=आस्वाद्यमानाः उपलेहविषयी-क्रियमाणाः) मुनिबालकाः (=ऋषिकुमारकाः) यस्मिन् तं तादृशम् ।

अग्निकार्येति । अग्निकार्येत्यादिः—अग्निकार्ये (= हवने) अर्द्धदग्धानि (= सामिभस्मीभूतानि), अतएव, मिसमिसायमानानि (= मिस-मिसेति शब्दं कुर्वाणानि), समित्-कुशकुसुमानि (= एधो-दर्भ-पुष्पाणि) यस्मिन् तं तादृशम् । क्वचित् 'सिमसिमे'ति पाठेऽप्येवमेवार्थः करणीयः ।

उपलेति । उपलेत्यादिः—उपलैः (= पाषाणैः), उपलेषु (= पाषाणेषु) वा भग्नानि (= चूर्णितानि) यानि नालिकेराणि (= लाङ्गलीफलानि) तेषां यो रसः (= निःसृत-द्रवः) तेन स्निग्धानि (= चिक्कणानि) शिलातलानि (= प्रस्तरतलानि) यस्मिन् तं तादृशम् ।

अचिरेति । अचिरेत्यादिः—अचिरम् (= सद्य एव) यथा स्यात्तथा क्षुण्णानि (= वृक्षेभ्यो निःसारितानि) यानि वल्कलानि (= तरुत्वचः) तेषां रसैः (= निर्यासैः) पाटलम् (= श्वेत-रक्तम्) भूतलम् (= धरातलम्) यस्मिन् त तादृशम् ।

रक्तचन्दनेति । रक्तचन्दनेत्यादिः—रक्तचन्दनेन (= पत्राङ्गेन) उपलिप्तम् (= आलिखितम्) यद् आदित्यमण्डलम् (= सूर्यमण्डलम्) तस्मिन् निहितानि (= स्थापितानि) करवीरः (= हयमारः) तस्य कुसुमानि (= पुष्पाणि) यस्मिन् तं तादृशम् ।

जिस (आश्रम) में मैनाओं द्वारा सुब्रह्मण्या नामक निगद का उद्घोष किया जा रहा था । [सुब्रह्मण्या की व्याख्या संस्कृत में देखें ।] जिस (आश्रम) में जंगली मुर्गों द्वारा वैश्वदेवसम्बन्धी बलिपिण्ड खाए जा रहे थे । जिस (आश्रम) में समीपस्थ बावड़ी में कलहंसों के बच्चों द्वारा नीबार बलि (धान्यविशेषकी बलि) खाई जा रही थी । जिस (आश्रम) में हरिणियों द्वारा जिह्वा रूपी पल्लव से मुनिकुमारों को चाटा जा रहा था । जिस (आश्रम) में अग्निकार्य (हवन) में आधे जले हुए समिधा, कुश और फूल 'मिस-मिस' ऐसी ध्वनि कर रहे थे । जिस (आश्रम) में पत्थरों से तोड़े गए नारियल के रस से शिलातल चिकने हो गए थे । जिस (आश्रम) में थोड़ी ही देर पहले तोड़े गए या निचोड़े गए वल्कलों के रस से भूतल गुलाबी रंग का हो गया था । जिस (आश्रम) में लाल चन्दन से चित्रित सूर्य मण्डल में करवीर के फूल चढ़ाए गए थे । जिस (आश्रम) में इधर-उधर

---

१. सिमसिमायमान, मिसिमिसायकान, सिमिसिमायमान । २. समित्कुश० ।
३. नारिकेल । ४. मण्डलकनिहित ।

इतस्ततो विक्षिप्त-भस्मलेखा-कृतमुनिजन-भोजन-भूमिपरिहारम्,[1] परिचित-शाखामृग-कराकृष्टयष्टि-[2] निष्कास्यमान-प्रवेश्यमान-जरदन्धतापसम्,—

—इभ-कलभार्धोपभुक्तपतितैः[3] सरस्वती-भुजलता-विगलितैः[4] शङ्खवलयैरिव मृणालशकलैः कल्माषितम्, ऋषिजनार्थमेणकैर्विषाण-शिखरोत्खन्यमानविविध-कन्दमूलम्, अम्बुपूर्णपुष्कर-

इतस्तत इति । इतस्ततः = यत्र यत्र, [सप्तम्यर्थे तसिल्प्रत्ययान्तः] विक्षिप्तेत्यादिः— विक्षिप्तम् (=प्रसृतम्) यद् भस्म (= भूतिः) तस्य लेखाभिः (=पङ्क्तिभिः) कृतः (=विहितः) मुनिजनानाम् (=ऋषिलोकानाम्) भोजनभूमेः (= भक्षणस्थलस्य) परिहारः (= निषेधः) यस्मिन् तं तादृशम् । भोजनस्थानेऽन्येषां प्रवेशनिषेधाय रेखाः विहिता यत्र तमित्यर्थः । यद्वा तादृशभूमेः परिशुद्धिर्यत्र विद्यते तादृशमित्यप्यर्थः ।

परिचितेति । परिचितेत्यादिः—परिचिताः (=जातपरिचयाः) ये शाखामृगाः (=कपयः) तेषां करैः (= हस्तैः) आकृष्टा (= अवलम्बिता) या यष्टिः (= लगुडः) तया निष्कास्यमानाः (= बहिर्नीयमानाः) प्रवेश्यमानाः (= आभ्यन्तरं नीयमानाः) च जरन्तः (= वृद्धाः) अन्धाः (= दृष्टिहीनाः) च तापसाः (= तपस्विनः) यस्मिन् तं तादृम् ।

इभकलभेति । इभकलभेत्यादिः—इभकलभैः (= हस्तिशावकैः) अर्धोपभुक्तैः (= अर्धचर्वितैः) पश्चात् पतितैः (= मुखाद् भ्रष्टैः) यद्वा-इभकलभानाम् (= हस्तिशावकानाम्) यदर्धोपभुक्तम् (= अर्धचर्वितम्) तस्मात् पतितैः (=स्रस्तैः), इदं 'मृणालशकलै' रित्यस्य विशेषणम् । कलभशब्देनैव इभशावकस्य प्रतीतावपि इभशब्दोपादानं झटिति तद्बोधार्थमिति न दोषः । सरस्वती-भुजलता-विगलितै = सरस्वत्याः (= शारदायाः) ये भुजलते (= बाहुवल्ल्यौ) ताभ्यां विगलितैः (= स्रस्तैः), शङ्खवलयैः (= कम्बुवलयैः), इव, मृणालशकलैः (= कमलनालखण्डैः) कल्माषितम् =कर्बुरितम्, चित्रितमिति भावः । 'शङ्खवलयैरिव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा ।

ऋषिजनेति । ऋषिजनार्थम् = मुनिलोकार्थम्, एणकैः = हरिणैः, कर्तृभिः, विषाणेत्यादिः— विषाणानाम् (= शृङ्गाणाम्) शिखरैः (= प्रान्तैः) उत्खन्यमानानि (= उत्पाट्यमानानि) विविधानि (= बहुप्रकाराणि) कन्दाः (= शालूकाः) मूलानि (= कमलादीनां मूलभागाः) च यस्मिन् तं तादृशम् ।

अम्बुपूर्णेति । अम्बुपूर्णपुष्करपुटैः = अम्बुना (= जलेन) पूर्णानि (= भृतानि)

बिखरी (फैली) हुई भस्म की रेखाओं से मुनिजनों के भोजन के स्थान को (अन्य लोगों के प्रवेश से) वर्जित अर्थात् सुरक्षित कर दिया गया था । [अथवा बिखरी हुई राख से मुनिजनों के भोजन स्थान और उच्छिष्ट पात्रादि को स्वच्छ कर दिया गया था ।] जिस (आश्रम) में परिचित बन्दरों द्वारा हाथ से पकड़ी गई छड़ियों [की सहायता] से बूढ़े और अन्धे तपस्वियों को बाहर और भीतर (निष्कासन और प्रवेश) कराया जा रहा था ।

जो (आश्रम) हाथियों के बच्चों द्वारा आधे खाए [अतः मुख से] गिरे हुए, कमलनाल के टुकड़े, जो मानों सरस्वती की भुजलताओं से गिरे हुए शङ्ख के कंगन हों, उनके द्वारा चित्रवर्ण (चितकबरा) किया गया था । जिस (आश्रम) में ऋषि लोगों के लिए हिरनों द्वारा अपने सींगों से अनेक प्रकार के कन्दमूल खोदे जा रहे थे । जिस (आश्रम) में जंगली हाथियों द्वारा जल से भरे

१. लेखालङ्कृत० । २. कराकृष्टि··· ।
३. कलभक । ४. बाहुलताविभूषणैः ।

पुटैर्वन-करिभिरापूर्य्यमाण-विटपालवालकम्, ऋषिकुमारकाकृष्यमाणवनवराहदंष्ट्रान्तराल-लग्न-शालूकम्, उपजात-परिचयैः कलापिभिः पक्षपुटपवन-सन्धुक्ष्यमाणमुनिहोम-हुताशनम्, आरब्धामृत-चरु-चारुगन्धम्, अर्द्धपक्व-पुरोडाश[1]-परिमलामोदितम्, अविच्छिन्नाज्यधाराहुति-हुतभुग्-झङ्कार[2]-मुखरितम्, उपचर्यमाणातिथिवर्गम्, पूज्यमानपितृ-दैवतम्, अर्च्यमान[3]-हरि-हर-

पुष्करपुटानि (= शुण्डाग्राणि) येषां ते तादृशैः; वनकरिभिः = अरण्यहस्तिभिः, आपूर्यमाणविटपाल-वालकम्—आपूर्यमाणानि (= शुण्डस्थितवारिणा भ्रियमाणानि) विटपानाम् (= वृक्षाणाम्) आल-वालकानि (= आवापस्थानकानि) यस्मिन् तं तादृशम् ।

ऋषिकुमारेति । ऋषिकुमारकेत्यादिः—ऋषिकुमारकैः (= मुनितनयैः) आकृष्यमाणानि (= बहिष्क्रियमाणानि) वनवराहाणाम् (=अरण्यशूकराणाम्) दंष्ट्रान्तराले (=दंष्ट्रामध्ये) लग्नानि (= संसक्तानि) शालूकानि (= कमलानां कन्दाः) यस्मिन् तं तादृशम् ।

उपजातेति । उपजातपरिचयैः=सञ्जातपरिचयैः कलापिभिः =मयूरैः, पक्षपुटेत्यादिः—पक्ष-पुटानाम् (= छदपुटानाम्) पवनेन (= समुत्पन्नवायुना) संधुक्ष्यमाणः (= प्रज्वाल्यमानः) मुनीनाम् (= तापसानाम्) होमार्थम् (= हवनार्थम्) हुताशनः (= वह्निः) यस्मिन् तं तादृशम् ।

आरब्धेति । आरब्धेत्यादिः—आरब्धः (= पाकाय प्रवर्तितः) यः अमृतचरुः (= यज्ञीय-हविर्विशेषः) तस्य यः चारुः (= मनोहरः) गन्धः (= आमोदः) सः यस्मिन् तं तादृशम् ।

अर्धेति । अर्धपक्वेत्यादिः—अर्धपक्वः (= सामिविक्लित्तिमापन्नः) यः पुरोडाशः (= हवि-र्विशेषः) तस्य परिमलेन (= आमोदेन) आमोदितम् (= समुत्पन्नसौरभम्) ।

अविच्छिन्नेति । अविच्छिन्नेत्यादिः—अविच्छिन्ना (= अत्रुटिता, निरन्तरा) या आज्यधारा (= घृतसम्पातः) तस्या या आहुतिः (= हवनम्) तया यः हुतभुजः (= अग्नेः) झङ्कारः (= झमित्याकारकशब्दः) [कुत्रचित् 'हुङ्कार' इति पाठः] तेन मुखरितम् (= वाचालितम्) ।

उपचर्येति । उपचर्यमाणातिथिवर्गम्—उपचर्यमाणः (= सेव्यमानः) अतिथीनाम् (=अभ्या-गतानाम्) वर्गः (=समूहः) यस्मिन् तं तादृशम् । पूज्यमानपितृदैवतम्—पूज्यमानानि (=समभ्यर्च्य-मानानि) पितृदैवतानि (= पितरः = पितृपितामहादय एव दैवतानि = देवताः यद्वा द्वन्द्वः पितरः दैवतानि च) यस्मिन् तं तादृशम् । अर्च्यमान-हरि-हर-पितामहम् - अर्च्यमानाः (= पूज्यमानाः) हरिः (= विष्णुः) हरः (= शिवः) पितामहः (= ब्रह्मा) च एते यस्मिन् तं तादृशम् ।

हुए सूँड़ के अग्रभागों से पेड़ों के नीचे बने हुए आलवाल (थाले) भरे जा रहे थे । जिस (आश्रम) में जंगली सुअरों की दाढ़ के बीच में लगे (फँसे) हुए कन्दों को ऋषि-कुमारों द्वारा खींचा (बाहर निकाला) जा रहा था । जिस (आश्रम) में परिचित (पाले हुए) मयूरों द्वारा अपने पंखों के पुटों द्वारा ऋषियों की हवनाग्नि सुलगाई (प्रज्वलित की) जा रही थी । जिस (आश्रम) में अमृत (घृत या दूध) में पकाना प्रारम्भ की गई चरु (खीर आदि हविर्द्रव्य) की मनोहर गन्ध (फैल रही) थी । जो (आश्रम) आधे पकाए गए पुरोडाश की सुगन्ध से सुगन्धित था । जो (आश्रम) लगातार दी जाने वाली घी की धार की आहुतियों से अग्नि के झंकार (झन्-झन् ऐसे) शब्द से शब्दायमान था । जिस (आश्रम) में अतिथियों की सेवा की जा रही थी । जिस (आश्रम) में पितृदेवों (पितरों और देवताओं) की पूजा की जा रही थी । जिस (आश्रम) में हरि=विष्णु, हर = शिव और पितामह =ब्रह्मा की अर्चना की जा रही थी । जिस (आश्रम) में श्राद्धविधियों

१. पुरोडाश-पुण्य···पुष्पपरिमल० । २. हुतभुगहुङ्कार०, उग्रहुङ्कार० । ३. अभ्यर्च्यमान० ।

पितामहम्, उद्दिश्यमान-श्राद्धकल्पम्,[1] व्याख्यायमानयज्ञविद्यम्, आलोच्यमान-धर्म्मशास्त्रम्,[2] वाच्यमान-विविध-पुस्तकम्,[3] विचार्य्यमाण-सकलशास्त्रार्थम्,—

—आरभ्यमाण-पर्णशालम्, उपलिप्यमानाजिरम्, उपमृज्यमानोटजाभ्यन्तरम्,[4] आबध्यमानध्यानम्, साध्यमान-मन्त्रम्, अभ्यस्यमान-योगम्, उपह्रियमाण-वनदेवतावलिम्,[5]—

उद्दिश्यमानश्राद्धकल्पम् = उद्दिश्यमानः (= पाठ्यमानः) श्राद्धकल्पः (= श्राद्धविधानम्) यस्मिन् तं तादृशम् । व्याख्यायमान-यज्ञ-विद्यम्— व्याख्यायमाना (= स्पष्टं बोध्यमाना) यज्ञविद्या (= दर्शादियज्ञविधायकशास्त्रम्) यस्मिन् तं तादृशम् । आलोच्यमान-धर्मशास्त्रम् = आलोच्यमानानि (= परस्परं विचार्यमाणानि) धर्मशास्त्राणि (= मन्वादिप्रणीतधर्मग्रन्थाः) यस्मिन् तं तादृशम् । वाच्यमानविविधपुस्तकम्—वाच्यमानानि (= पठ्यमानानि) विविधानि (= अनेकानि) पुस्तकानि (= ग्रन्थाः) यस्मिन् तं तादृम् । विचार्यमाण-सकलशास्त्रार्थम्—विचार्यमाणाः (= तर्कादिभिः प्रतिष्ठाप्यमानाः) सकलाः (= सम्पूर्णाः) शास्त्रार्थाः (= शास्त्रप्रतिपादितपदार्थाः) यस्मिन् तं तादृशम् ।

आरभ्येति । आरभ्यमानपर्णशालम्—आरभ्यमाणाः (= निर्मातुमुपक्रियमाणाः) पर्णशालाः (= उटजाः) यस्मिन् तं तादृशम् । उपलिप्यमानाजिरम्—उपलिप्यमानानि (= गोमयादिना लिप्यमानानि) अजिराणि (= प्राङ्गणानि) यस्मिन् तं तादृशम् । 'अजिरं चत्वरोऽङ्गणम्' इत्यमरः । उपमृज्यमानोटजाभ्यन्तरम्—उपमृज्यमानानि—(= संशोधन्या प्रमाज्यमानानि, स्वच्छीक्रियमाणानि) उटजानाम् (= पर्णशालानाम्) आभ्यन्तराणि (= मध्यप्रदेशाः) यस्मिन् तं तादृशम् । आबध्यमानध्यानम्—आबध्यमानम् (= विधीयमानम्) ध्यानम् (= उपास्यदेवस्यानवरतचिन्तनम्) । साध्यमानमन्त्रम्—साध्यमानाः (= होमादिना सिद्धिविषयीक्रियमाणाः) मन्त्राः (= विभिन्नदेवोधिष्ठातृकशब्दराशिविशेषाः) यस्मिन् तं तादृशम् । अभ्यस्यमानयोगम्— अभ्यस्यमानः (= पुनःपुनर्विधीयमानः) योगः (= चित्तवृत्तिनिरोधः) यस्मिन् तं तादृशम् । उपह्रियमाणवनदेवता-बलिम्—उपह्रियमाणाः (= समर्प्यमाणाः) वनदेवताभ्यः (= वनाधिष्ठातृदेवीभ्य) बलयः (= पूजाद्रव्यविशेषाः) यस्मिन् तं तादृशम् ।

का उद्देश (= कथन या अनुष्ठान) किया जा रहा था । जिस (आश्रम) में यज्ञ-विद्या की व्याख्या की जा रही थी । जिसमें (आश्रम) में धर्मशास्त्र [के वचनों] की समीक्षा की जा रही थी । जिस (आश्रम) में अनेक प्रकार की पुस्तकें वाचीं (पढ़ीं) जा रहीं थीं । जिस (आश्रम) में सम्पूर्ण शास्त्रीय विषयों का विचार किया जा रहा था ।

जिस (आश्रम) में पर्णशालायें बनाना आरंभ किया जा रहा था । जिस (आश्रम) में आगन लीपे जा रहे थे । जिस (आश्रम) में पर्णशालाओं का भी भीतरी भाग [जलादि से] स्वच्छ किया जा रहा था । जिस (आश्रम) में [तपस्वियों द्वारा] ध्यान किया जा रहा था, मन्त्र सिद्ध किये जा रहे थे, योग का अभ्यास किया जा रहा था, देवताओं को बलि भेंट की जा रही थीं ।

१. उपदिश्यमान । २. अवलोक्यमान० । ३. पठ्यमान० ।
४. अपमृज्यमान । ५. उपह्रूयमान० ।

—निर्वर्त्यमान-मौञ्जमेखलम्[1], क्षाल्यमान-वल्कलम्[2],उपसंगृह्यमाण-समिधम्, उपसंस्क्रियमाणकृष्णाजिनम्[3], गृह्यमाण-गवेधुकम्[4], शोष्यमाण-पुष्करबीजम्[5], ग्रथ्यमानाक्षमालम्, गृह्यमाणत्रिपुण्ड्रकम्[6], न्यस्यमान-वेत्रदण्डम्[7], सत्क्रियमाण-परिव्राजकम्, आपूर्यमाण-कमण्डलुम्,[8] —अदृष्टपूर्वं कलिकालस्य अपरिचितमनृतस्य,अश्रुतपूर्वमनङ्गस्य,अब्जयोनिमिव त्रिभुवन-

निर्वर्त्यमानेति । निर्वर्त्यमान-मौञ्जमेखलम्—निर्वर्त्यमाना (= निष्पाद्यमाना, विरच्यमाना) मौञ्जमेखला (= मुञ्जमयी रसना) यस्मिन् तं तादृशम् । क्षाल्यमानवल्कलम्—क्षाल्यमानानि (= जलेन स्वच्छीक्रियमाणानि) वल्कलानि (= तरुत्वचः) यस्मिन् तं तादृशम् । उपसंगृह्यमाणसमिधम्—उपसंगृह्यमाणाः (= उपादीयमानाः, एकत्रीक्रियमाणा इति यावत्) समिधः (=हवनोपयोगीन्धनानि) यस्मिन् तं तादृशम् । उपसंस्क्रियमाणकृष्णाजिनम्—उपसंस्क्रियमाणम् (=घर्षणादिना विशुद्धिं प्राप्यमाणम्) कृष्णाजिनम् (=कृष्णसारमृगचर्म) यस्मिन् तं तादृशम् । गृह्यमाण-गवेधुकम्—गृह्यमाणाः (=स्वायत्तीक्रियमाणाः, उपादीयमानाः) गवेधुकाः (= कन्दाः, धान्यविशेषाः वा) यस्मिन् तं तादृशम् । शोष्यमाणपुष्करबीजम्—शोष्यमाणानि (=शुष्कतां प्राप्यमाणानि) पुष्कराणाम् (=कमलानाम्) बीजानि (=फलानि) यस्मिन् तं तादृशम् । ग्रथ्यमानाक्षमालम्—ग्रथ्यमानाः (=गुम्फ्यमाणाः) अक्षमालाः (=रुद्राक्षादि-माल्यानि) यस्मिन् तं तादृशम् । गृह्यमाणत्रिपुण्ड्रकम्—गृह्यमाणम् (=मस्तके धार्यमाणम्) त्रिपुण्ड्रकम् (=भस्मादिरचितरेखात्रयं) यस्मिन् तं तादृशम् । न्यस्यमानवेत्रदण्डम्—न्यस्यमानाः (= बाह्यप्रदेशादागत्य स्थाप्यमानाः) वेत्रदण्डाः (= वेतसलगुडाः) यस्मिन् तं तादृशम् । सत्क्रियमाण-परिव्राजकम्—सत्क्रियमाणाः (= समाद्रियमाणाः) परिव्राजकाः (=संन्यासिनः) यस्मिन् तं तादृशम् । आपूर्यमाण-कमण्डलुम्—आपूर्यमाणाः (=वारिणा भ्रियमाणाः) कमण्डलवः (=कुण्ड्यः, जलाधारपात्रविशेषाः) यस्मिन् तं तादृशम् ।

अदृष्टेति । कलिकालस्य =कलियुगस्य, अदृष्टपूर्वम् =अनवलोकितपूर्वम् (=नास्ति दृष्टम् = अवलोकनं पूर्वं यस्मिन् तं तादृशम्) । अनृतस्य =असत्यस्य, अपरिचितम् =परिचयरहितम् । अनङ्गस्य =कामस्य, अश्रुतपूर्वम् =अनाकर्णितपूर्वम् [कामजन्यविकाराणामभावादिति भावः] ।

जिस (आश्रम) में मूंज की मेखलायें (करधनियाँ) बनाई जा रही थीं, वल्कल धोए जा रहे थे, समिधायें (हवन की लकड़ियाँ) एकत्रित की जा रही थीं। कृष्णमृग-चर्म के उपसंस्कार (जलादि से धोकर सुखाना या स्वच्छ करना आदि कार्य) किए जा रहे थे, गवेधुक (कन्द या बाजड़ा अन्न) का संग्रह किया जा रहा था, पुष्कर (कमल) के बीज सुखाए जा रहे थे, रुद्राक्षमालाएँ गूथीं जा रही थीं, त्रिपुण्ड्र गृहीत किए जा रहे थे, (लगाए जा रहे थे), [बाहर घूम कर आए हुए लोगों द्वारा] वेत्रदण्ड [उचित स्थान पर] रखे जा रहे थे, परिव्राजकों (संन्यासियों) का सत्कार किया जा रहा था, कमण्डलु [जल से] भरे जा रहे थे।

जिस (आश्रम) को कलियुग द्वारा पहले नहीं देखा गया था, [अर्थात् कलियुग का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता था] जो असत्य से अपरिचित था, [अर्थात् कोई

१. मुञ्ज० । २. प्रक्षाल्यमान । ३. संस्क्रियमाण । ४. निगृह्यमाण । ५. पोष्यमाण । ६. त्रिपुण्ड्रकपूर्यमाण० । ७. त्रिदण्डकम् । ८. इदं वाक्यं कुत्रचिन्नापि दृश्यते ।

वन्दितम्, असुरारिमिव प्रकटितनरहरिवराहरूपम्,[1] सांख्यमिव कपिलाधिष्ठितम्,मथुरोपवनमिव[2] बलावलीढ-दर्पितधेनुकम्, उदयनमिवानन्दितवत्स-कुलम्, किम्पुरुषाधिराज्यमिव मुनिजन-

अब्जेति । अब्जयोनिम् = अब्जम् (= नाभिकमलम्) योनिः (= उत्पत्तिस्थानम्) यस्य तं ब्रह्माणम्; इव, त्रिभुवनवन्दितम् —त्रिभुवनेन (= त्रैलोक्येन) वन्दितम् = अभिवादितम् । असुरारिम्= दैत्यारिं विष्णुम्, इव,प्रकटितनर-हरि-वराहरूपम्—प्रकटितानि (= प्रकाशितानि) नराः (=मनुष्याः) हरयः (= सिंहाः) वराहाः (= शूकराः) रूपाणि (मृगाः) च यस्मिन् तं तादृशम्, [रूपं मृगेऽपि विज्ञेयमि'ति हलायुधकोशात् रूपशब्दो मृगवाच्यपि ।] पक्षे-प्रकटिते (= धृते, व्यक्तीकृते) नरहरेः (= नृसिंहस्य) वराहस्य (= शूकरस्य) च रूपे (= आकृती) येन तं तादृशम् । नृसिंहरूप-धारिणं वराहरूपधारिणं विष्णुमिवेति भावः । सांख्यम् = प्रकृतिपुरुषादि-पंचविंशतितत्त्वप्रतिपादककपिल-प्रणीतदर्शनम्, इव, कपिलाधिष्ठितम्—कपिलेन (= कर्दमसुतेन) अधिष्ठितम् (= आश्रितम्, तत्प्रण-यनकर्तृत्वात्), पक्षे-कपिलाभिः (= गोविशेषाभिः) अधिष्ठितम् (= समाश्रितम्, तादृशगवां विद्यमानत्वात्) । मथुरोपवनम् इव = मथुरायाः (= एतन्नाम्ना ख्याताया पुर्याः) उपवनम् (= द्वादश वनेषु गर्भितम् अरण्यम्), इव, बलावलीढ-दर्पितधेनुकम्—बलेन (= शारीरिकसामर्थ्येन) अवलीढाः (= युक्ताः) अतएव दर्पिताः (= जातगर्वाः) धेनुकाः (= नवप्रसवाः गावः) यस्मिन् तं तादृशम् पक्षे—बलावलीढः (= अतिशयबलशाली) दर्पितः (= गर्वी) च धेनुकः (एतन्नामाऽसुरः) यस्मिन् तम् । [मथुरासमीपे उपवने श्रीकृष्णो धेनुकाख्यमसुरं हतवानिति भागवतीया कथा ।]

उदयनेति । उदयनम् = (=एतन्नाम्ना विख्यातं वत्सदेशाधिपम्), इव, आनन्दितवत्सकुलम्—आनन्दितम् (= समुचितभक्ष्यप्रदानादिना परितोषितम्) वत्सानाम् (= तर्णकानाम्, गोसुतानाम्) कुलम् (= समूहः) येन तादृशम् । पक्षे—आनन्दितम् वत्सकुलम् (= वत्सदेशीयप्रजाजनगणः) येन स तं तादृशम् । किंपुरुषाधिराज्यम्—किम्पुरुषाणाम् (= किन्नराणाम्) अधिराज्यम् (=प्रभुत्वम्), इव, मुनिजनगृहीतेत्यादिः —मुनिजनैः (=ऋषिलोकैः) गृहीताः (=धृताः) ये कलसाः (=सम्पूर्णकुम्भाः)

असत्य नहीं बोलता था ।] जो कामदेव द्वारा पहले नहीं सुना गया था । [अर्थात् कामजन्य कोई विकार किसी में नहीं था ।] जो कमल-योनि (ब्रह्मा) के समान तीनों लोकों में वन्दित था । असुरों के शत्रु विष्णु ने जिस प्रकार नरहरि = नृसिंह और वराह = सूकर के रूप प्रकट (धारण) किए थे उसी प्रकार जो (आश्रम) नर = मनुष्यों, हरि = सिंहों, वराहों और रूपों = मृगों को प्रकट = प्रदर्शित करने वाला था अर्थात् उसमें ये जीव रहते थे । सांख्य दर्शन जिस प्रकार कपिल (मुनि) द्वारा अधिष्ठित (= आश्रित) है उसी प्रकार जो कपिलाओं (विशेष रंग की उन्नत गायों) से अधिष्ठित (=युक्त) था । जिस प्रकार मथुरा (मधुरा) का उपवन बल (शक्ति) द्वारा अवलीढ (=युक्त) अतः अत्यन्त घमण्डी धेनुक नामक राक्षस से युक्त था, उसी प्रकार जो बलशाली और दर्पयुक्त धेनुकों (नव प्रसूता गायों या हथिनियों) से युक्त था । उदयन ने जिस प्रकार वत्सकुल (= वत्सराज के वंश) को आनन्दयुक्त किया था उसी प्रकार जो वत्सकुल = बछड़ों के समूह को आनन्दित करने वाला था । किन्नरों का अधिराज्य (राष्ट्र) जिस प्रकार मुनियों द्वारा गृहीत

१. प्रकटितनरसिंहवराहरूपम् ।

२. मधुरोपवनमिव ।

गृहीत-कलशाभिषिच्यमान-द्रुमम्,[1] निदाघसमयावसानमिव प्रत्यासन्न-जलप्रपातम्,[2] जलधर-समयमिव वनगहन-मध्य-सुख-सुप्त-हरिम्,[3] हनूमन्तमिव[4] शिला-शकल-प्रहार-सञ्चूर्णिता-क्षास्थिसञ्चयम्,[5] खाण्डव-विनाशोद्यतार्जुनमिव प्रारब्धाग्निकार्य्यम्,—

तैः अभिषिच्यमानाः (=अभ्युक्ष्यमाणाः, आर्द्रीक्रियमाणाः) द्रुमाः (=वृक्षाः) यस्मिन् तं तादृशम् । पक्षे—अभिषिच्यमानः (=अभिषेकविषयीक्रियामाणः) द्रुमः (=एतन्नामा राजा) यत्र तं तादृशम् । [एतत्कथाविषयेऽधिकं बृहत्कथामञ्जर्यां द्रष्टव्यम् ।] निदाघसमयावसानम्—निदाघसमयस्य (= ग्रीष्म-कालस्य) यद् अवसानम् (=शेषः) तद् इव, प्रत्यासन्न-जलप्रपातम् = प्रत्यासन्नः (=समीपवर्ती) जलप्रपातः (=जलनिर्झरः) यस्मिन् तं तादृशम् । पक्षे—प्रत्यासन्नः जलप्रपातः (=वारिवृष्टिः) यस्मिन् तं तादृशम् । जलधरसमयम् =(मेघसमयम्, वर्षर्तुम्), इव, वनगहन-मध्य-सुखसुप्तहरिम्—वने (= कानने) यद् गहनम् (= गह्वरम्) तस्य मध्ये (= मध्य शे) सुखेन (= आनन्देन निर्भीकतया) सुप्ताः (= शयानाः) हरयः (= सिंहाः) यस्मिन् तं तादृशम् । पक्षे—वनम् (=क्षीरसागरजलम्) तस्य गहने (=गभीरे) मध्ये (= मध्यभागे) सुखेन (= आनन्देन) सुप्तः (=शयानः) हरिः (= विष्णुः) यस्मिन् तं तादृशम् । वर्षर्तौ हरिः क्षीरसागरे शेते इति प्रसिद्धा कथाऽत्रानुसन्धेया । "··· ···वने सलिलकानने ।' अमरः ३।३।१२६ । "सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केशरी हरिः ।" अमरः २.५।१ । "गहनं गह्वरे दुःखे वने ।" इति त्रिकाण्डशेषः ।

हनूमन्तमिवेति । हनूमन्तम् = वायुपुत्रम्, इव, शिलेत्यादिः—शिलाशकलस्य (= पाषाण-खण्डस्य) प्रहारेण (=निपातनेन) सञ्चूर्णितः (=भञ्जितः, पिष्टः) अक्षाणाम् (=विभीतका-नाम्) अस्थिसञ्चयः (मध्यदेशसमूहः) यस्मिन् तं तादृशम् । पक्षे—शिलाशकलप्रहारेण (=पाषाण-खण्डाघातेन) सञ्चूर्णितः (=भञ्जितः) अक्षस्य (=एतान्नामकस्य रावणसुतस्य) अस्थिसंञ्चयः (=अस्थिसमूहः) येन स तं तादृशम् । अक्षकुमारवधकथा रामायणे द्रष्टव्या । 'अक्षो ज्ञानात्मशकट-व्यवहारेषु पाशके । रुद्राक्षे रावणौ सर्पविभीतकरावपि ॥" इति हैमः । खाण्डवेत्यादिः—खाण्डवस्य (=एतन्नामकस्य) वनस्य (=अरण्यस्य) यो विनाशः (=विध्वंसः) तस्मिन् उद्यतः (=तत्परः) योऽर्जुनः (=पार्थः) तम्, इव,प्रारब्धाग्निकार्यम्—प्रारब्धम् (=विहितम्) अग्निकार्यम् (=होम-

(हाथों में लिए गए) कलसों [में स्थित जल] से अभिषेक कराए जाते हुए 'द्रुम' नामक राजा से युक्त था उसी प्रकार जो मुनिजनों द्वारा (हाथों में लिए गए) घड़ों के जल से सींचे जाते हुए द्रुमों=वृक्षों से युक्त था । गर्मी की ऋतु की समाप्ति जिस प्रकार जल के प्रपात (वर्षा) के सामीप्य वाली होती है अर्थात् उसकी समाप्ति के बाद वर्षा होने वाली रहती है, उसी प्रकार जो समीपवर्ती जल और झरनों से युक्त था । वर्षा के दिन जिस प्रकार वन-गहन = गम्भीर समुद्र के बीच में सुख से सोए हुए हरि = विष्णु वाले होते हैं, [वर्षा ऋतु में हरि = विष्णु भगवान् समुद्र के मध्य में शयन किया करते हैं] उसी प्रकार जो वन की गुफाओं में सुख से सोते हुए हरि=सिंह से युक्त था ।[वन शब्द कानन और जल दोनों का वाचक है । अतः वन=जल के गहन=समूह अर्थात् समुद्र में । और वन जंगल की गहन=गुफा में । हरि= विष्णु और सिंह] । हनूमान ने जिस प्रकार शिलाखण्ड फेंक कर

१. जलकलशा० । २. प्रासन्न० ।
३. प्रसुप्त । ४. अनिलसुतमिव । ५. शिलाशकलसञ्चूर्णिताक्षास्थि० ।

—सुरभिविलेपनधरमपि सतताविर्भूतधूमगन्धम्,[1] मातङ्गकुलाध्यासितमपि[2] पवित्रम्, उल्लसित-धूमकेतुशतमपि[3] प्रशान्तोपद्रवम्, परिपूर्णद्विजपति-मण्डल-सनाथमपि सदा-सन्निहित-

रूपकर्म) यस्मिन् तं तादृशम् । पक्षे—प्रारब्धम् (=उपक्रान्तम्) अग्निकार्यम् (=तत्तर्पणादिरूपमलकृत्यम्) येन स तमिव । अर्जुनेन खाण्डववनं दग्धमिति प्रसिद्धम् । अत्र 'इव' शब्दः साहश्ये । तेनोपमालङ्कारः ।

साम्प्रतं विरोधाभासेनाश्रमस्य वैशिष्ट्यं निरूपयति—सुरभीति । सुरभिविलेपनधरम् =सुरभि (=घ्राणतृप्तिजनकम्) यद् विलेपनम् (=अङ्गरागादिकम्) तत् धरतीति =धरः =धारकः, तम्, तादृशम् अपि, सतताविर्भूतधूमगन्धम्—सततम् (=निरन्तरम्) आविर्भूतः (=प्रकटितः) धूमगन्धः (=वह्निकेतनसौरभः) यस्मिन् स तम्—अत्र विरोधः । परिहारस्तु—सुरभेः (=विशिष्टगोः) विलेपनम् (=गोमयादिकम्) यस्यां सा चासौ धरा (=भूमिः) यस्मिन् तं तादृशमिति । यद्वा—गोमयादिधारकमित्यर्थस्तेन व्यधिकरणबहुव्रीहिकल्पनादोषाभावः । ['सुरभिर्गवि च स्त्रियाम् ।" अमरः ३।३।१३७] मातङ्गकुलाध्यासितम्—मातङ्गानाम् (=चाण्डालानाम्) कुलेन (=वंशेन, समुदायेन वा) अध्यासितम् (=आश्रितम्) अपि, पवित्रम् =पूतम्—अत्र विरोधः । परिहारस्तु—मातङ्गकुलेन (=हस्तिसमूहेन) अध्यासितम्—इत्यर्थेन । ['मातङ्गः श्वपचे गजे ।' इति विश्वकोषः] उल्लसित-धूमकेतु-शतम्—उल्लसितम् (=उल्लासं प्राप्तम्) धूमकेतूनाम् (=उत्पातसूचकग्रहविशेषाणाम्) शतम् (=महती संख्या) यस्मिन् तं तादृशम्, अपि, प्रशान्तोपद्रवम्—प्रशान्ताः (=शान्तिमुपगताः) उपद्रवाः (=उत्पातादयो विघ्नाः) यस्मिन् तं तादृशम्—इति विरोधः । परिहारस्तु—उल्लसितं धूमकेतूनाम् (=अग्नीनाम्) शतं यत्र तं तादृशम् ["धूमकेतुःस्मृतो वह्नावुत्पातग्रहभेदयोः ।" इति विश्वः । "अग्न्युत्पातौ धूमकेतुः ।" अमरः ३।३।५८] परिपूर्णद्विजपतिमण्डलसनाथम् =परिपूर्णम् (=सर्वतः अखण्डम्) यद् द्विजपतेः (=चन्द्रस्य) मण्डलम् (=बिम्बम्), तेन सनाथम् (=सहितम्) अपि, सदा सन्निहिततरुगहनान्धकारम्—सदा (=सर्वदा) सन्निहितः (=निकटस्थायी) तरुगहनेषु

रावणपुत्र अक्ष की हड्डियों के समूह को चूर्ण-चूर्ण कर दिया था उसी प्रकार जो (आश्रम) पत्थर के टुकड़ों से तोड़े गए अक्ष (बहेड़ा) के मध्य भाग के समूह से युक्त था । [जहाँ पत्थरों से बहेड़ों को फोड़ कर छिलका उपयोग में लाकर गुठली बेकार फेंक कर ढेर बना दिया गया था ।] खाण्डव-नामक वन का विनाश करने के लिए उद्यत अर्जुन ने जिस प्रकार अग्नि-कार्य (आग जलाना) प्रारम्भ कर दिया था उसी प्रकार जिस में [ऋषियों द्वारा] अग्निकार्य (होम) प्रारम्भ कर दिया गया था ।

जो (आश्रम) सुरभि (= सुगन्धित) विलेपन द्रव्य = अंगरागादि को धारण करता हुआ भी सदैव उठने वाले (होम के) धुएँ की गन्ध से युक्त था, [विरोध-परिहार—सुरभि = गाय के, विलेपन = गोबर से युक्त धरा = पृथ्वी वाला होता हुआ हवन की गन्ध से युक्त था ।] जो (आश्रम) मातङ्ग (= श्वपचादि) के समूह से युक्त होता हुआ भी पवित्र था, [विरोधपरिहार—मातङ्गकुल = हाथियों के समूह से युक्त होता हुआ भी पवित्र था ।] उल्लसित = प्रकट होने वाले सैकड़ों धूमकेतुओं वाला होने पर भी अच्छी प्रकार शान्त हुए उपद्रवों वाला था, [विरोधपरिहार—बढ़ते हुए धूमकेतु = अग्नियों वाला होता हुआ भी शान्त उपद्रव वाला था ।] जो (आश्रम) सम्पूर्ण = षोडशकलाओं सहित द्विजपतिमण्डल = चन्द्रमण्डल से युक्त होता हुआ भी घने वृक्षों के कारण सदा अन्धकारयुक्त रहता था, [विरोधपरिहार—सम्पूर्ण = पूर्ण विद्वान् द्विजपति =

१. हव्यधूमगन्धम् । २. मातङ्गक । ३. सहस्र ।

तरु-गहनान्धकारम्, अतिरमणीयमपरमिव ब्रह्मलोकमाश्रममपश्यम् ।

यत्र च मलिनता हविर्धूमेषु न चरितेषु, मुखरागः शुकेषु न कोपेषु, तीक्ष्णता कुशाग्रेषु न स्वभावेषु, चञ्चलता कदलीदलेषु न मनःसु, चक्षूरागः कोकिलेषु न परकलत्रेषु, कण्ठग्रहः

(=वृक्षगह्वरेषु) अन्धकारः (=तमः) यत्र तं तादृशम्—अत्र विरोधः। परिहारः—परिपूर्णाः (=ज्ञानेन संयुक्ताः) ये द्विजपतयः (=श्रेष्ठविप्राः) तेषां यत् मण्डलम् (=समूहः) तेन सनाथः (=सहितः) तं तादृशम् । ["द्विजराजः शशधरः।" अमरः १।३।१५ । 'दन्तविप्राण्डजाः द्विजाः।" अमरः ३।३।३०]

"सुरभिविलेपनधरमपि" इत्यारभ्य 'परिपूर्णेत्यादिपर्यन्तं' पञ्चवाक्येषु विरोधाभासोऽलङ्कारः ।

अतिरमणीयम् =अत्यन्तचित्ताकर्षम्,अपरम् = अतिरिक्तम्, द्वितीयं वा,ब्रह्मलोकम् =देवलोकम्, इव, आश्रमम् =महर्षिजाबालेः निवासस्थलम्, तपोवनम्, अपश्यम् =व्यलोकयमित्यादि अन्वयस्तु पूर्वमेव प्रदर्शितः ।

पूर्वोक्तस्याश्रमस्य वैशिष्ट्यं पुनः प्रतिपादयितुं परिसंख्यालङ्कारमाश्रयति—यत्र चेति । च शब्दो अपि चे'त्यर्थे । यत्र=यस्मिन् पूर्वोक्ते आश्रमे, मलिनता=मालिन्यम्, हविर्धूमेषु=हुताग्निकेतुषु, एव, किन्तु, चरितेषु =आचारेषु, न =नैव, मलिनता =कालुष्यम्, लोकानामिति शेषः । सर्वैः सदाचरणात् पापकालुष्यं कस्यापि व्यवहारे नैवासीत्, तत्तु केवलं यज्ञधूमेष्वेवेति भावः ।

[अत्रेदं बोध्यम्—यदा वर्णने शब्दतोऽर्थतो वा कस्यापि व्यावृत्तिः प्रश्नपूर्विकाऽप्रश्नपूर्विका वा भवति तदा परिसंख्येत्यलङ्कारः । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—

प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथितादवस्तुनो भवेत् ।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ॥
परिसंख्या… … … … … … … … … ॥

एवञ्च "यत्र च मलिनते'' त्यारभ्य "जरया न धनाभिमानेन" इत्यन्त श्लेषसंकीर्णा शाब्दी परिसंख्या बोध्या ।]

मुखरागः = मुखस्य रक्तिमा, शुकेषु=कीरेषु, एव, किन्तु, कोपेषु=क्रोधेषु, न=नैव, कोऽपि क्रुद्धो न भवति स्म तेन मुखस्य वैरूप्यमपि न कुत्राप्यदृश्यत । सर्वत्र शान्तिरासीत् । तीक्ष्णता =चर्मास्थ्यादि-भेदनसामर्थ्यविशेषः, कुशाग्रेपु =दर्भप्रान्तेषु, एव, किन्तु, स्वभावेषु =प्रकृतिषु, न=नैव, कस्यापि स्वभावे तीक्ष्णता =क्रूरत्वं नासीत् । सर्वेऽपि सरलाः शुद्धचित्ताश्चासन् । चञ्चलता = चाञ्चल्यम्, कदलीदलेषु = रम्भापत्रेषु, एव, किन्तु, मनःसु = चित्तेषु, न = नैव । कस्यापि चित्ते चञ्चलता =अधीरता नासीत्, सर्वे धैर्यवन्त आसन् । चक्षूरागः =चक्षुषोः (=नयनयोः) रागः (=लालिमा), कोकिलेषु =परभृतेषु, एव, किन्तु, परकलत्रेषु = अन्यस्त्रीषु, न =नैव, सर्वे स्वदारपरिग्रहिण आसन् । अन्यदीयस्त्रीषु कस्यापि चक्षूरागः =अनुरागो नासीदिति भावः । कण्ठग्रहः =कण्ठे (=ग्रीवायाम्) ग्रहः (=ग्रहणम्),

---

ब्राह्मणों के मण्डल = समूह से युक्त होता हुआ भी सदैव घने वृक्षों के अन्धकार वाला था ।] अत्यन्त मनोहर अत एव मानों दूसरा ब्रह्मलोक (स्वर्गलोक) था । [ऐसे जाबाल्याश्रम को मैंने = शुक ने देखा]

और जिस आश्रम में मलिनता (=कालिमा) हवि के धूयें में (ही) थी, [लोगों के]—आचरण में [मलिनता =कालुष्य; दोष] नहीं थी, मुखराग (=मुंह की लालिमा) तोतों में ही था, क्रोध में [मुखराग = मुंह का लाल-पीला होना] नहीं था, तीक्ष्णता (=तीखापन) कुशों के अग्र-भाग में ही थी, [आश्रमवासियों के] स्वभाव में [तीक्ष्णता=तीखापन=क्रूरता] नहीं थी, चञ्चलता [हिलना डुलना] केला के पत्तों में ही थी, [आश्रमवासियों के] मनों में [चञ्चलता =अधीरता]

कमण्डलुषु न सुरतेषु[1], मेखलाबन्धो व्रतेषु नेर्ष्याकलहेषु, स्तनस्पर्शो होमधेनुषु न कामिनीषु[1],
पक्षपातः कृकवाकुषु[2] न विद्याविवादेषु, भ्रान्तिरनल[3]प्रदक्षिणासु न शास्त्रेषु[4], वसुसङ्कीर्त्तनं दिव्य-
कथासु न तृष्णासु[5], गणना रुद्राक्ष-वलयेषु न शरीरेषु, मुनि-बाल-नाशः क्रतु-दीक्षया न मृत्युना,

कमण्डलुषु = कुण्डिकासु, एव, परन्तु, सुरतेषु = मैथुनेषु, न = नैव। सर्वेषां जितेन्द्रियतया कामविकारा-भावात् कण्ठग्रहः = आलिङ्गनादि-प्रसङ्गो नासीदिति भावः। मेखलबन्धः—मेखलायाः (= काञ्च्याः) बन्धः (= बन्धनम्) व्रतेषु=उपनयनव्रतादि-कार्येषु, एव, परन्तु, ईर्ष्याकलहेषु = असूयामूलकविग्रहेषु, न = नैव। सर्वेऽपि मुनय ईर्ष्यादिदोषरहिता आसन्। अतः कुत्रापि युद्धादिसम्भावना नासीदिति केनापि मेखलाबन्धः = खड्गमुष्टिधारणं नाकारि। ['मेखला खड्गबन्धे स्यात् काञ्चीशैलनितम्बयोः।' इति मेदिनीकोषः।] स्तनस्पर्शः = स्तनानाम् (= कुचानाम्) स्पर्शः (= आमर्शनम्) होमधेनुषु = हवननिमित्तभूतगोषु, एव, परन्तु, कामिनीषु = रमणीषु, न = नैव। सर्वेषां विषयवासनाशून्यतया स्त्री-सम्पर्काभिलाषाभावात् तासां स्तनस्पर्शः = कुचस्पर्शः नासीदिति भावः। पक्षपातः = पक्षाणां पतनम्, कृकवाकेषु = कुक्कुटेषु, एव, किन्तु विद्याविवादेषु=शास्त्रार्थप्रसङ्गेषु, न=नैव, पक्षपातः=एकपक्षसमर्थनम् शास्त्रार्थादौ निर्णायकाः निष्पक्षतया व्यवहरन्ति स्म कस्यापि अयोग्यस्य पक्षे सम्मतिं न स्म प्रकटयन्तीति भावः। भ्रान्तिः = परितः भ्रमणम्, अनलप्रदक्षिणासु=होमपरिक्रमासु, एव, किन्तु शास्त्रेषु = न्यायादि-शास्त्रेषु, न = नैव, भ्रान्तिः = भ्रमः सर्वेऽपि शास्त्रीयविषये निर्भ्रान्ता ज्ञातसिद्धान्ता आसन्, कुत्रापि विषये भ्रमः सन्देहो वा नासीदिति भावः। वसुसङ्कीर्तनम् = वसूनाम् (= द्युप्रमुखाणामष्टदेवतानाम्) कीर्तनम् (=वर्णनम्) दिव्यकथासु = महाभारतादिवर्णनेषु, एव, किन्तु, तृष्णासु=लिप्सासु, न=नैव, वसु-संकीर्तनम् = वसुनः (= धनस्य) कीर्तनम् (= प्रशंसा)। सर्वे निर्लोभा आसन्। अतः कोपि धनस्य चर्चां न करोति स्मेति भावः। गणना = संख्याकरणम्, रुद्राक्षवलयेषु = रुद्राक्षाणां समूहेषु, एव, किन्तु शरीरेषु = देहेषु, न = नैव, गणना = आदरः। अत्यन्त-निःस्पृहतया शरीरचिन्तारहिताः सर्वे इति भावः। क्रतुदीक्षया = यज्ञदीक्षया, एव, यज्ञोपक्रमेणेति भावः, मुनिबालनाशः = मुनीनां केशानां ध्वंसः, मुण्डनमिति भावः, किन्तु, मृत्युना = मरणेन हेतुना, मुनिबालनाशः = ऋषिकुमारविनाशः, न = नैव,

नहीं थीं, चक्षूराग (= आँखों की लालिमा) कोयलों में ही था, [आश्रमवासियों का किसी] दूसरे की स्त्रियों के विषय में चक्षूराग [= आँखों द्वारा प्रेम, आकर्षण] नहीं था, कण्ठग्रह (= गला पकड़ना) कमण्डलुओं में ही था सुरत = रतिक्रीडा में [किसी के द्वारा स्त्रियों का कण्ठग्रह = गला पकड़ना = आलिंगन करना] नहीं था, मेखलाबन्धन (जंजीर से बाँधना, रस्सी से बाँधना) उपनय-नादि व्रतों में ही था, ईर्ष्याजन्य कलहों में [मेखलाबन्धन=रस्सी आदि से बाँधना] नहीं था, स्तनस्पर्श (=थनों को दुहने के लिए छूना) हवन के लिए दूध देने वाली गायों में ही था, कामिनियों में [उनके स्तनों का स्पर्श करना] नहीं था, पक्षपात (= पंखों का गिरना) मुर्गों में ही था विद्याविवादों = वेदादिशास्त्रार्थों में [किसी निर्णय में किसी एक का पक्षपात = समर्थन करना] नहीं था, अग्नि की प्रदक्षिणा = परिक्रमा में ही भ्रान्ति (= चारों ओर घूमना) थी, शास्त्रों में [शास्त्रीय पदार्थों में किसी की भ्रान्ति = भ्रम] नहीं थी, वसुसंकीर्तन (आठ वसुदेवताओं का वर्णन) दिव्य कथाओं (महा-भारतादि इतिहास ग्रन्थों) में ही था, [लोगों की] तृष्णा (= लिप्साओं) में [वसु = धन का संकीर्तन प्रशंसा करना] नहीं था, गणना (=गिनती करना) रुद्राक्ष के कंकणों में ही थी [आश्रमवासियों के]

१. वनितासु। २. कुक्कुटेषु। ३. क्वचित्तु 'अनल' इति पदं नास्ति। ४. शास्त्रार्थेषु। ५. जलतृष्णासु।

रामानुरागो रामायणेन न यौवनेन, मुखभङ्गविकारो जरया न धनाभिमानेन ।

यत्र च महाभारते शकुनि-वधः, पुराणे वायु-प्रलपितम्, वयःपरिणामेन[1] द्विज-पतनम्,

आसीत् । रामानुरागः = रामः (= दशरथात्मजो रामचन्द्रः) तस्मिन् अनुरागः (= आराध्यतया ध्यानादिकम्), रामायणेन = रामचरित्रेण, किन्तु, यौवनेन = तारुण्येन, न = नैव, रामायाम् = रमण्याम् अनुरागः = आसक्तिः । तपश्चर्याब्रह्मचर्यादिना चोर्ध्वरेतस्त्वात् कस्यापि कामविकारो नासीदिति भावः । जरया = वार्धक्येन, मुखभङ्गविकारः = मुखे (= आस्ये) भङ्गविकारः (= त्रिवलीविकृतिः), किन्तु, धनाभिमानेन = वित्तदर्पेण, मुखभङ्गविकारः = भ्रुकुट्यादि-विकृतिः, न = नैव, आसीत् । तत्र कोऽपि धनदर्पेण मुखं विकृतं कृत्वा न स्म दर्शयतीति भावः । पूर्वोक्तेषु वाक्येषु नञा अन्यस्य निराकरणात् सन्निहितपदार्थस्यावधारणं प्रतीयते । प्रश्नाभावेऽपि तथाप्रतीत्या श्लेषसंकीर्णा शाब्दी परिसंख्यालङ्कार इति पूर्वोक्तदिशा ज्ञेयम् ।

साम्प्रतमार्थीं परिसंख्यामाश्रित्याश्रमस्य वैशिष्ट्यं प्रदर्शयति—यत्र चेति । च शब्दोऽपि चेत्यर्थे । यत्र = यस्मिन् जाबाल्याश्रमे, महाभारते = व्यासप्रणीते इतिहासात्मके महाग्रन्थे, एव, शकुनिवधः = शकुनेः (= दुर्योधनमातुलस्य) वधः (= मारणम्), श्रूयते स्म, तत्र शकुनीनाम् (= पक्षिणाम्) वधः = व्याधादिभिः विनाशो नासीदिति भावः ।

[आर्थीपरिसंख्यासत्त्वात् प्रश्नाभावेऽपि स्वाभिप्रायेणान्यस्य निराकरणार्थम् 'एव' कारं संयोज्याभीष्टार्थः साधनीयः । तेन तदरिक्ते तदभावः उपपद्यते ।]

पुराणे = पञ्चलक्षणात्मके ग्रन्थविशेषे, वायुपुराणे इत्यर्थः, एव, वायुप्रलपितम् = वायोः (= पवनदेवस्य) प्रलपितम् (= अन्यान् प्रति कथनम्), अन्यस्य कस्यापि वायुविकारजन्योन्मादादिनाऽपभाषितं नैव श्रूयते स्म । वयः परिणामेन—वयसः (= अवस्थायाः) परिणामेन (= वार्धक्येनेति भावः), एव, द्विजपतनम्—द्विजानाम् (= दन्तानाम्) पतनम् (= मुखान्निपतनम्), न तु आचारभ्रंशत्वा-

शरीरों में [गणना = शरीर के प्रति आदर और आसक्ति] नहीं थी, क्रतुदीक्षा = यज्ञीय दीक्षा से ही मुनियों का बालनाश (= बाल कटवाना) होता था, मृत्यु से [मुनियों का बालनाश = शिशुओं का विनाश] नहीं होता था, रामायण (= राम के आचरण) के कारण ही रामानुराग (दशरथपुत्र राम में अनुराग) था, यौवन के कारण [रामानुराग = कामनियों के प्रति प्रेम] नहीं था, जरा = बुढ़ापा के कारण मुखभंग-विकार (मुख पर झुरियाँ आदि विकृति) होता था, धन के अभिमान के कारण [मुखभंगविकार = मुख की भाव-भंगिमा में विरूपता] नहीं था ।

विमर्श—यहाँ शाब्दी परिसंख्या अलंकार का सुन्दर प्रयोग है । प्रस्तुत वाक्यों में अन्य पदार्थ का निराकरण किया गया है । मलिनता तथा मुखराग आदि शब्दों में श्लेष है । यह परिसंख्या को अनुप्राणित करता है । आगे भी परिसंख्या अलंकार है किन्तु उनमें शब्दतः अन्य का निराकरण न करके अर्थतः किया गया है ! इसलिए आर्थी परिसंख्या है और यह भी श्लेष से अनुप्राणित होने से अति चमत्कार-जनक है ।

[प्रनु०] और जिस (आश्रम) में शकुनि (= दुर्योधन के मामा) का वध महाभारत में ही था, [आश्रम में शकुनि = पक्षियों का वध नहीं होता था,] वायु (देवता) का प्रलाप (भाषण) पुराण (= वायुपुराण) में ही था, [आश्रम में वायु = वात से उत्पन्न रोगादि से किसी का प्रलाप = उल्टा पुल्टा बकना नहीं होता था,] द्विजों (= दाँतों) का पतन (गिरना) वयःपरिणाम से (अवस्था के पकने = अधिक होने अर्थात् बुढ़ापे के कारण) ही होता था, [निन्दित आचरणादि

१. वयः परिणामे ।

उपवन-चन्दनेषु जाडचम्, अग्नीनां भूतिमत्त्वम्, एणकानां गीतश्रवण[1]-व्यसनम्, शिखण्डिनां[2] नृत्य-पक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः ।

[इति जाबाल्याश्रमवर्णनम् ।]

दिना द्विजानाम् (= ब्राह्मणानाम्) पतनम् (= प्रतिष्ठाघातः) । उपवनचन्दनेषु—उपवनम् (=समीपवनम्) तत्र चन्दनेषु (=श्रीखण्डवृक्षेषु), एव, जाड्यम् = शैत्यम्, तदातिरिक्ते कुत्रापि जडता नासीत्, सर्वेऽपि लोकाः शिक्षिताः विज्ञाश्चासन् । अग्नीनाम् = वह्नीनाम्, एव, भूतिमत्त्वम् = भस्मवत्त्वम्, न तु मुनीनां भूतिमत्त्वम् = ऐश्वर्यवत्त्वम् । तत्र सर्वेऽपि लौकिकवैभवं परिहाय तपश्चरणे संलग्ना आसन् । एणकानाम् = मृगाणाम्, एव, गीतश्रवणव्यसनम् = गानसमाकर्णनासक्तिः, न तु मुनीनाम्, तेषां कस्मिन्नपि विषये समासक्त्यभावादिति भावः । शिखण्डिनाम् = मयूराणाम्, एव, नृत्य-पक्षपातः—नृत्ये (= नर्तनावसरे) पक्षाणाम् (= छदानाम्) पातः (= पतनम्) न तु अन्यस्य कस्यापि तापसस्य वेश्यादिनृत्यविषये पक्षपातः = अभिलाषातिशय आसीत् । भुजङ्गमानाम् = सर्पाणाम्, एव, भोगः = शरीरम्, न तु अन्येषां तापसानां भोग = विषयोपभोगः, वासनाराहित्यादिति भावः । कपीनाम् = वानराणाम्, एव, श्रीफलाभिलाषः = श्रीफलानि (= विल्वफलानि) तेषु अभिलाषः (= वाञ्छाविशेषः), न तु ऋषीणां श्रीफलाभिलाषः—श्रीः (= लक्ष्मीः) तस्याः फलानि (= विविधविलास-साधकवस्तूनि) तत्र अभिलाषः (= मनोरथः) । सर्वेपि धनाभिलाषशून्या आसन्निति भावः । मूलानाम् = वृक्ष-लता-कन्दादिजटानाम्, एव, अधोगतिः = निम्नभागप्रवेशः, न तु तापसानाम् अधोगतिः (= अधः पतनम्) । सर्वेपि सदैव सदाचारपरायणा आसन्, तेन कस्यापि अधः पतनं नैवासीदिति भावः ।

अत्र आर्थी परिसंख्यालङ्कारः । तेनाभीष्टातिरिक्तपदार्थे निराकरणमर्थतः प्रतीतं भवति अतएव व्याख्यायाम् 'एव' कारः संयोजित इति बोध्यम् । श्लेषश्चास्ति तेन द्वयोः सांकर्यात् सङ्करालङ्कारो बोध्यः ।

॥ इति भावबोधिन्यां कादम्बरी-व्याख्यायां जाबाल्याश्रमवर्णनम् ॥

—: ० :—

से द्विजों = ब्राह्मणों का पतन नहीं होता था,] जड़ता (शीतलता) उपवन के चन्दनों में ही थी, [आश्रम के ऋषियों में जड़ता = मूर्खता नहीं थी, सभी बुद्धिमान थे ।] भूतिमत्ता (राख युक्त होना) अग्नियों की ही थी [मुनियों की भूतिमत्ता = ऐश्वर्य नहीं थी,] गीत सुनने का व्यसन हिरनों का ही था, [मुनियों का कोई व्यसन नहीं था,] नृत्य में पक्षपात (=पंखों का गिरना) मयूरों का ही था [मुनियों का किसी के प्रति पक्षपात = अनुचित समर्थन नहीं होता था,] भोग (फन) साँपों का ही था [मुनियों का सांसारिक भोग = विषयसुख नहीं था,] श्रीफल (बेल के फल) की अभिलाषा बन्दरों की ही होती थी [मुनियों को श्री = लक्ष्मी के फल = विभिन्न सुख-साधनों की अभिलाषा नहीं होती थी,] अधोगति (= नीचे जाना) जड़ों की ही थी [मुनियों की अधोगति = अधःपतन नहीं थी, सदाचारी होने से उनका अभ्युदय ही होता था ।]

विमर्श—उक्त वाक्यों में आर्थी परिसंख्या अलंकार है क्योंकि अन्य का निराकरण शब्दतः न करके अर्थतः किया गया है ।

[इस प्रकार भावबोधिनी-हिन्दी-व्याख्या में जाबाल्याश्रम का वर्णन समाप्त हुआ ।]

———

१. 'श्रवण' इदं क्वचिन्नापि दृश्यते । २. शिखण्डिनीनां गीतनृत्यपक्षपातः ।

[अथ जाबालि-वर्णनम्]

तस्य चैवंविधस्य मध्यभागमलङ्कुर्वाणस्य,[1] अलक्तकालोहित-पल्लवस्य[2] मुनिजनालम्बित-[3][4] कृष्णाजिन-जल-करक-[5] सनाथशाखस्य तापसकुमारिकाभि[6] रालवाल-दत्त-पीत-पिष्ट-[7] पञ्चाङ्गुलस्य, हरिणशिशुभिः परिपीयमाना[8] लवाल[9] सलिलस्य मुनिकुमारकाबद्ध-कुशचीरदाम्नो हरित-

जाबाल्याश्रममुपवर्ण्य साम्प्रतं तस्य महर्षेर्महत्त्वमुपदर्शयति—तस्येति। एवंविधस्य=पूर्वोक्त-प्रकारेण वर्णितस्य, तस्य=आश्रमस्य, मध्यभागम्=मध्यप्रदेशम्, अलङ्कुर्वाणस्य=समलङ्कुर्वतः, [इत आरभ्य षष्ठ्यन्तानि पदानि='रक्ताशोकतरोः' इति वक्ष्यमाणस्य विशेषणानि, द्वितीयान्तानि पदानि 'जाबालिम्' इत्यस्य विशेषणानि, 'अपश्यम्' इति वक्ष्यमाणक्रियापदेन च सम्बन्ध इति बोध्यम्।]

अलक्तेत्यादिः। अलक्तवत् (= यावकवत्) आलोहितानि (= ईषद्रक्तानि) पल्लवानि (=किसलयानि) यस्य तस्य तादृशस्य। मुनिजनेत्यादिः—मुनिजनैः (=तापसलोकैः) आलम्बिताः (=स्थापिताः) कृष्णाजिनानि (=कृष्णमृगचर्माणि) जलकरकाः (=जलाधारपात्र-विशेषाः) च, तैः सनाथाः (=संयुताः) शाखाः (=विटपाः) यस्य तस्य तादृशस्य। तापस-कन्यकेत्यादिः। तापसानाम् (=तपस्विनाम्) याः कन्यकाः (=कुमारिकाः) ताभिः आलवाले (=आवापे) दत्ताः (=निहिताः) पं तपिष्टस्य (=हरिद्राचूर्णस्य) पञ्चाङ्गुलयः (=हस्त-बिम्बाः) यस्मिन् स तस्य। 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः' पा० सू० ५।४।८६ इति समासान्तोऽच् प्रत्ययः। हरिण शिशुभिः=मृगशावकैः, परिपीयमानालवालसलिलस्य—परिपीयमानम् (=समान्तादास्वाद्यमानम्) आलवालस्य (=आवापस्य) सलिलम् (=जलम्) यस्य तस्य तादृशस्य। मुनि-कुमारकेत्यादिः—मुनिकुमारकैः (=ऋषिपुत्रकैः) आबद्धानि (=समन्तात् परिवेष्टितानि) कुश-चीराणाम् (=दर्भवस्त्राणाम्) दामानि (=रज्जवः) यस्मिन् स तस्य। हरितेत्यादिः—हरितम्

ऐसे उस आश्रम के मध्यभाग को सुशोभित करने वाले रक्त अशोक वृक्ष के नीचे उसकी छाया में बैठे हुए जबालि मुनि को मैंने देखा, उस अशोक वृक्ष के पल्लव आलता के समान लाल-लाल थे, मुनिजनों द्वारा लटकाए गए कृष्ण-मृगचर्म और जलपात्रों से उसकी शाखायें युक्त थी, [मुनियों ने उसकी शाखाओं में कृष्ण-मृगचर्म और कमण्डलु आदि जलपात्र लटका रखे थे,] तापस-कन्याओं द्वारा उसके आलवाल पर हल्दी के चूर्ण से (रंगी हुई) पाँच अंगुलियों की छापें बनाई गई थीं, उसके आलवाल के पानी को हिरनों के बच्चे पी रहे थे, मुनिकुमारों ने उस पर कुशतन्तु की

१. मध्यभागमण्डलम्। २. अलक्तलोहित।
३. लोलपल्लवस्य। ४. ···अवलम्बित।
५. करङ्क। ६. कन्यकाभिः।
७. पीतपिष्ट। ८. आपीयमान, पीयमान।
९. आलवालक।

गोमयोपलेपन[1]-विविक्ततलस्य[2], तत्क्षण-कृत[3]-कुसुमोपहार-रमणीयस्य, नातिमहतः परिमण्डलतया विस्तीर्णविकाशस्य रक्ताशोकतरोरधश्छायायामुपविष्टम्,—

—उग्रतपोभि[4]र्भुवनमिव सागरैः, कनक-गिरिमिव कुलपर्वतैः[5], क्रतुमिव वैतानिक[6]-वह्निभिः, कल्पान्त-दिवसमिव रविभिः, कालमिव कल्पैः, समन्तान्महर्षिभिः परिवृतम्,—

(=हरिद्वर्णम्, अशुष्कमिति भावः) यद् गोमयम् (=गोः पुरीषम्) तेन यद् उपलेपनम् (=उपलेपः) तेन विविक्तम् (=पूतम्) तलम् (=अधोदेशः) यस्य स तस्य तादृशस्य । तत्क्षणेत्यादिः । तत्क्षणम् (=तत्कालम्) कृतः (=रचितः) यः कुसुमोपहारः (=पुष्पोपायनम्) तेन रमणीयस्य (=मनोहरस्य), नातिमहतः=नातिविशालस्य, परिमण्डलतया -गोलाकारतया, विस्तीर्णविकाशस्य=विस्तीर्णः (=अतिदीर्घः) अवकाशः (=अधःस्थायी छायाप्रदेशः) यस्य तस्य तादृशस्य । रक्ताशोकतरोः = लोहितकङ्केलिवृक्षस्य, अधश्छायायाम्=निम्नस्थानातपे, उपविष्टम् = आसीनम् । [द्वितीयान्तानि पदानि 'जाबालिमि' त्यस्य वक्ष्यमाणस्य विशेषणानीति पूर्वमेवोक्तम् ।]

उग्रेति । उग्रतपोभिः—उग्राणि (=तीक्ष्णानि) तपांसि (=तपश्चरणानि) येषां तैः तादृशैः । ['महर्षिभिः'. इत्यस्य विशेषणानि इमानि तृतीयान्तानि पदानि ।] सागरैः=समुद्रैः, भुवनम् इव=विष्टपम् इव, कुलपर्वतैः=सप्तसंख्याकैः कुलाचलैः, कनकगिरिम् इव=सुमेरुपर्वतमिव ।

[महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥]

वैतानिकवह्निभिः=वितानं यज्ञस्तस्येमे इति वैतानिकाः दक्षिणाग्निगार्हपत्याहवनीयाख्याग्निभिः, क्रतुम् इव=यज्ञमिव, रविभिः=द्वादशसूर्यैः, कल्पान्तदिवसम्=युगान्तवासरमिव, कल्पैः=युगान्तैः, कालावयवैरिति भावः, कालम् इव = अखण्डं समयमिव । उग्रतपोभिः महर्षिभिः = महातापसैः, समन्तात्=परितः, परिवृतम्=परिवेष्टितम् ।

[अत्र एको जाबालिरुपमेयः अनेकानि च उपमानानि तेषां निरूपणात् मालोपमालङ्कारः । 'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।' इत्युक्तत्वात् ।]

यथा सागरादिभिः समावृतानां भुवनादीनां शोभा महत्त्वं च भवति तथैव विविधमहर्षिभिः समावृतस्य जाबालेः शोभा महत्त्वं चासीदिति भावः ।

(कुश की बनी हुई) रस्सी बांध रखी थी, उसके नीचे की जमीन ताजे गोबर से लीप दी गई थी, उसी समय दिए गए (चढ़ाए गए) फूलों से मनोहर था, अत्यधिक विशाल न होता हुआ भी गोल आकार वाला होने से उसका क्षेत्र अति विस्तृत था । [ऐसे अशोक वृक्ष के नीचे बैठे हुए जाबालि मुनि को देखा ।]

[वे मुनि] उग्र तपस्या करने वाले महर्षियों से ऐसे घिरे हुए थे जैसे कि [सभी] समुद्रों से घिरी हुई पृथिवी हो, कुलपर्वतों से घिरा हुआ सुमेरु पर्वत हो, वैतानिक (यज्ञसम्बन्धी) अग्निओं से घिरा हुआ यज्ञ हो,अथवा सभी सूर्यों से घिरा हुआ प्रलयकाल का अन्तिम दिन हो,अथवा कल्पों से घिरा हुआ स्वयं काल (समय) हो ।

---

१. उपलिप्त । २. भूतलस्य । ३. रचित ।
४. वायुप्रतपोभिः । ५. कुलाचलैः । ६. वैतान ।

—उग्र-शाप-भीतयेव[1] कम्पितदेहया, प्रणयिन्येव विहित-केशग्रहया, क्रुद्धयेव कृत-भ्रूभङ्गया, मत्तयेवाकुलित-गमनया, प्रसाधितयेव प्रकटित-तिलकया जरया, गृहीतव्रतयेव भस्मधवलया धवलीकृत-विग्रहम्,—

—आयामिनीभिः पलित-पाण्डुराभिस्तपसा[2] विजित्य मुनिजनमखिलं धर्म्मं-

उग्रेति। उग्रशापभीतया=उग्रः (=कठिनः) यः शापः (=आक्रोशः) तेन भीतया (=त्रस्तया) नार्येवेति भावः, कम्पितदेहया=कम्पितः (=वेपितः, चलितः) देहः (=कायः) यया सा, तादृश्या। नारीपक्षे—कम्पितो देहो यस्याः सा तया। प्रणयिन्या=प्रणयवत्या नायिकया, इव, विहितकेशग्रहया—विहितः (=कृतः) केशानाम् (=कचानाम्) ग्रहः (=ग्रहणम्) यया सा तया। रतिकाले कुपिता प्रणयिनी यथा केशग्रहं करोति तथैवेयं जरापि केशेषु श्वैत्योत्पादनार्थं तानाश्रयतीत्यर्थः। क्रुद्धया इव=कोपाविष्टया इव, कृतभ्रूभङ्गया- कृतः (=रचितः) भ्रुवोः (=अक्षिलोम्नोः) भङ्गः (=कौटिल्यम्) यया सा तया। यथा काचित् क्रुद्धा स्त्री भ्रूविकारं करोति तथैव जरापि भ्रुवोः शैथिल्यमुत्पाद्य तत्र विकारं जनयतीति भावः। मत्तया इव=मद्यपानादिनोन्मत्तया इव, आकुलितगमनया=आकुलितम् (=उच्चावचीकृतम्, विश्रृङ्खलितम्) गमनम् (=गतिः) यया सा तया। मदिरयोन्मत्तायाः गमनं यथाऽव्यवस्थितं भवति तथैव जरया जाबालेर्गमनमव्यवस्थितमासीदिति भावः। प्रसाधितया=अलङ्कृतया नार्येव, प्रकटिततिलकया—प्रकटितानि (=अभिव्यक्तानि) तिलकानि (=शरीरे श्यामवर्णानि) पृषन्ति, चर्म-विकाराः यया सा तया, पक्षे—प्रकटितम् (=रचितम्) तिलकम्=मस्तके तिलकं यया सा तया। अलङ्कृता स्त्री यथा मस्तके सतिलका भवति तथैव जरापि शरीरे तिलकानि चर्मविकारविशेषान् समुत्पाद्य सतिलकाऽसीदिति भावः। गृहीतव्रतया - गृहीतम् (= अवलम्बितम्) व्रतम् (= कश्चिन्नियमविशेषः) यया सा तया, अतएव, भस्मधवलया — भस्मना (=भूत्या) धवला (=शुभ्रवर्णा) या तया,जरापक्षे -- भस्मवत् (=भूतिवद्) धवला, तया, च, जरया=वृद्धावस्थया, धवलीकृतविग्रहम्—धवलीकृतः (=शुभ्रीकृतः) विग्रहः (=कायः) यस्य स तं तादृशम्।

[अत्र 'उग्रशापभीतयेव' इत्यारभ्य 'गृहीतव्रतयेव' इत्यन्तमुपमालङ्कारः। अत्र 'नार्या' इति विशेष्यस्याध्याहारं कृत्वा सामञ्जस्यं कार्यम्। अन्ये तु अध्याहारमनङ्गीकृत्योत्प्रेक्षामेव प्रतिपादयन्तीत्याहुः।]

पुनरपि तमेव महर्षिं विशिनष्टि—आयामिनीभिरिति। आयामिनीभिः=विशालाभिः, [इमानि

कठोर शाप के भय से डरी हुई स्त्री के समान शरीर को कंम्पित करने वाली (स्त्रीपक्ष में कांपते हुए शरीरवाली) प्रेमिका स्त्री के समान केशग्रहण करने वाली (स्त्री-पक्ष में केशों को पकड़ने वाली, जरापक्ष में केशों में व्याप्त होने वाली, प्रभाव डालने वाली), क्रुद्धा स्त्री के समान भ्रूभंग करने वाली (स्त्री-पक्ष में—भौंह टेढ़ी करने वाली, जरा-पक्ष में भौंहों को ढीली करने वाली) मदिरापानादि से मतवाली स्त्री के समान आकुलित (= लड़खड़ाती हुई) गति=चाल वाली,संजी सजाई (अलंकृत) स्त्री के समान तिलक (स्त्री पक्ष में टिकली, जरापक्ष में काले काले धब्बों) को प्रकट करने वाली, व्रतधारण करने वाली स्त्री के समान, भस्म से श्वेत शरीर वाली (भस्म के समान श्वेत शरीर वाली) जरा (वृद्धावस्था) ने उस ऋषि के शरीर को धवल (श्वेत) बना दिया था।

१. उग्रशापकम्पितदेहया।　　२. तपोभिः।

पताकाभिरिवोच्छ्रिताभिरमर-लोकमारोढुं[1] पुण्य-रज्जुभिरिवोप-संगृहीताभिरतिदूर-प्रवृद्धस्य पुण्यतरोः कुसुम-मञ्जरीभिरिवोद्‌गताभिर्जटाभिरुपशोभितम्, उपरचित-भस्म-त्रिपुण्ड्रकेण तिर्यक्प्रवृत्त-त्रिपथगा-[2]स्रोतस्त्रये[3]ण हिमगिरि-शिलातलेनेव ललाट-फलके[4]नोपेतम्, अधोमुखचन्द्र-कलाकाराभ्यामवलम्बित-बलि-शिथिलाभ्यां भ्रूलताभ्यामवष्टभ्यमान-दृष्टिम्,—

तृतीयान्तानि पदानि 'जटाभि' रित्यस्य विशेषणानि] पलितपण्डुराभिः—पलितेन (=वार्धक्यजन्य-श्वैत्येन) पाण्डुराभिः (=पाण्डुरवर्णाभिः) [पलितशब्देनैव निर्वाहे पाण्डुर-शब्द-प्रयोगः स्पष्टार्थः ।] तपसा=तपस्यया, अखिलम्=समस्तम्, मुनिजनम्=ऋषिलोकम्, विजित्य=अभिभूय, उच्छ्रिताभिः= उन्नताभिः, धर्मपताकाभिः=धर्मस्य विजयसूचकध्वजैः, इव, उत्प्रेक्षावाची इव शब्दः । अमरलोकम्= देवलोकम्, आरोढुम्=आरोहणं कर्तुम्, तत्र गन्तुमिति भावः, पुण्यरज्जुभिः=पवित्ररश्मिभिः, इव; अत्राप्युत्प्रेक्षा । उपसंगृहीताभिः=स्वीकृताभिः, धृताभिरिति भावः । अति-दूरप्रवृद्धस्य=अतिविप्रकृष्टं प्रवृद्धिमुपगतस्य, पुण्यतरोः=सुकृतरूपवृक्षस्य, 'तपस्तरो'रिति पाठे तप एव तरुः तस्येत्यर्थः, कुसुम-मञ्जरीभिः=पुष्पवल्लरीभिः, इव, अत्रोत्प्रेक्षा, जटाभिः=सटाभिः, उपशोभितम्=समलङ्कृतम् । अत्र 'इव' शब्द उत्प्रेक्षायाम्, 'पुण्यतरोः' इत्यत्र रूपकम्, अनयोः साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारः ।

उपरचितेति । महर्षेर्ललाटफलकं विशिनष्टि—उपरचितेत्यादिः—उपरचितानि (=विहितानि) भस्मना (=भूत्या) त्रीणि (=त्रिसंख्याकानि) पुण्ड्राणि (=रेखामयतिलकानि) यस्मिन् तेन, तादृशेन । तिर्यक् प्रवृत्तेत्यादिः—तिर्यक् प्रवृत्तम् (=वक्रत्वेन प्रचलितम्) त्रिपथगायाः (=गङ्गायाः) स्रोतस्त्रयम् (=प्रवाहत्रयम्) यस्मिन् तादृशेन । हिमगिरिशिलातलेन—हिमगिरेः (=हिमालयस्य) शिलातलेन (=प्रस्तरतलेन) इव, उत्प्रेक्षावाची 'इव' शब्दः । ललाटफलकेन=भालपट्टकेन, उपेतम्= सहितम् । अत्रोत्प्रेक्षालंकारः ।

अधोमुखेति । अधोमुखी (=निम्नमुखी) या चन्द्रकला (=निशाकररेखा) तस्या आकारः (=स्वरूपम्) इव आकारः (=स्वरूपम्) ययोस्ते तादृशाभ्याम् । अवलम्बितबलिशिथिलाभ्याम्—अवलम्बिताः (=वार्धक्याद् आश्रिताः) याः बल्यः (=शिथिलचर्माणि) ताभिः शिथिलाभ्याम् (=श्लथाभ्याम्) ["बलिर्दैत्यप्रभेदे च करचामरदण्डयोः । उपहारे पुमान् स्त्री तु जरया श्लथ-चर्मणि ॥"] इति मेदिनी । भ्रूलताभ्याम्=नेत्रपक्ष्मवल्लरीभ्याम् । अवष्टभ्यमान-दृष्टिम्—अवष्टभ्यमाना (=आलम्ब्यमाना, निरुध्यमाना) दृष्टिः (=दर्शनक्रिया) यस्य तं तादृशम् । 'चन्द्रकलाकार' इत्यत्रार्थी

वे जाबालि लम्बी-लम्बी और (वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न) श्वेतता से श्वेत (सफेद), अपनी उन जटाओं से उपशोभित थे जो जटाएं मानों समस्त मुनियों को तपस्या से जीत कर ऊपर उठाई गई विजयवैजयन्ती हों, जो मानों स्वर्ग-लोक में चढ़ने के लिए (उन ऋषि के द्वारा) सगृहीत पुण्यों से बनाई गई रस्सियाँ हों । और जो (जटाएं) मानों बहुत दूर तक बढ़े हुए पुण्यरूपी वृक्ष की निकली हुई पुष्पमंजरियाँ हों) । जो ऋषि ऐसे ललाट-फलक (मस्तकतल) से युक्त थे जिस (ललाट-फलक) में भस्म का त्रिपुण्ड्र (तीन रेखाएं) बना था (इस कारण) मानों तिरछी होकर बहने वाली गङ्गा के तीन स्रोतों (धाराओं) वाले हिमालय का शिलातल हो, [जाबालि का धवल माथा हिमालय की शिला के समान था और उस पर बनी तीन=ऊपर, नीचे और मध्य की रेखाएं (त्रिपुण्ड्र) ऐसी लग रही थीं मानों गङ्गा की तिरछी होकर बहने वाली तीन धारायें हों], उलटी चन्द्रकला

१. उपार्जिताभिः । २. गङ्गा । ३. ···त्रयेणेव, तलेन । ४. पट्टेनोपेतम् ।

—अनवरत-मन्त्राक्षराभ्यास-विवृताधरपुटतया निष्पतद्भिरतिशुचिभिः सत्यप्ररोहै-[1] रिव स्वच्छेन्द्रिय-वृत्तिभिरिव करुणारस-प्रवाहै[2]रिव दशनमयूखैर्धवलित-पुरोभागम्, उद्वमदमलगङ्गा-प्रवाहमिव जह्नुम्, —

—अनवरत[3]सोमोद्गार-सुगन्धिनिश्वासावकृष्टै[4]र्मूर्त्तिमद्भिः[5] शापाक्षरैरिव सदा

उपमा।

अनवरतेति। अनवरतम् (=निरन्तरम्) यो मन्त्राक्षराभ्यासः (=मन्त्राक्षरजपावृत्तिः) तेन विवृतम् (=अनावृतम्) अधरपुटम् (=ओष्ठपुटम्) यस्य, तस्य भावस्तत्ता तया हेतुना, निष्पतद्भिः=निःसरद्भिः, अतिशुचिभिः=अतिस्वच्छैः, सत्यप्ररोहैः=सत्याङ्कुरैः इव, स्वच्छेन्द्रियवृत्तिभिः इव—स्वच्छाः (=पापरहिताः) या इन्द्रियवृत्तयः (=चित्तादीन्द्रियाणां कर्माणि) ताभिः, इव। करुणारसप्रवाहैः इव—करुणायाः (=दयायाः) यो रसः (=द्रवः) तस्य प्रवाहैः (=स्रोतोभिः) इव। एवंविधैः, दशनमयूखैः=दन्तकिरणैः, धवलितपुरोभागम्—धवलितः (=शुभ्रीकृतः) पुरोभागः (=अग्रप्रदेशः) यस्य तं तादृशम्। [अत्र वाक्यार्थ-हेतुकं काव्यलिङ्गम्, उपमा, उत्प्रेक्षा चेत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारो बोध्यः।] अतएव, उद्वमदमलगङ्गाप्रवाहम्—उद्वमन् (=उद्गिरन्, दक्षिणश्रोत्राद् बहिरागच्छन्) अमलः (=निर्मलः) गङ्गाप्रवाहः (=भागीरथीस्रोतः) यस्मात् तं तादृशम्, जह्नुम्=एतन्नामकं राजानम्, इव=तुल्यम्।

[अत्र पौराणिकी कथा—पुरा भगीरथप्रार्थनया भूमौ आगच्छन्ती गङ्गा शिवस्य शिरोदेशं प्राप्ता। पुनः प्रार्थिता सती चलन्ती मार्गे जह्नुनामकभूपालस्य यज्ञभूमिं जलेन प्लावयामास। ततः क्रुद्धो जह्नुस्तां गङ्गामपिबत्। पुनः भगीरथस्य प्रार्थनया जह्नुनृपेण श्रोत्राद् बहिर्निःसारिता भगीरथस्य पूर्वजान् समुद्धारयामास। अतएव 'जाह्नवी' इति कथ्यते।]

अनवरतेति। इदानीमाननं विशेषयितुमुपक्रमते। [अत्र द्वितीयान्तानि पदानि 'आननम्' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि।] अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (=निरन्तरम्) यः सोमः (=पीतसोमरसः) तस्य उद्गारः (=वायुजनित-शब्दः निगारः) तस्य यः सुगन्धिः (=सौरभवान्)

(चन्द्रमा की कला) के समान और (बुढ़ापे से) लटकती हुई चमड़ी के कारण शिथिल भौंहों से जिन मुनि की दृष्टि रोकी जा रही थी।

मन्त्र के अक्षरों के निरन्तर अभ्यास (पुनः पुनः आवृत्ति) के कारण अधर पुट (ओष्ठों) के खुले रहने से बाहर निकलने वाली दान्तों की किरणें—जो अत्यन्त उज्वल होने से मानों सत्य की अंकुर हों, अथवा (मुनि की) स्वच्छ = निर्दोष इन्द्रियवृत्तियाँ हों, मानों करुण रस की धारायें हों—उनसे (जिस मुनि का) अग्रभाग धवल कर दिया गया हो, अतः ऐसा लग रहा था मानों स्वच्छ गङ्गाजल का उद्वमन करता हुआ राजा जह्नु था, [जाबालि ऋषि जब मन्त्रोच्चारण करते हुए जप करते थे तब ओंठ खुले रहने से उनके धवल दान्तों से बाहर निकलनेवाली कान्ति ऐसी लगती थी मानों पहले गङ्गा को पी जाने वाले राजा जह्नु उसका वमन = उल्टी कर रहे हों।]

जो मुनि ऐसे मुख को धारण किए हुए थे निरन्तर (यज्ञ में पिए गए) सोमरस (की सुगन्ध)

१. क्वचित् इतः पूर्वं 'विद्यातुरैरिव' इत्यधिकः पाठः। २. करुणारस।
३. अविरत, अविरल…। ४. …निःश्वासाकृष्टैः। ५. मूर्त्तिमद्भिरिव शापाक्षरैः।

मुखभाग-सन्निहितैः[1] परिस्फुरद्भिरलिभिरविरहितम्,[2] अतिकृशतया निम्नतर-गण्ड-गर्त्तम्, उन्नततर-हनु-घोणम्, आकराल-तारकम्, अवशीर्य्यमाण-विरल-नयन-पक्ष्ममालम्,[3] उद्गत-दीर्घरोम-रुद्ध-श्रवण-विवरम् आनाभिलम्बित-कूर्च्चकलापमाननमादधानम्,—

—अतिचपलानामिन्द्रियाश्वानाम्[4] अन्तःसंयमन-रज्जुभिरिवातताभिः कण्ठनाडीभिर्निरन्त-

---

निःश्वासः (=श्वसनवायुः) तेन अवकृष्टैः (=आकर्षितैः), मूर्तिमद्भिः = शरीरिभिः, शापाक्षरैः = आक्रोशवर्णैः, इव, उत्प्रेक्षालङ्कारः। सदा = सर्वदा, मुखभागसन्निहितैः = आननस्याग्रिमप्रदेशसंलग्नैः, परिस्फुरद्भिः = सञ्चलद्भिः अलिभिः = भ्रमरैः, अविरहितम् = सहितम्। "निगारोद्गारविक्षावोद्ग्राहा निगरणादिषु।" इत्यमरः।

अतिकृशेति। अतिकृशतया = अतिशयदौर्बल्येन, निम्नतरगण्डगर्त्तम् = निम्नतरौ (=गम्भीरतरौ) गण्डगर्तौ (=कपोलाधोभागौ, कपोलावटौ) यस्मिन् तत् तादृशम्। इमानि 'आननम्' इत्यस्य विशेषणानीति पूर्वमेवोक्तम्। उन्नततर-हनु-घोणम् — उन्नततरम् (=उच्चतरम्) हनुघोणम् (=चिबुकनासिकम्) यस्मिन् तत् तादृशम्। [हनुश्च घोणा च इत्यनयोः समाहारद्वन्द्वे 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" इत्यनेनैकवद्भावः।] आकरालतारकम् = आकराले (=अतिशयभीषणे, तेजस्वितयाऽसहनीये) तारके (=कनीनिके) यस्मिन् तत् तादृशम्। अवशीर्यमाणेत्यादिः— अवशीर्यमाणा (=क्षीयमाणा) अतएव विरला (=अघना) नयनयोः (=नेत्रयोः) पक्ष्ममाला (=रोमराशिः) यस्मिन् तत् तादृशम्। उद्गतेत्यादिः—उद्गतानि (=निर्गतानि) यानि दीर्घरोमाणि (=आयतलोमानि) तैः रुद्धे (=समाच्छादिते) श्रवणयोः (=कर्णयोः) विवरे (=छिद्रे) यस्मिन् तत् तादृशम्। आनाभि-लम्बित-कूर्च्चकलापम्—अनाभि (= नाभिपर्यन्तम्) लम्बः (= प्रलम्बः) कूर्चकलापः (=आस्यलोम-समूहः) यस्मिन् तत् तादृशम्। आननम् = मुखम्, दधानम् = धारयन्तम्।

अतिचपलेति। अतिचपलानाम् = अतीवचञ्चलानाम्, इन्द्रियाश्वानाम्—इन्द्रियाणि (=हृषीकाणि) एव अश्वाः (=वाहाः) तेषाम्, अन्तःसंयमनरज्जुभिः = अन्तः (=मध्ये) संयमनरज्जुभिः (=नियमनप्रग्रहैः) इव, आतताभिः = विशालभिः [अत्रोत्प्रेक्षा, 'इन्द्रियाश्वानाम्' इत्यत्र रूपकञ्चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।] कण्ठनाडीभिः = ग्रीवास्नायुभिः, निरन्तरावनद्ध-कन्धरम् = निरन्तरम् (=सान्द्रं

के उद्गार (डकार) से सुगन्धित निश्वासों से आकृष्ट हुए (अत एव) सदैव मुख के पास रहने वाले और मंडराने वाले भौंरों से युक्त था जो (भौंरे) मानों शरीरधारी शाप के अक्षर हों, [भौंरें काले होने से शापाक्षर जैसे प्रतीत हो रहे थे।] जो मुख अत्यन्त दुर्बल होने से अत्यधिक गहरे गाल के गड्ढों वाला था, बहुत ऊपर उठी हुई ठोढ़ी और नाक वाला था, कुछ तिरछी या भयानक पुतलियों वाला था, गिरते हुए अतएव विरल पलकों के बालों वाला था, ऊपर निकले हुए लम्बे रोमों से रुंधे या बन्द हुए कर्ण-छिद्रों वाला था, और नाभि (तोंदी) तक लटकी (नढ़ी) हुई दाढ़ो को धारण किए हुए था।

—जो ऋषि ऐसे शरीर को धारण किए हुए थे जो शरीर मानों अति चंचल इन्द्रियरूपी

---

१. सन्निविष्टैः।
२. समुन्नत०।
३. अवलम्बित।
४. इन्द्रियाश्वानाम्।

रावनद्ध[1]-कन्धरम्, समुन्नत[2]-विरलास्थि-पञ्जरम्, अंसावलम्बि[3]-यज्ञोपवीतम्, वायु[4]-वशजनित-तनु-तरङ्ग-भङ्गम्, उत्प्लवमान[5]-मृणालमिव मन्दाकिनीप्रवाहम् अकलुषमङ्गमुद्वहन्तम्,—

—अमल-स्फटिक-शकल-घटित[6]मक्षवलयमत्युज्ज्वल[7]स्थूल-मुक्ताफल-ग्रथितं सरस्वतीहारमिव चलदङ्गुलि-विवर-गतमावर्त्तयन्तम्, अनवरतभ्रमित-तारका[8]चक्रमपरमिव ध्रुवम्,उन्नमता[9]

यथा स्यात् तथा) अवनद्धा (=संबद्धा) कन्धरा (=ग्रीवा) यस्मिन् तत् तादृशम् । समुन्नतेत्यादिः—समुन्नतम् (=अत्युच्चम्) विरलम् (=अनिविडम्) अस्थिपञ्जरम् (=कङ्कालम्) यस्मिन् तत् तादृशम् । अंसावलम्बि-यज्ञोपवीतम्—अंसे (=स्कन्धे) अवलम्बते (=आलम्बते) तच्छीलम्, तादृशम्, यज्ञोपवीतम् (=यज्ञसूत्रं ब्रह्मसूत्रं वा) यस्मिन् तत् तादृशम् । वायुवशेत्यादिः वायुवशेन (=पवनप्रभावेण) जनिताः (=समुत्पादिताः) तनवः (=सूक्ष्माः) तरङ्गाणाम् (=ऊर्मीणाम्) भङ्गाः (=विघटनानि) यस्मिन् तत् तादृशम् । उत्प्लवमानमृणालम्=उत्प्लवमानानि (=जलोपरविद्यमानानि, वहमानानि) मृणालानि (=कमलानि) यस्मिन् तत् तादृशम्, मन्दाकिनीप्रवाहम्=स्वर्गङ्गायाः स्रोतः, इव=तुल्यम्, अकलुषम्=अतीवस्वच्छम्, अङ्गम्=शरीरावयवम्, उद्वहन्तम्=धारयन्तम् ।

साम्प्रतं जाबालेः जपसाधनीभूतमक्षवलयं प्रतिपादयितुमाह—अमलेति । अमलेत्यादिः—अमलानि (=निर्मलानि) यानि स्फटिकशकलानि (=स्फटिकमणिखण्डानि) तैः घटितम् (=निर्मितम्) । अत्युज्ज्वलेत्यादिः अत्युज्ज्वलानि (=अतिशुभ्राणि) स्थूलानि (=पृथुलानि) च यानि मुक्ताफलानि (=मौक्तिकानि) तैः, ग्रथितम् (=गुम्फितम्), सरस्वतीहारम्=शारदामौक्तिकमाल्यम्, इव=तुल्यम्, चलदङ्गुलिविवरगतम्—चलन्तीनाम् (=सञ्चलन्तीनाम्) अङ्गुलीनाम् (=करशाखानाम्) यानि विवराणि (=छिद्राणि) तानि गतम् (=प्राप्तम्, तत्र विद्यमानमित्यर्थः) अक्षवलयम्=रुद्राक्षमाल्यगुटिकाम्, आवर्त्तयन्तम्=(=अभीष्टसंख्यापरिपूर्त्यै परिवर्त्तयन्तम्) । अतएव अनवरतभ्रमिततारकाचक्रम्—अनवरतम् (=सततम्) भ्रमितम् (=पर्यटितम्) तारकाचक्रम् (=नक्षत्रसमूहः) यस्मिन् तत् तादृशम्, अपरम्=अन्यम्, ध्रुवम्=उत्पानपादपुत्रम्, तन्नाम्ना प्रसिद्धं नक्षत्रविशेषम्, इव । यथा तारकासमूहः ध्रुवयोरन्तर्बद्धः सदा पर्येति तथैव एकासने समासीनस्य महर्षेः जपमाला सदैव सञ्चालिता वर्त्तते इत्युभयोः साम्यप्रतिपादनादुपमा, काव्यलिङ्गं द्रव्योत्प्रेक्षा चेत्येतेषां परस्परं नैरपेक्ष्येण स्थितया संसृष्टिर-

---

अश्वों को भीतर ही भीतर नियन्त्रित करने [के लिए प्रयुक्त की जाने] वाली रज्जु = लगाम के समान विस्तृत कण्ठशिराओं से युक्त ग्रीवा वाला था, ऊपर उठे हुए विरल हड्डियों के पंजर=कंकाल वाला था, जो कंधे पर लटकने वाले यज्ञोपवीत को इस प्रकार धारण किए हुए था मानो हवा के प्रभाव से उत्पन्न छोटी छोटी तरंगों के भंग (विघटन) वाला और तैरता हुआ नवीन मृणालवाला पवित्र गङ्गा का प्रवाह हो । [शरीर की ऊपर निकली हुई हड्डियाँ लहरों के समान और यज्ञोपवीत मृणाल-नाल के समान लगने से शरीर और गङ्गाप्रवाह का साम्य है । जाबालि ऐसे शरीर को धारण किए हुए थे ।]

जो मुनि निर्मल स्फटिकमणि के टुकड़ों से बनाई गई अक्षमाला—जो मानों अत्युज्ज्वल और बड़े बड़े मोतियों से गूँथा गया सरस्वती का हार हो, जो चलती हुई अँगुलियों के बीच में स्थित थी, उसे बार-बार घुमा रहे थे; [उनके हाथ की अँगुलियों के बीच में पड़ी हुई स्फटिक मणियुक्त रुद्राक्ष-

---

१. सम्बद्ध ।　२. उन्नत ।　३. अवलम्बित, लम्बियज्ञो० ।　४. अनिल ।
५. म्लानमृणालमिव ।　६. घटिताक्ष० ।　७. उज्ज्वल ।
८. तारक ।　९. उल्लसता ।

शिराजालकेन जरत्कल्पतरुमिव परिणत-लतासञ्चयेन निरन्तर-निचितम्[1], अमलेन चन्द्रांशुभिरिवामृतफेनैरिव गुणसन्तान-तन्तुभिरिव निर्म्मितेन मानस-सरो-जल-क्षालनशुचिना[2] दुकुलवल्कलेनाऽद्वितीयेनेव[3] जराजालकेन संच्छादितम्,—

—आसन्नवर्त्तिना मन्दाकिनी-सलिल-पूर्णेन त्रिदण्डोपविष्टेन स्फाटिक-कमण्डलुना[4]

लङ्कारः। [ध्रुवेण नक्षत्रमालापरिभ्रमणविषये सूर्यसिद्धान्ते उक्तम्—'भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिलैः। पर्यंत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथाक्रमम् ॥]

उन्नमतेति। परिणतलतासंचयेन = परिणतानाम् (= परिपक्वानाम्, शुष्काणामिति भावः) लतानाम् (= व्रततीनाम्) संचयेन (= समूहेन) निरन्तरनिचितम् (= सान्द्रत्वेन व्याप्तम्) जरत्कल्पतरुम् = प्राचीनकल्पपादपम्, इव = तुल्यम्, उन्नमता = ऊर्ध्वमुपगच्छता, शिराजालकेन = धमनिसमूहेन, निरन्तरनिचितम् = सान्द्रव्याप्तम्। यथा परिणतालताभिर्व्यासितस्य पुरातनस्य कल्पवृक्षस्य शोभा भवति तथैव वार्धक्याद् मांसाद्यभावेन उपरि स्पष्टं प्रतीयमानाभिर्धमनीभिर्महर्षेः शोभा भवतीति साम्यप्रतिपादनादुपमालङ्कार इति बोध्यम्।

इदानीं दुकूलवल्कलस्य वैशिष्ट्यं दर्शयति—अमलेनेति। तृतीयैकवचनान्तानि पदानि 'दुकूलवल्कलेन' इत्यस्य विशेषणानि। अमलेन = स्वच्छेन, अतएव, चन्द्रांशुभिः इव = शशि-किरणैः इव, अमृतफेनैः इव = सुधाडिण्डीरैः,इव, गुणसन्तानतन्तुभिः इव = गुणानाम् (= दयादाक्षिण्यादीनाम्) सन्तानाः (= समूहाः) त एव तन्तवः (= सूत्राणि) तैः इव, निर्मितेन = रचितेन। मानससरोजलक्षालनशुचिना—मानससरसः (= मानसाख्यसरोवरस्य) यज्जलम् (= सलिलम्) तेन यत् क्षालनम् (= धावनम्, स्वच्छीकरणम्) तेन हेतुना शुचिना (= पवित्रेण) द्वितीयेन = अपरेण, जराजालकेन = विस्रसासमूहेन, श्वैत्यात् परिणतावस्थासमूहेनेत्यर्थः, इव, दुकूलवल्कलेन = दुकूलवत् (= पट्टवस्त्रवत्) यत् वल्कलम् (= वृक्षत्वक्) तेन सञ्छादितम्। अत्र काव्यलिङ्गम्, उत्प्रेक्षे लुप्तोपमा चेत्येतेषामङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारो बोध्यः।

आसन्नेति। आसन्नवर्तिना = समीपस्थितेन, मन्दाकिनी-सलिल-पूर्णेन— मन्दाकिनी (= गङ्गा)

माला ऐसी लग रही थी मानों सरस्वती का मोतियों का हार हो।] इसलिए जो (जाबालि) निरन्तर घूमने वाले तारा के समूह वाला दूसरा ध्रुव नक्षत्र था; जो ऊपर निकली हुई (उभरी हुई) शिराओं के समूह से ऐसे व्याप्त था मानों कि पकी (सूखी) लताओं से खूब घिरा हुआ पुराना कल्पवृक्ष हो; [सूखे पेड़ में सूखी लिपटी लताओं के समान बूढ़े शरीर की शिरायें थीं।] जो मुनि निर्मल रेशमीवस्त्रसदृश वल्कल से ढँके हुए थे, जो कि मानों चन्द्रमा की किरणों से, अथवा मानों अमृत के फेनों से, अथवा मानों [दया उदारता आदि] गुण परम्परारूपी सूत्रों निर्मित था, मानसरोवर के जल से प्रक्षालित होने से स्वच्छ था, मानों अपूर्व (= अद्वितीय) जराजाल (वार्द्धक्यसमूह) था। [सफेद, पवित्र रेशमी वस्त्रतुल्य वल्कल ओढ़ने से लग रहा था कि दूसरा बुढ़ौती का समूह ओढ़ रखा हो।]

जो महर्षि अपने पास रखे हुए, गंगाजल से भरे हुए, तिपाई पर रखे हुए, स्फटिक मणि से बने हुए कमण्डलु से ऐसे शोभित हो रहे थे जैसे खिले हुए कमलों का समूह राजहंस से शोभित होता है। [मुनि का शरीर खिले कमलों जैसा और कमण्डलु राजहंस जैसा लग रहा था।]

१. अमलैः। २. क्षालित। ३. द्वितीयेनेव। ४. स्फटिक।

विकचपुण्डरीकराशिमिव[1] राजहंसेनोपशोभमानम्,—

—स्थैर्येणाचलानां,[2] गाम्भीर्येण सागराणां, तेजसा सवितुः, प्रशमेन तुषाररश्मेः, निर्म्मलतयाऽम्बरतलस्य संविभागमिव कुर्व्वाणम्,—

—वैनतेयमिव[3] स्वप्रभावोपात्त-द्विजाधिपत्यम्, कमलासनमिवाश्रमगुरुम्, जरच्चन्दनतरुमिव

तस्याः यत् सलिलम् (=जलम्) तेन पूर्णेन (=भृतेन),त्रिदण्डोपविष्टेन = त्रिदण्डः (=त्रिपादिका) तस्मिन् उपविष्टेन (=स्थापितेन) स्फाटिककमण्डलुना = स्फटिकस्येदं स्फाटिकम् (=स्फटिकमयम्) तादृशेन कमण्डलुना (=करकेण, जलाधारपात्रविशेषेण), राजहंसेन=कादम्बेन, विकसितपुण्डरीकराशिम् = प्रस्फुटित-श्वेतकमलसमूहम्, इव = तुल्यम्, उपशोभमानम् = विराजमानम् । अत्रोपमेति बहवः भानुचन्द्रस्तूत्प्रेक्षामेव स्वीचकार ।

ऋषिं पुनः प्रकारान्तरेण विशेषयितुमाह— स्थैर्येणेति । स्थैर्येण = स्थिरत्वेन, अचलानाम् = नगानाम्, गाम्भीर्येण = गाम्भीर्यगुणेन; सागराणाम् = समुद्राणाम्, तेजसा = प्रतापेन, सवितुः = सूर्यस्य, प्रशमेन = शान्त्या, तुषाररश्मेः = शिशिरकिरणस्य चन्द्रस्य, निर्मलतया = स्वच्छतया, अम्बरतलस्य = आकाशतलस्य, संविभागम् = निजवस्तुनः किंचिद्विभज्य परेभ्यः प्रदानम्, इव, कुर्वाणम् = विदधानम् । पूर्वोक्ताः गुणा अस्य महर्षेरेवासन् किन्तु तेभ्यः किञ्चिद्विभज्य सागरादिभ्यो दत्त्वेव स्थितं तमपश्यमिति भावः । अत्रातिशयोक्तेरुत्प्रेक्षायाश्च परस्परमङ्गाङ्गिभावेन स्थित्या सङ्करालङ्कार इति बोध्यम् ।

साम्प्रतं पुनर्विविधाभिरुपमाभिस्तमृषिं निरूपयति—वैनतेयमिवेति । वैनतेयम् इव = विनताया अपत्यं गरुडमिव, स्वप्रभावेत्यादिः—स्वप्रभावेण (= निजसामर्थ्येन) उपात्तम् (= समर्जितम्) द्विजानाम् (= पक्षिणाम् जाबालिपक्षे - ब्राह्मणानाम्) आधिपत्यम् (= स्वामित्वम्, प्रामुख्यं च) येन तं तादृशम् ।

कमलेति । कमलासनम् इव = ब्रह्माणमिव, आश्रमगुरुम्—आश्रमस्य (=तत्तपोवनस्य, ब्रह्मपक्षे—ब्रह्मचर्यादीनां चतुर्विधाश्रमाणाम्) गुरुः = शिक्षयिता, नियामकश्च तं तादृशम् ।

जरदिति । जरच्चन्दनतरुमिव = जरत् (=पुरातनः) यः चन्दनतरुः (=श्रीखण्डवृक्षः)

जो स्थिरता से पर्वतों का, गम्भीरता से समुद्रों का, तेज से सूर्य का, मृदुता से चन्द्रमा का और निर्मलता से आकाशतल का मानों बँटवारा करते हुए से [दिखाई दे रहे] थे । [ये सभी गुण मुनि के अपने थे उन्हें वे मानों पर्वतादि को दे रहे थे ।]

जिन्होंने विनतापुत्र गरुड़ के समान अपने प्रभाव से द्विजों (गरुड़पक्ष में—पक्षिओं और जाबालिपक्ष में ब्राह्मणों) पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया था । जो (चार) आश्रमों के गुरु (=प्रवर्त्तक) ब्रह्मा के समान (अपने) आश्रम के गुरु थे । जिस प्रकार पुराना चन्दनवृक्ष साँपों की केंचुल रूपी जटारों से व्याप्त रहता है उसी प्रकार जो मुनि सापों की केंचुल के समान उज्वल जटाओं से युक्त था । जिस प्रकार प्रशस्त गजपति खूब लटकते हुए कानों और पूँछ वाला होता है उसी प्रकार जो कानों पर (निकले हुए) लम्बे-लम्बे बालों से युक्त थे । जिस प्रकार बृहस्पति ने अपने

---

१. कमल । २. क्वचित् स्थैर्येण सागराणां गाम्भीर्येण ।
३. क्वचित् इतः पूर्वं 'सकल' इत्यधिकम् ।

भुजङ्ग-निर्म्मोक-धवलजटाकुलम्,[१] प्रशस्त-वारणपतिमिव[२] प्रलम्ब-कर्णबालम्,[३] बृहस्पतिमिवाजन्म-वर्द्धित-कचम्, दिवसमिवोद्यदर्क-बिम्ब-भास्वर-मुखम्, शरत्कालमिव क्षीणवर्षम्, शन्तनुमिव प्रियसत्यव्रतम्, अम्बिका-करतलमिव रुद्राक्ष-वलय[४]-ग्रहण-निपुणम्, शिशिर-समय-सूर्य्यमिव

वमिव, भुजङ्गनिर्मोक-धवल जटाकुलम्—भुजङ्गानाम् (=सर्पाणाम्) ये निर्मोकाः (=कञ्चुकाः) तद्वत् धवलाः (=शुभ्राः) जटाः (=सटाः) ताभिः आकुलम् (=व्याप्तम्) पक्षे—भुजङ्गनिर्मोकाः (=सर्पकञ्चुकाः) धवलाः (=श्वेताः) जटाः (=शिफाः) इव, ताभिः आकुलम् (=व्याप्तम्)। चन्दनवृक्षे सर्पा निवसन्ति। अतस्तेषु निर्मोकाः लम्बमाना धवलजटा इव प्रतीयन्ते इति भावः। कैश्चित्—भुजङ्गनिर्मोकैर्धवला जटास्ताभिराकुलं चन्दनवृक्षमिवेत्यादि व्याख्यातम्, तन्न सम्यक् चन्दन-वृक्षेषु वटादीनामिव जटानामभावादिति बोध्यम्।

प्रशस्तेति। प्रशस्तवारणपतिम् इव=प्रशस्तः (=सर्वविधशुभलक्षणोपेतः) यः वारणानाम् (=हस्तिनाम्) पतिः (=स्वामी) तम्, इव=तुल्यम्, प्रलम्बकर्णबालम्—प्रलम्बाः (=सुदीर्घाः) कर्णयोः (=श्रोत्रयोः) बालाः (=रोमानि) यस्य तं तादृशम्। वारणपतिपक्षे—प्रलम्बाः (=सु-विशालाः) कर्णौ (=श्रवणे) बालाः (=पुच्छलोमानि) च यस्य तं तादृशम्। तस्य महर्षेः कर्णयोः प्रलम्बाः केशाः आसन्निति भावः। साम्यप्रतिपादनादुपमा।

बृहस्पतिमिवेति। बृहस्पतिम् इव=सुरगुरुम् इव, आजन्मवर्द्धितकचम्—आजन्म (=जन्मकाला-दारभ्य) वर्द्धिताः (=वृद्धिं प्रापिताः कर्तनाभावादिति भावः) कचाः (=केशाः) येन स तं तादृशम्। पक्षे—जन्मकालादारभ्य वर्द्धितः (=संवर्द्धितः) कचः=एतन्नामा स्वसुतो येन तं तादृशम्। कचो बृहस्पतेः सुत आसीदिति पुराणेषु प्रसिद्धम्। "कचः केशे गुरोः सुते।' इति मेदिनी।

दिवसमिति। दिवसम्=दिनम्, इव=तुल्यम्, उद्यदित्यादिः- उद्यद् (=उदयं प्राप्नुवद्) यद् अर्कबिम्बम् (=सूर्यमण्डलम्) तद्वद् भास्वरम् (=तेजस्वि, दीप्तिमत्) मुखम् (=आननम्) यस्य तं तादृम्। पक्षे - उद्यदर्क-बिम्बेन=उद्गच्छत्सूर्यमण्डलेन भास्वरम्=प्रकाशवत् मुखम्=आदिः यस्य तं तादृशम्। अत्राप्युपमा।

शरदिति। शरत्कालम्=शरदृतुम् इव, क्षीणवर्षम् = क्षीणानि (=व्यतीतानि) वर्षाणि (=अनेकाब्दाः) येन स तं तादृशम्। पक्षे—क्षीणा (=क्षयमुपगता) वर्षा (=वृष्टिः) यस्मिन्, क्षीणं वर्षम्=वर्षणं वा—यस्मिन् स तं तादृशम्। अत्राप्युपमा।

शन्तनुमिति। शन्तनुः=भीष्मजनकः नृपः तम्, इव, प्रिय-सत्यव्रतम्=प्रियम् (=इष्टं, दयितम्)

'कच' नामक पुत्र को जन्मकाल से लेकर बढ़ाया=पाला पोसा था उसी प्रकार जिसने जन्म से अपने कच=केशों को बढ़ा रखा था। जिस प्रकार दिवस उदित होते हुए सूर्य-बिम्ब से चमकीले मुख = प्रारम्भ वाला होता उसी प्रकार जिनका मुख उदित होते हुए सूर्य की कान्ति के समान चमकने वाला था। जिस प्रकार शरत्काल क्षीण=समाप्त वर्षा वाला होता है उसी प्रकार जिसने [अपनी आयु के] अनेक वर्ष क्षीण=व्यतीत कर दिये थे। जिस प्रकार शन्तनु को सत्यव्रत=भीष्म बहुत प्रिय थे उसी प्रकार जिसे सत्यव्रत = सत्यभाषण व्रत प्रिय था। पार्वती की हथेली जिस प्रकार रुद्र=शंकर की अक्षवलय=गोल आंखों को पकड़ने=बन्द करने में निपुण है उसी प्रकार जो रुद्राक्ष की माला को पकड़ने

---

१. भुजग। २. वारणमिव। ३. कर्णतलम्, कर्णतालम्। ४. क्वचित्तु 'वलय' इदं नास्ति।

कृतोत्तरासङ्गम्, बडवानलमिव[1] संतत[2] पयोभक्ष्यम्,[3] शून्यनगरमिव दीनाऽनाथविपन्न-शरणम्, पशुपतिमिव भस्म-पाण्डु-रोमाश्लिष्ट-शरीरम्, भगवन्तं जाबालिमपश्यम्।

सत्यव्रतम् (=सत्यम् =सत्यभाषणम् एव व्रतम् = नियमः) यस्य स तम्। पक्षे—प्रियः (=दयितः, प्रेमास्पदीकृतः) प्रियव्रतः (=भीष्मः) यस्य स तं तादृशम्। अत्रोपमा।

अम्बिकेति। अम्बिकाकरतलम्—अम्बिकायाः (=दुर्गायाः) करतलम् (=हस्ततलम्) इव = तुल्यम्, रुद्राक्षवलय-ग्रहण-निपुणम्—रुद्राक्षवलयस्य (= फलविशेषाणां कटकस्य) ग्रहणे (=जपार्थमुपादाने) निपुणः (=कुशलः) तं तादृशम्। पक्षे--रुद्रस्य = शिवस्य अक्षिणी = नेत्रे, इति—रुद्राक्षे, त एव वलये तयोर्ग्रहणे = आच्छादने, निपुणम् = दक्षम्, रत्यादौ अम्बिका स्वकरतलैः शिवस्य अक्षिणी आच्छादयतीति पुराणे प्रसिद्धम्। अत्र रूपकम्।

शिशिरेति। शिशिरसमयसूर्यम्—शिशिरसमयः (= शीतकालः) तत्सम्बन्धी यः सूर्यः (=दिनकरः) तम् इव, कृतोत्तरासङ्गम्—कृतः (=विहितः, स्थापितः) उत्तरासङ्गः (=उत्तरीय-वसनम्) येन स तं तादृशम्। पक्षे- कृतः उत्तरस्या दिशः सङ्गः = संम्बन्धो येन स तं तादृशम्। मकर-सक्रान्तितः सूर्य उत्तरां दिशमाश्रयतीति साधारणजनप्रसिद्धम्।

बडवेति। बडवाऽनलम् = वाडववह्निम्, इव, सततपयोभक्ष्यम्—सततम् (=सदा) पयः (=दुग्धम्, जलं) भक्ष्यम् (=भक्षणीयम्) यस्य तं तादृशम्। पक्षे—पयः = जलम् भक्ष्यं यस्य तं तादृशम्। महर्षिः पयो=दुग्धं भक्षयति, बाडवाग्निः पयो=जलं भक्षयतीति उभयोः साम्यमिति भावः।

शून्येति। शून्यनगरम् इव=लोकरहितपुरम्, इव, दीनाऽनाथविपन्नशरणम्—दीनाः (=निर्धनाः) अनाथाः (=स्वामिरहिताः) विपन्नाः (=विपद्ग्रस्ताः) तेषां शरणम् (=रक्षकम्)। पक्षे—दीनानि (=शोभाहीनानि) अनाथानि (=निवासिस्वामिरहितानि) च शरणानि (=भवनानि) यस्मिन् तत् तादृशम्। 'शरणं गृहरक्षित्रोः।' इति (३।३।५३) अमरकोषात् शरण-शब्दो रक्षके गृहे च प्रयुज्यते।

पशुपतीति। पशुपतिः = शिवः, तम् इव, भस्मेत्यादिः—भस्मवत् (=भूतिवत्) पण्डूनि (=पाण्डुरवर्णानि) यानि रोमाणि (=लोमानि) तैः आश्लिष्टम् (=व्याप्तम्) शरीरम् (=देहः) यस्य तं तादृशम्। पक्षे—भस्मना = भूत्या पाण्डूनि यानि रोमाणि तैः आश्लिष्टं शरीरं यस्य स तं तादृशम्। शिवः स्वदेहे भस्म प्रयुङ्क्ते येन पाण्डुवर्णः प्रतीयते।, यद्वा—भस्मना पाण्डुरम् उमया आश्लिष्टं च शरीरं यस्य तं तादृशम् इव। भगवन्तम् = तपश्चर्यादैश्वर्यसम्पन्नम्, जाबालिम् = एतन्नामानम् महर्षिमपश्यम् = अवालोकयमिति क्रियया सम्बन्ध इति पूर्वमेव प्रतिपादितम्।

(जप के लिए ग्रहण करने) में अति निपुण थे। शिशिर ऋतु = समय का सूर्य जिस प्रकार उत्तर दिशा का आसंग = सम्बन्ध करता है, उत्तरायण होता है उसी प्रकार जो उत्तरासंग = उत्तरीयवस्त्र का परिधान किये हुए थे। वडवानल जिस प्रकार सदैव (समुद्र आदि के) पयः = जल को भक्षण करता रहता है उसी प्रकार जो सदैव पय = दूध का भक्षण किया करते थे। सूना नगर जिस प्रकार दीनों, अनाथों और विपन्न (विपद्ग्रस्त) लोगों के शरणों = घरों से युक्त होता है उसी प्रकार (वे जावालि) दीनों, अनाथों और विपन्नों के शरण = रक्षक थे, भगवान् शंकर जिस प्रकार भस्म से पाण्डु-वर्ण और उमा से आश्लिष्ट (आलिंगित) शरीर वाले हैं, अथवा भस्म के समान पाण्डु वर्ण वाली उमा से आलिङ्गित शरीर वाले हैं। उसी प्रकार (वे जावालि) भी भस्म से पाण्डुर वर्ण वाले रोमों से युक्त शरीर वाले थे, इस प्रकार के भगवान परम तपस्वी जावालि का दर्शन किया।

१. औवनिलमिव। २. सतत०। ३. भक्षम्।

अवलोक्य चाहमचिन्तयम्—'अहो! प्रभावस्तपसाम्[1]। इयमस्य शान्तापि मूर्तिरुत्तप्तकनकावदाता परिस्फुरन्ती सौदामनीव चक्षुषः प्रतिहन्ति तेजांसि। सततमुदासीनापि महाप्रभावतया भयमिवोपजनयति प्रथमोपगतस्य। शुष्क-नल-काश-कुसुम-निपतितानल-चटुल-वृत्ति[2]

अत्र 'वैनतेयमिवे' त्यारभ्य 'पशुपतिमिवे' त्यन्तं त्रयोदशवाक्येषु उपमालङ्कारः। सा च एकादशवाक्येषु पूर्णा। 'जरच्चन्दनतरुमिव भुजङ्गनिर्मोक-धवलजटाकुलम्' 'पशुपतिमिव भस्मपाण्डु-रोमाश्लिष्ट शरीरम्' इत्यनयोः लुप्तोपमापूर्णोपमयोः सङ्कर इति बोध्यम्।

अवलोक्येति। अवलोक्य = दृष्ट्वा, च, अहम् = शुकः, अचिन्तयम् = चिन्तितवान्। किं चिन्तितं तत्प्रतिपादयति—अहो इति। अहो = इदमाश्चर्यं, तपसाम् = तपश्चरणानाम्, प्रभावः = माहात्म्यम्। इयम् = पुरो दृश्यमाना, शान्ता = शान्तिविशिष्टा, अपि, अस्य = महर्षेर्जाबालेः, मूर्तिः = शरीरम्, उत्तप्तकनकावदाता—उत्तप्तम् = उत् (= प्रकृष्टेन) तप्तम् (= उष्णीकृतम्) यत् कनकम् (= स्वर्णम्) तद्वत् अवदाता (= निर्मला, प्रकाशमानेति भावः), परिस्फुरन्ती = देदीप्यमाना, सौदामनी = विद्युत्, इव, चक्षुषः = नेत्रस्य, नेत्रयोरिति भावः, तेजांसि = ज्योतींषि, प्रतिहन्ति = प्रतिघातं प्रापयति। यथा सौदामन्याः तेजसा नेत्रशक्तिः प्रतिहता भूत्वा तां दृष्टुं न शक्नोति तथैवास्याः मूर्तिरपि दृष्टुः नेत्राणि दृष्टुमक्तानि करोतीति भावः। उपमालङ्कारः। "मूर्तिः काठिन्यकाययोः।" अमरः ३।३।६६। "तडित् सौदामनी विद्युत्।" अमरः १।३।९। 'सौदामिनी' इत्यपि पाठः।

सततमिति। सततम् = निरन्तरम्, उदासीना = मध्यस्था, अपि, महाप्रभावतया = अत्युग्रप्रतापवत्त्वेन, प्रथमोपगतस्य = प्रथमतः समागतस्य, लोकस्य, भयम् = भीतिम्, उपजनयति इव = उत्पादयति इव। इवशब्दोऽत्रोत्प्रेक्षायाम्।

शुष्केति। तनुतपसाम्—तनु (= अल्पम्) तपः (= तपस्या) येषां ते तेषाम्, अपि, तपस्विनाम् = तापसानाम्, शुष्कनलेत्यादिः—शुष्काणि (= नीरसानि, परिपाकं प्राप्तानि) यानि नलकाशकुसुमानि (= नलेति नाम्नाविख्याततृणविशेषाः) तेषां यानि कुसुमानि (= पुष्पाणि) तेषु निपतितः (= सङ्गतः) यो अनलः (= अग्निः) तस्य इव चटुला (= चञ्चला) वृत्तिः

और [उन महर्षिको] देखकर मैं (शुक)सोंचने लगा—अहो! तपों का प्रभाव [कितना अद्भुत] है। [क्योंकि] इन (महर्षि) की शान्त भी यह मूर्ति (शरीर) तपाये गये स्वर्ण के समान स्वच्छ (चमचमाती हुई) [है इसीलिये] चमकती (चकाचौंध करती हुई) विजली के समान नेत्रों के तेज (अवलोकनशक्ति) को नष्ट कर देती है, अर्थात् आंखें इन्हें ठीक से नहीं देख पाती हैं। निरन्तर उदासीन (व्यापार-शून्य) होती हुई भी अतिशय प्रभाववाली होने के कारण, पहली बार (दर्शनार्थ) आये हुए व्यक्ति को भय-सा उत्पन्न करा देती है, पहली बार देखने वाला डरने-सा लगता है। थोड़ी-सी तपस्या करने वाले तपस्वियों का भी तेज सूखे हुए नल (= नरकुल = सरकण्डा) और कास के फूलों के बीच में गिरी हुई आग के समान चञ्चल वृत्तिवाला होता हुआ, स्वभावतः सदा असहनशील होता है। [आग जिस प्रकार सरकण्डों और कांस के फूलों में गिर कर चारों ओर फैल कर जलने लगती है, उसका दमन, नियन्त्रण कठिन होता है उसी प्रकार साधारण तपस्वियों का तेज भी किसी के द्वारा अभिभूत नहीं किया जा सकता है।] तब फिर सम्पूर्ण भुवनतल द्वारा वन्दित चरणोंवाले, निरन्तर

---

१. सौदामिनीव। २. निपतिता चटुल०।

नित्यमसहिष्णु तपस्विनां तनुतपसामपि[1] तेजः प्रकृत्या दुःसहं[2] भवति, किमुत सकल-भुवन-[3]वन्दित-चरणानामनवरत-तपः-सलिल-[4]क्षपित-मलानां कर-तलामलकवदखिलं[5] जगदालोकयतां दिव्येन चक्षुषा भगवतामेवंविधानामघ-क्षयकारिणाम्?[6] पुण्यानि हि नामग्रहणान्यपि महामुनीनां[7] किं पुनर्दर्शनानि ।

धन्यमिदमाश्रमपदमयमधिपतिर्यत्र । अथवा भुवनतलमेव धन्यमखिलमनेनाधिष्ठित-

(= प्रसरणव्यापारः) यस्य तत्, तेजः = महः, नित्यम् = सततम्, प्रकृत्या = स्वभावेन, असहिष्णु = दुःसहम् = असहनीयम् असहनशीलम्, भवति = विद्यते । एतत्कथनस्य पर्यवसितमर्थमाह—किमुतेति । सकलभुवनेत्यादिः—सकलभुवनतलेषु (=निखिललोकतलेषु) वन्दिताः (=अभिवादिताः, पूजिताः) चरणाः (=पादाः) येषां ते तेषाम्, अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (=निरन्तरम्) यत् तपः (=तपश्चरणम्) तदेव सलिलम् (=जलम्) तेन क्षपिताः (=क्षयं प्रापिताः, विनाशिताः) मलाः (=पापानि) यैस्ते तेषाम् । दिव्येन = अलौकिकेन, चक्षुषा = नेत्रेण, करतलामलकवत् = करतले (=हस्ततले) यत् आमलकम् (=धात्रीफलम्) तद्वत् = तत्तुल्यम्, अखिलम् = समस्तम्, जगत् = विश्वम्, आलोकयताम् = पश्यताम्, एवंविधानाम् = एतादृशानाम्, अघक्षयकारिणाम् = पापविनाशकानाम्, भगवताम् = षड्विधैश्वर्यवताम्. किमुत = किमाश्चर्यम् । अतोऽस्य महर्षेः प्रभावविषये न कापि शंका कार्येति भावः । [क्वचित्तु 'दुःसहम्' इति न पठ्यते । पठ्यते चेत् 'असहिष्णु' 'दुःसहम्' इत्यत्र पुनरुक्तिशंका न कार्या—अन्यदीयं तेजः असहिष्णु, परैश्चैतेषां तेजः दुःसहम्—इति व्याख्यानेन सर्वं समञ्जसम् ।] ["नडस्तु (नलस्तु) धमनः पोटगलोऽथो काशम-स्त्रियाम् । इक्षुगन्धा पोटगलः—। अमरः २।४।१६२-६३]

पुण्यानीति । हि = यतः, महामुनीनाम् = महातपस्विनाम्, नामग्रहणानि = नामोच्चारणानि, अपि, पुण्यानि = धर्मजनकानि, भवन्ति, दर्शनानि = अवलोकनानि, किं पुनः = किं वक्तव्यम्, तानि तु नूनमेव पापहारीणीति भावः । अत्रार्थापत्तिरलङ्कारः ।

धन्यमिति । इदम् = पुरोवर्त्ति, आश्रमपदम् = आश्रमस्थानम्, धन्यम् = कृतपुण्यम् । अत्रार्थे हेतुमाह—यत्रेति । यत्र = यस्मिन् आश्रमे, अयम् = एष महामुनिः, अधिपतिः = अध्यक्षो विराजते इति शेषः ।

तपस्या रूपी जल से (सभी) मलों = दोषों को नष्ट कर देने वाले, दिव्य नेत्रों से सम्पूर्ण जगत् को करतल में [रखे हुए] आंवले के फल के समान देखने वाले और पापों का विनाश करने वाले इस प्रकार के [जाबालि जैसे] भगवान् = ऐश्वर्यवान् तपस्वियों का [तेज के विषय में] तो कहना ही क्या है ? अर्थात् इनके जैसे तपस्वियों के तेज का प्रभाव अवर्णनीय है । महामुनियों के नाम लेना भी पुण्यजनक होते हैं, फिर उनके दर्शनों का [के विषय में] कहना ही क्या है ?

यह आश्रम धन्य है जहाँ पर ये (जाबालि ऋषि) अधिपति हैं । अथवा पृथिवीतल के ब्रह्मा इन महर्षि के द्वारा अधिष्ठित सम्पूर्ण पृथिवीतल ही धन्य = पुण्यशाली है । ये सभी मुनि-

१. प्रतनुतपसाम् । २. क्वचित्तु 'दुःसहम्' इदं नास्ति । ३. भुवनतल० ।
४. क्वचित् 'सलिल' इदं नास्ति । ५. करकमलतलामलकफलवत् ।
६. अघक्षयकारणानि पुण्यानि···नाम करणानि पुण्यानि नाम । ७. मुनीनाम् ।

मवनितल-कमलयोनिना। पुण्यभाजः खल्वमी मुनयो यदहर्निशमेनमपरमिव नलिनासनम-[2]पगतान्यव्यापारा मुखावलोकननिश्चलदृष्टयः[1] पुण्याः कथाः शृण्वन्तः समुपासते। सरस्वत्यपि धन्या, याऽस्य[3] तु सततमतिप्रसन्ने करुणाजल-निस्यन्दिन्यगाधगाम्भीर्य्ये रुचिर-द्विजपरिवारा[4]

अथवेति। अथवा=यद्वा पक्षान्तरे, अवनितलेत्यादिः—अवनितलस्य (=मर्त्यलोकस्य) कमलयोनिः (=ब्रह्मा), तद्रूपः, तेन, अनेन=पुरोवर्त्तिना मुनिना, अधिष्ठितम्=आश्रितम्, अखिलम्=सम्पूर्णम्, भुवनतलम्=जगतीतलम्, एव, धन्यम्=पुण्यवत्, वर्तते। सुकृती पुण्यवान् धन्यः।' इति हैमः।

साम्प्रतं तच्छिष्याणां धन्यत्वमाह—पुण्यभाज इति अमी=एते, आश्रमवासिनः, मुनयः=तपस्विनः, खलु=निश्चयेन, पुण्यभाजः=सुकृतभागिनः, सन्ति, अत्रार्थे हेतमाह—यत्=यस्मात्, अहर्निशम्=रात्रिन्दिवम्, अपरम् = अन्यम्, नलिनासनम् = कमलासनम्, ब्रह्माणम्, इव, एनम्=जाबालिम्, अपगतान्यव्यापाराः—अपगताः (= दूरीभूताः) अन्यव्यापाराः (= तद्भिन्न-कार्याणि) येभ्यस्ते तादृशाः, मुखावलोकनेत्यादिः—मुखस्य (= जाबाल्याननस्य) अवलोकने (= दर्शने) निश्चले (= निर्निमेषे) दृष्टी (=नेत्रे) येषां ते तादृशाः सन्तः पुण्याः=पवित्राः, कथाः=सदुपदेशान्, शृण्वन्तः=आकर्णयन्तः, समुपासते=सेवां कुर्वते।

एतद्वदनाश्रितायाः सरस्वत्याः धन्यत्वमाह—सरस्वतीति। सरस्वती=भारती, अपि, धन्या=पुण्यशालिनी, या=सरस्वती, तु=इदं पुनरर्थे, अस्य = पुरोवर्त्तिनो मुनेः, अतिप्रसन्ने=अतिशयेन प्रसादगुणयुक्ते, करुणाजलनिस्यन्दिनि—करुणा (=परदुःखप्रहाणेच्छा, सा) एव जलम् (=वारि) तस्य निस्यन्दिनि (=स्राविणि), अगाधगाम्भीर्ये—अगाधम् (=इयत्ताशून्यम्) गाम्भीर्यम् (= दुरवगाहस्वभावत्वमस्ति) यस्मिन् तस्मिन् तादृशे, मानसे=चित्ते। हंसीपक्षे– अगाधम् (=अतलस्पर्शम्) गाम्भीर्यम् (=गभीरता) यस्मिन् तस्मिन् तादृशे मानसे=मानसरोवरे, हंसी इव=मराली इव, रुचिरद्विजपरिवारा—रुचिराः (= सुन्दराः) द्विजाः (= छात्रीभूताः द्विजाः) एव परिवाराः (=परिजनाः) यस्याः सा सरस्वती, हंसीपक्षे—रुचिराः द्विजाः (=पक्षिणः) एव परिवाराः (=बान्धवाः) यस्याः सा तादृशी हंसी, [केचित्तु - रुचिराः द्विजाः=दन्ताः, एव परिवाराः=परिच्छदाः यस्या सा तादृशी सरस्वती—इति, तत्तु न रोचते, दन्तेषु परिच्छदत्वानौचित्यात्, तस्मात् द्विजपदेन—विप्रक्षत्रिय-

गण निश्चित रूप से पुण्यभागी हैं जो कि दिन-रात दूसरे सभी कार्यों को छोड़कर [जाबालि के] मुख का दर्शन करने में निश्चल दृष्टि वाले होते हुए, पवित्र कथायें (सदुपदेश) सुनते हुए, दूसरे ब्रह्मा के समान इन (जाबालि) की सेवा करते रहते हैं। सरस्वती भी धन्य है, जो सदैव इनके अत्यधिक प्रसन्न (= प्रसादगुणयुक्त), करुणा रूपी जल को प्रवाहित करनेवाले, अगाध गम्भीरता वाले मानस (=चित्त, मानसरोवर) में हँसी के समान सुंदर द्विजों (=पक्षियों, दाँतों, छात्रों) से घिरी हुई मुखरूपी कमल के सम्पर्क [के सुख] का अनुभव करती हुई निवास करती है। [हंसी जिस प्रकार अत्यन्त प्रसन्न=स्वच्छ जल प्रवाह वाले, अथाह गहरे मानसरोवर में अपने द्विज=पक्षियों के परिवार के साथ कमलों का सम्पर्क सुख पाती हुई रहती है उसी प्रकार सदैव प्रसन्न रहने वाले, सभी के प्रति दयादान करनेवाले अत्यन्त गाम्भीर्य युक्त मानस=जाबालि के मन में, मुखरूपी कमल-

१. मुखकमलावलोकन···। २. पर्युपासते।
३. यदस्मिन् याऽस्य। ४. रुचिरद्विजकुलपरिचये, द्विजपरिवारे।

मुखकमल-सम्पर्कसुखमनुभवन्ती[1] निवसति हंसीव[2] मानसे। चतुर्मुखकमलवासिभिश्चतुर्वेदैः[3][4] सुचिरादिवेदमपरमुचितमासादितं[5] स्थानम्। एनमासाद्य शरत्कालमिव कलि-जलद-समय-[6] कलुषिताः प्रसादमुपगताः पुनरपि जगति सरित इव सर्वविद्याः।

वैश्यरूपाश्छात्रा एव ग्राह्याः।] मुखकमलसम्पर्कम्=मुखमेव (=आननमेव) कमलम् (=पङ्कजम्) तस्य सम्पर्कम् (=सम्बन्धजन्यं सुखम्), हंसीपक्षे-मुखानि इव कमलानि तेषां सम्पर्कम्, अनुभवन्ती= साक्षात्कुर्वन्ती, निवसति=निवासं करोति। अस्य महर्षेर्मुखसम्पर्कात् सरस्वत्या अपि धन्यत्वं जायते किमुतान्येषाम्। रूपकमुपमा चात्र। "दन्तविप्राण्डजाः द्विजाः।" अमरः ३।५।१२। "स्वान्तं हृन्मानसं मनः।' अमरः १।४।३१। "मानसं सरसि स्वान्ते।" मेदिनी।

चतुर्मुखेति। चतुर्मुखेत्यादिः चत्वारि (=चतुःसंख्याकानि) यानि मुखकमलानि=वदन-पद्मानि) तत्र वासिभिः (=स्थायिभिः), चतुर्वेदैः=ऋग्यजुःसामाथर्वसंज्ञकैः, सुचिरात्=बहुकालात्, अनन्तरम्, इव, इदम्=एतत्, अपरम् = अन्यत्, उचितम् = योग्यम्, स्थानम् = आश्रयस्थानम्, आसादितम्=प्राप्तम्। कमलस्य कदाचित् संकोचत्वसम्भवेऽप्यस्य मुखस्य सदैव विकसितत्वादिदं स्थानं योग्यतरमिति भावः।

एनमिति। कलिजलद-समय-कलुषिताः—कलिः (= कलियुगः) एव जलदः (= मेघाः) तेषां समयः (=कालः) वर्षर्तुरिति भावः, तेन कलुषिताः (=मलिनीकृताः), सरित्पक्षे—कलिरिव जलदसमयः=वर्षर्तुः, तेन कलुषिताः=दूषिताः, जगति=लोके, सर्वविद्याः=चतुर्दशविद्याः, सरितः=नद्यः, इव, शरत्कालम्=शरदृतुम्, इव, एनम्=महर्षि-जाबालिम्, आसाद्य=प्राप्य, पुनरपि=भूयोऽपि, प्रसादम्= पुनःपुनरनुष्ठानेन वैशद्यम्, सरित्पक्षे — नैर्मल्यम्, उपगताः=सम्प्राप्ताः। वर्षर्तौ मलिनीभूतं सरितां जलं शरदि यथा स्वच्छतां प्राप्नोति तथैव कलिसम्पर्कजन्यदोषदूषिता अपि विद्याः अस्य संसर्गेण पुनः विस्तृताः निर्दोषाश्चाभवन्। उपमालङ्कारः। विष्णुपुराणे अष्टादश विद्याः—

"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय एव च।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव च॥

सम्पर्क का अनुभव करती हुई सरस्वती रहती है।] [ब्रह्मा के] चार मुखरूपी कमलों में रहनेवाले चारों वेदों ने बहुत समय के बाद यह दूसरा निवास-स्थान प्राप्त किया है। शरद् ऋतु के समान इन जाबालि को प्राप्त कर, कलियुगरूपी वर्षा से कलुषित सम्पूर्ण विद्याओं ने नदियों के समान संसार में पुनः स्वच्छता प्राप्त की है। [जिस प्रकार वर्षाकाल से नदियाँ गन्दे जल से कलुषित हो जाती हैं और शरद ऋतु प्राप्त करके पुनः स्वच्छ निर्मल हो जाती हैं उसी प्रकार कलियुग रूपी वर्षा ऋतु से नदी रूपी समस्त विद्यायें कलुषित हो चुकी थीं, उन्होंने पुनः जाबालि रूपी शरद् ऋतु को प्राप्त करके निर्मलता=विशदता प्राप्त की है।]

---

१. कुत्रचित् 'सुखं' नास्ति।　२. राजहंसीव।　३. चतुर्मुखमुखकमल०।
४. वेदैः, चतुर्भिर्वेदैः।　५. द्वितीयमिदम्।　६. कलिकालजलद०।

नियतमिह सर्वात्मना कृतावस्थितिना भगवता परिभूत-कलिकाल-विलसितेन धर्म्मेण न स्मर्य्यते[1] कृत-युगस्य। धरणितलमनेनाधिष्ठितमालोक्य न वहति नूनमिदानीं सप्तर्षिमण्डल-[2]निवासाभिमानमम्बरतलम्।

अहो! महासत्त्वेयं जरा, यास्य प्रलय-रवि-रश्मि-निकर[3]-दुर्निरीक्ष्ये[4] रजनिकर-किरण-[5]

नियतमिति। इह = अस्मिन् आश्रमे, सर्वात्मना = सर्वप्रकारेण, कृतावस्थितिना — कृता (= विहिता) अवस्थितिः (= निवासः) येन स तादृशेन, परिभूतेत्यादिः — परिभूतम् (= तिरस्कृतम्) कलिकालस्य (= कलिसमयस्य) विलसितम् (= चेष्टितम्) येन स तादृशेन, भगवता = माहात्म्यवता, धर्मेण = सुकृतेन, सत्ययुगस्य = कृतयुगस्य, न = नैव, स्मर्यते = चिन्त्यते। अत्र 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव' इति नियमानुरोधेन कर्मणि सम्बन्धविवक्षायां षष्ठीति बोध्यम्। यद्वा 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' (२।३।५२) इति सूत्रेणैव कर्मणि स्मरणार्थतया षष्ठीति बोध्यम्।

धरणितलमिति। अनेन = अमुना जाबालिना, अधिष्ठितम् = समाश्रितम्, धरणितलम् = भुवनतलम्, आलोक्य = दृष्ट्वा, अम्बरतलम् = गगनमण्डलम्, नूनम् = निश्चितम्, इदानीम् = अधुना, सप्तर्षिमण्डलनिवासाभिमानम् = सप्तर्षीणाम् (= कश्यपादीनाम्) यत् मण्डलम् (= समूहः) तस्य यो निवासः (= अवस्थानम्) तेन यो अभिमानः (= अहङ्कारः) तम्, न = नैव वहति = धारयतिः तत्र सप्तर्षयोऽत्र तु बहव ऋषयस्तेनास्य महत्त्वमधिकमिति भावः। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अहो इति। अहो = आश्चर्यम्, इयम् = एषा, जरा = वृद्धावस्था, महासत्त्वा = महाशक्तिमती। कथमेतज्ज्ञायते इत्यत आह — याऽस्येति। या = जरा, अस्य = पुरोवर्त्तिनः महर्षेः, प्रलयेत्यादिः — प्रलयः (= कल्पान्तकालः) तस्मिन् यो रविः (= सूर्यः) तस्य यो रश्मिनिकरः (= किरणसमूहः) स इव दुर्निरीक्ष्ये (= दुःखेन अवलोकयितुं योग्ये) महातपस्वितयेति शेषः, रजनिकरेत्यादिः — रजनिकरः (= निशाकरः, चन्द्रः) तस्य ये किरणाः (= रश्मयः) तद्वत् पाण्डवः (= श्वेताः) शिरोरुहाः (= केशाः) यस्य तस्मिन्, जटाभारे = सटासमूहे, निपतन्ती = पतनं कुर्वन्ती, पशुपतेः = शङ्करस्य

इस आश्रम में निश्चित रूप से सदा निवास करनेवाले, कलियुग की सभी चेष्टाओं को समाप्त कर देने वाले भगवान् धर्म द्वारा सत्ययुग का स्मरण नहीं किया जाता होगा। [यहाँ कलियुग का कोई प्रभाव न होने से धर्म नियमित रूप से रहता हुआ सत्ययुग की याद भी नहीं करता होगा।] यह निश्चित है कि इन जाबालि मुनि द्वारा अधिष्ठित इस पृथ्वीतल को देखकर आकाशतल इस समय सप्तर्षि-मण्डल के निवास-स्थान होने का अभिमान नहीं करता होगा।

अरे, यह वृद्धावस्था बहुत (अतिशय) बलशालिनी है, जो इन (जाबालि) के प्रलयकालीन सूर्य की किरणों के समूह के समान कष्ट से देखने योग्य [और] चन्द्रमाकी किरणों के समान सफेद केशों वाले जटा-समूह में, शिवजी के जटासमूह में फेन-पुञ्ज से धवल गंगा के समान और अग्नि के ज्वाला-

१. आलक्ष्य, अवलोक्य। २. क्वचित्तु 'मण्डल' पदं नास्ति।
३. रवि-कर०। ४. दुर्निरीक्षे। ५. रजनिकरनिकरपाण्डुरे जटाभारे।

पाण्डु-शिरोरुहे जटाभारे फेनपुञ्ज-धवला गङ्गेव पशुपतेः क्षीराहुतिरिव शिखाकलापे विभावसोर्निपतन्ती[1] न भीता।

बहलाज्य-धूम-पटल-मलिनीकृताश्रमस्य[2] भगवतः प्रभावाद्भीतमिव[3] रवि-किरणजालमपि[4] दूरतः परिहरति तपोवनम्। एते च पवन-लोल-पुञ्जीकृत-शिखा-कलापा[5] रचिताञ्जलय इवात्र मन्त्रपूतानि हवींषि गृह्णन्ति एतत्प्रीत्याशुशुक्षणयः।[6] तरलित-दुकूलवल्कलोऽयञ्चाश्रमलता-

जटाभारे, फेनपुञ्जधवला—फेनस्य (=डिण्डीरस्य) यः पुञ्जः (=समूहः) तद्वत् तेन वा धवला (=श्वेतवर्णा) गङ्गा=भागीरथी, इव, तथा विभावसोः=अग्नेः, शिखाकलापे=ज्वालासमुदाये, निपतन्ती, क्षीराहुतिः=दुग्धाहुतिः, इव, न=नैव, भीता। यथा गङ्गा शिवजटासु क्षीराहुतिश्च अग्निज्वालासु पतन्ती न बिभेति तथैव जराऽपि अस्य महर्षेर्जटाभारे समाक्रामन्ती न भीतासूत्। अत्र 'गङ्गा इव' 'क्षीराहुतिः इव' इति उपमाद्वयम्, 'प्रलयरविकर' 'रजनिकरकिरण' 'फेनपुञ्ज' इत्यत्र तिस्रो लुप्तोपमाः, एषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

बहलेति। बहलेत्यादिः—बहलाः (=प्रचुराः) ये आज्यस्य (=घृतस्य) धूमाः, (=वह्निकेतनाः) तेषां यत् पटलम् (=समूहः) तेन, मलिनीकृतः (=मलीमसीकृतः) आश्रमः (=तपस्विनिवासस्थानम्) येन यस्य वा स तस्य तादृशस्य, भगवतः=माहात्म्यवतः, जाबालेरित्यर्थः, प्रभावात्=माहात्म्यात्, भीतम् इव=प्राप्तभयम् इव, त्रस्तम् इव, उत्प्रेक्षात्र, रविकिरणजालम् = दिनकरकिरणसमूहः, अपि, तपोवनम्=तपोविपिनम्, दूरतः=दूरात्, एव, परिहरति=त्यजति। मालिन्यं यद्यपि सूर्यशत्रुस्तथापि मुनिप्रभावादत्र सूर्योऽपि तद्दूरीकर्तुं न प्रभवति। एवञ्च तत्र ग्रीष्मकालेऽपि सूर्यसन्तापो नासीदिति भावः।

एत इति। अत्र=अस्मिन् आश्रमे, पवनेत्यादिः—पवनेन (=मारुता) लोलः (=चञ्चलः) पुञ्जीकृतः (=एकत्रीकृतः) च, शिखाकलापः (=ज्वालासमूहः) येषां ते तादृशाः, एते=पुरोवर्तिनः, आशुशुक्षणयः (=अग्नयः, गार्हपत्यादयस्त्रयः), रचिताञ्जलयः—रचिताः (=विहिताः) अञ्जलयः (=करसम्पुटानि) यैस्ते तादृशाः इव, सन्तः, एतत्प्रीत्या = एतस्य (= जाबालेः) प्रीत्या (=प्रेम्णा) मन्त्रपूतानि (=मन्त्रोच्चारणेन पवित्राणि) हवींषि=हव्यवस्तूनि,घृतादीनि, गृह्णन्ति=स्वीकुर्वन्ति, सशरीमुपस्थिता भूत्वा हव्यमङ्गी-कुर्वन्तीति भावः। अत्र क्रियोत्प्रेक्षा। "क्रियावानाशुशुक्षणिः।" [अमरः १।१।५५]

तरलितेति। तरलितानि (=प्रकम्पितानि) दूकूल-वल्कलानि (=दुकूलवत्=क्षौमवसनवत्, वल्कलानि=वल्कानि) येन सः, आश्रमेत्यादिः—आश्रमे (=तपस्विनामावासे) याः लताः

समूह में दुग्ध की आहुति के समान गिरती हुई (आती हुई) भयभीत नहीं हुई। [जैसे गंगा शिव जी की जटाओं में और क्षीर की आहुति अग्नि की ज्वालाओं में गिरती हुई नहीं डरती है उसी प्रकार जाबालि के जटासमूह में आती हुई वृद्धावस्था भी नहीं डरी।]

अत्यधिक घी की [डाली गई आहुतियों के] धुयें के समूह से मलिन आश्रमवाले भगवान् जाबालि के प्रभाव से मानों भयभीत होता हुआ सूर्य का किरण-समूह भी दूरसे ही आश्रम को छोड़ देता है। [सूर्य भी मलिनता दूर करने का साहस नहीं कर पाता है।] और ये अग्नियाँ जिनकी लपटों का समूह हवा से चञ्चल और एकत्रित कर दिया गया है, वे मानों इन मुनि के स्नेह के कारण अञ्जलि बाँधकर (हाथ जोड़कर) मन्त्र द्वारा पवित्र की गई हवियों का ग्रहण करते हैं, हव्य स्वीकार

१. निष्पतन्ती। २. आश्रमपदस्य। ३. भीतभीतमिव। ४. जालकमपि। ५. पुञ्जितशिखाकलापः, शिखाजटिलः। ६. प्रतिगृह्णन्त्याशुशुक्षणयः, प्रतिगृह्णन्त्येतत्प्रवृत्याशुशुक्षणयः।

कुसुम-सुरभि-परिमलो मन्दमन्दचारी[1] सशङ्क इवास्य समीपमुपसर्पति गन्धवाहः।

प्रायो महाभूतानामपि दुरभिभवानि भवन्ति तेजांसि।[2] सर्वतेजस्विनामयञ्चाग्रणीः। द्विसूर्य्यमिवाभाति जगदनेनाधिष्ठितं महात्मना।[3] निष्कम्पेव[4] क्षितिरेतदवष्टम्भात्।

(=व्रततयः) तासां यानि कुसुमानि (=पुष्पाणि) तेषां सुरभिः (= घ्राणतर्पणः) परिमलः (=गन्धः) यस्मिन् स तादृश., मन्दमन्दचारी=शनैः शनैः सञ्चरणशीलः, गन्धवाहः=पवनः, सशङ्कः= शङ्कितः, भीतः, इव, [उत्प्रेक्षा], सन्, अस्य=महर्षेः, समीपम्=निकटम्, उपसर्पति=उपगच्छति। अत्र लुप्तोपमा उत्प्रेक्षा च।

प्राय इति। प्रायः=बाहुल्येन, महाभूतानाम् = पृथिव्यादीनां पञ्चानाम्, यद्वा सिंहादि-प्राणिनाम्, कर्तॄणाम्, अपि तेजांसि=महांसि, दुरभिभवानि=दुःखेन अभिभवितुं शक्यानि, भवन्ति= विद्यन्ते। अयम्=एषः, पुरोवर्ती मुनिः, च, सर्वतेजस्विनाम्=सकलधामवताम्, अग्रणीः=अग्रेसरः, प्रधान इति भावः। एतेनास्य तेजसोऽतिक्रमणमशक्यमिति पूर्वोक्तानां सूर्यादीनां तथाव्यवहारोपपत्तिः।

द्विसूर्यमिति। अनेन=अमुना, महात्मना = महानुभावेन, अधिष्ठितम्=आश्रितम्, जगत्= भुवनम्, द्विसूर्यम् = द्वौसूर्यौ (= रवी) यत्र तत् तादृशम्, इव, आभाति=भासते। "द्विसूर्यमिव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा।

निष्कम्पेति। एतदवष्टम्भात्=एतस्य (=अस्य महर्षेः) अवष्टम्भात् =आलम्बात्, क्षितिः= पृथिवी, निष्कम्पा=निश्चला, इव, विद्यते इति शेषः। अत्रोत्प्रेक्षा।

करते हैं। [इन महर्षि के] रेशमी वस्त्र के समान वल्कल को चञ्चल (उड़ता हुआ) कर देने वाला और आश्रम की लताओं के फूलों की सुगन्ध से सुगन्धित, धीरे-धीरे चलने वाला यह पवन मानों सशंक (भयभीत) होता हुआ इनके समीप आता है।

प्रायः महाभूतों द्वारा भी [तपस्वियों के] तेज कष्ट से ही दबाये, तिरस्कृत किये जा सकते हैं। [सामान्यतया पञ्चमहाभूतों के भी तेज कष्ट से ही तिरस्करणीय होते हैं।] और यह महर्षि तो सभी तेजस्वियों में प्रधान है। इन महात्मा के द्वारा अधिष्ठित यह संसार दो सूर्यों वाला सा प्रतीत होता है। इनके अवलम्बन से पृथिवी निश्चल (स्थिर) सी हो गई है।

विमर्श—'प्रायो महाभूतानामपि दुरभिभवानि भवन्ति तेजांसि।' इस वाक्य का अनुवाद विवाद-ग्रस्त प्रतीत होता है। यदि सम्बन्ध में षष्ठी मानते हैं तो—पृथिव्यादि पाँच महाभूतों अथवा महाबलशाली सिंहादि प्राणियों के तेज कष्ट से तिरस्कृत किये जा सकते हैं, उनकी उपेक्षा करना कठिन होता है। ये ऋषि भी महाभूत हैं, इनके तेज की भी उपेक्षा करना संभव नहीं हैं। परन्तु यह अर्थ संगत नहीं लगता है क्योंकि पूर्ववर्ती वाक्यों में सूर्य, अग्नि और वायु को भी इन महर्षि से भयभीत बताया गया है। अतः महाभूतों का तेज से सम्बन्ध ठीक नहीं लगता है। यहाँ 'महाभूताना-मपि' यह कर्तृषष्ठी माननी चाहिए और 'महाभूतैरपि तेजांसि दुःखेन अभिभवितुं शक्यानि' अर्थात्

---

१. मन्दसञ्चारी। २. तेजांसि, यतः।
३. निष्कम्पेव। ४. अवष्टम्भादेव, अवष्टम्भेन।

एष प्रवाहः[1] करुणारसस्य,[2] सन्तरणसेतुः संसारसिन्धोः, आधारः क्षमाम्भसाम्,[3] परशुस्तृष्णालता-गहनस्य, सागरः सन्तोषामृत-रसस्य,[4] उपदेष्टा सिद्धिमार्गस्य, अस्तगिरिरसद्-ग्रहकस्य,[5] मूलमुपशमतरोः, नाभिः[6] प्रज्ञाचक्रस्य, स्थितिवंशो[7] धर्म्मध्वजस्य, तीर्थं[8] सर्वविद्या-वताराणाम् वडवानलो[9] लोभार्णवस्य, निकषोपलः शास्त्ररत्नानाम्, दावानलो रागपल्लवस्य,

साम्प्रतं महर्षेर्वैशिष्ट्यं पुनः प्रतिपादयन्नाह – एष इति । एषः=पुरोवर्त्ती मुनिः, करुणारसस्य= करुणा (=दया) एव रसः (=जलम्) तस्य, प्रवाहः=ओघः, सर्वेषां कृते समानरूपेण करुणायाः सत्त्वात् । संसारसिन्धोः—ससारः (=जगत्) एव सिन्धुः (=सागरः) तस्य, सन्तरणसेतुः= सन्तरणे (= उत्तरणे, पारगमने) सेतुः (=सेतुबन्धः, आलिः) मोक्षोपयोगिज्ञानोपदेशद्वारा मुक्ति-मार्गे प्रवर्त्तकत्वात् । "सेतुरालौ स्त्रियां पुमान् ।" [अमरः २।१।१४] । क्षमाम्भसाम् = क्षमा (=क्षान्तिः अपमानादिना समुत्पन्नक्रोधादि-प्रतिबन्धः) एव अम्भांसि (=जलानि) तेषाम्, आधारः= आश्रयः । सर्वेभ्योऽपि सत्यप्यपराधे क्षमाकर्तृकत्वात् । तृष्णालतागहनस्य–तृष्णा (=विषयोपभोगलिप्सा) एव लताः (=वल्लर्यः) तासाम्, गहनस्य (=वनस्य), परशुः=कुठारः, तासां विनाशकत्वात् । ['तृष्णे स्पृहापिपासे द्वे ।' अमरः ३।१।५१इति 'गहनं काननं वनम्' इति चामरः २।४।१।] सन्तोषामृत-रसस्य=सन्तोषः (=सन्तुष्टिः) एव अमृतरसः (=पीयूषद्रवः) तस्य, सागरः=समुद्रः, सदैव सन्तुष्टत्वात् । सिद्धिमार्गस्य=सिद्धीनाम् (=अणिमादीनाम्) यद्वा सिद्धेः (=मोक्षप्राप्तेः) उपदेष्टा = उपदेशकः, तज्जिज्ञासुभ्यो मुक्तिमार्गप्राप्तिसाधनोपदेशकत्वात् । असद्ग्रहकस्य = पापग्रहसमूहस्य, अस्त-गिरिः=अस्ताचलः, अमुं प्राप्य शन्यादयोऽशुभाः ग्रहा अस्ता भवन्तीति भावः । उपशमतरोः=उपशमः (=शान्तिः) एव तरुः (=वृक्षः) तस्य, मूलम्=बुध्नः, कारणमिति भावः । प्रज्ञाचक्रस्य=प्रज्ञा (=प्रतिभा) एव चक्रम् (=चक्राख्यं वस्तु) तस्य नाभिः=मध्यदेशः, एतमाश्रित्य सर्वेषां ज्ञान-विस्तरात् । धर्मध्वजस्य – धर्मः (=सुकृतम्) एव, ध्वजः (=पताका) तस्य स्थितिवंशः = अवस्थानवेणुः, एनमाश्रित्यैव धर्मस्थितिसम्भवात् । सर्वविद्यावताराणाम्=सर्वविद्यासु (= आन्वी-क्षिक्यादिसकलविद्यासु) ये अवताराः (=प्रवेशाः) तेषाम्, तीर्थम्=घट्टः । घट्टमवलम्ब्य यथा जलादौ प्रवेशसम्भवस्तथैव एतमाश्रित्यैव विद्यासु प्रवेशसम्भवः । लोभार्णवस्य—लोभः (=लिप्सा, धनादि-सञ्चयेच्छा) एव अर्णवः (=सागरः) तस्य वडवानलः (= वाडवाग्निः), तेषां ज्वालकत्वात् ।

तेजस्वियों का तेज महाभूतों द्वारा भी कष्ट से ही दबाया=उपेक्षित किया जा सकता है । इसीलिये सूर्य अग्नि और पवन इन तेजस्वी के तेज से भयभीत रहते हैं, इनके अनुकूल ही चलते हैं ।

(अनु०) यह मुनि तो [मानों] करुणा=दयारूपी जल के प्रवाह हैं, संसाररूपी समुद्र के पार जाने के लिए पुल हैं, क्षमारूपी जल के आधार हैं, तृष्णारूपी लताओं के गहन=वन के [काटने के लिए] कुल्हाड़ी हैं, संतोषरूपी अमृतरस का सागर हैं, [मोक्षादि—] सिद्धि के मार्ग के उप-देशक = शिक्षक हैं, [शनि आदि] अशुभ ग्रहों के अस्ताचल हैं, शान्तिरूपी वृक्ष की जड़ हैं, प्रज्ञा=प्रतिभा=बुद्धि रूपी चक्र के नाभि (मध्य भाग) हैं, धर्मरूपी पताका के [आधारभूत] बांस

१. प्रभवः । २. करुणरसस्य । ३. कृपाम्भसाम् ।
४. अमृतस्य । ५. ···ग्रहस्य । ६. नेमिः ।
७. प्रसावो, प्रासावो । ८. तीर्थः । ९. वाडवानलः ।

मन्त्रः[1] क्रोधभुजङ्गस्य,[2] दिवसकरो मोहान्धकारस्य, अर्गलाबन्धो नरक-द्वाराणाम्,[3] कुलभवन-माचाराणाम्, आयतनं मङ्गलानाम्, अभूमिर्मदविकाराणाम्, दर्शकः सत्पथानाम्,[4] उत्पत्तिः साधुतायाः, नेमिरुत्साहचक्रस्य, आश्रयः सत्त्वस्य, प्रतिपक्षः कलिकालस्य, कोशस्तपसः, सखा सत्यस्य, क्षेत्रमार्जवस्य प्रभवः[5] पुण्य-सञ्चयस्य, अदत्तावकाशो मत्सरस्य, अरातिर्विपत्तेः,

शास्त्ररत्नानाम् = शास्त्राणि (=न्यायादीनि वेदादीनि वा) एव रत्नानि (=मणयः), तेषां निकषोपलः = उत्कर्षापकर्षपरीक्षणपाषाणः, विविधशास्त्रीयविषयाणां निर्णायकत्वात् । रागपल्लवस्य = रागः (= विषयानुरागः) एव पल्लवः (=किसलयम्) तस्य, दावानलः = दावाग्निः, तस्य दाहकत्वात् । क्रोधभुजङ्गस्य—क्रोधः (= उत्कटकोपः) एव भुजङ्गः (=सर्पः) तस्य, मन्त्रः = वशी-करणसाधनम्, नियामकं वा, कदापि क्रोधाभावात् । मोहान्धकारस्य—मोहः (= अज्ञानम्) एव अन्धकारः (=तमः) तस्य, दिवसकरः=सूर्यः, सर्वंविधमोहोच्छेदकत्वात् ।

एषु पूर्वोक्तेषु 'करुणारसस्य' इत्यारभ्य 'मोहान्धकारस्य' इत्येतत्पर्यन्तं सर्वत्र रूपकालङ्कारः, एकस्यैव जाबालेरनेकधोल्लेखाच्चोल्लेखालङ्कारः, अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

पुनरपि तमेव विशिनष्टि अर्गलेति । नरकद्वाराणाम् = निरयद्वाराणाम्, अर्गलाबन्धः = कपाट-बन्धीकरणकीलकः, उपदेशादिना ज्ञानोत्पत्त्या नरकप्रवेशनिवारणात् । आचाराणाम् = सदाचाराणाम्, कुलभवनम् = मूलभूतगृहम्, सदैव शास्त्रविहितसदाचाराणामनुष्ठानात् । मङ्गलानाम् = श्रेयसाम्, आयत-नम् = भवनम्, सर्वेभ्योपि मङ्गलसम्पाकत्वात् ।

अभूमिरिति । मदविकाराणाम् = अहङ्कारवृत्तीनाम्, अभूमिः = अस्थानम्, ऊषरक्षेत्रम्, अभि-मानशून्यत्वात् । सत्पथानाम् = सन्मार्गाणाम्, दर्शकः = उपदेष्टा, सर्वज्ञत्वात् । साधुतायाः = परकीय-हितसाधकतायाः, सुजनतायाः, उत्पत्तिः = उद्गमस्थलम्, सर्वेषां हितसाधकत्वात् । उत्साहचक्रस्य = उत्साहः (=प्रगल्भता, उद्योगः) एव, चक्रम् , तस्य नेमिः = प्रधिः, उत्साहस्याधार इति भावः । सत्त्वस्य = सत्त्वगुणस्य, आश्रयः = आलम्बनम्, रजस्तमसोः कदाप्यभावात् । कलिकालस्य=कलिसमयस्य, प्रतिपक्षः = शत्रुः, कदापि पापाचरणाभावात् । तपसः = तपश्चरणस्य, कोशः = भाण्डागारम्, तपः परि-पूर्णत्वात् । सत्यस्य = ऋतस्य, सखा = मित्रम्, सदैव सत्यभाषकत्वात् । आर्जवस्य = सरलतायाः, क्षेत्रम् = उत्पत्तिस्थलम्, सदैव सारल्यप्रदर्शनात् । पुण्यसञ्चयस्य = सुकृतसमूहस्य, प्रभवः = प्रथमप्रकाश-

हैं, समस्त विद्याओं के प्रवेश के तीर्थ = घाट हैं, लोभरूपी समुद्र के वडवानल हैं, शास्त्ररूपी रत्नों के कसौटी के पत्थर हैं, राग = विषयाभिलाषरूपी पल्लवों के दावानल हैं, क्रोधरूपी सर्प के (वशी-करण) मन्त्र हैं मोहरूपी अधंकार के सूर्य हैं, नरक के द्वारों के [बन्द करने वाले] अर्गलाबन्ध (सांकड़) हैं, सदाचारों के कुलभवन = मूलगृह हैं, मङ्गलों के गृह = निवास हैं, मद = अहंकार के विकारों की अभूमि = उत्पन्न न करने वाली भूमि हैं, (इनमें मोहविकार कभी नहीं उत्पन्न होते हैं), सन्मार्गों के प्रदर्शक हैं, सज्जनता की उत्पत्ति = उद्गम स्थान हैं, उत्साहरूपी चक्र की नेमि = आश्रयभूत स्थान है, सत्त्वगुण के आधार हैं, कलियुग के शत्रु हैं, तपस्या के कोष = खजाना है, सत्य के सखा (मित्र) हैं, सरलता के क्षेत्र (= उत्पत्तिस्थान) हैं, पुण्यसमूह के प्रभव = प्रथम

१. महामन्त्रः । २. भुजङ्गमस्य ।
३. नरकपुरद्वाराणाम् । ४. आदर्शः सर्वविद्यानामुत्पत्ति । ५. प्रसवः, प्रभावः ।

अस्थानं परिभूतेः,[1] अननुकूलोऽभिमानस्य, असम्मतो दैन्यस्य, अनायत्तो रोषस्य, अनभिमुखः सुखानाम् ।

अस्य भगवतः प्रभावादेवोपशान्तवैरमपगतमत्सरं[2] तपोवनम् ।

अहो ! प्रभावो महात्मनाम् । अत्र हि शाश्वतिकमपहाय विरोधमुपशान्तात्मान-[3]स्तिर्य्यञ्चोऽपि तपोवन-वसति-सुखमनुभवन्ति । तथा हि—एष विकचोत्पलवन-रचनानुकारिण-[4]

स्थानम्, सर्वेषां पुण्योत्पादनात् । मत्सरस्य = ईर्ष्यायाः, अन्यशुभद्वेषस्य, अदत्तावकाशः = न दत्तः (= प्रदत्तः) अवकाशः (= स्थानम्, स्वस्मिन्) येन सः, कस्यापि द्वेषाचिन्तनात् । विपत्तेः = आपदः, अरातिः = शत्रुः स्वतेजसैव सर्वविपत्तिदूरकरणे समर्थत्वात् । परिभूतेः = अनादरस्य, अस्थानम् = अपदम्, केनापि तं प्रति, तेन वा कमपि प्रति अनादरानाचरणात् । अभिमानस्य = अहङ्कारस्य, अननुकूलः = प्रतिकूलः, तस्य निवारकत्वात् । दैन्यस्य = दीनतायाः, असम्मतः = अनभीष्टः, सदैव सम्पन्नत्वात् । रोषस्य = क्रोधस्य, अनायत्तः = अनधीनः, दुराचरणेऽप्रवृत्तत्वात्, ["अधीनो निघ्न आयत्तः ।" अमरः ३।१।१६] सुखानाम् = सांसारिकसौविध्यानाम्, अनभिमुखः = पराङ्मुखः, तद्विषयकेप्साऽभावात्, तपश्चरणाच्च । अतिशयोक्तिः ।

अस्येति । अस्य = पुरो दृश्यमानस्यामुष्य, भगवतः = ऐश्वर्यवतः, माहात्म्यवतः मुनेः, प्रभावात् = महात्म्यात्, एव, इदम्, तपोवनम् = तापसनिवासकाननम्, उपशान्तवैरम्—उपशान्तम् (= विनष्टम्) वैरम् (= परस्परविरोधादिकम्) यत्र तत् तादृशम्, तथा, अपगतमत्सरम् = अपगतः (= दूरीभूतः) मत्सरः (= अन्यशुभद्वेषः) यस्मात् तत् तादृशं 'विद्यते' इति शेषः ।

पूर्वोक्तार्थे साधारणकारणानि प्रदर्शयितुमाह—अहो इति । अहो = आश्चर्यम्, महात्मनाम् = महानुभावानाम्, प्रभावः = माहात्म्यम् । एतदेव विशेषेण वर्णयति—अत्रेति । हि = यस्मात् हेतोः, अत्र = अस्मिन् तपोबने, तिर्यञ्चः = पक्षिणः, अपि, शाश्वतिकम् = सदातनम्, विरोधम् = शत्रुताम्, अपहाय = परित्यज्य, उपशान्तात्मानः = उपशान्तः (= शान्तिमधिगताः मिथोविरोधशून्याः) आत्मानः (= अन्तःकरणानि) येषां ते तादृशाः सन्तः, तपोवन-वसति-सुखम्—तपोवने (= तपश्चरण-

---

प्रकाशस्थान हैं, ईर्ष्या को कभी भी स्थान न देने वाले हैं, विपत्ति के शत्रु हैं, अभिमान के प्रतिकूल रहनेवाले हैं, दीनता के असम्मत हैं, (दीनता इनके पास कभी नहीं आती है ।) क्रोध के अधीन नहीं है, सांसारिक सुखों के पराङ्मुख, न चाहने वाले हैं ।

इन भगवान् जाबालि के प्रभाव के कारण ही यह तपोपन शान्त वैरभाव वाला और दूर हुई ईर्ष्यावाला है [इनके प्रभाव से ही वैर और ईर्ष्या यहाँ नहीं हैं ।]

आश्चर्य है, महात्माओं का प्रभाव [कैसा अद्भुत होता है] । क्योंकि इस आश्रम में तिर्यग्गण (पशु पक्षी आदि) भी अपना सनातन (स्वाभाविक) विरोध छोड़ कर शान्तात्मा होते हुए तपोवन-निवास के सुख का अनुभव करते हैं । जैसा कि—सूर्य की प्रचण्ड धूप से व्याकुल होता हुआ यह सांप खिले हुए कमलवन की रचना का अनुकरण करने वाले, (उसके समान दिखाई देने वाले), निकले हुए सैकड़ों चन्द्रकों (पंखों) वाले, हिरनों के नेत्रों की कान्ति के समान चितकबरे और नई उगी

---

१. अवशो विषयाणामनभिमुखः, अनवकाशो विषयाणामनभिमुख इत्युभयविधः पाठः क्वचित् समुपलभ्यते । २. प्रसादादेवैतदभ्युपशान्तवैरम् ।
३. उपशान्तान्तरात्मानः । ४. उत्पलिनीवनानुकारिणम् ।

मुत्पतच्चारुचन्द्रकशतं हरिण-लोचन-द्युति-शबलमभिनव-शाद्वलमिव विशति शिखिनः कला-पमातपाहतो निःशङ्कमहिः। अयमुत्सृज्य मातरमजातकेसरैः केसरिशिशुभिः सहोपजातपरि-चयः क्षरत्क्षीरधारं पिबति कुरङ्ग-शावकः सिंहीस्तनम्। एष मृणाल-कलापाशङ्किभिः शशिकर-

कानने) वसतिः (=निवासः), तस्य सुखम् (=आनन्दम्) अनुभवन्ति =अनुभवविषयीकुर्वन्ति। एतदेवोपपादयितुमाह—तथाहीति। तथाहि =पूर्वोक्तमेवं वेदितव्यम्। एषः =पुरोवर्त्ती, अहिः = सर्पः, आतपाहतः—आतपेन (=सूर्यघर्मेण) आहतः (=पीडितः, सन्तप्तः) सन्, विकचेत्यादिः—विकचानि (=विकसितानि) यानि उत्पलानि (=कमलानि) तेषां वनस्य (=विपिनस्य) या रचना (= विनिर्मितिः) तामनुकर्तुं शीलं यस्य तं तादृशम्, उत्पतदित्यादिः—उत् (=ऊर्ध्वम्), पतत् (=गच्छत्), चारु (=सुन्दरम्) चन्द्रकाणाम् (=मेचकानाम्) शतम् (=समूहः) यस्मिन् तं तादृशम्; हरिणेत्यादिः—हरिणानाम् (=मृगाणाम्) यानि लोचनानि (=नेत्राणि) तेषां तेषु वा या द्युतिः (=कान्तिः) तया, सा इव वा, शबलम् (=कर्बुरम्) अभिनवशाद्वलम् =अभिनवाः (=प्रत्यग्राः, सद्यः समुत्पन्नाः) शादाः (=शष्पाणि) सन्ति अस्मिन् सः =हरिततृण-प्रदेशः तम्, इव, शिखिनः =मयूरस्य, कलापम् = बर्हम्, निःशङ्कम् =निर्भयम्, विशति =प्रविष्टो भवति। एवञ्चात्र सर्पमयूरयोर्विरोधो न क्वापि विद्यते। ['कलापो भूषणे बर्हे··· ।' अमरः ३।३।१२९]

अयमिति। अयम् =पुरो दृश्यमानः, कुरङ्गशावकः = मृगशिशुः, मातरम् = निजजननीम्, उत्सृज्य =त्यक्त्वा, अजातकेसरैः—अजाताः (=अनुत्पन्नाः) केसराः (=ग्रीवास्थितकेशाः, सटाः) येषां ते तैस्तादृशैः, केसरिशिशुभिः =सिंहशावकैः, सह =सार्धम्, उपजातपरिचयः— उपजातः (=समुत्पन्नः) परिचयः (=संस्तवः) यस्यैवम्भूतः सन्, क्षरत्क्षीरधारम् = क्षरन्ती (=स्रवन्ती) क्षीरस्य (=दुग्धस्य) धारा (=प्रवाहः) यस्मात् तं तादृशम्, सिंहीस्तनम् (=केसरिणीकुचम्) पिबति= धयति, 'पेट् पाने' लटि रूपम्। एवञ्च सिंहीमृगशावकयोरपि विरोधोऽत्र न दृश्यते।

एष इति। एषः =पुरोवर्त्ती, मृगपतिः—मृगेन्द्रः, सिंहः, मृणालकलापाशङ्किभिः—मृणालानाम् (=बिसानाम्) कलापम् (=समूहम्) आशङ्कन्ते (=विभावयन्ति) तच्छीलास्तैस्तादृशैः, द्विरद-कलभैः =गजशावकैः, आकृष्यमाणम् =अवकृष्यमाणम्, शशिकरधवलम् =चन्द्रकिरणमिव श्वेतम्, सटा-भारम् =जटासमूहम्, आमीलितलोचनः =आ (= ईषत्) मीलिते (= निमीलिते, अनुद्घाटिते) लोचने (=नेत्रे) यस्य येन वा स तादृशः सन्, बहु = अधिकम्, मन्यते = जानाति, कोपमकृत्वा

हुई घास वाले भूभाग के समान [दिखाई देने वाले] मयूरपंखों में निर्भय होकर प्रविष्ट हो रहा है। यह हिरन का बच्चा, जिसका अनुत्पन्न केसरों वाले (जिनकी ग्रीवा के बाल अभी नहीं निकले हैं ऐसे) सिंह के बच्चे से परिचय हो गया है, [यह हिरन का बच्चा] अपनी माता को छोड़कर, दूध की धार बहाने वाले, सिंहिनी के स्तनों को पी रहा है। यह सिंह, चन्द्रमा की किरणों के समान सफेद[अपने] केसर-समूह को मृणाल का समूह समझ कर हाथी के बच्चों द्वारा खींचे जाते हुए [देखकर], आखों

१. प्रविवसति, आवसति। २. कलापमाहतः।
३. अनुपजातकेसरैः। ४. प्रक्षरत्०।
५. आपिबति। ६. मृणालशङ्किभिः। ७. शिशिरकर, शिशिरकलापकर।

धवलं सटाभारम्[1] आमीलितलोचनो बहु मन्यते द्विरदकलभै[2]राकृष्यमाणं मृगपतिः। इदमिह कपिकुलमपगत-चापलमुपनयति मुनि-कुमारकेभ्यः[3] स्नातेभ्यः फलानि। एते च न निवारयन्ति मदान्धा अपि गण्डस्थलीभाञ्जि मदजल-पाननिश्चलानि मधुकरकुलानि सञ्जातदयाः[4] कर्णतालैः करिणः।

किं बहुना, तापसाग्निहोत्रधूमलेखाभिरुत्सर्पन्तीभिरनिशमुपपादित[5]कृष्णाजिनोत्तरासङ्गशोभा[6] फलमूलभृतो वल्कलिनो[7] निश्चेतनास्तरवोऽपि सनियमा इव लक्ष्यन्तेऽस्य भगवतः[8]।

तत्रादरं करोति। एवञ्च सिंह-द्विरदशावकयोरविरोधोऽत्र।

इदमिति। इह = अस्मिन् तपोवने, इदम् = सन्निकटतरविद्यमानं, पुरोवर्त्ति, कपिकुलम् = वानरसमुदायः, अपगतचापलम् = अपगतम् (= नष्टं दूरीभूतं वा) चापलम् (= चाञ्चल्यम्) यस्मात् तत्, तादृशं सत्, स्नातेभ्यः = विहितमज्जनादिभ्यः, मुनिकुमारकेभ्यः = ऋषिबालकेभ्यः, फलानि = सस्यानि, उपनयति = प्रददाति, तेषां भक्षणायेति भावः। स्वयमभुक्त्वा बालकेभ्यः प्रदानेन परस्परं प्रीति-प्रदर्शनं भवति।

एत इति। मदान्धाः = मदेनोन्मत्ताः, अपि, एते = पुरो वर्तमानाः, करिणः = गजाः, गण्डस्थलीभाञ्जि = कपोलफलकस्थितानि, मदजलपाननिश्चलानि = मदजलस्य (= दानवारिणः) यत् पानम् (= आस्वादनम्) तेन निश्चलानि (= चाञ्चल्यरहितानि) मधुकर-कुलानि = भ्रमरसमूहान्, सञ्जातदयाः—सञ्जाता (= उत्पन्ना) दया (= करुणा) येषां ते तादृशाः सन्तः, कर्णतालैः = श्रवणचपेटैः, न = नैव, निवारयन्ति = दूरीकुर्वन्ति। गजास्तेषां भ्रमणं सहन्ते इति भावः।

किं बहुनेति। बहुना = अधिकेन, जल्पितेन, किम्, संक्षेपेणैवोच्यते इत्यर्थः। अनिशम् = निरन्तरम्, उत्सर्पन्तीभिः = ऊर्ध्वं प्रसरन्तीभिः, तापसाग्निहोत्रधूमलेखाभिः—तापसानाम् (= तपस्विनाम्) यानि अग्निहोत्राणि (= यागविशेषाः) तेषां या धूमलेखाः (= धूमपंक्तयः) ताभिः, उपपादितेत्यादिः—उपपादिताः (= विहिताः) कृष्णाजिनम् (= कृष्णमृगचर्म) एव उत्तरासङ्गः

को कुछ नीचे किए हुए बहुत मान रहा है, आनन्द ले रहा है। यहाँ यह बन्दरों का समूह अपनी चञ्चलता को छोड़ता हुआ, स्नान किये हुए मुनिकुमारों को फल [लाकर] दे रहा है। और ये हाथी मदमत्त होते हुए भी अपनी कनपटिओं पर बैठे हुए और मदजल पीने के कारण निश्चल भौरों के समूह को, दयायुक्त होते हुए, अपने कर्णतालों (कानों की फड़फड़ाहट) द्वारा नहीं हटा रहे हैं।

अधिक कहने से क्या ? इन जाबालि मुनि के अल्पचेतनावाले वृक्ष भी फलमूलभृत् [१. फलों और मूलों को धारण करने वाले, २. फलों और मूलों से जीविकानिर्वाह करने वाले] वल्कलयुक्त [१. छाल से युक्त २. वल्कल पहने हुए] तथा ऊपर की ओर उठती हुई, तपस्वियों के अग्निहोत्र के धुयें की पंक्तियों से दिन-रात कृष्णमृगचर्म से बने हुए उत्तरीय-वस्त्र को पहनने की शोभा को सम्पादित करने वाले होते हुए नियमव्रत धारण करने वाले से प्रतीत होते हैं। तब फिर सचेतन मानवादि प्राणियों की तो बात ही क्या है। [जिस प्रकार कोई नियमानुष्ठान करने वाला फल और

---

१. जटाभारम्। २. कलभकैः। ३. कुमारेभ्यः। ४. जातदयाः।
५. उत्सर्पन्तीभिरुपपादित, सर्पन्तीभिरहर्निशमुपपादित। ६. शोभनाः। ७. वल्कलिनस्तरवः।
८. इवास्य भगवतः समीपवर्त्तिनोऽत्र लक्ष्यन्ते, इव लक्ष्यन्तेऽस्य भगवतः समीपवर्त्तिनः।

किं पुनः सचेतनाः प्राणिनः[1]।

एवं चिन्तयन्तमेव मां तस्यामेवाशोकतरोरधश्छायायामेकदेशे[2] स्थापयित्वा हारीतः पादावुपगृह्य कृताभिवादनः पितुरनतिसमीपवर्त्तिनि कुशासने समुपाविशत्। आलोक्य तु मां सर्व एव मुनयः[3] कुतोऽयमासादितः शुकशिशुः' इति तमासीनमपृच्छन्। असौ तु तानब्रवीत्—'अयं

(=प्रावारः) तस्य शोभा इव शोभा येषां ते तादृशाः, तथा, फलमूलभृतः—फलानि (= सस्यानि) मूलानि (=कन्दानि) च बिभ्रति (=धारयन्ति) ते तादृशाः, वल्कलिनः = वल्कलयुताः, निश्चेतनाः = अल्पचैतन्यविशिष्टा, अस्य = जाबालेः, तरवः = वृक्षाः, अपि, सनियमाः =व्रतिनः, इव, लक्ष्यन्ते = दृश्यन्ते। सचेतनाः =उत्कटचैतन्ययुताः, प्राणिनः =जीवाः, मानवादयः, किं पुनः =किं तेषां वक्तव्यम्। अत्र वृक्षाणां निश्चेतनत्वं तु प्रकटचैतन्यमादायैव बोध्यम्। अन्तःसंज्ञत्वं तु वृक्षादीनां मनुना स्पष्टमेव प्रतिपादितम्—

"तमसा बहुरूपेण वेष्टिता कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥ (मनु० १।४९)

अत्र 'कृष्णाजिनोत्तरासङ्ग-शोभा' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'सनियमा इव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा चैत्यनयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

एवमिति। एवम् =पूर्वोक्तरूपेण, चिन्तयन्तम्=विचारयन्तम्, एव, माम् =शुकम्, वैशम्पायनम्, तस्याम्=पूर्वनिर्दिष्टायाम्, अशोकतरोः =अशोकवृक्षस्य, अधश्छायायाम् =निम्नवर्त्तिछायाम्, अनातपे, एकदेशे = एकस्मिन् भागे, स्थापयित्वा =संस्थाप्य, हारीतः =एतन्नामा पूर्वोक्तो मुनिकुमारकः, पादौ= स्वपितुः जाबालेश्चरणौ, उपगृह्य =धृत्वा, पादयोः निपत्येति भावः, कृताभिवादनः—कृतम् (=विहितम्) अभिवादनम् (=प्रणामः) येन स तादृशः, पितुः =स्वजनकस्य, अनतिसमीपवर्त्तिनि =नातिनिकटवर्तिनि, किञ्चिद्दूरे विद्यमाने इति भावः, शासने =दर्भविष्टरे, समुपाविशत् =समुपविष्टः।

आलोक्येति। माम् =शुकम्, आलोक्य =दृष्ट्वा; तु, सर्वे =समस्ताः, एव मुनयः =ऋषयः, 'अयम् =पुरोवर्त्ती, शुकशिशुः = कीरशावकः, कुतः =कस्मात् प्रदेशात्, आसादितः = प्राप्तः, आनीत इति भावः, इति =एवं प्रकारेण, आसीनम् =समुपविष्टम्, तम् =हारीतम्, अपृच्छन् =अप्राक्षुः।

असाविति। असौ =एष हारीतः, तु =अपि, पुनः वा, तान् =मुनीन्, अब्रवीत् =अवोचत्।

मूल खाता है, वल्कल पहनता है और कृष्णमृगचर्म ओढ़ता है उसी प्रकार यहाँ के वृक्ष भी फलों और मूलों वाले है, वल्कल =छाल वाले हैं और तपस्वियों के यज्ञ होम से उठे हुए धुएँ की पंक्ति से मानों कृष्णमृगचर्म भी धारण किये हुए हैं। वृक्षादि में अन्तश्चैतन्य माना जाता है। अतः निश्चेतनाः= अल्प या अप्रकट चैतन्यवाले वृक्ष—यह अर्थ समझना चाहिए।]

इस प्रकार से सोचते हुए ही मुझे अशोकवृक्ष की उसी छाया में एक स्थान पर रखकर हारीत [अपने] पिता के चरणों को छूकर अभिवादन करके अपने पिता से बहुत अधिक पास नहीं अर्थात् कुछ दूर पर कुशों के आसन पर बैठ गया। किन्तु मुझे देखकर सभी मुनियों ने बैठे हुए उस (हारीत) से पूछा—"यह तोते का बच्चा कहाँ से पाया।" उस (हारीत) ने उन मुनियों से कहा—"यहाँ

१. प्राणिन एवम्। २. तस्यैव रक्ताशोकतरोश्छायायाम्।
३. मां ते मुनयः सर्व एव।

मया स्नातुमितो गतेन कमलिनीसरस्तीर-तरु-नीड-पतितः[1] शुक-शिशुरातपजनित-क्लान्तिरुत्तप्त-पांसुपटल-मध्यगतो दूर-निपतन[2]-विह्वल-तनुरल्पावशेषायुरासादितः, तपस्विदुरारोहतया च[3] तस्य वनस्पतेर्न शक्यते स्वनीडमारोपयितुमिति जातदयेनानीतः। तद्यावदयमप्ररूढ-पक्षति-रक्षमोऽन्तरिक्षमुत्पतितुम्[4], तावदत्रैव कस्मिंश्चिदाश्रमतरुकोटरे मुनिकुमारकैरस्माभिश्चोपनीतेन नीवार-कण-निकरेण विविध[5]फलरसेन च संवर्द्धयमानो धारयतु जीवितम्। अनाथ-परिपालनं

किमवोचदित्याह—अयमिति इतः = अस्मादाश्रमात्, स्नातुम् = निमज्जनाय, गतेन = प्रयातेन मया = हारीतेन, कमलिनीत्यादिः—कमलिनीसरः (= पद्ममयसरोवरम्) तस्य यः तीरतरुः (= तटवृक्षः) तस्मिन् यः नीडः (= कुलायः) तस्मात् पतितः (= स्रस्तः)। आतपेत्यादिः—आतपः (= सूर्यघर्मः) तेन जनिता (= उत्पादिता) क्लान्तिः (= शरीरपीडा) यस्य स तादृशः। उत्तप्तेत्यादिः—उत्तप्तम् (= सन्तप्तम्) यत् पांशुपटलम् (= धूलिनिकरः) तस्य मध्यगतः (= अभ्यन्तरस्थितः)। दूरेत्यादिः—दूरात् (= विप्रकृष्टदेशात्) यत् निपतनम् (= अधोदेशागमनम्) तेन विह्वला (= व्याकुला) तनुः (= देहः) यस्य स तादृशः। अल्पावशेषायुः = अल्पम् (= किञ्चिदेव) अवशेषम् (= अवशिष्टम्) आयुः (= जीवितम्, जीवनकालः) यस्य सः तादृशः, अयम् = सन्निकटस्थः, शुकशिशुः = कीरशावकः, आसादितः = प्राप्तः। तस्य = पूर्वोक्तस्य, च, वनस्पतेः = शाल्मलीवृक्षस्य, तपस्विदुरारोहतया— तपस्विभिः (= तापसैः), दुरारोहत्वया (= दुःखेनारोढुं शक्यतया) स्वनीडम् = शुकस्य निजकुलायम्, आरोपयितुम् = स्थापयितुम्, न = नैव, शक्यते = पार्यते, इति = अस्मात् कारणात्, जातदयेन = जाता (= उत्पन्ना) दया (= करुणा) यस्य स तादृशेन सता मया, अत्र, आनीतः = आनायि, प्रापितः अत्राश्रमे इति शेषः।

तद्यदिति। तत् = तस्मात् कारणात्, यावत् = यावत्समयम्, अयम् = एषः शुकशिशुः, अप्ररूढपक्षतिः = अप्ररूढे (= अनुत्पन्ने) पक्षती (= पक्षमूले) यस्य सः, अतः, अन्तरिक्षम् = गगनम्, उत्पतितुम् = उड्डीय गन्तुम्, अक्षमः = असमर्थः, तावत् = तावत्समयपर्यन्तम्, अत्रैव = अस्मिन्नेव, कस्मिंश्चित् = कुत्रचित्, आश्रम-तरुकोटरे = मुनिवसतिवृक्षनिष्कुहे, मुनिकुमारकैः = ऋषिबालकैः, अस्माभिश्च उपनीतेन = समानीतेन, नीवारकणनिकरेण = मुन्यन्नसस्यसमूहेन, विविधफलरसेन = अनेकविध-सस्यद्रवेण

(आश्रम) से [सरोवर में] स्नान करने के लिए जाते हुए मैंने— कमलिनी-सरोवर के किनारे वाले वृक्ष के घोसले से गिरे हुए, धूप के द्वारा उत्पन्न व्याकुलता वाले, तपी हुई (गरम) धूलि-समूह के बीच में पड़े हुए, दूर से गिरने के कारण विह्वल (परेशान) शरीर वाले, और थोड़े ही बचे हुए जीवन वाले अर्थात् मरणासन्न—इस तोते को प्राप्त किया है, उस (शाल्मली) वृक्ष पर [बहुत ऊँचा होने से] तपस्वियों द्वारा चढ़ना बहुत कठिन था इस लिए इस को अपने घोसले में नहीं रखा जा सकता था, अतः दयायुक्त होते हुए मैं [यहाँ] ले आया। तो जब तक पंख अच्छी तरह से न निकलने के कारण यह आकाश में उड़ने में समर्थ नहीं हो पाता तब तक यहीं पर आश्रम के किसी वृक्ष के कोटर में, मुनिकुमारों द्वारा और हमारे द्वारा लाये गए नीवार के कणसमूहों से और अनेक प्रकार के फलों के रसों से बढ़ाया (पाला) जाता हुआ जीवन धारण करे, जीवित रहे, क्योंकि अनाथों का परिपालन करना

---

१. ...शिरस्तरुः सरसस्तीर-तरुनीडपतितः। २. दूरनिपतित। ३. क्वचित्तु नेदं पठ्यते। ४. अन्तरीक्षम्। ५. क्वचित्तु 'विविध' इति न दृश्यते।

हि धर्म्मोऽस्मद्विधानाम्[१]। उद्भिन्नपक्षतिस्तु गगनतल-सञ्चरण[२]समर्थो यास्यति यत्रास्मै[३] रोचिष्यते। इहैव वोपजात-परिचयः[४] स्थास्यति।'

इत्येवमादिकमस्मत्संबद्धमालापमाकर्ण्य[५] किञ्चिदुपजात-कुतूहलो[६] भगवान् जाबालि-रीषदावलितकन्धरः पुण्यजलैः प्रक्षालयन्निव मामतिप्रशान्तया[७] दृष्ट्या दृष्ट्वा सुचिरमुपजात-प्रत्यभिज्ञान[८] इव पुनः पुनर्विलोक्य 'स्वस्यैवाविनयस्य फलमनेनानुभूयते' इत्यवोचत्।

च, संवर्द्धमानः = वृद्धिं प्राप्यमाणः, जीवितम् = जीवनम्, धारयतु = दधातु, जीवत्वित्यर्थः। हि = यस्मात् कारणात्, अस्मद्विधानाम् = अस्मादृशानां मुनीनाम्, अनाथपरिपालनम् = अशरणसंरक्षणम्, धर्मः = आचारः, कर्त्तव्यमिति भावः। उद्भिन्नपक्षतिः = उद्भिन्ने (= प्रकटिते, स्फुटे) पक्षती (= पक्षमूले) यस्य स तादृशः सन्, तु, गगनेत्यादिः—गगनतले (= नभस्तले) यत् सञ्चरणम् (= सञ्चारः, उड्डयनमित्यर्थः) तत्र समर्थः (= शक्तः) सन्, यत्र = यस्मिन् स्थाने, अस्मै = शुकाय, रोचिष्यते = अभिलाषः उत्पत्स्यते, तत्र, यास्यति = गमिष्यति। ['रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' १।४।३३ इति सूत्रेण रुच् धातुयोगे चतुर्थी।] वा = अथवा, इह = अस्मिन् आश्रमे, एव, उपजातपरिचयः = उपजातः (= समुत्पन्नः) परिचयः (= संस्तवः) यस्य स तादृशः, सन्, स्थास्यति = निवत्स्यति।

इत्येवमिति। इत्येवम् = पूर्वोक्तरूपम्, अस्मत्सम्बद्धम् = मत्सम्बद्धम्, शुकविषयकमिति भावः, आलापम् = प्रश्नोत्तररूपं सम्भाषणम्, आकर्ण्य = श्रुत्वा, किञ्चिदिति—किञ्चित् (= ईषत्) उपजातम् (= समुत्पन्नम्) कुतूहलम् (= कौतुकम्) यस्य स तादृशः भगवान् = माहात्म्यवान्, जाबालिः = जाबालिनामा महर्षिः, ईषदावलितकन्धरः—ईषत् (= किञ्चित्) आवलिता (= नमिता) कन्धरा (= ग्रीवा) यस्य स तादृशः, पुण्यजलैः = पूतवारिभिः, माम् = शुकम्, प्रक्षालयन्निव = प्रधावयन् इव, संमार्जयन्निव, अतिप्रशान्तया = नितान्तप्रसन्नया, दृष्ट्या = नयनेन, सुचिरम् = चिरकालम्, दृष्ट्वा = विलोक्य, उपजातप्रत्यभिज्ञानः—उपजातम् (= समुत्पन्नम्) प्रत्यभिज्ञानम् (= 'स एवायम्' इत्याकारकं तत्तेदन्तावगाहिज्ञानम्) यस्य सः, तादृश इव, पुनः पुनः = भूयोभूयः, विलोक्य = निरीक्ष्य, स्वस्य = आत्मनः, एव, न तु अन्यस्य कस्यचित्, अविनयस्य = अशिष्टाचारस्य, फलम् = भोगः, अनेन = अमुना शुकेन, अनुभूयते = साक्षात्क्रियते,—इति = एवं रूपेण, अवोचत् = अवादीत्।

हम जैसे तपस्वियों का धर्म (= आचार) है। और पखों के निकल आने पर तो आकाश-तल में घूमने (उड़ने) में समर्थ होता हुआ (यह) जहाँ इसे अच्छा लगेगा, चला जायगा। अथवा परिचय उत्पन्न हो जाने से [निर्भय होता हुआ] यहीं आश्रम में रह जायगा।

इस प्रकार का मुझसे सम्बद्ध वार्तालाप सुन कर कुछ कौतूहल-युक्त भगवान् जाबालि ने अपनी गरदन को कुछ मोड़ा (और) मानो पुण्यजल से प्रक्षालित करते हुए अत्यन्त शान्त नेत्रों से बहुत देर तक मुझे देखकर मानों उन्हें प्रत्यभिज्ञान (पूर्वानुभूत यह वही है—इस प्रकार का ज्ञान) उत्पन्न हो गया हो, बार-बार मुझे देखकर—"यह अपने ही अशिष्ट आचरण का फल भोग रहा है"—ऐसा कहा।

---

१. अस्त्यस्मद्विधानम्। २. सञ्चलन। ३. यत्र चास्मै।
४. समुपजात···, उपजातविस्रम्भः। ५. अस्मत्सम्बद्धालापम्। ६. कौतूहलः।
७. क्वचित्तु नोमयरूपः पाठो दृश्यते। ८. अभिजातप्रत्यभिज्ञः।

स हि भगवान् [1]कालत्रयदर्शी तपःप्रभावाद्दिव्येन चक्षुषा सर्वमेव करतलगतमिव [2]जगदवलोकयति, वेत्ति च [3]जन्मान्तराण्यप्यतीतानि, कथयत्यागामिनमप्यर्थम्, ईक्षण-गोचर-गतानाञ्च प्राणिनामायुषः [4]संख्यामावेदयति ।

ततः [5]सर्वैव सा [6]तापस-परिषच्छ्रुत्वा विदित-तत्प्रभावा 'कीदृशोऽनेनाविनयः कृतः, किमर्थं [7]वा कृतः, क्व वा कृतः, जन्मान्तरे वा कोऽयमासीत् इति?' [8]कौतूहलिन्यभवत्,

मुनेः प्रत्यभिज्ञानं कथं जातमिति निरूपयितुमाह—स हीति । हि=यस्मात् कारणात्, सः=पूर्ववर्णितः, भगवान्=माहात्म्यवान्, कालत्रयदर्शी—कालत्रयस्य (=अतीतानागतवर्तमानरूपस्य) दर्शी (=द्रष्टा, साक्षात्कर्त्ता) सन्, तपः प्रभावात् = तपस्यासामर्थ्यात्, प्राप्तेन, दिव्येन=अलौकिकेन, चक्षुषा=नेत्रेण, सर्वम्=समस्तम्, एव, जगत्=विश्वम्, करतलगतम्=हस्ततलन्यस्तम्, इव=तुल्यम्, अवलोकयति=पश्यति । अतीतानि=भूतानि, अपि, जन्मान्तराणि=भवान्तराणि, च, वेत्ति=जानाति । आगामिनम्=भाविनम्, अपि, अर्थम्=पदार्थम्, अपि, कथयति=ब्रवीति । ईक्षणगोचरगतानाम्=नयनपथप्राप्तानाम्, च, प्राणिनाम्=जीवानाम्, आयुषः=जीवनकालस्य, जीवितव्यस्य, संख्याम् = परिमाणम्, आवेदयति=सूचयति । एतेन शुकस्य पूर्वजन्मज्ञाने नाश्चर्यमिति सिध्यति ।

तत इति । ततः=तदनन्तरम्, सर्वा = समस्ता, एव, सा = पूर्वोक्ता, तापसपरिषत् = तपस्विसभा, श्रुत्वा=आकर्ण्य, पूर्वोक्तं जाबालिवचनमिति शेषः, विदिततत्प्रभावा— विदितः (=विज्ञातः) तस्य (=जाबालिमुनेः) प्रभावः (=माहात्म्यम्) यया सा तादृशी तापसपरिषत् । इति पदार्थं विवृणोति—कीदृश इति । अनेन=एतेन, कीदृशः=कीदृग्, अविनयः=अशिष्ट-व्यवहारः, कृतः = विहितः । किमर्थम्=किम्प्रयोजनम्, वा=अथवा, कृतः=विहितः, कुत्र=कस्मिन् स्थाने देशे, वा, कृतः=विहितः, जन्मान्तरे=पूर्वजन्मनि, वा=अथवा, अयम्=एषः, कः = किन्नामा, किङ्ख्यातिको वा, आसीत्=अभूत्,—इति=एवम्, कौतूहलिनी = कौतुकवती. अभवत्=अभूत् । तम्= पूर्वोक्तम्

क्योंकि वे भगवान् जाबालि तीनों कालों (भूत, भविष्यत् और वर्तमान) को देखने वाले हैं, तपस्या के प्रभाव से दिव्य दृष्टि द्वारा सम्पूर्ण जगत् को करतल में स्थित जैसा देखते हैं । बीते हुए भी दूसरे जन्मों को जानते हैं । भावी=अगामी पदार्थ को भी कहते हैं और दृष्टिगोचर हो जाने वाले प्राणिओं की आयु की संख्या (कितने वर्ष जीवित रहने वाला है) को बता देते हैं । [अतः उनको मुझ शुक के पूर्व जन्म और भावी तथा वर्तमान का ज्ञान करना आश्चर्य नहीं है ।]

इसके बाद [जाबालि के पूर्वोक्त वचनों को] सुन कर तपस्वियों की पूरी सभा जो महर्षि के प्रभाव को जानने वाली थी --"इसने किस प्रकार का अशिष्ट आचरण किया था ? किस लिये किया ? कहाँ किया ? और दूसरे जन्म में यह (शुक) कौन था ?"—इस प्रकार के कौतूहल से युक्त हो गई,

१. त्रिकालदर्शी । २. आलोकयति ।
३. वेत्ति जन्मान्तराण्यतीतानि । ४. प्रमाणम् ।
५. यतः सर्वैव, सर्वैव सा तापस० । ६. सतापसपरिषत् ।
७. क्वचित्तु 'वा' इदं न दृश्यते । ८. कुतूहलिनी ।

[१]उपनाथितवती च तं भगवन्तम्—'आवेदय प्रसीद भगवन् ! कीदृशस्याविनयस्य फलमनेनानु-[२]भूयते, [कश्चायमासीज्जन्मान्तरे,] विहगजातौ[३] वा कथमस्य सम्भवः, किमभिधानो वाऽयम् ?, अपनयतु नः कुतूहलम्। आश्चर्य्याणां हि सर्वेषां भगवान् प्रभवः।'

इत्येवमुपयाच्यमानस्तपोधनपरिषदा[४] स महामुनिः प्रत्यवदत्[५]—'अतिमहदिदमाश्चर्य्यमाख्यातव्यम्। अल्पशेषमहः। प्रत्यासीदति च नः स्नानसमयः। भवतामप्यतिक्रामति देवार्च्चन-[६]विधिवेला। तदुत्तिष्ठन्तु भवन्तः, सर्वे एव तावदाचरन्तु[७] यथोचितं दिवस-व्यापारम्। अपराह्ण-

---

भगवन्तम् = माहात्म्यवन्तं जाबालिम्, च, उपनाथितवती = याचितवती, प्रार्थयामासेत्यर्थः। किं तदिति वर्णयति—आवेदयेति। भगवन् = प्रभो, स्वामिन्, प्रसीद = प्रसन्नो भव, आवेदय = कथय, अनेन = एतेन, कीदृशस्य = किंरूपस्य, अविनयस्य = अशिष्टाचरणस्य, फलम् = भोगः, अनुभूयते = साक्षात्क्रियते। वा = अथवा, विहगजातौ = पक्षिजातौ, अस्य = एतस्य, कथम् = केन कारणेन सम्भवः = समुत्पत्तिः, जन्मेति भावः। वा = अथवा, अयम् = एषः, किमभिधानः = किम् अभिधानम् (=नाम) अस्ति अस्य स तादृशः, अस्ति। नः = अस्माकम्, कुतूहलम् = औत्सुक्यम्, अपनयतु = निवारयतु, भवान्। हि = यतः, भगवान् = माहात्म्यवान् भवान्, सर्वेषाम् = सकलानाम्, आश्चर्याणाम् = कुतूहलानामद्भुतत्वानां वा, प्रभवः = उत्पत्तिस्थानम्। भवानेव सर्वपदार्थवेत्तेति अस्माकं कौतूहलं निवारयत्विति भावः।

इत्येवमिति। तपोधनपरिषदा = तापससभया, इत्येवम् = पूर्वोक्तरूपेण, उपयाच्यमानः = अभ्यर्थ्यमानः, सः = जाबालिः, महामुनिः = महर्षिः, प्रत्यवदत् = प्रत्यवोचत्। किन्तदिति वर्णयति—अतीति। इदम् = वक्ष्यमाणम्, आश्चर्यम् = विस्मयोत्पादकवृत्तम् अघटितघटनायुक्तम्, अतिमहत् = अतिदीर्घम्, आख्यातव्यम् = कथनीयम्। अहः = दिनम्, अल्पशेषम् = अल्पावशिष्टम्। नः = अस्माकम् स्नानसमयः = मज्जनकालः, च, प्रत्यासीदति = विलम्बितो भवति, भवताम् = युष्माकम्, अपि देवार्च्चन-

---

और उन भगवान् जाबालि से प्रार्थना करने लगी—"भगवन् ! प्रसन्न हो जाइये, और बताइये किस प्रकार के अशिष्ट आचरण का फल यह भोग रहा है ? [दूसरे जन्म में यह कौन था ?] पक्षिजाति में इसकी उत्पत्ति = जन्म कैसे हुआ ? इसका क्या नाम है ? हम लोगों का कुतूहल (उत्कण्ठा) दूर करिये। क्योंकि भगवान् (आप) सभी आश्चर्यों के उद्गम स्थान हैं। [अतः आपके लिये सभी कुछ जानना और कहना संभव है।]"

तपस्वियों की सभा (समूह) द्वारा इस प्रकार से प्रार्थित किये जाते हुए महामुनि जाबालि ने उत्तर दिया—"यह आश्चर्य-जनक वृत्तान्त बहुत विस्तार से कहना होगा। दिन थोड़ा ही बचा है। और हमारे स्नान करने का समय समीप आ रहा है, बीतने जा रहा है, साथ ही आप लोगों का भी देवतापूजन-विधान का समय बीत रहा है। इस लिये आप लोग [इस समय तो] उठिये।

---

१. उपयाचितवती, इत्युपनाथितवती, उपेत्यर्थितवती। २. भुज्यते।
३. क्वचित् 'वा' इदं न पठ्यते, क्वचिच्च 'च' पदं दृश्यते। ४. उपयाच्यमानस्तु।
५. प्रवदत्। ६. क्वचित्तु 'विधि' इदं नास्ति।
७. क्वचित्तु 'तावत्' इति न पठ्यते।

समये भवतां पुनः कृत-मूलफलाशनानां[1] विस्रब्धोपविष्टानामादितः प्रभृति सर्वमावेदयिष्यामि[2]—योऽयं यच्च[3] कृतमनेनापरस्मिन् जन्मनि, इह लोके च[4] यथास्य सम्भूतिः। अयञ्च तावदपगतक्लमः क्रियतामाहारेण। नियतमयमप्यात्मनो जन्मान्तरोदन्तं[5] स्वप्नोपलब्धमिव मयि कथयति, सर्वमशेषतः स्मरिष्यति' इत्यभिदधदेवोत्थाय समं तैर्[6]मुनिभिः स्नानादिकमुचित-दिवस-व्यापारम्[7]

विधि-वेला—देवानाम् (=सुराणाम्) अर्चनविधेः (=पूजनविधानस्य) वेला=समयः, अतिक्रामति=व्यतीता भवति। तत् = तस्मात्, भवन्तः=श्रीमन्तः, उत्तिष्ठन्तु = उत्थानं विदधतु, उत्थिता भवन्तु। सर्वे = सकलाः, एव, तावत्=इदं वाक्यालंकारे, यथोचितम्=यथायोग्यम्, स्वानुरूपम्, दिवसव्यापारम्=दिनकृत्यम्, आचरन्तु = विदधतु। अपराह्णसमये = प्रहरद्वयानन्तरवर्तिसमये, पुनः = भूयः, द्वितीयवारम्, कृतमूलफलाशनानाम्—कृतम् (=विहितम्) मूलानाम् (= शूरणानाम्) फलानाम् (=सस्यानाम्) च अशनम् (=भक्षणम्) यैस्ते तेषाम्, विश्रब्धोपविष्टानाम् = विश्रब्धम् (=विश्वस्तम्) यथा स्यात् तथा, उपविष्टानाम् (= आसीनानाम्), भवताम् = श्रीमताम्, युष्माकमित्यर्थः, आदितः प्रभृति = प्रारम्भात् आदाय, सर्वम् = समस्तम्, आवेदयिष्यामि = ज्ञपयिष्यामि, कथयिष्यामीत्यर्थः। किन्तत् अत आह— योऽयमिति। अयम् = एषः, शुकः=कीरः, यः, आसीदिति शेषः, अनेन=अमुना, अपरस्मिन्=पूर्वस्मिन्, जन्मनि = जनने, भवे, च, यत्, कृतम्=विहितम्, इह = अत्र, लोके=जगति, च, यथा = येन प्रकारेण, अस्य = अमुष्य, शुकस्य, सम्भूतिः = समुत्पत्तिरिति।

अयञ्चेति। तावत्=प्रथमम्, मम कथनात् पूर्वमिति भावः, अयम्=एषः शुकः, आहारेण = भोजनेन, अपगतक्लमः—अपगतः (=दूरीभूतः, शान्तः) क्लमः (=ग्लानिः) यस्य स तादृशः, क्रियताम् विधीयताम्। मयि=जाबालौ नियतम्=निश्चितं यथा स्यात् तथा, कथयति = वदति सति, अयम्=एषः शुकः, अपि, आत्मनः = स्वस्य, सर्वम्=सकलम्, जन्मान्तरोदन्तम्=पूर्वजन्मवृत्तान्तम्, स्वप्नोपलब्धम्=स्वप्नावस्थायामधिगतम्, इव, अशेषतः=पूर्णरूपेण, स्मरिष्यति=स्मरणविषयीकरिष्यति, ज्ञास्यतीति भावः, [नियतमिति क्रियाविशेषणं वा।] इति = पूर्वोक्तम्, अभिदधत्=वदन्, एव, उत्थाय=उत्थानं विधाय, तैः मुनिभिः=तापसैः, समम्=सार्धम्, उचितदिवसव्यापारम्—उचितम् (= योग्यम्) दिवसस्य (= दिनस्य) व्यापारम् (= कृत्यम्) स्नानादिकम् = मज्जनादिकम्,

सभी लोग अपना अपना करने योग्य दिनकृत्य पहले पूरा कर डालिये। अपराह्ण काल (तीसरे पहर) में फिर से फल और मूलादि का भोजन किये हुए तथा निश्चिन्तता से बैठे हुए आप लोगों से आरम्भ से लेकर सब कुछ [पूरा पूरा] निवेदन करूँगा, बताऊँगा— यह जो था, इसने पूर्व जन्म में जो कुछ किया था, और इस लोक में जिस प्रकार से इसका जन्म हुआ है। पहले इसको भोजन कराकर क्लान्तिरहित किया जाय। यह भी मेरे द्वारा कहते ही अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को स्वप्न में देखे हुए के समान निश्चित रूप से पूरा पूरा स्मरण कर लेगा'—ऐसा कहते हुए ही महर्षि ने उठकर उन मुनियों के साथ स्नानादि उचित दिन-कृत्य सम्पादित किया, स्नान पूजनादि दिन का कार्य पूरा किया।

---

१. 'फल' इदं पद क्वचित्तु नापि दृश्यते। २. आवेदयिष्यामः।
३. यच्चानेन कृतमपरः। ४. लोके च यथा, लोके यथा। ५. जन्मान्तरवृत्तं।
६. क्वचित् 'तैः' इदं नास्ति। ७. स्नानादिकमुचितं दिवसव्यापारम्, स्नानादिकं दिवसव्यापारम्।

अकरोत् ।

अनेन[1] च समयेन परिणतो दिवसः । स्नानोत्थितेन मुनिजनेनार्घविधिमुपपादयता यः क्षितितले दत्तः[2] तमम्बर-तलगतः[3] साक्षादिव रक्तचन्दनाङ्गरागं रविरुदवहत् । ऊर्ध्वमुखैरर्कबिम्ब-विनिहित[4]-दृष्टिभिरूष्मपैस्[5]तपोधनैरिव परिपीयमान-तेजःप्रसरो विरलातपस्तनिमानम[6]-भजत् । उद्यत्सप्तर्षिसार्थ[7]-स्पर्श-परिजिहीर्षयेव संहृत-पादः[8] पारावत-पाद-पाटल-रागो रविरम्बर-

अकरोत्=कृतवान् ।

अनेनेति । अनेन समयेन=कालेन, मध्याह्नसमयकर्त्तव्यकर्मणेति भावः, अत्र 'अपवर्गे तृतीया' बोध्या, दिवसः=दिनम्, परिणतः=परिपाकं प्राप्तः, समाप्तिमुपगत इति भावः ।

स्नानेति । स्नानोत्थितेन=स्नानक्रियां कृत्वा समुत्थितेन, अर्घविधिम्=पूजाविधानम्, उपपादयता=सम्पादयता, मुनिजनेन=ऋषिलोकेन, क्षितितले=भूतले, यः=रक्तचन्दनाङ्गरागः, दत्तः=समर्पितः, अम्बरतलगतः=गगनतलस्थितः, रविः=सूर्यः, तम्=पूर्वोक्तम्, रक्तचन्दनाङ्गरागम्—रक्तचन्दनम् (=लोहितमलयजम्) तद्विविशिष्टः अङ्गरागः (=अङ्गविलेपनद्रव्यम्) तम्, साक्षाद् इव=प्रत्यक्षरूपमिव, प्रत्यक्ष-सिद्ध-मुनिप्रत्यर्पितमूर्तरूपेणेवेति भावः, उदवहत्=धृतवान्, इव-शब्द उत्प्रेक्षायाम्, सायंकालीनसूर्यस्य स्वतः रक्ततायामेतत्सम्भावनादिति भावः ।

ऊर्ध्वमुखैरिति । ऊर्ध्वमुखैः—ऊर्ध्वम् (=उन्नतम्) मुखम् (=आननम्) येषां ते तैस्तादृशैः, अर्कबिम्बेत्यादिः—अर्कबिम्बे (=सूर्यबिम्बे) विनिहिते (=स्थापिते) दृष्टी (=नेत्रे) यैस्ते तादृशैः, ऊष्मपैः—ऊष्माणम् (=सूर्यतापम्) पिबन्ति (=धयन्ति) इति ऊष्मपाः, तैः, एतन्नाम्ना ख्यातैः, तपोधनैः=तपस्विभिः, परिपीयमानेत्यादिः—परिपीयमानः (=आस्वाद्यमानः) तेजःप्रसरः (=महःप्रचारः) यस्य स तादृशः, इव, अतएव, विरलातपः—विरलः (=स्वल्पः) आतपः (=आलोकः) यस्य स तादृशः, रविरिति शेषः, तनिमानम्=तनोर्भावः—तनिमा, तम्=क्षीणताम्, अभजत्=प्रापत् । भावार्थे तनु-शब्दात् 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति सूत्रेण इमनिच् प्रत्ययः । ऋषिभिः परिपीतत्वात् रवेः किरणानामल्पत्वं जातमिति भावः ।

उद्यदिति । उद्यदित्यादिः—उद्यन् (= उदयं प्राप्नुवन्) यः सप्तर्षिसार्थः (=मरीच्यादिसप्तर्षिसमूहः) तस्य यः स्पर्शः (= पादेन संस्पर्शः) तस्य परिजिहीर्षया (=परिहर्तुमिच्छया) इव, संहृतपादः=संहृतः (=संकोचितः) पादः (=चरणः, किरणश्च) येन सः पूज्यानां सप्तर्षीणां

इसी बीच में दिन ढल गया । स्नान से उठे हुए, पूजा-विधि पूरी करते हुए मुनि जनों द्वारा जो (लाल चन्दन) भूतल पर दिया गया था उस लालचन्दन के अंगराग को आकाश-मण्डल में गये (पहुँचे) हुए सूर्य ने मानों साक्षात् धारण कर लिया । [मुनियों का लालचन्दन ही सूर्य का लाल-लाल अंगराग सा दिखाई पड़ने लगा ।] ऊपर मुख किये हुए, सूर्य-मण्डल में दृष्टि स्थिर किये हुए, [सूर्य की] धूप को पीते हुए तपस्वियों द्वारा मानों जिसके तेज का प्रसार रोक दिया गया था ऐसा हल्की धूपवाला सूर्य क्षीणता को प्राप्त हुआ अर्थात् सूर्य की धूप और हल्की (कम) हो गई । उदित

१. नेदं क्वचित् पठ्यतेऽपि । २. अर्घो दत्तः । ३. अम्बरतले गतः, अस्ताचलगतः । ४. निहित । ५. उष्मपैः । ६. विरलातपोदिवसः । ७. क्वचित् 'सार्थ' इदं नापि पठ्यते । ८. चरणः ।

तलादवालम्बत[1]।

आलोहितांशु-जालं जलशयनमध्यगतस्य[2] मधु-रिपोर्[3]विगलन्मधुधारमिव नाभिनलिनं[4] प्रतिमागतमपरार्णवे सूर्य्यमण्डलमलक्ष्यत[5]। विहायाऽम्बरतलम्[6] उन्मुच्य च[7] कमलिनीवनानि शकुनय इव दिवसावसाने तरु-शिखरेषु पर्वताग्रेषु[8] च रविकिरणाः स्थितिमकुर्वत। आलग्न-

स्वीयचरणस्पर्शोऽधर्म इति पादौ संकोचितवान् इति भावः। पारावतपादपाटलरागः - पारावतः (=कपोतः) तस्य यौ पादौ (=चरणौ) तद्वत् पाटलः (=श्वेतरक्तः) रागः (=लौहित्यं कान्तिर्वा) यस्य स तादृशः, रविः=सूर्यः, अम्बरतलात् = गगनतलात्, [अत्रावधौ पञ्चमी] अवालम्बत=अवललम्ब, अवातरदिति भावः, अधोदेशे समागतः। अत्र रश्मिचरणयोर्भेदेऽपि पादशब्दश्लेषेणाभेदाध्यवसायाद् 'अतिशयोक्तिः' 'पारावत-पाद-पाटलरागः' इत्यत्र लुप्तोपमा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

आलोहितेति। आलोहितांशुजालम्—आलोहितम् (=ईषदरक्तम्) अंशूनाम् (=रश्मीनाम्) जालम् (=समूहः) यस्य तत् तादृशम्, विगलन्मधुधारम्—विगलन्ती (=स्रवन्ती) मधुधारा (=पराग-पङ्क्तिः) यस्मात् तत् तादृशम्, प्रतिमागतम् = प्रतिबिम्बभावेन पतितम्, जलशयनमध्यगतस्य—जले (=सलिले) यत् शयनम् (=शय्या) तस्य मध्ये (=अन्तरे) गतस्य (= स्थितस्य), मधुरिपोः (=मध्वरेः, श्रीविष्णोः), नाभिनलिनम्=नाभिस्थितकमलम्, इव, अपरार्णवे=पश्चिमसागरे, सूर्यमण्डलम्= अर्कबिम्बम्, अलक्ष्यत=अदृश्यत, लोकैरिति शेषः। विष्णु-नाभिनलिनमिव सूर्यमण्डलं तदा जातमिति सादृश्यवर्णनादुपमा।

विहायेति। अम्बरतलम् = गगनमण्डलम्, विहाय=त्यक्त्वा, कमलिनीवनानि=पद्मिनी-काननानि, च, उन्मुच्य=परित्यज्य, शकुनयः=पक्षिणः, इव, दिवसावसाने=दिनसमाप्तौ सायंकाले इत्यर्थः, तरुशिखरेषु=पादपाग्रभागेषु, पर्वतेषु=गिरिशिखरेषु च,रविकिरणाः=सूर्यरश्मयः, स्थितिम्=

होते (उगते) हुए [मरीचि आदि] सप्तर्षियों पर पाद (= किरण, पैर) के स्पर्श को मानों छोड़ने (दूर रखने) की इच्छा से पादों (किरणों, पैरों) को संकुचित कर लेने वाला, कबूतर के पैरों के समान गुलाबी रंग वाला सूर्य आकाश-तल से लटकने लगा, अतः नीचे दिखाई देने लगा।

थोड़ी सी लाल-लाल किरणों के समूह से युक्त सूर्यमण्डल पश्चिमी समुद्र में प्रतिबिम्बित होता हुआ ऐसा लग रहा था मानों [समुद्र में] जलशय्या पर विद्यमान विष्णु का गिरती हुई मधुधारा वाला नाभि-कमल हो। दिन की समाप्ति पर अर्थात् सायंकाल सूर्य की किरणें आकाशमण्डल को छोड़ कर और कमलिनी-वनों को भी छोड़ कर वृक्षों की चोटियों पर और पर्वतों के शिखरों पर

१. अलम्बत। २. क्वचित्तु 'मध्य' इति न दृश्यतेऽपि। ३. मधुभिदः।
४. 'नाभि' इदं नापि पठ्यते। ५. प्रालक्ष्यत,प्रवैक्ष्यत,प्रत्रक्ष्यत। ६. धरणितलम्, धरातलम्।
७. क्वचित्तु 'च' नास्ति। ८. तपोवनतरुशिखरेषु।

लोहितातपच्छेदा[1] मुनिभिरालम्बित[2]-लोहित[3]वल्कला इव तरवः[4] क्षणमदृश्यन्त ।

अस्तमुपगते च भगवति सहस्रदीधितावपरार्णवतलादुल्लसन्ती[6] विद्रुम-लतेव पाटला[7] सन्ध्या समदृश्यत । यस्यामाबध्यमानध्यानम्, एकदेशदुह्यमान-होमधेनु-दुग्धधाराध्वनित-

---

अवस्थानम्, अकुर्वत = कृतवन्तः । अस्ताचलगमनकाले सर्वेषामपि परित्यागस्यावश्यकतया एतादृशी स्थितिरजायतेति भावः । प्रसिद्धसाम्यवर्णनाभावात् शकुनय इव इत्यत्र नोपमा, उत्प्रेक्षैवेयं बोध्या । अन्ये तूपमामेवाङ्गीकुर्वन्ति ।

आलग्नेति । आलग्नेत्यादिः– आलग्नाः (= ईषत् सम्बन्धं प्राप्ताः) लोहिताः (= रक्तवर्णाः) आतपच्छेदाः (= सूर्यालोक-खण्डाः) येषु ते तथाविधाः तरवः = वृक्षाः, मुनिभिः = तपस्विभिः, आलम्बित-लोहितवल्कलाः—आलम्बितानि (= उपरि स्थापितानि) लोहितानि (= रक्तवर्णानि) वल्कलानि (= तरुत्वचः, वल्कानि) येषु ते तादृशाः, इव, क्षणम् = किञ्चित्कालम्, अदृश्यन्त = अवालोक्यन्त । अत्राप्युत्प्रेक्षा । 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः ।' इत्यमरः ३।३।४७ ।

अस्तमिति । भगवति = ऐश्वर्यवति, सहस्रदीधितौ—सहस्राणि (= सहस्रसंख्याकाः) दीधितयः (= किरणाः) यस्य स तस्मिन् सूर्ये इत्यर्थः, अस्तम्–अस्ताचलम्, उपगते = प्राप्ते सति, अपरार्णवतलात्–पश्चिमसागरतटात्, उल्लसन्ती–ऊर्ध्वमागच्छन्ती, उद्दीप्यमाना, विद्रुमलता = प्रवालवल्ली, इव, पाटला = श्वेतरक्ता, सन्ध्या = प्रदोषकालः, सायंकालः, समदृश्यत = समवालोक्यत । अत्राप्युत्प्रेक्षैव बोध्या ।

यस्यामिति । यस्याम् = सन्ध्यायाम्, [आश्रमपदस्य विशेषणानीमानीति बोध्यम्—] आबध्यमानध्यानम्—आबध्यमानम् (= विधीयमानम्, ऋषिभिरिति शेषः) ध्यानम् (= ब्रह्मणि एक-प्रत्ययप्रवाहः) यस्मिन् तत् तादृशम् । एकदेशेत्यादिः—एकदेशे (= एकस्मिन् भागे) दुह्यमानाः (= दोहनविषयीक्रियमाणाः) याः होमधेनवः (= होमार्थाः गावः) तासां या दुग्धधाराः (= पयोधाराः) तासां ध्वनितैः (= शब्दितैः) धन्यतरम् (= अतिपुण्यवत्तरम्) सत्, अतिमनोहरम्=

उसी प्रकार स्थित हो गई जिस प्रकार [सायंकाल आकाश-मण्डल और भूमण्डल को छोड़कर] पक्षी [पेड़ों और पहाड़ों की चोटिओं पर] रहते हैं । जिन में कहीं-कहीं कुछ लाल-लाल धूप पड़ रही थी वे वृक्ष उस समय ऐसे दिखाई दे रहे थे मानों मुनियों द्वारा [उन पर] लाल-लाल वल्कल लटका दिये गये हों ।

भगवान् सूर्य के अस्त हो जाने पर पश्चिमी समुद्र-तल से ऊपर निकलती हुई मूंगों की (लाल) लता के समान गुलाबी रंगवाली सन्ध्या (सायंकाल) दिखाई पड़ने लगी । जिस (सन्ध्या) में आश्रमस्थल इस प्रकार का हो गया—जहाँ [मुनियों द्वारा] ध्यान बाँधा जा रहा था, जो एक ओर दुही जाती हुई होमधेनुओं के दूध की धारा को ध्वनि से युक्त होने से अधिक धन्य और अत्यधिक

---

१. रक्तातपच्छेदाः, रक्तातपगभस्तिच्छेदाः । २. आलम्बिताः । ३. आलोहित ।
४. आश्रमतरवः क्षणम् अशोभन्त, अदृश्यन्त । ५. अपरार्णवतटात् ।
६. उत्सर्पन्ती । ७. आपाटला ।

धन्यतरातिमनोहरम्,[1] अग्नि-वेदि-[2]विकीर्य्यमाण-[3]हरित्कुशम् ऋषिकुमारिकाभिरितस्ततो विक्षिप्यमाण-दिग्देवताबलि-[4]सिक्थम् आश्रमपदमभवत् ।

क्वापि विहृत्य दिवसावसाने[5] लोहित-तारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्त्तमाना सन्ध्या तपोधनैं[6]रदृश्यत । अचिरप्रोषिते[7] सवितरि शोकविधुरा कमल-मुकुल-कमण्डलु-धारिणी हंस-सितदुकूल-परिधाना मृणाल-धवल-यज्ञोपवीतिनी[8] मधुकर-मण्डलाक्षवलयम्[9] उद्वहन्ती

अतिशयचारु अग्निवेदीत्यादिः -- अग्निवेद्याम् (=वह्निस्थापन-चतुरस्रभूमिकायाम्) विकीर्यमाणाः (= विक्षिप्यमाणाः, हवनीयास्तरणार्थमिति भावः) हरितः (= हरिद्वर्णाः, प्रत्यग्राः वा) कुशाः (= दर्भाः) यत्र तत् तादृशम् । ऋषिकुमारिकाभिः = तापसकन्यकाभिः, इतस्ततः = यत्र तत्र चतुर्दिक्षु, विक्षिप्यमाणेत्यादिः -- विक्षिप्यमाणानि (= स्थाप्यमानानि) दिग्देवतानाम् (= इन्द्रादिदिक्पालानाम्) दिग्देवताभ्यो वा बलिसिक्थानि (= बलिसम्बन्धिपक्वान्नानि) यत्र तत् तादृशम् । आश्रम-पदम् = तापसावासस्थानम्, अभवत् = सञ्जातम् ।

क्वापीति । क्वापि = कुत्रचिद् अज्ञातस्थाने, विहृत्य = विचरणं विधाय, दिवसावसाने = दिनसमाप्तिसमये, परिवर्त्तमाना = प्रत्यागच्छन्ती, लोहिततारका—लोहिते (= रक्तवर्णे) तारके (=कनीनिके) यस्याः साः, तादृशी, कपिला = कपिलवर्णा, तपोवनधेनुः = आश्रमगौः, इव, सन्ध्यापक्षे--लोहिततारकाः—लोहिताः (=तदापि रक्तसूर्यसम्पर्काद् रक्तवर्णाः) तारकाः (=नक्षत्राणि) यस्यां सा तादृशी, कपिला = पिङ्गलवर्णा, सन्ध्या = सायंवेला, तपोधनैः = ऋषिभिः, अदृश्यत = अवालोक्यत । अत्र सन्ध्यायाः आश्रमधेन्वाश्च पूर्णसादृश्यवर्णनादुपमालङ्कारः सुस्पष्टः ।

अचिरेति । सवितरि = सूर्ये, अचिरप्रेषिते = सद्य एव प्रयाते सति, शोकविधुरा = शोकेन व्याकुला, कमलमुकुलेत्यादिः—कमलमुकुलम् (= पद्मकुड्मलम्) एव कमण्डलुः (= करकः) तद्धारिणी (=तद्वहनशीला), हंससित-दुकूल-वसाना—हंसाः (=मरालाः) एव सितदुकूलानि (=श्वेतक्षौमवसनानि) यस्याः सा तादृशी, मृणाल-धवल-यज्ञोपवीतिनी—मृणालम् (=बिसतन्तुः)

मनोहर था, जहाँ अग्नि की वेदियों पर हरित=ताजे कुश बिखेरे = बिछाये जा रहे थे; जहाँ ऋषिकन्याओं द्वारा इधर-उधर अनेक स्थानों पर दिग्देवताओं के लिए बलिपिण्ड रखे जा रहे थे ।

तपस्वियों ने लाल-लाल तारों (नक्षत्रों) वाली कपिल-वर्ण वाली आती हुई सन्ध्या को उस प्रकार देखा मानों दिन की समाप्ति में कहीं इधर-उधर घूमकर लौटती हुई लाल तारों (=कनीनिकाओं) वाली कपिला गाय हो । [सन्ध्या लोहित तारकों=नक्षत्रों वाली, धेनु लोहित तारकों = कनीनिकों वाली ।] कुछ ही समय पहले सूर्य के चले जाने पर, विदा हो जाने पर उसके शोक से व्याकुल, कमल की कलियाँ रूपी कमण्डलु को धारण करने वाली, हंस रूपी श्वेत रेशमी वस्त्र धारण करने वाली, मृणालरूपी उज्ज्वल यज्ञोपवीत वाली, और भ्रमर-समूह रूपी अक्षमाला को धारण करती हुई कमलिनी

---

१. धाराध्वनिमनोहरम् ।　२. अग्निहोत्र ।　३. क्वचित्तु 'वेदि' पदं न दृश्यते ।
४. देवतार्च्चनं० ।　५. दिवावसाने ।　६. मुनिभिः ।
७. क्वचित्तु एतदनन्तरं 'च' इत्यधिकं दृश्यते ।　८. यज्ञोपवीता ।　९. मालावलयम् ।

कमलिनी दिनपति-समागम-व्रतमिवाचरत्[१]।

अपर-सागराम्भसि पतिते दिवसकरे[२] वेगोत्थितमम्भः[३]-शीकर-निकरमिव तारागण-मम्बरम्[४] अधारयत्। अचिराच्च सिद्ध-कन्यका-विक्षिप्त-सन्ध्यार्चन-कुसुम-शबलमिव तारकितं[५] वियदराजत। क्षणेन चोन्मुखेन मुनिजनेनोर्ध्वं-विप्रकीर्णैः प्रणामाञ्जलि-सलिलैः क्षाल्यमान[६]

एव धवलयज्ञोपवीतम् (=श्वेतयज्ञसूत्रम्) अस्ति अस्याः सा तादृशी, मधुकर-मण्डलाक्षवलयम्—मधुकराः (=भ्रमराः) तेषां मण्डलम् (=समूहः) एव, अक्षवलयः (= रुद्राक्षजपमालिका) तम्, उद्वहन्ती = धारयन्ती, कमलिनी = पद्मिनी, दिनपतिसमागमव्रतम् = सूर्यसम्मिलन-नियमविशेषम्, आचरत् = अकरोत्, इव। नायिकापक्षे—सवितृतुल्ये पत्यौ प्रोषिते सति कमलमुकुलमिव कमण्डलुः तं धारयन्ती, हसवत् श्वेतं क्षौमवसनं दधती, मृणालवत् धवलयज्ञोपवीतं धारयन्ती, मधुकरमण्डलवत् अक्षवलयं च दधाना काचिद् विरहिणी नायिका दिनपतितुल्यस्य पत्युः समागमव्रतं यथा आचरति तथैवेयं कमलिनी अपीति कमलिनी-दिनपत्योः नायिकानायकव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः 'आचरदिव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा, रूपकञ्चैतेषामलङ्काराणां परस्परमेकाश्रयानुप्रवेशरूप-संकरालङ्कार इत्याहुः।

अपरसागरेति। अपरसागराम्भसि—अपरः (=पश्चिमः) यः सागरः (=समुद्रः) तस्य अम्भसि (=सलिले) पतिते = निपतिते, दिवसकरे = सूर्ये, सति, अम्बरम् = गगनम्, वेगोत्थितेत्यादिः वेगेन (=जवेन) उत्थितम् (=समुद्भूतम्, उच्छलितम्) अम्भःसीकरनिकरम् (=पानीय बिन्दुसमूहम्) इव, तारागणम् = नक्षत्रराशिम्, अधारयत् = दधौ। अत्राप्युत्प्रेक्षा।

अचिराच्चेति। अचिरात् = स्वल्पकालेन, च, सिद्धकन्यकेत्यादिः—सिद्धाः (=गुह्यकाः देवयोनिविशेषाः) तेषां कन्यकाः (=पुत्र्यः) ताभिः विक्षिप्तानि (=विकीर्णानि) यानि सन्ध्यार्चनकुसुमानि (=सायन्तनपूजनपुष्पाणि) तैः शबलम् (=कर्बुरम्) इव, तारकितम् (=सञ्जाततारकम्) वियद् (=गगनम्) अराजत = अशोभत। उत्प्रेक्षैवेति बोध्यम्।

क्षणेनेति। क्षणेन = अल्पसमयेन, च = समुच्चयार्थकः, उन्मुखेन = ऊर्ध्वाननेन, मुनिजनेन =

ने मानों दिनपति=सूर्य के समागम (मिलन) का व्रत रख लिया हो। [जिस प्रकार किसी प्रिय नायक के परदेश चले जाने पर उसके विरह से व्याकुल नायिका कमल की कलियों के समान कमण्डलु को धारण करती हुई, हंस के समान श्वेत रेशमी वस्त्र पहिनती हुई, मृणाल = कमलनाल के समान [७]यज्ञोपवीत पहनी हुई, भ्रमरसमूह के समान रुद्राक्ष-माला धारण करती हुई अपने पति के मिलन के व्रत-नियम का अनुष्ठान करती है। उसी प्रकार सूर्यास्त होने पर कमलिनी कर रही थी। स्त्री द्वारा यज्ञोपवीत धारण करना शास्त्रविहित नहीं है। अतः यह लिखना चिन्तनीय है।]

पश्चिमी समुद्र के जल में सूर्य के गिर जाने पर, सूर्य के अस्त हो जाने पर आकाश ने तारागणों को ऐसे धारण कर लिया, मानों वेग से ऊपर उठे हुए जलकणों के समूह को धारण कर लिया हो। और शीघ्र ही तारकित=तारागणों से युक्त आकाश ऐसा शोभित होने लगा मानों सिद्धों की कन्यकाओं द्वारा बिखेरे गये सन्ध्या की पूजा के फूलों से चितकबरा हो गया हो। क्षण भर में ही सन्ध्याराग= सायंकाल की लालिमा ऐसे लुप्त (समाप्त) हो गई मानों कि ऊर्ध्वमुख वाले मुनिजनों द्वारा ऊपर की

१. रवि २. दिनकरे दिवाऽवसाने। ३. तत्पतनवेगोत्थितम्, दिवसकरे वेगोत्थितम्, पतङ्गवेगोत्थितम्। ४. अम्बरतलम्। ५. सतारम्। ६. प्रक्षाल्यमान।

७. स्त्रीणां यज्ञोपवीतधारणं न शास्त्रसम्मतम् तथापि विरहे उन्मत्ततया तस्य धारणेऽपि न दोष इति बोध्यम्।

इवागलदखिलः सन्ध्यारागः।

क्षयमुपगतायां[1] सन्ध्यायां तद्विनाश-दुःखिता कृष्णाजिनमिव विभावरी तिमिरोद्गमम[2]भिनवमवहत्[3]। अपहाय मुनि-हृदयानि सर्वमन्यदन्धकारतां तिमिरमनयत्।

क्रमेण च रविरस्तं गत[4] इत्युदन्तमुपलभ्य जातवैराग्यो[5] धौत-दुकूल-वल्कल-धवलाम्बरः

तापसलोकेन, ऊर्ध्वविप्रकीर्णैः = ऊर्ध्वम् (= उपर्याकाशे) विप्रकीर्णैः (= विक्षिप्तैः, समर्पितैः), प्रणामाञ्जलिसलिलैः — प्रणामार्थानि (= अभिवादनप्रयोजनानि) यानि, अञ्जलिसलिलानि (= सम्पुटितकरस्थितजलानि) तैः, करणैः, क्षाल्यमानः = धाव्यमानः, प्रक्षाल्यमानः, इव, अखिलः = समस्तः, सन्ध्यारागः = सायन्तनलौहित्यम्, अगलत् = अच्युतत्। 'सायंकालो व्यतीत इति' भावः। अत्रापि इव शब्द उत्प्रेक्षावाची।

क्षयमिति। क्षयम् = ह्रासम् उपगतायाम् = प्राप्तायाम्, सत्याम्, सन्ध्यायाम् = सायंवेलायाम्, तद्विनाशदुःखिता — तस्याः (= सन्ध्यायाः) यो विनाशः (= ह्रासः, लोपः,) तेन दुःखिता (= दुःखयुक्ता) विभावरी = रात्रिः, कृष्णाजिनम् = कृष्णमृगचर्म, इव, अभिनवम् = नवीनम्, तिमिरोद्गमम् = ध्वान्त-समुद्गमम्, अन्धकारसमूहं वा, अवहत् = अधारयत्। अन्यत्रापि लोकाः प्रियजनमरणे सति कृष्णवस्त्राणि धारयन्ति — इति साम्यवर्णनादुपमालङ्कारः। तिमिरम् = ध्वान्तम्, मुनिहृदयानि = तपस्विजन-चित्तानि, अपहाय = त्यक्त्वा, तत्र सदा ब्रह्मरूपप्रकाशस्य सत्त्वात्, अन्यत् = तद्भिन्नम्, सर्वम् = समस्तम्, जगदिति भावः, अन्धकारताम् = ध्वान्तताम्, अचक्षुर्विषयताम्, अनयत् = प्रापयत्।

मित्रवियोगेन दुःखयुतस्य चन्द्रस्य का गतिरिति वर्णयति — क्रमेणेति क्रमेण = परिपाट्या, रविः = सूर्यः, अस्तम् = अस्ताचलम्, विनाशम्, गतः = प्राप्तः, इति = एवं प्रकारकम्, उदन्तम् = वृत्तान्तम्, उपलभ्य = सम्प्राप्य, ज्ञात्वा, जातवैराग्यः — जातम् (= उत्पन्नम्) वैराग्यम् (= विरक्तत्वम्, पक्षे — विशिष्टः = अधिकः रागः = आसक्तिः विरागः — तस्य भावस्तत्त्वम्), यस्य स तादृशः। धौतेत्यादिः —

ओर फेके गये प्रणाम की अंजलि के जल से धो दी गई हो। [मुनियों ने प्रणामांजलि से जो जल ऊपर फेका उससे सन्ध्या की रक्तिमा घुल सी गई थी। और अंधेरा हो गया था।]

सन्ध्या के द्वारा नाश को प्राप्त कर लेने पर (सन्ध्या समाप्त हो जाने पर) उसके विनाश से दुःखी रात्रि ने अन्धकार के नवीन आविर्भाव को ऐसे धारण कर लिया मानों वह कृष्ण मृगचर्म हो। अन्धेरे ने मुनियों के [ब्रह्म प्रकाश-युक्त] हृदयों को छोड़ कर सारे संसार को अन्धकारता को प्राप्त करा दिया, काला बना दिया।

और क्रम=अपनी पारी से सूर्य अस्त हो गया — इस वृत्तान्त को प्राप्त (जान) कर अमृतमय किरणों वाला चन्द्रमा — जिसमें वैराग्य उत्पन्न हो गया था; [वैराग्य = विशिष्ट राग होना, विरक्ति, चन्द्रमा में अधिक लालिमा उत्पन्न हो गई थी। किसी पुरुष में मित्रादि सम्बन्धी की मृत्यु सुनकर विरक्ति उत्पन्न हो जाती है।] जो धुले हुए रेशमी वल्कल के समान धवल = शुभ्र आकाश वाला था, [पुरुषपक्ष में — जो धुले हुए रेशमी वस्त्र के समान वल्कल रूपी धवल वस्त्र वाला होता है। अम्बर =

१. उपगतायां सन्ध्यायाम्। २. शापवर्मिव विहाय। ३. मुनिजनहृदयानि।
४. उपगतः, उपागतः। ५. समुपजात।

* १ २ ३
सतारान्तःपुरः, पर्यन्तस्थिततनुस्तिमिर-तमाल-वृक्ष-लेखम्, सर्पषि-मण्डलाध्युषितम्, अरुन्धती-

धौतम् (=प्रक्षालितम्) यत् दुकूलवल्कलम् (=क्षौमवल्कम्) तद्वत् धवलम् (= शुभ्रम्) अम्बरम् (= वस्त्रम्) यस्य सः तादृशः,. पक्षे—धौतदुकूलवल्कलम् इव धवलम् (= शुभ्रम्) अम्बरम् (=गगनम्) यस्य सः तादृशः। सतारेति—सतारम्=तारः (=प्रणवः, ब्रह्म च) तेन सहितम् सतारम् (=सप्रणवम्) अन्तःपुरम् (=शरीरान्तर्मध्यभागः) यस्य सः, ध्याननिष्ठ इति भावः, पक्षे तु—ताराः (=अश्विन्यादयो नक्षत्राणि) ताभिः सह वर्तमानम्—सतारम्, अन्तःपुरम् (= अवरोधः) यस्य सः तादृशः। यद्वा ताराः (=अश्विन्यादयः) एव अन्तःपुराणि (=तत्स्थाः नार्यः) तैः सहेति सतारान्तपुर.। पर्यन्तेति। पर्यन्ते (=आकाशस्यैकभागे) स्थिता (=वर्तमाना) तनुः (=शरीरम्) यस्य सः तादृशः अमृतदीधितिः=सुधांशुः, चन्द्र इत्यर्थः।

तिमिरेति। तिमिरतमालवृक्षलेखम् तिमिरवत् (= तमोवत्) श्यामाः, ये तमालवृक्षाः (=तापिच्छतरवः) तेषां लेखाः (=पंक्तिः) यस्मिन् तादृशम्। पक्षे—तिमिराण्येव तमालवृक्षाः

आकाश और वस्त्र,] जो तारा=अश्विनी आदि तारा रूपी अन्तःपुर=स्त्रियों वाला था, [पुरुषपक्ष में—प्रणवयुक्त हृदय के मध्यवाला है। अथवा जिसका लिङ्ग शरीर योगशक्ति से कुण्डलिनी के अन्त में अर्थात् सहस्रार कमल में स्थित होता है।] जो [चन्द्रमा आकाश के] किसी एक भाग में स्थित शरीर=रूपवाला था, [पुरुषपक्ष में—सबसे अलग एकान्त में बैठने वाला होता है। ऐसा चन्द्रमा]—देवलोक के आश्रम के समान गगनतल में स्थित हो गया था जो (गगनतल) अन्धकार रूपी तमाल वृक्षों की पंक्ति (= समूह) वाला है (आश्रमपक्ष में—अन्धकार के समान काले काले तमाल के वृक्षों के समूह वाला था[1]); जो सप्तर्षिसंज्ञक नक्षत्रसमूह से युक्त है (आश्रमपक्ष में—सप्तर्षि =

विमर्शः (१) 'सतारान्तःपुरः, पर्यन्तस्थिततनुः, तिमिर-तमालवृक्ष-लेखम्' ऐसा पाठ मान कर ऊपर व्याख्या की गई है। (२) कुछ विद्वान् 'सतारान्तः पुरपर्यन्तस्थिततनुः' यह पाठ मानते हैं। इसकी अर्थ संस्कृत व्याख्या में देखें। कुछ (३) 'सतारान्तःपुरः, पर्यन्तस्थित-तनु-तिमिरतमालवृक्षलेखम्' ऐसा मान कर पहला प्रथमान्त पद 'अमृतदीधितिः' का विशेषण मानते हैं और 'पर्यन्तस्थित०' इत्यादि द्वितीयान्त एक पद को 'अमरलोकाश्रममिव गगनतलम्' का विशेषण मानते हैं—पर्यन्त=किनारों पर स्थित तनु=पतली तिमिर रूपी तमाल वृक्षों की पंक्ति वाला, प्रान्त भागों में विद्यमान तमालवृक्षों की रेखा के सदृश तिमिर की पतली रेखा वाला। इनका औचित्य विचारणीय है।

* श्रीभानुचन्द्रस्तु—सतारान्तःपुरपर्यन्तस्थिततनुः—इत्येकमेव पदं मत्वा व्याचख्यौ—सतारेति तारः=शक्तिविशेषः प्रणवो ब्रह्म च। तदुक्तमन्यत्र "इदं तारत्रयं प्रोक्तमगम्यागमनादृते।" एतद्वृत्तौ-'तारत्रयम्=प्रणवशतत्रयम्' इत्याह विज्ञानेश्वरः। तया सह वर्तमानं यदन्तःपुरमिति पुरस्य शरीरस्यान्तर्मध्यं कुण्डलिनी = नाडीविशेषः। क्वचिदमाद्यन्तस्य परत्वम्' इति पुरस्य परनिपातः। तस्याः पर्यन्तः = सहस्रारं कमलं तत्र योगसामर्थ्यात् स्थितं लैङ्गिकं तनुर्यस्य स तथा। पक्षे—ताराः अश्विन्यादयः, ताभिः सह वर्तमानं यदन्तःपुरम्-अवरोधस्तस्य पर्यन्तः = सन्निधिः, तत्र स्थिता तनुः=शरीरं यस्य स तथा।"

१. श्रीभानुचन्द्रस्तु—सतारान्तःपुर—पर्यन्तस्थिततनुः—इत्येकमेव पदं मत्वा व्याचख्यौ।
२. अन्तःपुर-पर्यन्तस्थितनु, तनुतिमिर-तमालवृक्षलेखम्। ३. वन।

सञ्चरणपूतम्,[1] उपहिताषाढम्, आलक्ष्यमाणमूलम्,[2] एकान्तस्थित-चारुतारकमृगम्[3] अमरलोका-श्रममिव गगनतलम्[4] अमृत-दीधितिरध्यतिष्ठत् ।

चन्द्राभरणभृतस्तारका-कपाल-शकलालङ्कृतादम्बरतलात् त्र्यम्बकोत्तमाङ्गादिव गङ्गा

यस्मिन् तादृशम् ।

[केचित्तु—'पर्यन्तस्थिततनुतिमिरतमालवनलेखम्' इदमेकं पदं तच्चाश्रमविशेषणं गगनतल-विशेषणं च व्याचख्युः ।]

देवलोकस्य तदानीन्तन-गगनतलस्य च साम्यं वर्णयति—सप्तर्षीति । सप्तर्षिमण्डलाध्युषितम्—सप्तर्षीणाम् (=तत्सदृशानाम् ऋषीणाम्) मण्डलेन (=समूहेन) अध्युषितम् (=आश्रितम्) । पक्षे—सप्तर्षयः (= नक्षत्रात्मकमरीच्यादयः) तेषां समूहेन अध्युषितम् । अरुन्धतीति । अरुन्धतीत्यादिः—अरुन्धती (= वसिष्ठपत्नी) तस्याः सञ्चरणम् (= परिभ्रमणम्) तेन पूतम् (= पवित्रम्) । पक्षे—अरुन्धती (= एतन्नाम्ना प्रसिद्धो नक्षत्रविशेषः) तस्याः सञ्चरणेन पूतमिति । उपहितेति । उपहितेत्यादिः—उपहिताः (=स्थापिताः) आषाढाः (=पालाशदण्डाः) यत्र तादृशम् । पक्षे—उपहिते (=सन्निहिते) आषाढे (=एतन्नाम्नाख्याते नक्षत्रे) यत्र तादृशम् । ["पालाशो दण्ड आषाढः ।" इत्यभिधानचिन्तामणिः ।] पूर्वाषाढा उत्तराषाढेति नक्षत्रद्वयं प्रसिद्धम् । आलक्ष्येति । आलक्ष्यमाणमूलम्—आलक्ष्यमाणानि (= सर्वत्र दृश्यमानानि) मूलानि (=तपस्विभक्ष्यरूपाणि मूलानि, यद्वा तरुमूलानि) यत्र तादृशम् । पक्षे—आलक्ष्यमाणम् (=समन्ताद् दृश्यमानम्) मूलम् (=एतत्संज्ञकं नक्षत्रम्) यत्र तादृशम् ।

एकान्तेति । एकान्तेत्यादिः—एकान्ते (= एकस्मिन् भागे) स्थिताः (= विद्यमानाः) चारवः (=मनोहराः) तारकमृगाः (=श्वेतमृगाः) यत्र तादृशम्, यद्वा एकान्ते स्थिताः, चारु (=मनोहरे) तारके (=कनीनिके) येषां ते चारुतारकाः, तादृशाः मृगाः यत्र तादृशम् । पक्षे—एकान्ते (=एकस्मिन् भागे) स्थितं चारुतारकम् (=सुन्दरनक्षत्रम्, तद्रूपम्) मृगः (=मृगशिरो-नक्षत्रम्) यस्मिन् तादृशम् । अमरलोकाश्रमम् = देवलोकाश्रमम्, इव, गगनतलम्=नभोमण्डलम्, अध्यतिष्ठत्=अधितस्थौ । अत्र देवलोकाश्रमस्य गगनतलस्य च साम्य-वर्णनादुपमा सा च श्लेषानु-प्राणितेति बोध्यम् ।

चन्द्राभरणभृत इति । चन्द्राभरणभृतः—चन्द्रः (=शशी) एव आभरणम् (=आभूषणम्) तद् बिभर्ति (=धारयति) यः तस्मात्, तारकेत्यादिः—तारकाः (=नक्षत्राणि) एव कपालशकलानि (=मानवमूर्धखण्डानि) तैः अलङ्कृतात् (=विभूषितात्) तादृशात्, अम्बरतलात् =गगनमण्डलात्

मरीचि आदि ऋषियों के समूह से युक्त था); जो अरुन्धती नामक नक्षत्र के संचरण से पवित्र है, (आश्रम-पक्ष में अरुन्धती =वसिष्ठपत्नी के संचरण से पवित्र था), जिसमें आषाढा =पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा नामक नक्षत्र हैं, (आश्रमपक्ष में—जिसमें आषाढ=ब्रह्मचारियों के दण्ड रखे गये थे), जिसमें मूलनामक नक्षत्र दिखाई दे रहा है (आश्रमपक्ष में—जिसमें वृक्षों की जड़ें दिखाई दे रही थी), जिसका एक भाग सुन्दर मृगशिरा नामक तारा से युक्त है, (आश्रमपक्ष में— जिसमें एक ओर सुन्दर पुतलियों वाले मृग अथवा सुन्दर श्वेतहरिन रहते थे,) (ऐसे देवलोक के आश्रम-सदृश गगन-तल पर चन्द्रमा विराजमान हो गया था ।)

चन्द्ररूपी आभूषणवाले, तारागणों के समान कपालखण्डों से विभूषित त्र्यम्बक (शिव) के उत्तमाङ्ग (शिर) से, सागरों को भरती हुई, हंसों के समान उज्ज्वल गंगा के समान चाँदनी

१. पविवित्रतम्, पवित्रम् । २. उपलक्ष्यमाण । ३. तारकामृगम् । ४. क्वचित्तु 'तल' इदं नास्ति ।

सागरानापूरयन्ती[1] हंस-धवला धरण्यामपतज्ज्योत्स्ना। हिमकरसरसि विकच-पुण्डरीक-सिते चन्द्रिका-जलपान-लोभादवतीर्णो निश्चलमूर्त्तिरमृतपङ्क-लग्न इवाऽदृश्यत[2] हरिणः। तिमिर-जलधर-समयापगमानन्तरम्[3] अभिनव-सित-सिन्दुवार[4]-कुसुम-पाण्डुरैरर्णवागतै[5]रवागाह्यन्त[6]

त्र्यम्बकोत्तमाङ्गात्—त्रीणि (=त्रिसंख्याकानि) अम्बकानि (=नेत्राणि) यस्य तस्य शङ्करस्येत्यर्थः, उत्तमाङ्गात् (=मस्तकात्) गङ्गा = भागीरथी, इव, सागरान् = समुद्रान्, आपूरयन्ती = सर्वतः परिपूर्णान् कुर्वन्ती, हंसधवला (=मरालवत्शुभ्रा) ज्योत्स्ना = चन्द्रिका, धरण्याम् = भूमौ, अपतत् = पपात। पक्षे - तारकाः = नक्षत्राणि एव यानि कपालशकलानि तैः विभूषितात्। शङ्करस्य मस्तके कपालशकलानि नक्षत्राणि इव शोभन्ते। गगनतले नक्षत्राणि एव कपालशकलानि तैस्तस्य शोभा भवति। पौर्णमास्यादौ चन्द्रिकोदये सागराणां पूरणं प्रसिद्धम्। गंगा अपि स्वजलेन सागरान् परिपूरयतीत्यपि विदित-प्रायमेव। धवलत्वमप्युभयत्र समानम्। एवञ्च पूर्णोपमाऽलङ्कारः।

हिमकर-सरसीति। विकचेत्यादिः–विकचानि (=विकसितानि) यानि पुण्डरीकाणि (= कमलानि) तद्वत्सिते (=धवले), पक्षे – विकचपुण्डरीकैः सिते। हिमकरसरसि—हिमकरः (=चन्द्रः) एव सरः (=कासारः) तस्मिन्। चन्द्रिकेत्यादिः— चन्द्रिका (=ज्योत्स्ना) एव जलम् (=वारि) तस्य यत् पानम् (=आस्वादः) तस्य लोभः (=गर्धः) तस्मात्, अवतीर्णः = मध्यप्रविष्टः, निश्चल-मूर्तिः—निश्चला (=अविचला) मूर्तिः (=स्वरूपम्) यस्य स तादृशः, हरिणः = चन्द्रमध्यस्थितशशः, अमृतपङ्कलग्नः – अमृतम् (= पीयूषम्) एव पङ्कः (=कर्दमः) तस्मिन् लग्नः (=संसक्तः), इव अलक्ष्यत = अदृश्यत। यथा कश्चन पिपासुः हरिणः सरसि अवतीर्णः सन् तत्र स्थितेन पङ्केन लिप्तो भवति तथैव चन्द्रस्य हरिणोऽपि अमृतपङ्कव्याप्त इवादृश्यत। 'अमृतपङ्कलग्न इव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा, 'हिमकर-सरसि' इत्यत्र रूपकं चानयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावात् सङ्करालंकारः।

चन्द्रोदयस्य शोभातिशयं वर्णयन्नाह - तिमिरेति। तिमिरेत्यादिः --तिमिरम् (=अन्धकारः) एव जलधरसमयः (= वर्षाकालः) तस्य यः अपगमः (=निवृत्तिः, अभावः), तस्माद् अनन्तरम् (=पश्चात्), अभिनवेत्यादिः--अभिनवानि (=प्रत्यग्राणि) सितानि (=शुभ्राणि) च यानि सिन्धुवारकुसुमानि (=निर्गुण्डीपुष्पाणि) तानीव पाण्डुरैः (=शुभ्रैः), तथा अर्णवागतैः = अर्णवेभ्यः

[—चन्द्ररूपी आभूषण वाले, तारागणरूपी कपालखण्डों से सुशोभित आकाशमण्डल से सागरों को (ज्वारभाटा उठा कर) भरती हुई, हंसों द्वारा या हंसों के समान श्वेत दिखाई देने वाली,—] पृथिवी पर गिरी = फैल गई। [यहाँ शिव जी के मस्तक और आकाशतल का तथा गंगा और ज्योत्स्ना का, इन दोनों के उपमानोपमेयभाव हैं। अतः दो सादृश्यों की प्रतीति होती है।] खिले हुए कमलों के समान श्वेत (सरोवर-पक्ष में— खिले हुए कमलों से श्वेत) हिमकर = चन्द्ररूपी सरोवर में निश्चल शरीरवाला हरिण (=चन्द्र का कलंक, मृग) ऐसा दिखाई देने लगा मानों कि [वह मृग] चाँदनी रूपी जल को पीने के लोभ से उतरा (और) कीचड़ में फँस गया हो, कीचड़ से लिप्त हो गया हो।

अन्धकार रूपी वर्षाकाल के बीत जाने के बाद नये और सफेद सिन्दुवार के फूलों के समान श्वेत चन्द्रकिरणों ने, जलाशयों से आये हुए [तथा ताजे और श्वेत सिन्दुवार के फूलों के समान सफेद] हंसों के समान, कुमुदों वाले सरोवरों में आलोडन किया, उनमें फैल गईं। [चन्द्रमा की

१. सागरम्। २. इवाऽलक्ष्यत। ३. समयानन्तरम्। ४. सिन्धुवार। ५. गगनागतैः। ६. प्रगाह्यन्त, प्रगृह्यन्त।

हंसैरिव कुमुद-सरांसि चन्द्रपादैः। विगलित-सकलोदयरागं रजनिकर-बिम्बमम्बरापगावगाह-धौत-सिन्दूरमैरावत-कुम्भस्थलमिव तत्क्षणमलक्ष्यत।

शनैः शनैश्च दूरोदिते भगवति हिमततिस्रुति[1], सुधाधूलि-पटलेनेव धवली-कृते[2] चन्द्रातपेन जगति, अवश्यायजलबिन्दु-मन्दगतिषु[3] विघटमान-कुमुदवन-कषाय-परिमलेषु[4] समुपोढ-निद्रा-

(=समुद्रेभ्यः) आगतैः (=आयातैः), अत्र जलाशयेभ्यः समागतैरित्यर्थो बोध्यः, हंसानां समुद्रे-निवासात्, पक्षे—अर्णवान् = जलाशयान् प्राप्तैः, हंसैः = मरालैः, इव, चन्द्रपादैः =सुधांशुकिरणैः, कुमुदसरांसि =कैरवोपलक्षिततटाकाः, अवागाहन्त =आलोडयन्त, अस्पृश्यन्त च। वर्षाकाले समुद्रादिकं विहाय मरालाः सरोवरे एव विचरन्ति। चन्द्रकिरणा अपि कुमुदसरांसि अस्पृश्यन्त। अत्र श्वैत्यसाम्यात् हंस-चन्द्रपादयोरुपमानोपमेयभावो बोध्यः।

विगलितेति। विगलित-सकलोदयरागम्—विगलितः (=विलुप्तः) सकलः (=समस्तः) उदयरागः (= उदयकालिकलौहित्यम्) यस्य तत् तादृशम्, रजनिकरबिम्बम् = चन्द्रमण्डलम्, अम्बरापगावेत्यादिः—अम्बरस्य (= आकाशस्य) या आपगा (= गङ्गा) तस्याम् यः अवगाहः (= निमज्जनम्) तेन धौतम् (= प्रक्षालितम्) सिन्दूरम् (= नागजम्) यस्य तत् तादृशम्, ऐरावतकुम्भस्थलम्—ऐरावतस्य (= इन्द्रगजस्य) यत् कुम्भस्थलम् (= मस्तकपिण्डः) तदिव, तत्क्षणम् =तत्कालम्, तदानीम्, अलक्ष्यत =अदृश्यत, लोकैरिति शेषः। अतिवर्तुलत्वमूर्ध्वत्वम्वादायो-भयोः साम्यप्रतिपादनादुपमेति भावः।

[एतादृशे समये हारीतः गृहीतभोजनं विहितविश्रामं शुकं मामादाय पितरं जाबालिमवोचदिति अग्रिमान्तिमेन वाक्येनान्वयो बोध्यः।]

शनैः शनैरिति। शनैः शनैः =मन्दं मन्दम्, भगवति = ऐश्वर्यवति, हिमततिस्रुति—हिमम् (=प्रालेयम्) तस्य ततिः (= पंक्तिः) तां स्रवति (= पातयति) इति हिमतति-स्रुत्, तस्मिन् सुधांशावित्यर्थः, दूरोदिते=विप्रकृष्टप्राप्ते सति, सुधाधूलिपटलेन—सुधा (=अमृतम्) एव धूलिपटलम् (=पांशुसमूहः) तेन, इव, चन्द्रातपेन =शशिनः प्रकाशेन, ज्योत्स्नयेति भावः, जगति = संसारे, धवलीकृते =शुभ्रीकृते सति। वस्तुतस्तु अत्र 'सुधाधूलिपटलेन' इत्यत्र सुधाशब्दो नामृतवाचकः, अपि तु सुधा =लेपनद्रव्यम् 'चूना' इति हिन्द्यां, तस्याः धूलिपटलेन—इत्येवार्थः उचितः। पुनश्च केषु

किरणों और हंसों की उपमा है।] उस समय उदयकाल की सम्पूर्ण लालिमा से रहित (जिसकी उदयकाल वाली सारी लालिमा समाप्त हो चुकी थी ऐसा) चन्द्रबिम्ब ऐसा दिखाई देने लगा मानों आकाश-गंगा में अवगाहन (स्नान) करने से धुले हुये सिन्दूर वाला ऐरावत का कुम्भस्थल (=ऐरावत हाथी का मस्तकदेश) हो।

और ओस की धारा को बहाने वाले अर्थात् चन्द्रमा के धीरे-धीरे दूर तक उदित हो जाने पर (निकल आने पर), सुधा =चूना के चूर्ण-समूह के समान चाँदनी द्वारा संसार को धवलित कर दिये जाने पर, ['सुधा' चूना ही समझना चाहिए उसी का चूर्ण होता है, सुधा=अमृत का नहीं। अतः उक्त अर्थ ही उचित है।] ओस की बूंदों [के साथ होने] के कारण मन्द-मन्द गतिवाले,

१. हिमस्रुति, हिमदीधितौ।	२. क्वचित्तु 'धवलीकृते जगति' इत्येव पाठः।
३. बिन्दुपतनमन्दः, बिन्दुपतनशीतेषु मन्द।	४. '''वघड'''।

भरालस-तारकैरन्योन्य-ग्रथित-पक्ष्मपुटैरारब्ध-रोमन्थ-मन्थर-मुखैः सुखासीनैराश्रममृगैरभिनन्दितागमनेषु प्रवहत्सु[1] निशामुखसमीरणेषु,[2] अर्द्धयाममात्रावखण्डितायां विभावर्य्यां, हारीतः कृताहारं मामादाय सर्वैस्तैर्महामुनिभिरुपसृत्य[3] चन्द्रातपोद्भासिनि तपोवनैकदेशे वेत्रासने सुखोपविष्टम्[4] अनतिदूरवर्त्तिना[5] जालपादनाम्ना शिष्येण दर्भ-पवित्र-धवित्र[6]-पाणिना

सत्सु इति प्रतिपादयति अवश्यायेति अवश्यायेत्यादिः--अवश्यायः (=हिमम्) तस्य जलबिन्दवः (=सलिलकणाः) तैः मन्दा (= मन्थरा) गतिः (= गमनम्) येषां तेषु । [अन्यानि एवं प्रकाराणि सप्तम्यन्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'निशामुखसमीरणेषु' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] विघटमानेति । विघटमानेत्यादिः--विघटमानानि (= विकासं प्राप्यमाणानि) यानि कुमुदवनानि (=कैरववनानि) तेषां यः कषायः (= तुवरः) परिमलः (= गन्धः) स येषु तेषु । समुपोढेति । समुपोढेत्यादिः--समुपोढा (= सम्यग् रूपेण प्राप्ता) या निद्रा (= स्वापः, प्रमीलनम्), तस्य यः भरः (= अतिशयः) तेन अलसाः (= मन्थराः) तारकाः (= कनीनिकाः) येषां तैः तादृशैः, अन्योन्येत्यादिः--अन्योन्यम् (= परस्परम्) ग्रथितानि (= सम्मिलितानि) पक्ष्मपुटानि (=नेत्ररोमाणि) येषां तैस्तादृशैः, आरब्धेत्यादिः--आरब्धः (=कृतारम्भः) रोमन्थः (=चर्वित-चर्वणम्) तेन मन्थराणि (=अलसानि) मुखानि (=आननानि) येषां तैस्तादृशैः, सुखासीनैः= यदृच्छयोपविष्टैः, आश्रममृगैः=तापसस्थानहरिणैः, अभिनन्दितागमनेषु=अभिनन्दितम् (=श्लाघितम्) आगमनम् (=सम्प्राप्तिः) येषां तेषु, निशामुखसमीरणेषु=सायन्तनपवनेषु, प्रवहत्सु=सञ्चलत्सु सत्सु। तथा, अर्धयाममात्रावखण्डितायाम्-- अर्धयाममात्रम् (=अर्धप्रहरमात्रम्) तेनावखण्डितायाम्=प्राप्तन्यून-तायाम्, अर्धप्रहरशून्यायामित्यर्थः, हारीतः=एतन्नामा मुनिकुमारकः, कृताहारम्--कृतः (=विहितः) आहारः भोजनम्, येन तं तादृशं माम्=वैशम्पायनशुकम्, आदाय=नीत्वा, सर्वैः=समस्तैः, तैः=पूर्व-वर्णितैः, मुनिभिः = तपस्विभिः, सहेति शेषः । चन्द्रातपोद्भासिनि--चन्द्रातपेन (= चन्द्रज्योत्स्नया) उद्भासते (=प्रकाशते) तच्छीलस्तस्मिन्, चन्द्रिकायुते इत्यर्थः, तपोवनैकदेशे=आश्रमस्यैकभागे, निर्धारितस्वस्थाने इति भावः, वेत्रासने=वेतसविरचितविष्टरे सुखोपविष्टम्=सुखेन समासीनम्, विराजमानम्, अनतिदूरवर्त्तिना--अनतिदूरे (=नातिसमीपे) वर्तते तच्छीलस्तादृशेन, दर्भपवित्रेत्यादिः--दर्भः (=कुशः) तद्वद् पवित्रम् (=पूतम्) यद् धवित्रम् (=मृगचर्मविनिर्मितं तालवृन्तम्) तत् पाणौ (=करे) यस्य स तेन तादृशेन, जालपादनाम्ना=जालपाद इति नाम (=आख्या) यस्य

खिलते हुए कुमुद-वन के कषाययुक्त गन्धवाले, आई हुई गहरी नींद के भार के कारण अलसाई पुतलियों वाले, परस्पर मिले हुए पलक-समूहों वाले, आरम्भ कर दी गई जुगाली से अलसाये मुख वाले तथा आराम से बैठे हुए आश्रममृगों के द्वारा अभिनन्दित आगमन वाले--रात के प्रारम्भकालिक पवन के चल जाने पर अर्थात् जब रात के समय के प्रारम्भ की हवा चलने लगी थी, रात के केवल आधा पहर टूटने=बीत जाने पर, भोजन कर चुके हुए मुझे लेकर हारीत ने उन सभी महामुनियों के साथ समीप में जाकर, चाँदनी से खूब प्रकाशित तपोवन के एक स्थान में बेंत के (बने हुए)

१. प्रवात्सु । २. समीरेषु । ३. तैः सह मुनिभिः ।
४. वेत्रासनोपविष्टम् । ५. नातिदूरवर्त्तिना । ६. क्वचित्तु 'धवित्र' इदं नास्ति ।

मन्दमन्दमुपवीज्यमानं[1] पितरमवोचत्[2]— 'हे[3] तात! सकलेयमाश्चर्यश्रवण-कुतूहलाकलित-हृदया[4] समुपस्थिता तापस-परिषदाबद्धमण्डला प्रतीक्षते[5]। व्यपनीतश्रमश्च कृतोऽयं पतत्रिपोतः। तदावेद्यतां— यदनेन[6] कृतमन्यस्मिञ्जन्मनि कोऽयमभूद्भविष्यति चेति।

एवमुक्तस्तु[7] स महामुनिरग्रतः[8] स्थितं मामवलोक्य तांश्च सर्वानेकाग्राञ्छ्रवणपरान् मुनीन्

स तादृशेन, शिष्येण=अन्तेवासिना, मन्दमन्दम् = शनैः शनैः, उपवीज्यमानम्=विधीयमानपवनम्, एतादृशं पितरम् = जनकम्, जावालिमित्यर्थः, अवोचत् = अकथयत्, प्रार्थयत। ["अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारं तुहिनं हिमम्।" अमरः १।३।१८। "तुवरस्तु कषायोऽस्त्री··· ···।" अमरः १।५।९। "द्वौ यामप्रहरौ समौ।" अमरः १।।६।। "धवित्रं मृगचर्मणः। इति भानुचन्द्रोद्धृतकोशः। "धवित्रं व्यजनं तद्यद्रचितं मृगचर्मणा।" इत्यमरः" इति लेखस्तु प्रमादमूलकः, अमरकोषे एतादृशवाक्यानुपलब्धेः।]

सः किमुवाचेति निरूपयति—हे तातेति। हे तात!=हे पितः!, आश्चर्येत्यादिः—आश्चर्यम् (=कुतूहलम्,अज्ञातज्ञानविषयकमौत्कण्ठ्यम्) तस्य यत् श्रवणम् (=आकर्णनम्) तत्र यत् कुतूहलम् (=कौतुकम्) तेन आकलितम् (=व्याप्तम्) हृदयम् (=चित्तम्) यस्याः सा तादृशी। तथा—आबद्धपरिमण्डला—आबद्धम् (= विरचितम्) मण्डलम् (= गोलाकारसमूहः) यया सा तादृशी, समुपस्थिता=श्रोतुं समागता, इयम्=पुरोवर्तिनी, सकला=समस्ता, तापसपरिषत्=तपस्विसभा, प्रतीक्षते = प्रतीक्षारता विद्यते, भवद्वचनारम्भमीहते। विलम्बं न सहते इति भावः। अयम् = पुरोवर्ती एषः, पतत्रिपोतः = शुकशावकः, च, व्यपनीतश्रमः = व्यपनीतः (=दूरीकृतः) श्रमः (=क्लान्तिः) यस्य स तादृशः, वर्तते। तत्=तस्मात्, अनेन=एतेन शुकशावकेन, यत् कृतम्= विहितम्, अन्यस्मिन्=पूर्वस्मिन्, आगामिनि, च, जन्मनि=जनने, अयम्=एषः शुकशिशुः, कः= किम्पदवाच्यः, आसीत्=अभूत, वा=अथवा, कः भविष्यति=भविता, जायिष्यते।

एवमिति। एवम्=पूर्वप्रकारेण, उक्तः=कथितः प्रार्थितः, सः=पूर्वोक्तः, महामुनिः=महर्षिजाबालिः, अग्रतः=अग्रे, स्थितम् = आसीनम्, विद्यमानम्, माम्=शुकशावकम्, अवलोक्य=दृष्ट्वा, तान्=पूर्ववर्णितान् आश्रमनिवासिनः, सर्वान्=समस्तान्, मुनीन्=तापसान्, एकाग्रान्=एकतानान्, अन्यवृत्तिशून्यान्, श्रवणपरान्=आकर्णनपरान्,शुश्रूषून्, बुद्ध्वा=ज्ञात्वा, च=पूर्वसमुच्चये, शनैः शनैः=

आसन पर सुख से बैठे हुए, (तथा) कुछ ही दूर पर स्थित कुश के समान पवित्र मृगचर्म के पंखे को हाथ में लिए हुए जालपादनामक शिष्य द्वारा धीरे-धीरे पंखा झले जाते हुए (पंखा से हवा किये जाते हुए) पिता जाबालि से कहा—"हे पिता जी! आश्चर्य (जनक या परिपूर्ण कथा) को सुनने के लिए (उत्पन्न) कुतूहल से व्याप्त हृदय वाली, [आपकी सेवा में] उपस्थित हुई, चारो ओर घेरा बनाये [बैठी] हुई तपस्वियों की यह पूरी सभा [आपके कथन की] प्रतीक्षा कर रही है। और इस पक्षी के बच्चे को भी श्रमरहित कर दिया गया है। इसलिये अब आप बताइये— इसने [पूर्वजन्म में] क्या किया था ? पूर्व जन्म में यह कौन था और [भावी जन्म में] क्या बनेगा ?"

ऐसा कहे गये महामुनि जाबालि ने आगे (सामने) रखे गये मुझे देखकर और उन समस्त

१. मन्दम्। २. उवाच। ३. 'हे' इदं नापि दृश्यते। ४. आकुलितहृदया। ५. प्रतीक्ष्यते। ६. किमनेन कृतमपरस्मिन् जन्मनि कोऽयमभूद्भविष्यति चेति। ७. इत्येवमुक्तस्तु। ८. अग्रस्थितम्।

बुद्ध्वा शनैः शनैरब्रवीत्—'श्रूयतां यदि कौतूहलम् ।'

॥ इति श्रीमहाकवि-बाणभट्ट-विरचितायां कादम्बर्यां कथामुखम् ॥

—:०:—

मन्दमन्दम्, अतिवृद्धत्वात् क्षीणस्वरत्वाच्चेति भावः. अब्रवीत् = अवोचत् । किमुवाचेत्याह—'यदि = चेत्, कौतूहलम् = कौतुकम्, श्रवणोत्कण्ठयम्, तर्हि, श्रूयताम् = आकर्ण्यताम्, भवद्भिरिति शेषः । पुत्रस्य तापसानां च प्रार्थना नोपेक्ष्येति तेषां कुतूहलोपशमनमावश्यकं मत्वा शुकस्य पूर्वजन्मादि वृत्तान्तं वर्णयितुं प्रवर्तते जावालिरिति भावः ।

॥ इति जयशङ्करलाल-त्रिपाठि-विरचितायां 'भावबोधिन्यां' संस्कृत-व्याख्यायां कादम्बर्याः कथामुखम् ॥

—:०:—

मुनियों को एकाग्र तथा सुनने में तत्पर समझ कर धीरे-धीरे कहा—"यदि [सुनने की] उत्सुकता है तो सुनिये ।"

॥ इस प्रकार जयशङ्कर लाल त्रिपाठी द्वारा विरचित 'भावबोधिनी' हिन्दी-व्याख्या में 'कादम्बरी' का कथामुख समाप्त हुआ ॥

कृपातो विश्वनाथस्य गुरुपितृप्रसादतः ।
कादम्बरीकथामुखं व्याचष्ट 'जयशङ्करः' ॥

———

अथ कथाप्रारम्भः

उज्जयिनीवर्णनम्

अस्ति सकल-त्रिभुवन-ललामभूता, प्रसव-भूमिरिव कृतयुगस्य, आत्मनिवासोचिता भगवता महाकालाभिधानेन भुवनत्रय-सर्ग-स्थिति-संहारकारिणा प्रमथनाथेनापरेव पृथिवी

नत्वा गणेशं गिरिजां महेशं
वाग्देवतां सङ्कटमोचनं च।
कादम्बरी-मुख्यकथानकस्य
व्याख्यां प्रकुर्वे 'जयशङ्करो'ऽहम्॥

साम्प्रतं वैशम्पायन-विहितस्याविनयस्य प्रदर्शनाय विस्तरेण कथां प्रस्तोतुकामो महाकविर्बाण-भट्टस्तावदुज्जयिनीवैभवं वर्णयति—अस्तीति। अस्य क्रियापदस्य वक्ष्यमाणेन पदसमुदायेन 'अवन्तीषूज्जयिनी नाम नगरी' इत्यनेन सम्बन्धो बोध्यः। नगरी कर्तृत्वेनोपात्ता। एवञ्च स्त्रीलिङ्गे यानि प्रथमान्तानि पदानि तानि 'उज्जयिनी' इत्यस्य विशेषणानीति ध्येयम्। अन्यविभक्त्यन्तानि पदानि त्वन्येषामग्रे वक्ष्यमाणानां विशेषणानीत्यपि बोध्यम्।

सकलेति। सकलेत्यादिः—सकलम् (=समस्तम्) यत् त्रिभुवनम् (=त्रिविष्टपम्) तत्र तस्य वा ललामभूता (= प्रधानस्वरूपा, भूषणभूता वा)। ["ललामं पुच्छ-पुण्ड्राश्वभूषाप्राधान्य-केतुषु।' अमरः ३।३।१४४] कृतयुगस्य=सत्ययुगस्य, प्रसवभूमिः=जन्मभूः, इव। [उत्प्रेक्षा बोध्या]

भुवनेति। भुवनत्रयेत्यादिः—भुवनत्रयस्य (= लोकत्रितस्य) यं—सर्गः (=सृष्टिः) स्थितिः (=अवस्थानम्) संहारः (=विनाशः) च तान् करोति (=विदधाति) इति तच्छीलः-तत्स्वभावः, तादृशेन, प्रमथनाथेन (=स्वगणानामीश्वरेण), भगवता=ऐश्वर्यसम्पन्नेन, माहात्म्यवता, महाकालाभिधानेन= महाकाल इति अभिधानम् (=नाम) यस्य स तादृशेन, आत्मनिवासोचिता—आत्मनः (=स्वस्य) यो निवासः (=अवस्थानम्) तत्र उचिता (=योग्या), [पवित्रत्वात् विस्तृतत्वाच्चेति भावः] अपरा इव= एतद्भिन्ना इव, पृथिवी = वसुधा, समुत्पादिता=रचिता, निर्मिता। अत्रापि इवशब्द उत्प्रेक्षायाम्।

प्रणम्य परमात्मानं गुरु-पितृ-पदाम्बुजम्।
हिन्द्यां कादम्बरी-व्याख्यां कुरुते जयशङ्करः॥

उज्जयिनी-वर्णन

['अस्ति' पद का सम्बन्ध अन्त में प्रयुक्त 'उज्जयिनी नाम नगरी' के साथ करना है।]

अवन्ति देश में 'उज्जयिनी' नामक नगरी है, जो समस्त त्रिभुवन (तीन लोकों) की अलङ्काररूपा अथवा प्रधानभूत है, मानों सत्ययुग की जन्मभूमि हो, तीनों लोकों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय (उत्पत्ति, पालन और संहार) के करने वाले, प्रमथों के अधिपति 'महाकाल'[1] इस नाम वाले

---

१ स्कन्दपुराण के अनुसार और परम्परानुसार उज्जयिनी के 'महाकाल' द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से एक हैं—"आकाशे तारकं लिङ्गं पाताले हाटकेश्वरम्। मर्त्यलोके महाकालं दृष्ट्वा काममवाप्नुयात्।"

समुत्पादिता, द्वितीय-पृथिवी-शङ्कया जलनिधिनेव रसातल-गभीरेण[1] परिखा-वलयेन[2] परिवृता, पशुपति-निवास-प्रीत्या गगनपरिसरोल्लेखि[3]शिखरमालेन कैलास-गिरिणेव सुधासितेन प्राकार-मण्डलेन परिवृता,[4]—

—प्रकट-शङ्ख-शुक्ति-मुक्ता-प्रवाल-मरकत-मणिराशिभिश्चामीकर-चूर्ण-सिकता-निकर-

द्वितीयेति। द्वितीयेत्यादिः—द्वितीया (= दृश्यमानायाः भिन्ना) या पृथिवी (=वसुधा) तस्याः शङ्कया (=सन्देहेन), जलनिधिना (=समुद्रेण) रसातलगभीरेण = रसातलम् (= पृथिव्याः अधोभागः) तं यावद् गभीरेण (=गम्भीरेण, अलब्धमध्येन) परिखावलयेन— परिखा (=खातिका) एव वलयम् (= मण्डलम्) तेन, परिवृता = परिवेष्टिता। अतिशयोक्तिरुत्प्रेक्षा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः। ['खेयं तु परिखा।' अमरः १।१०।२९। 'कटको वलयोऽस्त्रियाम्।' २।६।१०७]

पशुपतीति। पशुपतीत्यादिः—पशुपतिः (= महाकालनामा शङ्करः) तस्य निवासः (=अवस्थितिः) तेन या प्रीतिः (=अनुरागः) तया। गगनेत्यादिः— गगनस्य (=आकाशस्य) यः परिसरः (=पर्यन्तभूः) तस्य उल्लेखिनी (= संघर्षेण विदारिणी, स्पर्शिनी वा) शिखरमाला (=शृङ्गपङ्क्तिः, पक्षे— ऊर्ध्वांशसमूहः) यस्य स तेन तादृशेन तथा सुधासितेन (=सुधाख्य-गृहधवली'करण-द्रव्यविशेषेण श्वेतेन, पक्षे—सुधावत् शुभ्रेण), कैलाशगिरिणा = कैलासाख्यपर्वतेन, इव [उत्प्रेक्षा] प्राकारमण्डलेन = वप्रवलयेन, परिवृता = परिवेष्टिता। उत्प्रेक्षालङ्कारः। [पर्यन्तभूः परिसर। इति भानुचन्द्रोद्धृताभिधानचिन्तामणिः। 'स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम्।' अमरः २।२।३। प्राकारः वरणः सालः··· ···। अमरः २।२।३ इति सामान्यतया भेदेऽपि व्यवहारे समानार्थतयैव प्रयोगदर्शनाद् वप्रप्राकारयोस्तुल्यार्थत्वं बोध्यम्।]

प्रकटेति। प्रकटेत्यादिः—प्रकटाः (=स्पष्टाः) ये शङ्खाः (=कम्बवः) शुक्तयः (=सागरमण्डूक्यः) मुक्ताः (=मौक्तिकानि), प्रबालानि =विद्रुमाणि) मरकतमणयः (=अश्मगर्भरत्नानि) च, तेषां राशयः (= समुदायाः) येषु तैस्तादृशैः, चामीकरेत्यादिः—चामीकरस्य (=सुवर्णस्य) चूर्णानि (=धूलयः) एव सिकतानिकराः (=बालुकासमूहाः) तैर्निचितैः=व्याप्तैः; अगस्त्येत्यादिः—अगस्त्यः (=घटोद्भवः महर्षिः) तेन परिपीतम् (=सम्यग् धयितम्), सलिलम् (=जलम्) येषां तैस्तादृशैः, आयामिभिः = विस्तृतैः, सागरैः = समुद्रैः, इव =तुल्यैः, महाविपणिपथैः = महती (=अतिदीर्घा) या विपणिः (=पण्यवीथिका) तस्याः ये पन्थानः (= विविधमार्गाः) तैः, उपशोभिता = विराजिता। अत्रोपमा, उदात्तश्चानयोः संकरः। ['चामीकरं जातरूपं' महारजतकाञ्चने। अमरः २।९।९५। 'विपणिः पण्यवीथिका।' अमरः २।२।२।]

भगवान (शंकर) द्वारा मानों अपने रहने योग्य दूसरी पृथिवी बनाई गई हो, [इसके चारो ओर] रसातल (पाताल) के समान गहरी परिखा (खाई) मण्डल द्वारा ऐसे घेर ली गई है मानों दूसरी पृथिवी समझ कर समुद्र द्वारा घेर ली गई हो, जो आकाशतल (आकाश का ऊँचा भाग) को छूते हुए शिखरों (कंगूरों) वाले, सुधा (चूना) से पुते होने से सफेद प्राकारों (=परकोटों, चहार-दीवारों) के समूह से घिरी हुई है अतः ऐसा लगता है मानों शिव जी के निवास-स्थान के अनुराग (आकर्षण) के कारण (आकाश को छूते हुए शिखरों के समूह वाले, चूने या अमृत के समान सफेद) कैलास पर्वत ने ही घेर रखा हो।

१. गम्भीरेण। २. जलपरिखा। ३. गगनतलोल्लेखि। ४. परिगता।

निचितैरायामिभिरगस्त्यपरिपीत-सलिलैः सागरैरिव महाविपणिपथैरुपशोभिता, सुरासुर-सिद्ध-गन्धर्व-विद्याधरोरगाध्यासिताभिश्चित्रशालाभिरविरतोत्सव-प्रमदावलोकन-कुतूहलादम्बरतला-दवतीर्णाभिर्दिव्यविमान-पङ्क्तिभिरिवालङ्कृता, मथनोद्धत-दुग्ध-धवलित-मन्दर-द्युतिभिः

सुरासुरेति । सुरासुरेत्यादिः—सुराः (=देवाः) असुराः (=राक्षसाः) सिद्धाः (= देवयोनिविशेषाः) गन्धर्वाः (=देवगायनाः), विद्याधाराः (=व्योमचारिणः देवयोनिविशेषाः), उरगाः (=भुजगाः) च, तैः अध्यासिताभिः (= आश्रिताभिः, चित्ररूपेणेति भावः), चित्रशालाभिः = आलेख्यभवनैः । अविरतेत्यादिः--अविरतम् (=सततम्) य उत्सवः (=महः) तस्मिन् याः प्रमदाः (=मत्ताः कामिन्यः) तासां [अथवा यः प्रमदः=प्रकृष्टानन्दः तेन] यद् अवलोकनम् (=दर्शनम्) तदेव कुतूहलम् (=कौतुकम्) तस्मात् कारणात्, अम्बरतलात्=आकाशमण्डलात्, अवतीर्णाभिः = भूलोकं प्राप्ताभिः, दिव्यविमानपङ्क्तिभिः—दिव्याः-(दिवि=स्वर्गे भवाः दिव्याः=देवाः) तेषां विमानानाम् (=यानानाम्) पङ्क्तिभिः (=श्रेणीभिः), इव, अलङ्कृता=विभूषिता । अत्रोत्प्रेक्षा । 'विद्याधरोऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः । पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ।' अमरः १।१।११ 'दिवि भवाः' इत्यर्थे 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' (पा० सू० ४।२।१०१) इति यति प्रत्यये—'दिव्य' इति साधु ।

मथनोद्धतेति । मथनेत्यादिः—मथनम् (= क्षीरसागरविलोडनम्) तस्मिन् उद्धतम् (=उत्थितम्) यत् दुग्धम् (=क्षीरम्) तेन धवलितः (=शुभ्रीकृतः) यः मन्दरः (=मन्दराचलः) [तस्य द्युतिः=कान्तिः] इव द्युतिः (= कान्तिः) एषां तादृशैः । यद्वा मथने उद्धतः दुग्धेन

जो नगरी [बेचने के लिए] प्रदर्शित किये गए शंख, सीप, मुक्ता, प्रबाल (मूंगा) और मरकत-मणियों के समूह से युक्त तथा चामीकर (=सोने) के चूर्ण (पाउडर) के कणों के समूह से व्याप्त (भरे हुए) लम्बे-चौड़े, बड़े-बड़े बाजारों (में जाने वाले) मार्गों से ऐसे सुशोभित है कि मानो ये (मार्ग) सागर हैं जिनका सम्पूर्ण जल अगस्त्य ऋषि ने पी लिया है । [इस लिये जल के अभाव से इसमें शंख, सीपी, मोती, मूंगे तथा मरकत मणियाँ और सोने के चूर्ण के समान चमकती वालू के ढेर दिखाई दे रहे हैं ।] जो (नगरी) सुरों, असुरों, सिद्धों, गन्धर्वों, विद्याधरों और उरगों (नागों) [के चित्रों] से युक्त (बने हुए चित्रों वाली) चित्रशालाओं से सजी हुई है, मानो [इस नगरी में] सदैव मनाये जाने वाले उत्सवों में [एकत्रित आई हुई] सुन्दरियों को देखने की तीव्र इच्छा से अम्बरतल (स्वर्ग) से नीचे उतरी हुई दिव्य (=देवताओं की) विमानों की पंक्तियाँ हों, [चित्र में बने देवी-देवताओं के समूह देखने पर ऐसे लगते हैं मानों उज्जयिनी के नित्य महोत्सवों में एकत्रित सुन्दरियों को देखने के लिए देवताओं के विमानों का समूह नीचे उतर आया है ।]

वह (नगरी) ऐसे देवमन्दिरों से सुशोभित चौराहों (शृङ्गाटकों) वाली है जो (मन्दिर) [क्षीरसागर के] मथने से ऊपर उठे हुए दूध से श्वेत किये गए मन्दराचल की कान्ति के समान कान्ति वाले हैं, सोने के स्वच्छ कलसों से युक्त शिखरों वाले हैं, हवा से हिलती हुई श्वेत ध्वजाओं वाले हैं, [अतः] मानों ऊपर से गिरती हुई आकाशगङ्गावाले हिमालय के शिखर हों । [हिमालय

१. रचितैः । २. अनवरतोत्सवावलोकन । ३. मन्थनोद्धतदुग्धसिन्धुधवल ।

कनकमयामल-वलश-शिखरैरनिल-दोलायित-सित-ध्वजैरुपरिपतदभ्रगङ्गैरिव तुषारगिरि-शिखरै-रमर-मन्दिरैर्विराजित-शृङ्गाटका,—

—सुधावेदिकोपशोभितोदपानैरनवरत-चलित-जल-घटीयन्त्र-सिच्यमान-हरितोपवना-न्धकारैः[1] केतकी-धूलिधूसरैरुपशल्यकैरुपशोभिता, मद-मुखर-मधुकर-कुलान्धकारित-निष्कुटा, स्फुरदुपवन-लता-कुसुम-परिमल-सुरभि-समीरणा,—

धवलितश्च यो मन्दरः तस्येव कान्तिर्येषां तैः। कनकेत्यादिः—कनकमयाः (= स्वर्णमयाः), अमलाः (= स्वच्छाः) कलशाः (= लघुकुम्भाः) ते एव शिखराः (= ऊर्ध्वभागाः) येषां तैः यद्वा कलशाः शिखरेषु येषां तैस्तादृशैः। अनिलेत्यादिः—अनिलैः (= पवनैः) दोलायिताः (= सञ्चालिताः) सिताः (= श्वेताः) ध्वजाः (= वैजयन्त्यः) येषु तैस्तादृशैः, अतएव, उपरिपतदभ्रगङ्गैः—उपरि (= ऊर्ध्वभागे) पतन्ती (= स्रवन्ती) अभ्रगङ्गा (= मन्दाकिनी) येषु तैः तादृशैः, तुषारगिरि-शिखरैः—तुषारगिरेः (= हिमालयस्य) शिखरैः (= शृङ्गैः), इव, अमरमन्दिरैः = देवालयैः, विराजित-शृङ्गाटका = विराजितानि (= शोभमानानि) शृङ्गाटकानि (= चतुष्पथानि) यस्यां सा। उपमा ['शृङ्गारकचतुष्पथे।' अमरः २।१।१७]

सुधावेदिकेति। सुधावेदिकेत्यादिः—सुधा (= श्वेतकरणोपयोगिलेपनद्रव्यविशेषः, 'चूना' इति हिन्दयाम्) तया उपलक्षिताः या वेदिकाः (= परिष्कृतभूमयः) सुधोपलिप्तवेदिका इति भावः ताभिः, उपशोभितानि (= शोभां प्रापितानि) उदपानानि (= कूपाः) येषु तैः तादृशैः। अनवरते-त्यादिः—अनवरतम् (= निरन्तरम्) चलितानि (= भ्रमितानि) यानि जलघटीयन्त्राणि (= वारि-कुम्भरचितयन्त्राणि) तैः सिच्यमानानि (= प्रोक्ष्यमाणानि आर्द्रीक्रियमाणानि) यानि हरितानि (= हरिद्वर्णानि) उपवनानि (= आरामाः) तानि एव अन्धकाराः (= तमांसि), यद्वा तेषाम् अन्धकारः (= तिमिरम्) येषु तैः तादृशैः, केतकीधूलिधूसरैः = केतक्यः (= शिवपूजनवर्जितपुष्प-विशेषाः) तासां धूलिभिः (= परागैः) धूसरैः (= ईषत्पाण्डुभिः), उपशल्यकैः (= ग्रामसीमभिः) उपशोभिता = समलङ्कृता। रूपकम्। ["पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपानं तु पुंसि वा।" अमरः १।१०।२६। "ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्।" अमरः २।२।२०।]

मदमुखरेति। मदमुखरेत्यादिः—मदेन (= मधुपानेन) मुखराणि (= वाचालानि) यानि मधुकरकुलानि (= भ्रमरसमूहाः), तैः अन्धकारिता (= जनितान्धकाराः) निष्कुटाः (= गृहारामाः, गृहभागस्थितोपवनानि) यस्यां सा तादृशी। ["गृहारामास्तु निष्कुटाः।" अमरः २।४।१]

स्फुरदिति। स्फुरदित्यादिः—स्फुरन्त्यः (= उल्लसन्त्यः) याः उपवनलताः (= आराम-व्रततयः) तासां यानि कुसुमानि (= पुष्पाणि) तेषां परिमलेन (= आमोदेन) सुरभिः (= घ्राण-तर्पणः) समीरणः (= पवनः) यस्यां सा तादृशी।

के शिखर भी मथने से उछले हुए दूध से श्वेत किये गये मन्दराचल की कान्ति के समान कान्ति वाले हैं, स्वर्णनिर्मित उज्ज्वल कलसों के समान अग्रभाग वाले हैं, ऊपर गिरती हुई आकाश-गंगा वाले होने से मानों हवा द्वारा हिलायी जाती हुई सफेद पताकाओं से युक्त हों।]

जो सुधा = चूने की वेदियों अर्थात् चूने से पोती गई या बनाई गई वेदियों (पनघटों, कुयें की मेड़ों) से शोभायुक्त कुओं वाली, हमेशा चलते हुए जल-घटी-यन्त्रों (= रेहटों) द्वारा सींचे जाते हुए हरे हरे बगीचों के अन्धकारवाली और केतकी (केवड़ा) के (फूल के) पराग = धूलि से

---

१. पवलान्ध।

—रणित-सौभाग्यघण्टैरालोहितांशुक-पताकैराबद्ध-रक्तचामरैर्विद्रुममयैः प्रतिगृहम्[1] उच्छ्रितैर्मकराङ्कितैः[2] सदन[3]-यष्टिकेतुभिः प्रकाशित-मकरध्वज-पूजा, सतत-प्रवृत्ताध्ययन-ध्वनि-धौतकल्मषा,—

—स्तिमित-मुरज-रवगम्भीर-गर्जितेषु सलिल-सीकरासार-स्तबकरचित-दुर्दिनेषु पर्यस्त[4]-

साम्प्रतमन्यप्रकारेण नगरीं विशिनष्टि—रणितेति । रणितेत्यादिः—रणिताः (=रण-रणेति ध्वनिं कुर्वन्त्यः) सौभाग्यघण्टाः (=सुभगताहेतोर्न्यस्ता बृहत्किङ्किण्यः) येषु तैः तादृशैः । आलोहितेत्यादिः—आलोहिताः (= सम्यग्रक्तवर्णाः) अंशुकपताकाः (= वस्त्रमयीवैजयन्त्यः) येषु तैः तादृशैः । आबद्धेत्यादिः—आबद्धानि (=उपनिबद्धानि, सम्बद्धानि) रक्तचामराणि (=लोहितप्रकीर्णानि) येषु तैः । विद्रुममयैः=प्रवालप्रचुरैः, प्रतिगृहम्=प्रतिभवनम्, उच्छ्रितैः=ऊर्ध्वीकृतैः, मकराङ्कैः-मकरः (= मत्स्यसदृशो नक्रसदृशो वा) अङ्कः (= चिह्नम्) येषु तैः तादृशैः, सदनयष्टिकेतुभिः—सदनानि (=भवनानि) तेषां याः यष्टयः (=दण्डाः) तासु स्थिताः केतवः (=वैजयन्त्यः) तैः, प्रकाशित-मकरध्वज-पूजा—प्रकाशिता (=प्रकटिता) मकरध्वजस्य (=कामदेवस्य) पूजा (=अर्चा) यस्यां सा तादृशी ।

सततेति । सततेत्यादिः—सततम् (= अनवरतम्) प्रवृत्ताः (= प्रसृताः, उत्थिताः) ये अध्ययनध्वनयः (=श्रुत्यादिपठनशब्दाः) तैः धौतम् (=दूरीकृतम्, प्रक्षालितम्) कल्मषम् (=पातकम्) यस्यां सा तादृशी । एतेन तत्र सदा वेदाद्यध्ययनोपपत्तिः ।

अन्यदपि वैशिष्ट्यं प्रदर्शयति-स्तिमितेति । [सप्तम्यन्तानि पदानि 'धारागृहेषु' इत्यस्य विशेषणानि] स्तिमितेत्यादिः—स्तिमितः (= निश्चल) यो मुरजरवः (=मृदङ्गध्वनिः) तस्येव गम्भीरम् (= धीरम्, घोरम्) गर्जितम् (= स्तनितम् ; येषु तेषु तादृशेषु । सलिलेत्यादिः—सलिलस्य (=जलस्य), ये सीकराः (=विन्दवः) तेषाम् य आसारः (=धारासंपातः) तस्य स्तबकाः (=गुच्छकाः, समूहाः) तैः रचितम् (=विहितम्) दुर्दिनम् (=मेघाच्छन्नदिनम्, अन्धकार इति भावः) येषु तेषु तादृशेषु । पर्यस्तेत्यादिः—पर्यस्ताः (= निपतिताः काचादिविविधपदार्थेषु इति

धूसरित ग्राम-सीमाओं (उपशल्यकों) से सुशोभित है । जो मद के कारण मुखर (गुनगुनाने वाले) भौरों के समूह से अन्धकार-युक्त किये गये घरेलू बगीचों (निष्कुटों) वाली है । जो हिलती हुई उपवन की लताओं के फूलों की सुगन्ध से सुगन्धित हवाओं से युक्त है ।

जिस (नगरी) में बजती हुयी सौभाग्य (सूचक) घंटिओं वाली, कुछ लाल-लाल वस्त्रों की पताकाओं (झंडिओं) वालीं, बँधे हुए लाल चंवर वालीं, मूंगों से जड़ी हुईं, मकर की आकृति से अंकित, और ऊपर उठी हुईं, घरों [में लगी हुई] यष्टि पताकाओं (डंडों में बँधी हुई ध्वजाओं) से प्रत्येक घर में कामदेव की पूजा प्रकट होती है । निरन्तर होने वाले [वेदादि के] अध्ययन की ध्वनि से जिसके सभी पाप धुल गये हैं ।

जिस (नगरी) में निश्चल मृदङ्ग की ध्वनि के समान ध्वनि वाले, जलकणों की वर्षा के समूह से बने हुए दुर्दिन वाले, (जल में) गिरी हुईं सूर्य की किरणों से बनाये गये सुन्दर इन्द्र-धनुष वाले धारागृहों (फुव्वारों वाले घरों) में [उनको मेघ समक्ष कर] पंखों को गोल आकार में बनाये हुए और ताण्डव (नृत्य) के व्यसनी मत्त मोरों द्वारा अपनी केका (ध्वनि) से कोलाहल किया

१. प्रतिभवनम् । २. मकराङ्कैः । ३. भवन । ४. पर्यन्तविवसकरकिरणस्तबकरचित ।

रवि-किरण-रचित-सुर-चाप-चारुषु धारागृहेषु मत्त-मयूरैर्मण्डलीकृतशिखण्डैस्ताण्डव-व्यसनि-भिराबध्यमान-केकारव-कोलाहला[1, 2], --

—विकच-कुवलयकान्तैरुत्फुल्ल-कुमुद-धवलोदरैरनिमिष-दर्शन-रमणीयैराखण्डल-लोचनैरिव सहस्र-संख्यैरुद्भासिता सरोभिः, अविरल-कदली-वन-कलिताभिरमृत-फेनपुञ्ज-

शेष.) ये रविकिरणाः (=सूर्यरश्मयः) तैः रचितम् (=विनिर्मितम्) यत् सुरचापम् (=इन्द्र-धनुः) तेन चारुषु (=मनोहरेषु), धारागृहेषु = सलिलयन्त्रसदनेषु । कर्तृत्वेन मयूरान् वर्णयति—मण्डलीत्यादिः—मण्डलीकृताः (= वर्तुलाकारीकृताः) शिखण्डाः (= बर्हाणि) यैस्तैस्तादृशैः, ताण्डवव्यसनिभिः=नृत्यरसिकैः, मत्तमयूरैः = मदयुक्तबर्हिभिः, आबध्यमानेत्यादिः आबद्ध्यमानः (=संश्लिष्टं क्रियमाणः) केकारवः (=मयूरवाणीध्वनिः) तदात्मकः कोलाहलः (=कलकलः) यस्यां सा । एतेन तत्र जलयन्त्राणां (फुब्बार इति हिन्द्यां) बाहुल्यं द्योत्यते । ["मेघाच्छन्नं तु दुर्दिनम् ।" अमरः १।३।१२ । "धारासम्पात आसारः ।" अमरः १।३।११ "केका वाणी मयूरस्य ।" अमरः २।५।३१]

तत्रत्यानि सरांसि वर्णयति—विकचेति । विकचेत्यादिः—विकचानि (= विकसितानि) यानि कुवलयानि (= नीलोत्पलानि) तैः कान्तैः (=रमणीयैः,) । उत्फुल्लेत्यादिः—उत्फुल्लानि (=विनिद्राणि, स्फुटितानि) यानि कुमुदानि (=कैरवाणि) तैः धवलम् (=शुभ्रम्) उदरम् (= मध्यभागः) येषां तैस्तादृशैः । अनिमिषेत्यादिः—अनिमिषाः (= मत्स्याः) तेषां दर्शनेन (= विलोकनेन) रमणीयैः (= आकर्षकैः) आखण्डल-लोचनैः—आखण्डलः (=इन्द्रः) तस्य लोचनानि (=नेत्राणि) तैरिव, सहस्रसंख्यैः=असंख्यैः, सरोभिः=कासारैः, उद्भासिता=विद्योतिता । इन्द्रनेत्रपक्षे—विकचकुवलयवत्कान्तैः, उत्फुल्लकुमुदवत् धवलमध्यभागैः, अनिमिषम्=पक्ष्मपातरहितं यद् दर्शनं तेन मनोहरैः, सहस्रसंख्यैः—सहस्रपरिमिता संख्या येषां तैस्तादृशैः लोचनैः । अत्र सर्वत्रोपमा । ["सुरमत्स्यावनिमिषौ ···" । अमरः ३।३।२१९ ।]

अविरलेति । अविरलेत्यादिः—अविरलानि (=सान्द्राणि) यानि कदलीवनानि (=रम्भा-काननानि) तैः कलिताभिः (=व्याप्ताभिः), अमृतेत्यादिः--अमृतम् (=सुधा), तस्य ये फेनपुञ्जाः (= डिण्डीरसमुदायाः) तद्वत्पाण्डुराभिः (=श्वेताभिः) दन्तवलभिकाभिः = हस्तिदशननिर्मित-

जाता है । [यहाँ धारागृहों और मेघों का सादृश्य है—मेघ भी निश्चल मृदङ्ग की ध्वनि के सदृश गंभीर गर्जन वाले हैं, निरन्तर घनी वर्षा के समूह के कारण बने हुए दुर्दिन वाले हैं, इधर उधर बिखरी सूर्य की किरणों से बने हुए इन्द्र-धनुष वाले हैं ।]

जो (नगरी) खिले हुए कमलों से सौन्दर्य-युक्त, विकसित कुमुदों से श्वेत मध्य भाग वाले, मछलियों के दिखाई देने से रमणीय, हजारों इन्द्र के नेत्रों के समान, हजारों तालों (सरोवरों) से अलंकृत है । [इन्द्र-नेत्र पक्ष में—खिले हुए कमल के समान सुन्दर, खिले हुए कुमुद के समान श्वेत मध्य भाग वाले अनिमिष=विना पलक बन्द किये सदैव देखने के कारण मनोहर तथा हजार संख्या वाले हैं । इस प्रकार सरोवरों और इन्द्रनेत्रों का साम्य है ।] जो (नगरी) प्रत्येक दिशा में अर्थात् सभी ओर घनी पताकाओं के समूह [घने केलों के वनों] से घिरी हुई, अमृत के फेने के समूह के समान शुभ्र [हाथी की] दन्तवलभिकाओं (अटारियों,छज्जों) से सफेद बना दी गई है ।

---

१. मयूरमण्डलैरामण्डलीकृत, मत्तमयूरैर्मण्ड । २. क्वचित्तु 'रव' इदं नास्ति ।

पाण्डुराभिर्दिशि दिशि दन्तवलभिकाभिर्धवलीकृता,—

—यौवन-मंदमत्त-मालवी-कुच-कलश-लुलित[1]-सलिलया भगवतो महाकालस्य शिरसि सुर-सरितमालोक्योपजातेर्ष्ययेव सतत-समावद्ध[2]-तरङ्ग-भ्रु कुटीलेखया खमिव क्षालयन्त्या सिप्रया परिक्षिप्ता,—

च्छदिभिः, दिशि दिशि=प्रतिदिशम्, सर्वत्रेति भावः, धवलीकृता=शुभ्रीकृता। तस्यां प्रतिभवनमुपरिलघुभवनं गजदन्तनिर्मितं व्यराजत तेन सर्वत्र शुभ्रताऽसीदिति भावः। उपमालङ्कारः।

साम्प्रतं सिप्रावर्णनद्वारापि नगरीं विशिनष्टि—यौवनेति। यौवनेत्यादिः—यौवनस्य (=तारुण्यस्य) यो मदः (=दर्पः) तेन मत्ताः (=उच्छृङ्खलाः) याः मालव्यः (=मालवदेशकामिन्यः) तासां कुचाः (=स्तनाः) एव कलशाः (=कुम्भाः) तैः लुलितम् (=आलोडितम्) सलिलम् (=पानीयम्) यस्याः सा तया तादृश्या। भगवतः = माहात्म्यवतः, महाकालस्य = एतन्नाम्ना ख्यातस्य शिवस्य, शिरसि = मस्तकोपरि, सुरसरितम्=स्वर्णदीं,गङ्गामित्यर्थः, आलोक्य = निरीक्ष्य, उपजातेर्ष्यया= उपजाता (=समुत्पन्ना) ईर्ष्या (=मात्सर्यम्) यस्याः सा तया तादृश्या, इव, सततेत्यादिः—सततम् (= निरन्तरम्) समाबद्धाः (= संविहिताः) तरङ्गाः (= कल्लोलाः) एव भ्रु कुटिलेखा (=भृकुटिपङ्क्तिः) यया सा तादृश्या, [सपत्नीदर्शने कोपो भवतीति प्रसिद्धमेव] खम्=गगनम्, क्षालयन्त्या = स्वच्छं कुर्वन्त्या, इव, सिप्रया = एतन्नाम्ना ख्यातनद्या, परिक्षिप्ता = परिवेष्टिता। 'कुचकलस' इत्यत्र 'तरङ्गभ्रु कुटिलेखा' इत्यत्र च रूपकम्, 'उपजातेर्ष्यया इव' 'क्षालयन्त्या इव' इत्यत्र चोत्प्रेक्षा, भ्रु कुटिबन्धरूपकार्येण सिप्रायां सपत्नीव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरपीति एतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः। क्षिप्रासिप्रा-इत्युभयोरेव साधुत्वम्।

विमर्श—केला का पेड़ श्वेत नहीं होता है अतः उनसे घिरी हाथी दाँत की वलभिकायें भी इतनी श्वेत नहीं दिखाई दे सकतीं जिससे सभी ओर सफेदी छा जाय। अतः यहाँ हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार द्वारा स्वीकृत अर्थ ही मानना उचित है। उन्होंने 'कदली वैजयन्त्यां च रम्भायां हरिणान्तरे' इति विश्वः' के अनुसार 'कदली' शब्द यहाँ 'वैजयन्ती'=पताका अर्थ में माना है। अब रहा 'वन' शब्द का अर्थ, यहाँ लक्षणा से 'समूह' अर्थ मान कर संगति करनी चाहिए। इस लिए अन्य व्याख्याकारों द्वारा स्वीकृत 'कदलीवन = रम्भावन = केला के वन'—ऐसा अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता है। इसी लिये यहाँ पहले पताका अर्थ लिखा गया है। कोष्ठक में प्रचलित अर्थ लिखा गया है।

(अनु०) जो (नगरी) मालवा की यौवन के मद से मत्त सुन्दरियों के स्तनरूपी घड़ों से क्षुभित जल वाली, शिप्रा नदी से घिरी हुई है जो (शिप्रा) मानो भगवान् महाकाल के सिर पर सुरसरिता=गङ्गा को देख कर ईर्ष्या युक्त हो गई है [और इसी लिए] तरंग रूपी भौंहों की रेखा को सदा बाँधे हुए है और आकाश को धो रही है। [जिस प्रकार कोई स्त्री अपनी सपत्नी को देख कर क्षुब्ध हृदय वाली होकर भौंहें तान लेती है उसी प्रकार शिप्रा ने भी अपने पति महाकाल के मस्तक पर विद्यमान सपत्नी गंगा को देख कर प्रतिक्रिया व्यक्त की।]

[यहाँ से तृतीयान्त पदों का सम्बन्ध आगे वाले 'विलासिजनेन' के साथ है। अतः यहाँ उसके विशेषण कहे जा रहे हैं—]

१. क्षुभित। २. सततावद्ध…।

—सकल-भुवन-ख्यात-यशसा हरजटा-चन्द्रेणेव कोटिसारेण, मैनाकेनेवाविदित-पक्षपातेन, मन्दाकिनी-प्रवाहेणेव प्रकटित-कनकपद्म-राशिना, स्मृतिशास्त्रेणेव सभावसथ-कूप-

---

साम्प्रतं तत्रत्यविलासिजनवर्णनमाध्यमेन पुनरपि नगरीं वर्णयति—सकलेति । [अत्र तृतीयान्तानि पदानि दूरे वक्ष्यमाणस्य 'विलासिजनेन' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] सकलेत्यादिः—सकलानि (=सर्वाणि) यानि भुवनानि (=लोकाः) तेषु ख्यातम् (=प्रसिद्धम्) यशः (=कीर्तिः) यस्य स तेन तादृशेन, विलासिजेन । एवं सर्वत्रान्वयो बोध्यः ।

हरजटेति । हरेत्यादिः—हरः (=शङ्करः) तस्य जटा (=सटा) तस्यां स्थितः चन्द्रः (=निशापतिः) तेन इव, कोटिसारेण—कोटिः (= संख्याविशेषः तत्परिमितमित्यर्थः) सारम् (=द्रव्यम्) यस्य सः । तेन तादृशेन, पक्षे—कोटिः (=अग्रभागः) सारः (=स्थिरांशः) यस्य स तेन । 'सारो द्रव्यं बलं सारम्' इति भानुचन्द्रोद्धृतानेकार्थकोशः । 'कोणस्तु स्त्रियः पाल्यश्रिकोटयः ।' अमरः २।८।९३]

मैनाकेति । मैनाकः=एतन्नामा हिमालयपुत्रः पर्वतः, तेन, इव, अविदितपक्षपातेन=अविदितः (=अज्ञातः) पक्षाणाम् (=पतत्राणाम्) पातः (=पतनम्) येन स तादृशेन । विलासिजनपक्षे—अविदितः पक्षपातः (=एकतरपक्षग्रहणम्) येन स तेन तादृशेन । तत्रत्याः जनाः निष्पक्षा आसन् । उपमालङ्कारः ।

पुरा पर्वता उड्डीय यत्र तत्र गच्छन्तो जगद् व्याकुलं चक्रुः । तदा सर्वैः प्रार्थितेन इन्द्रेण पर्वतानां पक्षाः कर्तिताः, परन्तु तदानीं हिमालयसुतो मैनाकः पलाय्य समुद्रे न्यमज्जत । तेन तस्य पक्षच्छेदो न जात इति पौराणिकी कथाऽत्र द्रष्टव्या ।

मन्दाकिनीति । मन्दाकिनीप्रवाहेण—मन्दाकिन्याः (=स्वर्गगङ्गायाः) प्रवाहः (=रयः) तेन इव, प्रकटितेत्यादिः—प्रकटितः (= प्रकाशितः) कनकपद्मानाम् (=स्वर्णकमलानाम्) राशिः (= समूहः) येन तादृशेन । विलासिजनपक्षे—प्रकटितः कनकस्य (= सुवर्णस्य) पद्मानाम् (=पद्मसंख्यापरिमितानाम्) राशिः (=समूहः) येन तादृशेन । यद्वा पदैकदेशेऽपि पदव्यवहारात् 'पद्म' इति पद्मरागमणिबोधकः । तेन पद्मरागमणिसमूहो येन धृत इति भावः ।

स्मृतीति । स्मृतिशास्त्रेण=मन्वादिप्रणीतधर्मप्रतिपादक-शास्त्रेण, इव, सभावसथेत्यादिः—सभा (=परिषत्) आवसथः (=छात्र-व्रति-दीनानामावासः) कूपः (=उदपानः), प्रपा (=सामान्य-

---

[वह उज्जयिनी नगरी ऐसे] विलासी जनों से युक्त है जो (विलासी जन) शिव जी की जटा में स्थित चन्द्रमा के समान सभी लोकों में प्रसिद्ध यश वाले हैं (शिवजटा-चन्द्र पक्ष में—जिसकी कान्ति सभी लोकों में प्रसिद्ध है ।) कोटिसार (= करोड़ों की संख्या में सम्पत्ति वाले) हैं (चन्द्र पक्ष में—किनारे रूपी मुख्य अंश वाला है) । जो (विलासी जन) मैनाक के समान पक्षपात (किसी एक का अनुचित समर्थन करना) न जाननेवाले हैं, [मैनाकपक्ष में—अविदित = नहीं जाना है अनुभव किया है, पक्षों = पंखों का पात = इन्द्र द्वारा काटना जिसने वह वैसा है ।) मैनाक पर्वत ने जिस प्रकार पक्षपात = पंखों का गिरना नहीं जाना था उसी प्रकार विलासी जनों ने भी किसी का अनुचित पक्षपात = पक्ष का समर्थन नहीं जाना है ।] मन्दाकिनी = आकाशगङ्गा का प्रवाह जिस प्रकार प्रकटित=दिखाई देने वाले स्वर्णमय कमलों के समूह वाला होता है उसी प्रकार [वे विलासीजन भी] स्पष्ट दिखाई देने वाली सोने की पद्म संख्या के समूह वाले हैं, (उनके पास सोने और पद्मराग मणियों की विशाल राशि स्पष्ट दिखाई देती है ।) (मन्वादिप्रणीत) स्मृति शास्त्र जिस प्रकार सभागृहों, कुओं, पौशालों (प्याऊओं) बगीचों, देवमन्दिरों, पुलों और रहटों या फुब्बारों

प्रपाराम-सुरसदन-सेतु-यन्त्रप्रवर्त्तकेन मन्दरेणेवोद्धृत-समस्त-सागर-रत्नसारेण,—

··· संगृहीत-गारुडेनापि भुजङ्ग-भीरुणा, खलोपजीविनाऽपि प्रणयिजनोपजीव्यमान-विभवेन,

---

जनोपयोगिनी पानीयशाला) आरामः (= उपवनम्, कृत्रिमं लघु वनम्), सुरसदनम् (= देव-मन्दिरम्) सेतुः (=आलिः, बन्धः) यन्त्रम् (=सलिलयन्त्रादि) च—एतेषां प्रवर्त्तकेन (=प्रयोजकेन) विलासिजनपक्षे— एतेषां विधायकेन। स्मृत्यादावेषां निर्माणं धर्मजनकतया प्रतिपादितम्—"वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते।" देवताप्रीतिजनकं कर्म 'इष्टम्' लोकोपकारकं कर्म 'पूर्तम्' इत्युच्यते। अतएवोक्तं मनुना—

"श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः॥ मनुः ४।२२६।

मन्दरेणेति। मन्दरेण = मन्दरपर्वतेन, इव, उद्धृतेत्यादिः—उद् (= ऊर्ध्वम्) धृतानि (=नीतानि) समस्तानि (=सकलानि) सागरात् (=समुद्रात्) रत्नेषु (=मणिषु) साराणि (=सारभूतानि चतुर्दशरत्नानि) येन तेन तादृशेन। विलासिजनपक्षे—उद्धृतानि (= क्रयणादिना संगृहीतानि) सागरस्य (=समुद्रस्य) रत्नानाम् (=मणीनाम्) साराणि (=मुख्यरत्नानि) येन तादृशेन। यथा मन्दराचलेन समुद्रस्य सर्वाणि रत्नानि बहिर्निष्कास्य स्थापितानि तथैव विलासिजनोऽपि विविध-रत्नानि ऐश्वर्यप्रदर्शनाय संगृह्णातीति भावः।

साम्प्रतं विरोधाभासेन नगरीं विशिनष्टि··संगृहीतेति। संगृहीतगारुडेन=संगृहीतम् (=सञ्चितम्) गारुडम् (=गरुडरत्नं मरकतं विषशास्त्रं वा) येन तादृशेनापि, भुजङ्गभीरुणा=सर्पात् भयशीलेन, अत्र विरोधः। परिहारस्तु—भुजङ्गः = षिङ्गः, गणिकासक्तो जनः, तस्मात् भीरुणा=भयशीलेन। 'गारुडं स्यान्मरकते विषशास्त्रेऽपि गारुडम्।' इति विश्वकोषः। "भुजङ्गः सर्पषिङ्गयोः।" इति हैमः।

इत आरभ्य "महासत्त्वेनापि परलोकभीरुणे" त्यन्तं यावत् विरोधाभासाख्योऽलङ्कार इति बोध्यम्।

खलेति। खलाः (= दुष्टाः) उपजीविनः (= अवलम्बिनः) यस्य स तेन तादृशेनापि, प्रणयीत्यादिः—प्रणयिजनैः (=प्रेमिपुरुषैः सज्जनैः), उपजीव्यमानः (=उपभुज्यमानः) विभवः (=ऐश्वर्यादिकम्) यस्य स तेन तादृशेन, अत्र विरोधः। परिहारस्तु—खलम्=नवीनोत्पन्नधान्यादि-स्थापनस्थलम्, तदुपजीवति, तच्छीलः, तादृशेन। "खलः कल्के भुवि स्थाने क्रूरे कर्णेजपेऽधमे।" इति हैमः मेदिनी च।

के (निर्माण और दान के) प्रवर्त्तक = विधान करने वाले हैं उसी प्रकार वे विलासी जन भी सभाभवनादि का निर्माण कराने वाले हैं। जिस प्रकार मन्दराचल ने समुद्र के सभी (चौदह) उत्कृष्ट रत्नों को बाहर निकाल दिया था उसी प्रकार वे विलासी जन भी समुद्र के समस्त उत्कृष्ट रत्नों को (उद्धृत) धारण करने वाले हैं।

वे (विलासी जन) गारुड=गरुड़ का मन्त्र, शास्त्र या मरकत मणि को रखने वाले होते हुए भी भुजंगों=सापों से डरने वाले हैं। (विरोध-परिहार—भुजङ्ग=धूर्तों से डरने वाले हैं।) खलों के उपजीवी (= जीविका देने वाले) होते हुए भी प्रणयी (= अनुरागी प्रिय) व्यक्तियों द्वारा उपभोग किये जाते हुए ऐश्वर्य वाले हैं, (विरोध-परिहार—खल = खलिहान में स्थित अन्नादि से

---

१. सदन। २. उद्धृतसमप्र०। ३. भुजङ्गसङ्कमीवरणादि। ४. सकलोपजीविनापि,खलोपजीविना।

वीरेणापि विनयवता, प्रियंवदेनापि सत्यवादिना, अभिरूपेणापि स्वदार-सन्तुष्टेन, अतिथि-जनाभ्यागमार्थिनापि परप्रार्थनानभिज्ञेन, कामार्थपरेणापि धर्म्म-प्रधानेन, महासत्त्वेनापि परलोक-भीरुणा,—

वीरेणेति। वीरेण = शूरेण, अपि, विनयवता = नमनशीलेन, इति विरोधः। परिहारस्तु—विनयवता = शिक्षावता। "विनयः शिक्षाप्रणत्योः।' इति हैमः।

प्रियंवदेनेति। प्रियंवदेन—प्रियम् (= इष्टम् अनुकूलम्) वदति (= भाषते) इति प्रियंवदः = प्रियभाषी, तादृशेन, अपि, सत्यवादिना—सत्यम् (= तथ्यम्) वदति (= भाषते) यः तेन तादृशेन, प्रियवक्तृत्वं सत्यवक्तृत्वं च मिथो विरुद्धम्। परिहारस्तु—सत्यशब्दो लक्षणया अल्पार्थपरः, मितभाषिणेत्यर्थः। भानुचन्द्रस्तु "तत्परिहारस्तु-प्रियो वल्लभो वक्ता यस्येत्यर्थात्। "अनुस्वारः श्लेषभङ्गकृन्न भवतीति प्राञ्चः' इत्युक्त्वा बहुव्रीहिणा विरोधं परिहरति स्म।

अभिरूपेणेति। अभिरूपेण = अतिसुन्दरेण, अपि, स्वदारसन्तुष्टेन = निजपत्नीसन्तोषिणा, अत्र विरोधः। परिहारस्तु—अभिरूपेण = पण्डितेनेति। "प्राप्तरूपस्वरूपाभिरूपा बुधमनोज्ञयोः।" अमरः ३।३।१३१। एतेन तत्रत्यानां सौन्दर्यवत्त्वं पाण्डित्यवत्त्वं च ध्वनितम्।

अतिथीति। अतिथिजनेत्यादिः—अतिथिजनाः (= अभ्यागतलोकाः) तेषाम् अभ्यागमम् (= आगमनम्) तस्य अर्थिना = याचकेन, अपि, परेत्यादिः—परेषु (= अन्येषु) यत् प्रार्थनम् (= याचनम्) तत्र अनभिज्ञेन (= अकुशलेन) इति विरोधः। परिहारस्तु—परेषु = शत्रुषु याच्ञानभिज्ञेनेति, शत्रुषु कदापि प्रार्थनाया अकरणात्। ["शत्रौ ... ...। अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः।" अमरः २।८।११। एषां विपर्यये श्रेष्ठे दूरानात्मोत्तमाः पराः।" अमरः ३।३।१९१]

कामेति। कामार्थेति—कामः (= स्त्रीषु रतिः, कामजन्यसुखम्), अर्थः (= धनादिकम्) तयोः परः (= आसक्तः) तेन, अपि, धर्मप्रधानेन—धर्मः (= सुकृतम्, प्रथमपुरुषार्थः) एव प्रधानम् (= मुख्यम्) यस्य तेन तादृशेन, अत्र विरोधः। परिहारस्तु—कामः = अभीष्टः अर्थः = पदार्थः, तत्परेण = तत्साधकेनेति। यद्वा कामार्थयोः आसक्तेनापि धर्मपरित्यागो न विधीयते इति भावः।

महासत्त्वेनेति। महासत्त्वेन—महत् (= अत्यधिकम्) सत्त्वम् (= बलम्) यस्य तेन, अपि, परलोकभीरुणा—परलोकः (= शत्रुजनः) तस्माद् भीरुणा (= भयशीलेन)—इति विरोधः। परिहारस्तु—परलोकः (= जन्मान्तरम्) तस्माद् भीरुणेति। ऐहलौकिकोपभोग-समासक्ता अपि तत्रत्या जनाः परलोकस्य = यमलोकस्य जन्मान्तरस्य वा भयेन सदाचाररता आसन्न् इति भावः। समासोऽत्र विरोधाभासाख्योऽलङ्कारः।

जीविका चलाने वाले हैं।) जो वीर होते हुए भी झुक जाने वाले (विनयवाले, विनम्र) हैं। [विरोध-परिहार—वीर = शोभावान् अथवा विनयवान् = शिक्षा सम्पन्न हैं।] जो प्रिय बोलने वाले होते हुए भी सत्यवादी हैं [विरोधपरिहार -मितभाषी हैं] जो अत्यन्त सुन्दर होते हुए भी केवल अपनी पत्नियों से ही सन्तुष्ट रहने वाले हैं, [विरोधपरिहार—अभिरूप = विद्वान् हैं।] जो अतिथियों के [शुभ] आगमन की याचना करने वाले होते हुए भी दूसरों से प्रार्थना करने के अनभिज्ञ हैं, [विरोधपरिहार—पर = शत्रुओं से किसी प्रकार की प्रार्थना करना नहीं जानने वाले हैं।] जो काम और अर्थ (धनादि) में आसक्त होते हुए भी धर्म (रूप पुरुषार्थ) को ही प्रधान मानने वाले हैं, [विरोधपरिहार— काम = चाहा गया अर्थ = पदार्थ, उसमें आसक्त रहने वाले।] जो महाशक्तिशाली होते हुए भी परलोक = दूसरे लोगों से डरने वाले हैं, [विरोधपरिहार—परलोक = स्वर्गलोक या दूसरे जन्म से डरने वाले, उसके भय से गलत काम न करने वाले हैं।] यहाँ तक विरोधाभास द्वारा विलासी जनों की विशेषता बताई गई।]

—सकल-विज्ञान-विशेषविदा[1], वदान्येन[2], दक्षेण[3], स्मितपूर्वाभिभाषिणा[4], परिहास-पेशलेन, उज्ज्वल-वेषेण, शिक्षिताशेष-देश-भाषेण, वक्रोक्ति-निपुणेन, आख्यायिकाख्यान-परिचय-चतुरेण, सर्वलिपिज्ञेन, महाभारत-पुराण-रामायणानुरागिणा, बृहत्कथाकुशलेन, द्यूतादिकला-कलाप-पारगेण, श्रुतरागिणा, सुभाषित-व्यसनिना, प्रशान्तेन,—

सकलेति। सकलेत्यादिः—सकलम् (=समस्तम्) यद् विज्ञानम् (=शिल्पादिविशिष्टज्ञानम्) तस्य ये विशेषाः (=भेदाः) तान् वेत्ति (= जानाति) तेन तादृशेन। वदान्येन=दानशीलेन, प्रियंवदेन च। ["मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः।' अमरः १।५।६। 'वदान्यो दानशौण्डे स्याच्चारुवादिनि वाच्यवत्।" इति मेदिनी।] दक्षेण=कुशलेन। स्मितपूर्वाभिभाषिणा—स्मितम् (=अदृष्टरदं हास्यम्) यथा स्यात्तथा अभिभाषते (=अभिवदति) तच्छीलस्तेन तादृशेन। परिहास-पेशलेन—परिहासः (=नर्मवचः) तस्मिन् पेशलः (=दक्षः) तेन तादृशेन। ["ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्याद् स्पन्दिताधरम्।' साहित्यदर्पणः। "चारौ दक्षे च पेशलः।" अमरः ३।३।२०५] उज्ज्वलवेषेण—उज्ज्वलः (=निर्मलः) वेषः (=नेपथ्यम्) यस्य तेन तादृशेन।

शिक्षितेति। शिक्षितेत्यादिः—शिक्षिताः (=अधीता, अभ्यस्ता वा) अशेषाणाम् (=समस्तानाम्) देशानाम् (= स्थानानाम्) भाषाः (= वाचः) येन तादृशेन। वक्रोक्तिनिपुणेन—वक्रोक्तिः (= कुटिलवचनम्) तत्र निपुणः (=प्रवीणः) तेन तादृशेन। आख्यायिकेत्यादिः—आख्यायिका (=गद्यकाव्यभेदविशेषः) आख्यानम् (=चूर्णकम्, पौराणिककथा) तयोः परिचयः (=संस्तवः, विशेषज्ञानम्) तस्मिन् चतुरेण (=कुशलेन)। [आख्यायिका पुरावृत्तमाख्यानं साम्प्रतं च तत्।" इति भानुचन्द्रोद्धृतकोशः] सर्वलिपिज्ञेन—सर्वाः (=समस्ताः) याः लिपयः (=वर्ण-बोधकचिह्नविशेषाः) ताः जानाति (=वेत्ति) तेन तादृशेन। महाभारतम् (=प्राचीनतमेतिहास-ग्रन्थविशेषः) पुराणानि (=ब्रह्माण्डादीनि पञ्चलक्षणानि अष्टादशसंख्याकानि) रामायणम् (=वाल्मीकि-विरचितमादिकाव्यम्) तेषु अनुरागिणा (= अनुरागवता)। बृहत्कथाकुशलेन – बृहत्कथाः (=वसिष्ठादिकथाः, यद्वा भूतभाषामयकथाविशेषाः) तासु कुशलेन (=चतुरेण) ["भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्।" इति काव्यादर्शे दण्डी] द्यूतेत्यादिः—द्यूतादयः (=दुरोदरप्रभृतयः) याः कलाः (=कपटविद्याः) तासां कलापः (=समूहः) तस्मिन् पारगेण (=पारंगतेन)। श्रुत-रागिणा—श्रुतम् (=शास्त्रम्) तत्र रागिणा (=अनुरागयुक्तेन)। सुभाषित-व्यसनिना—सुभाषितेषु (=नीतिप्रतिपादकसदुक्तिषु) व्यसनिना (=आसक्तेन)। प्रशान्तेन=क्रोधरहितेन।

जो सम्पूर्ण विज्ञान-विशेषों को जानने वाले या विज्ञानों को विशेष रूप से जानने वाले हैं, उदार हैं, चतुर हैं, मुस्कराहट के साथ बोलने वाले हैं, परिहास=हँसी मजाक करने में बहुत कुशल हैं, उज्ज्वल वेश भूषा वाले हैं, सभी देशों (स्थानों) की भाषाओं को सीखे हुए हैं, वक्रोक्ति (घुमा फिराकर कहने) में निपुण हैं, आख्यायिका (कथा) आख्यानक (इतिहास) के परिचय में या परिचय से चतुर हैं, सभी लिपियों के जानकार हैं, रामायण, महाभारत और पुराणों में अनुराग रखने वाले हैं, बृहत्कथा [जानने] में कुशल हैं, द्यूत (जुआ) आदि कलाओं के समूह में पारंगत हैं, श्रुत = वेद और शास्त्रों में अनुराग रखने वाले हैं, सुभाषितों के व्यसनी हैं, प्रशान्त, (क्रोधरहित) हैं।

१. निखिलभुवनवलख्यातयशसा। २. ...विदा, विद्यावदातेन, दानशीलेनादीनेन।
३. क्वचित्तु 'वदान्येन' इदं पदं नास्ति। ४. दक्षिणेन।

—सुरभिमास-मारुतेनेव सतत-दक्षिणेन, हिमगिरि-काननेनेवान्तःसरलेन, लक्ष्मणेनेव रामाराधन-निपुणेन, शत्रुघ्नेनेवाविष्कृत-भरत-परिचयेन, दिवसेनेव मित्रानुवर्त्तिना, बौद्धेनेव

सुरभीति । सुरभीत्यादिः - सुरभिमासौ (=चैत्रवैशाखौ) तयोर्यः मारुतः (=पवनः) तेन, इव, सततदक्षिणेन—सततम् (=निरन्तरम्) यथा स्यात् तथा दक्षिणेन (= दक्षिणदिग्गामिना), विलासिजनपक्षे—सततं दक्षिणेन =दाक्षिण्ययुक्तेन ।

इत आरभ्य 'जिनधर्मेणेव जीवानुकम्पिना' इति पर्यन्तमुपमालङ्कार इति बोध्यम् ।

हिमगिरीति । हिमगिरीत्यादिः -हिमगिरिः (=हिमालयपर्वतः) तस्य काननम् (=वनम्) तेन इव, अन्तः सरलेन—अन्तः (=मध्यदेशे) सरलाः (=देवदारुवृक्षाः) यस्य तेन । विलासिजन-पक्षे—अन्तः (=मध्ये, हृदये) सरलः (=ऋजुः) तेन ।

लक्ष्मणेनेति—लक्ष्मणेन =सुमित्रातनयेन, इव, रामाराधन-निपुणेन—रामस्य (=ज्येष्ठभ्रातुः रामचन्द्रस्य) यत् आराधनम् (=सेवनम्) तत्र निपुणेन (= दक्षेण) । विलासिजनपक्षे-- रामाणाम्= कामिनीनाम्, यद् आराधनम् (=प्रसादनानुकूलव्यापारः) तत्र निपुणेन ।

शत्रुघ्नेनेति । शत्रुघ्नेन =लक्ष्मणस्यानुजेन, इव, आविष्कृतेत्यादिः— आविष्कृतः (=प्रकटीकृतः सेवादिनेति शेषः) भरते (=कैकेयीपुत्रे) परिचयः (=संस्तवः) येन तादृशेन । विलासिजनपक्षे— आविष्कृतः भरते (= नाटयशास्त्र-प्रवर्तके आचार्ये, तच्छास्त्रे इति भावः) परिचयः (= विशेष-ज्ञानम्) येन तादृशेन ।

दिवसेनेति । दिवसेन=दिनेन, इव, मित्रानुवर्त्तिना--मित्रम् (=सूर्यम्) अनुवर्तते (=अनु गच्छति) तच्छीलस्तेन, विलासिजनपक्षे—मित्रम् (=सुहृदम्) अनुवर्तते (= अनुकूलमाचरति) तच्छीलस्तेन । ["अथ मित्रं सखा सुहृत् ।' अमरः २।८।१२ "......'मित्रो रवावपि ।' अमरः ३।३।१६७]

बौद्धेनेति । बौद्धेन = सौगतेन, बुद्धमतानुयायिना, इव, सर्वास्तिवादशूरेण—सर्वेषाम् (= समस्तानाम्) अस्तिवादः (= अस्तित्वकथनम्) तत्र शूरेण (=वीरेण) । बौद्धानां यः सर्वास्तिवादः तस्य समर्थन-निपुणेन । विलासिजनपक्षे—सर्वास्तिवादशूरेण—गृहे सर्वस्य पदार्थस्य य अस्तित्ववादः = सर्वमस्तीति कथनम्, तत्र समर्थेन । 'अस्ति' इदं विद्यमानार्थमव्ययं तिङ्प्रतिरूपं

जो (विलासी जन) सदा दक्षिण दिशा में चलने वाली सुरभिमास = वसन्त मास (चैत्र वैशाख) की हवा के समान सदा दक्षिण = उदार या दानी हैं, जो अन्तः सरल = मध्य में सरल = देवदारु के वृक्षों वाले हिमालय के जंगल के समान अन्तःसरल = भीतर अर्थात् हृदय से बहुत सीधे सादे हैं, जो रामचन्द्र जी के आराधन=सेवा में निपुण लक्ष्मण के समान रामा=सुन्दरियों के आराधन = सेवन, उपभोग में निपुण हैं, जो (अपने भाई) भरत के प्रति परिचय प्रकट करने वाले शत्रुघ्न के समान (नाटयाचार्य) भरत का परिचय प्रकट करने = रखने वाले हैं, जो मित्र = सूर्य का अनुगमन करने वाले दिन के समान मित्रों = सुहृदों का अनुगमन = साथ निभाने वाले हैं, जो सर्वम् अस्ति = सब कुछ है—इस प्रकार के सर्वास्तिवादी बौद्ध के समान [याचकादि या खरीदार आदि के प्रति] सब कुछ है—ऐसा कहने में निपुण है [गृहस्थ किसी याचक को निराश नहीं लौटाते हैं और दूकानदार किसी ग्राहक को निराश नहीं लौटाते हैं, किसी के यहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं है ।]

सर्वास्तिवाद-शूरेण,[1] सांख्यागमेनेव प्रधान-पुरुषोपेतेन,[2] जिनधर्म्मेणेव जीवानुकम्पिना,[3] विलासिजनेनाधिष्ठिता,—

सशैलेव[4] प्रासादैः, सशाखानगरेव महाभवनैः, सकल्पवृक्षेव सत्पुरुषैः, दर्शितविश्वरूपेव

बोध्यम् ।

यद्वा—याचके याचिते सति तत्प्रदानायाखिलपदार्थास्तित्वघोषणपरेणेति भावः ।*

सांख्येति । सांख्यागमः = सांख्यशास्त्रम्, तेन इव, प्रधानपुरुषोपेतेन—प्रधानम् (= प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थारूपा) पुरुषः (= नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः, चेतनरूपः) च ताभ्याम् उपेतेन (= युक्तेन) । विलासिजनपक्षे—प्रधानाः (= प्रमुखाः) च ते पुरुषाः (= मानवाः) तैरुपेतेन । [क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः प्रधानं प्रकृतिः स्त्रियाम् । अमरः १।४।२९]

जिनधर्मेणेति । जिनधर्मेण - जिनः (= अर्हतः) तस्य धर्मः (= सम्प्रदायविशेषः) तेनेव, जीवानुकम्पिना—जीवान् (= प्राणिनः) अनुकम्पते (= अनुगृह्णाति) तच्छीलस्तेन; जीवानामहिंसा-प्रतिपादकेनेति उभयपक्षे—समानमिदं विशेषणम् । तत्रत्याः विलासिनः करुणापरा अहिंसकाश्चासन् ।

विलासिजनेनेति । विलासिजनेन—विलसति = विविधसुखमनुभवति, तेन तादृशेन जनेन = लोकेन, अधिष्ठिता = आश्रिता, 'उज्जयिनी नगरी' इत्यत्रान्वयः । जनेनेत्यत्र जातौ एकवचनं तेन जनैरित्यर्थो बोध्यः ।

पुनरपि प्रकारान्तरेणोज्जयिनीं विशिनष्टि—सशैलेवेति । प्रासादैः = राजभवनैः, सशैला = सपर्वता इव । अत्युन्नततयोभयोः साम्यम् । अत्र शैलसंयोगस्योत्प्रेक्षणाद्गुणोत्प्रेक्षालङ्कारः । अत्र सर्वत्र 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति करणे तृतीया बोध्येति हरिदाससिद्धान्तवागीशभट्टाचार्याः ।

सशाखेति । महाभवनैः = अतिविशालगृहैः, सशाखानगरा इव—शाखानगराणि (= निकटवर्तीनि पुराणि) तैः सहिता, इव । एवञ्च तत्रत्यभवनानामतिविशालत्वं ध्वन्यते ।

सकल्पेति । सत्पुरुषैः—सन्तः (= साधवः) च ते पुरुषाः (= मानवाः) तैः, दानतत्परैरिति भावः, सकल्पवृक्षा इव = कल्पद्रुमविशिष्टा इव । सर्वे सदैव दानिन आसन् ।

दर्शितेति । चित्रभित्तिभिः = आलेख्ययुक्त ड्यैः, दर्शितेत्यादिः—दर्शितानि (= प्रकाशितानि)

जो प्रधान = प्रकृति और पुरुष = चेतन से युक्त सांख्यदर्शन के समान प्रधान = प्रमुख पुरुषों से युक्त है, जो जीवों के प्रति अनुकम्पा रखने वाले जैन धर्म के समान सभी जीवों = जीवमात्र के प्रति अनुकम्पा रखने वाले हैं । [ऐसे विलासी लोगों द्वारा युक्त नगरी है ।]

जो (नगरी) प्रासादों (महलों) के कारण पर्वतोंवाली सी है, [बड़े-बड़े प्रासाद पर्वतों के समान ऊँचे और विशाल हैं ।] बड़े-बड़े (लम्बे, चौड़े-ऊँचे) भवनों के कारण शाखा-नगरों = समीपवर्त्ती छोटे-छोटे नगरों वाली सी है, [एक एक बड़ा भवन एक एक छोटे से नगर जैसा दिखाई देता है ।] सत्पुरुषों के कारण कल्पवृक्षों वाली सी है । [कल्पवृक्ष जैसे सभी याचकों को

* मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः ।
अन्योऽस्ति क्षणिकोऽप्यसावनुमितो बुद्धेति सौत्रान्तिकाः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं जगदिदं वैभाषिको भाषते ॥

१. सर्वदा नास्तिवाद···सर्वास्तिवादशून्येन । २. प्रधानगुणोपतेन ।
३. सर्वभूतानुकम्पिता । ४. सशाखेव ।

चित्रभित्तिभिः, सन्ध्येव पद्मरागानुरागिणी[1], अमराधिप-मूर्त्तिरिव मखशतानलधूमपूता, पशुपति-लास्यक्रीडेव सुधा-धवलाट्टहासा, वृद्धेव जातरूपक्षया, गरुडमूर्त्तिरिवाच्युतस्थिति-

विश्वानि (=समस्तानि) रूपाणि (=आकाराः) यया सा तादृशी इव । तत्र चित्रभित्तिषु सर्वविध-चित्राण्यासन् । अत्रोत्प्रेक्षा

सन्ध्येवेति । सन्ध्या=सायंवेला इव, पद्मरागानुरागिणी—पद्मरागः (=एतन्नामा मणिविशेषः) तस्य इव अनुरागः (=रक्तिमा) यस्याः सा तादृशी । अत्रोपमा ।

अमराधिपेति । अमराधिपमूर्तिः — अमराणाम् (=देवानाम्) अधिपः (=अधिपतिः, इन्द्रः) तस्य मूर्तिः (=शरीरम्) इव, मखशतेत्यादिः—मखानाम् (=यज्ञानाम्) शतम् (=शत-संख्या) तस्य ये अनलाः (=अग्नयः) तेषां धूमः (=दहनकेतनः) तेन पूता (=पवित्रा)। अनेन तत्र बहवः यज्ञा भवन्ति स्मेति प्रतीयते ।

पशुपतीति । पशुपतीत्यादिः—पशुपतिः (=शिवः) तस्य लास्यक्रीडा (=नृत्यक्रीडा) इव, सुधेत्यादिः—सुधावत् (=अमृतवत्) धवलाः (= शुभ्राः) अट्टहासाः (=महाहास्यानि) यस्यां सा तादृशी । नगरीपक्षे—सुधया (= भित्तिभ्रंत्योत्पादकलेपनीयद्रव्यविशेषेण, 'चूना' इति हिन्द्यां प्रसिद्धेन) धवलाः (=शुभ्राः) अट्टाः (=प्रासादाः) तेषां हासः (=विकासः) यस्यां सा । तत्र प्रायः भवनानि सुधयोपलिप्तानि श्वेतान्यासन्निति प्रतीयते ।

वृद्धेति । वृद्धा=स्थविरा, नारी,इव, जातरूपक्षया—जातः (=भूतः) रूपस्य (=शारीरिक-सौन्दर्यस्य) क्षयः (= विनाशः) यस्याः सा तादृशी । नगरीपक्षे—जातरूपस्य (=स्वर्णस्य) क्षयाः (=भवनानि) यस्यां सा तादृशी । तत्रानेकानि भवनानि स्वर्णमयान्यासन्निति प्रतीयते । ["चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने ।" अमरः २।९।९५ । "निलयापचयौ क्षयौ ।" अमरः ३।३।१४६]

गरुडेति । गरुडमूर्तिः=वैनतेयस्य शरीरम्, इव, अच्युतेत्यादिः—अच्युतस्य (=विष्णोः) स्थित्या (=उपर्यवस्थानेन) रमणीया (=मनोहरा) नगरीपक्षे—अच्युता (=अत्यक्ता) या स्थितिः (= मर्यादा) तया रमणीया, यद्वा-अच्युतानाम् (= मर्यादापरिपालकानाम्) स्थित्या रमणीया । ["संस्था तु मर्यादा धारणा स्थितिः ।' अमरः २।८।२६]

उनकी मांगी हुई वस्तु दे देते हैं उसी प्रकार सत्पुरुष भी याचकों को सभी कुछ दे देते हैं, इनकार नहीं करते हैं ।] चित्रशाला की दीवारों के कारण विश्वरूप को दिखाने वाली सी है, पद्मराग मणि के समान लालिमा वाली सन्ध्या के समान पद्मराग मणियों [के भवनों] के लाल-लाल रंग वाली है, सौ (अश्वमेघ) यज्ञों के धुएँ से पवित्र की गई देवराज इन्द्र की मूर्ति (शरीर) के समान सैकड़ों यज्ञों के धुएँ से पवित्र रूप वाली है, सुधा = अमृत या चूना के समान सफेद अट्टहास से युक्त शिवजी की लास्यक्रीडा के समान सुधा = चूना से सफेद (पुती हुई) अट्टालिकाओं के हास = प्रकाश वाली है, अथवा [नागरिकों के] सुधा के समान उज्ज्वल अट्टहास = महाहास = खूब जोर की हँसी से युक्त है, क्षीण रूप वाली (जिसका सौन्दर्य ढल चुका है ऐसी) वृद्धा स्त्री के समान जातरूप = सोने के क्षय = भवनों वाली है, अच्युत = विष्णु भगवान् के बैठने के कारण रमणीय = सुन्दर गरुड़ की मूर्ति के समान अच्युतस्थिति = भङ्ग न होने वाली मर्यादा के कारण सदैव आकर्षक है [वहाँ के निवासी कभी भी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करते हैं ।] प्रबुद्ध = जागे हुए लोगों वाली प्रभात

१. पद्मरागारुणा ।

रमणीया, प्रभात-वेलेव प्रबुद्ध-सर्वलोका, शबर-वसतिरिवालम्बित[1]-चारु[2]-चामर-नागदन्त-धवल-गृहा, शेष-तनुरिव सदासन्न-वसुधाधरा, जलधि[3]-मथनवेलेव महाघोष-पूरित-दिगन्तरा, प्रस्तुता-

प्रभातेति। प्रभातवेला = प्रातः समय, इव, प्रबुद्धेत्यादिः — प्रबुद्धाः (= जागृताः सुप्तोत्थिताः) सर्वे (= समस्ताः) लोकाः (= जनाः) यस्यां सा तादृशी। नगरीपक्षे — प्रबुद्धाः (= प्रकृष्टज्ञानवन्तः) सर्वलोकाः यस्यां सा तादृशी।

शबरेति। शबरेत्यादिः - शबराणाम् (= भिल्लानाम्) वसतिः (= आवसथः, निवासस्थानम्) इव, अवलम्बितेत्यादिः — अवलम्बितानि (= आलम्बितानि) चारूणि (= सुन्दराणि) चामराणि (= चमरकेशव्यजनानि, प्रकीर्णकानि) येषु एवम्भूताः नागदन्ताः (= गजदन्ताः, भारधारणसाधनानि) सन्ति येषु तानि तादृशानि धवलानि (= श्वेतानि) गृहाणि (= भवनानि) यस्यां सा। नगरीपक्षे — अवलम्बिताः (= आलम्बिताः) ये चारवः (= सुन्दराः) चामर-नागदन्ताः (= प्रकीर्णक-गजदन्ताः) तैः धवलानि गृहाणि यस्यां सा तादृशी।

शेषेति। शेषतनुः — शेषः (= शेषनागः) तस्य तनुः (= शरीरम्) इव, सदासन्नेत्यादिः — सदा (= सर्वदा) आसन्ना (= निकटस्था) या वसुधा = आभ्यन्तरे धनादिधारणशीला पृथ्वी तस्याः धरा = धारिणी। शेषतनुः वसुधां धारयति। नगरीपक्षे — सदा आसन्नाः वसुधाधराः (= पर्वताः) यस्यां सा तादृशी। नगरी सर्वतः पर्वतैरावृता।

जलधीति। जलधीत्यादिः — जलधिः (= सागरः) तस्य यन्मथनम् (= विलोडनम्) तस्य वेला (= समयः) इव, महाघोषेत्यादिः — महाघोषैः (= विपुलध्वनिभिः) पूरितानि (= व्याप्तानि) दिगन्तराणि (= दिशाम् = ककुभाम्, अन्तराणि = छिद्राणि, अवकाशाः) यस्यां सा तादृशी। नगरीपक्षे — महाघोषैः = विपुलाभीरपल्लीभिः पूरितानि दिगन्तराणि यस्यां सा। ["घोषः आभीरपल्ली स्यात्।" अमरः २।२।२०]

प्रस्तुतेति। प्रस्तुतेत्यादिः - प्रस्तुतः (= प्रारब्धः) यः अभिषेकः (= राज्याभिषेचनम्) तस्य भूमिः (= पृथ्वी, स्थानम्), इव, सन्निहितेत्यादिः — सन्निहितम् (= निकटस्थितम्) कनकघटानाम् (= स्वर्णकलसानाम्) सहस्रम् (= दशशती, प्रचुरम्) यस्यां सा। नगरीपक्षे — संनिहिताः (= समीपस्थाः) कनकघटानाम् (= स्वर्णकाराणाम्) सहस्रं यस्यां सा। कनकं घटते = निर्माति — इति कनकघटाः = सुवर्णकाराः, तेषां प्रचुरसंख्या तस्यां नगर्यामासीदिति व्यज्यते।

वेला (प्रातः काल) के समान जिसमें सभी लोग प्रबुद्ध=उत्कृष्ट ज्ञानवान् है, भीलों की बस्ती जिस प्रकार लटकाये गये चामरों से युक्त नागदन्त=हाथियों के दांतों से श्वेत घरों वाली है उसी प्रकार लटकाये गये चामरों से युक्त नागदन्त=खूटियों के कारण श्वेत घरों वाली है। (भीलों के भवन चामर और हाथी दांत होने से सफेद दिखाई देते है। नगरी में नागदन्तों = खूटियों पर चामर लटके होने से हर घर सफेद दिखाई देता है।] शेषनाग का शरीर जिस प्रकार सदैव समीपवर्ती (ऊपर स्थित) पृथ्वी को धारण करने वाला है उसी प्रकार यह (नगरी ! सदैव समीपवर्ती वसुधाधर = भूधर = पर्वतों वाली है, [इसके आस-पास पर्वत हैं।] जैसे समुद्र-मन्थन का समय (उठने वाले) महाघोष = तीव्र ध्वनि से सभी दिशाओं के भागों को भर देने वाला था उसी प्रकार यह (नगरी) महाघोषों = अहीरों की विशाल बस्तियों से भरी हुई सभी दिशाओं से युक्त है, (इसके सभी ओर अहीरों के

१. आलम्बित।　　२. क्वचित्तु 'चारु' इति पदं नापि दृश्यते।　　३. जलनिधि।

मिषेकभूमिरिव[1] सन्निहित[2]-कनक-घट[3]-सहस्रा, गौरीव महासिंहासनोचितमूर्त्तिः, अदितिरिव देवकुल-सहस्र-सेव्या, महावराह-लीलेव दर्शित-हिरण्याक्षपाता, कद्रूरिव[4] आनन्दित-भुजङ्ग-लोका, हरिवंश-कथेव अनेक-बाल-क्रीडा-रमणीया,—

गौरीवेति । गौरी = पार्वती, सा इव, महासिंहेत्यादिः—महासिंहः (= विपुलकायः गौरीवाहनं मृगाधिपः) तद्रूपम् आसनम् (=उपवेशनम्) तस्मिन् उचिता (= योग्या) मूर्तिः (=शरीरम्) यस्याः सा तादृशी । नगरीपक्षे—महासिंहासनैः = विपुलैः सिंहाकारासनैः उचिता योग्या परमरमणीया मूर्तिः = स्वरूपं यस्याः सा तादृशी ।

अदितिरिवेति । अदितिः = देवमाता, सा इव, देवकुलेत्यादिः—देवकुलानाम् (=सुरवंशानाम्) यत् सहस्रम् (= दशशती, समूहः) तेन सेव्या (= सेवनीया)। नगरीपक्षे—देवकुल-सहस्रम् (=देवालयसमूहः) सेव्यम् (=सेवनीयम्, उपासनीयम्) यस्यां सा तादृशी ।

महावराहेति । महावराहेत्यादिः—महावराहस्य (= विष्णोस्तृतीयावतारभूतशूकरस्य) या लीला (=चेष्टा) सा इव, दर्शितेत्यादिः—दर्शितः (= दृग्गोचरीकारितः) हिरण्याक्षस्य (=एतन्नामक-महाऽसुरस्य) पातः (=संहारः) यस्यां सा । नगरीपक्षे— दर्शितः (= लोक-दर्शनविषयीकारितः) हिरण्याक्षाणाम् (=सुवर्णमयपाशानाम्) पातः (= निक्षेपः) यस्यां सा तादृशी ।

कद्रूरिवेति । कद्रूः = सर्पजननी, सा इव, आनन्दितेत्यादिः—आनन्दिताः (= प्रमोदं प्रापिताः) भुजङ्गलोकाः (=सर्पजनाः) यया सा । नगरीपक्षे—आनन्दिताः भुजङ्गलोकाः (=विटादि-विलासिजनाः) यस्यां सा तादृशी । कुत्रचित्—'आस्तीकतनुरिवे'ति पाठः । आस्तीकः = एतन्नामा मुनिः, तस्य या तनुः = कायः, सा इवेत्यर्थः । ["सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः ।" अमरः १।८।६।]

हरिवंशेति । हरिवंशेत्यादिः—हरिवंशस्य (= महाभारतीयखिलपर्वणः) कथा (= आख्यानम्) इव, अनेकेत्यादिः—अनेकाः (= विविधाः, बह्वचः) याः बालक्रीडाः (= श्रीकृष्णस्य शैशव-खेलनानि, यद्वा-बालनामकस्य कस्यचिन्नृपस्य क्रीडाः) ताभिः रमणीया (= मनोहारिणी) नगरी-पक्षे अनेकेषां बालानां क्रीडाभिः = खेलनकैः, मनोहारिणी ।

बड़े-बड़े गाँव हैं। अतः दूध आदि की सुविधा है।] जैसे प्रस्तुत = प्रारम्भ किये गये अभिषेक की भूमि रखे गये सोने के सहस्रों घटों से युक्त होती है वैसे यह सोने के हजारों घड़ों से युक्त है अथवा रहने वाले हजारों कनकघटों = सोना गढ़ने वाले = सुनारों से युक्त है, जैसे गौरी महासिंह रूपी आसन के योग्य मूर्ति = शरीर वाली है अथवा महासिंह पर बैठने में समर्थ शरीर वाली हैं, वैसे हीं यह बड़े-बड़े सिंहासनों पर बैठने योग्य मूर्तियों से युक्त है, जैसे अदिति = देवमाता हजारों देवकुलों = देवताओं के वंशों से सेव्य = सेवा करने योग्य हैं वैसे ही यहाँ हजारों देवमन्दिर सेवनीय = उपासना योग्य हैं, जैसे महावराह (रूप धारी विष्णु) की लीला ने हिरण्याक्ष का पतन दिखाया था वैसे यहाँ हिरण्य = सोने के अक्षों = पांसों का पात = पतन = खेलना दिखाई पड़ता है, जैसे कद्रू = सर्पों की माता भुजङ्गलोक = नागलोक को आनन्द देने वाली है वैसे यहाँ भुजंगलोक = बिलासी लोगों को आनन्द है, जैसे हरिवंश (महाभारत का खिल पर्व) अनेक बालकों की क्रीडा से मनोहर है वैसे यह

---

१. भूमीरिव वेलेव । २. क्वचित्तु 'सदा' इत्यधिकः पाठः ।
३. घटक । ४. आस्तीक ।

—प्रकटाङ्गनोपभोगाप्यखण्डिता-चरित्रा, रक्तवर्णापि सुधा-धवला, अवलम्बित-मुक्ता-कलापापि विहार-भूषणा, बहुप्रकृतिरपि स्थिरा, विजितामरलोक-द्युतिरवन्तीषूज्जयिनी नाम

अत्र पूर्वोक्तेषु 'सन्ध्येव पद्मरागानुरागिणी' इत्यारम्य 'हरिवंशकथेव अनेक-बाल-क्रीडारमणीया' इत्यन्तमुपमालङ्कारो बोध्यः ।

प्रकटेति । प्रकटेत्यादिः—प्रकटः (=प्रकाशितः) अङ्गनानाम् (=कामिनीनाम्) उपभोगः (= सम्भोगः) यस्यां सा तादृशी, अपि, अखण्डितचरित्रा—न खण्डितम् (= भ्रष्टम्) चरित्रम् (=आचरणम्) यस्यां सा-इति विरोधः । परिहारस्तु—प्रकटः अङ्गनानाम् उपभोगः प्रसाधनादिरूपः, ताम्बूलभक्षणादिरूपश्च विषयोपभोगः यस्यां सा । पूर्वत्र अन्यकर्तृकः अङ्गनाकर्मक उपभोगः । परिहारे—अङ्गनाकर्तृकः ताम्बूलादिभक्षणरूपकर्मक उपभोग इति भेद इति बोध्यम् ।

इत आरम्य 'बहुप्रकृतिरपि स्थिरा' इत्यन्तं विरोधाभासाख्योऽलङ्कार इति बोध्यम् ।

रक्तवर्णेति । रक्तवर्णा=अरुणरूपा, अपि, सुधाधवला=सुधा (=श्वैत्योत्पादक-लेपनीयद्रव्य-विशेषः) इव धवला (= शुक्ला) इति विरोधः । परिहारस्तु—रक्ताः (= अनुरक्ताः) वर्णाः (=चतुर्वर्णाः ब्राह्मणादयः) यस्यां सा तादृशी ।

अवलम्बितेति । अवलम्बितेत्यादिः—अवलम्बितः (=धारितः) मुक्तानाम् (=मौक्तिकानाम्) कलापः (= माला) यया सा तादृशी, अपि, विहार-भूषणा—विगतम् (= अपगतम्) हारभूषणम् (=मालारूपमाभरणं) यस्याः सेति विरोधः । परिहारस्तु—विहारभूषणा—विहाराः (=बौद्धविहारा, सामान्यजनोपवनानि) एव भूषणानि (=अलङ्काराः) यस्याः सा तादृशी । "विहारो भ्रमणे स्कन्धलीलायां सुगतालये ।" इति मेदिनीकारः ।

बहुप्रकृतिरिति । बहुप्रकृतिः = बह्वी (=अनेकरूपा) प्रकृतिः (=स्वभावः) यस्याः सा तादृशी, अपि स्थिरा (=निश्चला, निश्चलस्वभावा) इति विरोधः । परिहारस्तु—बह्वयः (=नानाविधाः) प्रकृतयः (=नागरिकसमूहाः, स्वाम्यादिराज्याङ्गानि) यस्यां सा । प्रकृति-शब्दार्थस्तु—

'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादाभादिस्वभावयोः ।
योनौ लिङ्गे पौरवर्गे··· ···॥" इति मेदिनी ।
"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च ।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥" अमरः २।८।१७-१८

एषु विरोधाभासोऽलङ्कारस्तूक्त एव ।

विजितेति । पूर्वोक्तवैशिष्ट्यवतीषु अवन्तीषु=मालवेषु, विजितेत्यादिः—वि (=विशेषेण) जिता (= पराभूता) अमरलोकस्य (= देवलोकस्य) द्युतिः (= कान्तिः) यया सा तादृशी,

(नगरी) बालकों की अनेक प्रकार की क्रीडाओं से मनोहर है ।

अङ्गनाओं =स्त्रियों के उपभोग को स्पष्ट प्रकट करने वाली होती हुई भी अखण्डित चरित्रवाली, अनिन्दित आचरण वाली है, [विरोधपरिहार—प्रकट=खुले अङ्गन=आंगनों के उपभोग वाली है, अथवा अङ्गनाओं = स्त्रियों द्वारा ताम्बूलादि का स्पष्ट रूप से खुले उपभोग वाली है, किसी पर अनावश्यक कोई नियन्त्रण नहीं है ।] रक्त =लाल वर्ण =रंग वाली होती हुई भी सुधा =चूने से या अमृत के समान धवल = श्वेत है, [विरोधपरिहार—रक्त = अनुरक्त वर्ण = ब्राह्मणादि चारों वर्णों वाली है, जिसमें सभी वर्णों में परस्पर अनुराग है ।] मोतियों के समूह = माला को लटकाये हुई भी विहार-भूषण =हाररूपी आभूषण से रहित है, [विरोधपरिहार— विहार =बौद्धविहार, जैनविहार रूपी भूषण वाली है, इसमें अनेक विहार हैं ।] अनेक प्रकार की प्रकृति=स्वभाव वाली (अर्थात् चंचल)

नगरी।

यस्यामुत्तुङ्ग-सौधोत्सङ्ग-सङ्गीतसङ्गिनीनामङ्गनानामतिमधुरेण[1] गीतरवेणाकृष्यमाणा-[2]धोमुख-रथतुरङ्गः पुरःपर्य्यस्त-[3]रथपताकापटः कृत-महाकाल-प्रणाम इव प्रतिदिनं[4] लक्ष्यते गच्छन् दिवसकरः।

यस्याञ्च सन्ध्यारागारुणा इव सिन्दूर-मणिकुट्टिमेषु, प्रारब्ध-नील-कमलिनी-[5]

उज्जयिनी नाम—उत्=स्वकान्त्या उत्कर्षेण जयति एवं-शीला, नगरी=पुरी, 'अस्ति' इति आदिमपदेन सम्बन्धः।

साम्प्रतं तस्यां नगर्यां किं किं भवतीति प्रतिपादयितुमाह—यस्यामिति। यस्याम्=पूर्वोक्तायाम् उज्जयिन्याम्। उत्तुङ्गेत्यादिः—उत्तुङ्गानि (= अत्युन्नतानि) यानि सौधानि (=राजसदनानि) तेषाम्, उत्सङ्गः (= उपरिभागः) तस्मिन् यत् सङ्गीतम् (= गीतवाद्यनृत्यात्मकम्) तस्मिन् सङ्गिनीनाम् (=व्यासक्तानाम्) अङ्गनानाम्=कामिनीनाम्, अतिमधुरेण=अतिमिष्टेन, आकर्षकेण, गीतरवेण=गानस्वरेण, आकृष्यमाणेत्यादिः—आकृष्यमाणाः (=क्रियमाणाकर्षणाः, विवशीक्रियमाणाः) अतएव अधोमुखाः (=अवाङ्मुखाः) रथतुरङ्गाः (=स्यन्दनाश्वाः) यस्य सः तादृशः। पर्यस्तेत्यादिः—पुरः (=अग्रे) पर्यस्तः (= क्षिप्तः) रथस्य (= स्यन्दनस्य) पताकायाः (=वैजयन्त्याः) पटः (=वसनम्) यस्य स तादृशः। कृतेत्यादिः—कृताः (=विहिताः) महाकालाय (= एतन्नाम्ने ज्योतिर्लिङ्गाय) प्रणामाः (=प्रणतयः) येन स तादृशः, इव, प्रतिदिनम् (=प्रत्यहम्) गच्छन् (=व्रजन्, उदयमस्तं च प्राप्नुवन्) दिवसकरः=सूर्यः, लक्ष्यते=विलोक्यते, तत्रस्थैः लोकैरिति शेषः। "सौधोऽस्त्री" इति अमरः (२।२।१०)। तेन पुंसि नपुंसके च साधु। 'गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यते।' 'कृतमहाकालप्रणाम इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा बोध्या।

यस्यामिति। यस्याम्=उज्जयिन्याम्, ['निपतन्तः सन्तः' इदं सर्वत्र योज्यम्।] रविगभस्तयः=सूर्यकिरणाः, विराजन्ते=शोभन्ते—इति मुख्यं वाक्यम्। ते च रविगभस्तयः कीदृशा इति प्रतिपादयति—सिन्दूरमणिकुट्टिमेषु—सिन्दूरमणयः (= प्रबालरत्नविशेषाः रक्तमणयः) तेषां कुट्टिमेषु (=निबद्धभूमिषु), [निपतन्तः सन्तः] सन्ध्येत्यादिः—सन्ध्या (=सायं वेला) तस्याः यो रागः (= लौहित्यम्) तेन अरुणाः (= रक्तवर्णाः) इव, तत्र निपतितेषु लौहित्यप्रतीतेरिति भावः। मरकतवेदिकासु—मरकतम् (=अश्मगर्भघटिमणिविशेषः) तन्निर्मित-वेदिकासु (=परिष्कृतभूमिषु) [निपतन्तः सन्तः) प्रारब्धेत्यादिः—प्रारब्धम् (=आचरितम्) नीलकमलिनीषु (=नीलनलिनीषु)

होती हुई भी स्थिर (स्वभाव वाली) है, [विरोधपरिहार—बहुप्रकृति=अनेक प्रकार की नागरिक-श्रेणियों वाली है।] अमरलोक = देवलोक की कान्ति=सुन्दरता को भी जीत लेने वाली, अवन्तीदेश में 'उज्जयिनी' नाम की नगरी है।

जिस उज्जयिनी में [उसके] ऊँचे ऊँचे महलों के उत्संग = गोद में अर्थात् भीतर संगीत (गीत, वाद्य और नृत्य) में आसक्त सुन्दरियों की अत्यन्त मधुर ध्वनि से आकर्षित किये जाते हुए [अत एव] नीचे (भूतल की ओर) मुख वाले रथ के घोड़ों वाला [तथा] सामने = आगे फैली हुई पताका के वस्त्र वाला (जिसकी पताका का वस्त्र आगे फैला हुआ है), [अस्ताचल की ओर] जाता हुआ सूर्य प्रतिदिन मानों वहाँ 'महाकाल भगवान्' को प्रणाम करता हुआ सा दिखाई देता है।

और जिस (उज्जयिनी) में सूर्य की किरणें सिन्दूर मणियों (एक विशेष प्रकार की लाल मणियों) की कुट्टिमों = फर्शों पर सन्ध्या की लालिमा (रंग) से लाल सी [चमकती दिखाई

---

१. उत्सङ्गीतसङ्गिनीनाम्, उत्सङ्गसङ्गिनीनाम्। २. कृष्यमाणाधोमुखतुरङ्गः। ३. पुरपर्यस्त। ४. प्रतिदिवसमालक्ष्यते भगवान्। ५. प्रारब्ध-कमलिनी, परिमलिनी, परिमिलना, परिमला, परिमीलना।

परिमण्डला इव मरकत-वेदिकासु, गगन-तल-पर्यस्ता[1] इव वैदूर्य्यमणि-भूमिषु, तिमिर-पटल-विघटनोद्यता इव कृष्णागुरु-धूम[2]-मण्डलेषु, अभिभूत-तारकापङ्क्तय इव मुक्ता[3]-प्रालम्बेषु, विकचकमल-चुम्बिन इव नितम्बिनीमुखेषु, प्रभात-चन्द्रिका-मध्यपतिता इव स्फटिक[4]भित्ति-प्रभासु, गगनसिन्धु-तरङ्गावलम्बिन[5] इव सितपताकांशुकेषु, पल्लविता इव सूर्य्यकान्तोपलेषु, राहुमुख-कुहर-प्रविष्टा इवेन्द्र-नील-वातायन-विवरेषु विराजन्ते रवि-गभस्तयः।

परिमण्डलम् (=लुठनम्) यैस्ते तादृशाः, इव, तत्र पतनात् नीलत्वप्रतीतेरिति भावः। वैडूर्य-मणि-भूमिषु=बालवायज-मणि-निबद्धस्थलेषु, [निपतन्तः सन्तः] गगनतल-पर्यस्ताः=आकाशतल-विस्तीर्णाः इव, कृष्णेत्यादिः—कृष्णागुरुः (= कालागुरुः, क्राकतुण्डः) तस्य धूमः (= वह्नि-केतनः) तेषां मण्डलेषु (=समूहेषु) [निपतन्तःसन्तः] तिमिरेत्यादिः—तिमिरपटलम् (=अन्धकारसमूहः) तस्य यद् विघटनम् (=भेदनं, विदारणम्) तस्मिन् उद्यताः (= विहितप्रयासाः, उद्युक्ताः) इव। मुक्ताप्रालम्वेषु=लम्बमानमुक्तासमुदायेषु, [निपतन्तः सन्तः] अभिभूतेत्यादिः—अभिभूताः (=अव-मानिताः) तारकाणाम् (=नक्षत्राणाम्) पङ्क्तयः (=श्रेणयः) यैस्ते तादृशाः, इव। नितम्बिनी-मुखेषु=कामिनीनां वदनेषु, [निपतन्तः सन्तः] विकचेत्यादिः—विकचानि (=विकसितानि) यानि कमलानि (=पद्मानि) तानि चुम्बन्ति (=स्पृशन्ति) तच्छीला इव। नितम्बिनीमुखानां कमलानां च सादृश्यात्। स्फटिकभित्ति-प्रभासु—स्फटिकस्य (= चन्द्रोपलस्य, एतन्नामकमणिविशेषस्य) या भित्तयः (=तद्ररचितकुड्यानि) तासां प्रभासु (=कान्तिषु), [निपतन्तः सन्तः] प्रभातेत्यादिः—प्रभाते (= प्रातःकाले) या चन्द्रिका (= ज्योत्स्ना) तस्या मध्ये (= आभ्यन्तरे) पतिता (=निपतिताः) इव। [उदये चन्द्रिकाया रक्तत्वात् मध्ये च पाण्डुरत्वात्, प्रातस्तु स्फटिकसाम्यात् प्रभातपदम्—इति भानुचन्द्रः। एवञ्च प्रभातपदस्य सार्थक्यमिति बोध्यम्।] सितेत्यादिः—सितानि (=शुक्लानि यानि पताकायाः (= वैजयन्त्याः) अंशुकानि (= वस्त्राणि) तेषु [निपतन्तः सन्तः] गगनेत्यादिः— गगनसिन्धुः (=स्वर्गङ्गा) तस्या ये तरङ्गाः (=ऊर्मयः) तान् आलम्बन्ते (=आश्रयन्ति) एवंशीलाः, इव। सूर्यकान्तोपलेषु=सूर्यकान्तमणिषु, [निपतन्तः सन्तः] पल्लविता

देती हैं], मरकत मणियों की वेदिकाओं = चबूतरों पर नीलकमलिनी पर लेटना आरम्भ की हुई सी [दिखाई देती हैं], वैदूर्यमणि (=निर्मित) भूमियों पर आकाश में फैलती हुई सी [दिखाई देती हैं], काले अगुरु के धुओं के समूहों पर अन्धकार-समूह को चीरने में लगी हुई सी [दिखाई देती हैं], मोतियों के तोरणों (मालाओं) पर ताराओं के समूह को तिरस्कृत करती हुई सी [दिखाई देती हैं], सुन्दरियों के मुखों पर खिले हुए कमलों का चुम्बन करती हुई सी [दिखाई देती है], स्फटिक मणि-निर्मित दीवारों की कान्तिओं पर प्रातः काल की चाँदनी के बीच में गिरी हुई सी [दिखाई देती हैं], सफेद पताकाओं के वस्त्रों पर गगनसिन्धु = आकाशगङ्गा की तरङ्गों का अवलम्बन करती हुई सी [दिखाई देती हैं], सूर्यकान्त मणियों पर पल्लवित = उत्पन्न पल्लवोंवाली सी [दिखाई देती हैं], और इन्द्रनील मणि के बने हुए वातायन=झरोखों के छिद्रों पर राहु के मुखविवर में प्रविष्ट हुई सी

१. गगनपर्यस्ता। २. धूप। ३. मुक्ताफल।
४. स्फाटिकमणि। ५. तरङ्गसङ्गिनः।

यस्याञ्चानुपजात-तिमिरत्वादविघटित-चक्रवाकमिथुना[1] व्यर्थीकृत-सुरतप्रदीपाः[2] सञ्जातमदनानल-दिग्दाहा इव यान्ति कामिनीनां भूषण-प्रभाभिर्बालातपपिञ्जरा[3] इव रजन्यः।

याञ्च सन्निहित-विषमलोचनामनवरतमतिमधुरो रतिप्रलाप इव प्रसर्पन्[4] मुखरीकरोति

=सञ्जातकिसलयाः, इव। इन्द्रनीलेत्यादिः—इन्द्रनीलानि(=नीलकान्तरत्नानि) तैः रचितानि वातायनानि (=गवाक्षाः) तेषां विवरेषु (=रन्ध्रेषु, अवकाशेषु), [निपतन्तः सन्तः] राहुमुखेत्यादिः—राहुः (=सिंहिकासुतः) तस्य यत् मुखम् (=आननम्) तस्मिन् प्रविष्टाः (=अन्तर्गताः, कृतप्रवेशाः) इव, रविगभस्तय विराजन्ते इति सम्बन्धस्तु पूर्वमेवोक्तः। एवञ्च विविधस्थानेषु पतितानां सूर्यकिरणानां बहुविधा शोभा जायते इति भावः। अत्र सर्वत्र 'सन्ध्यारागारुणा' इत्यत्रारुण्यगुणस्योत्प्रेक्षा अन्यत्र च भिन्नभिन्नक्रियोत्प्रेक्षेति प्राहुः।

यस्याञ्चेति। च=पुनः, यस्याम् (= उज्जयिन्याम्), कामिनीनाम् (= रमणीनाम्), भूषणप्रभाभिः (=अलङ्कारकान्तिभिः) अनुपजाततिमिरत्वात् (=अनुत्पन्नान्धकारत्वात्, कारणात्) अविघटितेत्यादिः—अविघटितानि (= अवियुक्तानि) चक्रवाकानाम् (=कोकानाम्) मिथुनानि (=द्वन्द्वानि) याभिस्ताः तादृश्यः। भूषणानां प्रकाशातिशयेन रात्र्यप्रतीत्या दिनभ्रान्त्या चक्रवाका वियुक्ता न भवन्ति। व्यर्थीकृतेत्यादिः—व्यर्थीकृताः (=निष्फलीकृताः) सुरतप्रदीपाः (=सम्भोग-दीपाः) याभिस्ता तादृश्यः, सञ्जातेत्यादिः—सञ्जातः (=समुत्पन्नः) मदनानलेन (=कामाग्निना) दिग्दाहः (=दिशाज्वलनम्) यासु ताः तादृश्यः, बालातपेत्यादिः—बालातपः (=नवीनसूर्यालोकः) तेन पिञ्जराः (=पीतवर्णाः) इव, सत्यः, रजन्यः=रात्रयः, यान्ति=गच्छन्ति, व्यतियन्ति।

अत्र चक्रवाकमिथुनानां विघटनसम्बन्धसत्त्वेपि तदसम्बन्धप्रतिपादनादेकातिशयोक्तिः, अपरां च सुरतप्रदीपानां व्यर्थीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्ध-प्रतिपादनादतिशयोक्तिः, वाच्यत्वाभावाद् भ्रान्तिमानलङ्कारध्वनिश्च, तथा 'सञ्जात (=मदनानल) दिग्दाहा इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'बालातपपिञ्जरा इव' इत्यत्र गुणोत्प्रेक्षा च—इत्येतेषामलङ्काराणमेकस्मिन् वाक्ये नैरपेक्ष्येण स्थित्या संसृष्टिरलङ्कार इत्याहुः सहृदयाः साहित्यिकाः।

याञ्चेति। मकरेत्यादिः—मकरकेतोः (= कामदेवस्य) यो दाहः (=शिवतृतीयनेत्रेण भस्मीकरणम्) स एव हेतुभूतः (=कारणभूतः) यस्य स तादृशः, रतिप्रलापः (=कामपत्नीक्रन्दनम्) इव, अन्यत्रपक्षे—मकरकेतुना (=कामदेवेन) यो दाहः (=सन्तापः) तस्य हेतुभूतः=कारणभूतः, भवनेत्यादिः—भवनानाम् (=गृहाणाम्) ये कलहंसाः (=कादम्बाः) तेषां कुलानि (= समूहाः)

शोभित होती हैं। [विभिन्न मणियों के बने हुए स्थानों पर सूर्य की किरणें पड़ने पर कैसी-कैसी शोभा दिखाई देती है,यही यहाँ प्रतिपादित है। साथ ही प्रायः सभी मणियों का प्रयोग होना भी प्रदर्शित है।]

और जिस (उज्जयिनी नगरी) में सुन्दरियों के आभूषणों की कान्ति = चमक के कारण प्रातःकालीन सूर्य की धूप के समान पिञ्जर (हल्की पीली) की गई रातें ऐसी बीत जाती हैं कि उनमें अन्धेरा न होने से चकवी-चकवा के जोड़ों का वियोग नहीं होता है, सुरत क्रीडा के [समय जलाये जाने वाले] दीपक व्यर्थ कर दिये जाते हैं, उनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है, [मनुष्यों के हृदयों में] उत्पन्न कामाग्नि = प्रेमज्वाला से मानों दिशाओं का दहन = जलना हो रहा हो।

और जिस सन्निहित-विषमलोचना (विषमलोचन = महाकाल शिव जिसमें रहते हैं ऐसी)

---

१. यस्यामनु०। २. प्रकटीकृत। ३. पिञ्जरत्वं रजन्याः। ४. प्रतिवासरं प्रसर्पन्।

मकरकेतु-दाह-हेतुभूतो भवन-कलहंस-कुलकोलाहलः[1]।

यस्याञ्च निशि निशि पवनविलोलैर्[2]दुकूलपल्लवैरुल्लसद्भिर्मालवी-मुखकमल-कान्ति-लज्जितस्येन्दोः कलङ्कमिवापनयन्तो दूरप्रसारित-ध्वज-भुजाः[3] प्रासादा लक्ष्यन्ते।

तेषां कोलाहलः (= कलकलः, तीव्रध्वनिः), अनवरतम् (= निरन्तरम्) प्रसर्पन् (= विस्तारं प्राप्नुवन्) सन्, सन्निहितविषमलोचनाम्—सन्निहितः (= निकटस्थः) विषमलोचनः (= शिवः) यस्याः सा तां तादृशीम्, याम् = उज्जयिनीनगरीम् मुखरीकरोति = वाचालीकरोति। अत्राभूततद्भावे-च्विप्रत्यये रूपं बोध्यम्। रतिप्रलापककलहंसकोलाहलयोः साम्यप्रतिपादनाद् 'उपमा' बोध्या।

यस्याञ्चेति। यस्याम् = उज्जयिन्याम्, निशि निशि = प्रतिरात्रम्, दूरेत्यादिः—दूरे (= अत्युन्नते) प्रसारिताः (= विस्तारिताः, उत्तोलिताः) ध्वजाः (= वैजयन्त्यः) एव, भुजाः (= बाहवः) यैस्ते तादृशाः प्रासादाः (= राजभवनानि) कर्तारः, पवनविलोलैः = वायुसञ्चलितैः, अतएव, उल्लद्भिः = ऊर्ध्वं विद्यमानैः, शोभमानैः; दुकूलपल्लवैः = क्षौमवैजयन्तीवसनैः, करणैः, मालवीत्यादिः—मालवीनाम् (= मालवदेशरमणीनाम्) यानि मुखकमलानि (= वदनपद्मानि) तेषां कान्तिभिः (= शोभाभिः) लज्जितस्य = त्रपितस्य, [कलङ्कयुक्तत्वात्], इन्दोः = चन्द्रस्य, कलङ्कम् = लाञ्छनम्, अपनयन्तः = मार्जयन्तः, इव, लक्ष्यन्ते = विलोक्यन्ते, लोकैरितिशेषः। यथा लोके समीपस्थं किञ्चन मित्रं स्वस्य मित्रस्य शोकचिह्नं कलङ्कं वा नाशयितुं प्रयतते तथैव राजप्रासादा अत्युन्नतया समीपवर्तिनः मित्रभूतस्य चन्द्रस्य पराजयसूचकं कलङ्कमपनयन्त इव दृश्यन्ते। अत्र क्रियोत्प्रेक्षा, समासोक्तिश्च। तत्र भवनानामत्युन्नतत्वं रमणीनामतिशयसौन्दर्यवत्त्वञ्च व्यज्यते।

नगरी को कामदेव से होने वाले दाह = कामाग्नि का कारणभूत, अत्यन्त मधुर, सदैव होने वाला घरेलू कलहंसों के समूह का कोलाहल [मकरकेतु = कामदेव के दाह = जल जाने के कारण उत्पन्न होने वाले] रति (कामदेव की पत्नी) के प्रलाप के समान शब्दायमान (= ध्वनियुक्त) करता रहता है। [कलहंस-पक्ष में—कामाग्नि का कारण बनने वाला, रतिप्रलापपक्ष में—कामदेव के जल जाने के कारण होने वाला।]

और जिस (उज्जयिनी नगरी) में हर एक रात में पवन से हिलाये गए, ऊपर उठे हुए, (या शोभित होते हुए) रेशमी वस्त्रों (ध्वजाओं) के आँचलों के कारण प्रासाद (महल) ऐसे दिखाई पड़ते हैं मानों ऊपर दूर तक फैलाए गए ध्वजारूपी हाथों से उस चन्द्रमा का कलङ्क दूर कर (पोंछ) रहे हैं जो (चन्द्रमा) मालव देव की सुन्दरियों के मुखकमल की कान्ति से लज्जित हो गया है। [प्रत्येक भवन की ध्वजाएँ आकाशतल में चन्द्रमा को छूती हुई ऐसी लगती हैं मानों मालवा की सुन्दरियों के मुख-कमल के सौन्दर्य के सामने चन्द्रमा लज्जित हो गया है और उसमें पराजय का कलंक लग गया है, उसे पड़ोसी मित्र के समान ध्वजायें धो रहीं = दूर कर रहीं हैं।]

---

१. भवनकलहंसकोलाहलः, भवनकलः।
२. पवनवशविलोलैः।
३. ऊर्ध्वध्वजभुजाः।

यस्याञ्च सौध-शिखर-शायिनीनां[1] पश्यन् मुखानि पुरसुन्दरीणां मदन-परवश इव पतितः प्रतिमाच्छलेन लुठति बहुल-चन्दन-जल-सेक-शिशिरेषु[2] मणिकुट्टिमेषु मृगलाञ्छनः।

यस्याञ्च निशावसान-प्रबुद्धस्य[3] तारतरमपि पठतः पञ्जरभाजः शुक-सारिकासमूहस्याभिभूत-गृहसारस-स्वरामृतेन[4] विस्तारिणा विलासिनी-भूषण-रवेणा[5]विभाव्यमाना[6] व्यर्थीभवन्ति

यस्याञ्चेति। यस्याम् = उज्जयिनी-नगर्याम्, मृगलाञ्छनः = शशाङ्कः चन्द्रः, सौधेत्यादिः—सौधानि (= राजसदनानि) तेषां शिखराणि (= ऊर्ध्वदेशाः) तत्र शेरते (= स्वपन्ति) एवंशीलाः शायिन्यः, तासाम्, पुरसुन्दरीणाम् (= नगररमणीनाम्), मुखानि = वदनानि, पश्यन् = विलोकयन्, मदन-परवशः—मदनेन (= कामेन) परवशः (= पराधीनः, कामाधीनः) इव, बहुलेत्यादिः—बहुलम् (= प्रचुरम्) यत् चन्दनजलम् (= मलयजमिश्रसलिलम्) तस्य तेन वा सेकः (= सिञ्चनम्) तेन शिशिरेषु (= शीतलेषु), मणिकुट्टिमेषु=मणिमयनिबद्धभूमिषु, रमणीशयनाधारभूतस्थलेष्वित्यर्थः, प्रतिमाच्छलेन —प्रतिमा (= प्रतिबिम्बम्) तस्याः छलेन (= मिषेण) पतितः = स्रस्तः सन्, लुठति = प्रसरति। अत्रापह्नुतिः गुणोत्प्रेक्षा च, ताभ्यामुभाभ्यां कार्येण मृगलाञ्छने कामुकव्यवहार-समासोक्तिरित्येतेषामेकाश्रयेऽनुप्रवेशात् सङ्करालङ्कारो बोध्यः।

['प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया। अमरः २।१०।३५।]

यस्याञ्चेति। निशावसानप्रबुद्धस्य—निशावसाने (= रजन्याः समाप्तौ) प्रबुद्धस्य (= जागरितस्य), तारतरम् = अत्युच्चम्, अपि, पठतः = पठनं कुर्वतः, पञ्जरभाजः=पञ्जरमध्यस्थितस्य, शुकेत्यादिः—शुकानाम् (= कीराणाम्) सारिकानाम् (= पीतपादानां पक्षिविशेषाणाम् 'मैना' इति हिन्द्याम्) समूहस्य (= समुदायस्य), अभिभूतेत्यादिः—अभिभूतम् (= तिरस्कृतम्) गृहसारसानाम् (= भवन-स्थित-पुष्कराह्वानाम्) स्वरामृतम् (= ध्वनिरूपपीयूषम्) येन तादृशेन, विस्तारिणा = प्रसरणशीलेन, विलासिनीभूषणरवेण—विलासिनीनाम् (= कामिनीनाम्) यानि भूषणानि (= अलङ्काराः) तेषां रवेण (= ध्वनिना) अविभाव्यमाना = पार्थक्येनाश्रूयमाणाः, प्रभातमङ्गलगीतयः (मङ्गलनिमित्तभूत-गानानि) व्यर्थीभवन्ति=निष्फलीभवन्ति। अत्र पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं मीलितालङ्कारश्चानयोः सङ्करः।

और जिस (उज्जयिनी नगरी) में प्रासादों के शिखरों (ऊपरी छतों) पर शयन करने वाली पुरवासी सुन्दरियों के मुखों को देखता हुआ (देखकर) मृगलाञ्छन=चन्द्रमा कामाधीन होता हुआ (उन्मत्त होता हुआ) सा अत्यधिक चन्दन-मिश्रित (शीतल सुगन्धित) जल के सींचने (छिड़काव) से शीतल मणिमय कुट्टिमों (फर्शों) पर प्रतिबिम्ब के बहाने गिरा हुआ [सुन्दरियों को प्रसन्न करने के लिए उनके पैरों पर गिरा हुआ] लोटता रहता है। [जैसे कोई कामातुर व्यक्ति किसी सुन्दरी के पैरों पर गिर कर उसी अवस्था में तब तक पड़ा रहता है जब तक वह प्रसन्न नहीं हो जाती। इसी प्रकार चन्द्रमा भी अपने प्रतिबिम्ब के बहाने गिर कर पड़ा रहता है।]

और जिस (उज्जयिनी नगरी) में रात्रि की समाप्ति = प्रत्यूष काल में जागे हुए, जोर जोर से पढ़ने (चिल्लाने) वाले, पिंजरों में स्थित तोतों और मैनाओं के समूह के उस स्वरामृत के कारण

१. सौधशिखरोत्सङ्गशायिनीनां। २. शिखरेषु मृगः।
३. निशावसाने। ४. तारतरमतिपठतः समूहस्य रवेणाभिभूता गृहसारसविटकेन।
५. रवेण च। ६. अभिभाव्यमानाः।

प्रभात-मङ्गलगीतयः ।

यस्याञ्चानिवृत्तिर्मणिप्रदीपानाम्[1], अन्तस्तरलता[2] हाराणाम्, अस्थितिः सङ्गीतमुरजध्वनी-

अत्रान्वयो विवादग्रस्तः । बहवस्तु—शुकसारिकासमूहस्य मङ्गलगीतयो व्यर्थीभवन्तीति स्वीकुर्वन्ति, शेषराजशर्ममहोदयैस्तु 'मङ्गलगीतयः' इति पदमेव व्याख्यायां परित्यक्तम् । अतस्तदभिमतान्वयो न शक्यते वक्तुम् । पूर्वमतेन तु प्रभातमंगलगीतीनां कर्तृत्वं शुकसारिकासमूहे ।

भानुचन्द्रस्तु—प्रभातमङ्गलगीतीनां कर्तृत्वमन्यनिष्ठं स्वीकृत्य—'शुकसारिकासमूहस्य' सम्बन्धतयाऽन्वयम् 'अभिभूतगृहसारसस्वरामृतेन' इत्यत्र करोति । एवञ्च मङ्गलगीतिपाठका अन्ये सेवकाः सन्ति, तस्य वैयर्थ्यकारकं च द्वयम्—(१) शुकसारिका··· ···स्वरामृतम् (२) विलासिनी भूषणरवश्च । तेन हि "प्रभाते=प्रत्यूषे मङ्गले नैमित्तिका गीतयो व्यर्थीभवन्ति=निष्फलीभवन्ति । व्यर्थीभवने हेतुद्वयं प्रदर्शयन्नाह—शुकेति । ···" इत्याद्युक्तम् । एतद्व्याख्यानस्य समर्थनं च केषुचित् हस्तलेखेषु '··· रवेण च' इति समुच्चयार्थकचकार-प्रयोगाद्भवति । एवञ्चात्रत्यं युक्तायुक्तत्वं विपश्चिद्भिर्विचारणीयमित्यलम् ।

परिसंख्यालङ्कारेण नगरी-वैशिष्टयं प्रतिपादयति— यस्याञ्चेति । यस्याम् = उज्जयिन्याम्, मणिप्रदीपानाम् (=रत्नदीपानाम्) अनिवृत्तिः=अनिवारणम्, न तु लोकानां विषयोपभोगेभ्योऽनिवृत्तिः, 'अनिर्वृत्तिः' इति पाठे तु 'अनिर्वाणम्' उपरमाभाव इत्यर्थः । वृद्धावस्थायामेव लोकानां निर्वृत्तिदर्शनात्ततः पूर्वं तदभाव इत्याशयः । क्वचित्तु 'अनिर्वृतिः' इति पाठः, निर्वृतिः'=सुखम्, तदभावः, हानिरित्यर्थः ।

"प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथितादवस्तुनो भवेत् ।
तादृगन्यव्ययोहश्चेच्छाब्द आर्थो वा तदा ॥
परिसंख्या ··· ··· ··· ॥

हाराणाम्=मुक्ताप्रालम्बनाम्, अन्तस्तरलता=अन्तः (= मध्ये) तरलः (=हारमध्यस्थितमणिः) येषां ते, तेषां भावस्तत्ता । न तु तत्रत्यजनानाम् । ["तरलं चञ्चले, पिङ्गे, भास्वरेऽपि

जिसने पालतू सारसों की ध्वनि तिरस्कृत कर दी है और सुन्दरियों के आभूषण की वह ध्वनि जो अत्यन्त विस्तृत होने=फैलने वाली है, के कारण स्पष्ट रूप से न सुनाई देने वाले प्रभातमंगल-सम्बन्धी गीत व्यर्थ हो जाते है ।

विमर्श यहाँ 'शुकसारिकासमूहस्य' इसका सम्बन्ध समीपवर्ती 'अभिभूत-गृह-सारसस्वरामृतेन' के साथ है या अन्तिम पद 'प्रभात-मंगलगीतयः' के साथ । अधिकांश व्याख्याकारों ने अन्तिम पद के साथ ही सम्बन्ध करके—शुकसारिका-समूह की मंगल-गीतियाँ व्यर्थ होती हैं—ऐसा अर्थ किया है । परन्तु प्राचीन और प्रामाणिक व्याख्याकार भानुचन्द्र ने ऐसा न मानकर मंगलगीतियों के व्यर्थ होने में शुकसारिकासमूह के स्वरामृत को, जिसने गृहसारसों की ध्वनि को तिरस्कृत कर दिया है, और विलासिनियों के आभूषणों की ध्वनि को कारण माना है । इन दो कारणों से मंगलगीतियाँ अलग से नहीं सुनाई पड़ती हैं अतः व्यर्थ हैं । भानुचन्द्र के अनुसार मंगलगीतियाँ पढ़नेवाले तो बन्दी और चारण ही होंगे । परन्तु चारो ओर सारसों, तोतों, मैनाओं की आवाजें और सुन्दरियों के चलने फिरने से गहनों की आवाजें इन मंगलगीतियों की ध्वनि को दबा देती हैं, व्यर्थ कर देती हैं ।

(अनु०) और जिस (उज्जयिनी) में अनिवृत्ति (= कभी न बुझना) मणिमय प्रदीपों की ही है, [मनुष्यों की बुरे काम से अनिवृत्ति नहीं है, निवृत्ति = दूर रहना है ही, अथवा मोक्ष

१. अनिर्वृत्तिः । २. तरलता ।

नाम्, द्वन्द्ववियोगश्चक्रनाम्नाम्,[1] वर्णपरीक्षा कनकानाम्, अस्थिरत्वं ध्वजानाम्, मित्रद्वेषः कुमुदानाम्, कोषगुप्तिरसीनाम्।

कि बहुना, यस्यां[2] सुरासुर-चूडा-मणि-मरीचि-चय-चुम्बित[3]-चरणनख-मयूखो निशित-

त्रिलिङ्गकम्। हारमध्यमणौ पुंसि··· ···। इति मेदिनी] सङ्गीत-मुरज ध्वनीनाम् = संगीते ये मुरजाः (= मृदङ्गाः) तेषां ध्वनीनाम् (= रवाणाम्), एव, अस्थितिः = अनवस्थानम्, यत्र तत्र प्रसरणम्, न तु तत्रत्यलोकानाम्, अस्थितिः = अमर्यादा, सर्वेपि मर्यादापरिपालका एवासन्। ["संस्था तु मर्यादा धारणा स्थितिः" । अमरः २।८।२६] चक्रनाम्नाम् = चक्रवाकानाम्, एव, द्वन्द्ववियोगः = द्वन्द्वम् (= स्त्रीपुरुषमिथुनम्) तस्य वियोगः (= विरहः), न तु लोकानाम्, सर्वेऽपि जनाः निर्भयाः निश्चिन्ताश्च सन्तः दाम्पत्यजीवनं यापयन्ति। ["कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनायकाः।" अमरः २।५।२३] कनकानाम् = सुवर्णानाम्, एव, वर्णपरीक्षा = वर्णस्य (= रङ्गस्य, उत्कृष्टत्वापकृष्टत्वस्य) परीक्षा (= निकषेण परीक्षणम्) न तु लोके वर्णानाम् = ब्राह्मणादि-चतुर्वर्णानां परीक्षा, वर्णसाङ्कर्याभावात्। ध्वजानाम् = वैजयन्तीनाम्, एव, अस्थिरत्वम् = चञ्चलता, पवनादिनेति भावः, न तु लोकानां प्रलोभादिना अधीरत्वम्, सर्वेषामेव स्व-स्वमर्यादायामेव सत्त्वात् कुमुदानाम् = कैरवाणाम्, मित्रद्वेषः = मित्रः (= सूर्यः) तस्य द्वेषः (= शत्रुता) न तु लोकानां मित्रद्वेषः = सुहृद्विरोधः, सर्वे मित्रहितसाधनरताः। असीनाम् = खड्गानाम्, एव, कोषगुप्तिः = कोषेषु (= चर्ममयाच्छादनेषु प्रतीकारेषु) गुप्तिः (= गोपनता), न तु लोकानां सम्पत्तीनां कोषेषु रक्षणम्, कुत्रापि चौराद्यभावात्। श्लेषस्य पूर्वोक्तायाः परिसंख्यायाश्चैकाश्रयानुप्रवेशेन साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारः।

किं बहुनेति। बहुना = अधिकेन कथनेन, किम् = किंफलम्, न किमपीत्यर्थः। यस्याम् = उज्जयिन्याम्, ["महाकालाभिधः स्वयं प्रतिवसति" इति वक्ष्यमाणेनान्वये मुख्यं वाक्यम् तस्यैवेमानि

वस्तुओं की अनिवृत्ति = समाप्ति नहीं है, सदैव विद्यमानता है।] अन्तस्तरलता = मध्य में एक विशेष मणि वाला होना केवल हारों (मालाओं) की है, [लोगों के अन्तः = मन की तरलता = चञ्चलता नहीं है, सभी स्थिर चित्त वाले हैं।] अस्थिरता = एक रूप में रहना संगीत में मुरज (= पखावज) की ध्वनियों में ही है, वे ध्वनियाँ ही लय के अनुसार बदलती रहती हैं, [लोगों की अस्थिति = मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं है, सभी अपनी मर्यादाओं का पूर्ण पालन करते हैं।] द्वन्द्ववियोग = दम्पती का विलगाव चकवी चकवा का ही है [प्रजा में किसी प्रेमी या प्रेमिका, पति या पत्नी का वियोग नहीं है। वे युगल सदैव साथ साथ रहते हैं।] वर्णपरीक्षा = रंग या उत्कृष्टत्वापकृष्टत्व की परीक्षा सुवर्णों की ही है [प्रजा में ब्राह्मणादिवर्णों की परीक्षा नहीं होती है क्योंकि सभी अपने अपने वर्णानुसार आचरण करने वाले हैं।] अस्थिरता = हिलना, डुलना, लहराना पताकाओं की ही है, [लोगों की स्थिरता = दृढता या एकरूपता ही है।] मित्र (= सूर्य) का द्वेष (= शत्रुता) कुमुदों का ही है [लोगों की मित्रों से शत्रुता नहीं है, सभी अपने-अपने मित्रों के मित्र ही हैं, शुभचिन्तक ही हैं।] कोष (मियान, चमड़े के खोल) में छिपाना तलवारों का ही होता है, [खजानों का छिपाना नहीं होता है क्योंकि चोर और डकैत नहीं हैं। यहाँ आर्थी परिसंख्या अलंकार का प्रयोग है। अतः व्यवच्छेद की प्रतीति अलग से होती है।]

अधिक [कहने] से क्या [लाभ] ? जिस नगरी में 'महाकाल' नाम वाले, अन्धकासुर के

१. चक्रनाम्नः, चक्रवाकनाम्नाम्। २. यस्याञ्च। ३. मरीचिचुम्बित।

त्रिशूल-दारितान्धक-महासुरः, गौरी-नूपुर-कोटि-घृष्ट-शेखर-चन्द्रशकलः,[1] त्रिपुर-भस्मरजः-कृताङ्गरागः, मकरध्वज-ध्वंस-विधुरया रत्या प्रसादयन्त्या प्रसारित-कर-युगल-[2]विगलित-वलय-निकरार्चित-चरणः, प्रलयानल-शिखा-कलाप-कपिल-जटाभार-भ्रान्त-सुरसिन्धुः,[3] अन्धकाराति-[4]

विशेषणानीति बोध्यम्] सुरासुरेत्यादिः—सुराः (=देवाः) असुराः (=राक्षसाः) च तेषां ये चूडामणियः (=शिरोरत्नानि) तेषां मरीचीनाम् (=रश्मीनाम्) ये चयाः (= समूहाः) तैः चुम्बिताः (= स्पृष्टाः) चरण-नखानाम् (= पाद-पुनर्भवाणाम्) मयूखाः (= रश्मयः) यस्य स तादृशः, निशितेत्यादिः —निशितम् (=तीक्ष्णम्) यत् त्रिशूलम् (=प्रसिद्धः अस्त्रविशेषः) तेन दारितः (=विदारितः, भिन्नः) अन्धकमहासुरः (= अन्धकाख्यो महाराक्षसः) येन स तादृशः। गौरीनूपुरेत्यादिः—गौरी (=मानवती, रुष्टा पार्वती) तस्याः नूपुरकोटया (=मञ्जीराग्रभागेण) घृष्टम् (=विलिखितम्) शेखरे (=अवतंसे) चन्द्रशकलम् (=इन्दुखण्डम्) यस्य स तादृशः, यद्वा-शेखरः=चूडामणिभूतम् शशिखण्डं यस्य स इति समानाधिकरण-बहुव्रीहिः। त्रिपुरेत्यादि—त्रिपुरस्य (=त्रिपुरासुरस्य) यद् भस्मरजः (=भसितधूलिः) तेन कृतः (=विहितः) अङ्गरागः (= अङ्गविलेपनम्) येन स तादृशः। त्रिपुरस्य स्वयमेव वधं कृत्वा दग्ध्वा च तदङ्गभस्मना स्वाङ्गविलेपनं चकार शिव इति प्रसिद्धम्। मकरध्वजेत्यादिः—मकरध्वजस्य (= कामदेवस्य) ध्वंसेन (=विनाशेन) विधुरया (=दुःखितया), रत्या=कामदेवपत्न्या, प्रसादयन्त्या=प्रसन्नीकुर्वन्त्या, तदनुग्रह-प्राप्त्यर्थमिति शेषः, प्रसारितेत्यादिः—प्रसारितम् (=विस्तारितम्) यत् करयुलम् (=हस्तयुग्मम्) तस्माद् विगलितानि (=निपतितानि) यानि वलयानि (=कङ्कणानि, करस्याभूषणविशेषाः) तेषां निकरः (=समुदायः) तेन अर्चितौ (=पूजितौ) चरणौ (=पादौ) यस्य स तादृशः। स्वपत्युः कामस्य पुनरुज्जीवनाय रतिः करयुगलेन यदा पूजयन्ती आसीत्तदा तस्याः सर्वाणि कङ्कणानि शिवस्य पादयोर्निपतितान्यासन् तेषामभावे तस्या वैधव्यसूचनादिति भावः।

प्रलयेत्यादि। प्रलये (=सृष्टिसंहारसमये) य अनलः (=तात्कालिकोऽग्निः) तस्य यः शिखाकलापः (=ज्वालासमूहः) तेन कपिलः (=पिङ्गलवर्णः) यः जटाभारः (=सटासमूहः) तस्मिन् भ्रान्ता (=निपत्य भ्रान्तिं प्राप्ता, त्रस्ता) सुर-सिन्धुः (=देवगङ्गा) यस्य सः तादृशः। अन्धकारातिः=

शत्रु भगवान् शिव कैलास पर्वत पर रहने की प्रीति छोड़कर स्वयं विराजते हैं, जो (महाकाल) सुरों, असुरों के मुकुटों की मणियों की किरणों के समूह द्वारा चूमे (स्पृष्ट किये) जाते हुए चरणनख की किरणों वाले हैं [जिनके चरणनखों की किरणों को सुरासुरादि के मुकुटों की मणियों की रश्मियाँ चूमा करती हैं।] जिन्होंने तीखे त्रिशूल से अन्धकासुर को विदीर्ण कर (मार) डाला था, जिनके शिर पर विराजमान चन्द्र-खण्ड=चन्द्रकला गौरी के नूपुरों के अग्रभाग से घिसी हुई है, जिन्होंने त्रिपुर [के दाह से बनी हुई] भस्मधूलि से अपने शरीर का लेपन किया है, कामदेव के विनाश से व्याकुल अत एव प्रसन्न करती हुई (प्रार्थना करती हुई) रति (कामदेव की पत्नी) द्वारा फैलाए गये (अपने) दोनों हाथों से खिसकते हुए कंगनों के समूह से जिन (महाकाल) के चरणों की पूजा

१. चन्द्रशकलशेखरः।　२. युग।
३. भ्रमरसिन्धुः।　४. अन्धकारिः।

भगवान्, उत्सृष्टकैलास-वास-प्रीतिर्महाकालाभिधानः स्वयं प्रतिवसति[1]।

तारापीडवर्णनम्

तस्याञ्चैवंविधायां नगर्यां नल-नहुष-ययाति-धुन्धुमार[2]-भरत-भगीरथ-दशरथ[3]-प्रतिमः, भुजबलार्जित-भूमण्डलः, फलित-शक्तित्रयः, मतिमान्, उत्साह-सम्पन्नः, नीतिशास्त्राखिन्नबुद्धिः,

---

अन्धकरिपुः भगवान् = माहात्म्यवान्, उत्सृष्टकैलासवासप्रीतिः—उत्सृष्टा (= परित्यक्ता) कैलासवासे (= हिमालयशिखरनिवासे) प्रीतिः (= अनुरागः, प्रणयः) येन सः तादृशः, महाकालाभिधः - 'महाकाल' इति अभिधा (= नाम) यस्य स तादृशः सन्, स्वयम् = स्वतः, प्रतिवसति = वासं करोति। 'दारितान्धकमहासुरः' 'अन्धकारातिः' इत्यत्र पौनरुक्त्यं चिन्त्यम्।

उज्जयिन्याः सम्पन्नतां धार्मिकस्थलत्वं च प्रतिपाद्य तत्रत्यां शासनव्यवस्थां वर्णयितुं प्रथमं तावद् राजानं निरूपयति—तस्याञ्चेति। तस्याम् = पूर्वोक्तायाम्, एवंविधायाम् = विविधविशेषताविशिष्टायाम् नगर्याम् = उज्जयिन्यां, "तारापीडो नाम राजा अभूत्" इति वक्ष्यमाणेनान्वयो बोध्यः। [अत्र प्रथमान्तानि पदानि राज्ञो विशेषणानीति बोध्यम्।] नल-नहुषेत्यादिः—नलः (= निषधाधिपतिः) नहुषः (= चन्द्रवंशोत्पन्नो नृपविशेषोः यः अगस्त्यशापादजगरो जातः), ययातिः (= यदुपिता), धुन्धुमारः (= कुवलाश्वः) भरतः (= दुष्यन्तपुत्रः) भगीरथः (= सगरपौत्रः) दशरथः (= रामचन्द्र-जनकः)—एते प्रतिमा (= उपमा) यस्य स तादृशः। [भानुचन्द्रस्तु—एतेषां प्रतिमः = सदृशः, 'प्रख्यः प्रकारः प्रतिमः' इति कोशः'—इति व्याख्यातवान्। यत्तु—एतेषां प्रतिमा = उपमा यस्य सः, इति तत्तु गौरवग्रस्तत्वान्नादर्त्तव्यम्।] भुजबलेत्यादिः—भुजबलेन (= बाहुवीर्येण) अर्जितम् (= स्वाधीनीकृतम्) भूमण्डलम् (= धरामण्डलम्) येन सः तादृशः। फलितशक्तित्रयः— फलितम् (= सञ्जातफलम्) शक्तित्रयम् (= शक्तित्रितयम्—प्रभुशक्तिर्मन्त्रशक्तिरुत्साहशक्तिश्चेति तिस्रः शक्तयः) यस्य स तादृशः। मतिमान् = धीमान्, उत्साहसम्पन्नः = अध्यवसायसहितः, प्रागल्भ्ययुतो वा, नीतिशास्त्राखिन्नबुद्धिः = नीतिशास्त्रेषु (= राजनयादिषु, व्यवहारेषु वा) अखिन्ना (= अप्रतिहता, अश्रान्ता) बुद्धिः (= मतिः) यस्य सः तादृशः। अधीतधर्मशास्त्रः—अधीतानि (= पठितानि,

---

की गई थी, प्रलयकालीन अग्नि की ज्वालाओं के द्वारा पीले जिनके जटासमूह में गंगा घूमने = चक्कर काटने लगी थी अथवा प्रलयकालीन अग्नि की ज्वालाओं के समूह के समान पीले जटासमूह के कारण जिस (महाकाल) से गंगा भ्रान्त (= त्रस्त) हो गई थी। [ऐसे शिव जी कैलाश पर रहना छोड़कर 'महाकाल' नामवाले होकर जिस उज्जयिनी में रहते हैं।]

तारापीड-वर्णन

[पहले 'यस्याम्' इस सर्वनाम से जिसका परामर्श कराया उसी का अब 'तस्याम्' से करा रहे हैं—] इस प्रकार की (पूर्ववर्णित) नगरी में तारापीड नाम का राजा [शासन करने वाला] था, जो नल, नहुष, ययाति, धुन्धुमार, भरत, भगीरथ और दशरथ के समान था, जिसने [अपनी] भुजाओं के बल से [सम्पूर्ण] पृथ्वीमण्डल को जीत लिया था, जिसकी तीनों शक्तियाँ (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साह शक्ति)* सफल = चरितार्थ थीं, जो बुद्धिमान् था, उत्साहयुक्त था, जिसकी बुद्धि

---

१. वसति। २. नृग-नल। ३. दशरथ-जनमेजयार्जुन-प्रतिमः।

* शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः। अमरः २।८।१९।

अधीत-धर्मशास्त्रः, तृतीय इव तेजसा कान्त्या च सूर्य्याचन्द्रमसोः, अनेक-सप्ततन्तु-पूत-मूर्त्तिः, उपशमित-सकल-जगदुपप्लवः, विहाय कमल-वनानि, अवगणय्य[1] नारायण[2]-वक्षः-स्थल-वसति-सुखम्, उत्फुल्लारविन्द-हस्तया शूर-समागम-व्यसनिन्या[3] निर्व्याजमालिङ्गितो लक्ष्म्या,

---

अभ्यस्तानि च) धर्मशास्त्राणि (=मन्वादि-प्रतिपादितधर्मशास्त्राणि) येन स तादृशः । तेजसा=प्रतापेन कान्त्या=सौन्दर्येण, च, सूर्याचन्द्रमसोः=शशिदिवाकरयो, तृतीयः=त्रयाणां पूरणः, इव । 'सूर्याचन्द्रमसोः' इत्यत्र 'देवताद्वन्द्वे च'(पा.सू. ६।३।२६)इत्यानङ् । सः सूर्य इव तेजस्वी,चन्द्र इव कान्तिमानासीदिति भावः । अत्र 'इव' शब्द उत्प्रेक्षावाची, तेनोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

अनेकेति । अनेकेत्यादिः--अनेके (=बहवः) [अनेकः इत्यत्रैकवचनमेव भाष्यसम्मतम्] ये सप्ततन्तवः (=यज्ञाः) तैःपूता (=पवित्रिता) मूर्तिः (=कायः) यस्य स तादृशः) । ["यज्ञः सवोऽध्वरो यज्ञः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः ।" अमरः २।७।१३] उपशमितेत्यादिः—उपशमिताः (=शान्ति प्रापिताः, नाशिताः, पूजादिना) सकलाः (=समस्ताः) जगतः (=लोकस्य) उपप्लवाः (=उपद्रवाः) [यद्वा, सकलजगतः=समस्तसंसारस्य उपप्लवाः] येन सः तादृशः ।

विहायेति । कमलवनानि (=उत्पलकाननानि) विहाय (=परित्यज्य), नारायणेत्यादिः—नारायणस्य (=श्रीमद्विष्णोः) यद्वक्षःस्थलम् (=भुजान्तरस्थानम्, उरःस्थलम्) तस्मिन् या वसतिः (=निवासः) तस्माद् यत् सुखम् (=आनन्दः) तत्, अवगणय्य=अवगणनां विधाय, उपेक्ष्येति भावः, उत्फुल्लेत्यादिः—उत्फुल्लम् (=विकसितम्) अरविन्दम् (=पङ्कजम्) हस्ते (=करे) यस्याः सा तया तादृश्या, शूरसमागमव्यसनिन्या--शूरेण (=वीरेण) यः समागमः (=सम्बन्धः) तस्मिन् व्यसनम् (= आसक्तिः) अस्ति यस्याः सा तया तादृश्या, वीरसम्बन्धानुरागिण्येत्यर्थः, लक्ष्म्या=श्रिया, निर्व्याजम्=निश्छलम्, आलिङ्गितः=उपगूहितः, आश्लिष्टः । अत्रोपमानभूतकमलनारायणवक्षःस्थलापेक्षया राज्ञि आधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः । तदुक्तम्—"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा" । महामुनीति । महामुनीत्यादिः- महान्तश्च ते मुनयः-महामुनयः ते च जनाः—महामुनिजनाः (=महातपस्विलोकाः वसिष्ठादयः) तैः संसेवितस्य (=पर्युपासितस्य) सुर-सरि-

---

नीति शास्त्र [के अध्ययन और ज्ञान] के कारण खिन्न = थकनेवाली, निराश होनेवाली नहीं थी, जिसने धर्मशास्त्र का अध्ययन किया था, तेज और कान्ति में जो सूर्य तथा चन्द्रमा का तृतीय था [अर्थात् तेज में सूर्य के समान और सौन्दर्य में चन्द्रमा के समान होने से दोनों का कार्य करनेवाला एक तीसरा था] जिसका शरीर अनेक यज्ञों [के अनुष्ठान] से पवित्र हो चुका था, जिसने संसार के सभी उपद्रव शान्त कर दिये थे, कमलवनों को छोड़कर, विष्णु भगवान् के वक्षःस्थल पर निवास करने के सुख की उपेक्षा करके—विकसित कमल को हाथ में रखनेवाली, शूर (व्यक्तियों) के समागम (=मिलन) का व्यसन रखनेवाली लक्ष्मी द्वारा निष्कपट होकर जिसका आलिङ्गन किया गया था, अर्थात् लक्ष्मी जिसके पास निश्छलरूप से रहती थी, जिस प्रकार महामुनि जनों द्वारा संसेवित

---

१. अविगणय्य ।
२. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ (मनुः १।१०)
३. एकव्यसनिन्या, शूरसमागमैर्व्यसनिन्या ।

महामुनिजन-संसेवितस्य मधुसूदन-चरण इव सुर-सरित्प्रवाहस्य प्रभवः सत्यस्य,[१]—

—शिशिरस्यापि रिपुजन-सन्तापकारिणः, स्थिरस्यापि नित्यं भ्रमतः, निर्म्मलस्यापि मलिनीकृताराति-वनिता-मुखकमल-द्युतेः, अतिधवलस्यापि सर्वजनराग-कारिणः, सुधासूतेरिव

त्प्रवाहस्य -- सुर-सरितः (=देवनद्याः, गङ्गायाः) प्रवाहस्य (=स्रोतसः) मधुसूदनचरणः = विष्णुपादः, इव, (मुनिजनसंसेवितस्य) सत्यस्य = तथ्यस्य ऋतस्य, प्रभवः = प्रथमोत्पत्तिस्थानम्, यथा गङ्गा विष्णुपादात् प्रभवति तथैव सत्यमस्माद् राज्ञः प्रादुर्भूतं इति साम्यप्रतिपादनादुपमा।

शिशिरस्येति। ["सुधासूतेः सागर इव यशस उद्भवः" अयं राजेति अन्वयो बोध्यः।] शिशिरस्य = शीतलस्य, अपि, रिपुजनेत्यादिः-- रिपुजननानाम् (=शत्रुलोकानाम्) सन्तापम् (=दाहम्) करोतीति तच्छीलः = दाहजनकः, यः तस्य तादृशस्य, अत्र विरोधः। परिहारस्तु—सन्तापः (= चित्तोद्वेगः) तस्य कारिणः = उत्पादकस्य— इत्यर्थात्। स्वभावेन शीतलोपि स्वप्रभावेण शत्रुषु चित्तोद्वेगं जनयत्येवेति भावः। स्थिरस्य = निश्चलस्य, अपि, नित्यम् = सदा, भ्रमतः = गच्छतः, अत्र विरोधः। परिहारस्तु—यशसः आकल्पान्तस्थायित्वाद् स्थिरत्वम्,सर्वदिग्गामित्वाद् भ्रमणत्वमित्यर्थात्। निर्मलस्य= उज्ज्वलस्य, अपि, मलिनीकृतेत्यादिः—मलिनीकृता (=मलीमसीकृता) अरातिवनितानाम् (= शत्रुस्त्रीणाम्) मुखकमल-द्युतिः (=आननपद्मप्रभा) येन तस्य तादृशस्येति विरोधः। परिहारस्तु—स्वयं निर्मलस्यपि रिपुजनवधादिना वियोगेन तेषां पत्नीनां मुखेषु मालिन्यसमुत्पादनात्। अतिधवलस्य= अतिशुक्लस्य, अपि, सर्वेत्यादिः—सर्वजनानाम् (=समस्तलोकानाम्) रागकारिणः (=रक्तिमाजनकस्य)—इति विरोधः। परिहारस्तु—रागः (=स्नेहः) तत्कारकस्य इत्यर्थात्। एवम्भूतस्य

(उपासित) गंगा के प्रवाह का प्रभव = उत्पत्तिस्थान मधुसूदन = विष्णु का चरण है उसी प्रकार [महामुनि जनों द्वारा संसेवित (= आचारित) सत्य का प्रभव = उत्पत्तिस्थान जो राजा है। [उसी से मानों सत्य की उत्पत्ति हुई है।]

सुधासूति (=पीयूषवर्षी चन्द्र) का उद्भव स्थान जैसे सागर है वैसे यश का उद्भवस्थान वह राजा था, जो (यश) शिशिर=शीतल होता हुआ भी रिपुजनों के [चन्द्रपक्ष में विरही जनों के] सन्ताप=दाह को कराने वाला था, [विरोधपरिहार—सन्ताप=मानस उद्वेग पैदा करनेवाला था], जो (यश) स्थिर होता हुआ भी सदैव भ्रमणशील था, [विरोधपरिहार— कल्पान्त तक स्थिर=स्थायी रहनेवाला, सारे संसार में सभी दिशाओं में फैलने वाला था] जो (यश) मलरहित होता हुआ भी शत्रुओं की स्त्रियों के मुखकमल की कान्ति को मलिन बना देने वाला था, [विरोधपरिहार — निर्मल स्वच्छ था, शत्रुओं की मृत्यु आदि के द्वारा उनकी पत्नियों के मुखकमल को कान्तिहीन बना देनेवाला था], जो (यश) अत्यन्त धवल=श्वेत होता हुआ भी सभी लोगों के राग (=ललिमा) को पैदा करनेवाला था, [विरोधपरिहार—सभी लोगों के राग=अनुराग, स्नेह को पैदा करनेवाला था] (ऐसे यश का उद्भव-स्थल वह राजा वैसे ही था जैसे चन्द्रमा का उद्भव-स्थल समुद्र है।) [इसमें सभी विशेषणों से यश और चन्द्र की समानता कही गई है साथ ही विरोधाभास भी है। अतः चन्द्रमा शीतल = हर्षदायक होता हुआ भी रिपुभूत चोरों और विरहियों को सन्ताप देने

---

१. अविरतम्, अनवरतम्।

सागर[1] उद्भवो यशसः,—

—पातालवदाश्रितो[2] निजपक्ष-क्षतिभीतैः क्षितिभृत्कुलैः[3], ग्रहगण इव बुधानुगतः,

---

सुधासूतेः=सुधाकरस्य चन्द्रस्य, सागरः=समुद्रः, इव, इत्थम्भूतस्य यशसः=कीर्त्तेः, उद्भवः = उत्पत्तिस्थानम्, स राजा आसीदिति भावः।

अत्रादितश्चतुर्षु वाक्येषु विरोधाभासः, तेन च सङ्कीर्णं 'उपमा' इति बोध्यम्। एवञ्च सागरस्य नृपस्य च साम्यम्, सुधासूतेश्चन्द्रस्य यशसश्च साम्यमत्र। यथा सागरः—शिशिरः, स्थिरः, निर्मलः धवलश्च तथैवायं नृपोऽपि। यथा चन्द्रः विरहिजनसन्तापकारकः, आकाशे भ्रमणशीलः, वियोगिनीनारी-मुखकमलद्युतिमालिन्यकारकः, सर्वजनानन्दकारकश्च भवति तथैवास्य यशोऽपि रिपुजनसन्तापकारि, सर्वदिग्गामि, पत्यादिविनाशजन्य-रिपुवनितामुखकमलसौन्दर्यापहारि, सकलप्रजाजनानुरागयुक्तं च वर्तते। एवञ्च विरोधमुखेन राज्ञो यशसो महत्त्वं प्रतिपादितमिति बोध्यम्।

केचित्तु – विरोधाभासेन राज्ञ एव वर्णनं चन्द्रसमुद्रयोस्तूपमेति प्रत्यपादयन् तन्न सम्यक्, 'उद्भवः' इत्येकस्यैव प्रथमान्त-पदस्योल्लेखेनात्रैवोपमानोपमेयभावपर्यवसानस्योचितत्वात्।

पातालवदिति। निजपक्षक्षतिभीतैः—निजाः (=आत्मीयाः) ये पक्षाः (=छदाः) तेषां या क्षतिः (=विनाशः) तस्या भीतैः (=भयग्रस्तैः) राजपक्षे—निजाः पक्षाः=बान्धवाः सम्बन्धिलोकाश्च तेषां क्षति-भीतैः, क्षितिभृत्कुलैः—क्षितिभृताम् (=पर्वतानाम्) कुलैः (=समूहैः) पक्षे—क्षितिभृताम् (=राज्ञाम्) कुलैः, पातालवत्=रसातलम् इव, आश्रितः=अवलम्बितः। यथा इन्द्रेण निजपक्षक्षतिभीत्या पर्वताः पातालमाश्रयन्ति-तथैव राजानोऽपि स्वबान्धवविनाशभीत्या एनं नृपमाश्रयन्तीति साम्यप्रतिपादनादुपमा। ['पाताल इवाश्रित' इति पाठे तु 'पाताले' इति सप्तम्यन्तं बोध्यम्। 'तत्र तस्येव' इत्यनेन सप्तम्यन्तार्थे वतिः—पातालवत्।]

पुनरपि श्लेषेण तमेव वर्णयति—ग्रहगण इति। बुधानुगतः—बुधः (=सौम्यः, एतन्नामा ग्रहविशेषः) तेन अनुगतः (=अनुसृतः) ग्रहगणः=सूर्यादि-ग्रहसमूह, इव। राजपक्षे—बुधानुगतः—बुधैः (=विद्वद्भिः) अनुगतः (युक्तः)।

वाला है, आकाश में एक निश्चित स्थान पर रहता हुआ भी भिन्न-भिन्न राशियों में भ्रमण करनेवाला है, निर्मल होता हुआ भी शत्रुस्त्रीमुख के समान कमलों की कान्ति को फीकी बना देनेवाला है, चन्द्रोदय=रात में कमल बन्द हो जाते हैं, अत्यन्त श्वेत होता हुआ भी सभी लोगों के मन में प्रेम भाव उत्पन्न करा देता है।]

जैसे अपने पंखों के काटे जाने के भय से डरे हुए पर्वतों के समूह ने पाताल का आश्रयण किया था, पाताललोक चले गये थे, वैसे ही अपने पक्ष के [मित्रों, सैनिकों तथा सम्पत्ति के] विनाश से डरे हुए राजा लोगों ने उस (तारापीड) का आश्रय ग्रहण किया था, [क्षितिभृत् कुटिलैः= राजाओं तथा पर्वतों में जो कुटिल=धूर्त उन्होंने अपना विनाश निश्चित समझकर उस राजा का पक्ष=सहारा ले लिया था] ग्रहों का समुदाय जिस प्रकार बुध ग्रह से अनुगत होता है उसी प्रकार जो (राजा) बुधों (विद्वानों) से अनुगत था, [विद्वान् सदैव उसके साथ रहा करते थे], [शिवजी

---

१. जलनिधिः। २. पाताल इव।
३. क्षितिभृतांकुलैः, क्षितिभृतः कुलैः, क्षितिभृत्कुटिलैः।

मकरध्वज इवोत्सन्न-विग्रहः, दशरथ इव सुमित्रोपेतः, पशुपतिरिव महासेनानुयातः[1], भुजगराज इव क्षमा-भरगुरुः, नर्म्मदा-प्रवाह इव महावंशप्रभवः, अवतार इव धर्म्मस्य, प्रतिनिधिरिव पुरुषोत्तमस्य, परिहृत-प्रजापीडो[2] राजा तारापीडो नामाभूत् ।

मकरेति । उत्सन्नविग्रहः—उत्सन्नः (=शिवनेत्राग्निना नष्टः) विग्रहः (=कायः) यस्य स तादृशः । मकरध्वजः=कामदेवः, स इव । राजपक्षे-उत्सन्नः (=विनष्टः) विग्रहः (=संग्रामः, युद्धम्) यस्य स । ['शरीरं वर्ष्म विग्रहः ।'' अमरः २।६।७० "अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ । अमरः २।८।१०४ ।]

दशेति । सुमित्रोपेतः—सुमित्रया (= एतन्नाम्न्या पत्न्या) उपेतः (युक्तः) दशरथः= रामपिता, इव । राजपक्षे —सुमित्रैः (=सुहृद्भिः) उपेतः (सहितः) ।

पशुपतिरिति । महासेनानुयातः—महासेनेन (= कार्तिकेयेन) अनुयातः (= अनुगतः) पशुपतिः=शिवः, इव । राजपक्षे—महासेनया (=विपुलसैन्येन) अनुयातः=अनुसृतः । ["कार्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः ।'' अमरः १।३९ ।

भुजगेति । क्षमाभरगुरुः—क्षमायाः (= पृथिव्याः) यो भरः (= भारः) तेन गुरुः (=गरीयान्), भुजग-राजः=शेषनागः, इव । राजपक्षे—क्षमायाः (=क्षान्तेः) भारेण गुरुः (=गौरव-युक्तः) । ["क्षितिक्षान्त्योः क्षमा ।'' अमरः ३।३।१४३ ।']

नर्मदेति । महावंशप्रभवः—महावंश (=महावेणुः) तस्मात् प्रभवः (=उत्पत्तिः) यस्य सः । मेकलाचलवेणुमूलात्नर्मदाप्रवाहः प्रादुर्भूत इति लोकप्रसिद्धिः । राजपक्षे —महावंशः (=प्रतिष्ठित-कुलम्) उद्भवः, (=जन्मस्थानम्) यस्य स तादृशः । 'पातालवद्' इत्यारभ्य 'नर्मदाप्रवाह' इत्यन्तं पूर्णोपमा बोध्या ।

अवतारेति । धर्मस्य=सुकृतस्य, श्रेयसः, अवतारः=अवतरणम्, जन्मान्तरम्, इव ।

प्रतिनिधिरिति । पुरुषोत्तमस्य=नारायणस्य, प्रतिनिधिः=प्रतिभासः, साम्यात् कार्यभारधारक इति भावः । एतादृशपूर्वोक्तगुणालङ्कृतः, परिहृत-प्रजापीडः—परिहृता (= सामस्त्येन ध्वस्ता) प्रजानाम् (= प्रकृतीनां लोकानाम्) पीडा (=व्यथा) येन स तादृशः तारापीडो नाम='तारापीड' इति नामकः, राजा=नृपः, अभूत्=अभवदित्यन्वयस्तु पूर्वमेवोक्तः ।

द्वारा] जिसका विग्रह=शरीर नष्ट कर दिया गया था ऐसे कामदेव के समान जिसके विग्रह=कलह, युद्ध समाप्त हो चुके थे [अर्थात् सभी को जीत चुका था, अब कोई युद्ध करना शेष नहीं था ।] अपनी सुमित्रा [नामक पत्नी] से युक्त राजा दशरथ के समान सुमित्रों = अच्छे मित्रों से युक्त था, महासेन=कार्त्तिकेय जिनके पीछे पीछे चलते हैं ऐसे शिवजी के समान जिसके पीछे-पीछे महासेना= बहुत बड़ी सेना चलती थी; जैसे क्षमा=पृथ्वी के भार से गुरुत्वयुक्त (दबे हुए, बहुत बोझवाला) शेषनाग है वैसे ही जो क्षमा = क्षान्ति के भार से गौरवयुक्त था, जैसे नर्मदा के प्रवाह का प्रभव = उद्गम-स्थान महावंश=बड़े-बड़े बाँस है वैसे जिसका जन्म महावंश = महान् कुल में हुआ था, जो मानों धर्म का अवतार था, मानो पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् का प्रतिनिधि (स्थानापन्न, उनके कार्य करने वाला) था, जो प्रजाजनों के कष्टों को दूर = नष्ट करने वाला था [ऐसा तारापीड नाम का राजा था] ।

१. अनुगतः । २. परिहृत ।

यस्तमः प्रसरमलिनवपुषा पापबहुलेन कलिकालेन चालितमामूलतो धर्म्मं दशाननेनेव कैलासमिव[1] पशुपतिरिवावष्टभ्य पुनरपि स्थिरीचक्रे[2]।

यश्च रति-प्रलाप-जनित-दयार्द्र-हृदय-हर-निर्मितमपरमिव[3] मकरकेतुममंस्त[4] लोकः।

सः किमरोदिति वर्णयति—यस्तम इति। यः=पूर्वोक्तस्तारापीडनृपः, तमःप्रसरेत्यादिः—तमः (=तमोगुणः) तस्य प्रसरेण (= विस्तारेण) मलिनम् (=मलीमसम्) वपुः (=शरीरम्) यस्य स तेन तादृशेन। पापबहुलेन—पापम् (=कलुषम्) बहुलम् (=प्रचुरम्) यस्मिन् तेन, तादृशेन, यद्वा—पापेन बहुलम्=दृढम्। कलिकालेन=कलिसमयेन, आमूलतः=आबुध्नतः, चालितम्=कम्पितम्, धर्मम्=सुकृतम्, पशुपतिः=शिवः, इव, तमःप्रसरमलिनवपुषा पापबहुलेन, दशाननेन=रावणेन, इव, आमूलतः=मूलस्थानपर्यन्तम्, चालितम् (= स्वस्थानात् प्रच्यावितम्) कैलासम्=एतन्नामकं पर्वतम्, इव, अवष्टभ्य=अवलम्ब्य, निरुध्य, पुनरपि = भूयोऽपि, स्थिरीचक्रे = सुस्थिरं कृतवान्। अत्र रावणकलिकालयोः, पशुपति-नृपयोः, कैलास-धर्मयोः साम्यप्रतिपादनात् 'पशुपतिमिव, दशाननेनेव, कैलासमिव—इत्यत्र त्रयाणामुपमानानां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्कराख्योऽलङ्कार इति बोध्यम्।

यञ्चेति। लोकः=उज्जयिनीनिवासिजनः, च, यम्=तारापीडं नृपम्, रतिप्रलापेत्यादिः—रतिः (= कामदेवपत्नी) तस्याः यः प्रलापः (= पतिदाहजन्यकष्टविलपनम्) तेन जनिता (=उत्पादिता) या दया (=करुणा) तया आर्द्रम् (=क्लिन्नम्) हृदयम् (=चित्तम्) यस्य स एवम्भूतो यो हरः (=शिवः) तेन निर्मितम् (=पुर्नविहितम्) अपरम् (=द्वितीयम्) मकरकेतुम्=कामदेवम्, इव अमंस्त = अभिमतवान्, अवेदीत्। अत्रोत्प्रेक्षा। एवञ्च सः साक्षात्कामदेव आसीदिति भावः

यञ्चेति। चः=पुनः, यम्=तारापीडं नृपम्, "(१) आ शैलादुदयनाम्नः (२) आ सेतुबन्धात्' '(३) आ मन्दरात्' (४) आ गन्धमादनात्, अवनिपाः प्रणेमुः" इति वक्ष्यमाणैरन्वयो बोध्यः एवञ्च पञ्चम्यन्तानि पदानि तत्तत्पर्वतानां विशेषणानीति बोध्यम्।

तमोगुण के प्रसार के कारण मलिन शरीरवाले, अत्यधिक पापवाले (महापापी) रावण द्वारा जड़ से हिलाए गए कैलास पर्वत को थाम (पकड़) कर जैसे शिवजी ने फिर से स्थिर कर दिया था वैसे ही अज्ञान के विस्तार से मालिन्ययुक्त, पापों से परिपूर्ण कलियुग द्वारा जड़ से हिलाये गये (उखाड़े गए) धर्म को जिस राजा ने पुनः सहारा देकर स्थिर कर दिया था [उसने राज्य में धर्म की पुनः स्थापना कर दी थी।]

और लोगों ने जिसे रति (कामदेव की पत्नी) के प्रलाप से उत्पन्न हुई दया से आर्द्र शिवजी के द्वारा बनाया गया दूसरा कामदेव सा समझा। [वह इतना सुन्दर था कि लोग उसे दूसरा कामदेव ही समझते थे]

१. कैलासम्। २. स्थिरीचकार।
३. '''प्रलापोपजनित। ४. अमरम्।

यश्च जलनिधि-तरङ्ग-धौत-मेखलात् पत्रान्तर्विचारि[1]-तारागण-द्विगुणिततट-तरु-कुसुम-प्रकरात् उद्यदिन्दु-बिम्बविगलदमृत-बिन्द्वासारार्द्र[2]-चन्दनात्[3] अशिशिर-कर-रथतुरग[4]-खुर-शिखरोल्लेख-खण्डितोल्लसल्लवङ्ग-पल्लवात्[5] ऐरावत-कर-लून-सल्लकी-किसलयदलात्[6] आ शैलादुदयनाम्नः,—

प्रथमन्तावद् उदयाचलं विशिनष्टि—जलनिधीति। जलनिधीत्यादिः—जलनिधिः (=सागरः) तस्य ते तरङ्गाः (=कल्लोलाः) तैः धौता (=प्रक्षालिता) मेखला (= मध्यभागः) यस्य स तस्मात् तादृशात्, पत्रान्तरित्यादिः—पत्राणाम् (=पल्लवानाम्) अन्तः (=मध्ये) विचारी (=विचरशीलः) यः तारागणः (=नक्षत्रसमूहः) तेन द्विगुणितः (=द्विगुणीकृतः) तटतरूणाम् (=तीरस्थवृक्षाणाम्) कुसुमप्रकरः(=पुष्पसमूहः) यस्मिन् स तस्मात्, तादृशात्, उद्यदित्यादिः—उद्यत् (=उदयं प्राप्नुवत्) यद् इन्दुबिम्बम् (= चन्द्रमण्डलम्) तस्मात् विगलन्तः (= स्रवन्तः) ये अमृतबिन्दवः (=सुधाविप्रुषः) तेषां य आसारः (=धारासम्पातः, मेघजपयः) तेन आर्द्राः (=विलन्नाः) चन्दनाः (=मलयजाः वृक्षाः) यस्मिन् स तस्मात् तादृशात्, अशिशिरेत्यादिः—अशिशिराः (=उष्णाः) कराः (=किरणाः) यस्य स सूर्य इत्यर्थः तस्य ये रथतुरगाः (=स्यन्दनाश्वाः) तेषां ये खुराः (=शफाः) तेषां शिखरेण (=अग्रभागेन) य उल्लेखः (=घर्षणम्, स्पर्शः) तेन खण्डितानि (=त्रुटितानि, मृदितानि) अतएव उल्लसन्ति (=सन्दीप्यमानानि, शोमभानानि) लवङ्गानाम् (=देवकुसुमानाम्), पल्लवानि (=किसलयानि) यस्मिन् स तस्मात् तादृशात्, ऐरावतेत्यादिः—ऐरावतः (= इन्द्रहस्ती) तस्य करेण (=शुण्डादण्डेन) लूनानि (=छिन्नानि, मर्दितानि) सल्लकीनाम् (= गजप्रियाख्यतृणविशेषाणाम्) किसलय-दलानि (= पल्लवदलानि) यस्मिन् स तस्मात् तादृशात्, [विशेष्यमाह—] उदयनाम्नः=उदय इति नाम=संज्ञा यस्य स तस्मात्, शैलात्=पर्वतात्, आ=आरभ्य, अवनिपाः प्रणेमुरित्यादि पूर्वोक्तं ज्ञेयम्। "आङ्मर्यादाभिविध्योः" (२।१।१३) इत्यनेन वैकल्पिकसमासाभाव-पक्षे—'आ शैलात्' इति वाक्यम्। अत्र "पत्रान्तर्विचारी" त्यादौ 'उद्यदिन्दु-बिम्ब' इत्यादौ 'अशिशिरकर' इत्यादौ च विशेषणे वस्तुतः सम्बन्धाभावेऽपि सम्बन्ध-प्रतिपादनादतिशयोक्तयस्तासां च परस्परं नैरपेक्ष्येण स्थितया संसृष्टिरिति बोध्यम्।

[उस तारापीड द्वारा जीते गए राजा—पूर्व में उदयाचल से, दक्षिण में सेतुबन्ध से, पश्चिम में मन्दराचल से और उत्तर में गन्धमादन पर्वत से—आ आ कर प्रणाम किया करते थे—]

और जिस तारापीड नृप को—(१) उदयाचल तक के राजा प्रणाम किया करते थे जिस (उदयाचल) की मेखलाओं (मध्य भागों) को समुद्र की तरङ्गें धोतीं हैं, स्वच्छ बनाती हैं, जिसके तट के वृक्षों के फूलों के समूह को पत्तों के भीतर विचरणशील नक्षत्रसमूह दूना बना देते हैं, [फूलों के साथ साथ पत्तों के बीच में नक्षत्र दिखाई देने से फूलों की संख्या दुगुनी प्रतीत होती है।] उदित होते हुए चन्द्रमा से गिरते हुए अमृत की बूंदों की वर्षा से जिस (उदयाचल) के चन्दनवृक्ष गीले होते रहते हैं, जिसमें सूर्य के रथ के घोड़ों के खुरों के अग्रभाग (किनारों) की रगड़ से फटे हुए और इसी कारण मानों उल्लसित लौंग के पत्ते हैं, जिसमें ऐरावत हाथी की सूंड़ द्वारा तोड़े गये सल्लकी नामक लता के पत्ते हैं—

---

१. पत्रान्तर०। २. गलद्व०···। ३. दुर्दिनार्द्र०।
४. तुरङ्ग। ५. करतल, करलूनरोह, करलूनलोध:। ६. कवलात्।

कपि-बल-विलुप्त[1]-विरल-लवलीलता-फलात्[2] उदधि-विनिर्गत[3]जलदेवतावन्द्यमान[4]-राघव-पादात् अचल-पात[5]-दलित-शङ्खकुल-शकल-तारकित-शिलातलात् नल-करतलाकलित[6]-शैल-सहस्र-सम्भूतादासेतुबन्धात्,—

—अच्छ-निर्झर-जल-धौततारका-सार्थात् अमृत-मथनोद्यत-वैकुण्ठ-केयूरपत्र-मकरकोटि-

---

इदानीं द्वितीयं मर्यादाभूतं सेतुबन्धं विशिनष्टि-- कपिबलेति । कपिबलेत्यादिः—कपीनाम् (=वानराणाम्) यद् बलम् (=सैन्यम्) तेन विलुप्तानि (=लोपं प्रापितानि, छिन्नानि) अतएव विरलानि (=स्वल्पीभूतानि) लवलीलतानाम् (=लवलीसंज्ञकव्रततीनाम्) फलानि (= सस्यानि) यस्मिन् स तस्मात् तादृशात्, उदधीत्यादिः—उदधेः (=समुद्रात्) विनिर्गता (=विनिःसृता) या जलदेवता (=सलिलाधिष्ठातृदेवी) तया वन्द्यमानौ (=प्रणम्यमानौ) राघवस्य (=रामचन्द्रस्य) पादौ (=चरणचिह्नौ) [यद्वा—वन्द्यमानाः पादाः चरणचिह्नानि] यस्मिन् स तस्मात् तादृशात्, अचलेत्यादिः—अचलानाम् (=पर्वतानाम्) यः पातः (=निक्षेपः) तेन दलितानि (=चूर्णितानि) शङ्खकुलानि (=कम्बुसमुदायाः) तेषां शकलैः (=खण्डैः) तारकितानि (= सञ्जाततारकाणि) शिलातलानि (=पाषाणतलानि) यस्मिन् स तस्मात् तादृशात्, नलेत्यादिः—नलस्य (=एतन्नामक-वानरविशेषस्य, विश्वकर्मणः पुत्रस्य) [इदमुपलक्षणं नीलजाम्बवत्प्रमुखानाम् । तेन तेषां] यानि करतलानि (=हस्ततलानि) तैः आकलितम् (=संस्थापितम्, निहितम्) शैलानाम् (=पर्वतानाम्) सहस्रम् (=समूहः, दशशती) तेन सम्भूतात् (=निर्मितात्) सेतुबन्धात्=समुद्रबन्धात्, आ = मर्यादीकृत्य । एवञ्च दक्षिणदिशास्थितसेतुबन्धादारभ्यापि अवनिपाः प्रणेमुः ।

साम्प्रतं तृतीयं मर्यादाभूतं मन्दराचलं विशिनष्टि—अच्छेति । अच्छेत्यादिः—अच्छम् (=स्वच्छं, निर्मलम्) यत् निर्झरजलम् (=प्रस्रवणपानीयम्, झरवारि) तेन धौताः (=प्रक्षालिताः) तार-काणाम् (=नक्षत्राणाम्) सार्थाः (=समूहाः) यस्मिन् स तस्मात् तादृशात्, अमृतेत्यादिः—अमृतम् (=सुधा) तदर्थं यन्मथनम् (विलोडनम्, सागरस्येति शेषः) तस्मिन् उद्यतः (=तत्परः, सचेष्टः) यः वैकुण्ठः (= श्रीविष्णुः) तस्य ये केयूरपत्रे (= अङ्गदपत्रे) तयोर्ये मकरकोटी

---

(२) उस सेतुबन्ध तक के [राजा प्रणाम किया करते थे] जिसमें बन्दरों की सेना द्वारा तोड़े गए अतएव विरल (थोड़े से) लवली नामक लता के फल हैं, जिसमें समुद्र से बाहर निकल कर आई हुई जल की देवियों द्वारा भगवान् राम के चरण (= चिह्नों) की वन्दना की जाती है, जिसके शिलातल पर्वतों के गिरने के कारण टूटे फूटे शंखों के समूह के टुकड़ों से ऐसे लगते हैं मानों तारे निकल आये (उत्पन्न हो गये) हों, जो नल [और नील, जाम्बवन्त आदि वानरों] के करतलों द्वारा पकड़े=उठाये गये हजारों पत्थरों के टुकड़ों से बनाया गया था,—

(३) उस मन्दराचल तक के [राजा प्रणाम किया करते थे] जिस (मन्दराचल) के झरनों के स्वच्छ जल से तारों का समूह धो दिया जाता है, साफ कर दिया जाता है, अमृत-मन्थन के लिए उद्यत (तत्पर) वैकुण्ठ (विष्णु भगवान्) के केयूर-पत्रों पर खुदी हुई (बनी हुई) मकराकृतियों

---

१. कपिकुल । २. पुष्पात् । ३. निर्गत ।
४. अभिवन्द्यमान । ५. निपात । ६. ...कलित... ।

कषण-मसृणित-ग्राव्णः [1] सुरासुर-हेला-वलयित-वासुकि-समाकर्षण-प्रारम्भ-[2] चलित-चरणभर-[3] दलित-नितम्बकटकात् [4] अमृतसीकर-सिक्तसानोरामन्दरात्,[5]—

—नर-नारायण-चरण-मुद्राङ्कित-बदरिकाश्रमरमणीयात्, कुबेर-पुर-सुन्दरी-भूषण-

(=मकराकाराग्रभागौ) तयोः कर्षणेन (=घर्षणेन, स्पर्शेन) मसृणिताः (=चिक्कणीकृताः, श्लक्ष्णीकृताः) ग्रावाणः (=शिलाः) यस्मिन् यस्य वा सः, तस्मात् तादृशात्, सुरासुरेत्यादिः—सुराः (= देवाः) असुराः (= राक्षसाः) च तैः हेलया (=क्रीडया, न तु प्रयासेन) वलयीकृतः (= वर्त्तुलीकृतः, मण्डलाकारतां प्रापितः) यो वासुकिः (= शेषनागः) तस्य यत् समाकर्षणम् (=समाकृष्टिः) तस्य यः प्रारम्भः (= उपक्रमः) तस्मात् तेन वा चालितानाम् (=स्वस्थानाद्-भ्रष्टानाम् च्युतानाम्) चरणानाम् (= पदानाम्) यः भरः (=भारः, समूहो वा) तेन दलितः (=मर्दितः) नितम्बकटकः (=मण्डलाकारमध्यदेशः) यस्मिन् यस्य वा स तस्माद् तादृशात् अमृतेत्यादिः— अमृतस्य (= पीयूषस्य) ये सीकराः (= विन्दवः) तैः सिक्तानि (= सिञ्चितानि, आर्द्रीकृतानि) सानूनि (= शिखराणि) यस्य स तस्मात् तादृशात्, मन्दरात् = मन्दराचलात्, आ=आरभ्य। अवनिपाः प्रणेमुरित्यादि पूर्ववत्। ['विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः।' अमरः १।१७ "......अतिशयोत्करः। ......गाढबाढदृढानि च" अमरः १।६६-६७। "स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्। अमरः २।३।५]

पुरा किलामृतप्राप्तये सुरासुराः मन्दराचलं मथनदण्डत्वेन प्रयुज्य समुद्रं यदा मथितुमारब्धवन्तस्तदा तस्यान्तस्तलाभावात् मन्दराचलः समुद्रे निममज्ज। तदनन्तरं सर्वैः प्रार्थितो विष्णुः कूर्मरूपेण तं धृतवान्, तेनैव रूपेण बाहुभ्यामवष्टभ्य तस्य रक्षां कृतवान्। तदनन्तरं च सर्वे वासुकिं रज्जुं कृत्वा समुद्रस्य मन्थनं चक्रुरिति प्रसिद्धा पौराणिकी कथाऽत्र द्रष्टव्या।

साम्प्रतं चतुर्थं मर्यादाभूतं गन्धमादनं निर्दिशति— नर-नारायणेति। नरेत्यादिः—नरनारायणौ (=अवतारविशेषौ अर्जुनवासुदेवौ) तयोर्या चरणमुद्रा (=पादन्यासः) तया अङ्कितः (=चिह्नितः) यो बदरिकाश्रमः (= उत्तरस्यां दिशि स्थितम् एतन्नामकं प्रसिद्ध-तपोवनम्) तेन रमणीयात् (= सुन्दरात्), कुबेरेत्यादिः—कुबेरपुरम् (= अलकापुरी) तस्य याः सुन्दर्यः (= कामिन्यः) तासां भूषणरवैः (= अलङ्कारध्वनिभिः) मुखराणि (= वाचालानि ध्वनियुक्तानि) शिखराणि

की नोक की रगड़ के कारण जिस (मन्दराचल) के पत्थर [घिसते-घिसते] चिकने हो गये हैं, देवताओं और राक्षसों द्वारा खेल-खेल में अर्थात् अनायास ही वलयाकार (गोल लपेटे गए) वासुकि (शेषनाग) को खींचना आरम्भ करने से या करने पर [अपने अपने स्थान से] हटे हुए पैरों के भार से जिस (मन्दराचल) का मध्य भाग कुचल दिया गया है, चूर-चूर कर दिया गया है, और अमृत की बूंदों से जिसके शिखर (चोटियाँ) सींच दिये (गीले कर दिये) गये हैं।

(४) उस गन्धमादन पर्वत तक के [राजागण प्रणाम किया करते थे] जो नर और नारायण के चरणों की मुद्रा (चरणचिह्न) से अंकित बदरिकाश्रम के द्वारा रमणीय [बना गया] है, जिस (गन्धमादन) की चोटियाँ कुबेरपुर (अलकापुरी) की सुन्दरियों के आभूषणों की ध्वनि से

१. ग्रावाणः। २. कुत्रचिदिदं न पठ्यते।
३. प्रारम्भचलचरण..., चलावलितचरण...। ४. नितम्बात्। ५. आमन्दराचलात्।

रवमुखर-शिखरात् सप्तर्षि-सन्ध्योपासना-पूत-प्रस्रवणाम्भसः वृकोदरोद्दलित-सौगन्धिकषण्ड-[1] सुगन्धि-मण्डलात् आ गन्धमादनात्,—

—सेवाञ्जलि-कमल-मुकुलदन्तुरैः[2] शिरोभिश्चरण-नख-मयूख[3]-ग्रथित[4]-मुकुट-पत्त्रलता-

(=शृङ्गाणि) यस्मिन् यस्य वा तस्मात् तादृशात्, सप्तर्षीत्यादिः—सप्तर्षीणाम् (= मरीच्यादीनां, कश्यपादीनां वा) सन्ध्योपासनया (=सन्ध्यावन्दनेन) पूतानि (=पवित्राणि) प्रस्रवणस्य (= निर्झरस्य) अम्भांसि (=सलिलानि) यस्मिन् स तस्मात् तादृशात्, वृकोदरेत्यादिः—वृकोदरः (=भीमः) तेन उद्दलितम् (= छिन्नं सम्मर्दितं वा) यत् सौगन्धिकषण्डम् (सौगन्धाभिधं वनम्, कह्लारमण्डलं वा) तेन सुगधि (=सुरभि) मण्डलम् (=मध्यभागः ; ["मेखलेति पाठेपि 'मध्यभाग' इत्येवार्थः] यस्य स तस्मात् तादृशात् गन्धमादनात् = एतन्नामकादुत्तरदिक्स्थितपर्वतविशेषात् आ = आरभ्य, अवनिपाः प्रणेमुरिति पूर्ववत् । "सौगन्धिकं तु कह्लारम् ।" अमरः १।९ ३६ ।

अत्र सौगन्धिकशब्दः सौगन्धिकवनपर इति भानुचन्द्रः । इदमेव व्याख्यानमुचितम्, वृकोदरेण सौगन्धिकानां=कह्लाराणां दलने गौरवाभावात्, वनविशेषोच्छेदने एव तात्पर्यौचित्याच्च । "किन्तु 'अब्जादिकदम्बे षण्डमस्त्रियाम्" । (अमरः १।९।४२) इत्यनुसारम् सौगन्धिकशब्द अत्र कह्लारवाचकोपि उचित एवेति बोध्यम् ।

अत्रेयं महाभारतीया कथा—द्यूते पराजिताः पाण्डवाः विन्ध्याटवीं प्रविष्टाः । तत्र सौगन्धिककुसुमेषु द्रौपद्याः दोहदः समुत्पन्नः । तं ज्ञात्वा भीमसेनस्तत्र गतः, तत्र विराजमानं नागराजं जित्वा तत्कन्यकां चोलूप्याख्यां परिणीय सौगन्धिकपुष्पाणि नीत्वा स्वाश्रममाययौ ।

साम्प्रतं पूर्वोक्ताभ्यः स्थानेभ्य आगताः अवनिपाः कीदृशाः कथं च प्रणेमुरिति प्रतिपादयति—सेवाञ्जलीति · सेवाञ्जलीत्यादिः—सेवायै (=सपर्यायै) योऽञ्जलिः (=मस्तके सम्पुटितकरयुग्मम्) स एव कमलमुकुलम् (= पङ्कजकुड्मलम्) तेन दन्तुरैः (= विषमैः), शिरोभिः (=मस्तकैः), उपलक्षिताः, चरणेत्यादिः—चरणयोः (= तारापीडनृपस्य पादयोः) ये नखाः (=नखराः) तेषां मयूखैः (= किरणैः) ग्रथिताः (= प्रणामकाले गुम्फिताः) मुकुटे (= किरीटे) या पत्त्रलता (=पत्त्रलतारूपाग्रभागः) तस्याः ग्रन्थयः (=वन्धनानि) येषां ते तादृशाः, तारापीडनखमयूखाः

मुखरित=शब्दायमान [रहती] हैं, सप्तर्षियों की सन्ध्योपासना के कारण जिसके झरनों का जल पवित्र (होता रहता) है, जिस (गन्धमादन) का मण्डल (= भूमिभाग) वृकोदर भीमसेन द्वारा [द्रौपदी के लिए] तोड़े गये, उखाड़े गये सौगन्धिक नामवाले कमलों के बन या कमलों के टुकड़ों से सुगन्धित हो गया था ।

[उपर्युक्त चारों स्थानों, दिशाओं से राजा] सेवा करने के लिए अञ्जलिरूपी कमलों की कलियों से दन्तुर (ऊँचे-नीचे) शिरों से जिस (राजा तारापीड) के चरणों के नाखूनों की किरणों द्वारा [जिन राजाओं के] मुकुट में बनी पत्रलता की ग्रन्थियाँ गुथ गई हैं (अर्थात् सामने मुकुट नीचा करके खड़े हुए सभी राजाओं के मुकुटों की ग्रथियां चमक रही हैं उनके साथ राजा के पैरों के नाखूनों की किरणें भी मिल गई हैं, आपस में गुथ गई हैं), और जिनके नेत्र भय से चकित (इसीलिए)

१. '''खण्डमण्डलात्, मण्डलात्, मेकलात् । २. मुकुलैर्दन्तुरैः ।
३. मयूखाग्र । ४. ग्रथि''''।

ग्रन्थयो भयचकिततरल-तार-दृशो[1] भुजबल-विजिताः प्रणेमुरवनीपाः[2]।

येन चानेकरत्नांशु-पल्लविते[3] व्यालम्बिमुक्ताफलजालके[4] दिग्गजेनेव कल्पतरावाक्रान्ते[5] सिंहासने भरेण शिलीमुखव्यतिकरकम्पिता लता इव नेमुरायामिन्यः सर्वदिशः[6]।

राज्ञां च मुकुटलतापत्रग्रन्थयश्च परस्परं संश्लिष्टा अभूवन्निति भावः। पुनश्च भयेत्यादिः—भयेन (=भीत्या) चकिताः (=त्रस्ताः) अतएव तरलाः (=सकम्पाः) ताराः (=कनीनिकाः) यासां ताः तादृश्यः दृशः (=नेत्राणि) येषां ते तादृशाः, भुजबल-विजिताः—भुजबलेन (= बाहुवीर्येण) विजिताः (= स्ववशीकृताः पराजिताः) अवनिपाः = पृथ्वीपालका राजानः, यम् = तारापीडं नृपम्, प्रणेमुः=प्राणमन्। 'णम्' धातोर्लिटि प्रथमपुरुषे बहुवचने रूपम्। एवञ्च सर्वाभ्यो दिग्भ्यः समागता राजानस्तस्य सेवायां समुपस्थिता अभूवन्।

येन चेति। अनेकेत्यादिः—अनेके (=बहवः) ये रत्नांशुकाः (=मणिरश्मयः) इव पल्लवानि (=किसलयानि) यस्य तस्मिन्, व्यालम्बीत्यादिः—आलम्बीनि (=लम्बमानानि) मुक्ताफलानाम् (=मौक्तिकानाम्) इव जालकानि (=पुष्पगुच्छाः) यस्य तस्मिन् तादृशे कल्पतरौ = कल्पवृक्षे, दिग्गजेन (=दिशाहस्तिना) इव, येन=तारापीडेन, अनेकरत्नांशुपल्लविते=अनेकरत्नांशुभिः (=विविध-मणि-रश्मिभिः) पल्लविते (=किसलयिते, पल्लववदाचरिते), व्यालम्बिमुक्ताफलजालके—व्यालम्बीनि (=लम्बमानानि) मुक्ताफलानाम् (=मौक्तिकानाम्) जालकानि (=समुदायाः) यस्मिन् तादृशे सिंहासने=राजविष्टरे, आक्रान्ते=समारूढे सति, भरेण=भारेण अतिशयेन वा, आयामिन्यः=विस्तारवत्यः, सर्वा इत्यर्थः, शिलीमुखव्यतिकरकम्पिताः—शिलीमुखानाम् (=भ्रमराणाम्) व्यतिकरेण (=सम्बन्धेन) कम्पिताः (=धूताः) लताः (=तत्पारिजातसमीपवर्तिव्रततयः) इव, सर्वदिक्पक्षे—शिलीमुखानाम् (=बाणानाम्) व्यतिकरेण (=सम्बन्धेन, आक्रमणेन) कम्पिताः, सर्वादिशः=समस्तदिशाः, नेमुः=प्रणता बभूवुः, अधीनाः सञ्जाताः। यथा दिग्गजो यदा कल्पतरुमारोहति तदा तत्समीपवर्तिन्यो भ्रमरसम्पर्ककम्पिता लता अपि अवनता भवन्ति एवमेव यदा तारापीडो राजसिंहासनमारूढवान् तदा तस्य बाण-प्रहारेण कम्पमाना इव सर्वा दिशाः तत्रत्या राजाना स्वयमेवाधीनीभूताः। अत्रोभयत्र इव शब्द उपमायां तेनोपमाद्वयोः सङ्करः।

चञ्चल पुतलियों वाले हैं, जिन्हें [तारापीड ने अपनी] भुजाओं के बल से जीत लिया है, वे उस तारापीड को प्रणाम किया करते थे।

अनेक रत्नों की किरणों के समान पल्लवों से युक्त [तथा] लटकते हुए मोतियों के समान फलों के समूहवाले कल्पवृक्ष पर जिस प्रकार दिग्गज द्वारा आक्रमण किये जाने पर [उस वृक्ष के चारो ओर] फैली हुई [तथा ऊपर उड़ने वाले] भ्रमरों के सम्बन्ध से काँपती (हिलती) हुईं लतायें [दिग्गज के] भार से झुक जाती हैं उसी प्रकार अनेक रत्नों के किरणरूपी पल्लवों से युक्त [और] [सभी ओर] लटकते हुए मोतियों (मुक्ताफलों) से युक्त सिंहासन पर जिस (तारापीड) के आरूढ होने पर [उस राजा के] बाणों के सम्बन्ध (प्रहार) के कारण काँपती हुई [और] अत्यन्त विस्तृत सभी दिशाएँ [दिशाओं में रहनेवाले लोग] [मानों उस राजा के] भार से झुक गईं। [उसके बाणों के प्रहार के भय से सभी लोग काँपने लगे और उसके आगे समर्पण करने लगे थे।]

---

१. तारक…। २. अवनीपतयः। ३. अंशुकजाल…। ४. व्यलम्बि। ५. मुक्ताजालके। ६. सर्वा दिशः।

यस्मै च मन्ये सुरपतिरपि स्पृहयाञ्चकार[1]।

यस्माच्च धवलीकृत-भुवनतलः सकल-लोक-हृदयानन्दकारी क्रौञ्चादिव हंसनिवहो निर्जगाम गुणगणः।

यस्य चामृतामोद-सुरभिपरिमलया मन्दरोद्धत[2]-बहुल-दुग्धसिन्धु-फेन-लेखयेव धवलीकृत-

यस्मै चेति। यस्मै=राज्ञे तारापीडाय, च=समुच्चये, सुरपतिः=अमराधिप इन्द्रः, अपि, स्पृहयाञ्चकार = सस्पृहोऽभवत्, इति (अहम् = जाबालिः) मन्ये = जाने। अत्र "स्पृहेरीप्सितः' (पा० सू० १।४।३६) इति सूत्रेण स्पृहयोगे चतुर्थी बोध्या। तादृशं महत्त्वमैश्वर्यं च ममापि स्यादिती-न्द्रोऽपि अकामयतेति भावः। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः।

यस्मादिति। यस्मात्=पूर्ववर्णितात् राज्ञस्तारापीडात्, च, धवलीकृतभुवनतलः=धवलीकृतम् (=शुभ्रीकृतम्) भुवनतलम् (=विष्टपमण्डलम्) येन स तादृशः, सकललोकहृदयानन्दकारी—सकल-लोकानाम् (=समस्त-जनानाम्) यानि हृदयानि (=चित्तानि) तेषाम् आनन्दकारी (=प्रमोदजनकः), गुणगणः (=दयौदार्यादिगुणसमुदायः) क्रौञ्चात्=एतन्नामकपर्वतात्, (=धवलीकृतभुवनतलः, सकल-लोक-हृदयानन्दकारी,) हंसनिवहः (=मराल-समूहः) इव=यथा, निर्जगाम=बहिर्निर्गतः। अत्र राज्ञः क्रौञ्चस्य, गुणगणस्य हंसनिवहस्य च साम्यप्रतिपादनादुपमा बोध्या।

अत्रेदं पुरावृत्तं दृश्यते—जगद्गुरोः सकलविद्याधिष्ठानभूतात् महेश्वरात् धनुर्वेदमधीयानः परशुरामः कार्तिकेयेण क्रौञ्चपर्वतो विदारित आसीदिति ज्ञात्वा कार्तिकेयस्य स्पर्द्धया स्वशरैः क्रौञ्चं विदारितवान्, तस्माच्च विवराद् हंसा बहिर्निःसृताः।

यस्य चेति। यस्य=तारापीडस्य नृपस्य च, अमृतेत्यादिः—अमृतम् (=पीयूषम्) तस्य आमोदः (=गन्धः) तद्वत् सुरभिः (= घ्राणतर्पणः) परिमलः (=सुगन्धः) यस्याः सा तया तादृश्या, इदं 'कीर्त्या' इत्यस्य विशेषणम्। मन्दरेत्यादिः—मन्दरः (=एतन्नामा स्वर्णपर्वतः) तेन उद्धतः (=उत्क्षिप्तः) बहुलः (= प्रचुरः) यो दुग्धसिन्धुः (=क्षीरसागरः) तस्य फेनलेखया (=डिण्डीररेखया) इव, धवलीकृतसुरासुरलोकया = धवलीकृतः (=शुभ्रीकृतः) सुरासुरलोकाः

मैं तो यही समझता हूँ कि देवराज इन्द्र भी जिस राजा से स्पर्धा करता था। [देवराज भी उसके समान वैभवादि चाहता था।]

और जिस (राजा) से पृथ्वीतल को श्वेत करने वाला, सभी लोगों के हृदय को आनन्द देने वाला गुणसमूह उसी प्रकार निकला जिस प्रकार [पृथ्वीतल को अपनी सफेदी से सफेद करने वाला, सभी लोगों को आनन्दित करने वाला] हंससमूह क्रौञ्च पर्वत से निकला था। [एक बार शिव जी के शिष्य परशुराम ने गुरुपुत्र कार्तिकेय के साथ स्पर्धा करते हुए बाणों से क्रौंच पर्वत वेध कर विवर बना दिया था उस में से अनेक हंस निकलकर उड़ने लगे थे।]

और जिस (राजा) की अमृत के समान मीठी सुगन्धवाली, सुरों और राक्षसों को श्वेत बना देनेवाली, [मन्थन के समय] मन्दराचल द्वारा उछाली गई क्षीरसागर की फेनपंक्ति के समान कीर्ति [अमृत के समान सुगन्ध वाली, सारे विश्व को धवलित करने वाली] सारे विश्व को मुखरित

१. मन्येऽनन्यसाधारणशक्तिसम्पदे।   २. मन्दरोद्धूत—।

सुरासुरलोकया दशसु दिक्षु मुखरितभुवनमभ्रम्यत[1] कीर्त्या।

यस्य चातिदुःसहप्रताप-सन्ताप-खिद्यमानेव क्षणमपि न मुमोचातपत्रच्छायां[2] राजलक्ष्मीः।

तथा च यस्य[3] दिष्टिवृद्धिमिव[4] शुश्राव, उपदेशमिव जग्राह, मङ्गलमिव बहु मेने,[5] मन्त्रमिव जजाप, आगममिव[6] न विसस्मार चरितं जनः।

(=देवदानवभुवनानि) यस्या सा तया, कीर्त्या = यशसा, दशसु = दशसंख्याकासु, दिशु = काष्ठासु, मुखरितभुवनम् = मुखरितानि (=शब्दायमानानि) भुवनानि (=लोकाः) यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा, अभ्रम्यत = भ्रमणमक्रियत।

यस्य चेति। यस्य = तारापीडनृपस्य, राजलक्ष्मीः = राजश्रीः, अतिदुःसहेत्यादिः—अतिदुःसहः (= अतिशयदुःखेन सोढुं शक्यः) एवंविधो यः प्रतापः (= कोषदण्डादिजं तेज एव प्रतापः) तस्माद् यः सन्तापः (=अतिशयदाहः घर्मो वा) तेन खिद्यमाना (=पीड्यमाना) इव, सती, क्षणमपि = निमेषमात्रमपि, आतपत्रच्छायाम् (=राज्ञश्छत्रस्य छायाम्) न = नैव, मुमोच=तत्याज। यथा सूर्यस्यातितीव्रसन्तापमसहमानो जनः क्षणमपि छत्रं न परित्यजति तथैव राज्ञः प्रतापेन विवशा सती राजलक्ष्मीः सदैव राजच्छत्रतले आसीना बभूवेति भावः। अत्रोत्प्रेक्षातिशयोक्त्योः सङ्करः। आतपात् = घर्मात् त्रायते इति आतपत्रम् = छत्रम्।

तथा चेति। [अत्र 'जनः' एक एव कर्ता पञ्चक्रियाणामिति बोध्यम्] तथा च = तेनैव प्रकारेण च, लक्ष्मीः इवेत्यर्थः, जनः = उज्जयिनीनिवासी जनः, यस्यः = राज्ञः तारापीडस्य, चरितम्= चरित्रम्, शौर्यौदार्यादिकम्, दिष्टिवृद्धिम् = भाग्योपचयम्, इव, शुश्राव = आकर्णयामास, ज्योतिःशास्त्रज्ञ-मुखात् यथा स्वदिष्टिवृद्धिश्रवणे उत्कण्ठा भवति तथैव राज्ञश्चरितश्रवणेऽप्यासीत्, उपदेशम् = गुरूपदेशम् इव, जग्राह = धारयामास यथा लोकाः गुरूपदेशं भक्त्या श्रद्धया च गृह्णन्ति तथैव तस्य चरितमपीति भावः। मङ्गलम् = भद्रम्, इव, बहु = अधिकम्, मेने = ज्ञातवान्। मङ्गले यथा प्रीतिस्तथैव तस्य चरितेऽप्यासीदिति भावः। मन्त्रम् = इष्टसाधकशब्दराशिविशेषम्, इव, जजाप = अजपत्। यथा उपास्यमानो मन्त्रो बारं बारमुच्चार्यते तथैव तस्य चरितमपि अनेकधोऽच्चार्यते, तेनेष्टसिद्धिरिति ज्ञायते। आगमम् = अधीतवेदादिवाक्यम्, इव न = नैव, विसस्मार = विस्मृतवान्। एवञ्च तस्य राज्ञश्चरितस्य श्रवणं ग्रहणं मननं जपनं धारणम्(अविस्मरणम्)च लोकानामासीदिति भावः। अत्रोपमा।

(गुंजायमान)करती हुई दशों दिशाओं में घूमने लगी। [सभी ओर उसके गुणों की चर्चायें होने लगीं।]

और राजलक्ष्मी ने मानों [उसके] दुःसहनीय प्रताप के सन्ताप से खिन्न होते हुए एक क्षण के लिए जिस (राजा) की आतपत्र = छत्र की छाया को नहीं छोड़ा। [जिस प्रकार सूर्य की प्रचण्ड धूप से परिश्रान्त कोई व्यक्ति छाते की छाया नहीं छोड़ता है उसी प्रकार उस राजा के प्रताप से विवश होती हुई राजलक्ष्मी सदैव उसकी छत्रच्छाया में रहा करती थी।]

और प्रजा उसके चरित को [ज्योतिषी आदि के मुख से अपने] भाग्य की वृद्धि के समान सुना करती थी, [गुरु आदि के द्वारा दिये गये] उपदेश के समान ग्रहण किया करती थी, मंगल के समान बहुत मानती थी, आदर करती थी, [इष्टसिद्धि कराने वाले] मन्त्र के समान जपा करती थी, और आगम (वेदवाक्य) के समान भूलती नहीं थी, सदैव स्मरण रखती थी।

१. अभ्राम्यत। २. आतपच्छायाम्। ३. यस्य।
४. दिष्टवृद्धिमिव। ५. बहुमङ्गलमिव मेने। ६. आगमवचनमिव।

यस्मिंश्च राजनि गिरीणां विपक्षता, प्रत्ययानां परत्वम्[1], दर्पणानामभिमुखावस्थानम्, शूलपाणिप्रतिमानां दुर्गाश्लेषः, जलधराणां चापधारणम्, प्रतीहाराणामसिधारणम्[2], ध्वजानामुन्नतिः, धनुषामवनतिः, वंशानां शिलीमुख-मुख-क्षतिः[3], देवतानां[4] यात्रा, कुसुमानां बन्धनस्थितिः,

यस्मिंश्चेति । च = पुनः, यस्मिन् राजनि = पूर्ववर्णिते तारापीडे नृपे, [शासति सति, 'पृथिव्याम् = भूलोके, आसीत्'' इत्यग्रिमपदाभ्यां सम्बन्धः ।] गिरीणाम् = पर्वतानाम्, एव, विपक्षता = पक्षराहित्यम्, विगताः = इन्द्रेण विनाशिताः, पक्षाः = छदाः येषां ते विपक्षाः, तेषां भावस्तत्ता,— विपक्षता, ["गरुत्पक्षच्छदाः ।'' अमरः २।५।३६] न तु लोकानां विपक्षता = शत्रुता सर्वेषामेव परस्परं सौमनस्यसत्त्वादिति भावः ।

अत्र "गिरीणां विपक्षता'' इत्यत आरभ्य "अक्षक्रीडासु शून्यगृहदर्शनम्'' इति पर्यन्तं सर्ववाक्येषु यथासम्भवं श्लेषसङ्कीर्णा आर्थी परिसंख्या अलङ्कारो बोध्यः । तल्लक्षणं तु पूर्वमेवोक्तम् ।

प्रत्ययेति । प्रत्ययानाम् = सुप्तिङादीनाम्, एव, परत्वम् = प्रकृतिपरवर्तित्वम्, न तु लोकानां परत्वम् = शत्रुत्वम्, भिन्नत्वं वा, सर्वेषु आत्मवद्व्यवहारात् । दर्पणानाम् = आदर्शानाम्, एव, अभिमुखावस्थानम् = सम्मुखेऽवस्थितिः, न तु लोकानाम् अभिमुखावस्थानम् = याचनार्थं युद्धार्थं वा सम्मुखेऽवस्थितिः, सर्वेषां सम्पन्नत्वात् द्वेषाद्यभावाच्च । ["दर्पणो मुकुरादर्शौ ।'' अमरः २।६।१।७०] शूलपाणिप्रतिमानाम् = शूलपाणिः (= शङ्करः) तस्य प्रतिमानाम् (= मूर्तीनाम्), एव, दुर्गाश्लेषः- दुर्गायाः (= पार्वत्याः) आश्लेषः (= आलिङ्गनम्) न तु लोकानां दुर्गाश्लेषः दुर्गेषु (= राजभवनेषु, दुर्गमेषु पर्वतादिस्थलेषु वा) आश्लेषः = आश्रयः, सर्वत्र युद्धाद्यभावात् कस्यापि पलायनस्यावकत्वाभावात् । जलधराणाम् = वारिदानाम्, एव, चापधारणम् = इन्द्रधनुषो धारणम्, न तु लोकानां धनुर्धारणं, कुत्रापि सङ्ग्रामाभावात् तद्धारणस्यावश्यकताया अभावात् । प्रतीहाराणाम् = द्वारपालकानाम्, एव, असिधारणम् = खड्गग्रहणम्, न तु लोकानाम्, विरोधाभावात्तद्ग्रहणस्यावश्यकताया अभावात् । ध्वजानाम् = पताकानाम्, एव, उन्नतिः = ऊर्ध्वमुखत्वेन स्थितिः, न तु लोकानाम् उन्नतिः = औद्धत्यम्, अहङ्काराभावात् । धनुषाम् = चापानाम्, एव, अवनतिः = अवनमनम्, बाणधारणार्थं त्यागार्थं च, न तु लोकानाम् अवनतिः = पतनम्, बलादधोनयनं वा, सर्वेषां सदाचारित्वात् सम्पन्नत्वाच्च । वंशानाम् = वेणूनाम्, एव, शिलीमुखमुखक्षतिः = शिलीमुखानाम् (= भ्रमराणाम्) मुखैः (= आननैः) क्षतिः (= छेदः) न तु लोकानां, शिलीमुखानाम् = बाणानाम्, मुखैः = अग्रभागैः, क्षतिः = पीडा, संग्रामा-

और जिस (तारापीड) के राजा रहने पर अर्थात् जब वह राजा था तब विपक्षता (= पंखों का न होना) पर्वतों की ही थी, [लोगों की परस्पर विपक्षता = शत्रुता नहीं थी, क्योंकि सभी परस्पर सद्भाव वाले थे ।] परत्व (= परवर्त्ती होना, बाद में रहने वाला होना] प्रत्ययों का ही था, [लोगों का परत्व = भिन्नत्व, शत्रुत्व परायापन नहीं था । सभी को परस्पर मित्रता थी] सामने खड़ा होना (रखा जाना) दर्पणों का ही था, [लोगों का विरोध करने के लिए अथवा भीख माँगने के लिये किसी के सामने खड़ा होना नहीं था, सभी शिष्टाचारी थे, या सम्पन्न थे ।] दुर्गाश्लेष (= दुर्गा = पार्वती का आलिंगन) शूलपाणि भगवान् शंकर की प्रतिमाओं का ही था, [लोगों का दुर्गाश्लेष = दुर्ग = किले का सम्बन्ध, छिपना नहीं था, क्योंकि युद्ध न होने से पराजय का प्रसङ्ग नहीं आता था ।] चापधारण = इन्द्रधनुष धारण करना जलधरों (= मेघों) का ही था, [लोगों का धनुर्धारण नहीं था क्योंकि कहीं भी युद्ध नहीं होता था ।] असिधारण = तलवार पकड़ना

१. वर्णानाम् । २. प्रतीहाराणामसिधारणम्, तेक्ष्ण्यमसिधाराणाम् इत्यधिकः पाठः क्वचिन्नोपलभ्यते, 'पद्मानां जलदिव्यमित्यधिकः पाठोऽपि क्वचित् । ३. शिलीमुखक्षतिः । ४. देवानाम् ।

इन्द्रियाणां निग्रहः, वनकरिणां वारिप्रवेशः, तैक्ष्ण्यमसिधाराणाम्[1], व्रतिनामग्निधारणम्[2], ग्रहाणां तुलारोहणम्, अगस्त्योदये विषशुद्धिः[3], केश-नखानामायतिभङ्गः, जलद[4]-दिवसानां

भावेन वाणप्रहाराभावात्। देवतानाम् = देवानाम् एव, यात्रा = उत्सवविशेषः, न तु लोकानां यात्रा = बहिर्गमनम्, यद्वा, भयात् पलायनम्, सङ्ग्रामाभावात् युद्धादियात्राप्रसङ्गाभावात्। ["यात्रा तु यापनेऽपि स्याद् गमनोत्सवयोः स्त्रियाम्" इति मेदिनीकोषः] कुसुमानाम् = पुष्पाणाम्, एव, बन्धन-स्थितिः बन्धनेषु (= वृन्तेषु) स्थितिः = अवस्थानम्, न तु लोकानां बन्धनेन = बद्धत्वेनावस्थानम्, कदापि अपराधाकरणात् बन्धनस्य प्रसङ्गाभावात्। इन्द्रियाणाम् = करणानाम्, हृषीकाणाम्, एव, निग्रहः = निरोधः, वशीकरणम्, न तु लोकानां निग्रहः = दण्डः, दमनं वा, केनापि दुराचरणाभावात्, दण्डप्रदानस्यानावश्यकत्वात्। वनकरिणाम् = विपिनवासिगजानाम्, एव, वारिप्रवेशः = वारौ = गज-बन्धनस्थल-प्रवेशः, = प्रापणम्, न तु लोकानां वारिणि = जले प्रवेशः "यदि मया किञ्चिदपराद्धं स्यात् तदाहं जले निमग्नः स्याम्" इति दिव्यपरीक्षार्थं वारिप्रवेशः, वस्तुतः कस्यापि अपराधाभावाद् वारिप्रवेशस्य प्रसङ्गाभावात्। असिधाराणाम् = खड्गाग्रभागानाम्, एव, तैक्ष्ण्यम् = तीक्ष्णता, न तु लोकानां स्वभावानां तीक्ष्णता = उग्रता, सर्वेषां शान्तस्वभाववत्त्वात्। व्रतिनाम् = अग्निहोत्रादिव्रतानुष्ठान-शालिनाम्, एव, अग्निधारणम् = वह्निधृतिः, न तु लोकानाम् अग्नौ = वह्नौ, धारणम् = स्थापनम्, अपराध-स्वीकारार्थमिति भावः, यद्वा, निरपराधत्वसिद्धये दिव्यपरीक्षार्थं हस्तादौ अग्निधारणम्, केनापि कदाप्यपराधाकरणात्। ग्रहाणाम् = सूर्यादिखेटकानाम्, एव, तुलाधिरोहणम् = तुलायां (= तुलानामक-राशिविशेषे) अधिरोहणम् (= संक्रमणम्) न तु लोकानां दिव्यपरीक्षार्थं तुलायाम् = घटदण्डे, आरोहः — यदि मयापराद्धं स्यात्तदाहं तुलायामधोभागे गन्ता स्याम् — इत्यर्थमिति भावः, कस्याप्यपराधाभावात् तुला-धिरोहणस्याप्रसङ्गात्। अगस्त्योदये — अगस्त्यस्य (= एतन्नामकनक्षत्रविशेषस्य) उदये एव विषशुद्धिः —

प्रतीहारियों (द्वारपालों) का ही था, [लोगों का असिधारण नहीं था क्योंकि परस्पर प्रेम भाव होने से तलवार उठाने की आवश्यकता नहीं थी।] उन्नति (औद्धत्य = ऊपर ले जाना) ध्वजाओं की ही थी, [लोगों का औद्धत्य = उजड्डपन नहीं था, सभी शिष्ट, विनम्र थे।] अवनति (= नीचे की ओर झुकाव) धनुषों की ही थी [लोगों की अवनति = पतन नहीं थी सभी विकासोन्मुख थे।] शिलीमुख (= भौरों) के मुख से क्षति (= छिद्रादि करना) बाँसों की ही थी, [लोगों की शिलीमुखों = वाणों के मुखों = अग्रभाग से क्षति = हत्या नहीं होती थी।] (उत्सव) यात्रा देवताओं की थी [लोगों की निर्धनता या पराजय के कारण यात्रा = इधर उधर भागना नहीं थी।] बन्धन-स्थिति [वृन्त में रहना या माला आदि में गुंथकर रहना] फूलों की ही थी, [लोगों की बन्धन में स्थिति नहीं थी, किसी प्रकार का अपराध न होने से किसी को बाँधकर नहीं रखा जाता था।] निग्रह = वश में रखना, नियन्त्रित करना इन्द्रियों का ही था, [लोगों का निग्रह = बन्धन या दण्ड नहीं था, क्योंकि कोई अपराध नहीं करता था,] वारि (हाथी बाँधने के स्थान) में प्रवेश हाथियों का ही होता था, [लोगों का अपने को निरपराध सिद्ध करने के लिये पानी में प्रवेश नहीं कराया जाता था।] तीक्ष्णता तलवार की धारों की ही थी, [लोगों के स्वभाव की तीक्ष्णता नहीं

१. इदं क्वचिन्नाप्युपलभ्यते। २. व्रतिनामसिधाराधारणम्।
३. विषविशुद्धिः। ४. जलधर।

मलिनाम्बरत्वम्, रत्नोपलानां भेदः, मुनीनां योगसाधनम्[1], कुमारस्तुतिषु तारकोद्धरणम्, उष्णरश्मेर्ग्रहणशङ्का[2], शशिनो ज्येष्ठातिक्रमः,

जलस्य शुद्धिः = निर्मलता, न तु लोकानां विषपानेन पापशुद्धिः, केनापि पापाचरणाभावात्। केशनखानाम् = कच-पुनर्भवाणाम्, एव, आयतिभङ्गः—आयतेः (= विस्तारस्य) भङ्गः (= विनाशः), न तु लोकानाम् आयतेः (= उत्तरकालस्य, भाविनः सुखस्येत्यर्थः) भङ्गः = हानिः, पुण्यवत्तया दौर्भाग्याभावात् सदैव सुखसत्त्वात्। जलद-दिवसानाम्—जलदाः (= मेघाः) तेषां दिवसाः (= तत्कालीनानि दिनानि) तेषाम्, एव, मलिनाम्बरत्वम्—मलिनम्—(= मलीमसम्) अम्बरम् (= आकाशम्) येषु तेषां भावस्तत्त्वं मलीमस-गगनत्वमित्यर्थः, न तु लोकानां मलिनाम्बरत्वम्—मलिनानि अम्बराणि (= वस्त्राणि) येषां तेषां भावस्तत्त्वम्। रत्नोपलानाम् = मण्यश्मनाम्, एव, भेदः = विदारणम्, न तु लोकानां भेदः = भेदाख्यतृतीयनयप्रयोगः, परस्परं भिन्नत्वं वा, सर्वेषां स्वत एव स्व-स्वकर्मणि निरतत्वात्तत्प्रयोगस्यानावश्यकत्वात्। मुनीनाम् = मौनादिव्रतानुष्ठानपराणाम्, एव योगसाधनम्—योगस्य (= चित्तवृत्तिनिरोधस्य) साधनम् (= यमाद्यनुष्ठानम्), न तु लोकानां योगसाधनम् (=अन्येषां मारणाय,वशीकरणाय वा प्रयोगविशेषानुष्ठानम्,आभिचारिकप्रयोगकरणमिति भावः) कस्यापि शत्रुताया अभावात् परस्परमनुकूलाचरणाच्च। कुमारस्तुतिः—कुमारः = कार्तिकेयः) तस्य स्तुतिषु (= स्तोत्रेषु) एव, तारकोद्धरणम्—तारकस्य (= एतन्नामकासुरस्य) उद्धरणम् (= प्राबल्येन नाशनम्, उदाहरणं वा) न तु लोकानां तारकोद्धरणम्—तारका = कनीनिका, तस्या उद्धरणम् = उत्कर्षणम्, केनापि तथाविधापराधानाचरणात्तथाविधदण्डस्याप्रयोगात्। उष्णरश्मेः—उष्णाः (= दाहकाः) रश्मयः (= किरणाः) यस्य स तस्य, सूर्यस्य, एव, ग्रहणशङ्का (= राहूपरागशङ्का) न तु लोकानां ग्रहणस्य (= निग्रहस्य) शङ्का (= भयम्) कस्यापि अपराधाभावात्। शशिनः = चन्द्रस्य, एव, ज्येष्ठातिक्रमः—ज्येष्ठायाः (= एतन्नामकनक्षत्रविशेषस्य) अतिक्रमः (= अतिक्रमणम्) न तु लोकानाम् ज्येष्ठस्य (= श्रेष्ठस्य, वयसा, ज्ञानेन चेति शेषः) अतिक्रमः (= अतिक्रमणम्,

थी, सभी मधुर स्वभाव वाले थे।] अग्निधारण व्रतियों का ही था, [लोग किसी अपराध के दण्ड के लिए या निर्दोषता के लिए आग नहीं पकड़ते थे, क्योंकि कोई ऐसा दण्डनीय अपराध करता ही नहीं था।] तुला [राशि] पर आरोहण = संक्रमण [सूर्यादि] ग्रहों का ही होता था, लोगों का निर्दोषत्व-सिद्धि के लिए तराजू पर चढ़ना नहीं होता था. कोई ऐसा अपराध नहीं करता था।] विष = पानी की शुद्धि अगस्त्य नामक तारे के उदय होने पर ही थी [किसी अन्य के अपराध की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के लिए विषपान नहीं करना होता था।] आयति = विस्तार का भंग (= समाप्ति) केशों और नाखनों का ही था, [लोगों की आयति = भाग्य का उच्छेद नहीं किया जाता था।] मलिन अम्बर (आकाश) वाला होना बरसात के दिनों का ही था, [लोगों का मलिन अम्बर = वस्त्रों वाला होना नहीं था। सभी सम्पन्न होने से स्वच्छ और अच्छे वस्त्र पहनते थे।] भेद (= छेद करना) रत्न के पाषाण = मणियों का ही था, [लोगों का भेद = नीति के चतुर्थ उपाय का प्रयोग नहीं होता था क्योंकि किसी के लिए इसकी आवश्यकता नहीं थी।] योग (= यम नियम आदि) का साधन (= अनुष्ठान) मुनियों का ही था, [लोगों का विषादि-प्रयोग का अनुष्ठान या आभिचारिक क्रियाओं का अनुष्ठान नहीं था क्योंकि कोई किसी का इतना बड़ा शत्रु नहीं था।] तारक असुर) का उद्धरण (नाम-ग्रहण) कुमार (कार्तिकेय) की स्तुतियों में ही था, [लोगों की तारक = पुतलियों का उद्धरण = निकालना नहीं होता था, क्योंकि परस्पर ऐसी शत्रुता नहीं थी और न ऐसा महापराध था।] ग्रहण की शंका सूर्य की ही थी, [अन्य किसी

१. योगधारणम्। २. ग्रहणशङ्कः।

महाभारते दुःशासनापराधाकर्णनम्,[1] वयःपरिणामे दण्डग्रहणम्, असि-परिवारेष्वकुशलयोगः,[2] कामिनी-कुच-भङ्गेषु[3] वक्रता, करिणां दानविच्छित्तिः, अक्षक्रीडासु शून्यगृह-दर्शनम्, पृथिव्यामासीत् ।

उल्लङ्घनम्) सर्वेषां स्वस्वानुरूपमेव कर्माचरणात् । महाभारते=एतन्नामके प्रसिद्धे महाग्रन्थे, एव, दुःशासनापराधाकर्णनम्—दुःशासनस्य (=दुर्योधनानुजस्य मध्यमकौरवस्य) अपराधस्य (=द्रौपदी-वस्त्रापकर्षणनिकृष्टाचरणस्य) आकर्णनम् (=श्रवणम्) न तु लोकेषु दुःशासनेन (= दूषितप्रशासनेन) अपराधस्य (=शासकेन तत्सम्बन्धिभिर्वा विहितापराधस्य) आकर्णनम्, सर्वेषां प्रशासकानां नियमानुसारेणैव व्यवहारात् । वयःपरिणामे—वयसः (=यौवनाद्यवस्थायाः) परिणामे (=परिपाके,वार्द्धक्ये) एव, दण्डग्रहणम् (=सञ्चारादौ सहायकत्वेन यष्टिग्रहणम्) न तु लोकानां दण्डस्य = चतुर्थोपायस्य ग्रहणम्=आश्रयणम्, स्वस्वकर्मनिरततया कस्यापि कृते दण्डस्यावश्यकत्वाभावात् । असिपरिवारेषु = असीनाम् (=खड्गानाम्) परिवारेषु (=पिधानेषु) एव, अकुशलयोगः—अकुशलस्य (=नास्ति कुशलं यस्मात् सः अकुशलः=खड्गः, तस्य) योगः (=सम्बन्धः, स्थापनम्) न तु लोकानाम् अकुशलस्य (=अमङ्गलस्य) योगः (=सम्बन्धः), सर्वत्र कुशलताया एव सत्त्वात् । क्वचित्तु—असिपरिवारेषु कलङ्कयोगः—इति पाठः—कलङ्कस्य (=श्यामिकायाः परिष्करणाद्यभावात् मालिन्यस्य) योगः=सम्बन्धः, तेषां प्रयोगाभावात् मालिन्योत्पत्तेः । कामिनीकुच-भङ्गेषु—कामिनीनाम् (=रमणीनाम्) कुचयोः (=स्तनयोः) भङ्गेषु (=पत्रादिरचनासु), एव, वक्रता=कुटिलता, न तु लोकेषु, सर्वेषामेव ऋजुतया व्यवहारात् । करिणाम्=गजानाम्, एव, दानविच्छित्तिः—दानस्य (=मदजलस्य) विच्छित्तिः (= रचना) न तु लोकानां दानस्य (= वितरणस्य) विच्छित्तिः (= विच्छेदः, नाशः) तेषां सदैव दानकर्मणि प्रवृत्तत्वात् । अक्षक्रीडासु = द्यूतकेलिषु, एव, शून्यगृह-दर्शनम्—शून्यगृहाणाम् (=गुटिकारहितकोष्ठकानाम्) अवलोकनम् (=दर्शनम्) न तु लोकानां शून्यगृहाणाम् = स्वामिरहित-सदनानाम्) अवलोकनम्, सम्पन्नतया सर्वेषां स्वस्वगृहेषु स्थितत्वात् । पृथिव्याम् आसीदित्याद्यन्वयस्तु प्रागेवोक्तः । परिसंख्या अलङ्कार इत्यपि पूर्वमेव प्रतिपादितम् ।

के पकड़े जाने की शंका नहीं थी क्योंकि निरपराध को दण्ड नहीं दिया जाता था ।] ज्येष्ठा (= नक्षत्र) का अतिक्रमण चन्द्रमा का ही होता था, [लोग अपने से ज्येष्ठ का अतिक्रमण = उल्लङ्घन नहीं करते थे ।] दुःशासन के अपराधों का श्रवण महाभारत में ही था, [लोगों में दुःशासन = दूषित शासन के अपराधों का श्रवण नहीं होता था ।] दण्डग्रहण = डंडे को पकड़ना अवस्था के परिणाम=बुढ़ापे में ही होता था, [लोगों से बलात् दण्ड नहीं लिया जाता था, सभी ओर सुव्यवस्थित शासन था ।] अकुशलता का योग = सम्बन्ध तलवारों के परिवारों (म्यानों या छुरो चाकू आदि) में ही था, [लोगों में नहीं था, सभी कुशल थे । कहीं कहीं 'कलङ्कयोगः' ऐसा पाठ है । तलवारों और उसके म्यानों में ही कलंक=जंक लग जाता था क्योंकि उनका प्रयोग नहीं होता था ।] वक्रता (कुटिलता) स्त्रियों के कुचभंग (स्तनों पर पत्ररचना) में ही थी, [लोगों में नहीं थी, क्योंकि सभी सीधे सज्जन थे), दान (= मदजल) की विच्छित्ति (रचना) हाथियों की ही थी, [लोगों में दान करने की विच्छित्ति = विच्छेद नहीं थी, सभी सदैव दान किया करते थे ।] शून्यगृह (खाली कोष्ठक) दिखाई देना अक्षक्रीडा (पांसों के खेल) में ही था, [लोगों के घर खाली नहीं दिखाई देते थे, क्योंकि सभी सम्पन्न होने से निश्चिन्तता के साथ अपने घरों में रहा करते थे ।]

१. दुःशासनापराधः ।

२. असिपरिवारेषु कुशलयोगः, असिपरिवारेषु कलङ्कयोगः, असिधारासु कोषगुप्तिः ।

३. कामिनीनां कुचभङ्गेन,कामिनी-कुचभङ्गेन,वक्रता कामिनीनां कुचभङ्गेषु,कामिनीकुचपत्रभङ्गेषु ।

शुकनास-वर्णनम्

तस्य[1] च राज्ञः निखिल-शास्त्र-कलावगाह-गम्भीरबुद्धिः, आशैशवादुपारूढ-निर्भर-प्रेमरसः, नीतिशास्त्र-प्रयोग-कुशलः, भुवनराज्यभारनौ-कर्णधारः[2], महत्स्वपि कार्य्यसङ्कटेष्व-विषण्णधीः, धाम धैर्य्यस्य, स्थानं स्थितेः, सेतुः[3] सत्यस्य, गुरुर्गुणानाम्, आचार्य्य आचाराणाम्, धाता धर्म्मस्य, शेषाहिरिव मही-भारधारणक्षमः[4], सलिलनिधिरिव महासत्त्वः,

राज्ञस्तारापीडस्य तस्य प्रशासनस्य च स्वरूपमुपवर्ण्य साम्प्रतं तस्य महामात्यस्य शुक-नाशस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादयितुमाह तस्य ेति । "तस्य च राज्ञोऽमात्यो ब्राह्मणः शुकनाशो नामासीदिति" वक्ष्यमाणेनान्वयः । तस्य = पूर्ववर्णितस्य, च = समुच्चये, राज्ञः = नृपस्य तारापीडस्य, निखिले-त्यादिः—निखिलानि (= समस्तानि) यानि शास्त्राणि (= वेद-राजनीत्यादिशास्त्राणि) याः कलाः (= चतुःषष्टिसङ्ख्याकाः) तासाम् यद् अवगाहनम् (= तत्तदर्थविबोधनमभ्यासातिशयश्च) तेन, गम्भीरा (= गभीरा, दुरवगाहा) बुद्धिः (= प्रतिभा) यस्य स तादृशः । इमानि प्रथमान्तानि पदानि 'शुकनास्य' इतिवक्ष्यमाणस्यैव विशेषणानीति बोध्यम् । आ शैशवात् = बाल्यकालाद् आरम्य, उपारूढेत्यादिः—उपारूढः (= राजनि समुत्पन्नः) निर्भरः (= सान्द्रः) प्रेमरसः (= स्नेहरसः) यस्य स तादृशः । नीतिशास्त्रेत्यादिः—नीतिशास्त्रम् (= नयशास्त्रम्, व्यवहारग्रन्थः) तस्य प्रयोगः (= तदर्थस्य अनुष्ठानम्, परीक्षणं च) तत्र कुशलः (= दक्षः) । भुवनेत्यादिः भुवनानाम् (= लोकानाम्) राज्यम् (= आधिपत्यम्) तस्य भारः (= भरः, वीवधः) एव नौः (= तरणिः) तस्याः कर्णधारः (= नाविकः), महत्सु = गुरुषु, अपि कार्येसङ्कटेषु = विधेयकृच्छ्रेषु अविषण्णधीः—अविषण्णा (= अखिन्ना धीः; (= बुद्धिः) यस्य स तादृशः । ["कर्णधारस्तु नाविकः" । अमरः १।१०।१२] 'भुवनराज्यभारनौकर्णधारः' इत्यत्र रूपकं बोध्यम् ।

धैर्येति । धैर्यस्य = धीरतायाः, धाम = गृहम् । स्थितेः = मर्यादायाः, स्थानम् = आश्रयः ["मर्यादा धारणा, स्थितिः ।' अमरः २।८।२६] सत्यस्य = तथ्यस्य, सेतुः = आलिः । गुणानाम् = दयादाक्षिण्यादिवैशिष्ट्यानाम्, गुरुः = हितोपदेष्टा । आचाराणाम् = शिष्टानुमोदितव्यवहाराणाम्, आचार्यः = उपदेष्टा । धर्मस्य = सुकृतस्य, धाता = धारकः ।

शुकनासवर्णन

और उस राजा तारापीड का शुकनास नामक ब्राह्मण मन्त्री था, जो सभी शास्त्रों और कलाओं के अवगाहन (अध्ययन तथा अभ्यास) से गम्भीर बुद्धिवाला था, जिसमें बालपन से ही [राजा के प्रति] बहुत गहरा अनुरागरस भरा हुआ था, जो नीतिशास्त्र (व्यवहार शास्त्र) के प्रयोग में कुशल था, जो संसार के राज्यभार रूपी नौका का कर्णधार = नाविक था, बड़े से बड़े (राजकीय) कार्यों के संकटों में भी, समस्याओं में भी जिसकी बुद्धि खिन्न या उदासीन नहीं होती थी, जो धर्म का धाम (गृह) था, स्थिति (मर्यादा) का स्थान (= आश्रम) था, सत्य का सेतु (= पुल) था, गुणों का गुरु (उपदेशक) था, आचारों का आचार्य था, धर्म का धाता (विधाता) था, जैसे शेषनाग पृथ्वी के भार को धारण करने में समर्थ है इसी प्रकार पृथ्वी के शासन के भार (उत्तरदायित्व)

१. नेदं पठ्यते क्वचित् । २. ···भारकनौ० । ३. सिन्धुः । ४. सकलमही··· ।

जरासन्ध इव घटित-सन्धिविग्रहः[1], त्र्यम्बक इव प्रसाधितदुर्गः, युधिष्ठिर इव धर्म्मप्रभवः, सकल-वेद-वेदाङ्गवित्, अशेषराज्य-मङ्गलैकसारः[2], बृहस्पतिरिव सुनासीरस्य,

शेषेति। शेषाहिः=शेषनागः वासुकिः, इव, महीभारधारणक्षमः=मह्याः (=पृथिव्याः) यो भारः (=भरः) तस्य धारणम् (=वहनम्) तत्र क्षमः (=समर्थः), शुकनासपक्षे—मह्याः भारः = शासनव्यापारः, तस्य धारणे = सञ्चालने क्षमः=समर्थः। सलिलनिधिः = समुद्रः, इव, महासत्त्वः=महान्ति (=विशालानि) सत्त्वानि (=जलचराः प्राणिनः) यस्मिन् स तादृशः, शुकनासपक्षे—महत् (=बहुलम्) सत्त्वम् (=साहसम् आत्मबलं वा) यस्य सः।

जरेति। जरासन्धः = एतन्नाम्ना प्रसिद्धो मगधराजः, इव, घटितसन्धिविग्रहः घटितः (= विहितः) सन्धिः (= खण्डद्वयस्य सम्मेलनम्) यस्य सः—घटितसन्धिः, स चासौ विग्रहः (=शरीरम्) यस्य स इति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः। शुकनासपक्षे—घटितौ (=विहितौ, आचरितौ) सन्धिविग्रहौ (=सामयुद्धरूपोपायौ) येन स तादृशः [अत्रेयं कथा—पुरा कश्चन बृहद्रथनामा नृपोऽपत्यरहितः चण्डकौशिकमृषिं समाराधितवान्। प्रसन्नेन ऋषिणा सन्तति-प्राप्तये फलमेकं तस्मै राज्ञे दत्तम्। स राजा तत्फलमात्रमर्धमर्धं कृत्वा द्वाभ्यामपि पत्नीभ्यां दत्तवान्। प्राप्तेऽवसरे तु ताभ्यामर्धमर्धं शरीरात्मकं सुतं प्रसूतम्। तद्दृष्ट्वा खिन्नो राजा श्मशानभूमौ निचिक्षेप। तत्र स्थितया कयाचित् जरानाम्न्या राक्षस्या भागद्वयं स मेलय पूर्णशरीररूपेण स्थापितम्, तदैव तस्मिन् जीवनमागतमवलोक्य तया राज्ञे समर्पितम्। अतएव स 'जरासन्ध' इति नाम्ना ख्यातः। स च महाबलशाली आसीत्। कृष्णस्य सङ्केतमवाप्य भीमसेनेन पुनर्विदारितं तच्छरीरं मृत्युमुपययौ इति।]

त्र्यम्बक इति। त्र्यम्बकः=विषमलोचनः शिवः, इव, प्रसाधितदुर्गः=प्रसाधिता (=अलङ्कृता) दुर्गा (=पार्वती) येन स तादृशः। शुकनासपक्षे—प्रसाधितानि (= स्वायत्तीकृतानि, सम्पादितानि वा) दुर्गाणि (=परिखादीनि, राजभवनादीनि वा) येन स तादृशः।

युधीति। युधिष्ठिरः = ज्येष्ठपाण्डवः, इव, धर्मप्रभवः—धर्मात् (= धर्मराजात्) प्रभवः (=जन्म) यस्य स तादृशः। शुकनासपक्षे—धर्माणाम् (= यागादिरूपशास्त्रीय-कर्मणाम्) प्रभवः (=अनुष्ठानेन उद्भवः) यस्मात् स तादृशः। अत्र 'शेषाहिरिव' इत्यारभ्य "युधिष्ठिर इव' इत्यन्तमुपमालङ्कारः।

सकलेति। सकलेत्यादिः—सकलानि (= समस्तानि) यानि वेदवेदाङ्गानि (= चत्वारो वेदाः षड्वेदाङ्गानि च) तानि वेत्ति = जानाति तादृशः। अशेषेत्यादिः—अशेषम् (=समस्तम्) यद् राज्यम् (=राष्ट्रम्) तस्य मङ्गलस्य (=कल्याणस्य) एकसारः (=एकमात्ररहस्यभूतः)।

सुनासीरेति। सुनासीरस्य=इन्द्रस्य, बृहस्पतिः=सुरगुरुः इव, वृषपर्वणः=एतन्नाम्ना ख्यात-

का वहन करने में समर्थ था, जैसे समुद्र बड़े बड़े सत्त्व=जल-जन्तुओं वाला है वैसे महान् सत्त्व (= साहस, आत्मबल) वाला था, जरासन्ध राजा जिस प्रकार सन्धि-घटित (= जरानामक राक्षसी द्वारा सन्धि=मिलाये गये) विग्रह (शरीर) वाला था उसी प्रकार (राजनीति के अनुसार) सन्धि (समझौता) और विग्रह (युद्ध) करने वाला था, जैसे त्र्यम्बक (शिव) दुर्गा=पार्वती को प्रसाधित (= साजसज्जा युक्त) करने वाले हैं उसी प्रकार दुर्गों (किलों) को बनवाने वाला था, जैसे युधिष्ठिर धर्मराज से प्रभव = जन्मलेने वाले थे वैसे धर्म का जनक था, धर्मानुष्ठान करने और कराने वाला था, जो समस्त वेदों और वेदाङ्गों को जानने वाला था, जो सम्पूर्ण राज्य के मङ्गलों =

१. प्रकटित। २. '''मण्डलमङ्गलैकसारः।

कविरिव वृषपर्वणः, वशिष्ठ इव दशरथस्य, विश्वामित्र इव रामस्य, धौम्य इवाजातशत्रोः, दमनक इव नलस्य, सर्वकार्येष्वाहितमतिः[1], अमात्यो ब्राह्मणः शुकनासो नामासीत् ।

यो नरकासुर-शस्त्रप्रहार-भीषणे[2] भ्रमन्मन्दर-नितम्ब[3]-निर्दय-निष्पेषकठिनांसपीठे नारायणवक्षःस्थलेऽपि स्थितामदुष्करलाभाममन्यत प्रज्ञाबलेन लक्ष्मीम् ।

यश्चासाद्य दर्शितानेकराज्यफला लतेव महापादपम्[4] अनेकप्रतानगहना विस्तार-

---

स्य दैत्यराजस्य, कविः = शुक्राचार्य, इव, ["वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः ।" अमरः १।१।४१। बृहस्पतिः सुराचार्यः ।' अमरः १।३।२।७ । "शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः ।" अमरः १।३।२५] दशरथस्य = अयोध्याधिपस्य रामजनकस्य, वसिष्ठः = अरुन्धतीपतिः, इव, रामस्य = रामचन्द्रस्य, विश्वामित्रः = कौशिकः, इव, अजातशत्रोः = धर्मपुत्रस्य युधिष्ठिरस्य, धौम्यः = एतन्नामा मतिमान्, इव, नलस्य = निषधापितेः, दमनकः = एतन्नाम्ना प्रसिद्धः, इव, सर्वकार्येषु = समस्तकृत्येषु, आहितमतिः = आहिता (= स्थापिता) मतिः (= बुद्धिः) येन स तादृशः शुकनासो नाम = शुकनास इति प्रसिद्धः, ब्राह्मणः = विप्रः, अमात्यः = प्रधानसचिवः आसीत् = अभूत्, 'अमा = सार्धम्, वर्तते इत्यर्थे 'अमेहक्वतसित्रेभ्य एव' इति नियममनुसृत्य 'अव्ययात्त्यप्' इति वचनेन त्यपि 'अमात्यः' इति ।

य इति । यः = महामतिः शुकनासः, नरकासुरेत्यादिः — नरकासुरः (= एतन्नामा दैत्यः) तस्य शस्त्राणाम् (= आयुधानाम्) यः प्रहारः (= अभिघातः) तेन भीषणे (= भयङ्करे, भयानके) भ्रमन्नित्यादिः—भ्रमन् (= परितश्चलन्,समुद्रमथनवेलायाम् इति शेषः) यो मन्दरः (= मन्दराचलः) तस्य यो नितम्बः (= कटकः, मध्यभागः) तस्य तेन वा, निर्दयम् (= निष्करुणम्) यो निष्पेषः (= निर्घर्षणम्) तेन कठिनम् (= कठोरम्) अंसपीठम् (= स्कन्धपीठम्, पीठवद्विपुलमंसद्वयम्) यस्य स तस्मिन् तथोक्ते, नारायणवक्षःस्थले = नारायणस्य (= विष्णोः) वक्षःस्थलम् (= उरःस्थलम्) तस्मिन्, स्थिताम् = विराजिताम्, अपि, लक्ष्मीम् = श्रियम्, राजलक्ष्मीमिति भावः, प्रज्ञाबलेन = स्व-प्रतिभासामर्थ्येन, अदुष्करलाभाम् = सुकरलभ्याम्, अल्पप्रयासप्राप्याम्, अमन्यत = बोधितवान् । यां लक्ष्मीं नरकासुरः शस्त्रप्रहारेणापि न प्राप, या च मन्दराचलनिष्पेषेऽपि न वियुक्ताभवत्, तादृशीमपि राजलक्ष्मीं शुकनासः सारल्येन प्राप्यां ज्ञातवान्, प्राप्तवांश्च । श्रीकृष्णो भूमिसमुत्पन्नं नरकासुरं जघानेति पौराणिकी कथा ।

यश्चेति । यम् = शुकनासाख्यममात्यम्, आसाद्य = प्राप्य, दर्शितानेकराज्यफला—दर्शितानि

कल्याणों का एकसार = एकमात्र रहस्य था जैसे बृहस्पति इन्द्र का, शुक्र (कवि) वृषपर्वा का, वसिष्ठ दशरथ का, विश्वामित्र राम का, धौम्य अजातशत्रु (युधिष्ठिर का, दमनक नल का [मन्त्री था उसी प्रकार] सभी कार्यों में बुद्धि लगाने वाला [शुकनास नाम वाला ब्राह्मण उसका मन्त्री] था ।

जिस (शुकनास) ने विष्णुभगवान् के—नरकासुर के शस्त्रों के प्रहार (लगने से उत्पन्न घावों) से भयानक (तथा) घूमते हुए मन्दराचल के मध्यभागों (नितम्बों) से निर्ममता से टकराने के कारण कठोर हुए कन्धों से युक्त वक्षस्थल पर विराजमान भी लक्ष्मी (राजलक्ष्मी) को अपनी प्रज्ञा के बल से कठिनता से प्राप्त होने वाली नहीं समझा अर्थात् उस लक्ष्मी को भी अपनी प्रतिभा द्वारा सरलता से प्राप्त करने योग्य माना था ।

और जिस शुकनास को प्राप्त कर (उससे सम्बद्ध होकर) अनेक राज्यों (की प्राप्ति) रूपी फलों वाली और अनेक शाखा-प्रशाखाओं वाली होने से गहन (गंभीर) प्रज्ञा ने उसी प्रकार विस्तार

---

१. अप्रतिहतमतिः । २. '''शस्त्रभीषणे''' । ३. क्वचित्तु'''नितम्ब इदं न पठ्यते । ४. पादपम् ।

मुपययौ[1] प्रज्ञा ।

यस्य चानेकचारपुरुष-सहस्र-सञ्चार-निचिते[2] चतुरुदधि-वलयपरिखा-प्रमाणे[3] धरणीतले[4] भवन इवाविदितमहरहः समुच्छ्वसितमपि राज्ञां नासीत् ।[5]

(=प्रकटितानि) अनेकानि (=असंख्यानि) राज्यानि (=राष्ट्राणि, शासनानि) एव फलानि (=सस्यानि) यया सा । अनेकप्रतानगहना—अनेकैः (=विविधैः) प्रतानैः (=विषय-विस्तारैः) गहना (=निविडा) प्रज्ञा=प्रतिभा, साम्यं दर्शयति - महापादपम् = विशालवृक्षम्, सम्प्राप्य = सम्मिलय, दर्शितानेकेत्यादिः—दर्शितानि अनेकराज्यानि=बहुराष्ट्राणि, इव, फलानि, यया सा तादृशी, तथा अनेकेत्यादिः—अनेकैः=बहुभिः, प्रतानैः पल्लवादिविस्तारैः, गहना=निबिडा, लता=वल्ली, इव, विस्तारम्=वाहुल्यम्, ययौ= उपगता । यथा कस्यचन वृक्षस्य सम्बन्धेन लता विस्तृता भवति तथैव शुकनासस्य सम्बन्धेन प्रज्ञापि विपुलतामुपगतेति सादृश्यादुपमा, आरोपाद्रूपकञ्चेति एकाश्रयानुप्रवेशादत्र सङ्करः ।

तस्य सावधानतामपेक्षितविषयज्ञतां च प्रतिपादयति—यस्य चेति । यस्य=शुकनासस्य, च, अनेकेत्यादिः—अनेके (=बहवः) ये चारपुरुषाः (=गुप्तचरजनाः) तेषां सहस्रम् (=दशशती, तत्परिमिता संख्या) तस्य सञ्चारः (=सम्यक्परिभ्रमणम्) तेन निचिते (=व्याप्ते); चतुरुदधीत्यादिः—चत्वारि (= चतुःसंख्याकानि) उदधिवलयानि (= मण्डलाकारसमुद्राः) एव परिखा (=दुर्गाणि) ताभिः प्रमाणम् (=परिमाणम्) यस्य तस्मिन्, समस्ते इति भावः । यद्वा—चतुर्णाम् उदधीनां वलयम्=कङ्कणम्, इव, परिधिः=विस्तारः, प्रमाणम्=परिमाणम्, यस्य तस्मिन्—इत्युभयविधः पाठो दृश्यते । धरणीतले=पृथ्वीतले, भवने इव=निजगृहे इव, राज्ञाम्=अन्येषां नृपाणाम्, समुच्छ्वसितम्=निःश्वसितम् अपि, अहरहः=प्रतिदिनम्, अविदितम्=अज्ञातम्, न=नैव, आसीत् । गुप्तचरमाध्यमेन स शुकनासः सर्वेषां नृपाणामखिलं सामान्यं विशेषं वा वृत्तं ज्ञातुं प्रभवति स्म । अत्र धरणीतलभवनयोः सादृश्यादुपमा ।

प्राप्त किया जिस प्रकार लती किसी वृक्ष को प्राप्त कर अनेक फलों को उत्पन्न करती है और अनेक तन्तुओं को फैलाकर घनी होती हुई और विस्तृत=लम्बी हो जाती है । [यहाँ प्रज्ञा को लता के समान और शुकनास को वृक्ष के समान कहा गया है ।]

और कई हजार गुप्तचरों के इधर उधर घूमने फिरने से युक्त तथा चारों समुद्रों के मण्डल के समान परिमाण वाले पृथ्वीतल पर प्रतिदिन राजाओं का समुच्छ्वास (छोड़ा जाने वाला श्वास) तक जिसको अविदित नहीं रहता था, मानों कि वह घर में ही हो रहा हो । [जैसे अपने घर की छोटी से छोटी घटना ज्ञात हो जाती है वैसे ही उसे विशाल पृथ्वीतल पर किसी भी राजा का उच्छ्वास लेना तक ज्ञात हो जाया करता था । अतः कोई कभी विरुद्ध षड्यन्त्र करने की नहीं सोचता था ।]

---

१. उपाययौ । २. यस्यानेक । ३. ···परिचिते, विचिते ।

४. परिधिप्रमाणे, परिक्षेपप्रमाणे । ५. धरणितले ।

तारापीडविलासवर्णनम्

स राजा बाल एव सुर-कुञ्जर-कर-पीवरेण, राज्यलक्ष्मी-लीलोपधानेन, सकल-जगदभय-[1]दान-यज्ञ-दीक्षायूपेन, स्फुरदसिलतामरीचि-जाल-जटिलेन, निखिलाराति-कुलप्रलयधूमकेतु-[2]दण्डेन बाहुना विजित्य सप्तद्वीपवलयां[3] वसुन्धरां तस्मिन् शुकनासनाम्नि मन्त्रिणि सुहृदीव राज्यभारमारोप्य सुस्थिताः प्रजाः कृत्वा कर्त्तव्यशेषमपरमपश्यत् ।

शुकनासस्य वैशिष्ट्यं राजकार्ये तस्य सहयोगं च समुपवर्ण्य साम्प्रतं राज्ञस्तारापीडस्य विविधा दशा वर्णयितुं प्रारभते—स राजेति । सः=पूर्ववर्णितः तारापीडाख्यः, राजा=नृपः, बालः = बालकः, अनधिगतयौवनः, एव, सुर-कुञ्जरेत्यादिः—सुरकुञ्जरः (=देवहस्तो ऐरावतः) तस्य करः (= शुण्डादण्डः) इव पीवरेण (= परिपुष्टेन), [अत्र तृतीयान्तानि पदानि 'बाहुना' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] राज्यलक्ष्मीति–राजलक्ष्म्याः (=राजश्रियः) लीलायाः (=विलासस्य) उपधानेन (=उपबर्हेण, तत्स्वरूपेणेति भावः), सकलेत्यादिः—सकलम् (=समस्तम्) यज् जगद् (=लोकः) तस्य तस्मै वा यद् अभयप्रदानम् (=अभीतिप्रयच्छनम्) एव यज्ञदीक्षा (=क्रतुव्रतम्) तस्य तत्र वा यूपेन (=यज्ञस्तम्भेन), स्फुरदित्यादिः—स्फुरन्ती (देदीप्यमाना) या असिलता (=असिः=खड्गमेव लता, खड्गवल्ली) तस्या यत् मरीचिजालम् (=रश्मिसमूहः) तेन जटिलेन (=व्याप्तेन), निखिलेत्यादिः निखिलाः (=समस्ताः) ये अरातयः (=शत्रवः) तेषां यानि कुलानि (= वंशाः,समूहाः) तस्य यः प्रलयः (=विनाशः) तस्मिन् यो धूमकेतुः (=उत्पातसूचको ग्रहविशेषः) तस्य दण्डः (=पुच्छम्) तेन एवंविधेन, बाहुना = करेण, सप्तद्वीपवलयाम् =सप्त (=सप्तसंख्याकाः) द्वीपाः (= अन्तरीपा), एव वलयानि (=कङ्कणानि) यस्याः सा ताम्, वसुन्धराम्=पृथिवीं, रत्नगर्भाम्, विजित्य=स्वाधीनीकृत्य, तस्मिन् = पूर्ववर्णिते, शुकनासनाम्नि=शुकनासाख्ये, मन्त्रिणि=प्रधानामात्ये, सुहृदि इव=सन्मित्रे इव, राज्यभारम्=राष्ट्रभरम्, आरोप्य = निधाय, प्रजाः = प्रकृतीः, सुस्थिताः=सुखेन विराजमानाः, कृत्वा=विधाय, अपरम्=अन्यम्, कर्त्तव्यशेषम्=अवशिष्टं कार्यजातम्, इतः परं किं करणीयमिति, अपश्यत् = अवालोकयत्, व्यचारयदिति भावः । 'सुरकुञ्जरपीवरेण' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'राजलक्ष्मी' रित्यादौ, 'सकलजगदि' त्यादौ च रूपकम्, सप्तदीपेत्यादावपि रूपकमेव, 'सुहृदीवे' त्यत्रोपमा । सप्तद्वीपाश्चेमे प्रसिद्धाः—(१) जम्बू, (२) प्लक्ष, (३) शाल्मलि, (४) कुश, (५), क्रौञ्च, (६) शाक, (७) पुष्करा — इति ।

उस राजा तारापीड ने बालक रहते ही देवताओं के हाथी ऐरावत की सूंड़ के समान परिपुष्ट, राज्यलक्ष्मी के लीला-उपधान (विलास की तकिया के समान), समस्त जगत् को अभयदानरूपी यज्ञविधान की दीक्षा के स्तम्भ रूपी, चमकती हुई तलवार रूपी लता की किरणों के समूह से युक्त, [और] सम्पूर्ण शत्रु-समूह के लिए विनाश के सूचक राहु की पूंछ रूपी भुजा से अर्थात् भुजबल से सात द्वीपों के मण्डल वाली पृथ्वी को जीत कर (विश्वस्त) मित्र के समान उस शुकनास मन्त्री पर राज्य का भार छोड़कर (सौंप कर) प्रजाजनों को सुखी बना कर अन्य शेष कर्त्तव्य (अब क्या करना बचा है—इसे) देखा, सोंचने लगा ।

---

१. सकलजगदभयप्रदानशौण्डेन, रणयज्ञदीक्षायूपेन ।

२. ···केतुना बाहुदण्डेन । ३. सकलद्वीपवलयां ।

प्रशमिताशेषविपक्षतया[1] विगताशङ्कः[2] शिथिलीकृत-वसुन्धराव्यापारः[3] प्रायो[4] यौवन-मुखान्यनुबभूव[5]।

तथाहि--कदाचिदुल्लसत्कठोर-कपोल-पुलक-जर्जरित-कर्णपल्लवानां प्रणयिनीनां चन्दन-जलच्छटाभिरिव स्मित-सुधाच्छविभिरभिषिच्यमानः, कर्णोत्पलैरिव लोचनांशुभिरताड्यमानः, कुङ्कुमधूलिभिरिवाभरणप्रभाभिराकुलीक्रियमाण-लोचनः,[6] धवलांशुकैरिव[7] कर-नख-मयूख-[8]

साम्प्रतं तस्य यौवनसुखप्रकारं प्रतिपादयति—प्रशमितेति। प्रशमितेत्यादिः—प्रशमिताः (=शान्तिं प्रापिताः) अशेषाः (=समस्ताः) विपक्षाः (=शत्रवः) येन स तस्य भावस्तत्ता तया हेतुना, विगताशङ्कः—विगता (=विनष्टा) आशङ्का (=सन्देहः भयं च) यस्य स तादृशः, शिथिलीकृतेत्यादिः—शिथिलीकृतः (= श्लथीकृतः) वसुन्धरायाः (= पृथिव्याः) व्यापारः (=व्यापृतिः, पृथिवीशासनरूपकर्म) येन स तादृशः, सन्, प्रायः = बाहुल्येन, यौवनसुखानि = यौवनस्य (=तारुण्यस्य) सुखानि (=सम्भोगादिसुखानि) अनुबभूव = अनुभव-विषयीचकार।

यौवनसुखानि केन रूपेणानुबभूवेति विस्तरेण प्रतिपादयितुमाह—तथा हीति। कदाचित्=कस्मिंश्चित्काले, ['अनङ्गपरवशः सुरतमाततान' इति वक्ष्यमाणेनान्वयो बोध्यः।] उल्लसदित्यादिः-उल्लसन्तः (=उद्गच्छन्तः, विकसन्तः) कठोराः (= कठिनाः) कपोलेषु (= गण्डस्थलेषु) ये पुलकाः (=रोमाञ्चाः) तैः जर्जरितानि (=श्लथीकृतानि) कर्णपल्लवानि (=श्रवणसम्बद्धकिसलयानि) यासां तासां तादृशीनाम्, [कपोले रोमाभावादत्र पुलकशब्दः 'स्फुरणयुक्ते' लाक्षणिकः, कपोलेषु स्फुरणं जातमिति बोध्यम्।] प्रणयिनीनाम्=कामिनीनाम्, चन्दनजलच्छटाभिः—चन्दनजलस्य (=मलयज-जलस्य) छटाभिः (=विन्दुभिः) इव, स्मितसुधाच्छविभिः—स्मितम् (=ईषद्हास्यम्) एव सुधा (=पीयूषम्) तस्याः छविभिः (=कान्तिभिः), अभिषिच्यमानः=स्नप्यमानः, इव-शब्द उपमायाम्, 'स्मितसुधे'त्यत्र रूपकम्, अनयोः परस्पर-निरपेक्षतया स्थितत्वात् संसृष्टिः।

कर्णेति। कर्णोत्पलैः=श्रवणकुवलयैः, इव, लोचनांशुभिः=नयनकान्तिभिः, ताड्यमानः = प्रहारविषयीक्रियमाणः, तीक्ष्णकटाक्षपातादिति भावः।

कुङ्कुमेति। कुङ्कुमधूलिभिः = केसरचूर्णैः, इव, आभरणप्रभाभिः = आभूषणकान्तिभिः, आकुलीक्रियमाणलोचनः—आकुलीक्रियमाणे (= व्याहन्यमाने) लोचने (= नयने) यस्य स

[परन्तु] सभी शत्रुओं को शान्त कर दिये जाने के कारण शङ्कारहित होकर पृथ्वी के [राज्य के] भार को हल्का करते हुए अधिकतर यौवनसुखों का अनुभव करने लगा (जवानी के आनन्द उठाने लगा)।

उदाहरण के लिए--कभी गालों पर विकसित होते (खिलते) हुए कठोर पुलकों से जर्जरित (ढीले-ढाले) कर्ण-पल्लवों वाली प्रेमिकाओं की चन्दनमिश्रित जल की छटाओं (धाराओं) के समान मुस्कानरूपी अमृत की कान्तियों से नहलाये जाते हुए, [उनकी] आखों की निकलती हुई किरणों द्वारा मानों कानों के आभूषण भूत कमलों द्वारा पीटे जाते हुए, [उनके] गहनों की चमचमाहट द्वारा मानों कि कुङ्कुम के पाउडर द्वारा व्याकुल किये जाते हुए नेत्रों वाले होते हुए; हाथों के नाखूनों

१. तथा इत्यधिकं पठ्यते क्वचित्। २. विगलिताशङ्कः। ३. शिथिलीकृतपृथिवीव्यापारः। ४. प्रायशो। ५. यौवनसुखम्। ६. कुङ्कुमपटवासधूलिभिः, कुङ्कुमवासधूलिभिः। ७. लोललोचनः। ८. नखर···।

जालकैराहन्यमानः, चम्पक-कुसुम-दल-मालिकाभिरिव भुजलताभिरावध्यमानः, दष्टाधराधूत-[1] करतल-चलन्मणिवलय-कलकल-रमणीयम्,[2] अतिरभसदलित-दन्त-पत्रदल-दन्तुर-शयनम्,[3][4] उत्क्षिप्त-चरणतल-गलदलक्तकरक्तशेखरम्,[5] सरभस-कच-ग्रहचूर्णित-मणिकर्णपूरम्, उल्लसित-

ताडशः ।

धवलेति । धवलांशुकैः = शुभ्रवसनैः, इव, करनखेत्यादिः—करयोः (= हस्तयोः) ये नखाः (= पुनर्भवाः) तेषां मयूखाः (= किरणाः) तेषां जालकैः (= समूहैः) आहन्यमानः (= ताडयमानः, आघातविषयीक्रियमाणः) ।

चम्पकेति । चम्पकेत्यादिः—चम्पककुसुमानाम् (= हेमपुष्पक-सुमनसाम्) यानि दलानि (= खण्डानि) तेषां मालिकाभिः (= पङ्क्तिभिः) इव, भुजलताभिः = बाहुवल्लीभिः, आवध्यमानः = नियम्यमानः ।

साम्प्रतं सुरतस्य विशेषणानि वर्णयति—दष्टाधरेति । दष्टेत्यादिः—दष्टः (= खण्डितः, प्रकर्षेण चुम्बितः) य अधरः (= रदनच्छदः) तेन आधूतम् (= कम्पितम्, निषेधनायेति शेषः) यत् करतलम् (= हस्ततलम्) तस्मात् चलन्ति (= स्फुरन्ति, चपलीभवन्ति) यानि मणिवलयानि (= रत्नकङ्कणानि) तेषां यः कलकलः (= अव्यक्तो ध्वनिः) तेन रमणीयम् (= मनोहरम्) । ['सुरतम्' इति वक्ष्यमाणस्येमानि विशेषणानि ।] अतएव, अतिरभसेत्यादिः—अतिरभसम् (= अतिवेगम्) अतिरभसेन (= अतिवेगेन) वा, दलितानि (= द्वैधीकृतानि, मर्दितानि) यानि दन्तपत्राणि (= हस्तिदन्तनिर्मितकर्णभूषणानि) तेषां दलैः (= पत्रैः) दन्तुरम् (= विषमम्) शयनम् (= शय्या) यस्मिन् तत् । उत्क्षिप्तेत्यादिः—उत्क्षिप्ते (= ऊर्ध्वीकृते, भूपतेः मस्तकपर्यन्तमिति शेषः) ये चरणतले (= पादतले, कामिनीनां विपरीतरतौ इति भावः) ताभ्याम्, गलन् (= स्रवन्) यः अलक्तकरागः (= यावकरसः) तेन रक्तः (= रञ्जितः, रक्तवर्णीकृतः) शेखरः (= शिरोऽवतंसः, भूपतेः इति शेषः) यस्मिन् तत् । सरभसेत्यादिः—सरभसम् (= सवेगं यथा स्यात् तथा) यः कचग्रहः (= केशग्रहः, केशाकर्षणम्) तेन चूर्णितम् (= मर्दितम्) मणिकर्णपूरम् (= रत्नजटितश्रवणाभूषणम्) यस्मिन् तत् । उल्लसितेत्यादिः—उल्लसितौ (= स्फुरितौ, भूपतेः

की किरणों के समूह से मानों कि सफेद वस्त्रों से आहत किये जाते हुए; [उनकी] भुजारूपी लताओं के द्वारा मानों कि चम्पा के फूलों के दलों की मालाओं द्वारा बांधे जाते हुए कामाधीन राजा ने सुरत (कामक्रीडा) का विस्तार किया जो (सुरत) उसे डंसे (काटे) गये अधरोष्ठ के कारण अर्थात् उसे रोकने के लिए हिलाये गये हाथ से हिलते हुए मणिमय कंगनों की कलकलध्वनि से रमणीय था, जिसमें अत्यन्त वेग के कारण दलित (मसले गये, तोड़े गये) कर्णाभूषणों के पत्रों से शय्या विषम (ऊँची-नीची) हो गई थी, जिसमें [कामिनियों के] ऊपर उठाये गए चरणतलों से गिरते (चूते) हुए आलता (महावर) से [राजा का] शिर लाल-लाल रंग दिया गया था, जिसमें वेगपूर्वक केशग्रहण के कारण मणिजटित कर्णपूर चकनाचूर हो गये थे, जिसमें ऊपर उठे (उभरे) हुए स्तनों के [ऊपर लगाए गये] काले अगुरु के कीचड़=घोल की पत्रलताओं (काले अगुरु के गीले लेप से बनी

१. दष्टाधरधूत···, दष्टाधरकरतल । २. कलरव··· ।
३. रतिरभस । ४. दन्तुरित । ५. ···चरणगल··· ।

कुच-कृष्णागुरुपङ्क-पत्र-लताङ्कित-प्रच्छदपटम्, [1] अच्छश्रमजल-कणिका-लुलित-गो[2]रोचन-तिलक-पत्र-भङ्गम्, अनङ्ग-परवशः सुरतमाततान।

कदाचिन्मकरकेतु-कनक-नाराच-परम्पराभिरिव कामिनी-करपुट-विनिर्गताभिः[3] कुङ्कुमजल-धाराभिः पिञ्जरीक्रियमाणकायो लाक्षाजलच्छटा-प्रहारपाटलीकृतदुकूलो मृगमदजल-बिन्दु-शबल-चन्दन-स्थासकः कनकशृङ्गकोशैश्चिरं चिक्रीड।

स्पर्शेनेति शेषः) यौ कुचौ (=स्तनौ) तयोः कृष्णागुरोः (=कालागुरोः, काकतुण्डस्य) यः पङ्कः (=कर्दमः) तस्य तद्युक्ता वा या पत्रलताः (=पत्ररचना, तदाकार-चिह्नविशेषः) ताभिः अङ्कितः (=चिह्नितः) प्रच्छदपटः (= शयनीयास्तरणवस्त्रम्) यस्मिन् तत्। अच्छश्रमेत्यादिः—अच्छम् (=निर्मलम्) यत् श्रमजलम् (=रतिवलान्तिस्वेदजलम्) तस्य कणिकाः (=बिन्दवः) ताभिः लुलिताः (=अपगताः, लुप्तप्रायाः) गोरोचनायाः (= गोशिरःस्थशुष्कपित्तस्य, कुङ्कुमस्य वा) तिलकाः (=विशेषकाः) पत्रभङ्गाः (=पत्राकारचिह्नविशेषाः) च यस्मिन्,यद्वा तिलकपत्राणां भङ्गः यस्मिन् तत्, तादृशं, सुरतम् =निधुवनम्, कामपरवशः=कामासक्तः सन्, अततान =विस्तारयामासेत्या-द्यन्वयस्तूक्त एव।

कदाचिदिति। कदाचित् =कस्मिंश्चित् समये, मकरेत्यादिः—मकरकेतोः (=कामदेवस्य) ये कनकनाराचाः (= स्वर्णमयबाणाः) तेषां परम्पराभिः (=श्रेणीभिः), इव, कामिनीत्यादिः—कामिनीनाम् (=रमणीनाम्) ये करपुटाः (=हस्तसम्पुटाः) तेभ्यः विनिर्गताभिः (=निःसृताभिः), कुङ्कुमजलधाराभिः—कुङ्कुमस्य (= गोरोचनायाः) जलधाराः (=वारिधाराः) ताभिः, पिञ्जरी-क्रियमाणकायः—पिञ्जरीक्रियमाणः (=पीतवर्णीक्रियमाणः) कायः (=शरीरम्) यस्य स तादृशः, लाक्षेत्यादिः—लाक्षाजलम् (=अलक्तकसलिलम्) तस्य याः छटाः (=धाराः) तासां प्रहारेण (=अभिघातेन) पाटलीकृतम् (=श्वेतरक्तीकृतम्) दुकूलम् (= क्षौमवस्त्रम्) यस्य स तादृशः, मृगमदेत्यादिः—मृगमदः (=कस्तूरिका) तस्य जलम्(= तन्मिश्रं जलम् = वारि) तस्य ये बिन्दवः (=पृषतः) तैः शबलाः (=कर्बुरा) चन्दनस्थासकाः (= मलयजहस्तकाः) यस्य स तादृशः, सन् कनकशृङ्गकोषैः=सुवर्णमयसलिलयन्त्रविशेषैः, चिरम् =दीर्घकालम्, चिक्रीड =विलासक्रीडां कृतवान्। 'कनकनाराचपरम्पराभिरिव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा। "शृङ्गं प्रभुत्वे शिखरे चिह्ने क्रीडाम्बुयन्त्रकेः।'इति मेदिनी।

पत्राकृतियों) से प्रच्छदपट (ऊपर बिछाया जाने वाला चादर) अंकित (धब्बों वाला) हो गया था, [और] जिसमें [रतिक्रीडासम्बन्धी] श्रमजल (पसीने) की स्वच्छ बूंदों द्वारा गोराचना के तिलक और पत्रभंग मिट (घुल कर नष्ट हो) गये थे [ऐसे सुरत=कामक्रीडा का विस्तार किया था।]

कभी कामिनियों के करपुटों (अंजलि) से निकलने वाली कुकुममिश्रित जल-धाराओं से, जो कि मानों मकरकेतु (= मकरध्वज, कामदेव) के स्वर्णमय वाणों की परम्परा = समूह से पीले किये जाते हुए शरीर वाला, लाक्षाजल (महावर के जल) की छटाओं (समूह) के प्रहार से गुलाबी किये जाते हुए रेशमी वस्त्रों वाला, मृगमद = कस्तूरी-मिश्रित जल की बूंदों से चितकबरे होते हुए चन्दन के स्थासक (चन्दन के हाथ के लेपचिह्नों) वाला होता हुआ सोने की बनी हुई सींग सदृश पिचकारियों से बहुत देर तक खेला करता था।

---

१. अश्रमजल। २. गोरोचना····, रोचना। ३. विनिर्गताभिरिव।

कदाचित् कुच-चन्दन-चूर्ण-धवलितोर्म्मिमालम्,[1] चटुल-तुलाकोटि-वाचाल-चरणालक्तक-सिक्त-हंस-मिथुनम्, अलकनिपतित-कुसुम-शारम्,[2] प्लवमान-कर्णपूर-कुवलयदलम्,[3] उन्नत-नितम्ब-क्षोभ-[4]जर्जरित-तरङ्गम् उद्दलित-नाल-पर्य्यस्त-नलिननिपतितधूलि-पटलम्, अनवरत-करास्फालन[5]स्फुरत्[6]-फनबिन्दु-चन्द्रकितम्, सावरोधजनो जलक्रीडया गृहदीर्घिकाणामम्भश्चकार।

कदाचिदिति। कदाचित् = कस्मिंश्चित् काले, सावरोधजनः—अवरोधजनैः (=अन्तःपुररमणीलोकैः) सहितः सन्, [बहुव्रीहौसमासे 'सह' शब्दस्य 'स' इत्यादेशः] जलक्रीडया = सलिलविहारेण, गृहदीर्घिकाणाम् = भवनस्थितवापीनाम्, अम्भः = जलम्, एतादृशं चकार = कृतवान्, [इदमुद्देश्यवाचकं पदम्, वक्ष्यमाणानि विधेयवाचकतया विशेषणानीति बोध्यम्।] कीदृशमित्यत आह—कुचेति। कुचचन्दनेत्यादिः कुचानाम् (= स्तनानाम्) यानि चन्दनचूर्णानि (= मलयजक्षोदाः) तैः धवलिता (=धवलीकृता) ऊर्मिमाला (= तरङ्गपङ्क्तिः) यस्य तत्। चटुलेत्यादिः—चटुलाः (=चञ्चलाः मनोहराः वा) ये तुलाकोटयः (=नूपुराणि) तैर्वाचालाः (=मुखराः) ये चरणाः (= पादाः) तेषां य अलक्तकरसः (=यावकद्रवः) तेन सिक्तम् (= सिञ्चितम्) हंसमिथुनम् (=मरालयुग्मम्) यस्मिन् तत् तादृशम्। अलकेत्यादिः—अलकेभ्यः (=केशेभ्यः) निपतितानि (=स्रस्तानि) यानि कुसुमानि (=पुष्पाणि) तैः शारम् (=चित्रम्, विविधरूपम्)। अलकनिपतितकुसुमसारमिति पाठे तु—अलकेभ्यः निपतितं कुसुमसारम् (=पुष्परहस्यम्) यस्मिन् तत्तादृशम्। प्लवमानेत्यादिः—प्लवमानानि (= निमज्जमानानि, सलिलोपरि सन्तरन्ति) कर्णपूराणाम् (=कामिनीश्रवणाभरणभूतानाम्) कुवलयानाम् (=कमलानाम्) दलानि (=पत्राणि) यस्मिन् तत् तादृशम्। उन्नतेत्यादिः—उन्नताः (=उच्चाः) ये नितम्बाः (स्त्रीकटयाः पश्चाद्भागाः) तैः यः क्षोभः (= सञ्चलनम्, आस्फालनम्) तेन जर्जरिताः (= चूर्णिताः, भञ्जिताः) तरङ्गाः (= कल्लोलाः) यस्मिन् तत् तादृशम्। उद्दलितेत्यादिः—उद्दलितानि (=मर्दितानि) यानि नालानि (= बिसानि) येषां तानि तादृशानि अतः पर्यस्तानि (=जलोपरि पतितानि) यानि नलिनानि (=कमलानि) तेभ्यो निपतितम् (=अवस्रस्तम्) धूलिपटलम् (=परागसमूहः) यस्मिन् तत् तादृशम्। अनवरतेत्यादिः अनवरतम् (= निरन्तरम्) यत् करास्फालनम् (= हस्तसञ्चालनम्, जलसेचनायेति शेषः) तेन स्फुरन्तः (= देदीप्यमानाः) ये फेनबिन्दवः (=डिण्डीरपृषताः) तैः चन्द्रकितम् (=मेचकितम्) [सञ्जाताः चन्द्रकाः = चन्द्राकारसदृशाः सलिलस्फोटाः यस्मिन् तत्] 'गृहदीर्घिकाणाम् अम्भः जलक्रीडया चकार' इत्याद्यन्वयस्तु प्रागेवोक्तः। ["... ...अन्तःपुरं स्यादवरोधनम्। शुद्धान्तश्चावरोधश्च... ...।" अमरः २।२।१२। "पादाङ्गदं तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्।" अमरः २।६।१०९ "सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरं त्रिषु। अमरः ३।३।१७१। "शारो वायौ स तु त्रिषु। कर्बुरेऽथ...।"अमर ३।३।१६६। "...समौ चन्द्रकमेचकौ।" अमरः२।५।३१]

कभी अपने अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ जलक्रीडा द्वारा राजभवन में बनी बावड़ियों के जल को—स्तनचन्दन (स्तनों पर लगाए गए चन्दन) के चूर्ण [के मिल जाने] से सफेद की गई लहरों वाला, हिलते हुए तुलाकोटि (नूपुरों) के कारण शब्द करते हुए पैरों के आलता से सींचे (गीले किये) गये हंसों के जोड़े वाला, केशों से गिरे हुए फूलों के सारवाला या फूलों से चित्रविचित्र रंगवाला, ऊपर तैरते हुए कर्णभूषणभूत कमलदलों वाला, उठे हुए नितम्बों की टक्कर से छिन्न-भिन्न तरंगों वाला, तोड़े गए नाल वाले अतएव इधर उधर बिखरे हुए कमलों से गिरी हुई धूलि=पराग के समूह वाला, [तथा] हाथों के लगातार प्रहार से प्रकट होते हुए फेना की बूंदों से चन्द्रकित (बड़े बड़े बुलबुलों वाला)—कर दिया था।

१. धवलोर्मि...। २. ...सारम्, कुसुमनिकरक्षारम्। ३. कर्ण-कुवलय।
४. संक्षोभ। ५. करतलास्फालन। ६. विस्फुरत्।

कदाचित् सङ्केत-वञ्चिताभिः प्रणयिनीभिराबद्ध-भङ्गुरभ्रूकुटिभिरारणित-मणिपारि[1][2]-हार्य्य-मुखर-भुजलताभिर्बकुल-कुसुमावलीभिः[3] संयत-चरणो नख-किरण-विमिश्रैः कुसुमदामभिः कृतापराधो दिवसमताड्यत।

कदाचिद्बकुलतरुरिव कामिनी-गण्डूष[4]-सीधु-धारास्वाद[5]-मुदितो विकासमभजत।

कदाचिदिति। कदाचित् = कस्मिंश्चित् समये, कृतापराधः—कृतः (=विहितः) अपराधः (=आगः) येन स तादृशः, सङ्केतवञ्चिताभिः - सङ्केतः (=त्वया तत्र तदाऽगन्तव्यमित्याकारक-वचनरूपः) तस्मिन् वञ्चिताभिः (=प्रतारिताभिः, स्वतस्तदपालनादिति भावः), आबद्धेत्यादिः—आबद्धाः (=विनिर्मिताः) भङ्गुराः (=वक्राः) भ्रूकुटयः (=भ्रुवः) याभिस्ताभिः, आरणिते-त्यादिः—आरणिताः (=शब्दायमानाः) ये मणिपारिहार्याः (=रत्नकटकाः) तैः मुखराः (=ध्वनि-युक्ताः) भुजलताः (=बाहुवल्ल्यः) यासां ताभिः, तादृशीभिः प्रणयिनीभिः=प्रणयवतीभिः रमणीभिः, बकुलकुसुमावलीभिः=केशरपुष्पमालाभिः, संयतचरणः—संयतौ (=निगडितौ) पादौ (=चरणौ) यस्य सः तादृशः सन्, नखकिरणविमिश्रैः=नखानाम् (=पुनर्भवानाम्) ये किरणाः (=रश्मयः) तैः विमिश्रैः (=संयुक्तैः) कुसुमदामभिः =पुष्परचितरज्जुभिः, दिवसम्=सम्पूर्णदिनम् अताड्यत= प्राह्रियत। 'दिवसम्' इत्यत्र अत्यन्तसंयोगे 'कालाध्वनो'रिति सूत्रेण द्वितीया।

कदाचिदिति। कदाचित्=कस्मिंश्चिद्दिवसे, बकुलतरुः=केसरवृक्षः, इव, कामिनीत्यादिः—कामिनीनाम् (=रमणीनाम्) ये गण्डूषाः (=मुखाम्भःसृतजलानि) तेषां यत् सीधु (=मद्यम्) तस्य धारायाः (= पङ्क्त्याः) यः आ-स्वादः (= पानम्) तेन मुदितः (=हर्षितः) सन् विकासम्=प्रफुल्लताम्, अभजत्=प्राप्नोत्। यथा कामिनीगण्डूषजलसम्पर्कात् बकुलवृक्षो विकसितो भवति तथैवायं राजापि क्रीडायां कामिनीगण्डूषमदिरायाः संपर्केण मुदितो विस्फारितहृदयश्च भवति स्म। नन्वत्र कालभेदाद् भग्नप्रक्रमदोषतापत्तिरिति चेन्न, 'यथा कामिनीगण्डूषसीधुधारास्वादमुदितो बकुलवृक्षो विकासं भजते तथैव कदाचिदयं राजापि विकासमभजतेति भावः। राज्ञां इक्षुजन्यमदिरा-पानस्य न दोषापादकत्वमिति ध्येयम्। बकुलवृक्षः स्त्रीणां गण्डूषसेकाद्विकसतीति कविसमयः। उपमात्र बोध्या।

कभी [रति-सम्बन्धी] अपराध किया हुआ [वह राजा] संकेत (स्थानविशेष पर निश्चित समय पर मिलने का वायदा करने) में वंचित हुई (अतएव) टेढ़ी भौहें बाँधे (किये) हुई, ध्वनि करने (बजने) वाली मणियों के कंगनों से वाचाल (शब्द करने वाली) भुजा रूपी लताओं वाली प्रणयिनियों (प्रेमिकाओं) द्वारा मौलसिरी के फूलों की मालाओं से बाँधे गये चरणों वाला (राजा) नाखूनों की किरणों से मिश्रित फूलों की मालाओं से दिन भर पीटा जाता था।

कभी [सुन्दरियों के मुख से निकली हुई मदिरा की धारा के आस्वादन से विकसित = खिले हुए] मौलसिरी के वृक्ष के समान [वह राजा] कामनियों के मुखों से निकली हुई, ऊपर गिराई गई मदिरा की धारा के आस्वाद से प्रसन्न होता हुआ खिल जाता था, प्रफुल्लित हो जाता था। कभी

१. भृकुटीभिः, भ्रुकुटिभिः, भ्रूकुटीभिः। २. आरणितपारिहार्य। ३. बकुलकुसुमावलीसंयतः। ४. कामिनीनां गण्डूष। ५. आस्वादन।

कदाचिदशोक-पादप इव युवति-चरणतल-प्रहार-संक्रान्तालक्तको[1] रागमुवाह। कदाचिन्मुसलायुध इव चन्दन-धवलः[2] कण्ठावसक्तोल्लसल्लोल[3]-कुसुममालः पानमसेवत। कदाचिद्गन्धगज इव मदरक्त-कपोलदोलायमान-कर्णपल्लवो[4] मदकलः काननं विकच[5]-वनलता-कुसुमसुरभि-परि-

कदाचिदिति। कदाचित्, अशोकपादपः = कङ्केलिवृक्षः, इव, युवतीत्यादिः—युवतीनाम् (= तरुणीनाम्), चरणतलस्य (= पादतलस्य) यः प्रहारः (= अभिघातः) तेन सङ्क्रान्तः (=संलग्नः) अलक्तकः (=लाक्षारसः) यस्य स तादृशः, रागम् =लौहित्यम्, अनुरागं च, उवाह = अधारयत्। यथा युवतिपादाघातात् सङ्क्रमितलौहित्योऽशोकवृक्षो रक्तवर्णो भवति तथैव राजापि अनुरागयुक्तो लौहित्ययुक्तश्चाभवत्। अत्रापि पूर्ववदेव भग्नप्रक्रमतादोषो वारणीयः। अत्र कविसमयविषये साहित्यदर्पणकारः—"पादाघातादशोकं विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यैः।" इति।

कदाचिदिति। कदाचित्, मुसलायुधः—मुसलम् आयुधं यस्य सः तादृशः बलरामः, सः, इव, चन्दनधवलः=चन्दनेन (=मलयजेन) धवलः (=शुभ्रः) पक्षे—चन्दनमिव धवलः, कण्ठेत्यादिः— कण्ठे (=ग्रीवायाम्) अवसक्ता (=संसक्ता, लम्बमाना) उल्लसन्ती (=उद्दीप्यमाना) लोला (=चञ्चला) च कुसुममाला (=पुष्पमाल्यम्) यस्य सः तादृशः, सन्, पानम्=मद्यपानम्, असेवत=अकरोत्, अभजत्। यथा बलरामः मदिराप्रियः आसीत्तथैवायमपीति साम्यवर्णनादुपमालङ्कारः।

कदाचिदिति। कदाचित्, गन्धगजः=गन्धहस्ती, [गन्धप्रधानो गजः—इत्यत्र मध्यमपदलोपः] इव, मदेत्यादिः—मदेन (=मदजलेन) रक्तौ (=रक्तवर्णौ) यौ कपोलौ (=गण्डस्थलौ) तयोः दोलायमानौ (=सञ्चाल्यमानौ) कर्णौ (=श्रवणौ) पल्लवौ (=किसलये) इव यस्य स तादृशः, पक्षे—मदेन (=मद्यपानेन) रक्तौ यौ कपोलौ तयोः दोलायमानौ कर्णपल्लवौ (=कर्णयोः किसलये) यस्य सः, तादृशः सन्, मदकलः = मदेन मनोहरः, पक्षे—आनन्देन अव्यक्तध्वनियुक्तः, सन्, विकचेत्यादिः—विकचानि (= प्रफुल्लानि) यानि वनलतानाम् (= काननव्रततीनाम्) कुसुमानि (= पुष्पाणि), तैः सुरभिः (= घ्राणतर्पणः) परिमलः (= गन्धः) यस्मिन् तत् तादृशम्, काननम्=अरण्यम्, उपवनं च, जगाहे=विलोडयामास। यथा गन्धगजः काननं विलोडयति तथैवायमपि स्वोपवनमिति साम्यादुपमा। गन्धगजस्य चैतल्लक्षणम्—"यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः। तं गन्धहस्तिनं प्राहुर्नृपतेर्विजयावहम्।"

[युवती के चरणतल के प्रहार से लगे हुए आलता वाला, राग = लाल फूल धारण करने वाले] अशोक वृक्ष के समान युवती के चरणतल के प्रहार से लगे हुए आलता वाला [वह राजा] राग= अनुराग धारण करता था। कभी चन्दन के समान धवल शरीरवाले, गले में लटकती हुई चञ्चल फूलों की माला वाले मुसलायुध=बलराम के समान मदिरा-पान का सेवन किया करता था। कभी [मदजल से रक्त वर्ण वाले गण्डस्थलों पर हिलते हुए कानरूपी पल्लवों वाले, मद के कारण मनोहर] गन्धगज के समान [मद्यपान से होने वाले] मद = नशा से लाल-लाल कपोलों पर हिलते हुए कान में लगे पल्लवों वाला तथा मद के कारण ही कल = कुछ बोलने वाला [वह राजा] वनलता के

१. प्रालक्तकरसो। २. चन्दनधवलकण्ठ। ३. कण्ठावसक्तलोल, कण्ठावसक्तसमुल्लसल्लोल।
४. क्वचित्तु 'पल्लव' पदं नास्ति। ५. विकस्वर ···।

मलं जगाहे। कदाचित् क्वणित-मणिनूपु[1]रनिनादानन्दितमानसो हंस इव कमलवनेषु रेमे।

कदाचिन्मृगपतिरिव स्कन्धावलम्बि[2]-केसर-मालः क्रीडापर्वतेषु विचचार।

कदाचिन्मधुकर इव विजृम्भमाण-कुसुम-मुकुलदन्तुरेषु लतागृहेषु बभ्राम[3]। कदाचित् नील-पट-विरचितावगुण्ठनो[4] बहुलपक्ष-प्रदोष-दत्त-सङ्केताः सुन्दरीरभिससार। कदाचिच्च विघटितकनक-कपाटं प्रकट-वातायनेऽनवरत-दह्यमान-कृष्णागुरु-धूमरक्तैरिव पारावतैः

कदाचिदिति। कदाचित्, क्वणितेत्यादिः--क्वणितानि (=शब्दायमानानि) यानि मणिनूपुराणि (=रत्नजटितपादकटकानि) तेषां यो निनादः (=ध्वनिः) तेन आनन्दितम् (=प्रमुदितम्) मानसम् (=चित्तम्) यस्य सः, पक्षे—मणिनूपुराणामिव यो निनादः, तेन आनन्दितः मानसम् = मानसरोवरं येन सः, तादृशः, हंसः=मरालः, इव, कमलवनेषु=पङ्कजोपवनेषु, रेमे=अरमत। अत्राप्युपमा।

कदाचिदिति। कदाचित्, मृगपतिः = सिंहः इव, स्कन्धेत्यादिः—स्कन्धयोः (=अंसयोः) अवलम्बिनी (=अवलम्बनशीला, आश्रिता) केसरमाला (= वकुलपुष्पमाला, केसरविशिष्टा माला वा) यस्य सः तादृशः, पक्षे—केसरमाला (=सटापंक्तिः) यस्य सः, तादृशः, सन्, क्रीडापर्वतेषु = केलिशैलेषु, विचचार=व्यहार्षीत्, विचरणम् अकरोत्। अत्रोपमा।

कदाचिदिति। कदाचित्, मधुकरः = भ्रमरः, इव, विजृम्भमाणेत्यादिः ·· विजृम्भमाणानि (=विकसन्ति) यानि कुसुममुकुलानि (=पुष्पकोरकाणि) तैः, दन्तुरेषु (=विषमेषु) लतागृहेषु (=व्रततीमयभवनेषु), बभ्राम=अभ्राम्यत। अत्रोपमा।

कदाचिदिति। कदाचित्, नीलेत्यादिः—नीलपटेन (=श्यामवस्त्रेण) विरचितम् (= विहितम्) अवगुण्ठनम् (=मुखाद्यावरणम्) येन सः तादृशः, सन्, बहुलेत्यादिः– बहुलपक्षस्य (=कृष्णपक्षस्य) ये प्रदोषाः (=निशामुखानि) तेषु दत्तः (=विहितः) संकेतः (=गुप्तमिलनसूचना) याभिः, ताः तादृशीः, सुन्दरीः=कामिनीः, अभिससार=अभिसारमकरोत्।

खिले हुए फूलों की सुगन्ध से सुगन्धित वन में घूमा करता था, विचर किया करता था। कभी [बजने वाले मणिमय नूपुरों की ध्वनि के समान ध्वनि से मानसरोवर को आनन्दित करने वाले] हंस के समान [वह राजा] [सुन्दरियों के] बजते हुए मणिमय नूपुरों (पायजेबों) की ध्वनि से आनन्दयुक्त मन वाला होता हुआ कमलवनों में रमण किया करता था। कभी [गरदन पर लटकने वाले केसरसमूह वाले] सिंह के समान कन्धों पर लटकती हुई मौलसिरी के फूलों की माला से युक्त [वह राजा] क्रीडापर्वतों (खेल के लिए बनाये गये पहाड़ों) पर विचरण किया करता था।

कभी खिलते हुए फूलों की कलियों से दन्तुर = विषम (ऊँचे-नीचे) लतागृहों में भ्रमर के समान घूमा करता था। कभी नीले वस्त्र का अवगुण्ठन (घूंघट) बनाए हुए [वह राजा] बहुलपक्ष (कृष्णपक्ष) के प्रदोष काल में दिये गये संकेत वाली सुन्दरियों के साथ अभिसार (मिलन) किया करता था। और कभी सुवर्णमय किवाड़ों को खुला रख देने के कारण खुले झरोखे वाले, निरन्तर

---

१. क्वणन्मणि। २. स्कन्धावलम्बितकेसर।
३. इतोऽग्रे पठितोऽशः कुत्रचित् दृश्यते, नासौ प्राकरणिकस्तेन परित्यक्तः। ४. बहुलनिशाप्रदोष···।

अध्यासित-विटङ्केषु प्रासाद-कुक्षिषु कतिपयाप्त-सुहृत्परिवृतो वीणावेणुमुरजमनोहरमवरोध-सङ्गीतकं ददर्श। किं बहुना, यद्-यदतिरमणीयमविरुद्धमायत्यां तदात्वे च तत्तदनाक्षिप्तचेताः परिसमाप्तत्वादन्येषां पृथिवीव्यापाराणां सिषेवे, न त्वतिव्यसनितया[1]। प्रमुदितप्रजस्य हि[2] परिसमाप्त-सकल-महीप्रयोजनस्य[3] नरपतेर्विषयसम्भोगलीलाभूषणम्[4], इतरस्य तु विडम्बना।

कदाचिच्चेति : कदाचिच्च, विघटितेत्यादिः—विघटिते (=समुद्घाटिते, अपिहिते) कनक-कपाटे (=सुवर्णमयाररे) यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा, [इदं क्रियाविशेषणम्, "कपाटमररं तुल्यम् ।' इत्यमरः] प्रकटवातायनेषु—प्रकटानि (=उद्घाटितानि, दृश्यमानानि वा) वातायनानि (=गवाक्षाः) येषु तेषु, अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (= सततं यथा स्यात् तथा) दह्यमानः (=प्रज्वल्यमानः) यः कृष्णागुरुः (=कालाऽगुरुः) तस्य यो धूमः (=वह्निकेतनम्) तेन रक्तैः (=प्राप्तरागैः) इव, पारावतैः=कपोतैः, अध्यासितविटङ्केषु—अध्यासितानि (=समाश्रितानि) विटङ्कानि (=कपोतपालिकाः) येषु तेषु तादृशेषु प्रासादकुक्षिषु=राजसदनेषु कतिपयाः (=परिगणिताः कियन्तः) ये आप्ताः (=विश्वस्ताः) सुहृदः (=सखायः) तैः परिवृतः (=परिवेष्टितः) सन्, वीणावेणुमुरजमनोहरम्=वीणा (=वल्लकी) वेणुः (=वंशवाद्यम्) मुरजः (=मृदङ्गः) तैः मनोहरम् (=चित्ताकर्षकम्) अवरोधसङ्गीतकम्—अवरोधस्य (=अन्तःपुरस्य) सङ्गीतकम् (=गीत-वाद्यनृत्यत्रयात्मकम्) ददर्श = अपश्यत्, दृशिरत्र ज्ञानसामान्ये वर्तते, तेन नृत्यं ददर्श, गीतं वाद्यञ्च शुश्रावेति वोध्यम् । तेन न कोऽपि दोषः ।

किं बहुनेति । बहुना = अधिकेन कथनेन, किम् = किम् प्रयोजनम्, नाधिकं वक्तव्यमिति भावः । यद्यत्=अनिर्दिष्टनामकं यत्किमपि, रमणीयम्=अधिकमनोहरम्, आयत्याम् = उत्तरकाले, तदात्वे = तदानीं च, अविरुद्धम् = नीतिशास्त्राविरुद्धम्, तत्तत्, अनाक्षिप्तचेताः—अनाक्षिप्तम् (=अनाकुलम्) चेतः (=चित्तम्) यस्य स तादृशः सन्, अन्येषाम्=अपरेषाम्, पृथिवीव्यापाराणाम्=धरापरिपालनादिकृत्यानाम्, परिसमाप्तत्वात् = विश्वस्ते शुकनाससचिवे अवस्थिततया अवसितत्वात्, सिषेवे=सेवितवान्, तु=किन्तु, अतिव्यसनितया=अतिशयासक्ततया, न=नैव, सिषेव इति भावः । ["तत्कालस्तु तदात्वं स्यादुत्तरकाल, आयतिः । अमरः ३।८।२९ ।

प्रमुदितेति । प्रमुदितप्रजस्य—प्रमुदिताः (= आनन्दं प्रापिताः) प्रजाः (=राज्यलोकाः) येन स तस्य । परिसमाप्तेत्यादिः—परिसमाप्तम् (= परिपूर्णीकृतम्) सकलम् (= समस्तम्) महीप्रयोजनम् (=वसुधापरिपालनादिकृत्यम्) येन स तस्य, तादृशस्य नरपतेः=नृपस्य तारापीडस्य, विषयोपभोगलीला-भूषणम् विषयाः (= स्रक्चन्दनविलेपनादयः) उपभोगाः (= उपभुज्यमानाः)

जलाए जाते हुए काले अगुरु के धुएँ से ही मानों रँगे गए कबूतरों से अधिष्ठित विटङ्क = छज्जों वाले महलों के बीचवाले कमरों में कुछ विश्वासपात्र मित्रों से घिरा हुआ (युक्त) [वह राजा] वीणा, वेणु (वंशी), मुरज (मृदंग) [के बजने] से मनोहर अन्तःपुर के संगीत को देखा करता था, सुना करता था। अधिक क्या कहा जाय, जो अतिरमणीय और उस समय तथा भविष्य में [शास्त्रादि-] विरुद्ध नहीं था उस-उस का अनासक्त चित्तवाला होते हुए ही, अन्य पृथिवीव्यापारों (शासनव्यवस्था) के पूर्ण हो जाने के कारण, भोग किया न कि अत्यन्त व्यसनी होने के कारण।

१. व्यसनितया। २. 'हि' इदं क्वचित् नास्ति।
३. '''महीमण्डल'''। ४. क्वचित्तु विषयोभोगलीला०।

प्रजानुरागहेतोरन्तरान्तरा[1] दर्शनं ददौ, सिंहासनञ्च निमित्तेष्वारुरोह।

शुकनासगौरव-वर्णनम्

शुकनासोऽपि महान्तं तं राज्यभारमनायासेनैव[2] प्रज्ञाबलेन बभार। यथैव[3] राजा कार्य्याण्यकार्षीत्[4] तद्वदसावपि द्विगुणीकृत-प्रजानुरागो[5] राजकार्य्याणि चक्रे[6]। तमपि चलित-[7]

तेषां लीला (=क्रीडा) भूषणम् (=आभूषणम्)। तस्य विषयोपभोगाः सामान्यव्यापारा एवासन्, न तु विशेषाः, तु=परन्तु, इतरस्य=तद्भिन्नस्य, पुरुषस्य, विडम्बना=व्यवसनम्, आत्मवञ्चनम्, उपहासास्पदमिति भावः।

प्रजेति। प्रजेत्यादिः—प्रजायाः (= प्रकृतेः, लोकानामिति भावः) अनुरागः (=प्रणयः, स्नेहः) तस्य हेतोः (=कारणस्य), तदर्थमिति भावः। अन्तरा अन्तरा = मध्ये मध्ये, दर्शनम् = अवलोकनम्, राजभवनादिति शेषः, ददौ = दत्तवान्, लोकानां विश्वासोत्पादनार्थं तथावश्यकत्वेन तथाऽकरोत्, निमित्तेषु=पर्वादिविशेषकारणेषु, च, सिंहासनम्=नृपासनम्, आरुरोह=आरूढवान्। एतेन लोकानां प्रीतिर्विश्वासश्च तस्मिन् पूर्ववदेव आस्तामिति भावः।

शुकनासस्य स्थितिं वर्णयति— शुकनासोपीति। शुकनासः=शुकनासनामा प्रधानामात्यः, अपि, महान्तम् = गरिष्ठम्, तम्=पूर्वोक्तम्, राज्यभारम् = शासनधुरम्, अनायासेन = प्रयासमन्तरैव, सरलतयेत्यर्थः। प्रज्ञाबलेन =बुद्धिसामर्थ्येन, बभार =धारयामास।

यथेति। यथैव=येन प्रकारेण, राजा = भूपस्तारापीडः, कार्याणि = प्रजापरिपालनादि-कृत्यानि, अकार्षीत्=अकरोत्, तद्वत्=तेनैव प्रकारेण, असौ=शुकनासः, अपि, द्विगुणीकृतप्रजानुरागः—द्विगुणीकृतः (=अधिकीकृतः) प्रजायाः (=प्रकृतेः) अनुरागः (=स्नेहः) येन सः, तादृशः सन्, राजकार्याणि = नृपकृत्यानि, सुचारुशासनरूपाणि, चक्रे=कृतवान्।

तमपीति। तमपि=शुकनासमपि, चलितेत्यादिः—चलिताः (=कम्पिताः) ये चूडामणयः

प्रजा को प्रसन्न कर देने वाले (और) पृथ्वीसम्बन्धी सभी प्रयोजन समाप्त कर देने वाले उस राजा के लिए विषय-संभोग केवल लीलाभूषण थे अथवा विषयसंभोगलीला=क्रीडा भूषण ही थी, किन्तु दूसरे के लिए तो विडम्बना (उपहासास्पद) होती है। प्रजा के अनुराग के लिए बीच-बीच में दर्शन दिया करता था, और विशेष अवसरों पर सिंहासन पर बैठा करता था। [प्रजाजनों से मिलता था और राजदरबार में भी बैठता था।]

शुकनास के गौरव का वर्णन

शुकनास ने भी उस महान् राज्यभार को अनायास (बिना किसी कष्ट के) ही अपनी प्रज्ञा के बल से धारण कर लिया था। और जिस प्रकार राजा तारापीड कार्य करता था उसी प्रकार वह शुकनास भी प्रजाजनों के अनुराग को दुगुना करता हुआ राज्य के कार्य किया करता था।

---

१. हेतोश्चान्तरा। २. महान्तमपि तं राज्यभारम् महान्तं राज्यभारम्।
३. यथैव च। ४. सर्वकार्याणि।
५. द्विगुणीकृतः प्रजानुरागः। ६. चकार। ७. आवलित-चूडामणि…।

चूडामणि-मरीचि-मञ्जरीजालिभिर्मौलिभिरावर्जित-कुसुम-शेखर-च्युत-मधु-सीकर-सिक्तनृप-सभं[1] दूरावनतिप्रेङ्खोलित[2]-मणि-कुण्डल-कोटि-सङ्घट्टिताङ्गदं राजकमानन।म। तस्मिन्नपि चलिते[3] चलित-चटुल-तुरग[4]-बल-मुखर-खुर-रव-बधिरीकृतभुवनान्तराला:[5], बल-भर[6]-प्रचल-वसुधातल-दोलायमान-गिरय:, गलन्मदान्ध-गन्धगज-दान-धारान्धकारा:, संसर्पदतिबहल[7]धूलि-पटल[8]-

(= शिरोमणय:) तेषां मरीचिमञ्जर्य: (= किरणततय:) तासां जालिभि: (= समूहयुक्तै:), मौलिभि: = मस्तकै:, आवर्जितेत्यादि:—आवर्जिता: (= प्रणामकाले अवनता:) ये कुसुमशेखरा: (= पुष्पमयशिरोऽवतंसा:) तेभ्य: च्युता: (= स्रस्ता:) मधुसीकरा: (= पुष्परसबिन्दव:) तै: सिक्ता (= सिञ्चिता, आर्द्रीकृता) नृपसभा (= राजसभा) येन तत् तादृशम्। दूरेत्यादि:—दूराद् (= विप्रकृष्टदेशात्) या अवनति: (= प्रणति:) तया प्रेङ्खोलितानि (= सञ्चलितानि) यानि मणिकुण्डलानि (= रत्नमयकर्णभूषणानि) तेषां कोटिभि: (= अग्रभागै:) सङ्घट्टितानि (= संघृष्टानि) अङ्गदानि (= केयूराणि) यस्य तत् तादृशम्, राजकम् = राज्ञां समूह:, आननाम = नमश्चकार। राज्ञां समूह:—इत्यर्थे 'गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्य०' (पा. स. ४।२।३९) इत्यादि सूत्रेण वुञि प्रत्ययेऽकादेशे च राजकमिति रूपम्।

तस्मिन्निति। तस्मिन् = पूर्वोक्ते शुकनासनामकेऽमात्ये, अपि, चलिते = प्रस्थिते सति, चलितेत्यादि:—चलिता: (= प्रचलिता:) चटुला: (= चपला:) च ये तुरगा: (= अश्वा:) ते यस्मिन् तद् बलम् (= सैन्यम्) यद्वा तेषामश्वानां यद् बलम्, तस्य मुखरा: (= शब्दायमाना:) ये खुरा: (= शफानि) तेषां यो रव: (= ध्वनि:) तेन बधिरीकृतम् (= एडीकृतम्, तद्भिन्नशब्दश्रवणशक्तिरहितीकृतम्) भुवनानाम् (= लोकानाम्) अन्तरालम् (= मध्यभाग:) यासु ता: तादृश्य:। [इमानि प्रथमान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'दश दिश:' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्। तदेव च कर्तृत्वपरम्।] बलभरेत्यादि:—बलम् (= सैन्यम्) तस्य भर: (= भार:) तेन प्रचलम् (= प्रकम्पितम्) यद् वसुधातलम् (= पृथ्वीतलम्) तेन दोलायमाना: (= कम्पमाना:) गिरय: (= पर्वता:) यासु ता:, तादृश्य:। गलन्मदेत्यादि:—गलन्त्य: (= स्रवन्त्य:) मदान्धानाम् (= मदोन्मत्तानाम्) गन्धगजानाम् (= गन्धप्रचुरहस्तिनाम्) या: दानधारा: (= मदजलपङ्क्तय:) ताभि: अन्धकार: (= तम:) यासु ता: तादृश्य:, यद्वा दानधारा एव अन्धकारा: यासु ता: तादृश्य: [यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपा:। तं गन्धहस्तिनं प्राहुर्नृपतेर्विजयावहम्॥]

उस (शुकनास) को भी राजाओं का समूह प्रणाम किया करता था जिस (राजसमूह ने) [प्रणाम करते समय] हिलती हुई चूडामणियों की किरणों के समूहवाले मस्तकों द्वारा झुके हुए पुष्पमय आभूषणों से गिरते हुए पुष्परसबिन्दुओं से राजसभा को सींच दिया था, गीला बना दिया था, और दूर से [झुककर] प्रणाम करने से हिलते हुए मणियों वाले कुण्डलों के अग्रभाग से अंगद (बाजूबन्द) टकराया करते थे। और उस शुकनास के चलने पर भी दशों दिशायें—दौड़ते हुए चंचल घोड़ों की सेना के मुखर खुरों (टप टप आवाज करनेवाले खुरों) की ध्वनि से बहरे कर दिये गये लोकमण्डल वाली, सेना के भार से हिलते हुए पृथ्वीतल के कारण डगमगाते हुए पर्वतों वाली, बहते हुए

१. सिक्तनृपसभदूरावनतिं सिक्तसभं। २. प्रेङ्खित। ३. वलति। ४. तुरंग। ५. भुवना:। ६. क्वचित्तु 'भर' इदं नास्ति। ७. अतिबहुल। ८. धूलिप्रबलपटातिबल…,

धूसरितसिन्धवः, प्रचलत्-पदातिबल-कलकलरव-स्फोटित-कर्ण[1]-विवराः[2] सरभसोद्घुष्यमाण-जय-शब्द-निर्भराः[3], प्रोद्धूयमान-धवल-चामर-सहस्रसंच्छादिताः,पुञ्जित-नरेन्द्र-वृन्द-कनककदण्डातपत्र-संघट्ट[4]-नष्ट-दिवसाः दश दिशो बभूवुः।

राज्ञोऽनपत्यतादुःखवर्णनम्

एवं तस्य राज्ञो मन्त्रि-विनिवेशित[5]-राज्यभारस्य यौवन-सुखमनुभवतः कालो[6] जगाम।

संसर्पदित्यादिः—संसर्पत् (=ऊर्ध्वं गच्छत्) अतिबहलम् (=अत्यन्ताधिकम्) यद् धूलिपटलम् (= रजःसमूहः) तेन धूसरिताः (= धूसरवर्णीकृतः) सिन्धवः (= सागराः, नद्यः वा) यासु ताः तादृश्यः, 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' [३ ३।१०१] इत्यमरबलात् सिन्धुशब्दो नदीवाचकोऽपीति बोध्यम्। प्रचलदित्यादिः--प्रचलत् (= प्रस्थानं विदधत्) यत् पदातीनाम् (=पत्तीनाम्) बलम् (=सैन्यम्) तस्य कलकलः (=कोलाहलः) तल्लक्षणो यो रवः (=उच्चध्वनिः) तेन स्फोटितानि (=विदारितानि, भिन्नानि) कर्णविवराणि (=श्रवणरन्ध्राणि) यासु ताः तादृश्यः। ['पदातिपत्तिपदगपादातिकपदातयः।' अमरः २।८।६६] सरभसेत्यादिः—सरभसम् (= सवेगम्) उद्घुष्यमाणाः (= उच्चैरुच्चार्यमाणाः) ये जयशब्दाः (= जयजयेत्याकारक-पदानि) तैः निर्भराः (= संभृताः, परिपूर्णाः)। प्रोद्धूयमानेत्यादिः - प्रोद्धूयमानानि (= संवीज्यमानानि) धवलानि (= श्वेतानि) चामराणि (= प्रकीर्णकानि) तेषां सहस्रम् (= सहस्रसंख्या, दशशती) तेन, सञ्छादिताः (=परिवृताः)। पुञ्जितेत्यादिः—पुञ्जितम् (=पुञ्जीभूतम्, समुदितम्) यत् नरेन्द्राणाम् (= नृपालानाम्) वृन्दम् (= समूहः) तस्य कनकदण्डानि (= सुवर्णमयदण्डयुक्तानि) यानि आतपत्राणि (=छत्राणि) तेषां तैर्वा यः संघट्टः (=सम्मर्दः) तेन नष्टाः (=लुप्ताः, समाच्छादिताः) दिवसाः (=दिनानि, दिवसप्रकाशाः) यासु ताः तादृश्यः, दश=दशसंख्याकाः, दिशः=प्राच्यादिदिशाः, बभूवुः=अभूवन्। '[दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः।' अमरः १।३।१ ।]

साम्प्रतं राज्ञोऽनपत्यतादुःखं वर्णयितुमुपक्रमते—एवमिति। एवम्=पूर्वोक्तरूपेण,मन्त्रिविनिवेशितेत्यादिः—मन्त्रिणि (= शुकनासेऽमात्ये) विनिविशेतः (= संस्थापितः, विहितः) राज्यभारः (=राज्यधूः) येन स तस्य, अत एव, यौवनसुखम्=तारूण्यसौख्यम्, अनुभवतः=अनुभवविषयीकुर्वतः, तस्य=तारापीडस्य, कालः=समयः, जगाम=अगमत्। व्यतीतोऽभवदित्यर्थः।

मदजल से अन्धे गन्धगजों के मद की धारा से अन्धकार वाली, ऊपर उड़ते हुए अत्यधिक घनी धूलि के समूह से धूसरित (मलिन) नदियों वालों, चलती हुई पैदल सेना की कलकल ध्वनि से [प्राणियों के] कर्णछिद्रों को फोड़ देने वालीं, वेगपूर्वक उद्घोषित किये जाते हुए 'जय' शब्द से परिपूरित, [सेवकों द्वारा] डुलाए जाते हुए हजारों सफेद चामरों से आच्छादित (ढकी हुई), [तथा] एकत्रित राजाओं के समूह के सुवर्णदण्डवाले छत्रों के [परस्पर] टक्कर से नष्ट (लुप्त) हुए दिन [के प्रकाश] वाली—हो जाया करती थीं।

राजा की सन्तानहीनता के दुःख का वर्णन

इस प्रकार मन्त्री शुकनास पर राज्य का भार सौंप देनेवाले और [निश्चिन्त होकर] यौवन-सुख का अनुभव करनेवाले उस राजा तारापीड का समय बीता करता था। और बहुत समय तक

---

१. क्वचित्तु 'एव' इदं नास्ति। २. श्रवण···। ३. निरन्तराः।
४. संघट्टन। ५. ···निवेशित। ६. कश्चित् कालः।

भूयसा च कालेनान्येषामपि जीवलोकसुखानां प्रायः सर्वेषामन्तं ययौ, एकन्तु सुत-मुख-दर्शनसुखं[1] न लेभे। तथोपभुज्यमानमपि[2] निष्फलपुष्पदर्शनं शरवणमिवान्तः पुरमभवत्[3]। यथा यथा च यौवनमतिचक्राम, तथा तथा विफल[4]-मनोरथस्यानपत्यताजन्माऽवर्द्ध ताऽस्य[5] सन्तापः। विषयोपभोग-सुखेच्छाभिश्च मनो विजघ्ने[6]। नरपतिसहस्र-परिवृतमप्यसहायमिव, चक्षुष्मन्तमप्यन्ध-

भूयसेति। भूयसा=भूयिष्ठेन, कालेन=समयेन च, प्रायः=बाहुल्येन, अन्येषाम्=अपरेषाम्, सर्वेषाम्=सकलानाम्, अपि, जीवलोकसुखानाम्=मर्त्यलोकसौख्यानाम्, अन्तम्=पारम्, ययौ=जगाम, किमपि सुखमभुक्तं नासीदिति भावः। तु=परन्तु, एकम्=प्रमुखम्, केवलं वा, सुतमुखदर्शनसुखम्=सुतस्य (=आत्मजस्य) यन्मुखम् (=आननम्) तस्य यद् दर्शनम् (=अवलोकनम्) तद्रूपं तेन जनितं वा, सुखम् (=आनन्दम्), न=नैव, लेभे=प्राप। भूयसा कालेन--इत्यत्र 'अपवर्गे तृतीयेति' सूत्रेण तृतीया बोध्या। 'एके मुख्यान्यकेवलाः।' [३।३।१६] इत्यमरेणात्र 'एक' शब्दः प्रमुखे केवले चार्थे बोध्यः।

तथेति। तथा=तेन प्रकारेण, उपभुज्यमानम्=उपभोगविषयीक्रियमाणम्, अपि, अन्तःपुरम्=अवरोधः, तत्रस्थितमहिषीसमूह इति भावः, निष्फल-पुष्पदर्शनम्--निष्फलम् (=फलरहितम्) पुष्पदर्शनम् (=कुसुमावलोकनम्) यस्मात् यस्य वा तत् तादृशम्, शरवणम्=वाणसंज्ञकतृणसमूहः, इव, अभवत्=जातम्। अन्तःपुरपक्षे--निर्=नास्ति फलम्=पुत्रोत्पत्तिरूपं प्रयोजनं यस्य तत् तादृशं पुष्पदर्शनम्=रजोदर्शनम् यस्य तत्। एवञ्चोभयसाधारणं विशेषणमिदम्। शरवणे यथा केवलानि पुष्पाण्येव उत्पद्यन्ते तेभ्योऽन्नादिरूपं फलं न जायते तथैवान्तःपुरस्थमहिषीणां रजोदर्शनमेवाजायत, रमणेऽपि तत्फलरूपा सुतोत्पत्तिर्नाभूदिति भावः। उपमा।

यथा यथेति। यथा यथा=येन येन प्रकारेण, यौवनम्=तारुण्यम्, अतिचक्राम=अत्यक्राम्यत, व्यतीतमभवत्, तथा तथा=तेन तेन प्रकारेण, विफलमनोरथस्य--विफलः (=निष्फलः) मनोरथः (=पुत्रप्राप्तिरूपोऽभिलाषः) यस्य तस्य, अस्य=तारापीडस्य राज्ञः, अनपत्यताजन्मा=अनपत्यतायाः (=निःसन्तानतायाः), जन्म (=उत्पत्तिः) यस्य स तादृशः, सन्तापः=मानसी व्यथा, अवर्धत=वृद्धिं प्राप। विषयोपभोग-सुखेच्छाभिः--विषयाः (=स्रक्चन्दनादयः) तेषाम् य उपभोगः (=पुनः

जीवलोक के प्रायः समस्त सुखों के अन्त तक पहुँच गया, सभी सुखों का उपभोग कर लिया, केवल पुत्र के मुख-दर्शन का सुख ही नहीं प्राप्त कर सका। इस प्रकार से उपभोग किया जाता हुआ भी अन्तःपुर सरकण्डों के वन के समान निष्फल पुष्पदर्शन वाला हो गया [सरकण्डों का वन पुष्पदर्शन = फूलो के दिखाई देने पर भी निष्फल = फलरहित ही होता है, अन्तःपुर भी पुष्पदर्शन = रजोदर्शन वाला होता हुआ भी निष्फल=सन्तानरूप फल से रहित था, रानियों में किसी को गर्भधारण नहीं हो सका था]। और जैसे-जैसे युवावस्था बीतती गई वैसे वैसे विफल मनोरथ वाले उस राजा तारापीड का सन्तानहीन होने से उत्पन्न होनेवाला सन्ताप बढ़ता गया। सांसारिक विषयों के उपभोग

१. तनयमुख···, तोकमुख···।　२. संभुज्यमानमपि।　३. अभूत्।
४. निष्फल···।　५. महानवर्धताऽस्य।　६. विजह्रे, विजगाहे।

मिव, [1]भुवनालम्बनमपि [2]निरालम्बमिव [3]आत्मानम् अमन्यत ।

विलासवतीवर्णनम्

अथ [4]तस्य चन्द्रलेखेव हरजटा-कलापस्य, कौस्तुभ-प्रभेव [5]कैटभारि-वक्षःस्थलस्य, वनमालेव मुसलायुधस्य, वेलेव सागरस्य, मदलेखेव दिग्गजस्य, लतेव [6]पादपस्य, [7]पुष्पोद्गतिरिव सुरभिमासस्य, चन्द्रिकेव चन्द्रमसः, कमलिनीव सरसः, तारकापङ्क्तिरिव नभसः, हंसमालेव

पुनः सेवनम्) तेन यत् सुखम् (=आनन्दः) तस्य इच्छाभिः (=वाञ्छाभिः, अभिलाषैः), च, मनः=चित्तम्, विजघ्ने=विरक्तं बभूव । तस्य विषयोपभोगं प्रतीच्छा नष्टेति भावः ।

नरपतीति । नरपतीत्यादिः -- नरपतीनाम् (=भूपालानाम्) यत् सहस्रम् (=संहस्रसंख्या, दशशती) तेन, परिवृतम् (=परिवेष्टितम्), अपि, असहायम्=सहायकेन शून्यम्, अद्वितीयम्, इव, चक्षुष्मन्तम्=नेत्रयुतम्, अपि, अन्धम्=नेत्ररहितम्, भुवनावलम्बनम्=शासकत्वेन जगदाधारम्, अपि, निरालम्बम्=आलम्बहीनम्, इव, आत्मानम्=स्वम्, अमन्यत=अबुध्यत । सर्वविधसुखैश्वर्यादि—सत्त्वेऽपि सुताऽभावे स आत्मानं सर्वतो हीनमबुध्यत । अत्रोत्प्रेक्षाद्वयं दीपकश्चानयोः संसृष्टिरलङ्कारो बोध्यः ।

इदानीं महिष्याः विलासवत्याः वैशिष्ट्यं वर्णयति—अथेति । हरजटाकलापस्य=शिवजटासमूहस्य; चन्द्रलेखा=इन्दुरेखा, इव, ["तस्य विलासवती नाम महिषी भूषणम्-अभूत्" इति वक्ष्यमाणपदैः सम्बन्धो बोध्यः ।] कैटभेत्यादिः—कैटभारिः (=विष्णुः) तस्य वक्षःस्थलस्य (=उरःस्थलस्य) कौस्तुभप्रभा (=एतन्नामकमणिविशेषस्य दीप्तिः) इव । मुसलायुधस्य (= बलरामस्य) वनमाला (= आभरणविशेषः, यद्वा विशिष्टमाला) इव । [वनमालालक्षणन्तु --"मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला । आपाद-लम्बिनी माला वनमाला प्रकीर्तिता ॥] सागरस्य = समुद्रस्य, वेला=तटम् इव । दिग्गजस्य = दिङ्नागस्य, मदलेखा=मदजलरेखा, इव । पादपस्य= वृक्षस्य, लता=व्रततिः इव । सुरभिमासस्य = वसन्तमासस्य, पुष्पोद्गतिः=कुसुमोद्गमः, इव । चन्द्रमसः=चन्द्रस्य, चन्द्रिका=ज्योत्स्ना, इव । सरसः = कासारस्य, कमलिनी=नलिनी, इव । नभसः=गगनस्य, तारकापङ्क्तिः=नक्षत्रराशिः, इव । मानसस्य=मानसरोवरस्य, हंसमाला =

के सुख की इच्छा से मन विरक्त हो गया, उसकी विषयोपभोगसुख की इच्छा समाप्त हो गई। वह अपने को हजारों राजाओं से घिरा हुआ भी असहाय (अकेला) सा, चक्षुष्मान् (नेत्रों वाला) होते हुए भी अन्धा-सा, भुवन (लोक) का आश्रय होते हुए भी आश्रयहीन सा समझने लगा।

विलासवती का वर्णन

जैसे शिवजी के जटासमूह की (के लिये) चन्द्रमा की कला है, जैसे कैटभारि (विष्णु) के वक्षःस्थल की (के लिए) कौस्तुभमणि की प्रभा है, जैसे मुसलायुध बलराम की (के लिए) वनमाला है, जैसे समुद्र की (के लिए) वेला (तट) है, जैसे दिग्गज की (के लिए) मदलेखा है, जैसे वृक्ष की (के लिए) लता है, जैसे वसन्तमास की (के लिए) फूलों की उत्पत्ति है, जैसे चन्द्रमा

---

१. भुवनलम्बनम्, भुवनावलम्बनमपि । २. निरालम्बनमिव । ३. आत्मानमनपत्यम् ।
४. अस्य । ५. कैटभाराति···। ६. कल्पपादपस्य ।
७. कुसुमोत्पत्तिरिव । ८. तारकपङ्क्तिरिव, [illegible]पङ्क्तिरिव ।

मानसस्य, चन्दनवनराजिरिव मलयस्य, फणामणिशिखेव शेषस्य भूषणमभूत् त्रिभुवन-विस्मय-जननी जननीव वनिता-विभ्रमाणां सकलान्तःपुरप्रधानभूता महिषी विलासवती नाम।

विलासवतीदुःखप्रश्नः

एकदा[1] च[2] स तदावासगतस्तां चिन्ता-स्तिमित-दृष्टिना[3] शोकमूकेन परिजनेन परिवृताम्, आरादवस्थितैश्च ध्यानानिमिषलोचनैः कञ्चुकिभिरुपास्यमानाम्, अनतिदूरवर्त्तिनी-

मरालश्रेणिः, इव। मलयस्य=एतन्नाम्ना ख्यातस्य पर्वतस्य, चन्दनवनराजिः=मलयजवनराशिः, इव। शेषस्य=शेषनागस्य, फणामणिशिखा = फणारत्नदीप्तिः, इव, त्रिभुवनविस्मयजननी - त्रिभुवनस्य (=त्रिलोक्याः) विस्मयस्य (=आश्चर्यस्य) जननी (=समुत्पादिका), वनिताविभ्रमाणाम् = रमणी-विलासानाम्, जननी=कारिणी, प्रसूः, इव, सकलान्तःपुरप्रधानभूता—सकलम् (=समस्तम्) यद् अन्तपुरम् (=अवरोधः) तत्र प्रधानभूता (=मुख्या), विलासवती नाम=विलासवती नाम्नी, महिषी = पट्टराज्ञी, भूषणम् = अलङ्कारस्वरूपा, अभूत्=आसीत्। एवञ्च यथा चन्द्रलेखादिभिः हरजटाकलापादीनां शोभावृद्धिरनवरतसम्बन्धश्च वर्तते तथैव तयापि राज्ञः शोभावृद्धिरनवरतसम्बन्धश्चासीदिति ध्वन्यते। अत्र मालोपमा, अन्ते चोत्प्रेक्षा, इत्यनयोः संकरः।

एकदेति। एकदा=एकस्मिन् समये, सः=तारापीडः, तदावासगतः—तस्याः (=विलासवत्याः) आवासम् (= निवासस्थलम्, भवनम्) गतः (= प्राप्तः) सन्, ताम् = पूर्वोक्तां विलासवतीम्, चिन्तास्तिमितदृष्टिना--चिन्ता (= मानसी व्यथा) तया स्तिमिते (= निश्चले) दृष्टी (= नेत्रे) यस्य स तेन। शोकमूकेन = शोकेन (= शुचा, क्लेशेन) मूकेन (= अवाचा) परिजनेन (= सेवकलोकेन, परिवारेण), परिवृताम् =परिवेष्टिताम्, ['ददर्श' इति वक्ष्यमाणक्रियया सम्बन्धः।] आरात्=समीपे, [केचित्तु—"आराद्दूरसमीपयोः' इति कोशमाश्रित्य 'दूरात्' इति अर्थं वर्णयन्ति, तन्न शोभनम् दूरत उपासनाऽनौचित्यात्।] अवस्थितैः = कृतावस्थानैः, विद्यमानैः, ध्यानानिमिषलोचनैः—ध्यानेन (= चिन्तया) अनिमिषे (= निमेषरहिते) लोचने (= नेत्रे) येषां ते तैः, तादृशैः, कञ्चुकिभिः = सौविदल्लैः, च, उपास्यमानाम्=सेव्यमानाम्। ["सौविदल्लाः कञ्चुकिनः स्थापत्याः सौविदाश्च ते।" अमरः २।८।८] कञ्चुकिलक्षणम्—अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणसमन्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते।"] अनतिदूरवर्त्तिनीभिः = अनतिदूरे (=नातिविप्रकृष्टे)

की (के लिए) चाँदनी है, जैसे सरोवर की (के लिए) कमलिनी है, जैसे आकाश की (के लिए) नक्षत्रों की पंक्ति है, जैसे मानसरोवर की (के लिए) हंसों की माला (समूह) है, जैसे मलयपर्वत की (के लिए) चन्दनवन की पंक्ति है, जैसे शेषनाग की (के लिए) फन के मणि की ज्योतिशिखा है—उसी प्रकार उस राजा तारापीड की (के लिए) भूषणस्वरूपा विलासवती नाम की रानी थी जो [अपनी सुन्दरता और गुणवत्ता के कारण] तीनों लोकों में आश्चर्य उत्पन्न करा देनेवाली, स्त्रियों के हाव-भाव विलास की जननी, तथा सम्पूर्ण अन्तःपुर की प्रधान थी अर्थात् वही प्रधानमहिषी थी।

विलासवती के दुःख का प्रश्न

और एक बार उस रानी के भवन में पहुँचे हुए राजा ने चिन्ता से स्तब्ध नेत्रों वाले, [और] शोक के कारण मूक परिजनों से घिरी हुई तथा समीप में ही बैठे हुए चिन्ता के कारण निर्निमेष नेत्रोंवाले कञ्चुकियों द्वारा सेवा की जाती हुई, और अधिक दूर नहीं अर्थात् कुछ ही दूर पर बैठी हुई अन्तःपुर की वृद्धा स्त्रियों के द्वारा सान्त्वना दी जाती हुई, ढाढस बँधाई जाती हुई, निरन्तर आसुओं

१. इदं क्वचित्तु नास्ति। २. राजा राज्ञीमिव समुपागतः। ३. ···दृश···।

भिश्वान्तःपुरवृद्धाभिराश्वास्यमानाम्, अविरलाश्रुपातार्द्रीकृत-दुकूलाम्[1], अनलङ्कृताम्, वामकर-तल-विनिहित-मुखकमलाम्, असंयताकुलालकाम्, सुनिबिडपर्य्यङ्किकोपविष्टाम्, रुदतीं ददर्श[2]।

कृताभ्युत्थानाञ्च[3] तां तस्यामेव पर्य्यङ्किकायामुपवेश्य स्वयञ्चोपविश्य[4] अविज्ञातबाष्पकारणो[5] भीतभीत इव करतलेन विगतबाष्पाम्भःकणौ कुर्वन् कपोलौ भूपालस्तामवादीत्[6]—

देवि ! किमर्थमन्तर्गत-गुरुशोकभार-मन्थरमशब्दं रुद्यते ? ग्रथ्नन्ति हि मुक्ताफलजा-

---

र्त्तिनीभिः (= विद्यमानाभिः), अन्तःपुरवृद्धाभिः = अवरोधजरतीसेविकाभिः, च, आश्वास्यमानाम् = भाविफलप्रशंसया विश्वास्यमानाम्, अविरलाश्रुपातार्द्रीकृत-दुकूलाम्—अविरलः (= सान्द्रः, अनवरतः) यः अश्रुपातः (= नेत्राम्बुप्रपतनम्) तेन आर्द्रीकृतम् (= क्लिन्नीकृतम्) दुकूलम् (= क्षौमवस्त्रम्) यस्याः सा ताम्, अनलङ्कृताम् = अविभूषिताम्, वामकरतल-विनिहित-मुखकमलाम्—वामम् (=अपसव्यम्) यत् करतलम् (= हस्ततलम्) तस्मिन् विनिहितम् (= स्थापितम्) मुखकमलम् (= वदनाम्बुजम्) यया सा तां तादृशीम् । असंयुताकुलालकाम् असंयताः (= अबद्धाः) अत एव आकुलाः (= इतस्ततः पर्यस्ताः) अलकाः (= केशाः) यस्याः सा, ताम् । सुनिविडपर्यङ्किकोपविष्टाम्—सुनिविडा (= दृढा) या पर्यङ्किका (= अल्पः पर्यङ्कः = उपवेशनमञ्चिका) तस्याम् उपविष्टाम् = (= निषण्णाम्) रुदतीम् = रुदनं कुर्वन्तीं, अश्रूणि विमुञ्चन्तीम्, ददर्श = विलोकयामास । राजनि समागते सति, कृताभ्युत्थानाम्—कृतम् (= विहितम्) अभ्युत्थानम् (= संमानानार्थमुत्थानम्) यया तां तादृशीम्, च, ताम् = विलासवतीम्, तस्यामेव = पूर्ववर्णितायामेव, पर्यङ्किकायाम् = ह्रस्व-खट्वायाम्, उपवेश्य = संस्थाप्य, स्वयम् = आत्मना, च, उपविश्य = निषद्य, अविज्ञातबाष्पकारणः— अविज्ञातम् (= अविदितम्) बाष्पाणाम् (= अश्रूणाम्) कारणम् (= पतननिमित्तम्) येन स तादृशः । भीतभीतः = अतिशयभयाक्रान्तः, इव । करतलेन = हस्ततलेन, कपोलौ = विलासवत्याः गण्डस्थले, विगतबाष्पाम्भः-कणौः—विगताः (= अपमार्जिताः अतएव दूरीभूताः) बाष्पाम्भःकणाः (= अश्रुजलबिन्दवः) याभ्यां तौ, तादृशौ, कुर्वन् = विदधत्, भूपालः = नृपस्तारापीडः, अवादीत् = अवोचत् ।

नृपःकिमवादीदिति वर्णयति—देवीति । देवि ! = प्रिये महाराज्ञि !, किमर्थम् = किम्प्रयोजनम्, अन्तर्गतेत्यादिः—अन्तर्गतः (= हृदयस्थितः) यः गुरुशोकः (= महासन्तापः) तस्य भारः (= भरः) तेन मन्थरम् (= अनुद्भटम्) अशब्दम् (= शब्दवर्जितम्, परैरश्रूयमाणमित्यर्थः) रुद्यते = रोदनं विधीयते ? अशब्दरोदनेन तस्याः धीरस्वभावो लक्षितः । अधीरा तु सशब्दमुच्चैः

के गिरने से गीले हुए रेशमी वस्त्रों वाली, बिना सजी हुई, बायें करतल पर मुखकमल को रखे हुई, बिखरे केशों वाली, कठोर या छोटे से पलंग पर बैठी हुई और रोती हुई, उस विलासवती को देखा । [आये हुए राजा के स्वागत के लिए] उठकर खड़ी हुई उस को उसी पलंग पर बैठाकर और स्वयं भी बैठ कर उसके आंसुओं (रोदन) के कारण को न जानता हुआ, डरता हुआ सा राजा (अपने) करतल से [रानी के] कपोलों को अश्रुजलकणों से रहित करता हुआ, उसके गालों के आँसू अपने हाथ से पोंछता हुआ उससे बोला—

"हे देवि ! अन्तर्गत (मन में स्थित) महान् शोक के भार से मन्द (धीरे-धीरे), शब्दहीन (चुपचाप) क्यों रो रही हो, सिसकियाँ भर रही हो ? ये तुम्हारी पलकों की पंक्तियाँ अश्रुबिन्दु-

---

१. बिन्दुपातार्द्रीकृत··· । २. देवीं । ३. कृतप्रत्युत्थानां, कृतप्रत्यभ्युत्थानाम् । ४. उपविश्य । ५. बाष्पवेगः । ६. भूमिपालः ।

लकमिव बाष्पविन्दुनिकरमेतास्तव[1] पक्ष्मपङ्क्तयः। किमर्थञ्च कृशोदरि! नालङ्कृतासि? बालातप इव रक्तारविन्दकोशयोः[2] किमिति न पातितश्चरणयोरलक्तकरसः[3]? कुसुमशर-सरः-कलहंसकौ कस्मात् पादपङ्कजस्पर्शेन नानुगृहीतौ मणिनूपुरौ? किंनिमित्तमयमपगतमेखला-[4]कलापमूको मध्यभागः? किमिति च[5] हरिण इव हरिणलाञ्छने न लिखितः[6] कृष्णागुरुपत्र-[7]भङ्गः पयोधरभारे? केन कारणेन तन्वीयं हर-मुकुट-चन्द्रलेखेव[8] गङ्गास्रोतसा न विभूषिता[9]

रोदितीति भेदः। एताः=समीपस्थिताः, तव=भवत्याः, पक्ष्मपङ्क्तयः=नयनरोम-श्रेणयः, मुक्ताफलजालकम्=मौक्तिककलापम्, इव, वाष्पबिन्दुनिकरम्=अश्रुसमूहम्, ग्रथ्नन्ति=गुम्फन्ति। अत्रोपमा।

किमर्थञ्चेति। कृशोदरि? =हे क्षीणोदरि, किमर्थम् = किंप्रयोजनम्, च, अलङ्कृता = विभूषिता, न=नैव, असि=विद्यसे। रक्तारविन्दकोशयोः=लोहितपद्ममुकुलयोः, बालातपः=नव सूर्यालोकः, इव, चरणयोः=पादयोः, तवेति शेषः, अलक्तकरसः=यावकद्रवः, किमिति=केन कारणेन, न=नैव, पातितः=स्थापितः। आरक्तत्वसाम्यादलक्तरसे बालातपसाम्यमिति बोध्यम्। तेनात्रोपमा।

कुसुमशरेति। कुसुमेत्यादिः—कुसुमशरः (=कामदेवः) तस्य यत् सरः (=कासारः) तस्य कलहंसकौ (= कादम्बस्वरूपौ) मणिनूपुरौ (= पादकटके) पादपङ्कजस्पर्शेन—पादौ (=चरणौ) एव पङ्कजे (=कमले) तयोः स्पर्शेन (=संसर्गेण) कस्मात् हेतोः, न=नैव, अनुगृहीतौ=प्रसादपात्रीकृतौ? रूपकमत्र।

किंनिमित्तमिति। अयम्=पुरोदृश्यमानः, मध्यभागः=शरीरमध्यप्रदेशः, कटिप्रदेशः, किंनिमित्तम्=किमर्थम्, अपगतमेखलाकलापमूकः—अपगतः (=दूरीभूतः, परित्यक्तः) यः मेखलायाः (=काञ्च्याः) कलापः (=समूहः) तेन मूकः (=निःशब्दः) कृतो वर्तते इति शेषः? ["कलापः संहतौ बर्हे काञ्च्यां भूषणतूणयोः।' इत्यजयकोषः।]

किमितीति। हरिणलाञ्छने=शशाङ्के चन्द्रे, हरिणः=मृगः, इव, पयोधरभारे=स्तनाभोगे, कृष्णागुरुपत्रभङ्गः—कृष्णागुरुः (=काकतुण्डः) तस्य पत्रभङ्गः (=रचनाविशेषः) किमिति= किंकारणम्, न=नैव, लिखितः = लिपीकृतः, चित्रितः?—गौरत्ववर्तुलत्व-किञ्चित्कृष्णत्वसाम्यात् चन्द्रस्तनभारयोः साम्यम्। गौरकृष्णत्वसाम्याच्च हरिणकृष्णागुर्वोः साम्यमिति भानुचन्द्रस्तेनोपमा स्पष्टा।

समूह को मोतियों की माला के समान गूंथ रही है। और हे कृशोदरि! (दुबले उदर वाली) किस कारण अलंकृत नहीं हो, आभूषणों से सजी नहीं हो? और किस कारण लाल कमलों की कलिओं पर प्रातःकालीन धूप के समान (लाल लाल) पैरों पर (हल्की धूप के समान) आलता रस नहीं लगवाया है? और कामदेव के सरोवर के कलहंसों के समान मणिमयनूपुरों को अपने पैरों के स्पर्श से किसलिए अनुगृहीत नहीं किया है? और यह मध्यभाग (=कमर) करधनी-समूह से रहित होने के कारण किसलिए मूक (ध्वनिहीन कर) रखा है? और किसलिए हरिणलाञ्छन (चन्द्रमा) में हिरन के समान स्तनभार पर काले अगुरु के पत्रभंग की रचना नहीं की है? और हे श्रेष्ठ जंघाओं वाली! शंकर के

१. तवायताः।　　२. कोशयोरयम्।　　३. प्रथमलक्तकरसः।
४. किं निमित्तमपगत...।　　५. क्वचिदिदं नास्ति।　　६. आलिखितः।
७. कृष्णागुरुपङ्कपत्रभङ्गः।　　८. मुकुटे।　　९. भूषिता।

हारेण वरोरु[1] ! शिरोधरा[2] ? किं वृथा वहसि विलासिनि ! स्रवदश्रुजल-लवधौत-पत्र[3]-लतं कपोलयुगम्[4] ? इदञ्च कोमलाङ्गुलिदलनिकरं[5] रक्तोत्पलमिव करतलं किमिति कर्णपूरतामारोपितम् ? इमाञ्च केन हेतुना मानिनि ! धारयस्यनुपरचित-गोरोचनाबिन्दु-तिलकामसंयमितालकिनीं[6] ललाटलेखाम्[7] ? अयञ्च ते बहुल[8]-पक्ष-प्रदोष इव चन्द्रलेखाविरहितः करोति मे

केनेति । हे वरोरु ! =हे शोभनोरु !, (वरौ=शोभनौ, ऊरू=सक्थिनी यस्यास्तत्सम्बुद्धौ रूपम्), तन्वी=कृशा, हरमुकुटचन्द्रलेखा—हरस्य (=शिवस्य) मुकुटे (=जटासमूहे मस्तके) चन्द्रलेखा (=शशिकला) गङ्गास्रोतसा (= जाह्नवीप्रवाहेण) इव, इयम् = दृश्यमाना, तन्वी शिरोधरा = ग्रीवा केन कारणेन=हेतुना, हारेण = मौक्तिकमालया न = नैव, विभूषिता = अलङ्कृता ? गङ्गाहारयोः, इन्दुकलाग्रीवयोः साम्यादुपमा बोध्या ।

किं वृथेति । हे विलासिनि ! =हे विभ्रमवति ?, स्रवदित्यादिः— स्रवत् (=क्षरत्) यद् अश्रुजलम् (=नेत्रसलिलम्) तस्य ये लवाः (=कणाः) तैः धौता (=प्रक्षालिता, प्रमृष्टा) पत्त्रलता (=पत्त्रभङ्गिः) यस्मिन् तादृशम्, कपोलयुगलम् =गण्डस्थलयुग्मम्, वृथा =मुधा, किम्=किन्निमित्तम् वहसि=धारयसि ? अनलङ्कृतत्वेन तस्य व्यर्थत्वमिति भावः ।

इदञ्चेति । कोमलेत्यादिः—कोमलाः (=मृदुलाः) अङ्गुलयः (=करशाखाः) त एव दलानि (=पत्त्राणि) तेषां निकरः (=समूहः) यस्मिन् तद् तादृशम्, इदम्=सन्निकटतरवर्ति, करतलम्=हस्ततलम्, रक्तोत्पलम् = लोहितकमलम्, इव, किमिति=किंनिमित्तम्, कर्णपूरताम् = श्रवणभूषणताम्, आरोपितम्=प्रापितम् ? वामहस्ततले वामभागेन मुखस्य न्यस्ततया पूर्वोक्तं कथनं युज्यते इति बोध्यम् ।

इमाञ्चेति । हे मानिनि ! =हे मानवति !, अनुपरचितेत्यादिः—अनुपरचितः (=अविहितः) गोरोचनाबिन्दुभिः (=गोरोचनापृषतैः) तिलकः (=विशेषकः) यस्यां ताम् तादृशीम्, असंयमितालकिनीम्—असंयमिताः (=अबद्धाः, अभूषिताः) अलकाः (=कचाः) यस्यां तां तादृशीम्, इमाम् =पुरो दृश्यमानाम्, ललाटरेखाम्=मस्तकरेखाम्, मस्तकस्थितकेशपङ्क्तिमित्यर्थः, केन हेतुना =केन कारणेन, धारयसि =धत्से ?

अयञ्चेति । चन्द्रलेखाविरहितः=चन्द्रकला (=शशिकला) तया विरहितः (=शून्यः),

मुकुट में स्थित चन्द्रमा की कला के समान पतली अपनी इस ग्रीवा (गरदन) को गंगा की धारा के समान हार से क्यों नहीं सजाया है ? [जैसे शिव के मुकुट पर स्थित पतली चन्द्रलेखा गंगा की धारा से विभूषित है उसी प्रकार पतली अपनी गरदन को शुभ्र हार से किसलिए नहीं सजाया है ?] हे विलासिनी ! बहते हुए आसुओं के कणों से घुली हुई पत्त्रलताओं वाले कपोलयुगल को क्यों व्यर्थ में धारण कर रही हो ? [अनलंकृत कपोल व्यर्थ हो रहे हैं ।] और कोमल अंगुली रूपी पंखुड़ियों के समूह से युक्त लाल कमल के समान इस अपने करतल को किस लिए कर्णपूर के रूप में आरोपित कर लिया है ? (कर्णपूर के स्थान पर हाथ रख लिया है ?) हे मानिनि ! जिसमें गोरोचना के बिन्दु का तिलक नहीं लगाया गया है, जिसके बालों को नहीं बांधा गया है ऐसी इस ललाट-रेखा को

१. वरारोहे । २. कन्धरा । ३. धौतकुंकुमपत्र··· ।
४. कपोलयुगलम् । ५. कोमलाङ्गुलिनिकरं । ६. असंस्कृतालकिनीम् ।
७. अलिकरेखाम् । ८. अयञ्च बहुल० ।

दृष्टिखेदम्[1] अतिबहुल-तिमिर-पटलान्धकारः[2] कुसुमरहितः केशपाशः। प्रसीद, निवेदय[3] देवि! दुःखनिमित्तम्। एते हि पल्लवमिव सरागं मे[4] हृदयमाकम्पयन्ति[5] तरलीकृतस्तनांशुकास्तवायताः[6] श्वासमरुतः[7]।

कच्चित्[8] मयापराद्धम् अन्येन वा केनचिदस्मदनुजीविना[9] परिजनेन? अतिनिपुणमपि[10]

अतएव च, अतिबहुलेत्यादिः—अतिबहुलम् (=अतिप्रचुरम्) तिमिरपटलम् (=तमोमण्डलम्) तेन अन्धकारः (=नेत्रकिरणानां विस्तारावरोधः) यस्मिन् सः, बहुलपक्षप्रदोषः = कृष्णपक्ष-रजनी-मुखम्, इव, अयम्=पुरोवर्त्ती, ते=तव, कुसुमरहितः=पुष्पशून्यः, अतिबहुलतिमिरपटलवत् अन्धकारः= श्यामवर्णमात्रमित्यर्थः, केशपाशः=कचकलापः, मे = मम, तारापीडस्य, दृष्टिखेदम्=नेत्रपीडाम्, करोति=विदधाति, उत्पादयतीत्यर्थः। कृष्णपक्षस्य सायङ्काले यथा चन्द्रकला न भवति, चतुर्दिक्षु अन्धकार एव विराजते तेन नेत्रपीडा, तथैव तस्याः पुष्पानलङ्कृतः कृष्णकेशकलापोऽपि विद्यते तद्दर्शनेन नेत्रकष्टमिति साम्यादुपमालङ्कारः।

प्रसीदेति। हे देवि! हे महाराज्ञि, प्रसीद = प्रसन्ना भव, दुःखनिमित्तम्=पीडाकारणम्, निवेदय=कथय।

एते हीति। हि=यस्मात् हेतोः, तरलीकृतस्तनांशुकाः—तरलीकृतम् (=चञ्चलीकृतम्) स्तनांशुकम् (=उरोजवस्त्रम्, तन्न्यस्तवसनम्) यैस्ते तादृशाः, आयताः=दीर्घाः, तव=भवत्याः, श्वासमारुतः=निःश्वासपवनाः, सरागम्=लौहित्यविशिष्टम् पल्लवम्=किसलयम्, इव, सरागम् = अनुरागविशिष्टम्, मे=राज्ञः, हृदयम्=स्वान्तम्, आकम्पयन्ति=भृशं वेपयन्ति, विधूनयन्तीति भावः। अत्राप्युपमा स्पष्टा।

कच्चिदिति। मया = भवतीचरणचञ्चरीकेण मया, अस्मदुपजीविना=मत्सेवकेन, अन्येन= अपरेण, वा, केनचित्=अनिर्दिष्टनाम्ना, परिजनेन=परिवारजनेन, अपराद्धम्=अपराधो विहितः, कच्चित्? "कच्चित् कामप्रवेदने" इत्यमरः।

अतिनिपुणमिति। अतिनिपुणम्=अतिचतुरम्, चिन्तयन्=विचारयन्, अपि, त्वद्विषये =

किस कारण धारण कर रही हो? और चन्द्रकला से रहित, बहुत अधिक अर्थात् घने अन्धकारसमूह से अन्धकार-युक्त कृष्णपक्ष के प्रदोष काल के समान तुम्हारा यह पुष्पहीन केशपाश मेरी दृष्टि (नेत्रों) में खेद उत्पन्न कर रहा है। [जिस प्रकार कृष्णपक्ष का प्रदोषकाल चन्द्रकला से रहित होता है, वैसे तुम्हारा केशसमूह फूलों से रहित है, जिस प्रकार वह प्रदोष घने अन्धकार वाला होता है वैसे ही तुम्हारे केश भी घने काले हैं। वह प्रदोष काल जैसे देखने में आँखों को कष्ट देता है वैसे यह तुम्हारा अनलंकृत केशसमूह मेरी आखों को कष्ट पहुँचा रहा है।] प्रसन्न हो जाओ, हे देवि! अपने दुःख का कारण बतला दो। स्तनों के वस्त्र (आंचल) को कँपाने वाली तुम्हारी लम्बी-लम्बी सांसों की हवायें पल्लव के समान रागयुक्त (१-अनुरागयुक्त, २. लालिमायुक्त) मेरे हृदय को कंपा रही हैं।

क्या मैंने (कोई) अपराध किया है अथवा मेरे किसी आश्रित सेवक ने? बहुत सावधानी

---

१. दृष्टिवेदनाम्। २. ···अन्धकारः केशपाशः। ३. आवेदय।
४. मम। ५. कम्पयन्ति। ६. तवाधिजाः।
७. निश्वासमारुतः। ८. क्वचित्। ९. अस्मदुपजीविना। १०. क्वचित् 'अपि' नास्ति।

चिन्तयन् न पश्यामि खलु स्खलितमप्यात्मनस्त्वद्विषये[1]। त्वदायत्तं हि मे जीवितं राज्यञ्च। कथ्यतां सुन्दरि ! शुचः कारणम्' इत्येवमभिधीयमानापि विलासवती यदा न किञ्चित् प्रतिवचः[2] प्रपेदे तदा विवृद्धबाष्पहेतुमस्याः परिजनमपृच्छत्।

राजकृतप्रश्नस्योत्तरम्

अथ तस्यास्ताम्बूलकरङ्कवाहिनी[3] सतत-प्रत्यासन्ना मकरिका नाम राजानमुवाच—'देव ! कुतो देवादल्पमपि परिस्खलितम् ? अभिमुखे च देवे का शक्तिः परिजनस्यान्यस्य वा

भवतीविषये, आत्मनः=स्वस्य, स्खलितम् = प्रमादम्, न=नैव, पश्यामि=विलोकयामि, विचारयामि। हि=निश्चयेन, मे=मम, जीवितम्=जीवनम्, राज्यम्=आधिपत्यञ्च, च, त्वदायत्तम् = तवाधीनम्। हे सुन्दरि ! =हे कान्ते !, शुचः = शोकस्य, कारणम् = निमित्तम्, कथ्यताम् = उच्यताम्; इति=पूर्वोक्तरूपेण, अभिधीयमाना=कथ्यमाना, प्रार्थ्यमाना, अपि, विलासवती=एतन्नाम्नी प्रधानमहिषी, यदा=यस्मिन् समये, किञ्चित्=किमपि, वचः=वचनम्, प्रतिवचनम्, न=नैव, प्रतिपेदे = दत्तवती, तदा = तस्मिन् समये, अस्याः = विलासवत्याः, विवृद्धबाष्पहेतुम्—विवृद्धम् (=अतिशयतामुपगतम्) यत् बाष्पम् (=अश्रुजलम्) तस्य हेतुम् (=कारणम्), परिजनम्=सेवकलोकम्, अपृच्छत्=पृष्टवान्। षोडशधात्वन्तर्गतत्वात् प्रच्छियोगे 'अकथितञ्चे'ति सूत्रेण कर्मत्वाद् द्वितीयेति बोध्यम्।

महाराज्ञ्याः शोकनिमित्तं वक्तुं तस्या दासी प्रयतते इति वर्णयति—अथेति। अथ=अनन्तरम्, राज्ञो विविधप्रश्नानन्तरम्, सततप्रत्यासन्ना=सदा समीपवर्त्तिनी, मकरिका नाम=नाम्ना मकरिका, तस्याः=महिष्याः, ताम्बूलकरङ्कवाहिनी—ताम्बूलस्य (=नागवल्लीदलस्य) करङ्कस्य (=पेटिकायाः) वहिनी (=धारिणी) परिचारिका, राजानम्=नृपं तारापीडम्, उवाच = अवोचत्। किन्तदिति निर्दिशति—देव इति। हे देव ! =हे स्वामिन् !, देवात्=श्रीमतो भवतः, अल्पम्=स्तोकम्, अपि, परिस्खलितम्=प्रमादः, कुतः = कथम्, प्राणेभ्योऽपि प्रियाया महाराज्ञ्या विषये श्रीमता कथमपि प्रमादो न सम्भाव्यते। देवे=श्रीमति भवति, च, अभिमुखे=अनुकूले, प्रसन्ने सति परिजनस्य=सेवकजनस्य, परिवारलोकस्य वा, अन्यस्य = एतद्भिन्नस्य, वा=अथवा, कस्यचित्=अनिर्दिष्टस्य, अपराद्धुम्=अपराधं विहितुं, प्रमदितुम्, का शक्तिः=सामर्थ्यम्, न कापीति भावः। यदा भवाननुकूलस्तदा तु कोऽपि किमपि अप्रियं विधातुं नार्हतीति भावः।

से सोचते हुए भी तुम्हारे विषय में अपना कोई स्खलित (गल्ती) नहीं देख पा रहा हूँ, नहीं समझ पा रहा हूँ। मेरा जीवन और राज्य निश्चितरूप से तुम्हारे ही अधीन है। हे सुन्दरी ! अपने शोक का कारण बतलाओ।"—इस प्रकार से कही जाती हुई भी विलासवती ने जब कोई उत्तर नहीं दिया तब [राजा तारापीड ने] उसके बढ़े हुए आंसुओं का कारण उस विलासवती की सेविकाओं से पूछा।

राजा के प्रश्न का उत्तर

इसके बाद उस विलासवती के पान के डब्बे (पानदान) को उठाने वाली तथा सदैव पास में रहने वाली मकरिका नामवाली सेविका राजा से बोली—'महाराज ! आपसे थोड़ी भी गल्ती कैसे हो सकती है ? और आपके सामने किसी परिजन अथवा दूसरे की अपराध करने की शक्ति कहाँ है ?

---

१. स्खलितमल्पम्। २. प्रतिवचनम्। ३. ...करण्डकवाहिनी मकरिका।

कस्यचिदपराद्ध[3]म् ? किन्तु 'महाग्रह[1]-ग्रस्तेव विफलनरेन्द्र[2]-समागमास्मि' इत्ययमस्या देव्याः सन्तापः, महांश्च कालः सन्तप्यमानायाः।

प्रथममपि स्वामिनी[4] दानवश्रीरिव सततनिन्दितसुरता शयनासन[5]-स्नान-भोजन-भूषण-परिग्रहादिषु समुचितेष्व[6]पि दिवसव्यापारेषु कथं कथमपि परिजनप्रयत्नात् प्रवर्त्य[7]माना सशोके-

---

यदि महाराजस्यान्यस्य वा कस्यापि कोपि अपराधो नास्ति तर्हि कथमियं शोकाकुलेति शोककारणं वर्णयति मकरिका - किन्त्विति । किन्तु = परन्तु, महाग्रहग्रस्ता—महाग्रहः (= श्मशानादिदुष्ट-भूतादिः) तेन ग्रस्ता (= गृहीता, आविष्टा) नारी, इव, विफलनरेन्द्रसमागमा—विफलः (= विगतं फलम् = पुत्रादिरूपं यस्मात् स तादृशः) राजसमागमः (= नृपसङ्गमः) यस्याः सा तादृशी, अस्मि = वर्त्ते, [पक्षे—विफलः = व्यर्थः, नरेन्द्रस्य = भूतचिकित्सकस्य, समागमः = उपस्थितिः यस्याः सा तादृशी नारी] इति = अस्माद् हेतोः, अस्याः = पुरोवर्त्तमानायाः, देव्याः = महाराज्ञ्याः, सन्तापः = मानसी व्यथा । सन्तप्यमानायाः = सन्तप्तायाः, च, महान् = प्रचुरः, कालः = समयः, व्यतीतः । यथा भूतादि-ग्रस्ताया नार्याः व्यथा-निवारणाय चिकित्सके समागतेऽपि तस्याः पीडा न नश्यति तद्वदेव वर्तते, तथैव भवता संगमेऽपि न किमपि फलं जातमिति बहुकालात् चिन्तयन्ती साम्प्रतमवर्णनीयां दशां प्राप्तेति भावः ।

प्रथममपीति । प्रथमम् = इतः पूर्वस्मिन् समये, अपि, स्वामिनी = प्रभुत्वमती महाराज्ञी, दानवश्रीः = असुरलक्ष्मीः, इव, सततनिन्दितसुरता— सततम् (= निरन्तरं यथा स्यात् तथा) निन्दिता (= प्रतिपक्षित्वाद् विगर्हिता) सुरता (= देवभावः) यया सा, देवीपक्षे—निन्दितम् (= विगीतम्, अपत्योत्पत्त्यभावात्) सुरतम् (= मैथुनम्) यया सा तादृशी । शयनेत्यादिः —शयनम् (= स्वापः), आसनम् (= सभादौ संस्थितिः) स्नानम् (= मज्जनम्) भोजनम् (= अशनम्) भूषणपरिग्रहः (= आभरणस्वीकारः) ··ते आदयः येषां तेषु, समुचितेषु = योग्येषु, अपि, दिवसव्यापारेषु = दिनकृत्येषु, परिजनप्रयत्नात् = सेवकप्रयासात्, कथंकथमपि = येन केनापि प्रकारेण महता कष्टेनेत्यर्थः, प्रवर्त्यमाना = प्रेर्यमाणा, सशोका = सविषादा, इव, आसीत् = अभूत । [अत्रोपमोत्प्रेक्षे ।] देवहृदय-

---

परन्तु "महाग्रह (= भूतादि) से ग्रस्त (पकड़ी गई) के समान मेरा राजसमागम विफल है' यही महारानी का सन्ताप है । [जिस प्रकार किसी महान् भूतादि से गृहीत स्त्री के लिए नरेन्द्र = भूतों के चिकित्सक का समागमन व्यर्थ होता है; वह उसे ठीक नहीं कर पाता है उसी प्रकार मेरा भी राजसमागम सन्तान प्राप्ति रूप फल से रहित है । यही सन्ताप है जिसमे महारानी रो रही है ।] और इस प्रकार से सन्तप्त रहती हुई इनका बहुत समय हो चुका है ।

पहले भी महारानी जैसे दानवों की लक्ष्मी सदैव सुरता (देवत्व) की निन्दा करनेवाली है वैसे सुरता (संभोग) की निन्दा करनेवाली होती हुई, शयन, आसन, भोजन और भूषण-धारण करना आदि समुचित दिनकृत्यों में भी परिचारिकाओं द्वारा जिस किसी प्रकार प्रवृत्त कराई जाती

---

१. महाग्राह० । २. विफलराज० । ३. सुमहांश्च । ४. स्वामिनः । ५. शयनस्नान, शयनासनस्नान । ६. समुचिनेषु । ७. प्रवर्त्तमाना ।

वासीत्। देवहृदयपीडा-परिजिहीर्षया[1] च न दर्शितवती विकारम्। अद्य तु[2] चतुर्दशीति भगवन्तं महाकालमर्चितुमितो[3] गतया तत्र महाभारते वाच्यमाने श्रुतम्— 'अपुत्राणां किल न[4] सन्ति लोकाः शुभाः। पुन्नाम्नो नरकात्त्रायत इति पुत्रः' इत्येतच्छ्रुत्वा भवनमागत्य परिजनेन सशिरःप्रणाममभ्यर्थ्यमानापि नाहारमभिनन्दति, न भूषणपरिग्रहमाचरति, नोत्तरं

पीडापरिजिहीर्षया— देवस्य (= महाराजस्य) हृदयपीडा (= मानसी व्यथा) तस्याः परिजिहीर्षया (= परिहर्तुमिच्छया, अजननाभिलाषेण) विकारम् (= विकृतिम्) न = नैव, दर्शितवती = सूचितवती।

अद्येति। अद्य = अस्मिन् दिने, तु, चतुर्दशी = चतुर्दशी तिथिः, इति = अस्माद् हेतोः, भगवन्तम् = ऐश्वर्यवन्तम्, महाकालम् = एतन्नामकम् उज्जयिनीश्वरम्, अर्चितुम् = पूजयितुम्, इतः = अस्मात् स्थानात्, गतया = कृतप्रस्थानया, तत्र प्राप्तया, तत्र = महाकालमन्दिरे, वाच्यमाने=पाठ्यमाने, महाभारते = एतन्नामके विशाले धर्मग्रन्थे, श्रुतम् = आकर्णितम्।

तत्र किं श्रुतिमिति दासी वर्णयति— अपुत्राणामिति। अपुत्राणाम् = पुत्रहीनानाम् (अविद्यमानाः पुत्राः येषां तेषाम्, विद्यमानपदस्य वैकल्पिको लोपः) शुभाः = कल्याणकारकाः स्वर्गादयः, लोकाः = भुवनानि, न = नैव, सन्ति = विद्यन्ते, तान् प्राप्तुं नार्हन्तीति भावः। 'पुन्नाम्नः = पुमितिनामधेयात्, नरकात् = निरयात्, त्रायते = रक्षति, इति पुत्रः— इति निर्वचनम्। उक्तं च महाभाते—

"पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात्त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्र इति ख्यातः स्वयमेव स्वयम्भुवा।"

मनुनाप्युक्तम्—

पुत्रेण लोकाञ्जयति, पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥ (मनु० ९।१३७)

इति = एवम्, एतत् = पूर्वोक्तम्, श्रुत्वा = आकर्ण्य, भवनम् = राजप्रासादम्, आगत्य = एत्य, सम्प्राप्य, परिजनेन = परिचारकलोकेन, सशिरःप्रणामम् = शिरः प्रणति-सहितं यथा स्यात् तथा, अभ्यर्थ्यमाना = प्रार्थ्यमाना, अपि, आहारम् = भोजनम्, न = नैव, अभिनन्दति = प्रशंसति, अभिलषति, भूषणपरिग्रहम् = आभूषणस्वीकारम्, न = नैव, आचरति=करोति, उत्तरम् = प्रतिवचनम्, न = नैव, प्रतिपद्यते = ददाति। केवलम् = एकमात्रम्, अविरलवाष्पदुर्दिनान्धकारितमुखी— अविरलः (= सान्द्रः) वाष्पः (= नेत्राम्बु) स एव दुर्दिनम् (=मेघाच्छन्नं दिनम्, तमः) तेन अन्धकारितम्

हुई (भी) शोकयुक्त सी ही रहती थी। और महाराज (आप) के हृदय की पीड़ा को बचाने की इच्छा के कारण [अपने मन के] विकार को नहीं दिखलाया। परन्तु आज तो चतुर्दशी थी, इसलिए भगवान् महाकाल की पूजा के लिए यहाँ से गई हुई इस (महारानी) ने वहाँ पढ़े जाते हुए महाभारत में सुना "पुत्ररहित लोगों के लिए [पर] लोक शुभ = मंगलकारक नहीं होते हैं। 'पुत नामक नरक से जो बचाता है वह पुत्र है' ऐसा सुनकर राजभवन (वापस) आकर सेवकों द्वारा सिर से प्रणाम-सहित प्रार्थित होती हुई भी न भोजन करना चाहती है, न आभूषण धारण करना

---

१. क्वचित् 'परि' नास्ति। २. अद्य चतुर्दशी। ३. महाकालाभिधानम्।
४. अपुत्राणां न सन्ति, अपुत्राणां किल गतिर्नास्ति न वा सन्ति···।

प्रतिपद्यते, केवलमविरलबाष्पदुर्दिनान्धकारितमुखी[1] रोदिति। एतदाकर्ण्य देवः प्रमाणम्' —इत्यभिधाय[2] विरराम।

राजकृतं विलासवतीसान्त्वनम्

विरतवचनायां[3] तस्यां भूमिपालस्तूष्णीं मुहूर्त्तमिव स्थित्वा दीर्घमुष्णञ्च निश्वस्य[4] निजगाद—'देवि! किमत्र क्रियतां दैवायत्ते वस्तुनि, अलमतिमात्रं रुदितेन[5], न वयमनुग्राह्याः[6] प्रायो देवतानाम्। आत्मज-परिष्वङ्गामृतास्वाद-सुखस्य नूनमभाजनमस्माकं हृदयम्। अन्यस्मिन्

(= संजातान्धकारम्) मुखम् (= आननम्) यस्याः सा, तादृशी सती, रोदिति = रोदनं करोति। एतत् = मयोक्तं सर्वम्, आकर्ण्य = श्रुत्वा, देवः = स्वामी, प्रमाणम्, विधेयनिर्णायकः, भवान् यथाऽऽज्ञापयिष्यति तथैव विधास्यते इति भावः, इति = एवंरूपेण, अभिधाय = उक्त्वा, विरराम = विरताऽभूत्।

विरतेति। तस्याम् = पूर्वोक्तायां मकरिकायाम्, विरतवचनायाम्–विरतानि (= अपगतानि) वचनानि (= वचांसि) यस्याः सा तस्याम्, सत्याम्, भूमिपालः = पृथ्वीपतिः, मुहूर्तम् = किञ्चित्कालम् इव, तूष्णीम् = मौनम्, स्थित्वा = आस्थाय, मौनीभूत्वेत्यर्थः, दीर्घम् = लम्बायमानम्, उष्णम् = तप्तम्, च, निःश्वस्य = निश्वासं परित्यज्य, जगाद = अवादीत्।

किंतदिति वर्णयति—देवीति। देवि! = महाराज्ञि!, अत्र = अस्मिन्, दैवायत्ते = भाग्याधीने, वस्तुनि = पदार्थे, कार्ये वा, किम्, क्रियताम् = किंधीयताम् न किमपि कर्तुं शक्यत इति भावः। अतिमात्रम् = अत्यधिकम्, रुदितेन = रोदनेन, अलम् = व्यर्थम्, न रोदनीयमिति भाव, "गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिके"ति वचनात् गम्यमानसाध्यभूतक्रियापेक्षया तृतीयेति बोध्यम्। तेन—रुदितेन साध्यं नास्तीत्यर्थः फलति। वयम् = त्वम्, अहमात्मीयाश्च, देवतानाम् = देवानाम्, प्रायः = बाहुल्येन, न = नैव, अनुग्राह्याः = अनुग्रहणीयाः। अस्माकम् = तव, मम, आत्मीयानां च, हृदयम् = चित्तम्, नूनम् = निश्चितरूपेण, आत्मजेत्यादिः—आत्मजस्य (= पुत्रस्य) यः परिष्वङ्गः (= आलिङ्गनम्) स एव अमृतम् (= सुधा) तस्य य आस्वादः (= अनुभवः) तस्य सुखस्य (= आनन्दस्य) अभाजनम् = अपात्रम्, अनधिकारीति भावः। कथमिदं ज्ञातमित्यत आह—अन्यस्मिन् = पूर्वस्मिन्,

---

चाहती है और न [पूछने पर कोई] उत्तर देती है। केवल लगातार आंसुओं की वर्षा (दुर्दिन) से मुख को अन्धकारयुक्त बनाती हुई रो रही है। यह सुनकर महाराज प्रमाण है, [आप जैसा उचित समझें वैसे करें]"—ऐसा कहकर चुप हो गई।

राजा द्वारा विलासवती को सान्त्वना देना

उस मकरिका के चुप हो जाने पर राजा ने कुछ देर चुपचाप बैठकर लम्बी और उष्ण निश्वास लेकर कहा—"हे देवी! भाग्याधीन इस विषय में क्या किया जा सकता है? अत्यधिक रोने से कोई लाभ नहीं है, मत रोइये। सम्भवतः देवताओं के अनुग्रह के योग्य हमलोग नहीं है। निश्चित ही पुत्र के आलिङ्गनरूपी अमृत के आस्वादसुख का पात्र हमलोगों का हृदय नहीं है। पूर्वजन्म (दूसरे

---

१. वाष्पबिन्दु·····।   २. इत्येतदभिधाय।   ३. विरतवचनायाञ्च।
४. निःश्वस्य।   ५. अलमतिरुदितेन।   ६. वयमननुग्राह्याः।

जन्मनि न कृतमवदातं कर्म्म[1]। जन्मान्तरकृतं हि कर्म्म फलमुपनयति पुरुषस्येह जन्मनि। न हि शक्यं दैवमन्यथा कर्तुमभियुक्तेनापि। यावन्मानुष्यके शक्यमुपपादयितुं तावत् सर्वमुपपाद्यताम्। अधिकां कुरु देवि ! गुरुषु भक्तिम्। द्विगुणामुपपादय देवतासु पूजाम्। ऋषिजनसपर्य्यासु[2] दर्शितादरा भव, परं हि दैवतमृषयो यत्नेनाराधिता यथासमीहितफलानामतिदुर्लभानामपि[3] वराणां दातारो भवन्ति।

जन्मनि = भवे, अवदातम् = पवित्रं निर्मलम्, कर्म = कृत्यम्, न = नैव, कृतम् = विहितम्। हि = यतः, पुरुषस्य = मानवस्य. जन्मान्तरकृतम् = पूर्वजन्मविहितम्, (अन्यत् जन्म = जन्मान्तरम्, तस्मिन् कृतम्). कर्म = कार्यम्, शुभाशुभमिति भावः, इह = अस्मिन्, जन्मनि = भवे, फलम् = परिणामम्, उपनयति = प्रापयति। पूर्वस्मिन् जन्मनि यादृशं शुभमशुभं वा कर्म कृतं तादृशमेव शुभमशुभं वा फलमस्मिन् जन्मनि भवतीति भावः। "पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।" हि = यतः, अभियुक्तेन = महायोगिना, अपि, दैवम् = अदृष्टम्, अन्यथा = वैपरीत्येन, कर्तुम् = विधातुम्, न = नैव, शक्यते = पार्यते। अत एवोक्तं शास्त्रेषु—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि॥

अस्यामवस्थायां किं करणीयमिति कथयति—मानुष्यक इति। मानुष्यके = मनुष्यभावे, मनुष्यत्वे, यावत् उपपादयितुम् = सम्पादयितुम्, शक्यम् = कृतिसाध्यम्, तावत्, सर्वम् = सकलम्, उपपाद्यताम् = सम्पाद्यताम्। [मनुष्यस्य भाव इत्यर्थे "योपधाद् गुरूपोत्तमाद्वुञ्" पा० सू० ५। १।१३२।]

तच्च किं किमिति वर्णयति—अधिकामिति। देवि ! = महाराज्ञि !, गुरुषु = पूज्येषु हितोपदेशकारिषु, अधिकाम् = पूर्वतोऽपि आधिक्ययुताम्, भक्तिम् = सेवाम्, कुरु = विधेहि। देवतासु = देवेषु विषये, [स्वार्थे तल्] द्विगुणाम् = द्विगुणिताम्, पूजाम् = सपर्याम्, उपपादय = निष्पादय। ऋषिजनसपर्यासु = मुनिजनसेवासु, दर्शितादरा = दर्शितः (= प्रकटितः) आदरः (= सम्मानः) यया सा तादृशी, भव = एधि। ["पूजा नमस्याऽपचितिः, सपर्याचार्ऽर्हणाः समाः।" अमरः] किमेतेन भविष्यतीत्यत आह—परमिति। हि = यस्मात्, निश्चयेन, वा, परम् = उत्कृष्टम्, दैवतम् = देवता, ऋषयः = मुनयः। ते च, यत्नेन = प्रयासेन, आराधिताः = संसेविताः सन्तः, यथासमीहितफलानाम्—यथासमीहितानि (= यथेप्सितानि) फलानि (= परिणामाः) येषु, एवम्भूतानाम्, अतिदुर्लभानाम् = अतिशयेन दुष्प्राप्याणाम्, अपि, वराणाम् = मनोरथानाम्, दातारः = प्रदायकाः, भवन्ति = जायन्ते।

जन्म) में [हम लोगों ने] शुद्ध (पुण्य) कर्म नहीं किये हैं। क्योंकि दूसरे (पूर्व) जन्म में किये गये कर्म मनुष्य के इस (वर्तमान) जन्म में फल देते हैं। पण्डित पुरुष भी भाग्य को नहीं बदल सकता है। [इस स्थिति में] मनुष्य जन्म में जितना भी करना संभव है, वह सब कुछ कर दिया जाना चाहिए। हे देवी ! गुरुजनों में अधिक भक्ति करो। देवताओं में दुगुनी पूजा करो। ऋषिजनों की आदर दिखानेवाली बनो। क्योंकि ऋषि लोग श्रेष्ठ देवस्वरूप होते हैं, यत्नपूर्वक आराधित (ऋषि लोग) अतिदुर्लभ भी यथेष्ट (मनोऽनुकूल) वरों को देनेवाले होते हैं।

---

१. जन्मान्तरविहितम्। २. परिचर्यासु। ३. दुर्लभानामपि।

श्रूयते[1] हि पुरा चण्डकौशिकप्रभावान्[2]मगधेषु[3] बृहद्रथो नाम राजा जनार्दनस्य[4] जेतारम् अतुलभुजबलमप्रतिरथं[5] जरासन्धं नाम तनयं लेभे। दशरथश्च राजा परिणतवया[6] विभाण्डकमहामुनिसुतस्य ऋष्यश्रृङ्गस्य प्रसादात् नारायणभुजानिवाप्रतिहतान् उदधीनिवाक्षोभ्यानवाप चतुरः पुत्रान्। अन्ये च राजर्षयस्तपोधनानाराध्य पुत्रदर्शनामृतस्वाद[7]-सुखभाजो बभूवुः।

स्वोक्तौ प्रमाणानि प्रदर्शयति राजा—श्रूयते इति। श्रूयते = आकर्ण्यते लोकैरिति शेषः। पुरा = प्राचीनकाले, मगधेषु = कीटकेषु, चण्डकौशिक - प्रभावात्—चण्डकौशिकः (= एतन्नामा कश्चन ऋषिः, विश्वामित्र इति केचित्) तस्य प्रभावात् = माहात्म्यात्, बृहद्रथो नाम = बृहद्रथ इति नामधेयः, राजा = नृपः, जनार्दनस्य = विष्णोः जेतारम् = जयनशीलम्, अतुलभुजबलम्—अतुलम् (= अनुपम्) भुजबलम् (= बाहुशक्तिः) यस्य स तं तादृशम्, अप्रतिरथम् = प्रतिपक्ष-रहितम्, महारथम्, जरासन्धं नाम = एतन्नामानम्, तनयम् = पुत्रम्, लेभे = प्राप्तवान्।

दशरथश्चेति। दशरथः = एतन्नामा, (दशसु दिशासु, अप्रतिहतः रथः यस्य सः) राजा = भूपतिः, परिणतवयाः— परिणतम् (= परिपक्वम्) वयः (= अवस्था, आयुः) यस्य स तादृशः सन्नपि विभाण्डकमहामुनिसुतस्य— विभाण्डकः (= एतन्नामा) महामुनिः (= महातपस्वी) तस्य सुतः (= पुत्रः) तस्य, ऋष्यश्रृङ्गस्य = एतन्नामकस्य, प्रसादात् = अनुग्रहात्, नारायणभुजान् = विष्णुबाहून्, इव, अप्रतिहतान् = अपराजितान्, उदधीन् = समुद्रान्, इव अक्षोभ्यान्=असञ्चलनीयान्, चतुरः = चतुसंख्यकान्, पुत्रान् = तनयान्, रामलक्ष्मण-भरतशत्रुघ्नान्, अवाप = प्राप्तवान्। अत्रोपमाद्वयम्।

अन्ये चेति। अन्ये च = अपरे च, बहव इत्यर्थः, राजर्षयः = तपोधना राजानो दिलीपादयः, तपोधनान् = महातपस्विनः, आराध्य = संसेव्य, पुत्रदर्शनेत्यादिः—पुत्रदर्शनम् (= सुतावलोकनम्) एवामृतम् (पीयूषम्) तस्य य आस्वादः (= उपभोगः) तेन जनितं यत् सुखम् (= आनन्दः) तद् भजन्ति (= सेवन्ते, प्राप्नुवन्ति) ते तादृशाः, बभूवुः=अभूवन्। राजानः ऋषय इव—इत्युपमित-

ऐसा सुना जाता है, प्रसिद्ध है—प्राचीनकाल में मगध में बृहद्रथ नाम के राजा ने चण्डकौशिक ऋषि के प्रभाव से जनार्दन (कृष्ण) को भी जीत लेनेवाले, अनुपम बाहुबल वाले और अद्वितीय 'जरासन्ध' नामक पुत्र को प्राप्त किया था। [बृहद्रथ की कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने चण्डकौशिक ऋषि की खूब सेवा की। उन्होंने एक फल देते हुए कहा कि अपनी महारानी को खिला देना। इससे तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा। राजा ने वह फल स्नेहातिरेक में दोनों रानियों को आधा-आधा करके खिला दिया। इससे दोनों ने आधा आधा शरीर उत्पन्न किया। उसको श्मशान में फेंक दिया गया। वहाँ जरा नामक राक्षसी ने दोनों टुकड़ों को मिलाकर जीवित पुरुष बना दिया और राजा को दे दिया। इसीलिए उसका नाम 'जरासन्ध' पड़ा।] और परिपक्व (वृद्ध) अवस्था वाले राजा दशरथ ने विभाण्डकमहामुनि के पुत्र ऋष्यश्रृङ्ग के प्रसाद से नारायण (विष्णु) की भुजाओं के समान किसी से पराजित न होने वाले और समुद्रों के समान अक्षोभ्य (कभी क्षुब्ध न होने वाले) चार पुत्र (राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न) प्राप्त किये थे। और दूसरे भी राजर्षि लोग तपोधनों की आराधना

१. श्रूयन्ते। २. ...प्रसादात्, कौशिक प्रभावात्, चण्डकौशिकप्रसादप्रभावात्।
३. मगधेशो। ४. जनार्दनप्रतिमम्। ५. अतुलबलपराक्रमम्, अमरतुल्यभुजबलम्।
६. परिणतवया अपि। ७. ...आस्वाद...।

अमोघफला हि महामुनिसेवा[1] भवति ।

अहमपि खलु देवि ! कदा समुपारूढगर्भभरालसामापाण्डुमुखीम्[2] आसन्नपूर्णचन्द्रोदयामिव[3] पौर्णमासीनिशां देवीं द्रक्ष्यामि[4] ? कदा मे तनयजन्म-महोत्सवानन्दनिर्भरो हरिष्यति पूर्ण-पात्रं परिजनः[5] ? कदा हारिद्रवसन-धारिणी सुत-सनाथोत्सङ्गा द्यौरिवोदित-रविमण्डला सबालातपा

समासे 'राजर्षय' इति बोध्यम् । हि = यस्मात् कारणात्, महामुनिसेवा = महर्षिसपर्या, अमोघफला—अमोघम् (= अविफलम्, निश्चितम्) फलं यस्याः सा तादृशी, भवति = वर्तते ।

साम्प्रतं स्वाभिलाषं वर्णयति राजा—अहमपीति । हे देवि ! = हे महाराज्ञि !, खलु=निश्चयेन, अहम् अपि, समुपारूढेत्यादिः—समुपारूढः (= समुत्पन्नः) यः गर्भः (= भ्रूणः) तस्य भरः (= भारः) तेन अलसाम् (= मन्थराम्), आपाण्डुमुखीम्—आ (= ईषत्) पाण्डु (= पाण्डुरम्) मुखम् (= आननम्) यस्याः सा तां तादृशीम्, आसन्नपूर्णचन्द्रोदयाम्—आसन्नः (= समीपवर्ती, सद्योभावी) पूर्णचन्द्रस्य (= पूर्णशशिनः) उदयः (=उद्गमः) यस्यां सा तां तादृशीम्, पौर्णमासी-निशाम् = पूर्णिमारात्रिम्, इव, देवीम् =महाराज्ञीम्, कदा=कस्मिन् अवसरे,द्रक्ष्यामि=विलोकयिष्यामि । अत्रविशेषणानामुभयपक्षे साम्यं बोध्यम् । तेन पूर्णोपमा ।

कदेति । तनयेत्यादिः तनयः (= पुत्रः) तस्य जन्म (= जननम्) तल्लक्षणो यो महोत्सवः (= महोद्भवः) तेन य आनन्दः (= प्रीतिः) तेन निर्भरः (= संभृतः), परिजनः = परिवारवर्गः, मे = मम, पूर्णपात्रम् = पूर्णानकम्, हरिष्यति = हर्षपूर्वकं हठाद्ग्रहीष्यति । भानुचन्द्रेण पूर्णपात्र - स्वरूपं निर्दिष्टम्—"उत्सवेषु सुहृद्भिर्यद्वलादाकृष्य गृह्यते । वस्त्रं माल्यं च तत् पूर्णपात्रं पूर्णानकं च तत् ।। इति कोशः ।" ["'क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः ।" अमरः १।७।३८]

कदेति । हारिद्रवसनधारिणी = हारिद्रम् (= हरिद्रा = रजन्या रक्तम्) यद् वसनम् (= वस्त्रम्) तद् धारयति (= परिदधाति) या सा तादृशी, सुत-सनाथोत्सङ्गा—सुतेन (=पुत्रेण) सनाथः (= सहितः) उत्सङ्गः (=क्रोडः) यस्याः स तादृशी, देवी = महाराज्ञी, उदितरविमण्डला—उदितम् (=प्रातोदयम्) रविमण्डलम् (=सूर्यबिम्बम्) यस्यां सा तादृशी, सबालातपा --बालः (=सद्यो

करके पुत्र-दर्शन-रूपी अमृत के स्वाद सुख को प्राप्त करने वाले हुए थे । कारण यह है कि बड़े-बड़े मुनियों की सेवा निश्चित रूप से फल देने वाली होती है ।

हे देवी ! मैं भी धारण किये गये गर्भ के भार से अलसाई हुई, कुछ कुछ पाण्डुवर्ण के मुख-वाली, [निशापक्ष में—प्रारम्भकाल वाली] [और] जिसमें पूर्ण चन्द्रमा का उदय सन्निकट है ऐसी पौर्णमासी की निशा के समान देवी (आप) को कब देखूंगा (देख सकूंगा) ? कब पुत्रजन्म के महोत्सव के आनन्द से परिपूर्ण मेरे सेवकगण [मुझसे आग्रहपूर्वक] पूर्णपात्र लेंगे ! कब हल्दी से रंगे पीले वस्त्रों को धारण करने वाली, पुत्र से सुशोभित गोदवाली [इसलिए] उदित हुए रविमण्डलवाले और प्रातःकालीन धूप से युक्त द्यौः=आकाश के समान (दिखाई देने वाली) देवी (आप) मुझे आनन्दित करेंगी ? [प्रातःकाल आकाश कुछ पीला सा और उदित हुए सूर्य से युक्त हो जाता

१. महामुनिजनसेवा । २. आपाण्डुरमुखीम् । ३. आसन्नचन्द्रोदयामिव ।
४. प्रद्रक्ष्यामि । ५. '''उद्यतः ।

मामानन्दयिष्यति देवी ?

कदा सर्वौषधिपिञ्जर-[1]जटिलकेशो निहित-रक्षाघृतबिन्दुनि तालुनि विन्यस्त-[2]गौरसर्षपोन्मिश्र-[3]भूतिलेशः गोरोचनाचित्र[4]कण्ठसूत्रग्रन्थिः उत्तानशयो दशनशून्य-स्मिताननः पुत्रको जनयिष्यति मे हृदयाह्लादम् ? कदा गोरोचना-कपिलद्युतिरन्तःपुरिका-करतल-परम्परा-

---

भूतः) चासौ आतपः (= आलोकः) तेन सहिता (= विशिष्टा) द्यौः = गगनमिव, कदा=कस्मिन् काले, माम् = स्वप्रियम्, आनन्दयिष्यति = आनन्दयुतं करिष्यति । [निशाख्या काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी ।'' इति २।९।४१ अमरकोशाद् रात्रिवाचकाः सर्वेपि शब्दा हरिद्रावाचका अपीति बोध्यम् । हरिद्रया रक्तम्—इत्यर्थे "तेन रक्तं रागात्" (पा० सू० ४।२।१) इत्यणि हारिद्रम् ।] वाणेन 'द्यौः' इति स्त्रीलिङ्गस्यात्यन्तसार्थकः प्रयोगो विहितस्तेन महाराज्ञ्या साम्यमुचितम् । अत्राचिरोत्पत्स्यमानस्य पुत्रस्य देहकान्त्या बालातपेन साम्यम् । हारिद्रवसनधारणस्य सद्य उदितरविमण्डलस्य च साम्यम् । दिवा देव्याः च साम्यमिति स्फुटोपमा ।

कदेति । सर्वेत्यादिः—सर्वाः (= सकलाः) च ताः औषधयः (=आयुर्वेदोक्तद्रव्यविशेषाः) ताभिः पिञ्जराः (=पीतरक्ताः) जटिलाः (= जटावन्मिश्रिताः) च केशाः (=कचाः) यस्य स तादृशः । निहितेत्यादिः—निहितः (=स्थापितः) रक्षाघृतस्य (=रक्षार्थं यद् आज्यं तस्य, यद्वा रक्षया युतं यद् आज्यं तस्य) बिन्दुः (=कणः) यस्मिन् तस्मिन् तादृशे, तालुनि (=काकुदे) । विन्यस्तेत्यादिः—विन्यस्ताः (=स्थापिताः) ये गौरसर्षपाः (=श्वेततन्तवः) तैरुन्मिश्रः (=संयुतः) भूतिलेशः (=भस्मकणिका) यस्य स तादृशः । गोरोचनेत्यादिः—गोरोचना (=गोपित्तम्) तेन चित्रः (=शबलः) कण्ठसूत्रस्य (=ग्रीवालम्बिततन्तोः) ग्रन्थिः (=ग्रथनम्) यस्य स तादृशः । उत्तानशयः = उत्तानः (= ऊर्ध्वमुखः) सन् शेते (= स्वपिति) य सः तादृशः, दशनेत्यादि—दशनैः (=दन्तैः) शून्यम् (= विरहितम्, अनुत्पन्नदशनम्) स्मितम् (= विकसितं) च आननम् (= मुखम्) यस्य स तादृशः, पुत्रकः = अनुकम्पितः पुत्रः, कदा = कस्मिन् काले, मे = स्वपितुः, हृदयाह्लादम् = चित्तानन्दम्, जनयिष्यति = उत्पादयिष्यति । सर्वौषधयश्चैताः—"मुरामांसी वचाकुष्ठं शैलेय रजनीद्वयम् । शठीचम्पकमुस्तं च सर्वौषधिगणः स्मृतः ।'' "सर्षपः स्यात् सरिषपः कुटस्नेहश्च तन्तुभः ।' इति त्रिकाण्डशेषः । उत्तानशय इत्यत्र 'उत्तानादिषु कर्तृषु' (३।२।१५ वा०) इत्यच् । पुत्रकः इत्यत्र 'अनुकम्पायाम्' इति कन् प्रत्ययः । पुरा बालरक्षार्थमिमं विधिमाश्रयन्ति स्म लोका इति प्रतीयते इति भावः ।

कदेति । कदा = कस्मिन् काले, गोरोचनाकपिलद्युतिः = गोरोचनावद् कपिला (= पिङ्गला)

है उसी प्रकार महारानी भी हल्दी से रंगे कपड़े पहने हुई और सद्योजात पुत्र को गोद में लिए हुई राजा को आनन्दयुक्त करेगी]

कब मेरा प्रिय पुत्र--जिसके जटा के समान गुँथे (मिले) हुए केश सभी औषधियों (सर्वौषधि = औषधि - विशेष) से पिंजर वर्ण के होंगे, जिसके रक्षाघृत की बूँद से युक्त तालु में रखी गई सफेद सरसों से मिली हुई भस्म रेखा होगी, जिसके गले के सूत्र की गाँठ गोरोचना से [रंगी होने से] चितकबरी होगी, जो ऊपर की ओर मुख किये हुए चित लेटा होगा, जिसका मुख दांतों से रहित और मुस्कराता हुआ होगा—मेरे हृदय की प्रसन्नता उत्पन्न

---

१. पिञ्जरित । २. घृतमधुबिन्दुतालुविन्यस्त'''। ३. '''लेशः । ४. चित्रित'''।

सञ्चार्य्यमाणमूर्त्तिरशेषजनवन्दितो[1] मङ्गलप्रदीप इव मे शोकान्धकारमुन्मूलयिष्यति चक्षुषोः ? कदा च क्षिति-रेणु-धूसरो[2] मण्डयिष्यति मम हृदयेन दृष्ट्या च सह परिभ्रमन् भवनाङ्गणम्। कदा केसरि-किशोरक इव सञ्जातजानुचङ्क्रमणावस्थः[3] सञ्चरिष्यतीतस्ततः स्फटिक-मणिमय-[4] भित्त्यन्तरितान् भवनमृगशावकान्[5] जिघृक्षुः।

द्युतिः (= कान्तिः) यस्य स तादृशः, अन्तःपुरिकेत्यादिः—अन्तःपुरिकाः (= अन्तपुरे भवाः स्त्रियः) तासां करतलानि (= हस्ततलानि) तेषां परम्परया (= श्रेण्या) सञ्चार्यमाणा (= एकस्याः हस्तात् अन्यस्याः हस्ते क्रियमाणा) मूर्तिः (= शरीरम्) यस्य स तादृशः, अशेषजनवन्दितः=अशेषैः (= समस्तैः) जनैः (= लोकैः) वन्दितः (=नृपसुतत्वान्नमस्कृतः), मङ्गलप्रदीपः = स्वस्तिकदीपः, इव, मे = मम, चक्षुषः=नेत्रयोः, शोकान्धकारम् = शोक एव अन्धकारः (=तमः) तम्, उन्मूलयिष्यति= नाशयिष्यति । अत्र रूपकमुपमा चेत्यनयोः सङ्करः ।

कदा चेति । कदा च = कस्मिन् समये च, क्षितिरेणुधूसरः- क्षित्याः (= पृथिव्याः) ये रेणवः (= पांशवः) तैः धूसरः (= शरीरलग्नतया मलिनः), पुत्रकः, मे = मम, हृदयेन = चित्तेन, दृष्ट्या = नेत्रेण, च, सह = सार्द्धम्, परिभ्रमन् = इतस्ततः पर्यटन्, भवनाङ्गणम् = सदनाजिरम्, मण्डयिष्यति = भूषयिष्यति । अत्र च सहोक्तिरलङ्कारः । एतल्लक्षणन्तु साहित्यदर्पणे एवमुक्तम् — "सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद् वाचकं द्वयोः । सा सहोक्तिर्मूलभूताऽतिशयोक्तिर्यदा भवेत् ॥"

कदेति । कदा = कस्मिन्काले, केशरिकिशोरकः = केशरिणः (=सिंहस्य) किशोरकः (= शावकः) इव, सञ्जातेत्यादिः—सञ्जाता (= समुत्पन्ना) जानुभ्याम् (= ऊरुपर्वभ्याम्) चङ्क्रमणावस्था (= गमनयोग्यता, कुटिलचलनदशा) यस्य सः, तादृशः सन्, स्फटिकेत्यादिः— स्फटिकमणिमयाः (= स्फटिकपाषाणनिर्मिताः) याः भित्तयः (= कुड्यानि) ताभिः अन्तरितान् (=व्यवहितान्), भवनमृगशावकान् भवनमृगाणाम् (=गृहकुरङ्गाणाम्) ये शावकाः (= शिशवः) तान्, जिघृक्षुः=गृहीतुमिच्छुः, सन्,इतस्ततः=यत्र तत्र, सञ्चरिष्यति=सञ्चरणं विधास्यति । अत्रोपमा [जानूरुपर्वाष्ठीवदस्त्रियाम्" । अमरः ।]

करायेगा ? कब गोरोचना से हल्की पीली कान्तिवाला, अन्तःपुर की स्त्रियों के करतलों की परम्परा (समूह) द्वारा घुमाये जाते हुए शरीरवाला (अर्थात् एक स्त्री के करतलों से दूसरी के करतलों में दूसरी के करतलों से तीसरी के करतलों में इसी प्रकार अनेक करतलों में जिसे घुमाया जायगा), सभी लोगों द्वारा वन्दित, मंगल के लिये प्रज्वालित प्रदीप के समान [मेरा पुत्र] कब मेरे नेत्रों के शोकरूपी अन्धकार को नष्ट करेगा ? और कब पृथ्वी के धूलिकणों से धूसरित (शरीरवाला होता हुआ) और मेरे हृदय तथा दृष्टि (आँखों) के साथ (इधर उधर) घूमता हुआ आँगन की शोभा बढ़ायेगा ? और कब सिंह के बच्चे के समान जानु (घुटनों) के बल से चलनेवाली अवस्था से युक्त होता हुआ अर्थात् घुटनों से चलता हुआ, स्फटिकमणि की बनी हुई दीवालों से व्यवहित (व्यवधान युक्त, दूसरी ओर स्थित) घरेलू मृगों के बच्चों को पकड़ने को इच्छावाला होता हुआ [मेरा पुत्र] कब इधर-उधर संचरण करेगा, घूमेगा ?

---

१. ...प्रतिनन्दितः । २. क्षितितलरेणु...। ३. चङ्क्रमणारम्भः । ४. स्फटिकमणिभित्त्यन्तरितान् । ५. प्राजिघृक्षुः ।

कदा अन्तःपुरिकानूपुर-निनादसङ्गतान्[1] गृहकलहंसकान्[2] अनुसरन् कक्षान्तरप्रधावितः[3] कनकमेखला-घण्टिका-रवानुसारिणीमायासयिष्यति धात्रीम्। कदा कृष्णागुरु-पङ्कलिखित-मदलेखालङ्कृत-गण्डस्थलकः[4], मुख-डिण्डिमध्वनि[5]-जनित-प्रीतिः[6] ऊर्ध्वंकर-विप्रकीर्ण-चन्दन-चूर्णधूलि-धूसरः, कुञ्चिताङ्गुलि-शिखराङ्कुशाकर्षण-विधूत-शिराः करिष्यति

कदेति। कदा = कस्मिन्नवसरे, अन्तःपुरिकानिनादसङ्गतान्—अन्तःपुरिकाणाम् (= अवरोध-योषिताम्) ये नूपुराः (= पादकटकाः) तेषां निनादैः (ध्वनिभिः) सङ्गतान् (= मिश्रितान्) गृहकलहंकान् = भवनपरिपालितराजहंसान्, अनुसरन् = अनुगच्छन्, कक्षान्तरप्रधावितः—कक्षान्तरम् (= प्रकोष्ठान्तरम्) प्रधावितः (= प्रपलायितः) सन्, कनकमेखलेत्यादिः कनकमेखला (= स्वर्ण-मयी रशना) तस्या या घण्टिकाः (= किङ्किण्यः) तासां यो रवः (= स्वनः) तम् अनुसर्तुं शीलम् यस्यास्ताम्, तदनुकारिणीमित्यर्थः, धात्रीम् = उपमातरम्, आयासयिष्यति = प्रयासविशिष्टां विधास्यति। ["कलहंसस्तु कादम्बे राजहंसे नृपोत्तमे।' इति मेदिनी। "पादाङ्गदं तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्। हंसकः पादकटकः।" अमरः २।६।१।१०९। "धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु।' अमरः ३।३।१७७]

कदेति। कदा = कस्मिन्काले, कृष्णेत्यादिः—कृष्णाऽगुरुः (= कालाऽगुरुः काकतुण्डः) तस्य यः पङ्कः (= द्रवः) तेन लिखिता (= चित्रिता) या मदलेखावत् लेखा (= रेखा) तया अलङ्कृते (= भूषिते) गण्डस्थले (= कपोलस्थले) यस्य स तादृशः, पक्षे – कृष्णागुरुवत् लिखिता (= लिप्ता) या मदरखा (= दानवारि-पङ्क्तिः) तया अलङ्कृतः गण्डस्थलकः (= कपोलप्रदेशकः) यस्य स तादृशः। मुखेत्यादिः—मुखेन (= आननेन, धात्र्यादीनामिति शेषः) यो डिण्डिमध्वनिः (= वाद्य-विशेषसदृशध्वानः) तेन जनिता (= समुत्पादिता) प्रीतिः (= आनन्दः) यस्य स तादृशः। पक्षे—अनुरक्तहस्तिपकानां मुखेन समाध्मानार्थं यो डिण्डिमध्वनिस्तेन जनिता प्रीतिः (= प्रमोदः) यस्य स तादृशः। ऊर्ध्वेत्यादिः—ऊर्ध्वौ (= उन्नतौ) यौ करौ (= हस्तौ) ताभ्यां विप्रकीर्णा (= विक्षिप्ता) चन्दनचूर्णस्य (= मलयजक्षोदस्य) धूलिः (= पांशुः) तया धूसरः (= मलिनः), पक्षे—ऊर्ध्वंकरेण (= उन्नतशुण्डादण्डेन) विप्रकीर्णः चन्दनचूर्णवद्धूलिः तया धूसरः, कुञ्चितेत्यादिः कुञ्चिता (= वक्रीकृता) या अङ्गुलिः (= करशाखा) तस्याः शिखरम् (= अग्रभागः) तदेव अङ्कुशः (= सृणिः) तेन यद् आकर्षणम् (= पृष्ठे पुरतो वा संचालनम्) तेन विधूतम् (= कम्पितम्) शिरः (= मस्तकम्) येन स तादृशः। पक्षे—कुञ्चिताङ्गुलिशिखरवद्योऽङ्कुशस्तेनाकर्षणम् तेन विधूतं

अन्तःपुर की स्त्रियों के नूपुरों की आवाज के साथ मिले हुए अर्थात् उन्हीं के साथ बोलने वाले, पालतू कलहंसों का पीछा करता हुआ, [राजभवन के] कोनों में दौड़ता हुआ [वह मेरा पुत्र] स्वर्ण से बनी करधनी की घंटियों की ध्वनि का अनुसरण करने वाली अर्थात् घंटियों की आवाज के अनुसार उस पुत्र को पकड़ने के लिए पीछे-पीछे दौड़ने वाली धात्री (धाय) को थकायेगा, परेशान करेगा ? कब काले अगुरु के पंक (घोल) से बनाई गई मदलेखा के समान रेखा से अलंकृत कपोलोंवाला, [धात्री आदि परिचारिकाओं के खिलाते समय उनके] मुख की डिण्डिम ध्वनि (नगाड़े जैसी आवाज) से उत्पन्न हुई प्रसन्नता वाला, ऊपर उठाये गये हाथों से फेंके गये चन्दन के चूर्ण

१. अन्तःपुर···। २. गृहहंसकान्। ३. पक्षान्तर०, प्रधावितान्।
४. गण्डस्थलः। ५. कोमलरव। ६. जात···।

मत्तगज-राज-लीलाक्रीडाः[1]।

कदा मातुश्चरणयुगलरागोपयुक्तशेषेण[2] पिण्डालक्तकरसेन वृद्धकञ्चुकिनां[3] विडम्बयिष्यति मुखानि। कदा कुतूहल-चञ्चल-लोचनो[4] मणिकुट्टिमेष्वधोदत्त-दृष्टिरनुसरिष्यति स्खलद्गति-रात्मनः प्रतिविम्बानि[5]। कदा नरेन्द्र-सहस्र-प्रसारित-भुजयुगलाभिनन्द्यमानागमनो भूषण-

शिरः यस्य स तादृशः। मत्तगजराजलीलाक्रीडाः—मत्तः (=मदविशिष्टः) यो गजराजः (=हस्ति-श्रेष्ठः) तस्य लीलाक्रीडाः (= विलासयुतानि खेलनानि) करिष्यति=विधास्यति । अत्र श्लेषस्तेन लीलामिव लीलामित्यौपम्याक्षेपादभवद्वस्तुरूपा निदर्शना चेत्यनयोः सङ्करः।

कदेति । कदा=कस्मिन् समये, मातुः=जनन्याः,चरणयुगलेत्यादिः —चरणयुगलम् (=पाद-द्वयम्) तस्य रागः (= रञ्जनम्) तस्मिन् उपयुक्तात् (= प्रयुक्तात्) शेषेण (= अवशिष्टेन) पिण्डालक्तकरसेन (=पिण्डीकृतलाक्षाद्रवेण) वृद्धकञ्चुकिनाम् (=स्थविरसौविदल्लानाम्) मुखानि (=आननानि) विडम्बयिष्यति=विरूपाणि विधास्यति ।

कदेति । कदा=कस्मिन् काले, कुतूहलेत्यादिः—कुतूहलेन (=कौतुकेन) चञ्चले (=चपले) लोचने (=नेत्रे) यस्य स तादृशः, मणिकुट्टिमेषु (=रत्ननिबद्धभूमिषु), अधोदत्तदृष्टिः = अधः (=नीचैः) दत्ता (=विहिता) दृष्टिः (=नेत्रद्वयम्) येन स तादृशः सन्, अतएव च, स्खलद्गतिः—स्खलन्ती (= तदप्राप्त्या खेदात् भ्रश्यन्ती) गतिः (=गमनम्) यस्य सः, आत्मनः=स्वकीयस्य, प्रतिबिम्बानि=प्रतिरूपाणि, अनुसरिष्यति=अनुगमिष्यति, तद्ग्रहणार्थमिति शेषः ।

कदेति । कदा = कस्मिन्नवसरे, नरेन्द्रेत्यादिः—नरेन्द्राणाम् = (नृपतीनाम्) सहस्रम् (=दशशती) तेन प्रसारितम् (=विस्तारितम्) यद् भुजयुगलम् (=बाहुद्वयम्) तेन अभिनन्द्य-मानम् (=अपेक्ष्यमाणम्, प्रशस्यमानम्) वा आगमनम् (=सम्प्राप्तिः) यस्य स तादृशः, भूषणे-

(पाउडर) से धूसर वर्ण वाला, [धात्री आदि की] टेढ़ी की गई अँगुली के अग्रभाग (नोक) रूपी अंकुश से खींचने (इधर उधर ले चलने) से हिलाते (घुमाते या कँपाते) हुए शिर वाला, (मेरा पुत्र) मत्त गजराज की विलास क्रीडायें करेगा ? (हाथी के गण्डस्थल पर काले अगुरु के समान मदजल की रेखायें बनी होती हैं, पीठ पर बजते हुए नगाड़ा आदि वाद्यों से वह प्रसन्न होता है, सूंड़ से धूलि उठा कर अपने ऊपर फेक लेता है, टेढ़े अंकुश से खींचने पर सिर हिलाता है, इस प्रकार मत्तगजराज की और पुत्र की विलास क्रीडाओं का पूरा साम्य है ।]

कब माताके दोनों पैरों में लगा लेने के बाद बचे हुए (रुई आदि में) पिण्ड बनाये गये आलता के रस से बुढ़े कंचुकियों के मुखों बिगाड़ेगा, उन पर आलता पोत देगा ? कब कुतूहल से चंचल नेत्रों वाला, मणियों से निर्मित फर्शों पर नीचे दृष्टि लगाए हुए [और इसी कारण] लड़खड़ाती हुई गति वाला होकर अपनी परछाइयों का पीछा करेगा, उनके पीछे-पीछे दौड़ेगा ?[1]

---

१. '''गजराजलीलाम्, मत्तगजराजलीला-क्रीडाम्,'''लीलाः । २. चरणराग'''।
३. कञ्चुकिनाम् । ४. '''लोल'''। ५. प्रतिबिम्बितानि ।

मणिमयूखाकुलीक्रियमाण-लोलदृष्टिरास्थानस्थितस्य मे पुरः सर्पिष्यति सभान्तरेषु—इत्येतानि मनोरथशतानि चिन्तयतोऽन्तः सन्तप्यमानस्य प्रयान्ति रजन्यः । मामपि दहत्येवायमहर्निशमनल इवानपत्यतासमुद्भवः शोकः ।

शून्यमिव मे प्रतिभाति जगत्, अफलमिव पश्यामि राज्यम् । अप्रतिविधेये तु विधातरि

त्यादिः—भूषणानाम् (=अलङ्काराणाम्) ये मणयः (=रत्नानि) तेषां ये मयूखाः (=किरणाः) तैः आकुलीक्रियमाणा (=अवलोकनौत्कण्ठ्यात् व्यस्तीक्रियमाणा) दृष्टिः (=नेत्रद्वयम्) येन, यस्य वा स तादृशः, सन्, आस्थानस्थितस्य =सभामण्डपे विराजमानस्य, मे =मम, तारापीडस्येत्यर्थः, पुरः= अग्रे, सभान्तरेषु =राजपरिषन्मध्यभागेषु, सर्पिष्यति =पर्यटिष्यति ।

इत्येतानीति । इति = पूर्वोक्तरूपेण, एतानि उक्तानि, मनोरथशतानि =अवर्ण्यमनोरथान्, चिन्तयतः = विचारयतः, अतएव च, अन्तः सन्तप्यमानस्य = अन्तः (=मनसि) सन्तप्यमानस्य (=प्रज्वल्यमानस्य, अतिदुःखितस्य), मम, रजन्यः =रात्रयः,प्रयान्ति =गच्छन्ति, व्यतीता भवन्तीति भावः ।

मामपीति । अनपत्यतासमुद्भवः-अनपत्यता (=असन्तानता) तस्याः समुद्भवः (=उत्पत्तिः) यस्य स तादृशः, अयम् =पूर्ववर्णितः, शोकः =मन्युः, अन्तस्तापः, अनलः =वह्निः, इव, अहर्निशम् = रात्रिन्दिवम्, माम् =तारापीडम्, अपि, न केवलं त्वाम्, दहति =ज्वालयति, एव । एवञ्चावयोः शोकानुभूतिस्तुल्यैवेति बोध्यम् । अत्रोपमा ।

शून्यमिति । जगत् =संसारः, मे =मम, शून्यम् =उद्वसितम्, इव, प्रतिभाति =प्रतिभासते । "शून्यं गृहमपुत्रस्य' इत्याद्युक्त्या पुत्ररहितस्य पुंसः सर्वं शून्यमिव भवति ।

अफलमिति । राज्यम् =राष्ट्रम्, आधिपत्यम् अफलम् =निष्फलम्, इव, पश्यामि =अवलोकयामि ।

अप्रतीति । विधातरि =ब्रह्मणि, भाग्ये इति भावः, अप्रतिविधेये =प्रतीकारानर्हे, किं करोमि=

कब हजारों राजाओं द्वारा फैलाई गई दोनों भुजाओं से अभिनन्दित किए जाते हुए आगमन वाला, (हजारों राजा अपने दोनों हाथ फैला कर जिसके आगमन का स्वागत करेंगे), आभूषणों की मणियों की किरणों से व्याकुल की जाती हुई [अतएव] चंचल आखों वाला [वह पुत्र ' सभा में विराजमान मेरे सामने सभा के बीच में घूमा करेगा ?- —इस प्रकार से सैकड़ों मनोरथों की कल्पना करते (सोचते हुए) [इसी कारण] भीतर से सन्तप्त होते हुए मेरी रातें बीतती हैं । अनपत्यता=सन्तानहीनता से होने वाला यह शोक अग्नि के समान मुझे भी दिनरात जलाता रहता है ।

मुझे (यह) संसार सूना सा लगता है । राज्य को फलहीन सा देखता हूँ । किन्तु जिसका कोई प्रतीकार नहीं है ऐसे भाग्य के विषय में क्या करूँ, अर्थात् कुछ नहीं कर सकता । इसलिए हे

---

१. '''मयूखलेखा'''। २. मम । ३. पर्यटिष्यति । ४. इत्येतानि चान्यानि ।
५. यान्ति । ६. सन्तापः । ७. शून्यमेव ।
८. अफलमिवाखिलं पश्यामि जीवितं राज्यञ्च ।

किं करोमि । तन्मुच्यतां देवि ! शोकानुबन्धः, आधीयतां धैर्य्ये धर्म्मे च धीः, धर्म्मपरायणानां हि समीपसञ्चारिण्यः कल्याण-सम्पदो[1] भवन्ति' इत्येवम् अभिधाय सलिलमादाय स्वयं करतलेनाभिनव-पल्लवेनेव विकचकमल-तुल्यम्[2] आननमस्याः साश्रुलेखं ममार्ज । पुनः पुनश्च प्रियशतमधुराभिः शोकापनोदनिपुणाभिर्[3]धर्म्मोपदेशगर्भाभिर्वाग्भिराश्वास्य सुचिरं स्थित्वा नरेन्द्रो निर्जगाम ।

विलासवत्या देवाराधनम्

निर्गते[4] च तस्मिन् मन्दीभूतशोकवेगा विलासवती यथाक्रियमाणाभरणपरिग्रहादिक-

किं विदधामि । अत्र न किमपि कर्तुं शक्यत इति भावः । तद् = तस्माद् हेतोः, हे देवि ! = हे प्रिये !, शोकानुबन्धः = शोकस्य परम्परा, मुच्यताम् = त्यज्यताम्, भवत्येति शेषः । धैर्ये = धीरतायाम्, धर्मे = पुण्यकार्ये, च धीः = मतिः, आधीयताम् = स्थाप्यताम् । कथमिदमिष्टसाधकं भविष्यतीत्याह— हि = यतः, कल्याणसम्पदः = श्रेयोविभूतयः, धर्मपरायणानाम् = सुकृतानुष्ठानरतानाम्, समीपसञ्चारिण्यः = निकटचराः, भवन्ति = जायन्ते, इति = एतद्रूपेणम्, एवम् = पूर्वोक्तम्, अभिधाय = कथयित्वा, सलिलम् = जलम्, आदाय = गृहीत्वा, स्वयम् = आत्मना, अभिनवपल्लवेन = नवकिसलयेन, इव, करतलेन = पाणितलेन, साश्रुलेखम्— अश्रुलेखया (= नयनवारिरेखया) सहितम् (= युक्तम्), विकचकमलतुल्यम्— विकचम् (= विकसितम्) यत् कमलम् (= सरोरुहम्) तेन तुल्यम् (= सदृशम्), अस्याः = विलासवत्याः, आननम् = मुखम्, ममार्ज = प्रक्षालयामास ।

पुनः पुनश्चेति । नरेन्द्रः = राजा तारापीडः, पुनः पुनः = भूयोभूयः, च, प्रियशतमधुराभिः— प्रियशतेन (= इष्टशतेन) मधुराभिः (= मिष्टाभिः, हृद्याभिः), शोकापनोदनिपुणाभिः— शोकस्य (= अन्तःसन्तापस्य) अपनोदने (= दूरीकरणे) निपुणाभिः (= समर्थाभिः), धर्मोपदेशगर्भाभिः— धर्मस्य (= पुण्यस्य) य उपदेशः (= प्रतिपादनम्) स एव गर्भे (= आभ्यन्तरे) यासां ताभिः, एवम्भूताभिः, वाग्भिः = वाणीभिः, आश्वास्य = समाश्वस्तां विधाय, सुचिरम् = दीर्घकालपर्यन्तम्, स्थित्वा = स्थितिंकृत्वा, निर्जगाम् = तस्माद्भवनाद् बहिर्निर्गतः ।

तारापीडस्य प्रस्थानानन्तरं विलासवती किमकरोदिति प्रतिपादयति— निर्गते चेति तस्मिन् = पूर्वोक्ते राजनि तारापीडे इत्यर्थः, निर्गते = बहिः प्रस्थिते सति, च, मन्दीभूतशोकवेगा— मन्दीभूतः (= क्षीणतामुपगतः) शोकस्य (= अन्तःसन्तापस्य) वेगः (= प्रसरः) यस्याः सा तादृशी । विलासवती = एतन्नाम्नी प्रधानमहिषी, यथाक्रियमाणेत्यादिः— क्रियमाणम् (= विधीयमानम्)

देवी ! यह शोक-परम्परा (अनवरतका शोक) छोड़ दो । धैर्य में और धर्म में बुद्धि लगाओ, क्योंकि कल्याणरूपी सम्पत्तियाँ धर्मपारायण लोगों के पास रहने वाली होती हैं ।

इस प्रकार से कहकर पानी लेकर नवीन पल्लव के समान (कोमल) हाथ से विकसित कमल के समान तथा आसुओं की रेखायों से युक्त उस रानी के मुख को स्वयं धोया (आसुओं की मलिनता दूर कर दी) । और बार-बार सैकड़ों प्रिय बातों के कारण मधुर (अच्छी लगने वाली), शोक को दूर करने में कुशल, [तथा] धर्म के उपदेश से युक्त वचनों से [रानी को] आश्वासन देकर, बहुत देर तक वहीं बैठकर राजा तारापीड [उस अन्तःपुर से] बाहर चले गए ।

विलासवती की देवाराधना

और उस राजा तारापीड के चले जाने पर कुछ कम हुए शोक वाली रानी विलासवती ने

१. इत्यम्, एवम् । २. कमलतुल्यम् । ३. शोकापनोदन । ४. मन्दीभूतशोका ।

मुचितं [1]दिवसव्यापारमन्वतिष्ठत्[2]। ततः प्रभृति सुतरां देवताराधनेषु ब्राह्मणपूजासु गुरुजन-सपर्य्यासु [3]चादरवती बभूव। यद् यच्च किञ्चित् [4]कुतश्चित् शुश्राव [5]गर्भतृष्णया तत्तत्सर्वं चकार। न महान्तमपि क्लेशमजीगणत्। [6]अनवरत-दह्यमान-गुग्गुलु-बहुल-धूमान्धकारितेषु चण्डिकागृहेषु [7]धवलाम्बरेण शुचि-मूर्त्तिरुपोषिता [8]हरितकुशोपच्छदेषु [9]मुसलशयनेषु सुष्वाप। पुण्य-

अनतिक्रम्य — यथाक्रियमाणम्, आभरणानाम् (= भूषणानाम्) परिग्रहादिकम् (= स्वीकारादिकम्) यस्मिन् तम्, उचितम् = स्वानुरूपम्, दिवसव्यापारम् = दिनकृत्यम्, अन्वतिष्ठत् = अकरोत्।

तत इति। ततः प्रभृति = तद्दिनादारभ्य, देवताराधनेषु = देवानां प्रसादनानुकूलव्यापारेषु, ब्राह्मणपूजासु = विप्रपूजनेषु, गुरुजनसपर्यासु = गुरुजनसेवासु, च = इदं समुच्चये, सुतराम् = अत्यर्थं यथा स्यात्तथा, आदरवती = बहुमानवती, बभूव = अभवत्। सर्वान् पूर्वोक्तान् प्रसादयितुं प्रायततेति भावः।

यद्यदिति। यद् यत् = अश्रुतपूर्वम् अकृतपूर्वञ्च, किञ्चित् = किञ्चन, अनुष्ठेयम्, कुतश्चित् = कस्माच्चिदपि, शुश्राव = अशृणोत्, गर्भतृष्णया = भ्रूणलोभेन, गर्भधारणलालसया, तत् तत् = सर्वतः श्रुतमनुष्ठानादिकम्, सर्वम् = सकलम्, चकार = अकरोत्। महान्तम् = महीयांसम्, अपि, क्लेशम् = कष्टम्, न = नैव, अजीगणत् = गणयामास। क्लेशातिशयमपि सोढवतीत्यर्थः।

तानि च क्लेशानि कानि कीदृशानि चासन्निति प्रतिपादयति — अनवरतेति। अनवरतेत्यादिः — अनवरतम् (= निरन्तरम्) यथा स्यात् तथा, दह्यमानः (= प्रज्वल्यमानः) यः गुग्गुलः (= पङ्कद्रवः, धूपविशेषः) तस्य बहुलः (= निबिडः, प्रचुरो वा) यो धूमः (= वह्निकेतनः) तेन अन्धकारितेषु (= सञ्जातः अन्धकारः येषु तेषु, अन्धकारयुक्तेषु), चण्डिकागृहेषु = चामुण्डामन्दिरेषु, धवलाम्बरेण = शुभ्रवाससा, शुचिमूर्तिः = पूतदेहा, उपोषिता = विहितोपवासा, हरितेत्यादिः — हरिताः (= श्याम-वर्णाः, नवीनाः वा) कुशाः (= दर्भाः) एव उपच्छदाः (= आस्तरणानि) येषु तेषु तादृशेषु, मुसलशयनेषु — मुसलानि (= अयोऽग्राणि) तेषां शयनेषु (= शयनीयेषु) पङ्क्तिरूपेण पातितमुसल-निर्मितशयनीयेषु, सुष्वाप = शयनं चकार। "कुम्भोलूखलकं क्लीबे कौशिको गुग्गुलुः पुरः।' अमरः २।४।३४। 'अयोऽग्रो मुसलोऽस्त्री।' अमरः २।९।२५।]

पुण्यसलिलेति। पुण्यसलिलपूर्णैः - पुण्यानि (= पवित्राणि) यानि सलिलानि (= जलानि)

पहले किये जाने वाले के समान आभूषण धारण आदि उचित दिवसकृत्य का सम्पन्न किया। उसके बाद से लेकर वह रानी देवताओं की आराधना में, ब्राह्मणों की पूजा में तथा गुरु (= पूज्य) लोगों की सेवा में और अधिक आदर दिखाने लगी। और उसने जहाँ कहीं से जो कुछ भी सुना वह सब गर्भ-धारण की लालसा से किया। बड़े से बड़ा भी क्लेश नहीं गिना। लगातार जलते हुए गुग्गुल के घने धूयें के अन्धकार से भरे हुए चण्डिका देवी के मन्दिरों में श्वेतवस्त्र से पवित्र आकृति वाली [होती हुई] उपवास करती हुई हरे कुशों के बिछौने से युक्त मूसलों की [ऊबड़-खाबड़]

१. यथाक्रियमाणम्, आभरणपरिग्रहादिकमुचितम्। २. वासरव्यापारमकरोत्।
३. ब्राह्मणपूजासु चादरवती गुरुजनपरिचर्यासु स च, अधिकमादरवती।
४. कुतश्चिच्छ्रुत्वा। ५. अर्भकतृष्णया। ६. गुग्गुलबहुलधूपान्धकारितेषु।
७. धवलाम्बरा। ८. हरितकुश, हरितकुशोपच्छन्नेषु। ९. मूसलशयनेषु।

सलिल-पूर्णैः[1] विविधकुसुमफलोपेतैः क्षीरतरु-पल्लव-लाञ्छनैः सर्वरत्नगर्भैः शातकुम्भ-कुम्भैर्गो-कुलेषु वृद्धगोपवनिताकृतमङ्गलानां[2] लक्षणसम्पन्नानां गवामधः सस्नौ। प्रतिदिवसमुत्थायोत्थाय[3] सर्वरत्नोपेतानि हैमानि तिलपात्राणि ब्राह्मणेभ्यो ददौ। महानरेन्द्र-लिखित-मण्डल-मध्यवर्त्तिनी विविध-बलिदानानन्दित-दिग्देवतानि बहुल-चतुर्दशीनिशासु[4] चतुष्पथे[5] स्नपनमङ्गलानि[6] भेजे।

तैः पूर्णैः (=भृतैः, पूरितैः), विविधेत्यादिः— विविधानि (=नानाविधानि) यानि कुसुमफलानि (=पुष्पशस्यानि) तैः उपेतैः (=संयुक्तैः), क्षीरेत्यादिः—क्षीरतरूणाम् (=वटादीनां दुग्धयुक्त-वृक्षाणाम्) यानि पल्लवानि (=किसलयानि) तानि एव लाञ्छनानि (=चिह्नानि) येषां तैः तादृशैः, सर्वरत्नगर्भैः—सर्वाणि (= समस्तानि) रत्नानि (=मण्यादीनि) गर्भे (=मध्ये) येषां तानि तैस्तादृशैः, शातकुम्भ-कुम्भैः—शातकुम्भम् (=सुवर्णम्) तेषां कुम्भैः (=घटैः सुवर्णमय-कलसैः), गोकुलेषु (=व्रजेषु) वृद्धेत्यादिः—वृद्धाः (=जरत्यः) या गोपवनिताः (=गोपाल-स्त्रियः) ताभिः कृतम् (=विहितम्, अनुष्ठितम्) मङ्गलम् (=भद्रम्, तिलकादिसमर्पणरूपम्) यासां तासां तादृशीनाम्, लक्षणसम्पन्नानाम्—लक्षणैः (=मसीतिलकादिशुभचिह्नैः) सम्पन्नानाम् (=विशिष्टानाम्) गवाम् = धेनूनाम्, अधः=नीचैः, सस्नौ=स्नानं चकार। ["स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्। तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्मकर्बुरम्।" इत्यमरः २।९।९४। "गोष्ठाध्वनिवहाः व्रजाः।" इत्यमरः ३:३।३०]

प्रतिदिवसेति। प्रतिदिवसम्=प्रत्यहम्, उत्थाय उत्थाय=उत्थानं विधाय, उत्थान विधाय, सर्वरत्नोपेतानि = सर्वरत्नानि (=समस्तमण्यादीनि) तैः उपेतानि (=सहितानि) हैमानि= सौवर्णानि, तिलपात्राणि=तिलपर्णाकृतिरूपाणि, ब्राह्मणेभ्यः=विप्रेभ्यः, ददौ=दत्तवती।

महानरेन्द्रेति। महानरेन्द्रेत्यादिः—महानरेन्द्राः (=प्रमुखाः भूतोपचारविधायकाः मान्त्रिकाः) तैः लिखितम् (=रचितम्) यन्मण्डलम् (=वर्तुलरेखा) तस्य मध्यवर्तिनी (=अन्तःस्थायिनी), सती, विविधेत्यादिः—विविधानि (=नानाप्रकाराणि) यानि बलिदानानि (=बलिवितरणानि) तैः, आनन्दिताः (=प्रमोदं प्रापिताः) दिग्देवताः (=दिक्पालदेवाः) येषु तानि, स्नपनमङ्गलानि= स्नानरूपाणि स्वस्तिकानि, बहुलचतुर्दशीनिशासु=कृष्णपक्षीयचतुर्दशी-रात्रिषु, चतुष्पथे=शृङ्गाटके, भेजे=कृतवती।

शय्या पर सोई। पवित्र जल से भरे हुए, अनेक प्रकार के फूलों तथा फलों से संयुक्त, (बरगद आदि) दूध वाले वृक्षों के पत्तों से सुसज्जित [तथा] सभी प्रकार के रत्नों से युक्त मध्य भाग वाले, स्वर्ण-निर्मित कलसों से [उस रानी ने] गायों के समूहों में ग्वालों की वृद्धी स्त्रियों द्वारा किये गये मंगलकार्य (तिलकादि) वाली शुभ लक्षणों वाली गायों के नीचे स्थान किया। प्रतिदिन प्रातःकाल उठ उठ कर सभी प्रकार के रत्नों से भरे हुए स्वर्णमय तिलपात्र ब्राह्मणों के लिए दान में दिये। [उस रानी ने] कृष्णपक्ष की रातों में चौराहों पर महानरेन्द्रों (बड़े-बड़े ओझाओं, भूतादि झाड़ने-वाले) द्वारा खींचे गए ('बनाए गए) मण्डलों के बीच में बैठकर, अनेक प्रकार की बलियों से प्रसन्न (आनन्दयुक्त) कराये गए दिग्देवताओं वाले स्नानरूपी मंगलकार्यों को किया।

---

१. पूरितैः। २. मंगला। ३. समुत्थाय।
४. बहुलपक्ष। ५. चतुष्पथेषु। ६. स्नानमङ्गलानि।

सिद्धायतनानि कृत-विचित्र-देवतोपयाचितकानि[1] सिषेवे। दर्शितप्रत्ययानि[2] सन्निधानमातृका-[3]भवनानि जगाम। प्रसिद्धेषु नागकुलह्रदेषु ममज्ज। अश्वत्थप्रभृतीनुपपादितपूजान् महावनस्पतीन् कृतप्रदक्षिणा ववन्दे। दोलायमान-वलयेन[4] पाणियुगलेन स्नाता[5] स्वयमखण्डसिक्थ-सम्पादितं[6]

सिद्धेति कृतेत्यादिः—कृतानि (=विहितानि) विचित्राणि (=विविधरूपाणि देवतानाम् (=देवप्रतिमानाम्) उपयाचितकानि (=मनोरथसिद्ध्यनन्तरं समर्पयिष्यमाणानि वस्तूनि) येषु तानि, सिद्धायतनानि सिद्धानाम् (=योगिनाम्) आयतनानि (=मन्दिराणि), सिषेवे=आश्रितवती। "दीयते यत्तु देवेभ्यो मनोराज्यस्य सिद्धये। उपयाचितकं दिव्यं दोहदं तद्विदुर्बुधाः।" इति जटाधरेणोक्तम्। 'यदि मे सुतप्राप्तिर्भविष्यति तदाहं पुनरपि एवमेव समर्पयिष्यामीति प्रतिज्ञाय यद्दीयते तदुपयाचितकमुच्यते' इति बोध्यम्।

दर्शितेति। दर्शितेत्यादिः—दर्शितः (=प्रकटीकृतः) प्रत्ययः (=विश्वासः) येषु यैर्वा तानि सन्निधानमातृकाभवनानि—सन्निधानानि (=समीपवर्त्तीनि) मातृकाणाम् (=ब्राह्म्यादीनाम्) भवनानि (=मन्दिराणि), जगाम=गतवती। मातृकाः ब्राह्म्यादयस्तु—

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव वाराही वैष्णवी तथा।
कौमारीत्यपि चामुण्डा चर्चिकेत्यष्ट मातरः॥

एवञ्चाष्टमातृकाणां मन्दिरेषु दर्शनार्थं पूजनार्थं च गतवतीति भावः।

प्रसिद्धेति। प्रसिद्धेषु = विख्यातेषु, नागकुलह्रदेषु—नागकुलस्य (= सर्पवंशस्य) ह्रदेषु (=तडागेषु) ममज्ज = सशिरः स्नानं कृतवती। उपपादितपूजान्—उपपादिता (=सम्पादिता, विहिता) पूजा (=अर्चा) येषां तान् तादृशान्, अश्वत्थ-प्रभृतीन्=अश्वत्थः (=पिप्पलः) प्रभृतिः (=आदिः) येषां तान् तादृशान्, महावनस्पतीन्=महावृक्षान्, कृतप्रदक्षिणा—कृतम् (=विहितम्) प्रदक्षिणम् (=प्रादक्षिण्येन क्रमणम्) यया सा तादृशी, सती, ववन्दे=वन्दनं कृतवती।

दोलायमानेति। स्नाता=कृतस्नाना, सती, स्वयम्=आत्मना, दोलायमानवलयेन—दोलायमानम् (=कम्पमानम्) वलयम् (=कङ्कणम्) यस्य तत्तेन, पाणियुगलेन=हस्तयुग्मेन, अखण्डसिक्थसंपादितम्—अखण्डानि (=अत्रुटितानि, पूर्णानि) यानि सिक्थानि (=पक्वतण्डुलकणाः) तैः

जहाँ देवताओं को [मनोरथपूर्ति के बाद] अनेक प्रकार की वस्तुओं को समर्पित करने का वचन दिया गया था, ऐसे सिद्धों के मन्दिरों की सेवा की। जहाँ [भक्तों के मनोरथ की] सिद्धि देखी जा चुकी है ऐसे समीपवर्ती मातृकाओं वाले भवनों=स्थानों पर [अनुष्ठानार्थ] गई। प्रसिद्ध नागकुलों (सर्पों के कुओं) में स्नान किया।

जिनकी पूजा की जा चुकी है ऐसे पीपल आदि बड़े-बड़े पेड़ों की प्रदक्षिणा करती हुई पूजा की। स्नान करके हिलते हुए कंगनों वाले दोनों हाथों से उस रानी ने स्वयम् अखण्डित चावलों से बनाई हुई, चांदी के पात्र में रखी हुई, दही-भात वाली बलि कौओं को भेंट की, प्रदान की।

अपरिमित फूलों, धूप, (चन्दनादि के) लेपन, पुये पलल (तिलादि से युक्त भक्ष्य) खीर और बलि के लावा (खीलें) से युक्त पूजा को अम्बा देवी के लिए प्रतिदिन समर्पित किया। जिनके वचन

१. कृतविविधदेव। २. प्रत्यादेशानि। ३. सन्निधानमातृका, सन्निहितमातृका।
४. मणिवलयेन। ५. कृतस्नाना। ६. अखण्डितसिक्थकुसुम।

रजतपात्र-परिगृहीतं[1] वायसेभ्यो दध्योदन-बलिमदात् । अपरिमित-कुसुम-धूपविलेपापूप-पलल-[2]पायस-बलिलाज-कलितामहरहमम्बादेवी-सपर्य्यामाततान[3][4] । स्वयमुपहृत-पिण्डपात्रान्[5] भक्तिप्रवणेन मनसा सिद्धादेशान्नग्नक्षपणकान् पप्रच्छ । विप्रश्निकादेशवचनानि बहु मेने[6] । निमित्तज्ञानु-पचचार[7] । शकुनज्ञानविदामादरमदर्शयत् । अनेकवृद्धपरम्परागमागतानि रहस्यान्यङ्गीचकार ।

सम्पादितम् (=निष्पादितम्, निर्मापितम्), रजतपात्रगृहीतम् = रौप्यभाजनगृहीतम्, दध्योदनबलिम्= दधियुक्तो य ओदनः तल्लक्षणम्, बलिम् = उपहारान्नम्, वायसेभ्यः=काकेभ्यः, अदात् = दत्तवती ।

अपरिमितेति । अपरिमितेत्यादिः--अपरिमितानि (= असीमितानि, बहूनि) कुसुमानि (= पुष्पाणि) धूपाः (= गन्धपिशाचिकादयः) विलेपाः (= चन्दनादिविलेपनानि) अपूपाः (=पिष्टकाः, मिष्टपक्वान्नविशेषाः) पललम् (= मांसम्) पायसम् (=परमान्नम्) बलिलाजाः (= बल्यर्थः भ्रष्टधानाः) च—एतैः कलिताम् (= युक्ताम्), अम्बादेवीसपर्याम्—अम्बादेव्याः= (=कालिकायाः) सपर्याम् (=पूजाम्), अहरह =प्रतिदिनम्ः, आततान = चकार, अनुष्ठितवती । 'पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमामिषम् ।' इत्यमरः । 'परमान्नं तु पायसम् ।' इत्यमरः । 'पूजानमस्यापचितिः सपर्या चार्हणाः समाः ।' इत्यमरः ।

स्वयमिति । भक्तिप्रवणेन—भक्तिः (=श्रद्धादिः) तया प्रवणेन (=युक्तेन) मनसा = चित्तेन, स्वयम् = स्वेनैव, उपहृतपिण्डपात्रान् = उपहृतानि (=उपहारीकृतानि) पिण्डपात्राणि (=अन्नभाजनानि) येभ्यः तान् तादृशान्,सिद्धादेशान्–सिद्धः (=सत्यः, अनुभूतः) आदेशः (=वचनम्) येषां तान् तादृशान्, नग्नक्षपणकान् (=दिगम्बरान् बौद्धसंन्यासिनः) पप्रच्छ=पृष्टवती । मम मनोरथः सफलो भविष्यति नवेति प्रश्नं कृतवतीति भावः ।

विप्रश्निकेति । विप्रश्निकादेशवचनानि = विप्रश्निकाः (=शुभाशुभप्रकाशिकाः स्त्रियः) तासाम्, आदेशवचनानि (=आज्ञावाक्यानि), बहु = अत्यधिकम् मेने = अमन्यत । निमित्तज्ञान्—निमित्तम् (= भौमाद्यष्टविधम्, शुभाशुभसूचकम्) जानन्ति तान्, उपचचार = उपययौ, स्वशुभं ज्ञातुं तेषां समीपं प्रयाता ।

शकुनेति । शकुनज्ञानविदाम् = वसन्तराजादि-शास्त्रज्ञानविदाम्, आदरम् = सन्मानम्, अदर्शयत्= प्राकटयत् ।

अनेकेति । अनेकेत्यादिः—अनेके (= बहवः) ये वृद्धाः (=स्थविराः) तेषां या परम्परा (=परिपाटी) तस्यां समागतानि (=सम्प्राप्तानि), रहस्यानि=गुप्तमन्त्रादिसाधनानि, अङ्गीचकार= स्वीचक्रे ।

सच हुआ करते थे, जिन्हें उसने अपने आप भोजनयुक्त पात्र भेंट किये थे ऐसे नग्न क्षपणकों (बौद्ध दिगंबरों) से भक्तियुक्त मन से प्रश्न पूंछे । भविष्य की बातें बताने वाली स्त्रियों की बातों को बहुत महत्त्व दिया, उनके प्रति आदर व्यक्त किया । शुभाशुभनिमित्तों का ज्ञान रखने वाले लोगों की सेवा की । शकुनों का ज्ञान रखने वालों के प्रति आदर दिखाया । वृद्धों की परम्परा से चले आने वाले अनेक रहस्यों (गुप्त अनुष्ठानों) को स्वीकार किया ।

---

१. रजतपात्रे । २. अपरिमितधूमविलयाम् । ३. पायसबलिम् । ४. ज्येष्ठादेवी । ५. उपाहित, उपहृत । ६. समागतानि, गतानि । ७. अङ्गीकरोति स्म, अङ्गीचक्रे ।

दर्शनागतद्विजजनम्[1]आत्मजदर्शनोत्सुका वेदश्रुतीरकारयत्। अनवरत[2]-वाच्यमानाः पुण्यकथाः[3] शुश्राव। गोरोचना-लिखित-भूर्जपत्रगर्भान् मन्त्रकरण्डकान्[4] उवाह। रक्षाप्रतिसरोपेतानि[5] ओषधिसूत्राणि[6] बबन्ध। परिजनोऽपि चास्याः सततमुपश्रुत्यै निर्जगाम, तन्निमित्तानि च जग्राह।

दर्शनेति। आत्मजदर्शनोत्सुका—आत्मजस्य (=पुत्रस्य) दर्शनाय (=अवलोकनाय) उत्सुका (=उत्कण्ठिता) सती, दर्शनागतद्विजजनम्—दर्शनाय (=स्वावलोकनार्थम्) आगतम् (=सम्प्राप्तम्) द्विजजनम् (=ब्राह्मण-लोकम्), वेदश्रुतीः=वेदानां श्रवणानि, वेदानां पाठान्, अकारयत्=कारयामास। आत्मसाक्षात्कारप्रदानानन्तरं ब्राह्मणद्वारा वेदपाठं कारयित्वा तेभ्यो धनादिकं प्रादातेति भावः।

अनवरतेति। अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (=निरन्तरम्) वाच्यमानाः (=उच्यमानाः, कथ्यमानाः) पुण्यकथाः=पवित्रकथाः, पुण्यजनिकाः पुराणादिकथा इति भावः, शुश्राव=श्रुतवती।

गोरोचनेति। गोरोचनेत्यादिः गोरोचनया (=गोपित्तेन) आलिखितम् (=लिपीकृतम्) भूर्जपत्रम् (=लेखाधारभूतवृक्षत्वग्विशेषः) गर्भे (=मध्ये) येषां तान् तादृशान्, मन्त्रकरण्डकान्=सुतप्रदानशक्तिसमर्थमन्त्राभिमन्त्रितपिकान्, उवाह=अवहत्, अधारयदिति भावः।

रक्षेति। रक्षेत्यादिः—रक्षायाः (=सम्प्राप्तगर्भरक्षणस्य) प्रतिसरः (=कङ्कणम्) तेन, उपेतानि=युक्तानि, ओषधिसूत्राणि=गर्भजननौपयिकौषधिसहितसूत्राणि, बबन्ध=अबध्नात्।

परिजन इति। अस्याः=विलासवत्याः, परिजनः=सेवकलोकः, अपि, सततम्=निरन्तरम्, उपश्रुत्यै=दैवप्रश्नाय, (दैवं मनुष्यादिमाध्यमेन कीदृशं वचनं श्रावयतीति जिज्ञासायै) निर्जगाम=निर्ययौ। यत्र तत्र गत्वा स्वोपयोगिवचनश्रवणं चकारेति भावः। 'देवप्रश्न उपश्रुतिः' इति भानुचन्द्रोद्धृतकोशः। तन्निमित्तानि=ज्योतिर्विदां शुभाशुभसूचक-वाक्यानि, च, जग्राह=अगृह्णात्। उपयोगिवचनं श्रुत्वा विलासवत्यै कथयामासेति भावः अनुदिनम्=प्रत्यहम्, निशि=रात्रौ, शिवाभ्यः=शृगालीभ्यः, मांसबलिपिण्डम्=पललरूपमुपहारम्, उत्ससर्ज=उत्सृष्टवती, समर्पितवतीत्यर्थः। स्वप्नदर्शनाश्चर्याणि=स्वप्नावलोकनकूतूहलानि, आचार्याणाम्=दैवज्ञगुरूणाम् [समीपे], आचचक्षे=कथयामास। अद्य रात्रावीदृशः स्वप्नो दृष्टोऽस्य फलं किं भविष्यतीति कथितवतीति। चत्वरेषु = भवनप्राङ्गणेषु,

---

दर्शनार्थ आये हुए ब्राह्मणों द्वारा, पुत्र के दर्शन के लिए उत्सुक उस रानी ने, वेदों के पाठ करवाये। निरन्तर पढ़ी जाती हुई पुण्यप्रद कथाओं को सुना। गोरोचना से लिखे गए भोजपत्र जिनके मध्य में हैं ऐसे अभिमन्त्रित ताबीजों को धारण किया। रक्षा के कंगन से युक्त ओषधिमय सूत्रों को बाँधा।

और उस [महारानी] के नौकर चाकर भी शुभ भविष्यवाणियाँ सुनने के लिए सदैव बाहर घूमने लगे। और [उस रानी ने] उन लोगों के शुभनिमित्तों को ग्रहण किया। उसने प्रत्येक रात्रि में सियारियों को मांसयुक्त बलिपिण्ड प्रदान किये। आचार्यों को अपने स्वप्न में देखे गये आश्चर्य बतलाए।

---

१. दर्शनागतं द्विजजनम्।　　२. अनवरतम्।　　३. पुण्याः कथाः।
४. मन्त्रगण्डकान्।　　५. रक्षापरिसरोपेतानि।　　६. औषधीसूत्राणि।

शिवाभ्यो मांसबलिपिण्डमनुदिनं निश्युत्ससर्ज[1]। स्वप्नदर्शनाश्चर्य्याण्याचार्य्याणामाचचक्षे। चत्वरेषु शिवाबलिम्[2] उपजहार।

एवं च[3] गच्छति काले कदाचिद् राजा क्षीणभूयिष्ठायां रजन्यामल्पावशेष[4]-पाण्डुतारके जरत्-पारावत-पक्षधूम्रे[5] नभसि स्वप्ने सितप्रासादशिखर-स्थितायाः[6] विलासवत्याः करिण्या इव बिसवलय[7]-मानने सकलकलापूर्ण[8]-मण्डलं शशिनं प्रविशन्तम्[9] अद्राक्षीत्। प्रबुद्धश्चोत्थाय हर्षविकास-स्फीत-तरेण चक्षुषा धवलीकृतवासभवनस्तस्मिन्नेव[10] क्षणे शुकनासं समाहूय तं स्वप्नमकथयत्।

शिवाभ्यः=शृगालीभ्यः, देवीभ्यो वा, बलिम् = उपहारम्, उपजहार=समर्पितवती। पूर्वं तु रात्रौ बलिप्रदानमुक्तम् अत्र तु दिने बलिप्रदानं बोध्यम्, तेन न पूर्ववचनेन सह विरोध इति ध्येयम्।

एवञ्चेति। एवम् = पूर्वोक्तरूपेण, काले=समये, गच्छति=व्रजति सति, कदाचित् = कस्मिंश्चित् समये, राजा=नृपः तारापीडः, क्षीणभूयिष्ठायाम् = क्षीणम् (=समाप्तम्), भूयिष्ठम् (=अधिकतमम्),यस्यां सा तस्याम्, स्तोकमात्रावशिष्टायामित्यर्थः, रात्रौ=निशायाम्, अल्पावशेषपाण्डुतारके—अल्पाः (=स्वल्पाः) एव अवशेषाः (=अवशिष्टाः) पाण्डुतारकाः (=पाण्डुनक्षत्राणि) यस्मिन् तादृशे; जरत्पारावतधूसरे—जरन् (=स्थविरः) यः पारावतः (=कपोतः) तस्य पक्षौ (=बाजौ) तद्वत् धूसरे (=धूम्रवर्णे) नभसि (=गगने) च सति। स्वप्ने = स्वप्नावस्थायाम्, सितप्रासादशिखर-स्थितायाः—सितः (=धवलः) यः प्रासादः (=राजसदनम्) तस्य यत् शिखरम् (= ऊर्ध्वप्रदेशः) तत्र स्थितायाः (=विद्यमानायाः), विलासवत्याः=स्वधर्मपत्न्याः, राजमहिष्याः, आनने= मुखे, करिण्याः=हस्तिन्याः, आनने, बिसवलयम्=मृणालमण्डलम्, इव, तुल्यम्, सकलकलापूर्णमण्डलम्—सकलाः (=समस्ताः) याः कलाः (=भागाः) ताभिः पूर्णम् (=परिपूर्णम्) मण्डलम् (= वलयम्) यस्य, तम्, तादृशम्, शशिनम् = चन्द्रम्, प्रविशन्तम्=प्रवेशं कुर्वन्तम्, अद्राक्षीत्=अपश्यत्। अत्र 'जरत्पारावतपक्षधूसरे' इत्यत्रार्थी 'बिसवलयम्' इत्यत्र च श्रौती उपमा बोध्या।

चौराहों पर सियारियों के लिए [दिन में] बलि भेंट की।

और इस प्रकार समय के बीत जाने पर किसी समय राजा ने,जब अधिकांश रात बीत गई थी, कुछ थोड़े से पीले तारे शेष बच गए थे, बूढ़े कबूतर के पंखों के समान आकाश भूरे रंग का हो गया था तब स्वप्न में श्वेत महल की चोटी पर बैठी हुई विलासवती के मुख में सम्पूर्ण (षोडश) कलाओं से परिपूर्ण मण्डल वाले चंद्रमा को उसी प्रकार प्रवेश करते हुए देखा जिस प्रकार हाथी के मुख में मृणालमण्डल प्रवेश करता है। [उस राजा ने अद्भुत स्वप्न देखकर] जागकर और उठकर हर्षातिरेक के कारण विकसित आँखों से निवास भवन को धवल करते हुये उसी समय (अति प्रातः काल में) शुकनास को [आदरसहित बुलाकर] अपना स्वप्न सुनाया।

---

१. समुत्ससर्ज। २. शिवबलिम्। ३. एवञ्च।
४. अल्पशेष। ५. धूसरे। ६. सौधशिखरस्थितायाः।
७. बिसपल्लवम्। ८. ···परिपूर्ण···। ९. विशन्तम्।
१०. क्वचित्तु नास्तीदम्।

स तं समुपजातहर्षः प्रत्युवाच—देव ! सम्पन्नाः सुचिरादस्माकं प्रजानाञ्च मनोरथाः। कतिपयैरेवाहोभिरसंदेहमनुभविष्यति स्वामी सुतमुखकमलावलोकनसुखम्। अद्य खलु मयापि निशि स्वप्ने धौतसकल-वाससा शान्तमूर्त्तिना दिव्याकृतिना द्विजेन बिकचचन्द्र-कलावदात-दलशतम्, आलोलकेसरसहस्रजटालम्, मकरन्द-बिन्दु-सीकरवर्षि पुण्डरीकमुत्सङ्गे देव्या

प्रबुद्ध इति। प्रबुद्धः=विनिद्रः सन्, च, उत्थाय=शयनादुत्थानं कृत्वा, हर्ष-विकास-स्फीततरेण—हर्षेण (=आनन्देन) यो विकासः (=उन्मीलनम्) तेन स्फीततरेण (= अतिगरिष्ठेन, अतिप्रसृतेन) चक्षुषा=नेत्रेण, धवलीकृतवासभवनः—धवलीकृतम् (शुभ्रीकृतम्) वासभवनम् (=निवासगृहम्) येन स तादृशः, सन्, तस्मिन्नेव क्षणे=तदैव, शुकनासम्=एतन्नामानं प्रधानामात्यम्, समाहूय=सादरमाहूय, तम्=पूर्वोक्तम्, स्वप्नम्=स्वापानुभूतवृत्तान्तम्, अकथयत्=अवोचत्।

स इति। समुपजातहर्षः—समुपजातः (=समुत्पन्नः) हर्षः (=प्रमोदः) यस्य स तादृशः, सन्, सः=शुकनासः, तम्=राजानं तारापीडम्, प्रत्युवाच=प्रत्यवदत्। सः किमवोचदिति वर्णयति—देव इति। देव=हे राजन्, सुचिरात्=बहुविलम्बात्, अस्माकम्=तव मम आत्मीयानाञ्च, प्रजानाम् = जनानाम्, च, मनोरथाः=अभीष्टानि, सम्पन्नाः=साफल्यं प्राप्ताः। कतिपयैः=स्वल्पैः, एव, अहोभिः=दिवसैः, स्वामी=महाराजः, सुतमुखकमलावलोकनसुखम्=सुतस्य (=पुत्रस्य) यत् मुखकमलम् (=आननपद्मम्) तस्य अवलोकनम् (=वीक्षणम्) तेन यत् सुखम् (=प्रमोदः) तत्, असन्देहम्=निःसन्देहं यथा स्यात्तथा, अनुभविष्यति=अनुभवविषयीकरिष्यति। शीघ्रमेव भवतः सुतोत्पत्तिर्भविष्यतीति भावः।

साम्प्रतं स्वस्वप्नं निवेदयति शुकनासः—अद्येति। खलु=निश्चयेन, अद्य=अस्यामेव रात्रौ, मयापि=शुकनासेनापि, स्वप्ने = स्वापावस्थायाम्, धौतसकलवाससा—धौतानि (=प्रक्षालितानि) सकलानि (=समस्तानि) वासांसि (=वस्त्राणि) यस्य तेन, शान्तमूर्तिना—शान्ता (=निरुपद्रवा) मूर्तिः (=शरीरम्) यस्य तेन, दिव्याकृतिना—दिव्या (=रमणीया) आकृतिः (=आकारः) यस्य स तेन, तादृशेन द्विजेन = विप्रेण। विकचेत्यादिः—विकचम् (=विकस्वरम्) चन्द्रकलावत् (=शशिकलावत्) अवदातम् (=शुभ्रम्) दलानाम् (=पत्राणाम्) शतम् (=समूहः) यस्य तत्, तादृशम्। आलोलेत्यादिः—आलोलम् (=चञ्चलम्) यत् केसरसहस्रम् (=किंजल्कसहस्रम्) तेन जटालम् (=जटिलम्) [अत्र 'प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण लच् प्रत्ययः।] मकरन्देत्यादिः—मकरन्दः (=मरन्दः) तस्य ये विन्दवः (=पृषताः) त एव सीकराः (=जलकणाः) तान् वर्षतीति तच्छीलम्, पुण्डरीकम् = सितकमलम्, देव्या = मनोरमायाः स्वधर्मपत्न्याः, उत्सङ्गे=

[राजा द्वारा कहे गये स्वप्न को सुनकर] अत्यन्त हर्षित हुए शुकनास ने उस राजा से कहा—"महाराज ! बहुत समय के बाद हमारे और प्रजाजनों के मनोरथ पूरे हुए हैं। निश्चय ही, कुछ ही दिनों में महाराज आप पुत्र के मुखरूपी कमल के दर्शन के सुख का अनुभव करेंगे। आज रात में स्वप्न में मैंने भी एक ऐसे ब्राह्मण—जिसके सभी वस्त्र धुले (उज्ज्वल) थे, शरीर शान्त था, आकार दिव्य था—के द्वारा देवी (अपनी पत्नी) मनोरमा की गोद में रखा गया ऐसा कमल देखा जो खिली हुई तथा चंद्रकला के समान श्वेत सैकड़ों पंखुड़ियों से युक्त था, जो (कमल) हिलते

१. असंशयम्।　२. धवल....।　३. प्रशान्तमूर्तिना।
४. विकचं।　५. जटालमकरन्द, जटिलमकरन्द।　६. बिन्दुसन्दोहवर्षि।

मनोरमाया निहितं दृष्टम्। आवेदयन्ति हि प्रत्यासन्नमानन्दमग्रे[1]पातीनि शुभानि[2] निमित्तानि। किञ्च[3] अन्यदानन्दकारणमतो भविष्यति[4]। अवितथफला हि प्रायो[5] निशावसानसमयदृष्टा[6] भवन्ति स्वप्नाः। सर्वथा नचिरेण[7] मान्धातारमिव धौरेयं सर्वराजर्षीणां[8] भुवनानन्दहेतुमात्मजं जनयिष्यति देवी। [9]शरत्कालकमलिनीव अभिनवकमलोद्गमेन गन्धगजमाह्लादयिष्यति देवम्। येनेयं

क्रोडे, निहितम् = स्थापितम्, दृष्टम् = अवलोकितम्। हि = निश्चयेन, अग्रेपातीनि = पुरोजातानि, शुभानि = मङ्गलानि निमित्तानि, प्रत्यासन्नम् = सद्योभाविनम्, समीपवर्तिनम्, आनन्दम् = प्रमोदम्, आवेदयन्ति = सूचयन्ति। एवञ्च श्रीमता मया च दृष्टं शुभाय भविष्यतीति भावः।

किञ्चेति। किञ्च = अन्यच्च, अस्मात् = मयोक्तात्, सुतमुखकमलावलोकनसुखात्, अन्यत् = अपरम्, किम्, आनन्दकारणम् = प्रमोदहेतुः, भविष्यति = जायिष्यते, नान्यदिति भावः। एवञ्च तदेव निश्चितं भावीति बोध्यम्।

अवितथेति। हि = यस्मात् हेतोः, निशावसानेत्यादि—निशा (= रात्रिः) तस्या अवसानम् (= समाप्तिः) तस्मिन् समये (= काले) दृष्टाः (= विलोकिताः), स्वप्नाः (= स्वप्नवृत्तान्तानि), प्रायः = बाहुल्येन, अवितथफला—अवितथम् (= सत्यम्) फलम् (= परिणामः) येषां ते तादृशाः, भवन्ति = सम्पद्यन्ते।

सर्वथेति। सर्वथा = सर्वप्रकारेण, नचिरेण = अचिरेण, शीघ्रमेवेत्यर्थः, मान्धातारम् = युवनाश्वसुतम्, सूर्यवंशोत्पन्नं कञ्चन नृपम्, इव, सर्वराजर्षीणाम् = समस्तनृपोत्तमानाम्, नृपमुनीनाम्, धौरेयम् = धुरन्धरम्, भुवनानन्दहेतुम् = लोकप्रमोदकारणम्, आत्मजम् = पुत्रम्, देवी = महाराज्ञी, जनयिष्यति = उत्पादयिष्यति।

शरदिति। शरत्कालस्य = घनात्ययस्य, कमलिनी = पद्मिनी, अभिनवकमलोद्गमेन—अभिनवानाम् (= नवानाम्) कमलानाम् (= पङ्कजानाम्) उद्गमेन (= प्रादुर्भावेण), गन्धगजम् = गन्धहस्तिनम्, [गन्धगजलक्षणन्तु पूर्वं बहुशः लिखितम्] इव, देवम् = स्वामिनम्, आह्लादयिष्यति =

हुए हजारों केसरों से जटायुक्त और मकरन्द (पुष्परस) की बूंदों की बर्षा कर रहा था। पहले प्रतीत होनेवाले शुभ शकुन शीघ्र ही सम्भावित आनन्द की सूचना देते हैं, ऐसा निश्चित है। [अतः आपका और मेरा स्वप्न निकट भविष्य में किसी आनन्ददायक घटना के सूचक हैं।] और इस के अतिरिक्त आनन्द का दूसरा कारण क्या हो सकता है। [अर्थात् स्वप्न से पुत्रोत्पत्ति का ही कारण समझना चाहिए।] रात्रि की समाप्ति के समय देखे गये स्वप्न प्रायः सत्य फलदायी होते हैं, उनके फल में असत्यता नहीं होती है। निश्चय ही महारानी एक ऐसे पुत्र को जन्म देगी जो राजा मान्धाता के समान सभी राजर्षियों में प्रमुख तथा समस्त लोकों को आनन्द देने वाला होगा। जिस प्रकार शरद् ऋतु की कमलिनी नये कमलों के उद्गम से गन्धराज को आनन्द प्रदान करती है उसी प्रकार महारानी भी [पुत्रजन्म के द्वारा] आपको आनन्दयुक्त करेंगी। और जिस पुत्र के द्वारा स्वामी (आप) की कुल-परम्परा (आप का परिवार) दिग्गज की मदलेखा के समान अविच्छिन्न सन्तानों

---

१. अग्रेजातानि, आनन्दपातानि, अग्रजातानि। २. शुभनिमित्तानि।
३. किं वाऽन्यत् प्रियतरं परमानन्द, अधिकानन्द०। ४. विद्यते।
५. च। ६. समये दृष्टाः। ७. न चिरेण, अचिरेण।
८. राजर्षीणाम्। ९. शरत्कमलिनीव।

दिग्गजमदलेखेवाविच्छिन्नसन्ताना क्षितिभारधारणोचिता भविष्यति कुलसन्ततिः स्वामिनः' —इत्येवमभिदधानमेव तं करेण गृहीत्वा नरेन्द्रः प्रविश्याभ्यन्तरमुभाभ्यामपि ताभ्यां स्वप्नाभ्यां विलासवतीमानन्दयाञ्चकार[1]।

गर्भवार्ताज्ञानम्

कतिपयदिवसापगमे च देवताप्रसादात् सरसीमिव प्रतिमाशशी विवेश गर्भो विलासवतीम्। येन च नन्दनराजिरिव[2] परिजातेन, मधुसूदनवक्षःस्थलीव कौस्तुभमणिना सा

प्रमोदयिष्यति। अत्र साम्यप्रतिपादनादुपमालङ्कारः।

येनेति। येन = कारणेन, अविच्छिन्नसन्ताना—अविच्छिन्नः (= विच्छेदशून्यः) सन्तानः (= परम्परा) यस्याः सा दिग्गजमदलेखा—दिग्गजस्य (= दिग्हस्तिनः) मदलेखा (=दानरेखा), इव, इयम् = राजमहिषी, अविच्छिन्नसन्ताना—अविच्छिन्नम् (= अत्रुटितम्) सन्तानम् (=पुत्रपौत्रादिप्रवाहरूपम्) यस्या सा, एवम्भूता। अत एव, स्वामिनः = महाराजस्य कुलसन्ततिः = वंशपरम्परा, क्षितिभारधारणोचिता—क्षितिः (= पृथ्वी) तस्याः यः भारः (= वीवधः) तस्य धारणम् (= वहनम्) तत्र उचिता (= समर्था), भविष्यति = उत्पत्स्यते, इति = एवं पूर्वोक्तम्, अभिदधानम् = कथयन्तम्, एव, तम् = शुकनासं महामात्यम्, नरेन्द्रः = नृपः तारापीडः, करेण = हस्तेन, गृहीत्वा = धृत्वा, अभ्यन्तरम् = अन्तः पुराभ्यन्तरम्, प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, उभाभ्याम् = द्वाभ्याम्, अपि, ताभ्याम् = पूर्वोक्ताभ्यां स्वस्वदृष्टाभ्याम्, स्वप्नाभ्याम् = स्वप्नावलोकित-वृत्तान्ताभ्याम्, विलासवतीम् = राजमहिषीम्, आनन्दयाञ्चकार = आनन्दितामकरोत्।

अग्रे स्वप्नस्य सत्यत्वं वर्णयति—कतिपयेति। कतिपयेत्यादिः—कतिपये (= केचन) ये दिवसाः (= दिनानि) तेषाम् अपगमे = व्यतीते, सति, देवताप्रसादात् = देवानुग्रहात्, प्रतिमाशशी = प्रतिविम्बरूपी चन्द्रः, सरसीम् = सरोवरम्, इव, गर्भः = भ्रूणः, विलासवतीम् = एतन्नाम्नीं राजमहिषीम्, विवेश = प्रविष्टः। यथा चन्द्रप्रतिबिम्बं सरसीं प्रविशति तथैव गर्भो विलासवतीं प्रविवेशेति साम्यादुपमा।

येनेति। येन = गर्भेण, च, पारिजातेन = कल्पवृक्षेण, नन्दनवनराजिः = इन्द्रोपवनश्रेणिः, इव, [मन्दारः पारिजातमः इत्यमरः। नन्दनं वनम्। इत्यमरः] कौस्तुभमणिना = समुद्राद्विनिःसृतमणि-विशेषेण, मधुसूदनवक्षःस्थली = जनार्दनस्य उरःस्थली, इव, सा = विलासवती, सुतराम् =

(प्रवाह) वाली तथा पृथ्वी के भार को वहन करने में समर्थ होगी' [जिस प्रकार दिग्गजों की मदजलधारा कभी नहीं टूटती है और वे पृथ्वी को धारण किये रहते हैं उसी प्रकार आपके परिवार में सन्तानविच्छेद कभी नहीं होगा, वे होनेवाले लोग पृथ्वी का भार=शासन वहन करने में समर्थ होंगे]—ऐसा कहने वाले ही शुकनास का हाथ पकड़ कर राजा तारापीड ने अन्दर (अन्तःपुर में) प्रवेश करके उन दोनों स्वप्नों से विलासवती को आनन्दित किया।

[स्वप्न देखने के] कुछ दिन बीत जाने पर देवताओं की कृपा से विलासवती (के गर्भाशय) में गर्भ ने उसी प्रकार प्रवेश किया जिस प्रकार सरोवर में चन्द्रमा प्रवेश करता है। और उस गर्भ से वह विलासवती वैसे ही शोभित होने लगी जैसे पारिजात (कल्पवृक्ष) से इन्द्र के नन्दन वन

१. विनोदयाञ्चकार। २. नन्दनवनराजिरिव।

सुतरामराजत[1]। दर्पणश्रीरिव च गर्भच्छलेन[2] संक्रान्तमवनिपालप्रतिबिम्बमुवाह। सा शनैः शनैश्च[3] प्रतिदिनम् उपचीयमानगर्भा[4] निर्भर-परिपीत-सागर-सलिल-भर-मन्थरेव मेघमाला मन्दं मन्दं सञ्चचार। मुहुर्मुहुरनुबद्धजृम्भिकम् आजिह्मितलोचना[5] सालसं निशश्वास[6]। तथावस्थां तामहरहः

अत्यन्तम्, अराजत = अशोभत। अत्र मालोपमा बोध्या।

दर्पणश्रीरिति। दर्पणश्रीः = आदर्शशोभा, इव, गर्भच्छलेन = भ्रूणव्याजेन, संक्रान्तम् = स्वस्मिन् स्थितम्, अवनिपालप्रतिबिम्बम् नृपप्रतिरूपम्, उवाह = दधार।

सेति। प्रतिदिनम् = प्रत्यहम्, शनैः शनैः = मन्दं मन्दम्, उपचीयमानगर्भा—उपचीयमानः (=वर्द्धमानः) गर्भः (= भ्रूणः) यस्याः सा, तादृशी, सा = विलासवती, निर्भरेत्यादिः—निर्भरम् (= अतिशयं यथा स्यात् तथा) परिपीतम् (= समास्वादितम्) यत् सागर-सलिलम् (= समुद्रजलम्) तस्य यः भरः (= भारः) तेन मन्थरा (= मन्दा), तादृशी, या मेघमाला = कादम्बिनी, सा, इव, मन्दं मन्दम् =शनैः शनैः, सञ्चचार = सञ्चरणं चकार। अत्र केचित्—इह 'नन्दनवनराजिरिव'—'मधुसूदनवक्षःस्थलीव' इत्यत्रोपमयोर्मिथो नैरक्ष्येण विद्यमानत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः। 'दर्पण-श्रीरिव' इत्यत्रोपमा, 'गर्भच्छलेन' इत्यपह्नुतिः, अनयोश्चाङ्गाङ्गिभावेन संकरः। 'मेघमालेव' इत्यत्राप्युपमा।

मुहुर्मुहुरिति। मुहुर्मुहुः = भूयोभूयः, आजिह्मितलोचना—आ (= ईषत्) जिह्मिते (= संकुचिते) लोचने (=नेत्रे) यस्याः सा तादृशी, अनुबद्धजृम्भिकम्—अनुबद्धा (=आरब्धा) जृम्भिका (= जृम्भः) यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा, इदं क्रियाविशेषणम्, सालसम् = आलस्ययुक्तं यथा स्यात् तथा, निशश्वास = निःश्वासं तत्याज।

तथावस्थामिति। तथावस्थाम्—तथा (=पूर्ववर्णिता, पूर्वप्रकारा) अवस्था (=दशा) यस्याः सा ताम्। अनेकेत्यादिः—अनेके (=बहवः) रसाः (=मधुरादयः) यस्मिन् तादृशं वाञ्छितम् (=अभीष्टम्) पानम् (=धयनम्) भोजनम् (=भक्षणम्) यया सा ताम्। श्यामायमानपयोधरमुखीम्—श्यामायमानम् (=कृष्णतां प्राप्यमाणम्) पयोधरयोः (=स्तनयोः) मुखम् (=चूकुकम्, कुचोन्नतभागः) यस्याः सा ताम्, पक्षे—श्यामायमानम् (=कृष्णवर्णतां प्राप्नुवत्) पयोधरैः (=वारि-

की [वृक्ष] पंक्ति और कौस्तुभ मणि से विष्णु भगवान् की वक्षःस्थली शोभित होती है। [प्रतिबिम्ब को धारण करनेवाली] दर्पण की शोभा के समान वह महारानी गर्भ के बहाने से राजा के प्रतिबिम्ब को धारण किये हुई थी। और प्रतिदिन धीरे-धीरे बढ़ते हुए गर्भ वाली वह विलासवती—अत्यधिक पिये गये समुद्र के जल के भार से युक्त बादलों की माला (समूह) के समान धीरे-धीरे चलने लगी। वह बार-बार जमुहाई लेती हुई तथा आखों को कुछ टेढ़ा या बन्द-सी करती हुई अलसाई हुई सासें लेने लगी। इस (पूर्वोक्त) प्रकार की अवस्था वाली, प्रतिदिन अनेक प्रकार के (खट्टे, चटपटे आदि) रसों वाले भोजन और पेय की इच्छा करनेवाली, [भूरे या काले मेघों के कारण] काले होते हुए प्रारम्भिक भाग वाली वर्षा ऋतु के समान काले होते हुए पयोधर के मुख

१. सुतरामराजत सा, सुतरामराजत देवी।
२. नेदं क्वापि विद्यते।
३. इदमपि न दृश्यते क्वचित्।
४. प्रतिदिनमुग्धा, द्विप्रमाणगर्भा।
५. ...लोचनम्।
६. निःश्वास।

स्वयमनेकरसवाञ्छितपानभोजनां[1] प्रावृषमिव श्यामायमान-पयोधरमुखीं केतकीमिव गर्भच्छविपाण्डुराम्[2] आलोक्येङ्गित-कुशलः परिजनो[3] विज्ञातवान् ।

अथ तस्याः सर्वसेवकवर्ग-प्रधानभूता[4] सदा राजकुल-संवासचतुरा सर्वदा च राजसन्निकर्ष-प्रगल्भा सर्वमङ्गलकुशला कुलवर्द्धना नाम महत्तरिका[5] प्रशस्ते दिवसे प्रदोषोत्तरवेलायाम-

धरैः) मुखम् (=आरम्भभागः) यस्याः सा ताम्, तादृशीम्, प्रावृषम् =वर्षर्तुम्, इव । गर्भच्छविपाण्डुराम्—गर्भः (=भ्रूणः) तेन जनिता या छविः (=कान्तिः) तया पाण्डुरा (=शुक्लवर्णा) ताम् पक्षे—गर्भः (=मध्यभागः) तस्य च्छविः (=कान्तिः) तया पाण्डुरा (=शुभ्रवर्णा) ताम्, तादृशीम्, केतकीम् =केतकपुष्पम्, इव, तां विलासवतीम्, आलोक्य =दृष्ट्वा, इङ्गितकुशलः—इङ्गितेषु (=अन्तर्गत-भावावेदक-चेष्टादिषु) कुशलः (=निपुणः) परिजनः (=सेवकलोकः, परिवारलोकश्च), विज्ञातवान् =अजानात् । सा गर्भवती सञ्जातेति तत्रस्थैः लोकैर्ज्ञातमिति भावः । अत्रोपमा ।

अथेति । अथ = एतदनन्तरम्, तस्याः = विलासवत्याः, सर्वसेवक-वर्ग-प्रधानभूता—सर्वः (=समस्तः) यः सेवकवर्गः (=परिचारकजनः) तत्र प्रधानभूता (=प्रमुखभूता), सदा=सर्वदा, राजकुलसंवासचतुरा—राजकुले (=राजभवने) संवासेन (=अवस्थानेन) कुशला (=चतुरा), सर्वदा=सर्वस्मिन् काले; च, राजसन्निकर्ष-प्रगल्भा—राज्ञः (=नृपस्य तारापीडस्य) सन्निकर्षेण (=सामीप्येन) प्रगल्भा (=पण्डिता), सर्वमंगलकुशला—सर्वमङ्गलेषु (=सर्वविध-शुभकार्येषु) कुशला (=चतुरा) कुशलवर्धना नाम=नाम्ना कुलवर्धना, महत्तरिका = अन्तःपुर - प्रधानपरिचारिका, प्रशस्ते=प्रशंसनीये, दिवसे=दिने, प्रदोषोत्तरवेलायाम्=प्रदोषः (=रजनीमुखम्) तस्य उत्तरवेलायाम् (=उत्तरकाले) प्रदोषे सर्वकार्यनिषेधादिति भावः, अभ्यन्तरत्यादिः—अभ्यन्तरे (=मध्ये) यः आस्थानमण्डपः (=उपवेशनस्थलम्) तत्र गतम् (=स्थितम्) "भूमिपालं विदितमकार्षीदिति" वक्ष्यमाणेनान्वयः ।

गन्धेति । गन्धेत्यादिः—गन्धतैलस्य (=सुगन्धिततैलस्य) यः अवसेकः (=प्रक्षेपः) तेन ज्वलितम् (प्रदीप्तम्) यद् दीपिकासहस्रम् (=असंख्या लघुदीपाः) तदेव, परिवारः (=परिजनः) यस्य स तम् । उडुगणनिकर-मध्यवर्तिनम्—उडुगणाः (=नक्षत्रगणाः) तेषां निकरः (=समूहः)

(स्तनों के अग्रभाग) वाली, पीले रंग के मध्य भाग वाले केतकी के पुष्प के समान गर्भ की शोभा के कारण पाण्डु वर्ण वाली उस विलासवती को देखकर [गर्भादि के] चिह्नों को जानने में निपुण परिजनों ने उसे [गर्भिणी] समझ लिया, गर्भवती के चिह्न देखकर उसको गर्भ धारण किये हुए पहचान लिया ।

इसके बाद (महारानी को गर्भयुक्त जान लेने के बाद) सभी सेवकों के समूह में प्रधान, सदैव राजकुल में रहने के कारण [वहाँ के व्यवहार में] कुशल, राजा के समीप रहने के कारण [बातचीत करने में] प्रगल्भ (निडर), सभी मांगलिक कार्यों में (उनको करने में) कुशल कुलवर्धना नाम की प्रधान परिचारिका ने शुभ (प्रशस्त) दिन में प्रदोष काल (सन्ध्याकाल) के बाद

१. तामनभिनन्दितपानभोजनाम् ।　　२. गर्भपाण्डुराम् ।　　३. अन्तःपुरिकाजनः ।
४. सर्वपरिजनप्रधानभूता ।　　५. महान्तः पुरिका सः ।

भ्यन्तरास्थान-मण्डपगतं गन्धतैलावसेकज्वलितदीपिकासहस्रपरिवारम्[1] उडुनिकर-मध्यवर्त्तिनमिव[2] पौर्णमासीशशिनम्, उरगराज-फण-मणि-सहस्रान्तरालस्थितमिव[3] नारायणम्, मूर्द्धावसिक्तैः प्रधाननरेन्द्रैः[4] परिमितैः परिवृतम्, अनतिदूरावस्थितपरिजनम्, अनन्तरमुत्तुङ्गवेत्रासनोपविष्टेन धौतधवलाम्बरपरिधानेन अनुल्बणवेषेण[5] जलनिधिनेवागाधगाम्भीर्य्येण समुपारूढ-विश्रम्भनिर्भरास्तास्ताः कथाः शुकनासेन सह[6] कुर्वाणम्, भूमिपालमुपसृत्य रहः कर्णमूले विदितं[7]

तस्य मध्ये (=अन्तरे) वर्तते (=विद्यते) तच्छीलम्, पौर्णमासीशशिनम् =पूर्णिमाचन्द्रमसम्, इव। उरग-राजेत्यादिः—उरगराजस्य (=सर्पाधिपतेः शेषनागस्य) फणामणीनाम् (=फणास्थितरत्नविशेषाणाम् यत् सहस्रम् (=दशशती) तस्य अन्तरालम् (=मध्यभागः) तस्मिन् स्थितम् (=विराजमानम्), नारायणम् =विष्णुम्, इव। मूर्धावसिक्तैः =कृताभिषेकैः परिमितैः =अल्पैः, प्रधाननरेन्द्रैः =मुख्यनृपतिभिः, न तु सर्वैः, परिवृतम् =परिवेष्टितम्। अनतिदूरावस्थित-परिजनम्—अनतिदूरे (=नातिदूरे, समीपे इत्यर्थः) अवस्थिताः (=विद्यमानाः) परिजनाः (=सेवकलोकाः) यस्य स तम्।

अनन्तरमिति। अनन्तरम् =भूपतेः सिंहासनाददूरम्, उत्तुङ्गवेत्रासनोपविष्टम्—उत्तुङ्गम् (=अत्युच्चम्) यत् वेत्रासनम् (=वेतसनिर्मितविष्टरः) तस्मिन्, उपविष्टेन (=आसीनेन)। धौतधवलाम्बर—परिधानेन—धौतम् (=प्रक्षालितम्) अत एव धवलम् (=शुभ्रम्) अम्बरम् (=वसनम्) परिधानम् (=अधोंऽशुकम्) यस्य तेन तादृशेन। अनुल्वणवेषेणअनुल्वणः (=अनुद्धतः, अनुत्कटः) वेशः (=नेपथ्यम्) यस्य स तेन तादृशेन। जलनिधिना (=समुद्रेण) इव =यथा, अगाधगाम्भीर्येण—अगाधम् (=अतलस्पर्शम्, परैरज्ञेयम् च) गाम्भीर्यम् (=गम्भीरता, धैर्यञ्च) यस्य स तेन तादृशेन। अत्रोपमा। शुकनासेन =एतन्नाम्ना सचिवेन, समुपारूढेत्यादिः—समुपारूढः (= समुत्पन्नः) विश्रम्भ (= विश्वासः) निर्भरः (= अतिशयः) यासु ताः तादृश्यः, तास्ताः =पूर्वानुभूतार्थाः, प्रसिद्धाः वा बहुविधाः, कथाः =वार्तालापान्, कुर्वाणम् =कुर्वन्तम्, वार्तालापसंलग्नमिति भावः, भूमिपालम् =भूपतिं तारापीडम्, उपसृत्य =समीपं गत्वा, रहः =एकान्ते, गुह्ये वा, कर्णमूले =श्रोत्रमूले, श्रोत्रस्यातिसमीपे, विलासवतीगर्भवृत्तान्तम्—विलासवत्याः (=राजमहिष्याः)

राजा के पास जाकर एकान्त में कान के पास उस राजा को विलासवती के गर्भधारण के वृतान्त को ज्ञात करा दिया, कह दिया, उस समय जो (राजा) भीतरी सभामण्डप में बैठा हुआ था, सुगन्धित तेल डालने से जलते हुए हजारों दीपों से घिरा हुआ था, जो नक्षत्रों के समूह के बीच में बैठे हुए पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान [शोभायमान] था, जो शेषनाग के फनों की हजारों मणियों के मध्य में विराजमान भगवान् विष्णु के समान था, जो अभिषेक किये गये कुछ ही प्रमुख राजाओं से घिरा हुआ था; जिसके सेवकगण कुछ ही दूरी पर खड़े हुए थे, जो अपने पास ही बेंत के ऊंचे आसन (कुर्सी) पर बैठे हुए, धुले स्वच्छ वस्त्र पहने हुए साधारण वेषवाले (भड़कीले वस्त्र न धारण किये), समुंद्र के समान अगाध गाम्भीर्यवाले (महामन्त्री) शुकनास के साथ (उस शुकनास में)

---

१. अभिषेक। २. ···परिवृतम्। ३. ···फण···। ४. नरेन्द्रैः परिवृतम्।
५. नात्युल्बणवेषेण। ६. क्वचित् 'सह' इति नास्ति। ७. विदितविलासवती···।

विलासवतीगर्भवृत्तान्तमकार्षीत् ।

तेन तु तस्या वचनेनाश्रुतपूर्वेणासम्भाव्येनामृतरसेनेव सिक्तसर्वाङ्गस्य सद्यः-प्ररूढ-[1] रोमाञ्च-निकर-कण्टकिततनोरानन्दरसेन विह्वलीक्रियमाणस्य स्मितविकसित-कपोलस्थलस्य[2] परिपूरितहृदयातिरिक्तहर्षमिव[3] दशनांशुवितानच्छलेन विकिरतो राज्ञः शुकनासमुखे लोल-तारकमानन्दजलविन्दुक्लिन्नपक्ष्ममालं तत्क्षणं पपात चक्षुः ।

गर्भस्य (=भ्रूणधारणस्य) वृत्तान्तम् (=उदन्तम्) विदितम् (=ज्ञातम्) अकार्षीत् =चकार । राज्ञे विलासवतीगर्भधारणसूचना प्रदत्तेति भावः ।

तेनेति । तेन =राज्ञा, तु वाक्यालंकारे, यद्वा पुनरर्थे, तस्याः =कुलवर्णनायाः अश्रुतपूर्ण, =अनाकर्णितपूर्वेण, असम्भाव्येन =अचिन्तनीयेन, तेन =पूर्वोक्तेन कुलवर्धनावचनेन, अमृतरसेन = पीयूषद्रवेण, इव, सिक्तसर्वाङ्गस्य—सिक्तानि (= सेचितानि) सर्वाणि (= सकलानि) अङ्गानि (=अवयवाः) यस्य स तस्य । सद्यः—तत्कालमेव । प्ररूढेत्यादिः—प्ररूढः (=समुत्पन्नः) यो रोमाञ्चनिकरः (=लोमकण्टकसमुदायः) तेन कण्टकिता (=संजातकण्टका, रोमाञ्चिता) तनुः (= शरीरम्) यस्य स तस्य । आनन्दरसेन =प्रमोदप्रवाहेण, विह्वलीक्रियमाणस्य—व्याकुली-क्रियमाणस्य । स्मितविकसितेत्यादिः—स्मितेन (=ईषद्हास्येन) विकसितम् (=प्रफुल्लम्) कपोलस्थलम्(=गण्डस्थलम्) यस्य स तस्य । दशनांशुवितानच्छलेन-दशनांशूनाम् (=दन्तकिरणानाम्) वितानम् (=समूहः) तस्य छलेन (=व्याजेन) । परिपूरितेत्यादिः—परिपूरितम् (=पूर्णीकृतम्) यद् हृदयम् (=चित्तम्) तस्माद् अतिरिक्तः (=उद्वृत्तः, अधिकः) यो हर्षः (=प्रमोदः) तम्, विकिरतः =बहिः क्षिपतः, इव । [अत्र उत्प्रेक्षा] राज्ञः =तारापीडस्य, नृपस्य, लोलतारकम्—लोले (=चञ्चले) तारके (=कनी-निके) यस्य तत् । आनन्देत्यादिः—आनन्दजलस्य (=प्रमोदसलिलस्य) ये बिन्दवः (=पृषताः) तैः क्लिन्ना (=आर्द्रा) पक्ष्ममाला (=नेत्रलोमश्रेणिः) यस्य तत्, तादृशम्, चक्षुः = नेत्रम्, शुक-नासमुखे =शुकनासाननेे, सद्यः =तत्क्षणमेव, पपात =न्यपतत् । राज्ञो नेत्रं शुकनासस्य मुखं प्रति गतम्, सः तं व्यलोकयदिति भावः ।

उत्पन्न अतिशय विश्वास [सूचित करने] वाली उन अर्थात् पूर्वानुभूत विविध प्रकार की बातें करने में संलग्न था । [ऐसे राजा तारापीड के पास जाकर दासी ने एकान्त में कान के पास विलासवती के गर्भधारण का वृत्तान्त कह सुनाया ।]

उस (कुलवर्धना दासी) के उस अश्रुतपूर्व तथा असंभाव्य (अविश्वसनीय) वचन से [उस समय] मानों अमृत रस से सींचे गए सभी अंगों वाले राजा—जिसका शरीर तत्काल उत्पन्न हुए रोमांच-समूह से रोमांचित हो गया था, जो आनन्द रस के द्वारा विह्वल (व्याकुल) कर दिया जा रहा था, जिसके कपोलस्थल मुस्कान से विकसित हो गये (खिल गये) थे, जो भरे हुए हृदय से बचे हुए (अपने) हर्ष को दांतों की किरणों के समूह के बहाने से विखेर (फैला) रहा था,—उसके चंचल पुतलियों वाले, आनन्द के जलकणों से भींगे हुए पलक समूह वाले नेत्र उसी समय शुकनास के मुख पर पड़े अर्थात् वह शुकनास के मुख की ओर देखने लगा ।

---

१. ···प्रकट··· । २. मूलस्य । ३. ···प्रतिरिक्तं हर्षम् ।

अनालोकितपूर्वं[1] तु हर्षप्रकर्षमभिसमीक्ष्य[2] भूपतेः, कुलवर्द्धनाञ्च स्मितविकसितमुखीमागतां दृष्ट्वा तस्य चार्थस्य सततं मनसि विपरिवर्त्तमानत्वात्[3] अविदितवृत्तान्तोऽपि तत्कालोचितमपरमतिमहतो हर्षस्य कारणमपश्यन् शुकनासः स्वयमुत्प्रेक्ष्य समुत्सर्पितासनः समीपतरमुपसृत्य नातिप्रकटम्[4] आवभाषे—'देव ! अस्ति[5] किञ्चित्तस्मिन्[6] स्वप्नदर्शने सत्यम् ? अत्यन्तमुत्फुल्ललोचना[7] हि कुलवर्द्धना दृश्यते । देवस्यापीदं प्रियवचनश्रवणकुतूहलादिव श्रवणमूलमुपसर्पदुपरचयदिव

अनालोकितेति । भूपतेः = राज्ञस्तारापीडस्य, अनालोकितपूर्वम्, = अदृष्टपूर्वम्; हर्षप्रकर्षम् = आनन्दातिशयम्, अभिसमीक्ष्य = निरीक्ष्य, कुलवर्धनाम् = एतन्नाम्नीं प्रधानपरिचारिकाम्, च, स्मितविकसितमुखीम्—स्मितेन (= ईषद् हास्येन) विकसितम् (= विकस्वरम्) मुखम् (= आस्यम्) यस्याः सा तां तादृशीम्, दृष्ट्वा = अवलोक्य । तस्य = विलासवत्याः गर्भधारणरूपस्य, अर्थस्य = विषयस्य, च, मनसि = चेतसि, संततम् = निरन्तरम्, विपरिवर्तमानत्वात् = दृढं स्मर्यमाणत्वात्, विद्यमानत्वाद् वा, अविदितवृत्तान्तः—अविदितम् (= अज्ञातम्) वृत्तान्तम् (= उदन्तम्), गर्भधारणरूपमिति भावः येन सः तादृश अपि, शुकनासः, तत्कालोचितम् = तत्समययोग्यम्, अपरम् = एतद्भिन्नम्, अतिमहतः = अतिशयितस्य, हर्षस्य = प्रमोदस्य, कारणम् = हेतुम्, अपश्यन् = अनवलोकयन्, स्वयम् = आत्मनैव, उत्प्रेक्ष्य = सञ्चिन्त्य, समुत्सर्पितासनः—समुत्सर्पितम् (= परित्यक्तम्) आसनम् (= उपवेशनस्थलम्) येन स तादृशः, राज्ञः, समीपतरम् = निकटतरम्, उपसृत्य = उपेत्य, नातिप्रकटम् = नातिप्रकाश्यम्, किञ्चिद्गोप्यं यथा स्यात् तथा, आवभाषे = अवोचत् ।

उत्सुकः शुकनासस्तदा किमुवाचेति वर्णयति—देव इति । देव ! = महाराज ! तस्मिन् = पूर्वदृष्टे, स्वप्नदर्शने = स्वप्नावस्थानुभूतविषये, किञ्चित् = स्वल्पमपि, सत्यम् = तथ्यम्, अस्ति = वर्तते ? हि = यस्मात्कारणात्, कुलवर्धना = एतन्नाम्नी प्रधानसेविका, अत्यन्तम् = सातिशयम्, उत्फुल्ललोचना—उत् (= प्राबल्येन) फुल्ले (= विकसिते) लोचने (= नेत्रे) यस्याः सा तादृशी, दृश्यते = विलोक्यते ।

तस्याः प्रसन्नता कथमनुमीयते अत आह—देवस्यापीति । देवस्यापि = महाराजस्यापि,

राजा के अदृष्टपूर्व (पहले कभी न देखे गये) हर्ष को देखकर और मुस्कान से खिले हुए मुख वाली कुलवर्धना को देखकर तथा उस (महारानी के गर्भधारणरूपी विषय) के सदैव मनमें घूमते (विद्यमान) रहने के कारण [कुलवर्धना द्वारा कहे गये] वृत्तान्त को न जानता हुआ भी उस समय के लिए उचित किसी अन्य को अतिहर्ष का कारण न समझते हुए शुकनास ने अपने आप ही अनुमान (कल्पना) करके अपनी कुर्सी खींचकर राजा के और अधिक पास जाकर अत्यन्त प्रकट रूप में नहीं अर्थात् धीरे से कहा—"महाराज ? क्या उस स्वप्न में कुछ सच्चाई है ? क्योंकि कुलवर्धना बहुत खिले हुए (प्रसन्न) नेत्रों वाली दिखाई दे रही है । और महाराज की भी ये दोनों आँखें—प्रियवचनों

१. अनालोकितपूर्वं तु तं । २. अभिसंवीक्ष्य । ३. परिवर्तमानत्वात्, वर्तमानत्वात् ।
४. नातिप्रकाशम् । ५. किमस्ति । ६. किञ्चित् स्वप्नदर्शने ।
७. अत्यन्तोत्फुल्ललोचना, उत्फुल्ललोचना ।

नीलकुवलय-कर्णपूर-शोभाम्, आनन्दजल-परिप्लुतं तरलतारकं[1] विकसदावेदयति महत् प्रहर्ष-[2] कारणमीक्षणयुगलम् । उपारूढमहोत्सव-श्रवण-कुतूहलमुत्सुकोत्सुकं[3] क्लाम्यति मे मनः । तदावेदयतु देव किमिदम् ?'

इत्युक्तवति तस्मिन् राजा विहस्याब्रवीत्—'यदि सत्यमनया यथा[4] कथितम्,तदा सर्वमवितथं स्वप्नदर्शनम् । अहन्तु न श्रद्दधे । कुतोऽस्माकमियती भाग्यसम्पत् ? अभाजनं हि वयमी-

---

इदम् = पुरो दृश्यमानम् महत् = विशालम्, ईक्षणयुगलम् = नेत्रद्वयम्, प्रियवचनश्रवण-कुतूहलात्—प्रियवचनम् (= इष्टवचनम्) तस्य श्रवणम् (= आकर्णनम्) तस्य तस्मिन् वा कुतूहलात् (= कौतुकात्), इव, श्रवणमूलम् = श्रोत्रनिकटम्, उपसर्पत् = उपव्रजत्, नीलकुवलयकर्णपूरशोभाम्—नीलम् (= नीलवर्णम्) यत् कुवलयम् (= कमलम्) तदेव तल्लक्षणं वा यत् कर्णपूरम् (= श्रवणाभरणम्) तस्य शोभा (= कान्तिः) ताम्, उपरचयत् = विदधत्, इव, आनन्दजलपरिप्लुतम्—आनन्दजलम् (= प्रमोदवाष्पः) तेन परिप्लुतम् (= व्याप्तम्), तरलतारकम्—तरले (=चञ्चले) तारके (= कनीनिके) यस्य, तत्, विकसत् = विकासं भजत् सत्, प्रहर्षकारणम्= प्रमोदहेतुम्, आवेदयति = सूचयति । एवञ्च कारणेन कार्यानुमानं भवतीति भावः ।

एतेन शुकनासस्य कीदृशी दशा जातेति वर्णयति—उपारूढेति । उपारूढम् (=समुत्पन्नम्) महोत्सवस्य (=महामहस्य) श्रवणकुतूहलम् (=श्रवणौत्सुक्यम्) यस्य तत् तादृशम्, उत्सुकोत्सुकम्= अतिशयोत्कण्ठितम्, मे = मम, शुकनासस्य, मनः = चित्तम्, क्लाम्यति = खिन्नं भवति, आतुरतां प्रयाति । तत् = तस्मात्, देवः = महाराजः, इदम् = पुरोऽनुभूयमानम्, श्रीमताकर्णितम्, किम् = किम्विषयकम्, इति, आवेदयतु = सूचयतु । इति = एवं रूपेण, तस्मिन् = शुकनासे, उक्तवति = कथितवति, सति, राजा = नृपः, विहस्य = किञ्चित् हसित्वा, अब्रवीत् = अवोचत् ।

तदा राजा शुकनासं किमवोचदिति प्रतिपादयति—यदीति । अनया = एतया कुलवर्धनया, यथा = येन प्रकारेण, कथितम् = भाषितम्, यदि = चेत्, सत्यम् = अवितथम्, तथा, तदा = तर्हि, स्वप्नदर्शनम् = स्वापावस्थानुभवः, सर्वम् = सकलम्, अवितथम् = सत्यमेव । अस्या वचनानां

को सुनने की उत्सुकता से मानों कानों के मूल के निकट जाती हुईं, नीलकमल के कर्णपूर की शोभा को मानों उत्पन्न करती हुईं, आनन्द के अश्रुजल से परिपूर्ण (भरी हुईं), चंचल पुतलियों वाली तथा खिलती हुईं—किसी बहुत बड़े हर्ष के कारण को सूचित कर रहीं हैं । [आपकी अतिशय प्रसन्न आँखें इस बात की सूचक है कि कोई बहुत बड़े हर्ष का समाचार है ।] जो महान् उत्सव आ गया है उसे सुनने के कुतूहल से युक्त मेरा मन व्याकुल हो रहा है, घबड़ा रहा है । इसलिए महाराज बतलाइये कि क्या बात है ?

शुकनास द्वारा ऐसा (उपर्युक्त) कहा जाने पर राजा तारापीड ने हँसकर कहा—"इस कुलवर्धना ने जैसा कहा वह यदि सच है तब तो सारा स्वप्न देखना सच है, (उस स्वप्न की सत्यता

---

१. प्लुततरतरलतारकम् । २. प्रकर्ष० ।

३. उत्सुकम् । ४. तथा ।

दृशानां प्रियवचनश्रवणानाम् । अवितथवादिनीमप्यहं कुलवर्द्धनामेवंविधानां कल्याणानामसम्भावितमात्मानं मन्यमानो विपरीतामिवाद्य पश्यामि । तदुत्तिष्ठ, स्वयमेव गत्वा किमत्र सत्यमिति देवीं पृष्ट्वा ज्ञास्यामि ।'

इत्यभिधाय विसृज्य[1] सकलनरेन्द्रलोकम्, उन्मुच्य स्वाङ्गेभ्यो भूषणानि कुलवर्द्धनायै दत्वा, तया च दत्तप्रसादानन्तरमवनितलाश्लिष्टललाटरेखया शिरःप्रणामेनाभ्यर्चितः, सह

सत्यत्वं स्वप्नदर्शनस्य सत्यत्वं साधयति । तु = किन्तु, अहम् = नृपः तारापीडः, न = नैव, श्रद्दधे = श्रद्धां करोमि, विश्वसिमीति भावः । अस्माकम् इयती = इदम्परिमाणा, ईदृशी, भाग्यसम्पत् = सौभाग्यलक्ष्मीः, कुतः = कस्मात्, भविष्यतीति शेषः ? हि = यस्मात्, वयम् = मादृशाः जनाः, ईदृशानाम् = एतादृशानाम्, कुलवर्धनोक्तानामित्यर्थः, प्रियवचन-श्रवणानाम् = इष्टवाक्याकर्णनानाम्, अभाजनम् = अपात्रम् ।

अवितथवादिनीमिति । अहम् = नृपः अवितथवादिनीम् = सत्यभाषिणीम्, अपि कुलवर्धनाम् = पूर्वनिर्दिष्टां प्रधानपरिचरिकाम्, एवंविधानाम्, = ईदृशानाम्, कल्याणानाम् = मङ्गलानाम्, असम्भावितम् = अयोग्यम्, आत्मानम् = स्वम्, मन्यमानः = जानन् सन्, अद्य = अस्मिन् दिने, विपरीताम् = असत्यवादिनीम्, इव, पश्यामि = विलोकयामि, चिन्तयामीत्यर्थः । तत् = तस्मात्, उत्तिष्ठ = उत्थानं विधेहि, स्वयमेव = आत्मनैव, गत्वा = व्रजित्वा, अन्तःपुरमिति शेषः, अत्र = कुलवर्धनोक्तवृत्तान्ते, किम्, सत्यम् = तथ्यम्, इति, देवीम् = महाराज्ञीं विलासवतीम्, पृष्ट्वा = संपृच्छ्य, ज्ञास्यामि = वेत्स्यामि, सत्यासत्ये निर्णेष्यामि ।

इतीति । इति = एवम्, अभिधाय = कथयित्वा, सकलनरेन्द्रलोकम् = समस्तनृपजनम्, विसृज्य = स्वस्वेष्टस्थान-गमनायानुज्ञाप्य । स्वाङ्गेभ्यः = स्वावयवेभ्यः, आभूषणानि = अलङ्कारान्, उन्मुच्य = निष्कास्य, अङ्गस्थिताभूषणानि पृथक्कृत्य, कुलवर्धनायै – एतन्नाम्न्यै महत्तरिकायै, दत्त्वा = सम्प्रदाय । दत्तप्रसादानन्तरम्—दत्तः (= अर्पितः) यः प्रीत्या प्रसादः (= अभूषणादिरूपः तस्य अनन्तरम् = पश्चात्, अवनितलाश्लिष्ट-ललाटरेखया—अवनितले (= भूतले) आश्लिष्टा (= संयोजिता) ललाटरेखा (= मस्तकदेशः) यया सा तया, तादृश्या, तया = कुलवर्धनया, च, शिरःप्रणामेन = उत्तमाङ्ग-

---

में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।) परन्तु मैं [इस में] विश्वास नहीं कर पा रहा हूँ । हमको इतनी सौभाग्य-सम्पत्ति कहाँ से मिल सकती ? हमलोग तो इस प्रकार के प्रिय (आनन्दजनक) वचनों को सुनने के लिए पात्र (योग्य) ही नहीं हैं । [सदैव] सच बोलने वाली इस कुलवर्धना को भी, मैं आज अपने को ऐसे कल्याणों के अयोग्य समझता हुआ, विपरीत (असत्यभाषिणी) सा देख रहा हूँ । [सदैव सत्यभाषिणी भी कुलवर्धना को आज अपने दुर्भाग्य के कारण मैं असत्यभाषिणी सा समझ रहा हूँ ।] इसलिए उठो, मैं स्वयं ही चलकर, इसमें क्या सच्चाई है, यह महारानी से पूछ कर मालूम करूँगा । [महारानी जब स्वयं ही गर्भधारण की बात मुझे बतलायेगी तभी मुझे पूरा विश्वास होगा ।]

ऐसा (पूर्वोक्त) कहकर सभी राजाओं को विदा कर के, अपने अंगों [में धारण किये गये आभूषणों में] से उतार कर कुलवर्धना को [पुरस्कार रूप में] देकर उसके बाद उस कुलवर्धना द्वारा अपने मस्तक की रेखा से भूतल को छूकर सिर से प्रणाम करने से पूजित किया गया, (उसने

---

१. विसर्ज्य ।

शुकनासेनोत्थाय, हर्षविशेषनिर्भरेण त्वर्यमाणो[1] मनसा, पवन-चलित-नील-कुवलय-दल-लीला-विडम्बकेन दक्षिणेनाक्ष्णा परिस्फुरताऽभिनन्द्यमानः[2] तत्काल-सेवा-समुचितेन विरल-विरलेन परिजनेनानुगम्यमानः पुरःसर्पिणीनामनिललोलस्थूलशिखानां[3] प्रदीपिकानामालोकेन समुत्सार्य्यमाणकक्षान्तरतिमिरसंहतिरन्तः[4] पुरमयासीत्।

विलासवत्या गर्भधारणवर्णनम्

तत्र[5] च सुकृत-रक्षासंविधाने, नवसुधानुलेपन-धवलिते[6], प्रज्वलितमङ्गलप्रदीपे[7], पूर्णकल-

---

प्रणत्या, अभ्यर्चितः = वन्दितः। शुकनासेन = एतन्नाम्ना महामात्येन, सह = साकम्, उत्थाय = उत्थानं कृत्वा, हर्षविशेषनिर्भरेण—हर्षविशेषस्य (= प्रमोदातिशयस्य निर्भरेण (= परिपूर्णेन) मनसा = चेतसा, त्वर्यमाणः = त्वरां कुर्वाणः, अन्तःपुरप्राप्तये शीघ्रतां कुर्वन्, पवनेत्यादिः—पवनेन (= वायुना) चलितम् (= कम्पितम्) यत् नीलकुवलयम् (= नीलकमलम्) तस्य यद् दलम् (= पत्रम्) तस्य लीला (= शोभा) तस्या विडम्बकेन (= तदनुकारिणा), अथ च, परिस्फुरता = स्पन्दता, दक्षिणेन = अपसव्येन, अक्ष्णा = नेत्रेण, अभिनन्द्यमानः = आनन्द्यमानः, समीहित-प्राप्तिद्योतनेन सन्तोष्यमाणः। तत्कालसेवा-समुचितेन—तत्काले (= तस्मिन्नवसरे) सेवायाम् (= परिचर्यायाम्) समुचितेन (= योग्येन), विरल-विरलेन = अतिशयाल्पसंख्यकेन, परिजनेन = सेवकलोकेन, अनुगम्यमानः = अनुस्त्रियमाणः। पुरःसर्पिणीनाम् = अग्रे व्रजन्तीनाम्, अनिललोल-स्थूलशिखानाम्—अनिलेन (= पवनेन) लोलाः (= चंचलाः) स्थूलशिखाः (= विशाला अग्रभागाः) यासां तासाम्, प्रदीपिकानाम् = प्रदीपानाम्, आलोकेन = प्रकाशेन, समुत्सार्यमाणेत्यादिः—समुत्सार्यमाणा (= दूरीक्रियमाणा) कक्षान्तरे (= भवनाभ्यन्तरे) तिमिरसंहतिः (= तमोव्यूहः) यस्य स तादृशः सन्, अन्तःपुरम् = शुद्धान्तावरोधम्, अयासीत् = अगमत्। एवञ्च तदैव स कुलवर्धनावचनानां स्वस्वप्नस्य च सत्यत्वं ज्ञातुमन्तःपुरं प्रविष्ट' इति भावः।

साम्प्रतं विलासवत्या गर्भधारण-ज्ञानाय वर्णयितुमुपक्रमते—तत्र चेति। तत्र = तस्मिन्, अन्तःपुरे, च, सुकृतरक्षासंविधाने—सुकृतम् (= सुष्ठु विहितम्) रक्षायाः (= रक्षणस्य)

जमीन पर माथा रखकर सिर झुकाकर राजा को प्रणाम किया), शुकनास के साथ उठकर हर्ष-विशेष से भरे हुए मन से शीघ्रता करता हुआ, हिलते हुए नीलकमल के दल (पंखुड़ियों) की शोभा का अनुकरण वाली और फड़कती हुई दाहिनी आँखों से अभिनन्दित किया जाता हुआ (शुभशकुन से सम्मानित किया जाता हुआ), उस समय सेवा के लिए योग्य तथा बहुत कम गिने चुने सेवकों द्वारा अनुगमन किया जाता हुआ, (राजा तारापीड) आगे चलने वाली, हवा के कारण हिलती हुई और मोटी शिखा वाली प्रदीपिकाओं (लैम्पों या लालटेनों) के प्रकाश से कमरों के भीतर का अन्धकार समूह जिसके लिए हटाया जा रहा था, (ऐसा वह राजा) अन्तःपुर पहुँचा।

विलासवती के गर्भ धारण का वर्णन

और वहाँ (अन्तःपुर में) ऐसे वासभवन (= मध्यगृह)—जिसमें रक्षा सम्बन्धी उपाय

---

१. पूर्यमाणः। २. अभिवन्द्यमानः।
३. अनिललोलोच्छलच्छिखानां। ४. प्रदीपकानाम्'''कक्षान्तरतिमिरम्।
५. तत्र चमुकृत, बहुकृत। ६. नवसुधालेप। ७. दीपे।

शाधिष्ठितपक्षके,[1] प्रत्यग्र-लिखित-मङ्गल्यालेख्योज्ज्वलितभित्ति-भाग-मनोहारिणि,[2] उपरचितसित-वितानेवितान-पर्य्यन्तावबद्धमुक्तागुणे[3] मणिप्रदीप-प्रहत-तिमिरे[4] वासभवने,[5] भूति-लिखितपत्त्रलता-[6] कृतरक्षा-परिक्षेपम्, शयन-शिरोभाग-विन्यस्त-धवल-निद्रामङ्गलकलशम्,[7] आबद्ध-विविधौषधि-

संविधानम् (=पाखण्ड—शकिनी—डाकिनी प्रभृतीनां प्रवेश-प्रतिबन्ध-कर्मणि-मन्त्राद्यौषधप्रकारः) यस्मिन् तस्मिन् । [अत्रत्यानि सतम्यन्तानि पदानि 'वासभवने' इति वक्ष्यमाणस्य विशेषणानिति बोध्यम् ।] नवसुधेत्यादिः—नवम् (= प्रत्यग्रम् सद्योविहितम्) यत् सुधायाः (= श्वैत्य-सम्पादक-पदार्थविशेषस्य, 'चूना' इति ख्यातस्य) अनुलेपनम् (= अवलेपः) तेन धवलिते (=शुभ्रीकृते) प्रज्वलित-मङ्गलप्रदीपे—प्रज्वलितः (=प्रदीप्तः) मङ्गलः (=मङ्गलत्वसम्पादकः) प्रदीपः (= दीपः) यस्मिन् तस्मिन् । पूर्णकलसाधिष्ठितपक्षके—पूर्णकलसैः (= जला-दिपरिपूरितघटैः) अधिष्ठितम् (= समाश्रितम्) पक्षकम् (= पक्षद्वारम्) यस्मिन् तस्मिन् । [पक्षकशब्दः पुंसि नपुंसके च—'पक्षद्वारं तु पक्षकम् । कोशः । "पक्षकस्तु पुमान् पार्श्वद्वारे च पार्श्वमात्रके 'इति च मेदिनी ।] प्रत्यग्रलिखितेत्यादिः—प्रत्यग्रम् (=अभिनवं यथा यथा स्यात् तथा) लिखितानि (=लिपीकृतानि) यानि माङ्गल्यानि (=मङ्गलाय हितानि, कल्याणोत्पादका नीत्यर्थः) आलेख्यानि (=दैवादिचित्राणि) तैः उज्ज्वलितः (=दीप्तिमान्) यः भित्तिभागः (=कुड्यप्रदेशः) तेन मनोहारिणि (= चित्ताकर्षके) । उपरचितसित-विताने—उपरचितम् (= संयोजितम्) सितम् (=शुभ्रम्) वितानम् (=उल्लोचः) यस्मिन् तस्मिन्, ["अस्त्री वितानमुल्लोचः ।" इत्यरः] वितानेत्यादिः—वितानम् (=उल्लोचः) तत् पर्यन्तम् (=तत्प्रान्तं यावत्) अवबद्धाः (=गुम्फिताः) मुक्तागुणाः (=मुक्तामालाः) यस्मिन् तस्मिन् । मणिप्रदीपेत्यादिः—मणयः (=रत्नानि) एव प्रदीपाः (=दीपाः) तैः प्रहतम् (=नाशितम्) तिमिरम् (=तमः) यस्मिन् तस्मिन् तादृशे, वास-भवने=निवाससदने, गर्भागारे ।

भूतीति । [अत आरभ्य एकादश नपुंसकद्वितीयाबहुवचनान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'शयन-तलस्य' विशेषणानीति बोध्यम् ।] भूतिलिखितेत्यादिः—भूत्या (=भस्मना) लिखिता, (= ऐश्वर्यार्थे खचिताः, विन्यस्ताः वा) याः पत्रलताः (= खचिताः वल्ल्यः) ताभिः कृतः (= विहितः) परिक्षेपः (=विस्तारः) यस्मिन् तत् तादृशम् । शयनेत्यादि—शयनस्य (=शय्यायाः) शिरोभागे

अच्छी तरह से किये जा चुके थे, जो चूने के ताजे लेप (पुताई) से धवल कर दिया गया था, जिसमें मंगलदीप जलाये जा चुके थे, जिसके पक्षद्वार पर जलादि से भरे हुए कलस स्थापित थे, जो उसी समय (ताजे ताजे) बनाए गये मंगलसूचक चित्रों से प्रकाशित (सुसज्जित) दीवारों के भाग के कारण मनोरम [प्रतीत हो रहा] था, जिस पर सफेद चंदोवा (वितान) बना दिया गया था, जिसमें चंदोवे के किनारों पर मोतियों की मालाएँ बाँध दी गईं थीं, मणियों के दीपों से जिसका अँधेरा दूर कर दिया गया था—उसमें [उस विलासवती को देखा जो] गर्भवती के लिए उचित शयनतल पर लेटी हुई थी, जिस (शयन तल) में भूति (हवनादि की राख) से बनाईं गईं पत्रलताओं (चित्र-कारी) द्वारा रक्षा का वृत्त (गोला) बना दिया गया था, जिस (शयनीयतल) के सिरहाने पर

१. अधिष्ठिते,'''द्वारपक्षके । २. मङ्गल्यलेख्य,''' उज्ज्वलित''' भागे ।
३. ''' सितविताने, वितान''' पर्यन्तस्थितमुक्तागणे । ४. '''प्रतिहत'''।
५. वासभुवने । ६. भूमि । ७. ''' ''' निद्राकलस '''।

मूल-यन्त्र-पवित्रम्[1], अवस्थापित-रक्षा-शक्तिवलयम्, इतस्ततो विप्रकीर्ण-गौरसर्षपम्[2],अवलम्बित-[3] बाल-योक्त्र-ग्रथितलोल-पिप्पलपत्रम्[4], आसक्त-हरितारिष्टपल्लवम्, उत्तुङ्ग-पादपीठ-प्रतिष्ठितम्[5], इन्दु-दीधिति-धवल-प्रच्छद-पटम्, अचलराज-शिलातल-विशालं गर्भोचितं शयनतलमधिशयानाम्—

(=मस्तकस्थापनयोग्यप्रदेशे) विन्यस्तः (=स्थापितः) धवलः (=उज्ज्वलः, श्वेतवर्णः) निद्रायाम् (=स्वापसमये) मङ्गलकलशः (=शुभघटः) यत्र तत् तादृशम्। निर्विघ्न-निद्रा-समुत्पादकः रजतमयः कलशोः यत्र शिरोभागे विद्यते। इयं च देशरीतिः। यदुक्तमन्यत्र "निद्राकलसो रूप्यमयः सर्वश्वेतः शिरोभागेऽहर्निशं पूर्णजलः स्थाप्यते।' इति भानुचन्द्रः। आबद्धेत्यादिः—आबद्धानि (=संयतानि) विविधानाम् (=अनेकप्रकाराणाम्) औषधीनाम् (=लतानां वनस्पत्यादीनां च) मूलानि (=वृक्ष-लता-शिफाः) यन्त्राणि (=भूर्जपत्रे लिखितानि चक्रव्यूह-प्रभृतानि) पवित्राणि (=मन्त्रपूतगोरोचनादीनि) यस्मिन् तत् तादृशम्। अवस्थापितेत्यादिः—अवस्थापितानि = समीपे रक्षितानि) रक्षार्थम् (=रक्षणाय) शक्तीनाम् (=कात्यायन्यादीनाम्) वलयानि (=बर्हनिर्मितानि कङ्कणानि) यस्मिन् तत् तादृशम् ः इतस्ततः =यत्र तत्र सर्वत्र, विप्रकीर्णाः (= विकीर्णाः, विक्षिप्ताः) गौरसर्षपाः (=श्वेतसिद्धार्थाः) यस्मिन् तत् तादृशम्। अवलम्बितेत्यादिः—अवलम्बितानि (=न्यस्तानि) बालानाम् (=केशानाम्) योक्त्रेण (=रज्ज्वा) ["आबन्धो योत्रं योक्त्रम्"—इत्यमरः] ग्रथितानि (=गुम्फितानि) लोलानि (= चञ्चलानि) पिप्पलपत्राणि (= अश्वत्थपर्णानि) यस्मिन् तत् तादृशम्। आसक्त-हरितारिष्ट-पल्लवम्—आसक्तानि (=परस्परं संश्लिष्टानि) हरितानि (=पलाशवर्णानि) अरिष्ट - पल्लवानि (= निम्बकिसलयानि) यत्र तत् तादृशम्। [अरिष्टः फेनिले निम्बे लशुने कामकङ्कयोः। इति मेदिनी] उत्तुङ्ग-पादपीठ-प्रतिष्ठितम्—उत्तुङ्गेषु (=उन्नतेषु) पादपीठेषु (=पल्याङ्काधार - भूतेषु काष्ठविशेषेषु) प्रतिष्ठितम् (=अवस्थितम्)। इन्दुदीधितिधवलप्रच्छदपटम्—इन्दोः (= शशिनः) याः दीधितयः (= किरणाः, शोभाः वा) तद्वत् धवलः (=शुभ्रवर्णः) प्रच्छदपटः (=आस्तरणवस्त्रम्) यस्मिन् तत् तादृशम्। अचलराजशिलातल-विशालम्—अचलराजः (= नगाधिपः हिमालयः) तस्य तत्र वा यत् शिलातलम् (=पाषाणखण्डः) तद्वत् विशालम् (=विस्तीर्णम्)। गर्भोचितम् =गर्भवत्याः शयनयोग्यम्, शयनतलम् = आस्तरणोपरिभागम्, अधिशयानाम् =स्वापं विदधानाम्—अस्य 'ददर्श' इति वक्ष्यमाणक्रियया सम्बन्धः। अत्राधारत्वेऽपि 'अधिशीङ्स्थाऽसां कर्म' इतिसूत्रेण अधिपूर्वकशीङ्योगे कर्मत्वाद् द्वितीया बोध्या।

धवल तथा [निर्विघ्न] निद्रा [के समय] में मंगल करनेवाले कलस रखे गये थे, जिस में अनेक प्रकार की औषधियों की जड़ें, यन्त्र (ताबीज आदि) तथा [मन्त्र और गोरोचनादि से] पवित्र वस्तुएँ रखीं गईं थीं, जिसमें रक्षा के लिए (कात्यायनी आदि) शक्तियों के [मयूर-पंखादि से बने] वलय (कंगन) रखे हुए थे, जिसमें इधर-उधर सफेद सरसों बिखेर दी गई थी, जिसमें बालों से बनी रस्सी से गूँथे (बांधे) गये हिलते हुए पीपल के पत्ते लटका दिये गये थे, जिसमें नीम के हरे (ताजे) पत्ते लटक रहे थे, जो (शयनतल) ऊँचे [लकड़ी के] पाद-पीठों पर रखा हुआ था, जिस पर चन्द्रमा की किरणों के समान धवल चादर (पलंगपोश) [बिछी हुई] थी, जो गिरिराज हिमालय के शिलातल के समान [चमकता हुआ और] विशाल था। [ऐसे शयनतल पर लेटी हुई विलासवती को देखा।]

१. ...मन्त्र...। २. विकीर्ण। ३. अवलम्बि।
४. ...बालयोक्त्रग्रथित...लोल, लोहित...दलम्। ५. पादपीठी।

—कनकपात्र-परिगृहीतैः[1] अविच्छिन्न-विरलावस्थित-दधिलवैर्जल-तरङ्ग-तरल-श्वेत[2]-शालि-सिक्थनिकरैः अग्रथितकुसुम-सनाथैः[3] पूर्णभाजनैः,अखण्डितानन-मत्स्य-पटलैश्च प्रत्यग्र-पिशितपिण्ड-मिश्रैः, अविच्छिन्न-सलिलधारानुगम्यमान[4]-मार्गैः, पटलकप्रज्वलितैश्च[5] शीतलप्रदीपैः[6], गोरोचना-

कनकेति । [इत आरभ्य 'पूर्णभाजनैः' इत्यन्तानि तृतीयान्तानि पदानि 'सिक्थनिकरै' रित्यस्य विशेषणानि] आचारकुशलेन—आचारः (= कुलक्रमागतसदाचारः) तत्र कुशलेन(= निपुणेन) अन्तः-पुरजरतीजनेन—अवरोधस्थितवृद्धालोकेन,[अत्र कर्तरि तृतीया बोध्या ।] कनकपात्रपरिगृहीतैः—कनकस्य (= सुवर्णस्यपात्राणि (=भाजनानि) तेषु परिगृहीतैः (=आत्तैः, स्थापितैः), अविच्छिन्नविरलावस्थित-दधिलवैः—अविच्छिन्नाः (= विच्छेदशून्याः) विरलावस्थिताः (=अनिविडतया स्थिताः) दधिलवाः (=दधिभागाः) येषु तैः तादृशैः, [एषु करणे तृतीया] । जलतरङ्गेत्यादिः—जलतरङ्गाः (=सलि-लोर्मयः) तद्वत्तरलाः (=चञ्चलाः) श्वेतशालिसिक्थानि (= तत्कालपक्वौदनसमूहाः, शालिलाज-समूहाः वा) तेषां निकराः (= समुदायाः) तैः । अग्रथित-कुसुमसनाथैः—अग्रिथितानि (=अगु-म्फितानि, मालारूपमनधिगतानि) यानि कुसुमानि (=पुष्पाणि) तैः सनाथैः (=संयुक्तैः) । पूर्ण-भाजनैः—पूर्णानि (=भृतानि) भाजनानि (=पात्राणि) यैस्तैस्तादृशैः ।

अखण्डितेति । [वक्ष्यमाणम् "अन्त पुर जरतीजनेन" इदं कर्तृवाचकम् । तृतीयान्तानीमानि च करणानि] अखण्डितेत्यादिः—अखण्डितम् (= अच्छिन्नम्) आननम् (= मुखम्) येषां ते तैस्तादृशैः, मत्स्यानाम् (= मीनानाम्) पटलैः (=समूहैः), च, । [एषां 'क्रियमाणावतरणक-मङ्गलाम्' इति वक्ष्यमाणेऽन्वयः ।] प्रत्यग्रेत्यादिः—प्रत्यग्रम् (= सद्यो नीतम्) यत् पिशितम् (=मांसम्) तस्य ये पिण्डाः (=खण्डानि), तैः, मिश्रैः (=मिश्रितैः) । अविच्छिन्नेत्यादिः—अविच्छिन्ना (=विच्छेदरहिता, अत्रुटिता) या सलिलधारा (= जलधारा) तया अनुगम्यमानः (=अनुस्रियमाणः, अनुष्ठीयमानः) मार्गः (=पन्थाः) येषां ते तैः । पटलकप्रज्वलितैः—पटलके (=रक्तवस्त्रनिर्मित दीपाधरे) प्रज्वलितैः (=प्रदीप्तैः), च, शीतलप्रदीपैः=शीतदीपकैः, कर्पूरयुक्त-दीपकैरित्यर्थः ।

गोरोचनेति । गोरोचनामिश्रगौरसर्षपैश्च—गोरोचना (=गोपित्ताख्यद्रव्यविशेषः) तया मिश्रैः

अन्तःपुर की आचार में कुशल वृद्धा स्त्रियों द्वारा—सोने के पात्रों में लिये (रखे) गये, बिना फटे या टूटे=अखण्डित=अक्षत और विरल रूप से रखे गये दही के खण्डों (टुकड़ों) से, जल की तरंगों के समान चंचल (हिलते हुए) और सफेद पके चावल=भात या लावा के पिण्डों के समूह से, बिना गूँथे गये अर्थात् अलग-अलग फूलों से युक्त पूरे भरे हुए पात्रों से, ताजे मांस-पिण्डों से मिले हुए, लगातार जलधारा से अनुगमन किये जाते हुए मार्ग वाली अखण्डित (बना काटे गये) मुखवाली मछलियों के समूह से, और पटलक (वस्त्र से बने आवरण) में ढंक कर जलाए गये शीतल प्रदीपों (कपूर के दीपों) से, और गोरोचना से मिली हुई सफेद सरसों से, और जल की अञ्जलियों से—जिसकी अवतरणक

१. प्रविच्छिन्न...। २. सित । ३. कुसुमाञ्जलि० ।
४. ...गम्यमान...। ५. पटल-प्रज्व...। ६. शीतलप्रदीपैश्च ।

मिश्रगौरसर्षपैश्च सलिलाञ्जलिभिश्च, आचार-[1]कुशलेनान्तःपुर-जरतीजनेन क्रियमाणावतरण-[2]कमङ्गलाम्, धवलाम्बर-विविक्त-वेषेण प्रमुदितेन प्रस्तुतमङ्गल-[3]प्रायालापेन परिजनेनोपास्यमानाम, उपारूढगर्भतयाऽन्तर्गतकुलशैलामिव क्षितिम्, सलिल-निमग्नैरावतामिव मन्दाकिनीम्, गुहागतसिंहामिव गिरिराजमेखलाम्,[4] जलधरपटलान्तरितदिनकरामिव दिवसश्रियम्, उदय-

(=संयुक्तैः) गौरसर्षपैः (=श्वेतसिद्धार्थैः) च । सलिलाञ्जलिभिः (=अञ्जलिपूर्ण-पानीयैः) च। करणानीमानि पदानि । क्रियमाणावतरणकमङ्गलाम्—क्रियमाणम् (=विधीयमानम्) अवतरणक-मङ्गलम् (=अवतारमङ्गलव्यापारः) यस्याः सा तां तादृशीम् । तदानीं मूताद्यनिष्टापसारणाय तादृश-मवतरणकमङ्गलमनुष्ठीयते स्म । "अवतारणं मूतादिग्रहे वस्त्राञ्चलेऽर्चने ।" इति मेदिनी । तदा विविधाः अन्तःपुरस्थाः वृद्धाः अनुभवयुक्ताश्च स्त्रियः परम्परानुकूलानाचारान् विदधानाः मङ्गलमाचरन्ति स्मेति भावः ।

धवलेति । धवलाम्बरेत्यादिः—धवलम् (= शुभ्रम्) च तद् अम्बरम् (=वसनम्) तेन विविक्तः (=पूतः) वेषः (=नेपथ्यम्) यस्य स तेन । प्रमुदितेन =अतिशयप्रसन्नेन, प्रस्तुत-मङ्गल-प्रायालापेन—प्रस्तुतः (=उपक्रान्तः) मङ्गलप्रायः (=मङ्गलबहुलः) आलापः (=सम्भाषणम्) येन स तादृशेन, परिजनेन =सेवकलोकेन, उपास्यमानाम् =सेव्यमानाम्, शरीरमर्दन-पादसंवाहनादिभिरिति शेषः ।

उपारूढेति । उपारूढगर्भतया—उपारूढः (=प्राप्तः) यो गर्भः (=भ्रूणः) तस्य भावस्तत्ता तया धृतगर्भत्वेनेत्यर्थः, अन्तर्गतकुलशैलाम्—अन्तर्गतः (=अभ्यन्तरस्थितः कुलशैलः (=महेन्द्राद्यन्यतमकुलपर्वतः) यस्यां सा तां तादृशीम्, क्षितिम् =पृथिवीम्, इव । अत्र सर्वेषामाधारत्वेन कुलशैल-सुतयोः साम्यादुपमाऽत्र । सलिलेति । सलिलनिमग्नैरावताम्—सलिले (=स्वजले) निमग्नः (=बुडितः) ऐरावतः (=इन्द्रगजः) यस्यां सा तां तादृशीम्, मन्दाकिनीम् =स्वर्गङ्गाम्, इव । गुहागतसिंहाम्—गुहायाम् (=गुफायाम्) आगतः (=सम्प्राप्तः) सिंहः (=मृगपतिः) यस्यां सा ताम्, तादृशीम्, गिरिराज-मेखलाम् =हिमालयस्य मध्यभागम्, इव । जलधरेत्यादिः—जलधाराणाम् (=मेघानाम्) पटलेन (=समूहेन) अन्तरितः (=व्यवहितः) दिनकरः (=सूर्यः) यस्यां सा तां तादृशीम, दिवसश्रियम् =दिनशोभाम्, इव । उदयगिरीत्यादिः—उदयगिरिणा (=उदयाचलेन) तिरोहितम् (=

मंगल नामक क्रिया का अनुष्ठान किया जा रहा था । श्वेत वस्त्रों से पवित्र वेष वाले, अत्यन्त प्रसन्न, अधिकतर मंगलमय बातों को करनेवाले परिचारकों द्वारा जिसकी सेवा की जा रही थी । जो (महारानी) गर्भ धारण होने के कारण ऐसी दिखाई दे रही थी मानों कुलपर्वत को भीतर छिपाये हुई पृथ्वी हो, या जिसके जल में ऐरावत हाथी बुड़की लगाकर (डूब कर) छिपा है ऐसी स्वर्गगङ्गा हों, अथवा जिसकी गुफा में सिंह विद्यमान है ऐसी हिमालय की मेखला (मध्य भाग) हो, जिसमें बादलों के समूह द्वारा सूर्य को ढंक लिया गया है ऐसी दिन की शोभा हो, जिसमें उदयाचल से चन्द्रमण्डल को

१. अभिचारकुशल···। २. ···अवतरण···।

३. ···मङ्गलय···। ४. मेखलामिव श्रियम् ।

गिरि-तिरोहित-शशिमण्डलामिव विभावरीम्, अभ्यर्ण-ब्रह्म-कमल-विनिर्गमामिव नारायण-नाभिम्, आसन्नागस्त्योदयामिव दक्षिणाशाम्, फेनावृतामृतकलशामिव क्षीरोदवेलाम्,गोरोचना-[1] चित्रित-दशमनुपहतमतिधवलं[2] दुकूलयुगलं वसानां विलासवतीं ददर्श।

ससंभ्रम-परिजन-प्रसारित-करतलालम्बनावष्टम्भेन[3] वामजानु-विन्यस्तहस्तपल्लवां

समाच्छादितम्) शशिनः (=चन्द्रस्य) मण्डलम् (=वलयम्, विम्बम्) यस्यां सा तां तादृशीम्, विभावरीम् = निशाम्, इव। अभ्यर्णेत्यादिः - अभ्यर्णः (=आसन्नः) ब्रह्मकमलस्य (=धातृरूपपङ्कजस्य) विनिर्गमः (=बहिर्भावः, उद्गमो वा) यस्यां सा तां तादृशीम्, नारायणनाभिम् = विष्णोः कूपिकाम्, इव। आसन्नेत्यादिः—आसन्नः (=समीपवर्ती) अगस्त्यस्य (=एतन्नामकस्य, पीतसागरस्य) उदयः (=उद्गमनम्) यस्यां सा तां तादृशीम्, दक्षिणाशाम् = अवाचीकाष्ठाम्, इव। फेनावृतेत्यादिः—फेनैः (=डिण्डीरैः) आवृतः (=समाच्छादितः) अमृतकलसः (=पीयूषघटः) यस्यां सा तां तादृशीम्, क्षीरोदवेलाम्—क्षीरोदस्य (=दुग्धसागरस्य) वेलाम् (=जलवृद्धिम् जलविभूतिम्) इव। गोरोचनाचित्रितदशम्—गोरोचनया (= एतन्नाम्नाम्नाख्याततरलपदार्थविशेषण) चित्रिताः (=पिञ्जरीकृताः) दशाः (=प्रान्तभागः) यस्य तत् तादृशम्। अनुपहतम् = अच्छिद्रम्, अपर्युषितम्, अतिधवलम् = अतीवाज्ज्वलम्, दुकूलयुगलम् = क्षौमयुग्मम् वसानाम् = धारयन्तीम्, विलासवतीम् = एतन्नाम्नीं महाराज्ञीम्, ददर्श = अवालोकयत्। अत्र एकस्यैवानेकविधसादृश्यप्रतिपादनान्मालोपमालंकारः। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—

'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते। (सा० द० १०।२६)

अकस्मादागतं राजानं विलोक्य तत्र किं जातमिति वर्णयति—ससम्भ्रमेति। ससम्भ्रमेत्यादिः—ससंभ्रमम् (= सचकितं सत्वरं वा यथा स्यात् तथा) परिजनेन (= परिचारिकालोकेन) प्रसारितम् (=विस्तारितम्) यत् करतलम् (=हस्ततलम्) तद् एव अवलम्बनम् (=आधारः) तस्य

छिपा दिया गया है ऐसी रात हो, जिसके कमल में ब्रह्मा जन्म लेने ही वाला हो ऐसी [कमलवाली] विष्णु की नाभि हो, जिसमें अगस्त्य तारा का उदय समीप हो ऐसी दक्षिण दिशा हो, अथवा जिसमें फेना से अमृतकलस ढँक लिया गया हो ऐसे क्षीरसागर की बेला (तट) हो। जो महारानी गोरोचना से चित्रित (रंगे हुए) किनारों वाले, नवीन या न फटे हुए, बहुत उज्ज्व दो रेशमी वस्त्र धारण किये हुई थीं, [ऐसी महारानी विलासवती को राजा ने देखा।]

[ऊपर उत्प्रेक्षा मानकर अनुवाद किया गया है। इसमें उपमा भी हो सकती है अतः—"भीतर छिपाये हुए कुलपर्वत वाली पृथ्वी के समान, या पानी में डूबे हुए ऐरावत हाथी वाली स्वर्गगंगा के समान, या गुफा में आये हुए सिंह वाली हिमालय की मेखला (मध्यदेश) के समान, या बादलों के समूह द्वारा ढँके गये सूर्य वाली दिन की शोभा के समान, या उदयाचल से छिपे हुए चन्द्रमा वाली रात्रि के समान, या अभी जन्म लेनेवाले ब्रह्मा के कमल वाली विष्णु की नाभि के समान, या समीपवर्ती अगस्त्योदय वाली दक्षिण दिशा के समान, या फेना से ढँके हुए अमृतकलश वाली क्षीरसागर की बेला (तट) के समान उस महारानी को जो कि गोरोचना से रँगे गये नये अति उज्वल दो रेशमी वस्त्र पहने हुए थी, राजा ने देखा।]

१. गोरोचनातिलक···। २. मणिधवलम्। ३. आलम्बना०।

[1]प्रचलित-भूषणमणि-रव-मुखरमुत्तिष्ठन्तीं विलासवतीम् "अलमलमत्यादरेण,देवि! नोत्थातव्यम्" इत्यभिधाय सह तया तस्मिन्नेव शयनीये पार्थिवः समुपाविशत्। प्रमृष्ट-चामीकरचारुपादे[2] धवलोपच्छदे चासन्ने शयनान्तरे[3] शुकनासोऽपि न्यषीदत्।

अथ तामुपारूढगर्भामालोक्य हर्षभरमन्थरेण मनसा प्रस्तुतपरिहासो राजा—"देवि! शुकनासः पृच्छति—'यदाह कुलवर्द्धना किमपि, तत् किं तथैव ?" इत्युवाच। अथाव्यक्तस्मित-[4]

अवष्टम्भेन (=साहाय्येन, आश्रयणेन)। वामेत्यादि—वामे (=अपसव्ये) जानुनि (=नलकीले, अरुपर्वणि) विन्यस्तः (= स्थापितः) हस्तपल्लवः (= करकिसलयम्) यया सा ताम्। प्रचलितेत्यादिः—प्रचलितानि (=कम्पितानि) यानि भूषणानि (=अलङ्काराः) तेषां ये मणयः (=रत्नानि) तेषां रवेण (=ध्वनिना) मुखरम् (=वाचालम्) यथा स्यात्तथा, उत्तिष्ठन्तीम् = उत्थानं विदधतीम्, विलासवतीम् = एतन्नाम्नीं महाराज्ञीम्, पार्थिवः = राजा, देवि! =प्रियेतमे!, अत्यादरेण =अतिशयसम्मान-प्रदर्शनेन, अलम् अलम् =कृतं कृतम्, न =नैव, उत्थातव्यम् =उत्थानं विधेहि, इति =एवम्, अभिधाय =कथयित्वा, तया =विलासवत्या, सह = सार्धम्, तस्मिन् =पूर्ववर्णिते, एव, शयनीये =शय्यायाम्, समुपाविशत् =न्यषीदत्। प्रमृष्टचामीकरचारुपादे—प्रमृष्टम् (=उज्ज्वलीकृतम्) यत् चामीकरम् (=सुवर्णम्) तस्य चारवः (=मनोहराः) पादाः यस्मिन् तस्मिन्, धवलोपच्छदे =धवलः (=शुभ्रः) उपच्छदः (= आस्तरणवस्त्रम्) यस्मिन् तस्मिन्, आसन्ने =समीपस्थिते, शयनान्तरे =आसनान्तरे, द्वितीये आसने च, शुकनाशः =तन्नाम्ना प्रधानामात्यः, न्यषीदत् =उपविष्टः।

तत्र राजा किमकथयदिति वर्णयति—अथेति। अथ =तदनन्तरम्, उपारूढगर्भाम् =उपारूढः (=प्राप्तः) गर्भः (=भ्रूणः) यया एवम्भूताम्, ताम् =विलासवतीम्, आलोक्य =दृष्ट्वा, हर्षभरमन्थरेण—हर्षस्य (=प्रमोदस्य) यः भरः (=भारः) तेन मन्थरेण (=अलसेन), मनसा = चित्तेन, प्रस्तुतपरिहासः—प्रस्तुतः (=प्रारब्धः) परिहासः (=नर्मवचनविन्यासः) यन स तादृशः, सन्, राजा =नृपः तारापीडः, देवि! =महाराज्ञि!, शुकनासः =सम्मुखस्थितः महामन्त्री, पृच्छति = प्रश्नं विदधाति। किन्तदिति कथयति—कुलवर्धना =तव प्रधानपरिचारिका, किमपि =किञ्चिदपि, यत्, आह =कथितवती, तत् =कुलवर्धनाकथम्, किम् =इदं प्रश्ने, तथैव =तेनैव प्रकारेण, सत्यमिति भावः

आश्चर्यपूर्वक या घबड़ाहट के साथ, सेविकाओं द्वारा फैलाए गए हाथों का सहारा लेकर बायें घुटने पर करपल्लव को रख लेनेवाली, हिलते हुए गहनों की मणियों की आवाज से आवाज करके उठती हुई विलासवती से 'बस, बस अधिक आदर प्रदर्शन करने की आवश्यकता नहीं है। महारानी! मत उठिए'—ऐसा कह कर उस महारानी विलासवती के साथ उसी पलंग पर राजा (भी) बैठ गया। और शुकनास भी चमकाये गए सोने के सुन्दर पायों (पादों) वाले, श्वेत चादर वाले, पास के दूसरे पलंग पर बैठ गया।

इसके बाद उस महारानी को गर्भवती देखकर आनन्दातिरेक से मन्थर (=अलसाये हुए) मन से हँसी-मजाक प्रारम्भ करते हुए राजा ने 'देवि! शुकनास पूछ रहे हैं—"कुलवर्धना जो कुछ कह

---

१. प्रचल……। २. चारुपदे। ३. चासन्नशयनान्तरे। ४. क्वचित् स्मित' पदं नास्ति।

च्छुरित-कपोलाधरलोचना लज्जया दशनांशुजालक[1]-व्याजेनांशुकेनेव मुखमाच्छादयन्ती विलासवती तत्क्षणमधोमुखी तस्थौ। पुनः पुनश्चानुबध्यमाना[2] '[3]किं मामतिमात्रं त्रपापरवशां करोषि? नाहं किञ्चिदपि वेद्मि' इत्यभिदधाना तिर्य्यग्वलित-तारकेण चक्षुषा अवनतमुखी राजानं साभ्यसूयमिवापश्यत्। अपरिस्फुट-हासज्योत्स्ना-विशदेन मुखशशिना भूभुजां पतिरेनां[4] भूयो बभाषे—'सुतनु! यदि मदीयेन[5] वचसा तव त्रपा वितन्यते, तदयमहं स्थितो निभृतम्। अस्य तु

इति = एवम्, उवाच = उक्तवान्। कुलवर्धनया यदुक्तं तस्य सत्यासत्ये ज्ञातुं व्यग्रौ आवां तव मुखत एव श्रोतुमिच्छावः। अतस्त्वयाऽत्र सत्यं कथनीयम्।

अथेति। अथ = राजकृतप्रश्नानन्तरम्, अव्यक्तेत्यादिः—अव्यक्तम् (= अस्फुटम्) यत् स्मितम् (= मन्दहास्यम्) तेन च्छुरितम् (= रञ्जितम्, विकसितम्) कपोलाधरलोचनम् (= गण्डस्थलोष्ठ-चक्षुः) यस्याः सा तादृशी, [प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावो बोध्यः] विलासवती = महाराज्ञी, लज्जया = त्रपया, दशनांशुकजालव्याजेन—दशनानाम् (= दन्तानाम्) ये अंशवः (= किरणाः) तेषां जालकम् (= समूहः) तस्य व्याजेन (= छलेन), अंशुकेन = वस्त्रेण, इव, मुखम् = स्वकीयमास्यम्, आच्छादयन्ती = आवृतं विदधती, सती, तत्क्षणम् = तस्मिन् काले, अधोमुखी = अवाङ्मुखी, तस्थौ = स्थिता। राज्ञः प्रश्नस्योत्तरं न दत्तवतीति भावः।

पुनः पुनश्चेति। पुनः पुनः = भूयोभूयः, अनुबध्यमाना = साग्रहं पृच्छ्यमाना। माम्, अतिमात्रम् = अत्यधिकम्, त्रपापरवशाम् = लज्जायत्ताम्, किम् = किमर्थम्, करोषि = विदधासि? अहम् = विलासवती, किञ्चिदपि = किञ्चनापि, न = नैव, वेद्मि = जानामि, इति = एवंरूपेण, अभिदधाना = भाषमाणा, तिर्यग्वलिततारकेण—तिर्यग् (= तिरश्चीनं यथा स्यात् तथा) वलिता (= चलिता) तारका (= कनीनिका) यस्य तत् तेन, चक्षुषा = नेत्रेण, अवनतमुखी = अधोवदना, सती, राजानम् = नृपं तारापीडम्, साभ्यसूयम् (= सहेर्ष्यया), इव, अपश्यत् = व्यलोकयत्। तथा दर्शनेन स्वाभिप्रायं प्रकटीचकारेति भावः।

अपरिस्फुटेति। अपरिस्फुटेत्यादिः—अपरिस्फुटः (= अस्पष्टः) यः हासः (= हास्यम्) स एव ज्योत्स्ना (= चन्द्रिका) तया, विशदेन (= अवदातेन), मुखशशिना—मुखम् (= आस्यम्)

रही है क्या वह वैसा है अर्थात् क्या वह सच है" ऐसा कहा। इस पर (यह सुनकर) अव्यक्त (कुछ कुछ) मुस्कराहट से खिले हुए कपोल, अधरोष्ठ और नेत्रोंवाली, लज्जा के कारण दांतों की किरणों के समूह के बहाने से मानों रेशमी वस्त्र से मुख को ढँकती हुई विलासवती उस समय मुख नीचे किये हुए बैठी रही। परन्तु राजा द्वारा [अपने प्रश्न के उत्तर के लिए] बार-बार आग्रह की जाती हुई वह "मुझे क्यों अत्यधिक लज्जित कर रहे हो। मैं कुछ भी नहीं जानती हूँ'—ऐसा कहती हुई नीचे मुख किये हुई, तिरछी घुमाई गई पुतली वाले नेत्र से राजा को मानो ईर्ष्या के साथ देखने लगी। अस्पष्ट अर्थात् हल्की मुस्कराहट रूपी चांदनी से चमकते हुए मुखरूपी चन्द्र के द्वारा राजाओं के राजा अर्थात् महाराजाधिराज तारापीड पुनः उस महारानी से कहने लगे—"हे सुतनु! (सुन्दर शरीरवाली) यदि

---

१. ···जाल···। २. अनुरुध्यमाना। ३. किं नाम माम्।
४. पतिर्भूयो। ५. मदीयवचसा।

किं प्रतिविधास्यसि विघटमान-दल-कोश-विशद-चम्पक-द्युतेः सवर्णतया परिमलानुमीयमानस्य[1] कुङ्कुमाङ्गरागस्य पाण्डरतामापद्यमानस्य[2] वर्णस्य अनयोश्च[3] गर्भसम्भवामृतावसेक-निर्वाप्यमाण-[4][5] शोकानलप्रभवं धूममिव वमतोर्गृहीत-नीलोत्पलयोरिव[6][7] चक्रवाकयोः, तमाल-पल्लव-लाञ्छित-

शशी (=चन्द्रः) इव, तेन, उपलक्षितः, भूभुजाम् =भूपालानाम्, पतिः =अधिपतिः, एनाम् = विलासवतीम्, भूयः =पुनरपि,बभाषे =उवाच। किं बभाषे इति वर्णयति—सुतनु ! =शोभनशरीरे !, मदीयेन =मामकीनेन, वचसा = वचनेन, यदि =चेत्, तव =भवत्याः, त्रपा =लज्जा, वितन्यते = विस्तीर्यते, तत् =तर्हि, अयम् =एषः, अहम् = तव प्रियः, निभृतम् =अत्यन्तं तूष्णीम्, स्थितः =अतिष्ठम्, न किमपि वच्मि।

प्रस्येति। विघटमानेत्यादिः—विघटमानानि (= भिद्यमानानि) दलानि (= पत्राणि) यस्य स तथोक्तः, कोशः (=मुकुलः) तेन विशदः (=निर्मलः शुभ्रः) यश्चम्पकः (=हेमपुष्पकः) तस्य द्युतिः (= कान्तिः) तस्याः, सवर्णतया (= सरूपतया)। परिमलानुमीयमानस्य—परिमलेन (=उत्कटगन्धेन) अनुमीयमानस्य (= अनुमितिविषयीक्रियमाणस्य) पाण्डुरताम् (=पाण्डुताम्) आपद्यमानस्य (=प्राप्यमाणस्य,अन्तर्वत्नीत्वेनेति भावः), अस्य =पुरोदृश्यमानस्य, कुङ्कुमाङ्गरागस्य= कुङ्कुमम् (= कश्मीरजम्) तस्य अङ्गरागः (= उद्वर्तनम् लेपनम्,वा) तस्य, वर्णस्य, किम्, प्रतिविधास्यसि=प्रतिविधानं करिष्यसि, न किमपीति भावः।

अत्रेदं बोध्यम्—चम्पकस्य रागः तस्या अङ्गस्य च रागः समान एव। परन्तु चम्पकरागापेक्षया तस्या देहरागस्य परिमलस्य वैशिष्ट्यात् उभयोर्भेदप्रतीतिरिति भावः। एवञ्च परिमलस्योत्कृष्टत्वमेव भेदनिर्णायकं सिध्यति। तस्याः त्रपामालोक्य राज्ञि निभृते स्थितेऽपि अन्तर्वत्नीत्वेन स्वत एव प्रकाशमानाया देहपाण्डुरतायाः केनापि प्रकारेण गोपनमशक्यमेव। तेनेहोन्मीलिताख्योऽलङ्कारः।

अनयोश्चेति। गर्भसम्भवेत्यादिः—गर्भसम्भवः (=भ्रूणोत्पत्तिः) एव अमृतम् (=पीयूषम्) तस्य य अवसेकः (=अवसेचनम्) तेन निर्वाप्यमाणः (=शान्तिं प्राप्यमाणः, विलुप्यमानः) शोकः (= चिरकालिक-पुत्रानुत्पत्तिनिमित्तको विषादः) एव अनलः (=वह्निः) तस्मात् प्रभवः (=उत्पत्तिः) यस्य स तम् एवम्भूतम्, धूमम् (=स्तनवृन्तोपरि श्यामतालक्षण-वह्निकेतनम्) इव,

मेरी बात से तुम्हारी लज्जा बढ़ जाती है, तुमको अधिक लाज आती है, तो लो मैं चुपचाप बैठ जाता हूँ। परन्तु खिलती हुई पंखुड़ियों वाली कली के कारण स्वच्छ (चमकते हुए) चम्पा के फूल की कान्ति के समान प्रतीत होने से केवल गन्धसे ही अनुमान किये जाते हुए, पहचान में आते हुए पाण्डुरता (पीलेपन) को प्राप्त करते हुए कुंकुम के अंगराग का (क्या करोगी) और श्याम वर्ण के होते हुए अपने स्तनों का—जो (स्तन) मानों गर्भ की उत्पत्ति रूपी अमृत के सींचने (छिड़काव) से बुझाई जाती हुई शोकरूपी आग से उत्पन्न धुयें को उगल से रहे हैं, जो (स्तन) [अपनी-अपनी चोंचों में]

१. मानस्य कुङ्कुमाङ्गरागस्य कुंकुमरागस्य। २. पाण्डुतामा···। ३. क्वचित्तु इदं पदं नास्ति। ४. क्वचित्तु 'अमृत' इदं नास्ति। ५. हृदयशोका···। ६. वहतोः। ७. अन्तर्गृहीत।

मुखयोरिव कनककलसयोः[1] सकृदिवालिखित[2]-कृष्णागुरु-पङ्क-पत्त्रलतयोः श्यामायमानचूचुकयोः पयोधरयोः, अस्य च प्रतिदिनमतिगाढतरतामापद्यमानेन[3] काञ्चीकलापेन दूयमानस्य नश्यत्त्रिवलि-लेखावलयस्य[4] कृशिमानमुज्झतो[5] मध्यभागस्य' इत्येवं ब्रुवाणमवनिपालमन्तर्मुख[6]-हासः शुकनासः -'देव ! किमायासयसि देवीम् । इयमनया कथयाऽपि[7] लज्जते । त्यज

वमतोः=उद्गिरतोः । गृहीतनीलोत्पलयोः—गृहीतम् (= धृतम्) नीलोत्पलम् (= नीलकमलम्) याभ्यां तौ तयोः, एतादृशयोः चक्रवाकयोः =चक्राह्वययोः, इव । तमालेत्यादिः---तमालः (=तापिच्छः) तस्य पल्लवः (=किसलयम्) तेन लञ्छितम् (=चिह्नितम्) मुखम् (= आननम्, आग्रभागः) ययोस्तयोः, कनककलसयोः स्वर्णघटयोः, इव । सकृत् = एकदा, इव, आलिखितेत्यादिः—आलिखिता (=चित्रिता) कृष्णागुरुपङ्केन (=कालागुरुद्रवेण) पत्रलता (=पत्रवल्ली, पत्ररचना) ययोः तयोः । श्यामायमान-चूचुकयोः--श्यामायमाने (= श्यामतामापद्यमाने) चूचुके (=स्तनवृन्ते कुचाग्रे) ययोः तयोः, पयोधरयोः =स्तनयोः, किं विधास्यसि =करिष्यसीति अन्वयः पूर्वमेवोक्तः । स्तनाग्रभागयोः श्यामताधिक्यं तु गर्भधारणमन्तरा न कथमपि सम्भवतीति भवत्या गोपनं कर्तुं न शक्यमिति भावः । 'चूचुको ना कुचाननम्' इति रत्नकोषः । अत्र 'गर्भसम्भवामृते' त्यत्र 'निर्वाप्यमाणशोकानल' इत्यत्र च रूपकम् । 'वमतोरिव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । 'चक्रवाकयो' रित्यत्राप्युपमा । 'आलिखिते' त्यादौ क्रियोत्प्रेक्षेत्याहुः ।

अस्येति : प्रतिदिनम् =प्रत्यहम्, अतिगाढतरताम्=अतिशयदृढताम्, आपद्यमानेन =प्राप्यमाणेन, काञ्चीकलापेन =रशनाकलापेन, दूयमानस्य =अतिदृढसंलग्नतया पीड्यमानस्य, नश्यत्त्रिवलि-लेखावलयस्य—नश्यत् (=शनैः शनैः भ्रश्यत् , त्रिवल्याः (=त्रिकस्य) रेखावलयम् (=रेखामण्डलम्) यस्मिन् स तस्य तादृशस्य,कृशिमानम् =तनिमानम्, उज्झतः =त्यजतः; अस्य =पुरोदृश्यमानस्य, मध्यभागस्य = मध्यदेशस्य, उदरांशस्य, च किं विधास्यसीति सम्बन्धः । एवञ्चानेनापि भवत्या गर्भिणीत्वं निह्नोतुं न शक्यते । इत्येवम् =पूर्वोक्तप्रकारम्, ब्रुवाणम् =भाषमाणम्, अवनिपालम् =भूपालम्, तारापीडम्, अन्तर्मुखहासः—अन्तर्मुखे (= मुखाभ्यन्तरे), हासः (= हास्यम्) यस्यैवम्विधः, [एतेन महापुरुषत्वं सूचितम् ।] शुकनासः =एतान्नामा प्रधानामात्यः, देव ! =स्वामिन् !, देवीम् =महाराज्ञीम्, किम् = किमर्थम्, आयासयसि =खेदयसि । इयम् =पुरोवर्तिनी देवी, अनया =भवदुक्तया गर्भधारणविषयिण्या, कथयापि= वार्तालापेनापि, लज्जते=त्रपते । अतः, कुलवर्धना-कथित-वार्तासम्बद्धम्—कुलवर्धनया, कथिता

पकड़े हुए नीलकमल वाले मानों चक्रवाक हों, जो (स्तन) मानों तमालपल्लव से ढँके हुए मुख वाले सोने के कलस हों, [अथवा] जिन (स्तनों) पर [सदैव के लिए] एकही बार काले अगुरु के लेप (पंक) से पत्रों और लताओं के चिह्न (बेलें) बना दिये गये हैं—उन स्तनों का क्या करोगी ? [अर्थात् उन्हें कैसे छिपा सकोगी वे तो गर्भधारण की सूचना दे ही देंगे ।] और कृशता को छोड़ते हुए अर्थात् स्थूल होते हुए मध्यभाग (कमर) का क्या करोगी जो प्रतिदिन अधिक कसती जा रही करधनी की लड़ों से पीड़ित हो रहा है, जिसकी त्रिवली रेखा नष्ट होती जा रही है । [उपर्युक्त स्पष्ट लक्षणों का तुम क्या करोगी, इन्हें किसी भी प्रकार नहीं छुपा सकोगी ।)

इस प्रकार के कहनेवाले राजा तारापीडसे अपनी हँसी को मुख में छिपाये हुए शुकनास ने कहा "महाराज ! महारानी को क्यों कष्ट दे रहो ? यह तो इस प्रकार की बातों से भी लजाती हैं ।

१. क्वचित् 'कनक' इदं नास्ति । २. लिखित । ३. अतिगाढताम् । ४. रेखा । ५. उज्झतः । ६. मुखनिगूढहासः । ७. अनयापि कथया ।

कुलवर्द्धना-कथित-वार्त्तासम्बद्धमालापम्[1]' इत्यब्रवीत्। एवंविधाभिश्च नर्मप्रायाभिः कथाभिः सुचिरं स्थित्वा शुकनासः स्वभवनमयासीत्। नरेन्द्रोऽपि तस्मिन्नेव वासगृहे तया[2] सह तां निशामत्यवाहयत्।

चन्द्रापीडजन्ममहोत्सवः

ततः क्रमेण समीहित[3]-गर्भदोहद-सम्पादन-प्रमुदिता पूर्णे प्रसवसमये[4] पुण्येऽहनि अनवरत-गलन्नाडिका-कलित-काल-कलैः[5] बहिरागृहीतच्छायैर्गणकैर्गृहीते लग्ने प्रशस्तायां वेलाया-

---

(=अभिहिता) या वार्ता (=वृत्तान्तः) तया सम्बद्धम् (=सम्बन्धयुक्तम्, तद्विषयकम्) आलापम् =आभाषणम्, त्यज =दूरीकुरु, स्वतोऽज्ञातविषयकेण वार्ताप्रसङ्गेनेयं लज्जामनुभवतीति भवता तद्विषयः परित्याज्य इति भावः। इति =एवम्, अब्रवीत् =अवोचत्।

एवम्भिश्चेति। एवम्विधाभिः =पूर्वोक्ताभिः, च, नर्मप्रायाभिः =परिहासबाहुल्याभिः, कथाभिः= रञ्जकवार्ताभिः, सुचिरम् =दीर्घकालपर्यन्तम्, स्थित्वा =अवस्थानं कृत्वा, शुकनासः =तन्नामा महामात्यः, स्वभवनम् =स्वगृहम्, अयासीत् =अगमत्। नरेन्द्रः =नराधिपः तारापीडः, अपि, तस्मिन् =पूर्ववर्णिते, एव, वासगृहे = वासभवने, गर्भागारे, तया = महिष्या विलासवत्या, सह =सार्धम्, ताम् =उक्ताम्, निशाम् =रात्रिम्, अत्यवाहयत् =अयापयत्। स्वस्नेहातिशयं प्रमोदातिरेकं च प्रदर्शयितुं तत्र तया सहैव स्थित्वा रात्रिं यापयामासेति भावः।

तत इति। ततः=तदनन्तरम्, क्रमेण=परिपाट्या, समीहितेत्यादिः—समीहितः (=अभीप्सितः) यो गर्भस्तन्निमित्तकः दोहदः (=मनोरथः) तस्य सम्पादनम् (=परिपूर्णताऽऽपादनम्) तेन प्रमुदिता (=अत्यानन्दिता) तादृशी विलासवती। गर्भधारणदशायां स्त्रियाः सर्वा इच्छा पूरणीया इति परम्परा उक्तं च—"गर्भिण्यास्तत्तदिच्छाया विशेषेण प्रयुज्यते। दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्॥" इति। प्रसवसमये = उत्पत्तिकाले, पूर्णे =उपस्थिते, सति, पुण्ये =माङ्गल्यप्रदे, अहनि =दिने, अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (= निरन्तरं यथा स्यात् तथा) गलन्ती (= जलं त्यजन्ती) या नाडिका (=घटिका, समय-मापक-यन्त्रविशेषः) [लक्षणया नाडिकाशब्दस्तद्बोधकयन्त्रपर इति बोध्यम्।] ताभिः तया वा कलिता (=निश्चितज्ञाता) कालस्य (=समयस्य) कलाः (=भागाः) यैः तैः तादृशैः, बहिः = बहिर्भागे, प्राङ्गणादौ, आगृहीता (= विशेषेण आत्ता) छाया (=पादच्छाया, शङ्कुच्छाया वा) यैः तैः तादृशैः, गणकैः =ज्योतिर्विद्भिः, गृहीते =निर्धारिते, लग्ने =मेषाद्यन्यतमलग्ने, प्रशस्तायाम् =सर्वदोषराहित्येन सकलसौभाग्यद्योतिकायाम्, वेलायाम् = होरायाम्, मेघमाला=

अतः कुलवर्धना द्वारा कही गई बात से सम्बद्ध वार्तालाप करना छोड़ दीजिए।" इस प्रकार की हँसी-मजाक वाली बातों के साथ अर्थात् हास-परिहासकी बातें करता हुआ बहुत देर तक वहाँ बैठने के बाद शुकनास अपने भवन में चला गया। राजा ने भी उसी शयनगृह में उस महारानी के साथ वह रात बिताई, वहीं रहा।

चन्द्रापीड का जन्मोत्सव

इसके बाद क्रम से अभीष्ट गर्भनिमित्तक दोहद (मनोरथ) के पूरा होने से अत्यन्त प्रसन्न विलासवती महारानी ने प्रसवकाल पूरा हो जाने पर शुभ दिन में, निरन्तर [जल को] छोड़ती हुई नाडिका (घटिका =नाडिकायन्त्र) द्वारा समय के सूक्ष्म भागों का आकलन (ज्ञान) करनेवाले बा

---

१. आलापकम्, आलापमपि। २. तां। ३. यथासमीहित…समुचित।
४. पूर्णप्रसव। ५. कलैः…, कले।

मिरम्मदमिव मेघमाला[1] सकल-लोकहृदयानन्दकारिणं विलासवती सुतमसूत।

तस्मिन् जाते सरभसमितस्ततः प्रधावितस्य परिजनस्य चरणशत-संक्षोभ-चलित-क्षितितलो भूपालाभिमुख- प्रसृतस्खलद्गति-शून्य[2] कञ्चुकिसहस्रो जन-सम्मर्दनिष्पिष्यमाण-

---

कादम्बिनी, मेघश्रेणिः, इरम्मदम् = मेघज्योतिः, इव, सकललोक-हृदयानन्दकरिणम्–सकलां, (=समस्ताः) ये लोकाः (=जनाः) तेषां यानि हृदयानि (=चित्तानि) तेषाम् आनन्दम् (=प्रमोदम्) करोति (=जनयति) तच्छीलम्, सुतम् = पुत्रम्, असूत = सुषुवे।

विमर्शः—पुरा समयनिर्धारकयन्त्राद्यभावात् जलधाराभिः शङ्कोश्छायादिभिर्वा समयस्य निर्धारणं क्रियते स्म। अत एवोक्तम्—"पच्छायां द्विगुणीकृत्य चतुर्दशसमन्विताम्। पक्षग्रहकराद्भागलब्धं दण्डादिकं भवेत्।" एवञ्चानयैव रीत्या तदा लग्नकालः निश्चितोऽकारि। अत्रोपमा।

तस्मिन्निति। तस्मिन् = राजपुत्रे, जाते = उत्पन्ने, [राजकुले = राज्ञां समूहे, राजसदने वा, अतिमहान् = अतिशयेनोत्कृष्टः, दिष्टिवृद्धिसंभ्रमः—दिष्टिः (= भाग्यम्, आनन्दः) तस्या या वृद्धिः (=वर्धनम्) तेन, सम्भ्रमः (=त्वरा) अभूदिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धो बोध्यः।] सरभसम् = हर्षेण सवेगम्, यथा स्यात्तथा, इतस्ततः = यत्र तत्र, प्रधावितस्य = उच्चलितस्य, परिजनस्य = सेवकलोकस्य। चरणशतेत्यादिः—चरणशतस्य (=पादशतस्य) चरणशताद् वा यः संक्षोभः (=प्रघातः) तेन चलितम् (= प्रकम्पितम्) क्षितितलम् (= भूतलम्) यस्मिन् सः, तादृशः। भूपालेत्यादिः—भूपालस्य (=पृथ्वीपालकस्य तारापीडस्य) अभिमुखम् (=सम्मुखम्) प्रसृता (=हर्षातिरेकाद् विस्तृताः) स्खलन्ती (=भ्रश्यन्ती) गतिः (=गमनम्) तया शून्यम् (=रहितम्) कञ्चुकिसहस्रम् (=अन्तः-पुरचारिवृद्धसहस्रम्) यस्मिन् स तादृशः। जनेत्यादिः—जनानाम् (=तत्रत्यलोकानाम्) सम्मर्देन (=सङ्घर्षेण) निष्पिष्यमाणाः (=पीड्यमानाः) अतएव पतिताः (=स्रस्ताः) कुब्जाः (= पृष्ठ-गड्डुलाः), वामनाः (= खर्वाकृतयः) किराताः(=स्वल्पतनवः), च तेषां गणः (=समूहः) यस्मिन् स तादृशः। ['अन्तःपुरोचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥" "गड्डुः पृष्ठगुडे कुब्जे।" "वामनो नीचि खर्वे च।" इति च मेदिनी। "किरातः स्यादल्पतनौ भूनिम्बे म्लेच्छ-

---

[खुले स्थान में शंकु आदि की] छाया का ज्ञान करनेवाले अर्थात् उसकी नाप से समय का ज्ञान करने वाले गणकों = ज्योतिषियों द्वारा लग्न का ग्रहण (ज्ञान, निश्चय) कर लेने पर शुभ घड़ी में, सभी लोगों के हृदय में आनन्द (पैदा) करनेवाले पुत्र को उसी प्रकार जन्म दिया जिस प्रकार मेघमाला बिजली की चमक को [उत्पन्न करती है]।

उस पुत्र के उत्पन्न होने पर उस राजभवन में दिष्टिवृद्धि (सौभाग्य की वृद्धि) से उत्पन्न अति महान् संभ्रम (=चहल पहल, भाग दौड़) होने लगा, जिस (संभ्रम) में वेगपूर्वक इधर-उधर दौड़ते हुए सेवकों के सैकड़ों चरणों के आघात से भूतल हिलने [सा] लगा था, जिस (संभ्रम) में राजा की ओर होनेवाली तथा स्खलित होनेवाली गति से शून्य अर्थात् न लड़खड़ानेवाली गति वाले हजारों कंचुकी थे। [अथवा राजा की ओर दौड़नेवाले किन्तु आपस में टकरा कर गिर जाने से गति शून्य या किंकर्त्तव्य-विमूढ हजारों कंचुकी हो रहे थे।] जिस (संभ्रम) में लोगों की भीड़ के कारण पिसते (दबते) हुए कुबड़े, बौने, किरात (छोटे शरीर वाले) गिर रहे थे, जो (संभ्रम) अन्तःपुर की

---

१. जलधरमाला। २. …विकल…।

पतित-कुब्ज-वामन-किरातगणो विस्फार्य्यमाणान्तःपुरजनाभरण-झङ्कारमनोहरः[1] पूर्णपात्रा-[2]
हरण-विलुप्यमान-वसनभूषणः[3] संक्षोभित-नगरो राजकुले दिष्टिवृद्धिसम्भ्रमोऽतिमहानभूत्।

अनन्तरञ्च मन्दरमथ्यमानजलधि[4]-घोष[5]-गम्भीर-दुन्दुभि-ध्वान-पुरःसरेण प्रहत-मृदु-
मृदङ्ग-शङ्ख-काहलानकनिवह-निनाद[6]-निर्भरेण मङ्गल-पटहपट-रवसंवर्द्धितेन अनेक-जनसहस्र-
कलकल-बहुलेन त्रिभुवनमापूरयता उत्सवकोलाहलेन ससामन्ताः सान्तःपुराः[7] सप्रकृतयः

भिल्लयोः।" इत्यनेकार्थकोशे। विस्फार्यमाणेत्यादिः—विस्फार्यमाणः (=वृद्धिप्राप्यमाणः) यः अन्तःपुरजनानाम् (=अवरोधस्थलोकानाम्) आभरणनाम् (=आभूषणानाम्) झङ्कारः (झम्झामित्याकारकभूषणरवः) तेन मनोहरः (=हृदयाकर्षकः)। पूर्णपात्रेत्यादिः—पूर्णपात्रम् (=विविधपदार्थपूरितपात्रविशेषः) तस्य आहरणेन (=ग्रहणेन) विलुप्यमानानि (=त्रुट्यमानानि, बालादाकृष्यमाणानि) वसनानि (=वस्त्राणि) भूषणानि (=अलङ्काराः) च यस्मिन् स तथाविधः। संक्षोभितनगरः—संक्षोभितम् (=संक्षोभं प्रापितम्) नगरम् (=पुरम्) यस्मिन्, तादृशः, अतिमहान् दिष्टिवृद्धिसम्भ्रमः राजकुले अभूदित्यन्वयस्तु पूर्वमेवोक्तः।

अनन्तरमिति। अनन्तरम् = पुत्रोत्पत्तिवृत्तान्तप्राप्त्यनन्तरम्, च। ["प्रजाः ननृतु" रिति वक्ष्यमाणेनान्वयः।] मन्दरेत्यादिः—मन्दरेण (= मन्दराचलेन, मेरुणा) मथ्यमानः (=विलोड्यमानः) यो जलनिधिः (=सागरः) तस्य घोषः (= ध्वानः) स इव गम्भीरः (=गभीरः) यो दुन्दुभिध्वानः (=भेरीरवः) सः पुरः सरः (=अग्रेसरः) यस्य स; तेन तादृशेन। प्रहतेत्यादिः—प्रहताः (=प्रताडिताः) मृदवः (=मधुरशब्दकारिणः) मृदङ्गाः (= मुरजाः) शङ्खाः (=कम्बवः) काहलाः (= वाद्यविशेषा, महाढक्काः) आनकाः (= पटहाः) तेषां निवहस्य (= समूहस्य) निनादेन (= ध्वनिना) निर्भरः (पूर्णः, अत एव वर्द्धितः) तेन, तादृशेन। मङ्गलेत्यादिः—मङ्गलः (= मङ्गलार्थम्) ये पटहाः (= चर्मवाद्यविशेषाः) तेषां चः पटुरवः (= विपुलध्वानः) तेन संवर्द्धितेन (=वृद्धिं प्रापितेन)। अनेकेत्यादिः—अनेके (=बहवः) ये जनाः (=लोकाः) तेषां सहस्रम् (=दशशती) तस्य कलकलैः (= कोलाहलैः) बहुलः (=अधिकीभूतः) तेन तादृशेन। अतएव, त्रिभुवनम् (=त्रैलोक्यम्) आपूरयता (पूर्णीकुर्वता) उत्सवकोलाहलेन (=महत्कलकलेन)। ससामन्ताः=सामन्ताः समीपदेशवर्त्तिनो नृपाः, तैः सह, वर्तमानाः। सान्तःपुराः—अन्तपुराः (=अवरोध-

स्त्रियों के गहनों की बढ़ती हुई (अधिक गूँजती हुई) झंकार से मनोहर हो रहा था, जिस (संभ्रम) में पूर्णपात्र के लेने में (छीना-झपटी में) वस्त्र और गहने लुप्त हो रहे थे, [गिर जाने के कारण खो रहे थे।] और जिस (संभ्रम) ने सम्पूर्ण नगर को क्षुब्ध (हर्षातिरेक से व्याकुल) कर दिया था [दिष्टि-वृद्धि के कारण ऐसा संभ्रम राजभवन में होने लगा]।

इसके बाद मन्दराचल द्वारा मथे जाते हुए क्षीरसागर के घोष (=गर्जन) के समान गम्भीर ध्वनि दुन्दुभी की होने लगी थी उस समय पीटे गये (बजाए गए) मृदंग, शंख, काहल (वाद्यविशेष) तथा आनक (बड़ी दुन्दुभी) के समूह से परिपूर्ण था, माङ्गलिक नगाड़ों की स्पष्ट ध्वनि से बढ़ा हुआ

१. घूर्णमाना०। २. पूर्णपात्रहरण। ३. विलुठ्यमान०। ४. मन्दराराध्यमान०।
५. जलनिधि०। ६. क्वचित्तु 'निनाद' पदं न दृश्यते। ७. सान्तःपुरजनः।

सराजलोकाः सवेश्यायुवतयः सबालवृद्धा ननृतुरागोपाल[1]मुन्मत्ता इव हर्षनिर्भराः प्रजाः।

[2]प्रतिदिनमवर्द्धत चन्द्रोदयेनेव जलनिधिः[3] कलकलमुखरो राजसूनोर्जन्म[4]-महोत्सवः।

सूतिकागृहवर्णनम्

पार्थिवस्तु तनयानन-दर्शन-महोत्सव[5]-हृतहृदयोऽपि दिवसवशेन मौहूर्तिकगणोपदिष्टे प्रशस्ते मुहूर्त्ते निवारित-निखिलपरिजनः शुकनासद्वितीयः मणिमय[6]-मङ्गलकलस-युगला[7]शून्येन

स्थलोकाः) तैः सह वर्तमानाः। सप्रकृतयः—प्रकृतयः (= पुरवासिलोकाः) तैः सह वर्तमानाः। सराजलोकाः—राजलोकाः (= नृपजनाः) तैः सह वर्तमामाः। सवेश्यायुवतयः—वेश्यायुवतयः (= वाराङ्गनाः) ताभिः सह वर्तमानाः। सबालवृद्धाः—बालवृद्धाः (= बालकस्थविराः) तैः सह वर्तमानाः। हर्षनिर्भराः = प्रमोदपरिपूर्णाः, प्रजाः = लोकाः, उन्मत्ताः = क्षीबा, इव, आगोपालम्—गोपालान् (= बल्लवान्) आ (= मर्यादीकृत्य) यथा स्यात् तथा, ननृतुः = नर्तनमकार्षुः।

प्रतिदिनमिति। चन्द्रोदयेन = निशाकरोद्गमेन, जलनिधिः (= वारिधिः) इव, कलकलमुखरः—कलकलेन (= कोलाहलेन) मुखरः (= वाचालः), राजसूनोः = नृपात्मजस्य, जन्ममहोत्सवः = उत्पत्तिमहोद्धवः, प्रतिदिनम् = प्रत्यहम्, अवर्धत = ववृधे। अत्रोपमा।

पार्थिव इति। पार्थिवः = पृथ्वीपतिः, तारापीडः, ['सूतिकागृहमदर्शत्' इति वक्ष्यमाणेनान्वयः।] तनयेत्यादिः—तनयः (= आत्मजः) तस्य यद् आननम् (= मुखम्) तस्य यद् दर्शनम् (= अवलोकनम्) तदेव महोत्सवः (= महाक्षणः) तेन हृतम् (= गृहीतम्) चित्तम् (= हृदयम्) यस्य स तादृशः, अपि, दिवसवशेन = शुभदिनानुसारेण, मौहूर्तिकगणोपदिष्टे—मौहूर्तिकानाम् (= ज्योतिर्विदाम्) गणेन (= समूहेन) उपदिष्टे (= समादिष्टे , मुहूर्ते = शुभे कालविशेषे, निवारितनिखिलपरिजनः—निवारिताः (= अपवारिताः) निखिलाः (= समस्ताः ; परिजनाः (= परिच्छदाः) येन स तादृशः। शुकनासद्वितीयः—शुकनासः (= प्रधानामात्यः) द्वितीयः (= सहगामी) यस्य स तादृशः सन्।

साम्प्रतं द्वारं विशेषयितुमाह—मणिमयेति। मणिमयेत्यादि—मणिमयम् (= रत्नविशिष्टम्)

था, कई हजार लोगों के कलकल से मनोहर था, त्रिभुवन को व्याप्त कर रहा था—इस प्रकार के उत्सव के कोलाहल के साथ-साथ सामन्तों सहित, अन्तःपुर की स्त्रियों सहित, प्रजाजनों सहित, राजसमुदाय सहित, वेश्या युवतियों सहित, बालकों और वृद्धों सहित गोपालकपर्यन्त सभी लोग हर्ष के अतिरेक से युक्त होकर पागलों के समान नाचने लगे। चन्द्रोदय के कारण गड़गड़ाती आवाज करता हुआ समुद्र जिस प्रकार बढ़ने लगता है उसी प्रकार कोलाहल ध्वनि से युक्त राजकुमार का जन्मोत्सव प्रतिदिन बढ़ने लगा, रोज अधिक से अधिक होने लगा।

सूतिकागृह का वर्णन

किन्तु राजा ने पुत्रमुख को देखने के महोत्सव से आकृष्टहृदय वाला होते हुए भी [शुभ मुहूर्त के] दिन के अनुरोध से, ज्योतिषियों द्वारा बताए गए प्रशस्त (सभी दोषों से रहित) मुहूर्त में सभी परिजनों को हटाकर केवल शुकनास को साथ में लेते हुए सूतिकागृह (प्रसव-भवन) को देखा—जो (सूतिका-

---

१. आगोपम्। २. प्रतिक्षणम्। ३. जलधिः। ४. जन्मनो…। ५. दर्शनोत्सव। ६. कनकमय…। ७. 'युगल' इदं नापि दृश्यते।

आसक्त-बहुपुत्रिकालंकृतेन[1] विविध-नव-पल्लव[2]-निवह-निरन्तर-निचितेन सन्निहित-कनकमय-हल-मुसलयुगेन[3] विरल-ग्रथित-सित-कुसुम-मिश्र-दूर्वा-प्रवाल-मालाऽलङ्कृतेन आलम्बिता[4]-विकलव्याघ्रचर्मणा वन्दन-मालिका[5]-ऽन्तराल-घटित-घण्टागणेन द्वारेण[6] विराजमानम्—

—उभयतश्च द्वारपक्षकयोर्मर्यादानिपुणेन गोमयमयीभिरुत्तान-विनिहित-वराटक-प्रकर[7]-

---

यत् मङ्गलकलसयुगलम् (= कल्याणकारक-घटयुगमम्) तेन अशून्येन (= संयुक्तेन)। आसक्तेत्यादिः— आसक्ताः (= सम्मिलिताः) या बहुपुत्रिकाः (= अगणिताः मध्यादिलिखिताः पुत्रवत्यःस्त्रियः) ताभिः अलङ्कृतेन (= विभूषितेन)। विविधेत्यादिः—विविधाः (अनेकविधाः) ये नवपल्लवाः (= नव-किसलयाः) तेषां निवहः (= समूहः ; तेन निरन्तरम् (= सान्द्रं यथा स्यात्तथा) निचितेन (= व्याप्तेन)। सन्निहितेत्यादि—सन्निहितानि (= समीपस्थापितानि) कनकमयानि (=स्वर्णमयानि) हलम् (= सीरम्) मुसलम् (= अयोग्रम्) युगम् (= ईशान्तवन्धनम्)—एतानि यस्मिन् तेन। अयं क्वचिल्लोकाचारः। यद्वा हलमुसलयोः युगम् = युगलं सन्निहितं यत्र तेन। विरलेत्यादिः— विरलानि (= असान्द्राणि) ग्रथितानि (= गुम्फितानि) यानि सितानि (= शुभ्राणि) कुसुमानि (=पुष्पाणि) तैः मिश्राः (= सयुक्ता) या दूर्वाः (= बहुप्ररोहाः) तासां प्रवालाः (= नवपल्लवाः, नवदलानि) तेषां मालया (= स्रजा) अलङ्कृतेन (= भूषितेन)। आलम्बितेत्यादिः—आलम्बितम् (= अवलवम्ब-मानम्) अविकलम् (= समग्रम्, अखण्डम्) व्याघ्रचर्म (= शार्दूलकृत्तिः) यस्मिन् तेन, तादृशेन। वन्दनेत्यादिः—वन्दनमालिका (= तोरणोपरिस्थापित-माङ्गल्यपुष्पमाला) तस्या अन्तराले (= मध्ये) घटितः (= गुम्फितः) घण्टागणः (= घण्टिकासमूहः) यस्मिन् तेन,/ तादृशेन, द्वारेण = प्रतीहारेण, विराजमानम् = शोभमानम्। "तोरणार्थे तु मङ्गल्यं दाम वन्दनमालिका।" इत्यभिधानचिन्तामणिरिति भानुचन्द्रः। द्वितीयान्तानि पदानि 'सूतिकागृहम्' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्।

पुनरपि तमेव विशिनष्टि—उभयतश्चेति। [अत्र 'मर्यादानिपुणेन' इत्यारभ्य यानि तृतीयान्तानि पदानि तानि वक्ष्यमाणस्य 'पुरन्ध्रिवर्गेण' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् एवञ्च 'पुरन्ध्रिवर्गेण समधिष्ठितं सूतिकागृहम्' इति विशेष्यविशेषणभावो बोध्यः।] मर्यादानिपुणेन—मर्यादा (= स्थितिः) तस्यां निपुणेन (विशेषज्ञेन), कुलपरम्परादिविज्ञेन, द्वारपक्षकयोः = द्वारस्योभयपार्श्वयोः, गोमयमयीभिः = गोपुरीषलिप्ताभिः, [इमानि 'लेखाभिः' इत्यस्य विशेषणानि।] उत्तानेत्यादि—उत्तानम् (= ऊर्ध्वमुखं यथा स्यात् तथा) विनिहिताः (= स्थापिताः) ये वराटकाः (= कपर्दकाः) तेषां प्रकरेण

गृह)—मणिनिर्मित दो माङ्गलिक कलसों से युक्त, बहुत-सी चित्रित पुतलियों से अलंकृत, अनेक प्रकार के नवीन (ताजे) पत्तों के समूह से खूब भरा (सजे) हुआ, समीप में सोने के बने हुए हल और मूसल की जोड़ी से युक्त, विरल (कुछ-कुछ दूर पर गूँथे गए) सफेद फूलों से मिली हुई दूब के छोटे-छोटे पत्तों से बनी हुई मालाओं से सजा हुआ [अर्थात् सफेद फूलों के साथ-साथ दूब के अंकुर गूँथ कर माला बनाकर टाँगी गई थीं] व्याघ्र की पूरी-पूरी लटकती हुई खाल से युक्त, [तथा] वन्दनवार के

---

१. ...पुत्रिकाप्रतानेन। २. ...वनपल्लव०। ३. युगलेन।
४. आलम्बिताविर०, आलम्बिताविकट०। ५. ...माला...।
६. द्वारदेशेन। ७. क्वचित् 'प्रकर' पदं नास्ति।

दन्तुराभिःअन्तरान्तराबद्ध-विविधवर्ण[1]-राग-रुचिर-कार्पास[2]-कुसुम-लेश-लाञ्छिताभिः कुसुम्भ-केसर-लवाश्लेष-लोहिताभिर्लेखाभिरालिखित-स्वस्तिक-भक्तिजालमुपरचयता, हारिद्रदव[3]-विच्छुरण-पिञ्जरिताऽम्बर[4]-धारिणीं भगवतीं षष्ठीदेवीं कुर्वता, विकच-पक्षपुट-विकट-शिखण्डि-पृष्ठमण्डला[5]-धिरूढम् आलोल-लोहित-पटघटितपताकम् उल्लसित-शक्तिदण्ड-प्रचण्डं कार्त्तिकेयं सङ्घटयता,[6]

(=समूहेन) दन्तुराभिः (= विषमाभिः), अन्तरेत्यादिः—अन्तरान्तरा = मध्ये मध्ये, आबद्धाः (=नियमिताः) ये विविधवर्णाः (=अनेकप्रकाराः शुक्लादयः धातवः तेषां रागेण (=रञ्जनेन) रुचिराणि (=मनोज्ञानि) यानि कार्पासकुसुमानि (=कार्पासा एव पुष्पाणि तेषां लेशाः (=खण्डाः) तैः लाञ्छिताभिः (=चिह्निताभिः)। [भानुचन्द्रस्तु-कूर्पासकुसुम॰—" इति पपाठ ।] कुसुम्भेत्यादिः—कुसुम्भस्य (= महारजनस्य) ये केसरलवाः (= किञ्जल्कखण्डाः) तेषाम् आश्लेषः (=मिश्रणम्) तेन लोहिताभिः (=रक्ताभिः) तादृशीभिः, लेखाभिः=रेखाभिः। आलिखितेत्यादिः—आलिखिताः (=चित्रिताः) याः स्वस्तिकभक्तयः (=त्रिकोणादियन्त्रविशेषरचनाः) तासां जालम् (=समूहम्) उपरचयता (=कुर्वता)। हारिद्रद्रवेत्यादिः—हरिद्रा (= रजनी) तस्या अयं हारिद्रः द्रवः (=रसः) तस्य विच्छुरणम् (=प्रोक्षणम्, सेचनम्) तेन पिञ्जरितम् (=पीतरक्ततामुपगतम्) यद् अम्बरम् (=वस्त्रम्) तद्धारिणीम् (=तद्धारणकारिणीम्, तादृशवस्त्रविभूषिताम्), भगवतीम्=ऐश्वर्यधारिणीम्, षष्ठींदेवीम्=षष्ठीदेवीति नाम्ना ख्याताम्, [बालकजन्मतः षष्ठरात्रौ देवीविशेषस्य पूजा क्रियते इति लोकाचारः] कुर्वता= निर्मापयता, तण्डुलचूर्णादिभिरिति भावः।

पुरन्ध्रिवर्गमेव विशिनष्टि—विकचेति। विकचेत्यादिः—विकचम् (=विस्तृतम्) यत् पक्षपुटम् (=पक्षयुगलम्) तेन विकटम् (=विपुलम्) यत् शिखण्डिनः (=मयूरस्य) पृष्ठम् (=पृष्ठदेश एव मण्डलम्) तत्र आरूढम् (= उपविष्टम्)। आलोलेत्यादिः—आलोला (= चञ्चला) लोहितपटेन (=रक्तवस्त्रेण) घटिता (= निर्मिता, रचिता) पताका (= वैजयन्ती) यस्य तं तादृशम्। उल्लसितेत्यादिः—उल्लसितौ (=शोभमानौ) यौ शक्तिदण्डौ (=प्रसिद्धायुधविशेषौ) ताभ्यां प्रचण्डः (=भीषणः) तं तादृशम्, कार्त्तिकेयम् (षडाननम्, तस्य मूर्तिमिति भावः) संघ-

---

बीच-बीच में लटकाई गई घण्टियों के समूह से युक्त—द्वार देश द्वारा सुशोभित हो रहा था।

जो (सूतिकागृह) द्वार के पक्षद्वारों (दालानों) के दोनों ओर पुरन्ध्रियों (पति तथा पुत्रादि से युक्त सौभाग्यवती स्त्रियों के समूह) से अधिष्ठित (व्याप्त) था, जो (पुरन्ध्रियाँ) कुलादि की मर्यादा के परिपालन में निपुण थीं, जो (पुरन्ध्रियाँ) गोबर से बनाई गई, ऊर्ध्वमुखवाली कौड़ियों से दन्तुर (=ऊँची-नीची), बीच-बीच में रखे गए अनेक रंगों से रंगे हुए सुन्दर कपास के फूलों के टुकड़ से लाञ्छित तथा कुसुम्भ के केसर के खण्डों (टुकड़ों) के सम्बन्ध के कारण लाल-लाल हुई रेखाओं द्वारा चित्रित स्वस्तिक चिह्न की आकृतियों की रचना कर रहीं थीं। जो (पुरन्ध्रियाँ) हल्दी के रस के सेचन (पोतने) से पीले किये गये वस्त्र को धारण करनेवाली भगवती षष्ठी देवी को बना रही थीं। जो (पुरन्ध्रियाँ) फैले हुए पंखों से विकट (भयानक, विशाल) मोर की पीठदेश पर बैठे हुए, हिलती

---

१. ···पर्ण··· । २. ···कूर्पास··· । ३. हारिद्रदाव···।
४. परिपिञ्जर····। ५. शिखण्डिमण्डल···, शिखिपृष्ठमण्डल···। ६. संघट्टयता।

विन्यस्तालक्तक-पटल-पाटल-मध्यभागौ सूर्याचन्द्रमसावाबध्नता, कुङ्कुम-पङ्क-पिञ्जरीकृताम् ऊर्ध्वंप्रोत-कनकमय-यव-निकर-कण्टकिताम् अविरल-लग्न-गौरसिद्धार्थप्रकरतया[1] काञ्चनरस-खचितामिव मृन्मय-गुटिका-कदम्बमालां विन्यस्यता, चन्दनजलधवलितेषु भित्तिशिखर-भागेषु पञ्चराग-विचित्र-चेल-चीर-कलापचिह्नाम् आपीतपिष्ट-पङ्काङ्किताम्[2] वर्द्धमान-परम्पराम्[3]

दयता = विरचयता ।

विन्यस्तेति । विन्यस्तेत्यादिः—विन्यस्तम् (=स्थापितम्) यत् अलक्तकपटलम् (=लाक्षा-रससमुदायः) तेन पाटलौ (=श्वेतरक्तौ) मध्यभागौ (=मध्यांशौ) ययोस्तौ,ताहशौ, सूर्याचन्द्रमसौ= पुष्पवन्तौ, आबध्नता = विरचयता । तण्डुलादिचूर्णेन सूर्यस्य चन्द्रस्य च मूर्तिं विदधतेति भावः । सूर्यश्च चन्द्रश्चेति द्वन्द्वे "देवताद्वन्द्वे च" (पा० सू० ६।३।२६) इति सूत्रेणानङ् । ["एकयोक्त्या पुष्पवन्तौ दिवाकरनिशाकरौ ।" अमरः १।४।१०]

कुङ्कुमेति । कुङ्कुमपङ्क-पिञ्जरीकृताम्—कुङ्कुमस्य (=केशरस्य) यः पङ्कः (=द्रवः) तेन पिञ्जरीकृताम् (=पीतरक्तीकृताम्) । ऊर्ध्वंप्रोतेत्यादिः ऊर्ध्वम् (=उपरि) प्रोताः (=स्यूताः) ये कनकमयाः (= काञ्चननिर्मिताः) यवाः (= सितशूकाः) तेषां निकरः (=समूहः) तेन कण्टकिताम् (=सञ्जातकण्टकाम्) ["सितशूकयवौ समौ ॥" इत्यमरः२।९।१५] । अविरलेत्यादिः— अविरलम् (=निविडम्) यथा स्यात् तथा, लग्नाः (=सम्बद्धाः) ये गौरसिद्धार्थकाः (=गौर-सर्षपाः) तेषां प्रकरः (=समूहः) यस्मिन् तस्य भावस्तत्ता तया, [भानुचन्द्रस्तु—··· ··· ···तेषां प्रकारस्तस्य भावस्तत्ता तया हेतुभूतया—इत्याह ।] काञ्चनरसखचिताम् =सौवर्णद्रवेण निर्मिताम्,इव, विशेष्यमाह–मृन्मय-गुटिकाकदम्बमालाम्-मृन्मयाः (=मृत्तिकानिर्मिताः) या गुटिकाः (=गुलिकाः) तासां कदम्बम् (=समूहः) तस्य माला (=स्रक्) ताम्, विन्यस्यता = भूमौ स्थापयता । [अत्र सुवर्णसर्षपयोः साम्यम् । इव शब्दस्तूत्प्रेक्षायामेव ।]

चन्दनेति । चन्दनेत्यादिः—चन्दनजलम् (=श्रीखण्डयुतसलिलम्) तेन धवलितेषु (=शुभ्री-कृतेषु), भित्तिशिखरभागेषु = कुड्यानामूर्ध्वदेशेषु, पञ्चरागेत्यादिः—पञ्च (= पञ्चसंख्याकाः) च ते रागाः (= वर्णाः) तैः, विचित्रम् (= शबलम्) चेलचीराणाम् (=वस्त्रखण्डानाम्) कलापस्य (= समूहस्य) चिह्नम् (= लक्ष्म) यस्यां ताम् । आपीतेत्यादिः—आपीतः (=ईषत्पीतवर्णः) पिष्टपङ्कः (= तण्डुलादि-पिष्टपदार्थानां द्रवः) तेन अङ्किताम् (= चिह्निताम्) तादृशीं वर्धमान-

---

हुई तथा लाल-लाल वस्त्रसे निर्मित पताकावाले [तथा) उल्लसित (ऊपर उठाए गए या शोभायमान) शक्ति और दण्ड नामक आयुधों से प्रचण्ड [दिखाई देने वाले] कार्तिकेय [की प्रतिमा] को बना रहीं थीं । जो (पुरन्ध्रियाँ) रखे गए आलता के समूह से गुलाबी (श्वेत-रक्त) मध्य भाग वाले सूर्य तथा चन्द्रमा [की मूर्तियों] को बना रही थीं । जो (पुरन्ध्रियाँ) कुंकुम के पंक (लेप) से पीली की गई, ऊपर गूँथे गए (लगाए गए) सोने के बने हुए जौं के समूह से कण्टकित (=काटों से युक्त), लगातार घने लगे हुए सफेद सरसों के समूह के कारण मानों पिघले हुए सोने से जड़ी हुई सी, मिट्टी की बनी हुई गोलियों के समूह की माला को रख रहीं थीं । जो (पुरन्ध्रियाँ) चन्दन-मिश्रित जल से सफेद किये गए, दीवारों के ऊपरी भागों में पाँच रंगों (श्वेत, कृष्ण, लाल, हरा, पीला) से चित्रित वस्त्र-खण्डों के समूह से चिह्नित (चिह्नरूप में धारण करनेवाली) तथा कुछ-कुछ पीले पिसे हुए [चावल

---

१. ···प्रकारतया । २. ···पिष्टातक० । ३. वर्धमानक० ।

अन्यानि च सूतिकागृह-मण्डनमङ्गलानि[1] सम्पादयता पुरन्ध्रिवर्गेण समधिष्ठितम्,—
—उपद्वार-संयत-विविध-गन्ध-कुसुममालाऽलङ्कृतजरच्छागम्, अखिल-व्रीहि-मध्यावस्था-
पितार्य[2]वृद्धाध्यासित-शयनीय[3]-शिरोभागम्, अनवरतदह्यमानाज्यमिश्र-भुजग-निर्मोक-मेष-

परम्पराम् = शरावश्रेणीम्, अन्यानि = अपराणि च, सूतिकागृह-मण्डनमङ्गलानि--सूतिकागृहस्य (= अरिष्टसदनस्य) मण्डनानि (= शोभनकारीणि) मङ्गलानि (= शुभानि कृत्यानि) च, सम्पादयता = विदधता, एतादृशेन, पुरन्ध्रिवर्गेण = पुरन्ध्रीणाम् (= पतिपुत्रवतीनां नारीणाम्) वर्गेण (= समूहेन) समधिष्ठितम् = समाश्रितम्। 'सूतिकागृहम्' इति वक्ष्यमाणस्य विशेषणमिदं बोध्यम्। 'शरावो वर्धमानकः।' इत्यमरः २।९।३२]

पुनरपि सूतिकागृहं विशेषयितुमाह—उपद्वारेति। उपद्वारेत्यादिः—उपद्वारम् (= द्वारस्य समीपे) संयताः (= बद्धाः) विविधगन्धाः (= नानाविधगन्धसहिताः, विविधाः गन्धा यासु ताः) याः कुसुममालाः (= पुष्पस्रजः) ताभिः अलङ्कृतः (= विभूषितः) यः जरन् (= वृद्धः) छागः (= अजः) यस्मिन् तत्, सूतिकागृहमित्यर्थः।

अखिलेति। अखिलेत्यादिः—अखिलाः (=समस्ताः), [यद्वा—न विद्यते येषां खिलं ते, 'क्षेत्राद्यप्रहितं खिलम्' इति भानुन्द्रोद्धृतकोशः] ये व्रीहयः (= धान्यानि) तेषां मध्ये (=अन्तरे) अवस्थापिता (= उपवेशिता) या आर्यवृद्धा (= माननीया कुलीना जरती स्त्री) तया अध्यासितः (= अवलम्बितः) शयनीयस्य (= महिष्याः शय्यायाः) शिरोभागः (= मस्तकस्थापनभागः) यस्मिन् तत्। एषोऽपि तात्कालिको लोकाचार एव बोध्यः।

अनवरतेति। अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (= निरन्तरं यथा स्यात् तथा) दह्यमानः (= प्रज्वल्यमानः) आज्येन (= घृतेन) मिश्रः (= संयुतः) भुजगस्य (=सर्पस्य) निर्मोकः (=कञ्चुकः) मेषस्य (=उरणस्य) विषाणम् (=शृङ्गम्) च तयोः छोदः (=चूर्णम्) यस्मिन् तत् तादृशम्।

अनलेति। अनलेत्यादिः—अनलेन (=अग्निना) प्लुष्यमाणाः (= दह्यमानाः) येऽरिष्ट-तरुपल्लवाः (= निम्ववृक्षकिसलयानि) तेभ्यः तैस्तेषां वा उल्लसितः (= उत्थितः) रक्षायाम्

आदि के] पंक [लेपन] से रंगे हुए वर्धमान (= शकोरों, पुरवों) के समूह को तथा सूतिकागृह को शोभित करनेवाले दूसरे मङ्गलमय कार्यों को सम्पन्न कर रही थीं। [इस प्रकार की सौभाग्यशालिनी स्त्रियाँ वहाँ विराजमान थीं।]

जिस (प्रसूतिकागृह) में दरवाजे के समीप में अनेक प्रकार के सुगन्ध वाले फूलों की मालाओं से सजा हुआ बूढ़ा बकरा बाँध दिया गया था। जिस (प्रसूतिकागृह में सभी प्रकार के अनाजों के मध्य में या बिना टूटे हुए अक्षत (चावलों) के मध्य में बिठाई गई पूज्य वृद्धा स्त्री से पलंग का सिरहाना युक्त था अर्थात् सिरहाने की ओर चावलों पर एक पूज्य वृद्धा स्त्री बैठी हुई थी। जिस (प्रसूतिकागृह) में घी में मिले हुए सांप का केंचुल और भेंड़ के सींग का चूर्ण लगातार जल रहा था। जिस (प्रसूतिकागृह) में आग से जलाए जाते हुए नीम के पेड़ के पत्तों से निकलते हुए रक्षा करनेवाले धुएँ की गन्ध फैल (व्याप्त हो) रही थी। जहाँ पर अध्ययन से शब्दायमान ब्राह्मणों

१. प्रसवगृह०। २. ···प्रायुर्वृद्ध···। ३. शयन···।

विषाणक्षोदम्, अनल-प्लुष्यमाणारिष्टतरु[1]-पल्लवोल्लसित-रक्षाधूमगन्धम्, अध्ययन-मुखर-द्विजगण-विप्रकीर्य्यमाण-शान्त्युदक-लवम्, अभिनव-लिखित-मातृ-पट-पूजा-व्यग्र-धात्रीजनम्, अनेकवृद्धाङ्गनाऽऽरब्धसूतिकामङ्गल-गीतिका-मनोहरम्, उपपाद्यमान-स्वस्त्ययनम्, क्रियमाण-शिशुरक्षा-बलि-विधानम्, आवध्यमान-धवल-कुसुम-दामशतम्, अविच्छिन्नपठ्यमान-नारायण-नामसहस्रम्, अमल-हाटक-यष्टि-प्रतिष्ठापितैरन्तःशुभशतानीव निश्चलशिखैर्ध्यायद्भिर्मङ्गल-

(= रक्षार्थम्) धूमगन्धः (= वह्निकेतनसौरभम्) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

अध्ययनेति । अध्ययनेत्यादिः—अध्ययनेन (=पठनेन) मुखराः (=वाचालाः, शब्दायमानाः) ये द्विजाः (= ब्राह्मणाः) तेषां गणेन (= समूहेन) विकीर्यमाणाः (=यत्र तत्र विक्षिप्यमाणाः) शान्त्युदकलवाः (=शान्त्यर्थजलकणाः) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

अभिनवेति । अभिनवेत्यादिः—अभिनवम् (=प्रत्यग्रं यथा स्यात्तथा) लिखितः (= रचितः) यः मातृणाम् (= बालरक्षाकारिणीनां ब्राह्म्यादीनाम्) पटः (=वस्त्रम्) तस्य पूजायाम् (= अर्चायाम्) व्यग्राः (=व्याकुलाः) धात्रीजनाः (= उपमातृलोकाः) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

अनेकेति । अनेकेत्यादिः—अनेकाः (= बह्व्यः) या वृद्धाः (= जरत्यः) अङ्गनाः (= स्त्रियः) ताभिः आरब्धा (=उपक्रान्ता) या प्रसूतिकामङ्गलगीतिका (=प्रसूताकल्याण-गानम्) तया मनोहरम् (=मनोज्ञम्) तत् तादृशम् । **उपपाद्यमान-स्वस्त्ययनम्**—उपपाद्यमानम् (=विधीयमानम्) स्वस्त्ययनम् (=अरिष्टनिवाणोपायाः) यस्मिन् तत् तादृशम् । **क्रियमाण-शिशु-रक्षा-बलि-विधानम्**—क्रियमाणम् (=विधीयमानम्) शिशोः (=बालस्य) रक्षार्थम् (=रक्षायै) बलिविधानम् (= देवाद्युपहारप्रदानम्) यस्मिन् तत् तादृशम् । **आबध्यमान-धवलकुसु-दामशतम्**—आवध्यमानम् (=संग्रथ्यमानम्) धवलकुसुमानाम् (=शुभ्रपुष्पाणाम्) दामशतम् (=स्रक्शतम्) यस्मिन् तत् तादृशम् । **अविच्छिन्न-पठ्यमान-नारायण-नामसहस्रम्**—अविच्छिन्नम् (= निरन्तरं यथा स्यात्तथा) पठ्यमानम् (=उच्चार्यमाणम्) नारायणनाम्नाम् (=श्रीविष्णोर्नामधेयानाम्) सहस्रम् (=दशशती) यस्मिन् तत् तादृशम् । **अमल-हाटक-यष्टि-प्रतिष्ठापितैः**—अमलम् (= निर्मलम्) यद् हाटमम् (=सुवर्णम्) तस्य तन्निर्मिता वा या यष्टयः (=दण्डाः) तासु प्रतिष्ठापितैः (=सम्यग्रूपेण निहितैः) निश्चलशिखैः = निश्चला (=निष्कम्पा) शिखा (=अर्चिः) येषां तैस्तादृशैः, अतएव, अन्तः =मध्ये, अन्तःकरणे इति भावः, शुभशतानि =कल्याणशतानि, ध्यायद्भिः =चिन्तयद्भिः, इव, [उत्प्रेक्षा], मङ्गलप्रदीपैः =मङ्गलसम्पादकदीपैः, उद्भासितम् =समुद्दीपितम् । यष्टिशब्दस्य स्त्री-पुंल्लि-

के समूह द्वारा शान्तिजल के कण [इधर-उधर] फेंके (छिड़के) जा रहे थे । जहाँ धायें (दाइयाँ) तत्काल (ताजी) बनाई गईं माताओं के (चित्र वाले) वस्त्र की पूजा में व्यग्र (अति संलग्न) थीं । जो (प्रसूतिगृह) अनेक बूढ़ी स्त्रियों द्वारा प्रारम्भ किये गए, प्रसवकाल के मंगलमय गीतों से मनोहर [लग रहा] था । जहाँ स्वस्त्ययन (अरिष्ट-निवारण का उपाय) किया जा रहा था । जहाँ नवजात शिशु की रक्षा के लिए [देवतादि के उद्देश्य से] बलिप्रदान-विधान किये जा रहे थे । जहाँ [सभी ओर] सफेद फूलों की सैकड़ों मालाएँ बाँधी जा रही थीं । जहाँ विष्णु के सहस्र नामों का पाठ लगातार किया जा रहा था । जो निर्मल (चमकते हुए) सोने के दण्डों (दीवटों) पर रखे हुए [और] निश्चल (न हिलने डुलने वाली) शिखाओं वाले [इसी कारण] मानों भीतर (मन

१. ....निम्बतरु....।

प्रदीपैरुद्भासितम्, उत्खातासि-लता-सनाथ-पाणिभिः सर्वतो रक्षापुरुषैः परिवृतम्, सूतिका-गृहमदर्शत्[1][2] । अम्भः पावकञ्च स्पृष्ट्वा विवेश ।

कुमारवर्णनम्

प्रविश्य च प्रसवपरिक्षाम-पाण्डु-मूर्तेरुत्सङ्गगतं[3] विलासवत्याः, स्वप्रभासमुदयोपहत-गर्भगृहप्रदीप-प्रभम्[4], अपरित्यक्त-गर्भरागत्वादुदयपरिपाटलमण्डलमिव सवितारम्, अपरसंध्या-[5]

ङ्गतया 'हाटकयष्टीनि' इति नपुंसके व्याख्यानं तु न सम्यक् । तथा चोक्तममरकोषे—"स्त्रीपुंसयोः··· । यष्टिः शाटी कटी कुटी ॥" ३।५।३७-३८] उत्खातासिलता-सनाथपाणिभिः—उत्खाताः (=कोशाद् बहिः कर्षिताः) या असिलताः (= कृपाणलताः) ताभिः सनाथाः (= सहिताः) पाणयः (= हस्ताः) येषां तैस्तादृशैः, रक्षापुरुषैः = रक्षार्थं नियुक्तलोकैः, सर्वतः = सर्वत्र, चतुर्दिक्षु इत्यर्थः, परिवृतम् =परिवेष्टितम्, सूतिकागृहम् =अरिष्टगृहम्, अदर्शत् =दृष्टवान् । दृशधातोर्लुङि रूपम् । अम्भः = जलम्, पावकम् = अग्निम्, च, स्पृष्ट्वा = समुपस्पृश्य, विवेश = प्रविष्टवान्, तद् सूतिकागृहमिति-शेषः । जलाग्निस्पर्शस्तदानीन्तनो लोकाचारोऽधुनापि दृश्यते क्वचित् क्षेत्रेषु ।

तत्र प्रविश्य राजा किमपश्यदिति वर्णयति—प्रविश्य चेति । प्रविश्य = प्रवेशं विधाय, च, राजेति शेषः, ["आत्मजं ददर्शे'ति वक्ष्यमाणेन सहान्वयो बोध्यः । द्वितीयान्तानि पदानि तस्यात्मजस्य विशेषणानि ।] प्रसवेत्यादिः—प्रसवेन (= सुतोत्पादनेन) परिक्षामा (= अतिकृशा) पाण्डुः (= पाण्डुरा) च मूर्तिः (= शरीरम्) यस्याः सा तस्याः, विलासवत्याः = प्रधानमहिष्याः, उत्सङ्गगतम्—उत्सङ्गः (= क्रोडः) तत्र गतम् (= विद्यमानम्), स्वप्रभेत्यादिः—स्वप्रभायाः (=स्वकीयकान्त्याः) समुदयेन (= समूहेन) उपहता (= विनष्टा) गर्भगृहस्य (= प्रसूतिका-गृहस्य) प्रदीपानाम् (= दीपानाम्) प्रभा (= दीप्तिः) येन स तं तादृशम् ।

अपरित्यक्तेति । अपरित्यक्तगर्भरागत्वात्—अपरित्यक्तः (=अमुक्तः) गर्भरागः (=भ्रूण-रक्तिमा) येन स तस्य भावस्तस्मात् हेतोः,उदयपरिपाटलमण्डलम्—उदयेन (=उद्गमेन) परिपाटलम् (=श्वेतरक्तम्) मण्डलम् (=बिम्बम्) यस्य तं तादृशम्, सवितारम् = सूर्यम्, इव । अपरसन्ध्या-

में) सैकड़ों शुभों =मंगलों का ध्यान करते हुए माङ्गलिक दीपों से उद्‌भासित (जगमगा रहा) था । जो (सूतिकागृह) मियान से बाहर निकाली गईं तलवार रूपी लता से सुसज्जित हाथ वाले रक्षक पुरुषों द्वारा सभी ओर से घिरा हुआ था । [इस प्रकार के प्रसूतिकागृह को शुकनास के साथ जाकर राजा ने देखा ।]

[बाहर रखे हुए] जल और आग का स्पर्श करके [उस सूतिकागृह में] प्रवेश किया ।

कुमार का वर्णन

उस प्रसूतिकागृह में प्रवेश करके राजा ने प्रसव के कारण दुर्बल और पाण्डुर वर्ण (पीलेरंग) के शरीरवाली उस विलासवती की गोद में स्थित (लेटे हुए) तथा आनन्द के कारणभूत (खुशी पैदा करनेवाले) अपने पुत्र को देखा जिस (पुत्र) ने अपनी कान्ति के समूह से प्रसूतिकागृह के प्रदीपों की कान्ति नष्ट (मन्द, फीकी) कर दी थी, जो (पुत्र) गर्भ के [स्वाभाविक] रंग को न छोड़ने के

१. उद्यतासि० । २. अपश्यत् । ३. ···पाण्डुर··· ।
४. ···प्रदीपक··· । ५. क्वचित्तु 'अपर' इदं नापि विद्यते ।

ऽऽलोहितबिम्बमिव चन्द्रमसम्, अनुपजातकाठिन्यमिव कल्पतरुपल्लवम्, उत्फुल्लमिव रक्तारविन्द-राशिम्, अवनिदर्शनावतीर्णमिव लोहिताङ्गम्, विद्रुमकिसलयदलैरिव बालातपच्छेदैरिव पद्मरागरश्मिभिरिव रचितावयवम्[1], अनभिव्यक्त-मुखपञ्चकमिव महासेनम्, सुरवनिताकर-[2]

लोहितबिम्बम्—अपरसन्ध्या (= पश्चिमसायं समयः) तया आ (=ईषत्) लोहितम् (=रक्तम्) बिम्बम् (=मण्डलम्) यस्य तं तादृशम्, चन्द्रमसम् = निशाकरम्, इव। अनुपजातकाठिन्यम्—अनुपजातम् (=अनुत्पन्नम्) काठिन्यम् (=कठिनता, जरठत्वम्) यस्य तं तादृशम्, कल्पतरुपल्लवम् = पारिजातकिसलयम्, इव। उत्फुल्लम् = विकसितम्, रक्तारविन्दराशिम् = कोकनदसमूहम्, इव। अत्र सर्वत्र एकस्यैवोपमेयस्य वर्णनान्मालोपमा बोध्या।

अवनीति। अवनिदर्शनावतीर्णम्—अवन्याः (=स्वमातुः, भूमेः) दर्शनम् (=अवलोकनम्) तदर्थम् अवतीर्णम् (=स्वर्गादधःसमागतम्, गृहीतावतारम्) लोहिताङ्गम् = मङ्गलम्, इव। अत्र द्रव्योत्प्रेक्षा। ["अङ्गारकः कुजो भौमो लोहिताङ्गः महीसुतः।" अमरः १।८।२५]

विद्रुमेति। विद्रुमेत्यादिः—विद्रुमाणाम् (=प्रवालानाम्) यानि किसलयदलानि (=नवपल्लवखण्डाः) तैः, रचितावयवम् इव। बालतपच्छेदैः—बालातपः (=नवीनातपः, प्रत्यग्रोदितसूर्यप्रकाशः) तस्य छेदाः (=भागाः) तैःरचितावयवम् इव, पद्मरागरश्मिभिः—पद्मरागः (=लोहितमणिः) तस्य रश्मयः (=किरणाः) तैः, रचितावयवम्—रचिताः (=निर्मिताः) अवयवाः (=अङ्गानि यस्य स तं तादृशम्, इव। अत्र तृतीयान्तानां त्रयाणामपि 'रचितावयवम्' इत्यत्रान्वयो बोध्यः। त्रिष्वपि क्रियोत्प्रेक्षा, आसां च परस्परनैरपेक्ष्येण स्थित्या संसृष्टिरलङ्कार इति बोध्यम्।

अनमीति। अनभिव्यक्तमुखपञ्चकम्—अनभिव्यक्तम् (=अप्रकटम्) मुखपञ्चकम् (=वदनपञ्चसंमुदायः) यस्य स तं तादृशम्, महासेनम् = कुमारं कार्तिकेयम् इव। अत्र तस्य पुत्रस्यैकाननप्रतीत्या पञ्चाननानामप्रकटत्वं बोध्यम्। एवञ्चात्रोत्प्रेक्षा। सुरवनितेत्यादिः—सुरवनिताः (=देवस्त्रियः) तासां कराः (=हस्ताः) तेभ्यः परिभ्रष्टम् (=भूमौ निपतितम्), अमरपतिकुमारम्—अमरपतिः (=इन्द्रः) तस्य कुमारम् (=सुतं जयन्तम्) इव। अत्राप्युत्प्रेक्षा। ["कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः।"

कारण उदयकालिक लाल-लाल (गुलाबी) मण्डल वाले सूर्य के समान [लग रहा था], (अथवा) दूसरी सन्ध्या (=सायंकाल के कारण लाल बिम्ब वाले चन्द्रमा के समान [दिखाई दे रहा था], जिसमें कठोरता (परिपक्वता) नहीं उत्पन्न हो पायी है ऐसे कल्पवृक्ष के पत्ते के समान, खिले हुए लाल कमलों के समूह के समान, [अपनी माता] पृथिवी का दर्शन करने के लिए [आकाश से नीचे पृथ्वी पर] अवतीर्ण (उतरे हुए) लोहितांग (लाल अंगों वाले मंगल ग्रह) के समान [था], जो [पुत्र] ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उसके अंग मानो मूँगे के पत्तों के टुकटों से (अथवा हेमकन्दल के पत्तों से), [अथवा] प्रातःकालीन धूप के टुकड़ों से [अथवा] पद्मराग मणियों की किरणों से बनाये गए थे, जो (पुत्र) ऐसे कार्तिकेय के समान लग रहा था जिसके पाँच मुख प्रकट नहीं हैं। [उसका एक मुख था, पाँच मुख न दिखाई देने से अप्रकट थे। अतः छः मुखों वाला कार्तिकेय सा लग रहा था।] जो (पुत्र) देवाङ्गनाओं के हाथ से [प्रमादवश पृथ्वी पर] गिरे हुए इन्द्रपुत्र जयन्त के समान था, जो (पुत्र) खूब तपाये गये मंगलकारक स्वर्ण के समान चमकीली अपने

१. विरचितावयवम्। २. •••करतल•••।

परिभ्रष्टमिवामरपतिकुमारम्,[1] उत्तप्त-कल्याणकार्त्तस्वरभास्वरया[2] स्वदेहप्रभया पूरयन्तमिव[3] वासभवनम्, उद्भासमानैः सहजभूषणैरिव महापुरुषलक्षणैरुपेतम्,[4] आगामि-कालपालनप्रहृष्टयेव[5] श्रिया समालिङ्गितम्, आह्लादहेतुमात्मजं ददर्श। विगत-निमेष-निश्चल-पक्ष्मणा च मुहुर्मुहुः प्रमृष्ट-सङ्घटितानन्द-बाष्प-पटल-प्लुततारकेण[6][7] दूरविस्फारितेन[8] स्निग्धेन चक्षुषा पिबन्निव

अमरः १।९।३९। "जयन्तः पाकशासनिः।" अमरः १।१।४६।]

उत्तप्तेति। उत्तप्तेत्यादिः—उत्तप्तम् (=सन्तप्तम्) कल्याणम् (=अत्युत्तमं मङ्गलकारि वा) यत् कार्तस्वरम् (=स्वर्णम्) तद्वद् भास्वरा (=दीप्तिमती) तया तादृश्या, स्वदेहप्रभया=स्वशरीर-कान्त्या, वासभवनम्=गर्भगृहम्, पूरयन्तम्=पूर्णीकुर्वन्तम्, इव। अत्रोपमोत्प्रेक्षयोः सङ्करः।

उद्भासेति। उद्भासमानैः =दीप्यमानैः, सहजभूषणैः = नैसर्गिकालङ्कारैः इवः, महापुरुष-लक्षणैः—महापुरुषाणाम् (= चक्रवर्त्यादीनाम्) लक्षणैः (=चिह्नैः) उपेतम्=सहितम्। अत्रो-त्प्रेक्षा।

आगामीति। आगामीत्यादिः—आगामी (=भविष्यन्) यः कालः (=समयः) तस्मिन् यत् पालनम् (=रक्षणम्) तेन प्रहृष्टा (=प्रसन्ना) तया तादृश्या, श्रिया=राज्यलक्ष्म्या, समालि-ङ्गितम्=उपगूहितम्, इव। अत्रोत्प्रेक्षा। आह्लादहेतुम् = आनन्दकारणभूतम्, आत्मजम्=तनयम्, ददर्श=दृष्टवान्।

विगतेति। विगतेत्यादिः—विगतः (=दूरीभूतः) यो निमेषः (=अक्षिसंचालनरूपो व्यापारः) तेन निश्चलम् (=स्थिरम्) पक्ष्म (= नेत्ररोमावलिः) यस्य तत् तेन। मुहुः मुहुः=बारं बारम्। प्रमृष्टेत्यादिः—प्रमृष्टम् (=प्रमार्जितम्) संघटितम् (=पुनः प्रादुर्भूतम्) आनन्दबाष्पाणाम् (=प्रमोद-जन्याश्रूणाम्) पटलम् (=समूहः) तेन प्लुता (= क्लिन्ना) तारका (= कनीनिका) यस्य तेन तादृशेन। दूरविस्फारितेन—दूरम् (=अत्यधिकं यथा स्यात्तथा) विस्फारितेन (=विस्तारितेन),

शरीर की कान्तिसे मानों वासभवन (सूतिकागृह) को पूरा कर रहा था, भर रहा था, जो स्वाभाविक आभूषणों के समान शोभित (प्रतीत) होनेवाले महापुरुषों के लक्षणों से युक्त था, जो मानों भविष्य-त्काल में पालन [करनेवाला होने] के कारण अत्यन्त प्रसन्न हुई लक्ष्मी द्वारा आलिङ्गित था। [इस प्रकार के आनन्दजनक अपने पुत्र को देखना] पलक न झपकने से निश्चल नेत्ररोम (पलकों) वाले आनन्दाश्रुओं के समुदाय से भीगी हुई पुतलियों वाले, दूर तक फैले हुए तथा प्यार भरे नयनों से [अपने पुत्र को] मानों पीता हुआ, मानों [उसके साथ] वार्तालाप करता हुआ; मानों [उसके शरीर को] छूता हुआ [राजा तारापीड], हजारों मनोरथों से जिसका दर्शन मिल सकता है ऐसे पुत्रमुख को लालसा के साथ देखता हुआ [बहुत] हर्षित हुआ और अपने को कृतकृत्य (धन्य)

१. ···भ्रष्ट···। २. ···कुमारकम्।
३. ···भास्वरतया। ४. आगमि०।
५. क्वचित्तु 'इव' नापि दृश्यते। ६. संघट्टिता०।
७. ···बाष्पबिन्दु···। ८. दूरं।

आलपन्निव स्पृशन्निव मनोरथसहस्र-प्राप्त-दर्शनं सस्पृहमीक्षमाणस्तनयाननं[1] मुमुदे[2], कृतकृत्यश्चात्मानं मेने।

समृद्ध-मनोरथः शुकनासस्तु शनैः शनैरङ्गप्रत्यङ्गान्यस्य[3] निरूपयन् प्रीतिविस्फारित-[4]लोचनः भूमिपालमवादीत्—"देव! पश्य पश्य,[5] अस्य कुमारस्य गर्भसम्पीडनवशादस्फुटा-[6]वयव-शोभस्यापि माहात्म्यमाविर्भावयन्ति[7] चक्रवर्त्तिचिह्नानि। तथाहि—अस्य सन्ध्यांशुरक्त-[8]

स्निग्धेन = स्नेहमयेन, चक्षुषा = नेत्रेण, पिबन् = पानं कुर्वन्, इव, आलपन् = आलापं विदधत्, इव, स्पृशन् = स्पर्शं कुर्वन्, इव। मनोरथेत्यादिः—मनोरथानाम् (= वाञ्छितानाम्) यत् सहस्रम् (= दशशती) तेन प्राप्तम् (= लब्धम्) दर्शनम् (= अवलोकनम्) यस्य तत् तादृशम्, तनयाननम् = सुतमुखम्, सस्पृहम् = स्पृहायुक्तम्, ईक्षमाणः = विलोकयन्, मुमुदे = जहर्ष, परां प्रीतिमवाप। आत्मानम् = स्वम्, च, कृतकृत्यम् = कृतं (= विहितम्) कृत्यं (= कार्यम्) येन स तादृशं कृतार्थमिति भावः, मेने = बुबुधे।

तत्र शुकनासस्य कीदृशी दशाऽभूदिति वर्णयितुमाह—समृद्धेति। समृद्धमनोरथः-समृद्धः (= सम्पूर्णः) मनोरथः (= अभिलाषः) यस्य स तादृशः, शुकनासः = एतन्नामा प्रधानसचिवः, तु, अस्य = पुरोवर्तिनः पुत्रस्य, अङ्गप्रत्यङ्गानि—अङ्गानि (= करचरणादीनि) प्रत्यङ्गानि (= अङ्गुल्यादीनि) [यद्वा मत्वर्थीयाच्प्रत्ययान्त अङ्गशब्दस्तेन अङ्गम् = शरीरम्, प्रत्यङ्गानि = करचरणादीनि] शनैः शनैः = मन्दं मन्दम्, निरूपयन् = विलोकयन्, प्रीतिविस्फारितलोचनः—प्रीत्या (= आनन्देन) विस्फारिते (= विस्तारिते) लोचने (= नेत्रे) यस्य स तादृशः सन्, शुकनासः, भूमिपालम् = राजानं चन्द्रापीडम्, अवादीत् = अवोचत्।

शुकनासवचनानि निर्दिशति—देव इति। देव ! = हे राजन् !, पश्य पश्य = विलोकय, विलोकय, गर्भसम्पीडनवशात्—गर्भे (= गर्भाशये) यत् सम्पीडनम् (= स्थानस्वल्पतयाऽङ्गानां पीडा) तस्मात् कारणात्, अस्फुटावयवशोभस्य—अस्फुटा (= अनभिव्यक्ता) अवयवानाम् (= अङ्गानाम्) शोभा (= सौन्दर्यम्) यस्य तस्य तादृशस्य, अपि, अस्य = पुरोवर्तिनः, कुमारस्य = राजशिशोः, चक्रवर्तिचिह्नानि = चक्रवर्ती (= सार्वभौमः) तस्य चिह्नानि (= लक्ष्माणि, सामुद्रिकशास्त्रादौ वर्णितानि), माहात्म्यम् = प्रभावातिशयम्, आविर्भावयन्ति = प्रकटयन्ति।

साम्प्रतं चक्रवर्तिचिह्नानि वर्णयितुमाह—तथाहीति। अस्य = पुरोवर्तिनः, सन्ध्यांशु-रक्त-बाल-शशि-कलाकारे—सन्ध्यांशवः (= सायङ्कालिककिरणाः) तैः रक्ता (= लोहिता) या बालशशिनः (= द्वितीयाचन्द्रस्य) कला (= षोडशांशः) तद्वत् आकारः (= आकृतिः) यस्य स तस्य तादृशे,

समझने लगा [जिसे पाने के लिए हजारों मनोरथ कर चुका था ऐसे पुत्र को पाकर उसके आनन्द की सीमा नहीं रही और वह अपना जीवन सफल समझने लगा।]

समृद्ध (सफल) मनोरथ वाले शुकनास ने इस कुमार के अंग-प्रत्यंगों को धीरे-धीरे देखते हुए प्रसन्नता के कारण विलसित नेत्रों वाला होते हुए राजा से कहा—"महाराज ! देखिए, देखिए—गर्भ में (गर्भाशय में) दबे रहने के कारण अस्पष्ट अवयवों की शोभा वाले (जिसके अंगों की शोभा पूरी तरह प्रकट नहीं हो रही हैं ऐसे) भी इस कुमार के चक्रवर्ती के चिह्न इसकी महत्ता को प्रकट कर रहे हैं। उदाहरणार्थ—सन्ध्या की किरणों से लाल बालचन्द्र = नवीन चन्द्रमा या द्वितीया के चन्द्रमा

१. निरीक्षमाणः। २. बालस्याननं। ३. बालस्य।
४. प्रीतिविस्फारिताक्षः, प्रीतिविस्फारितलोचनं, प्रीतिविस्तारितलोचनं। ५. पश्यास्य।
६. अपरिस्फुटावयव०। ७. आविर्भावयन्तीव। ८. सन्ध्यांशुक…।

बालशशिकलाकारे ललाटपट्टे [1]नव-नलिन-नाल-भङ्ग-तन्तुतन्वीयमूर्णा परिस्फुरति । एतद्विकच-पुण्डरीक-धवलं कर्णान्तायतं मुहुर्मुहुरुन्मिषितैर्धवलयतीव वासभवनमरालपक्ष्म लोचनयुगलम्, विजृम्भमाण-[2]कमल-कोश-परिमल-मनोहरमियमस्य सहजमाननामोदमाजिघ्रतीव [3]दूरायता कनक-लेखेव नासिका । [4]रक्तोत्पल-कलिकाकारमुद्वहतीव [5]चास्या[6]धर-रुचकम् । रक्तोत्पल-कलिका-

ललाटपट्टे = भालफलके, नवनलिनेत्यादिः—नवः (= नूतनः अशुष्कः) यो नलिननालस्य (= मृणालस्य) भङ्गः (= छेदः) तस्य तन्तुः (= सूत्रम्) तद्वत् तन्वी (= कृशा, सूक्ष्मा), इयम् = पुरो दृश्यमाना, ऊर्णा = भ्रुकुटियुग्ममध्यवर्त्ती लोमावर्त्तविशेषः, परिस्फुरति = शोभते । चक्रवर्तिलक्षणं चैतत् "बिसतन्तुवत्सूक्ष्मरूप आवर्त्तश्च शुभायतः । यदि भ्रूद्वयमध्ये स्याच्चक्रवर्ती तदोच्यते ॥"

एतदिति । विकचपुण्डरीकधवलम्—विकचम् (= विकसितम्) यत् पुण्डरीकम् (= श्वेतकमलम्) तद्वद् धवलम् (= शुभ्रम्), कर्णान्तायतम्—कर्णान्तम् (= श्रोत्रपर्यन्तम्) आयतम् (= विस्तृतम्), अरालपक्ष्म—अरालम् (= कुटिलम्) पक्ष्म (= नेत्ररोम) यस्मिन् तत् तादृशम्, एतत् = दृश्यमानम्, लोचनयुगलम् = नेत्रद्वयम्, मुहुः मुहुः = वारं वारम्, उन्मिषितैः = उन्मीलनैः, वासभवनम् = निवाससदनम्, प्रसूतिकागृहमिति भावः, धवलयति = शुभ्रीकरोति, इव । 'विकचपुण्डरीकधवलम्' इत्यत्र लुप्तोपमा, 'धवलयतीव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा चानयोः सङ्करः ।

विजृम्भेति । दूरायता—दूरम् (= अत्यन्तम्) आयता (= उच्छ्रिता), कनकलेखा = स्वर्णरेखा, इव, इयम् = दृश्यमाना, अस्य = कुमारस्य, नासिका = घ्राणम्, विजृम्भमाणेत्यादिः—विजृम्भमाणः (= विकसन्) यः कमलकोशः (= पद्मकुड्मलः) तस्य यत् परिमलम् (= सौरभम्) तद्वत् मनोहरम् (= रमणीयम्), सहजम् = स्वाभाविकम्, आननामोदम् = मुखसौगन्ध्यम्, आजिघ्रति = गन्धग्रहणं करोति, इव । 'कनकलेखेव' इत्यत्रोपमा, 'परिमलमनोहरम्' इत्यत्र च लुप्तोपमा । 'आजिघ्रतीव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा चैतासामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालंकारो बोध्यः ।

रक्तेति । अस्य = कुमारस्य, अधररुचकम्—अधरः (= ओष्ठः) रुचकम् (= सुवर्णनिर्मितमाङ्गलिकाभरणम्) इव, [यद्वा अधर एव रुचकम् ।] रक्तोत्पलकलिकाकारम्—रक्तोत्पलम् (= कोकनदम्) तस्य या कलिका (= कोरकः) तस्या आकारम् (= आकृतिम्), उद्वहति = धारयति, इव । "रुचकमङ्गलद्रव्ये बीचपूरे ससैन्धवो" इति भानुचन्द्रोद्धृतानेकार्थकोशः । 'अधररुचकम्' इत्यत्रोपमा रूपकं वेति सन्देहः तेन सन्देहसंकरः । 'रक्तोत्पलकलिकाकारम्' इत्यत्र निदर्शना, 'उद्वहतीव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा च । एवञ्चैतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः फलति ।

रक्तोत्पलेति । रक्तोत्पलम् (= कोकनदम्) तस्य कलिका (= कोरकः), तद्वत् लोहितम्

की कला के समान आकार वाले ललाट स्थल पर नवीन कमलनाल को तोड़ने से निकले हुए तन्तु के समान या नवीन कमलनाल के टूटे तन्तु के समान यह पतली ऊर्णा (नेत्रद्वयमध्यवर्ती रोमावली) सुशोभित हो रही है । [यह चक्रवर्ती का चिह्न माना गया है ।] खिले हुए श्वेतकमल के समान धवल, कानों तक विस्तृत (लम्बे), टेढ़ी पलकों वाले ये दोनों नेत्र बार-बार खुलने से वासभवन (प्रसूतिकागृह) को मानों धवल कर दे रहे हैं, सफेद बना दे रहे हैं । [इस कुमार की] दूर तक लम्बी सोने की

१. क्वचित्तु 'नव' इदं नास्ति । २. क्वचित्तु 'कमल' इदं नास्ति । ३. दूरावायता । ४. रक्तोत्पलनिकरम्, रक्तोत्पलकालिकानुरागम् । ५. क्वचित्तु 'च' इदं नास्ति । ६. अधरपुटकम्, अधरकम् ।

लोहित-तलौ[1] भगवतो विष्टरश्रवस इव शङ्खचक्रचिह्नौ प्रशस्तलेखा-लाञ्छितौ करौ। अभिनव-कल्पतरु-पल्लवकोमलं लेखामयैर्ध्वज-रथ-तुरगातपत्र-कमलैरलङ्कृतम् अनेकनरेन्द्र-सहस्र-चूडामणि-चक्र-चुम्बनोचितं चरणयुगलम्। एष च दुन्दुभेरिवातिगम्भीरः स्वरयोगोऽस्य रुदतः श्रूयते।'

(=रक्तम्) तलम् (=स्वरूपम्) ययोस्तौ तादृशौ, करौ=हस्तौ, भगवतः =षड्विधैश्वर्यवतः, विष्टरश्रवसः=श्रीविष्णोः, इव, शङ्खचक्रचिह्नौ—शङ्खम् (=कम्बुः) चक्रम् (=सुदर्शनाख्यं प्रसिद्धम्) एतयोः चिह्ने (=रेखाचिह्ने) ययोस्तौ, पक्षे—शङ्खचक्रे एव चिह्ने ययोस्तौ। प्रशस्तलेखा-लाञ्छितौ—प्रशस्ताभिः (=शुभलक्षणोपेताभिः) लेखाभिः=रेखाभिः, लाञ्छितौ=अङ्कितौ। अत्र 'विष्टरश्रवस्' शब्दस्य "विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः।' इत्यमरानुसारं विष्णुरित्येवार्थ उचितः। केचित्तु—'इन्द्र' इत्यर्थं कुर्वते तस्यापि तादृशलक्षणवत्त्वात्। पूर्णोपमा।

अभिनवेति। अभिनवेत्यादिः—अभिनवः (=नवीनः) यः कल्पतरुपल्लवः (=परिजात-किसलयम्) स इव कोमलम् (=मृदु, सुकुमारम्), अथ च, लेखामयैः=रेखास्वरूपैः, ध्वजेत्यादिः—ध्वजः (=पताका), रथः (=स्यन्दनः), तुरगः (=अश्वः), आतपत्रम् (=छत्रम्), कमलम् (= पङ्कजम्) च, तैः, अलङ्कृतम् =विभूषितम्, इदं द्वितीयं लक्षणम्, अथ च, अनेकेत्यादिः—अनेके (=नाना), ये नरेन्द्राः (=नरपतयः) तेषां यत् सहस्रम् (=दशशती) तस्य ये चूडामणयः (=शिरोभूषणमणयः) तेषां चक्रम् (=समूहः) तेन यत् चुम्बनम् (=संश्लेषः) तस्मिन् उचितम् (=योग्यम्), चरणयुगलम् =पादयुग्मम्, पश्य अस्येति शेषः। 'पल्लवकोमलम्' इत्यत्र लुप्तोपमा।

एष चेति। रुदतः=रोदनं कुर्वतः, अस्य=कुमारस्य, एषः=समीपवर्ती, दुन्दुभेः=पटहस्य, इव, अतिगम्भीरः=अतिमन्द्रः, स्वरयोगः=कण्ठध्वनिसम्बन्धः, श्रूयते=आकर्ण्यते। अत्रोपमा। एवञ्च दृश्यमानैर्लक्षणैरस्य चक्रवर्तित्वविषये न सन्देहलेशोऽपीति परमानन्दविषय इति शुकनासस्याशयः।

रेखा (शलाका) के समान यह नासिका खिलती हुई कमल की कली की सुगन्ध के समान सुगन्धयुक्त (तथा) स्वाभाविक मुखगन्ध (मुख से निकलने वाली सुगन्ध) को मानों सूंघ रही है। और इसका अधररूप रुचक [अथवा रूचक (मंगल द्रव्य) के समान अधर अथवा सुन्दर अधर] लाल कमल की कली के आकार को मानों धारण कर रहा है, उसी के समान प्रतीत हो रहा है। लाल कमल की कली के समान लाल तलों (हथेली) वाले, शुभ रेखा चिह्नों से युक्त [तथा] शंख और चक्र रूपी चिह्नों वाले, विष्णु के हाथों के समान [इसके हाथ] रेखा द्वारा शंख तथा चक्र के चिह्नों से युक्त हैं। [विष्णु के हाथों में शंख और चक्र ही चिह्न हैं। इस के हाथ में रेखाओं द्वारा शंख और चक्र के चिह्न बने हुए हैं। इसलिए दोनों का साम्य है।] कल्पवृक्ष के नवीन पल्लव (कोंपल) के समान कोमल, रेखारूप में बने हुए ध्वजा, रथ, घोड़ा, छत्र और कमल से अलंकृत (सुशोभित), [इसी कारण भविष्य में] कई हजार राजाओं (सामन्तों) की चूडामणियों के समूह द्वारा चूमने (प्रणाम करने) योग्य [इसके] दोनों पैर हैं। और रोते हुए इस की यह आवाज दुन्दभी [की आवाज] के समान गम्भीर सुनाई दे रही है। [इन पूर्वोक्त सभी शुभलक्षणों से इसका चक्रवर्ती होना सुनिश्चित है।]

---

१. कलिकाकारलोहित०।

—इत्येवं कथयत्येव तस्मिन् ससम्भ्रमापसृतेन राजलोकेन द्वारि[1]स्थितेन दत्तमार्गस्त्वरित-गतिरागत्य प्रहर्षोद्गम-पुलकित-तनुः स्फारीभवल्लोचनो मङ्गलकनामा[2] प्रहृष्ट-वदनः पुरुषः[3] पादयोः प्रणम्य राजानं व्यजिज्ञपत्—'देव ! दिष्ट्या वर्द्धसे, प्रतिहतास्ते शत्रवः । चिरं जीव । जय[4] पृथिवीम्[5] । त्वत्प्रसादादत्रभवतः शुकनासस्यापि ज्येष्ठायां ब्राह्मण्यां मनोरमाभिधानायां राम इव रेणुकायां तनयो जातः । श्रुत्वा देवः प्रमाणम्' इति ।

इत्येवमिति । तस्मिन् = शुकनासे, इत्येवम् = पूर्वोक्तप्रकारेण, कथयति = वदति सति, एव, [इदं सप्तम्यन्तम्, भावलक्षण-सप्तमी ।] ससम्भ्रमापसृतेन—ससम्भ्रमम् (= संभ्रमेण सहितं यथा स्यात्तथा) अपसृतेन (= दूरीभूतेन, मार्गं परित्यज्य स्थितेन), द्वारिस्थितेन (= प्रसवगृहद्वारे विद्यमानेन) राजलोकेन (= नृपसमूहेन), दत्तमार्गः—दत्तः (= विहितः) मार्गः (= राजसमीपगमनपथः) यस्मै स तादृशः, त्वरितगतिः—त्वरिता (= शीघ्रा) गतिः (= गमनम्) यस्य सः, प्रहर्षोद्गमपुलकिततनुः—प्रहर्षस्य (= प्रमोदस्य) उद्गमः (= आविर्भावः) तेन पुलकिता (= रोमाञ्चिता) तनुः (= शरीरम्) यस्य स तादृशः । स्फारीभवल्लोचनः—स्फारीभवती (= विकासतां प्राप्यमाणे) लोचने (= नेत्रे) यस्य सः तादृशः । प्रहृष्टवदनः—प्रहृष्टम् (= प्रसन्नम्) वदनम् (= आस्यम्) यस्य स तादृशः । मङ्गलकनामा—मङ्गलक इति नाम (= अभिधेयम्) यस्य सः, पुरुषः = जनः, सेवक इत्यर्थः, आगत्य = तत्रागमनं कृत्वा, पादयोः = चरणयोः, प्रणम्य = नमस्कृत्य, राजानम् = चन्द्रापीडनृपम्, व्यजिज्ञपत् = विज्ञापयामास ।

समागतेन पुरुषेण किं विज्ञापितमिति प्रतिपादयति—देव इति । देव ! = महाराज !, दिष्ट्या = भाग्येन, वर्धसे = एधसे, भवतां भाग्यवृद्धिर्जायते इति भावः । ते = भवतः, शत्रवः = रिपवः, प्रतिहताः = क्षयमुपगताः, विनष्टाः । चिरम् = सुदीर्घकालपर्यन्तम्, जीव = प्राणिहि, जीवनं धारय । पृथिवीम् = वसुधाम्, जय = स्वायत्तां कुरु । एतत्कथनस्य किमुद्देश्यमिति वर्णयति—त्वत्प्रसादात् = भवदनुग्रहात्, अत्रभवतः = पूज्यस्य, शुकनासस्य = एतन्नामकस्य श्रीमत्सचिवस्य, अपि, ज्येष्ठायाम् = प्रधानायाम्, मनोरमाभिधानायाम्—मनोरमा इति अभिधानम् (= नाम) अस्ति अस्याः सा तस्याम्, ब्राह्मण्याम् = विप्रजातीयायाम्, पत्न्याम्, रेणुकायाम् = जमदग्निपत्न्याम्, रामः = परशुरामः, इव, तनयः = सुतः, जातः = समुत्पन्नः, श्रुत्वा = पूर्वोक्तमाकर्ण्य, देवः = स्वामी, प्रमाणम् = विधेय-निर्णायकः, भवतामाज्ञयैवाग्रे विधेयं निश्चेतव्यमिति भावः ।

शुकनास द्वारा इतना कहते ही द्वार पर खड़े हुए राजाओं के समूह द्वारा घबड़ाहट से या शीघ्रता से हटकर जिसको [आगे राजा के पास जाने के लिए] मार्ग दे दिया गया था, जो बहुत तेज गतिवाला था, अत्यधिक प्रसन्नता के कारण जिसका शरीर पुलकित (रोमाञ्चयुक्त) हो गया था, जिसकी आँखें विकसित हो गईं थीं, जिसका शरीर हर्षयुक्त था, ऐसा मङ्गलक नामवाला पुरुष (सेवक) पैरों पर गिर कर (प्रणाम करके) राजा से निवेदन करने लगा—"हे महाराज, सौभाग्य से आप वृद्धि प्राप्त कर रहें हैं, आपको बधाई हो । आपके शत्रु नष्ट हो गये । (आप) दीर्घकाल तक जीवित रहें, पृथिवी को जीतें । आपके अनुग्रह से माननीय शुकनास की भी ज्येष्ठ ब्राह्मणी पत्नी मनोरमा नामवाली से पुत्र उसी प्रकार उत्पन्न हुआ है जिस प्रकार रेणुका से परशुराम [पुत्र रूप में उत्पन्न हुए थे] । इसे सुन कर महाराज प्रमाण हैं । [अब आपका जैसा आदेश हो वैसा किया जाय ।]"

---

१. द्वारस्थितेन । २. मङ्गलनामा । ३. प्रहृष्टवदनपुरुषः ।
४. जय च । ५. पृथिवीं प्रतिपालय ।

शुकनासपुत्र-जन्मोत्सवः

अथ नृपतिरमृतवृष्टिप्रतिममाकर्ण्य[1] तद्वचनं प्रीति-विस्फारिताक्षः प्रत्यवदत्—'अहो ! कल्याणपरम्परा। सत्योऽयं लोकप्रवादो[2] यद्विपद्विपदं सम्पत् सम्पदमनुबध्नाति' इति। सर्वथा समानसुखदुःखतां दर्शयता विधिनाऽपि भवतेव वयमनुवर्त्तिताः'—इत्यभिधाय प्रीतिविकसितमुखः सरभसमालिङ्ग्य विहसन् स्वयमेव शुकनासस्योत्तरीयं पूर्णपात्रं जहार। तस्मै च

अथेति। अथ = पुरुषवचनानन्तरम्, नृपतिः = राजा तारापीडः, अमृतवृष्टिप्रतिमम्—अमृतस्य (=सुधायाः) या वृष्टिः (=वर्षणम्) तस्याः प्रतिमम् (=तुल्यम्), तद्वचनम् = मङ्गलकवचनम्, आकर्ण्य=श्रुत्वा, प्रीतिविस्तारिताक्षः—प्रीत्या (=आनन्देन) विस्तारिते (=विकासिते) अक्षिणी (=नेत्रे) यस्य सः तादृशः सन्, प्रत्यवदत् =प्रत्यवोचत्। किन्तदिति वर्णयति—अहो इति। अहो =इदमाश्चर्यं प्रसन्नताधिक्ये वा, कल्याणपरम्परा—कल्याणानाम् (=श्रेयसाम्) परम्परा (= सन्ततिः)। अयम् =एषः, प्रसिद्धः, लोकप्रवादः = लोकानां चिरन्तनो वचनव्यापारः, सत्यः = अवितथः, यत् =हेताविदम्, विपत् = विपत्तिः, विपदम् = विपत्तिम्, सम्पत् =सम्पत्तिः, सम्पदम् = सम्पत्तिम्, अनुबध्नाति = अनुगच्छति। यदा विपत्तयस्तदा प्रतिक्षणं नवा नवा विपत्तय एव समापतन्ति। एवमेव यदा सम्पत्तयः सौभाग्यानि तदा तान्येव प्रतिक्षणमागच्छन्तीति भावः।

साम्प्रतं शुकनासं प्रति कथयति—सर्वथेति। सर्वथा = सर्वप्रकारेण, समानसुखदुःखताम्—समानम् (=तुल्यम्) सुखदुःखम् (=आनन्दानानन्दौ) ययोस्तौ तयोर्भावस्तत्ता ताम्, दर्शयता = प्रकटयता, विधिना = भाग्येन, अपि, भवता =त्वया, शुकनासेन, इव =यथा, वयम् =अहम् राजा तारापीडः, अनुवर्त्तिताः =अनुगताः। पुत्रोत्पत्तिरूपफलेनोभयोः साम्यं जातमिति भावः। इति=पूर्वोक्तम्, अभिधाय =कथयित्वा, प्रीतिविकसितमुखः—प्रीत्या (=हर्षेण) विकसितम् (=प्रसन्नम्) मुखम् (=आननम्) यस्य स तादृशः, सरभसम्=सवेगम्, सहर्षमित्युचितम्, आलिङ्ग्य =आश्लिष्य, विहसन्= हासं कुर्वन्, स्वयमेव =आत्मनैव, शुकनासस्य =तन्नामकप्रधानामात्यस्य, उत्तरीयम् = संव्यानम्, पूर्ण-

शुकनास के पुत्र का जन्मोत्सव

इसके बाद अमृतवृष्टि के समान उस (मंगलक) के वचन सुनकर प्रसन्नता से विकसित नेत्रोंवाला होता हुआ राजा बोला 'अहा ! कल्याण (हितकारक कार्य) की परम्परा (श्रेणी) [अद्भुत] है। यह लोकप्रवाद (कहावत) सच ही है कि विपत्ति का पीछा विपत्ति और सम्पत्ति का पीछा सम्पत्ति करती है। [अर्थात् जब विपत्ति आती है तो विपत्तियाँ आने लगती है। इसी प्रकार जब सुख सम्पत्ति आती है तो उसके बाद सुख सम्पत्ति ही आती रहती है।] सभी प्रकार से[हम दोनों की] समान ही सुख और दुःख की स्थिति को दिखाते हुए विधाता ने भी आपके समान ही मेरी सेवा की है अर्थात् पुत्रप्राप्ति के द्वारा मेरी समानता आपके साथ उसकी प्रकार आपको भी पुत्र प्राप्ति के द्वारा मेरे साथ आपकी समानता कर दी है।' ऐसा कहकर प्रसन्नता से खिले हुए मुख वाले राजा ने वेगपूर्वक गाढ आलिंगन करके हँसते हुए अपने आप ही शुकनास का उत्तरीय वस्त्ररूपी पूर्णपात्र छीन लिया, उतार कर ले लिया। और प्रसन्न चित्त होते हुए उस खुशखबरी (शुभ समाचार) लाने वाले सेवक

१. भूपतिः।　　२. जनप्रवादः।

प्रीतमनाः प्रियवचनानुरूपं[1] पुरुषायापरिमितं पारितोषिकमादिदेश ।

उत्थाय च तथैव तेन चरण-विकुट्टन[2]-क्वणित[3]-नूपुर-सहस्र-मुखरित-दिगन्तरेण,सरभसो-त्क्षेप-चालित[4]-मणिवलयावली-वाचालित-भुजलतेन[5],ऊर्ध्वीकृतैरुत्तानतलैः करपुटैरनिल-लुलिताम्[6] आकाशगङ्गा[7]-कमलिनीमिव दर्शयता, पर्यस्तमृदित-कर्णपल्लवेन, परस्पराङ्गद-कोटि-संघट्टदष्ट-

पात्रम् = हर्षसूचकघटनाकाले स्वयमेव ग्राह्यं वसनादिरूपम्, जहार = गृहीतवान् । प्रीतमनाः=प्रसन्नचेताः सन्, तस्मै = समाचारसूचकसेवकाय, प्रियवचनानुरूपम्—प्रियवचनस्य (= अभीष्टवचनस्य) अनुरूपम् (= योग्यम्) अपरिमितम् = असीमितम्, परितोषिकम् = सन्तोषप्रयुक्तं द्रव्यादिकम्, आदिदेश = आज्ञापयामास, दातुमिति शेषः ।

उत्थाय चेति । तथैव = तेनैव प्रकारेण, उत्थाय = उत्थानं विधाय, च, ['अन्तःपुरिकाजनेन अनुगम्यमानः शुकनासभवनं गत्वा द्विगुणतरमुत्सवमकारयदि'ति वक्ष्यमाणेनान्वयो बोध्यः । अत्र तृतीयान्तानि पदानि 'अन्तःपुरिकाजनेन' इति वक्ष्यमाणस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] तेन = वक्ष्यमाणेन, अन्तःपुरिकाजनेन, चरणेत्यादिः—चरणानाम् (= पादानाम्) यद् विकुट्टनम् (= प्रमोदातिरेकाद् विक्षेपणम्) तेन क्वणितम् (= शब्दितम्) यत् नूपुरसहस्रम् (= पादकटकसहस्रम्) तेन मुखरितानि (= वाचालितानि) दिगन्तराणि (= दिङ्मध्यानि) येन तेन तादृशेन । अत्रातिशयोक्तिः ।

सरभसेति । सरभसेत्यादिः—सरभसम् (= वेगेन सहितम्) य उत्क्षेपः (= हस्तानां संचालनम्) तेन चालिता (= कम्पिता) या मणिवलयानाम् (= रत्नकटकानाम्) अवली = पङ्क्तिः) तया वाचालिता (= मुखरिता) भुजलता (= बाहुवल्ली) यस्य स तेन तादृशेन । अत्रातिशयोक्तिः सम्बन्धाभावेऽपि सम्बन्धप्रतिपादनात् ।

ऊर्ध्वीकृतैरिति । ऊर्ध्वीकृतैः = उच्चतां प्रापितैः, उत्तानतलैः = उन्मुखतलैः करपुटैः = हस्तपुटैः, अनिललुलिताम्—अनिलेन (= वायुना) लुलिताम् (= पातिताम्), आकाशगङ्गाकमलिनीम्—आकाशगङ्गायाः (= स्वर्गंगङ्गायाः) कमलिनीम् (= पद्मिनीम्) दर्शयता = प्रकटयता, इव । अत्रोत्प्रेक्षा, तथाविधहस्ततलविभ्रानादाकाशगङ्गाकमलिनीप्रतीतेः: ।

पर्यस्तेति । पर्यस्तेत्यादिः—पर्यस्ताः (= भूमौ निपतिताः) पश्चाच्च मृदिताः (= चूर्णिताः लोकानां पादाघातादिति भावः) कर्णपल्लवाः (= श्रोत्राभूषणभूतकिसलयानि) यस्य तेन तादृशेन ।

परस्परेति । परस्परेत्यादिः—परस्परम् (= अन्योन्यम्) अङ्गदानाम् (= बाहूभूषणानाम्

को असीमित पारितोषिक प्रदान करने की आज्ञा दी ।

और राजा जैसा था उसी स्थिति में उठ कर अन्तःपुर की उन स्त्रियों द्वारा अनुगत किया जाता हुआ—जिन स्त्रियों के पैरों के [पृथिवी पर] पटकने के कारण बजते हुए हजारों नूपुरों [की आवाज] से दिशाओं के मध्यभाग मुखरित (शब्दयुक्त होने लगे थे, गूंजने लगे थे, वेगपूर्वक उठाने के कारण हिलते हुए मणिमय कंगनों के समूह से भुजारूपी लताएँ शब्द कर रहीं थीं, जो स्त्रियाँ ऊपर उठाए गए उत्तान तलों वाले (ऊपर की ओ हथेलियों वाले) करपुटों से मानों हवा द्वारा हिलाई गयी, आकाशगङ्गा की कमलिनी को दिखा रहीं थीं, जिन स्त्रियों के कानों के (आभूषण-स्वरूप)

१. प्रियवचनश्रवणानुरूपम् । २. विघट्टन, कुट्टन । ३. क्वचित्तु 'मणि' इत्यधिकं दृश्यते । ४. चलित···वलित···। ५. भुजबलेन ।६. लुण्ठिताम् । ७. क्वचित्तु 'गंगा' इवं पदं नापि वर्तते।

पाटितोत्तरीयांशुकेन, श्रमजल-धौताङ्गराग-रञ्जित-नवीनवाससा,[1] किञ्चिदवशिष्ट-तमालपत्रेण, विलसद्वारविलासिनीहसितैरुन्निद्र-कैरव-वनानुकारं प्रथयता, सरभसवल्गन-[2]स्खलल्लोलहार-लतास्फालित-कुचस्थलेन, सिन्दूर-तिलक-लुलितालक-[3]लेखेन, विप्रकीर्णपिष्टातक-पांशुपुञ्ज-[4]

केयूराणाम्) याः कोटयः (=अग्रभागाः) तासां यः सङ्घट्टः (=घषणम्) तेन दष्टानि (=विद्धानि) तदनन्तरं पाटितानि (=छिन्नानि) उत्तरीयांशुकानि (=संव्यानवासांसि) यस्य तेन तादृशेन ।

श्रमजलेति । श्रमजलेत्यादिः—श्रमजलम् (=संघट्टनोत्पन्नस्वेदसलिलम्) तेन धौतः (=क्षालितः) अङ्गरागः (=विलेपनम्) तेन रञ्जितानि (=रागविशिष्टानि विहितानि) नवीनवासांसि (=नव-वस्त्राणि) यस्य तेन तादृशेन ।

किञ्चिदिति । किञ्चिदवशिष्टेत्यादिः—किञ्चित् (= स्वल्पम्) अवशिष्टम् (= सावशेषम् अनष्टमिति भावः) तमालपत्रम् (=केसरादिविहिततिलकम्) यस्य स तेन तादृशेन । ['तमालपत्र-तिलकचित्रकाणि विशेषकम् ।' इत्यमरः २।६।१२३ ।]

विलसदिति । विलसदित्यादि—विलसन्त्यः (=सविलासं गच्छन्त्यः) याः वारविलासन्यः (=वेश्याः) तासां हसितैः (=हासैः) उन्निद्र-कैरववनानुकारम्—उन्निद्रम् (=विकसितम्) यत् कैरववनम् (=कुमुदविपिनम्) तस्य अनुकारम् (=अनुकरणम्) प्रथयता = विस्तारयता । 'यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योरिति कविसमयमनुसृत्य धवलतया कुमुदवनसाम्यं बोध्यम् । 'कैरववनानुकारमि' त्यत्रार्थी उपमा ।

सरभसेति । सरभसेत्यादिः—सरभसम् (=सवेगम्) यत् वल्गनम् (=परस्परम् अङ्गाना-मामोटनम्) तेन स्खलन्ती (= स्वस्थानाद् भ्रश्यन्ती) लोला (= चञ्चला) च या हारलता मुक्तालता) तया आस्फालितम् (= आहतम्) कुचस्थलम् (= स्तनप्रदेशः) यस्य तेन तादृशेन ।

सिन्दूरेति । सिन्दूरेत्यादिः—सिन्दूरम् (=नागजम्) तेन जनितं यत् तिलकम् (= पुण्ड्रम्) तत्र लुलिता (= लुण्ठिता, आकाशभ्रमादिति भावः) अलकलेखा (= चूर्णकुन्तलरेखा) यस्य तेन तादृशेन । यद्वा सिन्दूरेण जनितो यः तिलकः =पुण्ड्रः तत्र लुलितेत्यादिः ।

विप्रकीर्णेति । विप्रकीर्णेत्यादिः—विप्रकीर्णः (= विक्षिप्तः) यः पिष्टातकः (= पटवासाः, लेपद्रव्यविशेषः) तस्य पांसुपुञ्जः (=धूलिसमूहः) तेन पिञ्जरितः (= पीतरक्ततां प्राप्तः) केशपाशः

पल्लव गिरने या बिखरने के कारण कुचले जा रहे थे, जिनके उत्तरीय वस्त्र अंगदों (बाजूबन्दों) की नोकों (किनारों) की रगड़ से छिद कर फटे जा रहे थे, जिनके नये कपड़े पसीने के कारण धोये गये, बहते हुए अंगराग से रंगे जा रहे थे, जिनके तमालपत्र (माथे पर लगाये गये टिकली के चिह्न) कुछ ही बचे थे, [शेष पसीने से धुल कर मिट गये थे ।] जो स्त्रियाँ विलास करती हुई वेश्याओं की हँसी के कारण खिले हुए कमलों के वन के अनुकरण का विस्तार कर रहीं थीं, [हँसती हुई वेश्यायें खिले कमलों के वन के समान सुन्दर लग रहीं थीं], जिन स्त्रियों के कुचस्थल वेगपूर्वक चलने के कारण अपने स्थान से हटती हुई चञ्चल हारलताओं से टकरा रहे थे, जिनके घुंघराले बाल सिंदूर के तिलक

१. स्वच्छचीन चीरवाससा । २. चलन ।
३. लोलितालक…। ४. …'पांशु', इदं क्वचिन्नापि वर्तते ।

पिञ्जरित-केशपाशेन, प्रनृत्त[1]-कल-मूक-कुब्ज-किरात-वामन-बधिर-जड-जन-पुरःसरेण, उत्तरी-यांशुक-ग्रीवाबद्धावकृष्ट-विडम्बित[2]-जरत्कञ्चुकि-कदम्बकेन[3], वीणा-वेणु-मुरज-कांस्यताललयानु-गतेन[4], कल-मधुरमुद्गायता हर्षनिर्भरतया मत्तेनेव उन्मत्तेनेव ग्रहगृहीतेनेवाऽपगतवाच्या[5]-

(=कचसमूहः) यस्य स तेन तादृशेन ।

प्रनृत्तेति । प्रनृत्तेत्यादिः—प्रनृत्ताः (= स्वयमेवारब्धनृत्यविशेषाः) कलाः (=मनोज्ञाः) मूकाः (=वागिन्द्रियशून्याः) यद्वा—कलमूकाः (=वाक्कर्णेन्द्रियरहिताः) ['कलमूकोऽवाक्श्रुतिः' इति हलायुधः ।] कुब्जाः (= गडुलाः) किराताः (= स्वल्पशरीराः) वामनाः (= खर्वाः) बधिराः (=अकर्णाः) जडाः (=मूर्खाः) चैवंविधाः जनाः (=लोकाः) पुरःसराः (=अग्रेगामिनः) यस्य स तेन तादृशेन । किरात-शब्दस्य वनप्रान्तसञ्चारिणः—इत्यर्थस्तु नात्र युक्तः । राजभवने तेषां स्थितेरनौचित्यात् । एवञ्च भानुचन्द्रप्रतिपादितः 'किराताः = स्वल्पतनवः' इत्येवार्थोऽत्र युक्तियुक्त इति बोध्यम् ।

उत्तरीयेति । उत्तरीयेत्यादिः—उत्तरीयांशुकैः (= प्रच्छादनवस्त्रैः) ग्रीवासु (= कन्धरासु) पूर्वं बद्धम् (=संयमितम्) पश्चात् अवकृष्टम् (=आकृष्टम्, प्रमोदातिरेकेणेति भावः) अतः विडम्बितम् (=विडम्बनां प्रापितम्, बलाद्धरणेन भूमौ पातनोपक्रमेण च व्यग्रीकृतम्) जरताम् (=स्थविराणाम्) कञ्चुकिनाम् (= अन्तःपुरचरब्राह्मणविशेषाणाम्) कदम्बकम् (= समूहः) येन स तेन तादृशेन ।

वीणेति । वीणेत्यादिः—वीणा (= वल्लकी) वेणुः (= वंशः) मुरजः (= मृदङ्गः) कांस्यतालम् (= करतालम्) च एषां लयः (= परस्परं सङ्गतिः, साम्यावस्था) तम् अनुगतेन (= अनुसृतेन, तदनुसारप्रयातेनेत्यर्थः) । कलमधुरम्—कलम् (= अव्यक्तं मनोज्ञं वा) मधुरम् (=कर्णप्रियम्) च यथा स्यात् तथा गायता (=गानं कुर्वता) ।

हर्षेति । हर्षनिर्भरतया—हर्षस्य (=आनन्दस्य) यः निर्भरः (=अतिशयः) तस्य भावस्तत्ता तया हेतुभूतया, मत्तेन =क्षीबेण, इव, उन्मत्तेन = उन्मादव्याधियुक्तेन, इव, ग्रहगृहीतेन =भूताविष्टेन, इव । अपगतवाच्यावाच्यविवेकेन—अपगतः (=नष्टः) वाच्यावाच्ययोः (= वचनीयानवचनीययोः) विवेकः (=ज्ञानम्) यस्य तेन तादृशेन । नृत्यक्रीडाप्रसक्तेन= नर्तनक्रीडानुरक्तेन । एतादृशेन अन्तःपुरिका-

में चिपक गये थे, बिखेरे गये पटवास के चूर्णसमूह से जिनके केशपाश (जूड़े) पीले हो गये थे, नाचते हुए कलमूक (वाक् और श्रवण इन्द्रियों से रहित) कुबड़े, किरात (नाटे शरीरवाले) बौने, बहरे तथा मूर्ख लोग जिनके आगे-आगे चल रहे थे, रेशमी उत्तरीय वस्त्रों से गर्दनों को बाँध कर खींचे गये बूढ़े कञ्चुकियों के समूह जिन स्त्रियों द्वारा विडम्बना प्राप्त कराये जा रहे थे, मजाक के विषय बनाये जा रहे थे, जो स्त्रियाँ वीणा, बाँसुरी, मृदंग, करताल (कांस्यताल) की लय का अनुसरण कर रहीं थीं, तथा सुरीला और मीठा गा रहीं थीं, जो [अतिशय] हर्ष के कारण मतवाली सी, उन्मत्त (पागल) सी, भूतादि द्वारा पकड़ी गईं सी थीं, जिनका वाच्य और अवाच्य (कहने योग्य

१. प्रणृत्य, प्रनृत्तविकल । २. विलम्बित । ३. कदम्बेन ।
४. ···मनुयातेन । ५. ···व्यपगत··· ।

वाच्यविवेकेन[1] नृत्य-क्रीडा[2]-प्रसक्तेनान्तःपुरिकाजनेन, प्रचल[3]-मणिकुण्डलाहत[4]-कपोलभित्तिना च विघूर्णमानकर्णोत्पलेनाधोविगलित[5]-विलोल-शेखरेण दोलायमान-वैकक्षक[6]-कुसुममालेन निर्द्दय-प्रहत-भेरी-मृदङ्ग-मर्द्दल-पटह-निनादानुगत-काहल[7]-शङ्ख-रव-जनित-रभसेन चरण-सन्निपातैर्दार[8]-

जनेन = अन्तःपुरस्थरमणीलोकेन, 'अनुगम्यमान' इत्यत्रान्वयः। 'मत्तेनेवेत्यादौ' मालोपमा उत्प्रेक्षा वा बोध्या।

साम्प्रतं परिजनान् वर्णयति—प्रचलेति। [इमानि तृतीयान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'राजपरिजनेन' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्।] प्रचलेत्यादिः—प्रचलितानि (= कम्पितानि) यानि मणिकुण्डलानि (=मणिमयश्रवणाभूषणानि) तैः आहताः (=प्रताडिताः) कपोलभित्तयः (=गण्डस्थलानि) यस्य तेन तादृशेन। च=समुच्चये।

विघूर्णेति। विघूर्णमानेत्यादिः—विघूर्णमानानि (=आन्दोलितानि) कर्णोत्पलानि (=श्रवणाभरणभूतकमलानि) यस्य तेन तादृशेन। अधोविगलितेत्यादिः—अधोविगलितः (=नीचैर्निपतितः) विलोलः (=चञ्चलः) च शेखरः (= शिरोभूषणम्) यस्य तेन तादृशेन। दोलायमानेत्यादिः—दोलायमानाः (=कम्पमानाः) वैकक्षाणाम् (=तिर्यक्लम्बिवक्षस्थलानाम्) कुसुममाला (=पुष्पमालाः) यस्य तेन तादृशेन। वस्तुतस्तु—दोलायमाना वैकक्षकम् (=उरस्थले तिर्यक् धृतं माल्यम्) कुसुममाला (=पुष्पमालाः अन्या) च यस्य तेन तादृशेन। ["वैकक्षिकं तु तत्। यत् तिर्यक् क्षिप्तमुरसि।" अमरः २।६।१३६।] एवञ्च यदुरसि उपवीतवत्तिर्यक् क्षिप्तं माल्यं तत्, विशिष्टकक्षोऽस्माद्विकक्षमुरस्तत्र भवं—वैकक्षम् तदेव वैकक्षकमिति बोध्यम्।

निर्दयेति। निर्दयेत्यादिः—निर्दयम् (=निष्ठुरं सवेगं यथा स्यात् तथा) प्रहताः (=ताडिताः) भेर्यः (=दुन्दुभयः) मृदङ्गाः (=मुरजाः) मर्दलाः (=वाद्यविशेषाः) पटहाः (=आनकाः) तेषां ये निनादाः (=तीव्रध्वनयः) तैः अनुगताः (=अनुयाताः, तन्मिश्रिता इति भावः) काहलाः (=विस्तृतढक्काः वाद्यविशेषाः) कम्बवः (=शङ्खाः) च तेषां रवः (=स्वनः) तेन जनितः (=उत्पादितः) रभसः (=आनन्दः) यस्य तेन तादृशेन। चरणसन्निपातैः = पादाघातैः, वसुधाम् (=पृथिवीम्) दारयता (=विदीर्णां विदधता) इव, राजपरिजनेन=नृपपरिवारेण, अनुगम्यमानः-इत्यत्रान्वयः। 'दारयतेव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

तथा न कहने योग्य) का ज्ञान समाप्त हो गया था अर्थात् सभी प्रकार की बातें सबसे कर रहीं थीं, जो नृत्यक्रीडा में डूबी हुई थीं [इस प्रकार को अन्तःपुर की स्त्रियों द्वारा अनुगत होता हुआ] तथा ऐसे राजसेवकों द्वारा—जिन (राजसेवकों) की कपोलरूपी भित्तियाँ हिलते हुए मणिमय कुण्डलों से आहत हो रहीं थीं, (टकरा रही थीं), जिनके कानों में (आभूषण रूप में पहने गये) कमल हिल रहे थे, जिनके हिलते हुए शिरोभूषण नीचे गिर रहे थे,जिनके वक्षःस्थल पर [यज्ञोपवीत के समान] तिरछी माला तथा और दूसरी मालायें हिल रहीं थीं,निर्दयता (कठोरता) के साथ पीटे गये भेरी, मृदङ्ग,मर्दल(=वाद्यविशेष) पटह (नगाड़ा) की आवाज के पीछे-पीछे अर्थात् साथ में मिली हुई काहल (महान् ढक्का)और शङ्खों की आवाज से जिनमें वेग (जोश) उत्पन्न हो गया था,जो मानों पैर पटकने से पृथिवी को फाड़ रहे थे, [ऐसे

१. विवेकेनेव। २. ···गीतक्रीडा···। ३. प्रचलित···। ४. उद्घट्टित। ५. गलित। ६. वंकक्षिक, वंकक्ष। ७. काहला···। ८. विदारयतेव।

यतेव वसुधां[1] राजपरिजनेन, प्रवृत्तनृत्येन[2] च चारणगणेन विविधमुखवाद्य[3]-कृतकोलाहलेन पठता गायता चानुगम्यमानः[4] शुकनासभवनं गत्वा द्विगुणतरमुत्सवमकारयत् ।

नामकरणं चन्द्रापीडस्य शिक्षाव्यवस्था च

अतिक्रान्ते च षष्ठीजागरे,प्राप्ते दशमेऽहनि, पुण्ये मुहूर्त्ते गाः सुवर्णञ्च कोटिशो ब्राह्मण-[5]सात्कृत्वा 'मातुरस्य मया परिपूर्णमण्डलश्चन्द्रः स्वप्ने मुखकमलमाविशन् दृष्टः' इति स्वप्नानु-

---

प्रवृत्तेति । प्रवृत्तनृत्येन—प्रवृत्तम् (=समारब्धम्) नृत्यम् (=नर्तनम्) येन तेन तादृशेन । विविधेत्यादिः—विविधानि (=नानाप्रकाराणि) यानि मुखवाद्यानि (= आननिःसृतवायुद्वारा-वादनयोग्यानि) तैः कृतः (=विहितः) कोलाहलः (=कलकलः) येन तादृशेन । पठता (=पाठं विदधता) गायता (=गानं कुर्वता), च, चारणगणेन (=कुशीलवसमूहेन) च, अनुगम्यमानः = अनुस्रियमाणः, राजा, शुकनासभवनम् = शुकनाससदनम्, गत्वा = प्राप्य, द्विगुणतरम् = स्वस्माद् द्विगुणम्, स्वतोऽधिकमिति भावः, उत्सवम् = महम्, अकारयत् = कारितवान् । एतेन तस्य राज्ञ औदार्यं स्वजन-प्रियत्वं च सिध्यति ।

नामकरणसंस्कारं निरूपयितुपक्रमते—अतिक्रान्त इति । षष्ठीजागरे=षष्ठीरात्रिपूजानिमित्तकजागरणे, अतिक्रान्ते = व्यतीते सति । [बालजन्मनः षष्ठ्यां रात्रौ षष्ठीदेवीपूजनं जागरणं च कर्त्तव्यमिति न केवलो लोकाचारः, शास्त्रसम्मतोऽपीति द्रष्टव्यम् । तदुक्तं वाग्भटेन—"षष्ठीं निशां विशेषेण कृतरक्षा-बलिक्रियाः । जागृयुर्बान्धवास्तस्य दधतः परमां मुदम् ॥ एवमनुरुध्यैव कान्यकुब्जादि-क्षेत्रेषु साम्प्रतमपि षष्ठ्यां निशायां जागरणं विधीयत एव ।] दशमे अहनि = जन्मतो दशमे दिवसे, प्राप्ते = समागते सति, पुण्ये = पवित्रे, मुहूर्त्ते = शुभे कालविशेषे,गाः = धेनूः, सुवर्णम् = काञ्चनम्, च, कोटिशः = कोटिसंख्याकाः, प्रचुरमात्रायामित्यर्थः, ब्राह्मणसात्कृत्वा = ब्राह्मणाधीनं कृत्वा, ब्राह्मणेभ्यः सम्प्रदायेत्यर्थः ['तदधीन-वचने च' इति सात् प्रत्ययः ।] "मया = नृपेण, स्वप्ने = स्वप्नावस्थायाम्, परिपूर्णमण्डलः = षोडशकलासमन्वितः, चन्द्रः = शशी, अस्य = कुमारस्य, मातुः = जनन्याः मुखकमलम् = वदनाम्बुजम्, आविशन् = प्रविशन्, दृष्टः = विलोकितः । इति = अस्मात् कारणात्, राजा= नृपः तारापीडः, स्वसूनोः= स्वसुतस्य, स्वप्नानुरूपमेव = स्वप्नसदृशमेव, चन्द्रापीड—चन्द्रः (=शशी) आपीडः (= शेखरः)

राजपरिजनों द्वारा अनुगम्यमान] तथा नृत्त आरम्भ कर देने वाले, मुख से बजाये जाने योग्य अनेक वाद्यों से कोलाहल करने वाले, [राजस्तुति का] पढ़ने वाले, गान करने वाले चारणों के समूह द्वारा अनुगम्यमान (पीछा किया जाता हुआ) राजा शुकनास के भवन में पहुँच कर दूना उत्सव करवाने लगा ।

नामकरण संस्कार

षष्ठी (पूजा-सम्बन्धी) जागरण के बीत जाने पर, दशवाँ दिन आ जाने पर पुण्य मुहूर्त्त (शुभ समय) में करोड़ों गायें और सुवर्ण ब्राह्मणों को देकर राजा ने 'मैंने स्वप्न में इस (शिशु) की माता के मुखकमल में पूर्णमण्डलवाले चन्द्रमा को प्रवेश करते हुए देखा था' इसलिए स्वप्न के अनुसार ही

---

१. वसुन्धराम् । २. नृत्ते प्रवृत्त । ३. 'मुख' पदं क्वचित् नापि वर्तते ।
४. वल्गता चानु० । ५. ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा ।

रूपमेव स्व-सूनोश्चन्द्रापीड इति नाम चकार।[1]

अपरेद्युः शुकनासोऽपि कृत्वा ब्राह्मणोचिताः सकलाः क्रिया राजानुमतमात्मजस्य विप्रजनोचितं वैशम्पायन इति नाम चक्रे।

क्रमेण कृतचूडाकरणादि-क्रिया-कलापस्य[2] शैशवमति चक्राम चन्द्रापीडस्य।

तारापीडः क्रीडाव्यासङ्ग[3]-विघातार्थं बहिर्नगरादनुसिप्रम्[4] अर्द्धक्रोशमात्रायामम्, प्रति-

यस्य सः तादृशः, चन्द्रापीडः] इति नाम = संज्ञाम्, चकार = कृतवान्। एवञ्च यथा स्वप्ने गर्भग्रहण-प्रतीकत्वेन दृष्टवान् तथैव तेन गर्भेण समुत्पन्नस्य स्वसुतस्य नाम विहितवानिति भावः। 'अत्र 'दशमेऽह्नि जातस्य पुत्रस्य नाम विदध्यादि'त्यपि स्मृतिषु दृश्यते तेन न कोऽपि शास्त्रविरोध इति बोध्यम्।

अपरेद्युरिति। अपरेद्युः = अन्यस्मिन् दिने, ["सद्यः परुत् परार्यैषमः परेद्यव्यद्य-पूर्वेद्युरन्येद्युः।' पा० सू० ५-३-२' सूत्रेण निपातितमिदमव्ययम्] शुकनासः = एतन्नामाः प्रधानसचिवः, अपि, ब्राह्मणोचिताः = विप्रकुलयोग्याः, सकलाः = समस्ताः, क्रियाः = जातकर्मसंस्कारान्, कृत्वा = विधाय, राजानुमतम् = राज्ञा सम्मतम्, आत्मजस्य = स्वसुतस्य, विप्रजनोचितम् = ब्राह्मणजन-योग्यम् 'वैशम्पायन' इति = एवमानुपूर्वीकम्, नाम = अभिधानम्, चक्रे = कृतवान्। नामकरण-विषये मनुना एवं निर्दिष्टम्—

"मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥" मनु० २।३१

तथा च—विशम् = लोकं पातीति विशम्पा विष्णुः—'पृषोदरादित्वात्' साधुः। स एव अयनम् = आश्रयो यस्येति विशम्पायनः। ततश्च 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति सूत्रेण स्वार्थे अण् प्रत्यये वृद्धौ च वैशम्पायन इति। त्रिपुरविजयिनः शिवस्याभिधायकत्वात् चन्द्रापीडशब्दस्यापि बलसूच-कत्वमिति हरिदाससिद्धान्तवागीशाः आहुः।

क्रमेणेति। क्रमेण = परिपाट्या, कृत-चूडेत्यादिः—कृतः (= विहितः) चूडाकर्म (= चौलकर्म) तदादिकाः क्रियाः, तासां कलापः (= समूहः) यस्य स तस्य तादृशस्य, चन्द्रा-पीडस्य = एतन्नामक-राजसुतस्य, शैशवम् = बाल्यम्, अतिचक्राम = अत्यक्राम्यत, व्यतीतमिति भावः।

तारापीड इति। तारापीडः = एतन्नामा नृपतिः, स्वसुतस्य चन्द्रापीडस्य, क्रीडा-व्यासङ्ग-

अपने पुत्र का नाम 'चन्द्रापीड' ऐसा रखा। [चन्द्र है आपीड = शेखर जिसका अर्थात् शंकर यह नाम रखा।]

दूसरे दिन शुकनास ने भी ब्राह्मणों के योग्य सभी क्रियायें (संस्कार) सम्पन्न करके अपने पुत्र का, राजानुमत तथा ब्राह्मण लोगों के लिये उचित, 'वैशम्पायन' यह नाम रखा। [नामों की व्युत्पत्ति संस्कृतव्याख्या में देखें।]

क्रमशः जिसके चूडा-करणादि क्रियासमूह (संस्कार) सम्पन्न हो चुके थे ऐसे चन्द्रापीड का शैशव (बचपन) बीत गया।

चन्द्रापीड की शिक्षा

राजा तारापीड ने [चन्द्रापीड की] क्रीडाव्यासक्ति (खेलकूद में लगाव) को रोकने के लिए

१. सूनोः। २. ·· बालक्रिया···। ३. ···व्यासङ्ग···। ४. अनुक्षिप्रम्, अनुशिप्रम्।

महता तुहिनगिरि-शिखर-मालानुकारिणा[1] सुधाधवलितेन[2] प्राकारमण्डलेन परिवृतम्, अनुप्राकारमाहितेन महता परिखावलयेन परिवेष्टितम्, अतिदृढ-कपाट-सम्पुटम्, उद्घाटितैकद्वार-प्रवेशम्, एकान्तोपरचित-तुरग[3]-वाह्याली-विभागम्, अधःकल्पित-व्यायामशालम्, अमरागारा-

विघातार्थम्—क्रीडासु (= बालसुलभखेलासु) व्यासङ्गः (=समासक्तिः) तस्य विघातार्थम् (= दूरीकरणार्थम्) बहिर्नगरात् = नगरात् (=स्वराजधानीतः) बहिः (= बाह्यस्थाने) अनुसिप्रम् =सिप्राख्यनद्याः समीपे, विद्यामन्दिरम् =अध्ययनस्थानम्, पाठशालामिति भावः, अकारयत् = निरमापयत् इति वक्ष्यमाणेनान्वयः, [सिप्रायाः समीपे इत्यर्थे चाव्ययीभावसमासः] तच्च विद्यामन्दिरं कीदृशमिति तस्य विशेषणान्याह—अर्धक्रोशमात्रायामाम्—अर्धक्रोशमात्रम् (=अर्धक्रोशपरिमितः) आयामः (=विस्तारः) यस्य तत् तादृशम् । अतिमहता =अतिविशालेन, तुहिनगिरिशिखरमालानुकारिणा—तुहिनगिरिः (=हिमालयः) तस्य या शिखरमाला (=शृङ्गसमूहः) तामनुकरोति तादृशेन तत्सदृशेनेत्यर्थः, सुधाधवलितेन—सुधया (= श्वैत्यसम्पादकलेपनीयद्रव्यविशेषेण 'चूना' इति हिन्द्यां प्रसिद्धेन) प्राकारमण्डलेन =वप्रसमुदायेन, परिवृतम् =परिवेष्टितम् ।

अनुप्राकारमिति । अनुप्राकारम्—प्राकारस्य (=वप्रस्य) अनु (=समीपे), आहितेन = स्थापितेन, महता =विशालेन, परिखावलयेन = खेयसमुदायेन, परिवेष्टितम् = परिव्याप्तम् । अतिदृढकपाटम्—अतिदृढे (=अत्यन्तकठिने) ये कपाटे (=कवाटे) ताभ्यां सम्पुटम् (= पिधानम्) यस्य तत् तादृशम् । यद्वा—अतिदृढम् कपाटसम्पुटं यस्य तत् तादृशम् । उद्घाटितैक-द्वारप्रवेशम्—उद्घाटितम् (= अनावृतम्) यदेकद्वारम् (= एकप्रतीहारः) तेन प्रवेशः (= आभ्यन्तर-गमनम्) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

एकान्तेति । एकान्तेत्यादिः—एकान्ते (=एकस्मिन् प्रदेशे, निर्जन इति यावत्) उपरचितः (= निर्मितः) तुरगाणाम् (= अश्वानाम्) वाह्यानाम् (= शिविकादीनाम्, शकटादीनाम्) आलीनाम् (=समूहानाम्) विभागः (= अवस्थापनभूमिः) यस्मिन् तत् तादृशम् । तत्र कस्मिन् भागे यात्रार्थमपेक्षितसामग्र्याः व्यवस्थाऽऽसीदिति भावः ।

अधःकल्पितेति । अधःकल्पितेत्यादिः—अधः (= नीचैर्भागे) कल्पिता (= रचिता) व्यायामशाला (=मल्लयुद्धाद्यभ्यासस्थानम्) यस्मिन् तत् । अमरागाराकारम्—अमराणाम् (=देवानाम्

नगर से बाहर शिप्रा नदी के तट पर आधे कोश तक लम्बा चौड़ा एक विद्यामन्दिर (विद्यालय) बनवाया—जो (विद्यामन्दिर) बहुत बड़े, हिमालय पर्वत की शिखरमाला (चोटियों के समूह) का अनुकरण करनेवाले अर्थात् उनके समान, चूने से [पोत कर] सफेद किये गये प्राकार-मण्डल (चहारदीवारी) से घिरा हुआ था, जो [अतिसुरक्षा की दृष्टि से] चहारदीवारी के समीप बनाये गये विशाल खाईं के मण्डल (घेरा) से घिरा हुआ था, जो बहुत मजबूत किवाड़ों की जोडी वाला था, और जिसमें खुले हुए एक ही द्वार से प्रवेश होता था, [अतः अवाञ्छित व्यक्ति का प्रवेश सम्भव नहीं था ।] जिसके एक भाग में घोडों तथा वाह्य (ढ़ोने वाली पालकी आदि) के समूह को रखने का स्थान था, जहाँ नीचे स्थान पर व्यायामशाला (अखाड़ा)बनाई गयी थी, जो देवमन्दिर के समान आकार वाला था,

१. शिखरानुकारिणा । २. सुधाधवलेन, प्राकारधवलेन, चन्द्रशालावलयेन विलसितं प्राकार"। ३. तुरङ्ग ।

कारम्[1], विद्यामन्दिरमकारयत्। सर्वविद्याचार्याणाञ्च संग्रहे यत्नमतिमहान्तमन्वतिष्ठत्। तत्रस्थञ्च तं केशरिकिशोरकमिव पञ्जरगतं कृत्वा प्रतिषिद्धनिर्गमम्, आचार्य-कुलपुत्रप्राय-परिजनपरिवारम्[2], अपनीताशेष-शिशुजनक्रीडन-व्यासङ्गम्[3], अनन्यमनसम्, अखिलविद्योपादानार्थमाचार्येभ्यश्चन्द्रापीडं शोभने दिवसे वैशम्पायनद्वितीयमर्पयाम्बभूव। प्रतिदिनञ्चोत्थायोत्थाय[4]

यदगारम् (= गृहम्, देवसदनमिति भावः) तद्वदाकारः (=आकृतिः) यस्य तत् तादृशम्, विद्यामन्दिरमकारयदित्यन्वयस्तूक्त एव।

सर्वेति। सर्वविद्याचार्याणाम्—सर्वविद्यानाम् (=सकलज्ञानानाम्) आचार्याणाम् (=अध्यापकश्रेष्ठानाम्), च, संग्रहे=तत्राध्यापनार्थैकत्रकरणे, नियोजने वा, अतिमहान्तम्=अतिशयम्, यत्नम् = प्रयासम्, अन्वतिष्ठत्=अकरोत्। तत्र स्वस्वविषये निष्णातानामध्यापकानामानयने अत्यधिकं प्रयासमकार्षीदिति भावः।

तत्रस्थञ्चेति। तत्रस्थम्=विद्यामन्दिरस्थितम्, च, तम्=स्वसुतं चन्द्रापीडम्, पञ्जरगतम्=हिंस्रपशुबन्धनसमर्थलौहपञ्जरे विद्यमानम्, केशरिकिशोरकम्=सिंहशावकम्, इव, कृत्वा=विधाय प्रतिषिनिर्गमम्—प्रतिषिद्धः (=निषिद्धः) बहिर्निर्गमः (=बहिर्गमनम्) यस्य स तं तादृशम्। आचार्येत्यादिः—आचार्याः (=शिक्षकप्रवराः) कुलपुत्राः (=सत्कुलोत्पन्नसुताः) च प्रायाः (=अधिकाः) परिजनाः (= सेवकादयः) एव परिवाराः (= बान्धवजनाः, न त्वन्ये केऽपि) यस्य स तं तादृशम्। अपनीतेत्यादिः—अपनीतः (= निवारितः, दूरीकृतः) अशेषेषु (= सर्वेषु) शिशुजनक्रीडनेषु (=बालजनखेलनेषु) व्यासङ्गः (=आसक्तिः अध्ययनप्रतिबन्धकम्) यस्य स तं तादृशम्, अनन्यमनसम्—न विद्यते अन्यस्मिन् (=विद्याग्रहणातिरिक्ते, विषयान्तरे) मनः (=चित्तम्) यस्य स तं तादृशम्। वैशम्पायनद्वितीयम्—वैशम्पायनः (=शुकनासपुत्रः) द्वितीयः (=विद्याग्रहणसहायः) यस्य तं तादृशम्, चन्द्रापीडम्=स्वसुतम्, शोभने=प्रशस्ते, दिवसे=दिने, अखिलविद्योपादानार्थम्—अखिला (=समस्ताः) याः विद्याः (=ज्ञानानि) तासाम् उपादानार्थम् (=ग्रहणार्थम्), आचार्येभ्यः=शिक्षकप्रवरेभ्यः, तत्तद्विषयविशेषज्ञेभ्यः, अर्पयाम्बभूव=अर्पितवान्। समुचिते वयसि शिक्षारम्भः शास्त्रानुकूलः।

प्रतिदिनमिति। प्रतिदिनम्=प्रत्यहम्, च, उत्थाय-उत्थाय=प्रातःकाले गृहादुत्थानं विधाय-

था। [ऐसा विद्यामन्दिर बनवाया।] और सभी विद्याओं के आचार्यों के संग्रहमें (उसमें अध्यापनार्थ उन्हें लाने के लिए) बहुत अधिक परिश्रम किया। और उस विद्यामन्दिर में रहनेवाले उस चन्द्रापीड को पिंजरा (कटघरा) में बन्द सिंह के बच्चे के समान करके—जिस का बाहर निकलना रोक दिया गया था, आचार्यों के तथा उच्चकुल में उत्पन्न पुत्र ही प्रमुख रूप से जिस का परिवार था, जिसके पास से बच्चों के खेल की आसक्ति की सभी चीजें हटा दी गईं थीं, जो [शिक्षा के अतिरिक्त] किसी अन्य में अपना मन नहीं लगाता था,—ऐसे चन्द्रापीड को शुभ दिन में सम्पूर्ण विद्याओं का अध्ययन करने के लिए वैशम्पायन के साथ आचार्यों को समर्पित कर (सौंप) दिया। [इस प्रकार चन्द्रापीड और वैशम्पायन एक ही दिन एक ही विद्यामन्दिर में एक ही साथ शिक्षण के लिए प्रविष्ट कराये गये।] और राजा प्रतिदिन उठ-उठ कर विलासवती को साथ लेकर कुछ ही सेवकों के साथ उस विद्यामन्दिर

१. विद्यागृहम्। २. क्वचित्तु 'जन' इदं नास्ति।
३. क्रीडाव्यासङ्गम्। ४. क्वचित्तु 'उत्थाय' इदमेकमेव वर्तते।

सह विलासवत्या विरलपरिजनस्तत्रैव गत्वैनमालोकयामास राजा।

चन्द्रापीडोऽप्यनन्यहृदयतया तथानियन्त्रितो[1] राज्ञा अचिरेणैव[2] यथास्वमात्मकौशलं प्रकटयद्भिः पात्रवशादुपजातोत्साहैराचार्य्यैरुपदिश्यमानः[3] सर्वा विद्या[4] जग्राह। मणिदर्पण इवातिनिर्म्मले तस्मिन् सञ्चक्राम सकलः कलाकलापः। तथा हि—पदे, वाक्ये, प्रमाणे,

---

विधाय, विलासवत्या=प्रधानमहिष्या, चन्द्रापीडमात्रा, सह=सार्धम्, विरलपरिजनः—विरलाः (=स्वल्पाः) परिजनाः (=सेवकादयः) यस्य स तादृशः, राजा=नृपस्तारापीडः, तत्रैव=तस्मिन् विद्यामन्दिरे एव, गत्वा=व्रजित्वा, एनम्=पूर्वोक्तम्, स्वसुतम्, आलोकयामास=सन्ददर्श। एतेन राज्ञः राज्ञ्याश्च स्वसुत-स्नेहातिशयो व्यज्यते। अयं क्रमः दीर्घकालपर्यन्तमासीदित्यपि प्रतीयते।

तत्र विद्यामन्दिरे प्रवेशानन्तरं चन्द्रापीडस्य कीदृशो विकासो जातः, केषु केषु विषयेषु दक्षताऽधिगतेति निरूपयितुमाह—चन्द्रापीडोपीति। चन्द्रापीडः=एतन्नामा नृपसुतः, अपि, राज्ञा=नृपेण तारापीडेन, तथा=पूर्वोक्तेन प्रकारेण, नियन्त्रितः=नियमितः सन्, अनन्यहृदयतया—न विद्यतेऽन्यस्मिन् हृदयं यस्य स तस्य भावस्तया, एकाग्रचित्ततयेत्यर्थः, अचिरेण एव=स्वल्पेनैव समयेन, यथास्वम्=यथायथम्, आत्मकौशलम्=स्वनैपुण्यम्, प्रकटयद्भिः=विद्याग्रहणे दक्षत्वं प्रदर्शयद्भिः, पात्रवशात्=उत्कृष्ट-विद्याग्राहकवशात्, उपजातोत्साहैः—उपजातः (=समुत्पन्नः) उत्साहः (=अधिकाधिकशिक्षणा-भिरुचिः) येषां ते तैस्तादृशैः, [कर्तृरि तृतीया] आचार्यैः=शिक्षकप्रवरैः, उपदिश्यमानाः=अध्याप्य-मानाः, सर्वाः=सकलाः, विद्याः=ज्ञानानि, [उपदिश्यमानः—इति एकवचनान्तत्वे तु उपदिश्यमानः=शिक्ष्यमाणः सन्—इति चन्द्रापीडस्य विशेषणम्।] जग्राह=अगृह्णात्।

मणीति। मणिदर्पणे=रत्नादर्शे, इव, अतिनिर्मले=अतिस्वच्छे, सर्वविकाररहिते, तस्मिन्=पूर्वोक्ते चन्द्रापीडे, सकलः=निखिलः, कलाकलापः=चतुःषष्टि-कलासमूहः, सञ्चक्राम=सङ्क्रान्तोऽभवत्। पूर्वं विद्यानामुक्ततया पुनः कलानां कथनेन तासां महत्त्वं प्रतीयते।

पूर्वं संकेतेन कथितमेव विशेषरूपेण प्रतिपादयितुमुपक्रमते—तथाहीत्यादिना। पदे=पदसंस्कारके व्याकरणशास्त्रे, वाक्ये=वाक्यार्थनिर्णायके मीमांसाशास्त्रे, प्रमाणे=प्रमाणप्रतिपादके न्यायशास्त्रे, धर्म-

---

में ही जाकर इस (चन्द्रापीड) को देखा करता था। [इसमें शुकनास द्वारा अपने पुत्र वैशम्पायन से मिलने का उल्लेख क्यों नहीं किया, स्पष्ट नहीं हैं। राजकुमार की ही शिक्षा का वर्णन प्रधान होने से वैशम्पायन की चर्चा नहीं की, ऐसा प्रतीत होता है।]

चन्द्रापीड, जिसे राजा ने इस प्रकार से नियन्त्रित कर दिया था, ने भी अनन्यहृदय वाला (उसी में लगे हुए मन वाला) होने के कारण शीघ्र ही अपनी योग्यता के अनुसार अपना कौशल प्रकट करनेवाले (शिक्षण कार्य करनेवाले), योग्य पात्र (ग्रहीता विद्यार्थी) के कारण उत्पन्न हुए उत्साह वाले आचार्यों द्वारा उपदिष्ट किया (सिखाया)जाता हुआ सभी विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया [या आचार्यों द्वारा सिखाई जाती हुई सभी विद्यायें ग्रहण कर लीं।] मणिमय दर्पण के समान अति निर्मल उस चन्द्रापीड में समस्त कला-समूह संक्रान्त (प्रतिबिम्बित) हो गया। उदाहरणार्थ—पद (=व्याकरण शास्त्र) में,वाक्य (मीमांसा शास्त्र) में प्रमाण (न्याय शास्त्र)में, धर्मशास्त्र में, राजनीतियों में,व्यायाम विद्या में, धनुष,चक्र,

---

१. यन्त्रितो। २. अचिरेणैव कालेन।
३. उपदिश्यमानाः। ४. सर्वविद्याः।

धर्म्मशास्त्रे, राजनीतिषु, व्यायामविद्यासु, चाप-चक्र-चर्म[1]-कृपाण-शक्ति-तोमर-परशुगदाप्रभृतिषु सर्वेष्वायुधविशेषेषु, रथचर्यासु, गजपृष्ठेषु, तुरङ्गमेषु[2]; वीणा-वेणु-मुरज-कांस्यतालदर्दुरपुट-प्रभृतिषु वाद्येषु, भरतादिप्रणीतेषु नृत्यशास्त्रेषु[3], नारदीयप्रभृतिषु गान्धर्ववेदविशेषेषु, हस्ति-शिक्षायाम्, तुरगवयोज्ञाने[4], पुरुषलक्षणे, चित्रकर्मणि, पत्त्रच्छेद्ये[5], पुस्तव्यापारे[6], लेख्यकर्मणि, सर्वासु द्यूतकलासु, गन्धशास्त्रेषु[7], शकुनि-रुतज्ञाने, ग्रहगणिते, रत्नपरीक्षासु, दारुकर्मणि, दन्त-

शास्त्रे = मन्वादिप्रणीतासु स्मृतिषु, राजनीतिषु = शुक्रकामन्दकादि-प्रणीतशास्त्रेषु, व्यायामविद्यासु = श्रमसाध्य-शक्तिवर्धककलासु, चापेत्यादिः—चापम् (= धनुः) चक्रम् (= रथावयव आयुधविशेषः), चर्म (= फलकः) कृपाणः (= असिः), शक्तिः (= कासूः, अस्त्रविशेषः) तोमरः (= सर्वला, आयुधविशेषः) परशुः (= कुठारः), गदा (= लोहमयोऽस्त्रविशेषः)—एतत्प्रभृतिषु (= एतदादिषु), सर्वेषु = समस्तेषु, आयुधविशेषेषु = अस्त्रशास्त्र-भेदेषु, रथचर्यासु = स्पन्दनपरिचालनसमारोहणादिव्यापारेषु, गजपृष्ठेषु = करिपृष्ठेषु, तदारोहणोपवेशनादिषु, तुरङ्गमेषु = अश्वेषु तदारोहणधावनादिषु, वीणेत्यादिः—वीणा (= वल्लकी), वेणुः, (= वंशः), मुरजः (= मृदङ्गः) कांस्यतालम् (= घनवाद्यविशेषः) दर्दुरपुटम् (= दर्दुरशब्दाकारशब्दयुत वाद्यम्)—एतत्प्रभृतिषु (= एतदादिषु) वाद्येषु (= आतोद्येषु), भरतादिप्रणीतेषु = भरतादि-विद्वद्भिर्विरचितेषु, नृत्यशास्त्रेषु=विविधनृत्यस्वरूपप्रतिपादकशास्त्रेषु, नारदीयप्रभृतिषु = नारदीयादिषु, गान्धर्ववेदविशेषेषु = विविधगानशास्त्रेषु, हस्तिशिक्षायाम् = गजलक्षणादिज्ञाने, तुरगवयोज्ञाने = अश्वावस्थाविज्ञाने, पुरुषलक्षणे = सामुद्रिकशास्त्रनिर्दिष्टतिलमाषादिविविधलक्षणेषु, चित्रकर्मणि = आलेख्यकर्मणि, पत्त्रच्छेद्ये = केतकादिपत्रच्छेदने, [यन्त्रच्छेद्ये इति पाठे तु 'दूरवीक्षणादि-यन्त्रेण ज्ञानयोग्ये नक्षत्रादिविषये इत्यर्थः ।] पुस्तव्यापारे = मृद्दार्वादिमयाकृतिनिर्माणे, ["मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा । लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते ॥" इति वचनानुसारं 'पुस्तव्यापार' इत्येव पाठस्तर्कसंगतः । 'पुस्तकव्यापारे' इति पाठे तु पुस्तकलेखनादिक्रियायामित्यर्थो बोध्यः ।] लेख्यकर्मणि = लेखनक्रियायाम्, सर्वासु=सकलासु, द्यूतकलासु = दुरोदर-विद्यासु, गन्धशास्त्रेषु= परिमलनिर्माणादि-कौशलेषु, शकुनिरुतज्ञाने = पक्षिशब्दज्ञाने, ग्रहगणिते = ज्योतिषशास्त्रे, रत्नपरीक्षासु= मण्यादीनां शुद्धाशुद्धत्वज्ञाने, दारुकर्मणि = काष्ठक्रियायाम्, तक्षकर्मणीत्यर्थः, दन्तव्यापारे = हस्तिदशन-

चर्म (ढाल), तलवार, शक्ति, तोमर, कुठार (फर्सा), गदा आदि सभी प्रकार के आयुधों में, रथ-चर्या (चलाने) में, गजपृष्ठ (हाथी की पीठ पर बैठने) में, तुरङ्गम (घुड़सवारी) में, वीणा, बाँसुरी, मृदंग, कांस्यताल (= करताल) दर्दुरपुट आदि बाजों में, भरत आदि आचार्यों द्वारा रचित नृत्य शास्त्रों में, नारदीय आदि गान्धर्व वेदविशेषों में, हाथी को सिखाने में, घोड़ों की आयु का ज्ञान करने में, [सामुद्रिक-वर्णित] पुरुषों के लक्षणों में, चित्र-निर्माण में, पत्त्र भंग के छेदन में, पुस्त-व्यापार (मिट्टी या लकड़ी आदि से खिलौने बनाने) में, लेखनकला में, सभी द्यूतकलाओं में, गन्धशास्त्रों में, पक्षियों की आवाज का ज्ञान करने में, ग्रह-सम्बन्धी गणित में, रत्नों के परीक्षण में, काष्ठ-सम्बन्धी कार्य में, दान्तों से सम्बद्ध कला में, वास्तुविद्या (गृह-निर्माणादिज्ञान) में, आयुर्वेद में, यन्त्रों के

१. ···वर्म··· २. तुरङ्गेषु···। ३. नृत्तशास्त्रेषु । ४. ···स्थानेषु । ५. यन्त्रच्छेद्ये । ६. पुस्तकव्यापारे । ७. गन्धर्वशास्त्रेषु । क्वचित्तु 'सर्वासु द्यूतकलासुशकुनि' इत्येवमात्रं पाठः ।

व्यापारे, वास्तुविद्यासु, आयुर्वेदे, यन्त्रप्रयोगे[1], विषापहरणे,सुरङ्गोपभेदे, तरणे, लङ्घने,प्लुतिषु, रतितन्त्रेषु[2], इन्द्रजाले, कथासु, नाटकेषु, आख्यायिकासु, काव्येषु, महाभारत-पुराणेतिहास-रामायणेषु, सर्वलिपिषु, सर्वदेशभाषासु, सर्वसंज्ञासु, सर्वशिल्पेषु[3], छन्दःसु, अन्येष्वपि कला-विशेषेषु परं कौशलमवाप।

चन्द्रपीडस्य यौवनारम्भः

सहजा चाजस्रमभ्यस्यतो[4] वृकोदरस्येव शैशव[5] एवाविर्बभूव सर्वलोक[6]-विस्मय-जननी

शिल्पक्रियायाम्, वास्तुविद्यासु = गृहनिर्माणबोधकशास्त्रेषु, आयुर्वेदे = वैद्यकशास्त्रे, यन्त्रप्रयोगे = सूर्य-प्रतापादि-व्यापारे, 'मन्त्रप्रयोगे' इति पाठे तु विभिन्नदेवताकमन्त्रसाधने इत्यर्थः, विषापहरणे = विविध-गरल-प्रभावोपशमने, सुरङ्गोपभेदने = असन्धिशिलाविदारणे, तरणे = नद्यादिसलिलसन्तरणे, लङ्घने = कूपपरिखादिसमुल्लङ्घने, प्लुतिषु = प्लवनेषु, रतितन्त्रेषु = वात्स्यायन-प्रणीतकामशास्त्रेषु, इन्द्रजाले = मायाकूटरचनायाम्, कथासु = बृहत्कथादिषु, नाटकेषु = अभिनयेषु रूपकेषु, आख्यायिकासु = गद्यकाव्य-विशेषेषु वासवदत्ताप्रभृतिषु, महाभारतपुराणेतिहास-रामायणेषु—महाभारतम् (= व्यासप्रणीत इतिहा-सात्मको महान् ग्रन्थविशेषः), पुराणानि (= अष्टादशसंख्याकानि विभिन्नदेवतासम्बद्धानि), इतिहासाः (= पुरावृत्तानि कथासरित्सागरादीनि) रामायणम् (= वाल्मीकि-प्रणीतमादिकाव्यम्)—एषु, [कथानाटकाख्यायिकादयः काव्यान्तर्गता एव, एवमेव भारतरामायणेऽपि इतिहासान्तर्गते एव, तथापि तेषां प्राधान्यबोधनाय पृथगुपादानं बोध्यम्।] सर्वलिपिषु = अष्टादशविधाक्षरविन्यासेषु, सर्वदेशभाषासु = सर्वेषां देशानां (= स्थानानाम्) भाषासु (= वाग्व्यवहारेषु), सर्वसंज्ञासु = सर्वपरिभाषासु, सर्व-शिल्पेषु = समस्तक्रियाकौशलेषु, छन्दःसु = आम्नायेषु, गायत्र्यादिच्छन्दःसु वा, अन्येषु = पूर्वोक्तभिन्नेषु अनुक्तेषु, अपि, कलाविशेषेषु = क्रियाकौशलभेदेषु, परम् = उत्कृष्टम्, कौशलम् = चातुर्यम्, अवाप = प्राप्तवान्। एवञ्च चन्द्रापीडः सर्वविषयज्ञोऽभूदिति स्पष्टम्।

साम्प्रतं कुमारस्य यौवनं वर्णयितुं प्रवर्त्तते—सहजेति। च = किञ्च, अजस्रम् = अनवरतम्, अभ्यस्यतः = विद्योपादाने परिश्रमं कुर्वतः,अस्य, वृकोदरस्य = भीमसेनस्य, इव, शैशवे = बाल्यावस्थायाम् एव, सहजा = नैसर्गिकी, सर्वलोकविस्मयजननी—सर्वेषाम् (= सकलानाम्) लोकानाम् (= जनानाम्) विस्मयम् (= आश्चर्यम्) जनयति (= उत्पादयति) तच्छीला, महाप्राणता = महासाहसशक्तिः,

प्रयोगे में, विष का प्रभाव हटाने में, सुरंगों का भेदन करने में, तैरने में, लाँघने में, कूदने में, (वात्स्यायनादिप्रणीत) रतिशास्त्र में, इन्द्रजाल में, कथाओं में, नाटकों में, आख्यायिकाओं में, काव्यों में, महाभारत, पुराण, इतिहास तथा रामायण में, सभी लिपियोंमें, सभी देशों (स्थानों) की भाषाओं में, सभी संज्ञाओं (परिभाषिक शब्दों) में, सभी शिल्पों में, छन्दोज्ञान में तथा अन्य (ऊपर न कही गई) सभी कला-विशेषों में अत्यधिक कुशलता प्राप्त कर ली। [अर्थात् वह सभी कलाओं, व्यवहारों और शास्त्रों के ज्ञान में निपुण हो गया।]

चन्द्रापीड के यौवन का आरंभ

निरन्तर [विद्याओं] का अभ्यास करनेवाले भीम के समान इस चन्द्रापीड के शैशव काल में ही स्वाभाविक तथा सभी लोगों के आश्चर्य को उत्पन्न करा देनेवाली महाप्राणता (महान् साहस

१. मन्त्रप्रयोगे। २. क्वचित्तु 'आरोहणे, रतितन्त्रेषु' इति पाठो नास्ति। ३. शिल्पेषु। ४. सहजाजस्रम्। ५. शैशवमेव। ६. 'सर्व' इदं नापि पठ्यते।

महाप्राणता। यदृच्छया क्रीडताऽप्यनेन करतलालम्बित-कर्णपल्लवावनताङ्गाः[1] सिंहकिशोरक-[2]क्रमाक्रान्ता इव गजकलभाश्चलितुमपि न शेकुः। एकैकेन कृपाणप्रहारेण[3] तालतरून् मृणालदण्डानिव लुलाव। सकल-राजन्य-वंश-वन-दावानलस्य परशुरामस्येवास्य नाराचाः शिखरिशिलातलभिदो बभूवुः। दश-पुरुष-संवाहनयोग्येन चायोदण्डेन श्रममकरोत्। ऋते च

आविर्बभूव = प्रकटीबभूव। अत्रोपमा।

महाप्राणतामाह—यदृच्छयेति। यदृच्छया = स्वेच्छया, क्रीडता = खेलता, क्रीडां कुर्वता, अपि, अनेन = एतेन चन्द्रापीडेन, करतलेत्यादिः—करतलाभ्याम् (= हस्ततलाभ्याम्) अवलम्बितौ (= गृहीतौ) कर्णपल्लवौ (= श्रवणकिसलये) ताभ्याम् (हेतुभ्याम्) अवनतानि (= अवनम्राणि) अङ्गानि (= शरीरावयवाः) येषां ते तादृशाः, गजकलभाः = हस्तिशावकाः, सिंहकिशोरक-क्रमाक्रान्ताः—सिंहकिशोरकस्य (= मृगेन्द्रकुमारकस्य) क्रमाभ्याम् (= पादाभ्याम्) आक्रान्ताः (=पीडिताः) इव सन्तः, चलितुम् अपि=इतस्ततो गन्तुम् अपि, न = नैव, शेकुः = समर्थाः बभूवुः। अत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

एकैकेनेति। एकैकेन = एकश्चासौ एकः—एकैकः, प्रथम एकशब्द केवलार्थपरः, द्वितीयश्च संख्यापरः। तेन केवलेनैकनेत्यर्थः न तु द्वितीयेन, कृपाणप्रहारेण = खड्गाघातेन, तालतरून् = तृणराजपादपान्, मृणालदण्डान् = बिसदण्डान्, इव, लुलाव = चिच्छेद। अत्रोपमा।

सकलेति। सकलेत्यादिः - सकलाः (= समस्ताः) ये राजन्याः (= क्षत्रियाः) तेषां वंशः (= कुलम्) एव वनानि (= विपिनानि) तेषां दावानलस्य (= दावाग्नेः) परशुरामस्य (= भृगुपुत्रस्य), इव, अस्य = चन्द्रापीडस्य, नाराचाः = बाणाः, शिखरिशिलातलभिदः—शिखरिणाम् (= पर्वतानाम्) शिलातलानि (= पाषाणतलानि) भिन्दन्ति (= विदारयन्ति), तच्छीलाः, बभूवुः = अभूवन्। अत्र रूपकोमपयोः संकरः।

दशेति। दशेत्यादिः—दशपुरुषैः (= दशसंख्याकलोकैः) यत् संवाहनम् (= उत्थापनम्) तदयोग्येन (= तदर्हेण), अयोदण्डेन (= लौहदण्डेन), श्रमम् = परिश्रमम्, व्यायाममित्यर्थः, अकरोत् = अकार्षीत्।

ऋते चेति। वैशम्पायनः = शुकनासपुत्रः, महाप्राणतायाः = महासाहसशक्तेः, ऋते = विना, अन्याभिः = अपराभिः, सर्वाभिः = समस्ताभिः, कलाभिः = शिल्पादिभि, [विद्याभिरिति पाठे 'आन्वीक्षिक्यादिभिरित्यर्थः] तम् = चन्द्रापीडम्, अनुचकार = अन्वकार्षीत्, तत्साहश्यमवाप्तवान्। 'ऋते' शब्दयोगे "अन्यारादिरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तर०" इति सूत्रेण पञ्चमी।

शक्ति) प्रकट हुई। स्वेच्छापूर्वक खेलते हुए भी इस (चन्द्रापीड) के द्वारा करतलों (हथेलियों) से कर्णरूपी पल्लव पकड़े जाने से झुके हुए अंगों वाले हाथी के बच्चे मानों सिंह के बच्चे के पैरों से आक्रान्त से होकर हिल (चल) भी नहीं पाते थे। तलवार के एक ही प्रहार से मृणालदण्डों के समान ताड़ के वृक्षों को काट डालता था। समस्त क्षत्रियों के वंश रूपी वन के लिये या क्षत्रियरूपी बाँसों के वन के लिये दावानलरूप परशुराम के समान इसके बाण भी पर्वतों की शिलाओं (चट्टानों) को तोड़ने वाले हो गये थे। [परशुराम ने कुमार कीर्तिकेय की प्रतिद्वन्द्विता में क्रौंच पर्वत-शिला का भेदन कर डाला था।] दश पुरुषों द्वारा उठाये जाने योग्य लोहे के दण्ड (मुद्गर गदा) से व्यायाम किया करता था। और स्वाभाविक महाप्राणता (महा साहस शक्ति) को छोड़कर अन्य सभी कलाओं

---

१. ···आकुञ्चित। २. सिंहकिशोरम्। ३. क्वचित्तु 'बाल एव' इत्यधिकोऽत्र पाठः।

महाप्राणतायाः सर्वाभिरन्याभिः कलाभिरनुचकार तं वैशम्पायनः[1]। चन्द्रापीडस्य तु सकल-कलाकलाप-परिचय-बहुमानेन शुकनास-गौरवेण सहपांशुक्रीडनतया सहसंवृद्धतया च सर्व-विस्रम्भस्थानं द्वितीयमिव हृदयं वैशम्पायनः परं मित्रमासीत्। निमेषमपि तेन विना स्थातु-मेकाकी न शशाक। वैशम्पायनोऽपि तमुष्णकरमिव वासरोऽनुगच्छन्न[2] क्षणमपि विरहयाञ्चकार।

एवं तस्य सर्वविद्यापरिचयमाचरतश्चन्द्रापीडस्य त्रिभुवनविलोभनीयोऽमृतरस इव

चन्द्रापीडस्येति। चन्द्रापीडस्य वैशम्पायनः परं मित्रमासीदिति मुख्यं वाक्यम्। सकलेत्यादिः—सकलाः (= अखिलाः) याः कलाः (= विज्ञानादयः) तासां कलाः (= समूहः) तत्र परिचयः (=संस्तवः) तेन हेतुना यो बहुमानः (=बहु-सत्कारः) तेन, शुकनासगौरवेण—शुकनासस्य पूज्य-त्वेन, सहपांशुक्रीडनतया—सह (=सार्धम्) यत् पांशुना (=धूल्या) क्रीडनम् (=खेलनम्) तस्य भावस्तत्ता तया, सहसंवृद्धतया—सह (=साकम्) संवृद्धः (=संवर्धितः) तस्य भावस्तत्ता तया, च = हेतुसमुच्चये, एभिर्हेतुभिरित्यर्थः, वैशम्पायनः =शुकनासपुत्रः, चन्द्रापीडस्य = राजकुमारस्य, द्वितीयम् = अपरम्, हृदयम् = चित्तम्, इव, सर्वविश्रम्भस्थानम् = सर्वः (=निखिलः) यः विश्रम्भः (=विश्वासः) तस्य स्थानम् (=आश्रयः, भाजनम्) परम् = सर्वोत्कृष्टम् मित्रम् = सुहृद्, आसीत् = अभूत्। 'द्वितीयं हृदयमिव' इत्यत्र द्रव्योत्प्रेक्षा न तूपमा। तेन = वैशम्पायनेन, विना = ऋते, तं विहायेत्यर्थः, निमेषम् = क्षणम्, अपि, एकाकी = एककः, स्थातुम् = अवस्थितिं कर्तुम्, न = नैव, शशाक = समर्थोऽभूत्। "एकादा-किनिच्चासहाये" इति सूत्रेणाकिनिचि प्रत्यये एकाकी शब्दः। ["एकाकी त्वेक एककः।" इत्यमरः ३। १।८२।] यथा चन्द्रापीडो वैशम्पायनाभावे व्याकुलोभवत् तथैव वैशम्पायनोऽपीति प्रतिपादयति—वैशम्पा-यन इति। वैशम्पायनः = शुकनासपुत्रः, अपि, वासरः = दिवसः, उष्णकरम् = सूर्यम्, इव, तम् = चन्द्रापीडम्, अनुगच्छन् = अनुसरन्, क्षणमपि = स्वल्पकालमपि, अक्षिस्पन्दनमात्रमपि, न = नैव, विरह-याञ्चकार = विरहितं कृतवान् तत्याजेत्यर्थः। यथा दिवसः सूर्यं न कदापि कथमपि त्यजति तथैव वैश-म्पायनोपि चन्द्रापीडं न कदापि पर्यत्यजदिति साम्यवर्णनादुपमा बोध्या।

बाल्यावस्थायां विद्यामन्दिरे प्रविष्टस्य वैशम्पायनद्वितीयस्य चन्द्रापीडस्य यौवनं केन रूपेण समा-गत्य तस्य सौन्दर्यवृद्धि चकारेति वर्णयति—एवमिति। एवम् = पूर्वोक्तरूपेण, सर्वविद्यापरिचयम् = निखिल-शास्त्र-कलाद्यभ्यासम्, आचरतः = कुर्वतः, तस्य = राजपुत्रस्य, चन्द्रापीडस्य = एतन्नाम्नः, त्रिभु-वनविलोभनीयः—त्रयाणाम् भुवनानां (=लोकानाम्) विलोभनीयः (=विशिष्टलोभसमुत्पादकः)

(विद्याओं) में वैशम्पायन उस राजकुमार का अनुसरण करता था, अर्थात् उसी के समान हो गया था। समस्त कलाओं के समूह का ज्ञान होने से [तारापीड आदि सभी विशिष्ट लोगों द्वारा] विशेष बहुत आदर किये जाने के कारण, शुकनास के पूज्य होने के कारण, साथ-साथ धूलि में खेलने के कारण, और साथ ही साथ बढ़ने (बड़ा होने) के कारण, सम्पूर्ण विश्वासों का भाजन (आश्रय) [अत एव] मानों दूसरा हृदय वैशम्पायन चन्द्रापीड का परम मित्र (सब से बड़ा दोस्त) बन गया था। उस वैशम्पायन के बिना वह (चन्द्रापीड) एक क्षण भी अकेला नहीं रह पाता था। और वैशम्पायन भी, जैसे दिन सूर्य का पीछा करता है वैसे ही उसका अनुसरण करता हुआ एक क्षण के लिये भी उस (चन्द्रापीड) को नहीं छोड़ता था। [जैसे—सूर्य के साथ ही साथ दिन रहता है, सूर्य और दिन का अटूट सम्बन्ध है वैसे ही वैशम्पायन और चन्द्रापीड दोनों का घनिष्ठ साथ था।]

इस प्रकार समस्त विद्याओं का अभ्यास करने वाले इस चन्द्रापीड के समुद्र के अमृत रस के

---

१. विद्याभिः।

२. ...गच्छन् क्षण...।

सागरस्य, सकल-लोक-हृदय-नयनानन्द-जननश्चन्द्रोदय[1] इव प्रदोषस्य, बहुविध-राग-विकार-भङ्गुरः सुरधनुःकलाप इव जलधरसमयस्य, मकरध्वजायुधभूतः कुसुमप्रसव इव कल्पपादपस्य, अभिनवाभिव्यज्यमान-रागरमणीयः सूर्य्योदय इव कमलवनस्य, विविध-लास्य-विलासयोग्यः कलाप इव शिखण्डिनो यौवनारम्भः प्रादुर्भवन् रमणीयस्यापि द्विगुणां रमणीयतां पुपोष ।

[—अत्रेमानि प्रथमान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य "यौवनारम्भः" इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] सागरस्य = समुद्रस्य, अमृतरसः = सुधाद्रवः, इव । [अत्र विशेषणानि उभयत्र योज्यानि, यथा सागरस्य अमृतरसः त्रिभुवनविलोभनीयः तथैव चन्द्रापीडस्य यौवनारम्भोऽपि त्रिभुवनविलोभनीयः । एवमेवाग्रेऽपि योज्यम् ।] प्रदोषस्य = सन्ध्याकालस्य, चन्द्रोदयः = निशाकरोद्गमः, इव, सकलेत्यादिः—सकलाः (= समस्ताः) ये लोकाः (= जनाः) तेषां हृदयानि (= चित्तानि) नयनानि (= नेत्राणि) च, तेषाम् आनन्दजननः (= आनन्दसमुत्पादकः) । जलधरसमयस्य = वर्षाकालस्य, सुर-धनुःकलापः = माहेन्द्रचापसमूहः, इव, बहुविध-रागविकारभङ्गुरः—बहुविधानाम् (= अनेकप्रकाराणाम्) ये रागाः (= नीलपीतादिवर्णाः) तेषां ये विकाराः (= विकृतयः) तैः भङ्गुरः (= अस्थिरः, यौवनारम्भ-पक्षे—वक्रः इत्यर्थः) । कल्पपादपस्य = पारिजातवृक्षस्य, कुसुमप्रसवः = पुष्पोद्गमः, इव, मकरध्वजायुधभूतः—मकरध्वजस्य (= कामदेवस्य) आयुधभूतः (= शस्त्रभूतः) । कमलवनस्य = पद्मकाननस्य, सूर्योदयः = दिनकरोद्गमः, इव, अभिनवेत्यादिः—अभिनवः (= नूतनः) अभिव्यज्यमानः (= प्रकटीक्रियमाणः) च यो रागः (= रक्तिमा, यौवनारम्भपक्षे—अनुरागः) तेन रमणीयः (= मनोहरः) । शिखण्डिनः = मयूरस्य, कलापः = बर्हः, इव, विविधलास्यविलासयोग्यः—विविधः (= अनेकविधः) यः लास्यविलासः (= नृत्यविलासः) तस्य योग्यः (= समर्थः, तद्विधाचरणे समर्थ इति भावः) । इदानीं विशेष्यमाह—**यौवनारम्भः** = यौवनम् (= बाल्यादनन्तरमुत्पद्यमानं वयः), तस्य आरम्भः = उदयः, तारुण्यारम्भ इत्यर्थः, रमणीयस्य = मनोहरस्य, अपि, तस्य चन्द्रापीडस्य, द्विगुणाम् = द्विरावृत्ताम्, पूर्वतोऽधिकाम्, रमणीयताम् = कमनीयताम्, पुपोष = अपोषयत्, पुष्टं चकारेति भावः । अत्रैकस्यैवोपमेयस्यानेकधावर्णनान्मालोपमा, साऽपि पूर्णेति बोध्यम् ।

समान तीनों लोकों को लुभाने वाले [जैसे अमृत सभी लोगों को लुभाता है,वैसे ही चन्द्रापीड का यौवन भी सभी को अपनी ओर आकृष्ट कर लेने वाला था], प्रदोष (रात्रि के आरम्भ) के चन्द्रोदय के समान सभी लोगों के हृदय में आनन्द उत्पन्न करनेवाले [सायंकालीन चन्द्रमा जैसे सभी लोगों के मन में प्रसन्नता पैदा करता है वैसे ही उसका यौवन भी सभी को हर्षित करने वाला था] वर्षाकाल के इन्द्रधनुष-समूह के समान अनेक प्रकार के रागों (श्रृंगारादि भावों तथा रंगों) के विकार से भङ्गुर (= वक्र या परिवर्तनीय), [वर्षा में इन्द्रधनुष में जिस प्रकार रंगों का परिवर्तन होता रहता है वैसे ही उसके भावों का परिवर्तन हुआ करता था] कल्पवृक्ष की पुष्पोत्पत्ति के समान कामदेव के अस्त्रभूत, [जिस प्रकार कल्पवृक्ष के फूल कामदेव के अस्त्र बनते हैं वैसे ही उसका यौवन भी सुन्दरियों को वश में करने के लिये कामदेव का अस्त्र था ।] कमलवन के सूर्योदय के समान नवीन प्रकट होने वाले रागों (= लालिमा, अनुराग) से मनोहर, [जिस प्रकार सूर्योदय कमलवन की शोभा बढ़ा कर मनोहर कर देता है वैसे ही यौवन ने उस में अनुराग-भावना बढ़ा कर मनोहर बना दिया ।] मोर के पंखों के समान अनेक प्रकार के नृत्यों के विलास [प्रदर्शन] के योग्य यौवनारम्भ (युवावस्था के प्रारम्भ) ने प्रकट होते हुए ही [पहले से स्वतः] सुन्दर भी [उस चन्द्रापीड की] रमणीयता को और पोषित कर दिया,

१. क्वचित्तु 'नयन' पदं नास्ति ।

लब्धावसरः सेवक इव[1] निकटीबभूवास्य मन्मथः। लक्ष्म्या सह वितस्तार वक्षःस्थलम्। बन्धुजनमनोरथैः सहापूर्य्यंतोरुदण्डद्वयम्। अरिजनेन सह तनिमानमभजत मध्यभागः। त्यागेन सह प्रथिमानमाततान नितम्बभागः। प्रतापेन सहारुरोह रोमराजिः। अहित-कलत्रालक-लताभिः सह प्रलम्बतामुपययौ भुजयुगलम्। चरितेन सह धवलतामभजत लोचनयुगलम्। आज्ञया

लब्धेति। मन्मथः = कामदेवः, लब्धावसरः—लब्धः (= प्राप्तः) अवसरः (= कालः) येन स तादृशः, सेवकः = भृत्यः, इव, अस्य = चन्द्रापीडस्य, निकटीबभूव = समीपवर्त्ती अभूत्। यथा प्राप्तावसरः कश्चन सेवकः स्वामिनमुपगच्छति सेवार्थं तथैव चन्द्रापीडस्य सेवार्थं कामदेवः समागत इति भावः। उपमात्र।

लक्ष्म्येति। लक्ष्म्या = श्रिया, शरीरसौन्दर्येण वा, सह = साकम्, वक्षःस्थलम् = उरःस्थलम्, वितस्तार = विस्तीर्णं बभूव। उभयोः सहैव विस्तीर्णता जातेति प्रतिपादनात् सहोक्तिरलङ्कारः। बन्धुजनमनोरथैः—बन्धुजनानाम् (= कुटुम्बलोकानाम्) मनोरथाः (= अभिलाषाः, वाञ्छिताः) तैः सह = साकम्, ऊरुदण्डद्वयम् = सक्थियुगलम्, आपूर्यत = पूर्णं बभूव। उभयोः परिपूर्णता सहैव जातेति भावः। अरिजनेन = शत्रुलोकेन, सहैव = साकम्, मध्यभागः = कटिप्रदेशः, तनिमानम् = अतिशयकृशत्वम् अभजत = समाश्रयत। रिपूणां कटिप्रदेशस्य च क्षीणता जाता। त्यागेन = दानेन, सह = सार्धम्, नितम्बभागः = आरोहप्रदेशः, कटिपश्चाद्भागः, प्रथिमानम् = महत्त्वम्, विशालताम्, आततान = अवाप। दानस्य नितम्बभागस्य च वृद्धिः सञ्जाता। प्रतापेन = कोशदण्डप्रसवतेजसा, सह = साकम्, रोमराजिः = विशिष्टाङ्गेषु लोमपङ्क्तिः, आरुरोह = आरूढा बभूव। उभयोः साकमेव समारोहोऽभूत्। अहितेत्यादिः—अहितानाम् (= रिपूणाम्) यानि कलत्राणि (= भार्याः) तेषामलककलताभिः (= केशवल्लीभिः) सह = साकम्, अस्य, भुजयुगलम् = बाहुद्वयम्, प्रलम्बताम् = दीर्घताम्, उपययौ = उपजगाम। युद्धादौ शत्रूणां वधेन तेषां भार्याणां वैधव्यतया सज्जार्थं केशानां कर्तनाद्यभावात् प्रलम्बलता जाता। अस्य तु यौवनेन बाहूनां प्रलम्बतेति सहोक्तिर्बोध्या। चरितेन = सदाचारेण, सह = साकम्, लोचनयुगलम् = नेत्रद्वयम्, धवलताम् = उज्ज्वलताम् अभजत = प्रापत्। चरितस्य लोचनयुगलस्य च शुभ्रताऽसीदिति

बढ़ा दिया, दूनी कर दिया। [अपने योग्य कार्य करने का] अवसर प्राप्त किये हुए सेवक के समान कामदेव उसके पास आ गया। [जिस प्रकार अच्छा सेवक अपने योग्य सेवा का अवसर पाकर तुरन्त उपस्थित हो जाता है, उसी प्रकार कामदेव भी उपस्थित हो गया। उसमें कामवासनाओं का संचार होने लगा।] लक्ष्मी के साथ-साथ उसका वक्षःस्थल भी बढ़ने लगा। [जैसे-जैसे शारीरिक कान्ति बढ़ रही थी वैसे-वैसे उसकी छाती भी चौड़ी तथा विशाल हो रही थी।] बन्धुजनों के मनोरथों के साथ-साथ उस के ऊरुदण्डद्वय (दण्ड के समान दोनों जाँघें) भरने लगे। [जैसे-जैसे उसकी योग्यता बढ़ने लगी, उसके सम्बन्धीजनों की अभिलाषायें भी बढ़ने लगीं और उसी के साथ जाघों में मांसलता तथा पुष्टता भी आने लगी।] उसकी कमर शत्रुओं के साथ-साथ क्षीण होने लगी। [जिस प्रकार शत्रु क्षीण हो रहे थे उसी प्रकार उसकी कमर भी क्षीण = पतली हो रही थी।] दान के साथ-साथ नितम्ब भाग पृथु (अधिक मोटा) होने लगा। [दान की अधिकता और नितम्ब भाग की स्थूलता होने लगी थी।] प्रताप (दण्ड-कोषजन्य तेज) के साथ-साथ रोमावली आरूढ़ होने लगी, बढ़ने लगी। शत्रुओं की स्त्रियों की अलक (= केश) रूपी लताओं के साथ-साथ दोनों भुजायें लम्बी होने लगीं। [पति आदि की मृत्यु के कारण शत्रुओं की स्त्रियाँ अपने केशों की

१. अनुसेवकः, नवसेवकः।

सह गुरुर्बभूव[1] भुजशिखरदेशः। स्वरेण सह गम्भीरतामाजगाम हृदयम्।

राज्ञश्चन्द्रापीडं प्रति राजभवनागमनादेशः

एवञ्च[2] क्रमेण समारूढयौवनारम्भं परिसमाप्त-समग्र[3]-कला-विज्ञानमधीताशेषविद्यञ्चाव-गम्यानुमोदितमाचार्य्यैश्चन्द्रापीडमानेतं राजा बलाधिकृतं बलाहकनामानमाहूय बहु[4]-तुरगबल-पदाति-परिवृतमतिप्रशस्तेऽह्नि प्राहिणोत्। स गत्वा विद्यागृहं द्वाःस्थैः[5] समावेदितः[6] प्रविश्य

भावः। आज्ञया = आदेशेन, सह = साकम्, भुजशिखरदेशः = स्कन्धप्रदेशः, गुरुः = विशालः, आज्ञापक्षे-गुर्वी = सर्वैः शिरोधार्ये यर्थः। स्वरेण = शब्देन, सह = साकम्, हृदयम् = चित्तम्, गम्भीरताम् = गम्भीर्यम्, आजगाम = प्राप्तवान्, कण्ठस्वरः सान्द्रः, हृदयञ्च गम्भीरं जातमिति भावः। अत्र सर्वत्र सहोक्तिरलङ्कारः। तदुक्तम्—"सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः॥

सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत्। (सा० द० १०।५४-५५)

एवञ्च पूर्वोक्तेषु सर्वेष्वपि सहार्थस्य प्रतीतिर्बोध्या।

एवञ्चेति। एवम् = पूर्वोक्त-प्रकारेण, च = वाक्यालंकारे, समुच्चये वा। समारूढयौवनारम्भम्-समारूढः (= समुत्पन्नः) यौवनस्य (= तारुण्यस्य) आरम्भः (= उदयः) यस्य स तं तादृशम्। परिसमाप्तेत्यादिः—परिसमाप्तम् (= सर्वतः प्राप्तसमाप्ति) सकलकलानाम् (= समस्त-नृत्यगीत-युद्धा-दिकलानाम्) विज्ञानम् (= विशिष्टबोधः) येन यस्य वा तं तादृशम्। अधीतेत्यादिः—अधीताः (= पठिताः) अशेषाः (= सकलाः) विद्याः (= आन्वीक्षिक्यादयः) येन स तं तादृशम्, अवगम्य= ज्ञात्वा, आचार्यानुमोदितम्—आचार्यैः (= शिक्षकैः) अनुमोदितम् (= प्रशंसितम्, गृहगमनाय वानु-ज्ञातम्) चन्द्रापीडम् = एतन्नामानं स्वसुतम्, आनेतुम् = आनयनाय, गृहे इति शेषः, राजा = तारापीडो नृपः, बलाहकनामानम् = बलाहकनामधेयम्, बलाधिकृतम् = सेनापतिम्, आहूय = आकार्य, बहुतुरगे-त्यादि—बहवः (= अनेकाः) ये तुरगाः (= अश्वाः) तेषां बलानि (= सैन्यानि), पदातयः (= पदगसैनिकाः) च तैः परिवृतम् = परिवेष्टितम्, सहितं कृत्वेति शेषः, अतिप्रशस्ते = अतिशयशुभे, अहनि = दिने, प्राहिणोत् = प्रेषयामास।

स गत्वेति। सः = बलाहकनामा सेनापतिः, विद्यागृहम् = विद्यामन्दिरम्, गत्वा = प्राप्य, द्वाःस्थैः = द्वारिस्थितैः, द्वारपालकैः, समावेदितः = निवेदितः, सन् [स्वसमीपे आगन्तुं राजपुत्रस्यानुमति-र्जतिति विज्ञापितः] बलाहकवचनं श्रुत्वा द्वारपालकैः राजकुमारं तदागमनोद्देश्यं सूचितम्। कुमारेणाज्ञां सम्प्राप्य तैः बलाहको राजकुमारं प्रति गन्तुं निवेदित इति भावः।] प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, क्षितितले-

समुचित सजावट नहीं किया करती थीं, इस कारण उनके केश लम्बे-लम्बे हो गये थे।] चरित के साथ-साथ दोनों आखें उज्ज्वल हो गईं थीं। [उसका चरित्र और आखें ये दोनों अतिशय शुभ्र उज्ज्वल थे।] आज्ञा के साथ-साथ स्कन्धप्रदेश गुरु (भारी तथा अनुल्लङ्घनीय) हो गये थे। स्वर के साथ हृदय ने गम्भीरता (= गाम्भीर्य और सान्द्रता) को प्राप्त किया। [हृदय की गम्भीरता और स्वर की गम्भीरता साथ-साथ प्राप्त की। यहाँ सहोक्ति नामक अलंकार का अति सुन्दर प्रयोग है।]

और इस प्रकार क्रमशः (धीरे-धीरे) 'इसमें यौवन का आरम्भ हो चुका है, अर्थात् यह बाल्या-वस्था पार कर चुका, यह समस्त कलाओं का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त कर चुका है, अथवा समस्त कलायें

---

१. शिखरदेशः। २. क्वचित्तु 'च' इदं नास्ति। ३. ···सकल···।
४. बृहद···। ५. द्वाःपैः। ६. प्रवेशितः।

क्षितितलावलम्बित-चूडामणिना[1] शिरसा प्रणम्य स्वभूमिसमुचिते राजसमीप इव सविनयमासने राजपुत्रानुमतो न्यषीदत्। स्थित्वा च मुहूर्त्तमात्रं बलाहकश्चन्द्रापीडमुपसत्य दर्शितविनयो व्यजिज्ञपत्[2]—"कुमार! महाराजः समाज्ञापयति—पूर्णा नो मनोरथाः। अधीतानि शास्त्राणि। शिक्षिताः सकलाः कलाः। गतः[3] सर्वास्वायुधविद्यासु[4] परां प्रतिष्ठाम्। अनुमतोऽसि निर्गमाय[5]

त्यादिः—क्षितितले (=भूतले) अवलम्बितः (=निहितः, आश्रितः) चूडामणिः (=शिरोभूषणरत्नम्) यस्य तेन तादृशेन, शिरसा=मस्तकेन, प्रणम्य=नमस्कृत्य, स्वभूमिसमुचिते=स्वस्य भूमौ यत् समुचितं (=योग्यं) तस्मिन्, राजकुमारस्य वामभागे इति भावः, आसने=विष्टरे, राजपुत्रानुमतः=राजकुमारेणाज्ञप्तः सन्, राजसमीपे=राज्ञः निकटे, इव, सविनयम्=विनयपूर्वकं यथा स्यात् तथा, न्यषीदत्=उपाविशत्, उपविष्टोऽभवत्।

स्थित्वेति। मुहूर्तमात्रम्=किञ्चित्कालपर्यन्तम् स्थित्वा=अवस्थितिं कृत्वा, च, बलाहकः= एतन्नामा नृपतिः, चन्द्रापीडम्=एतन्नामकं राजकुमारकम्, उपसृत्य=समीपं गत्वा, दर्शितविनयः— दर्शितः (=प्रकटितः) विनयः (=सेवाभावः, नम्रता) येन स तादृशः, सन्, व्यजिज्ञपत्=विज्ञापितवान्। हे कुमार=हे राजसुत!, महाराजः=नृपतिः, तव पिता, समाज्ञापयति=समादिशति, त्वदर्थे आज्ञां प्रेषयति। किन्तदित्याह—पूर्णा इति। नः=अस्माकम्, मनोरथाः=वाञ्छितानि, पूर्णाः= सम्पूर्णतां गताः। शास्त्राणि=पदवाक्यप्रमाणादि-शास्त्राणि, अधीतानि=पठितानि। सकलाः=समस्ताः, कलाः=शिल्पादीनि, शिक्षिताः=गृहीताः, उपात्ताः। सर्वासु=अखिलासु, आयुधविद्यासु=धनुरादिविद्यासु, पराम्=उत्कृष्टाम्, प्रतिष्ठाम्=महत्त्वम्, निजज्ञानगौरवं वा, गतः=प्राप्तः त्वमिति शेषः। सर्वाचार्यैः=सकलशिक्षकैः, विद्यागृहात्=विद्यामन्दिरात्, निर्गमायः=बहिर्गमनाय, राजसदनं प्रयातुमित्यर्थः, अनुमतः=अनुज्ञातः, असि।

और विज्ञान पढ़ चुका है, सभी विद्याओं का अध्ययन कर चुका है'—ऐसा समझ कर आचार्यों द्वारा घर जाने के लिए अनुमति प्राप्त कर लेनेवाले चन्द्रापीड को (राजभवन वापस) लाने के लिए राजा तारापीड ने बलाहक नाम वाले सेनाध्यक्ष को बुलाकर बहुत सी घुड़सवार तथा पैदल सेना के साथ उसे अत्यन्त शुभ मुहूर्त में भेज दिया। वह (बलाहक) उस विद्यागृह में पहुँचकर, द्वारपालों द्वारा सूचित किये जाने पर [भीतर] प्रवेश करके, पृथ्वीतल तक लटकी हुई चूड़ामणि से युक्त मस्तक से प्रणाम कर अर्थात् पूरा शिर झुकाकर प्रणाम करके, राजपुत्र की आज्ञा प्राप्त करके अपने स्थान (पद) के अनुरूप आसन पर इतनी विनम्रता के साथ बैठ गया मानो कि राजा के पास बैठा हो। और कुछ देर बैठकर बलाहक ने चन्द्रापीड के पास जाकर विनय (आदर) प्रदर्शित करते हुए निवेदन किया— "कुमार! महाराज ने आज्ञा दी है—हमारे मनोरथ पूरे हो चुके हैं। [आपने सभी] शास्त्रों को पढ़ लिया है। सभी कलाएँ सीख ली हैं। सभी आयुधविद्याओं (अस्त्रशस्त्र चलाने की विद्याओं) में अतिशय प्रतिष्ठा (सफलता) प्राप्त कर ली है। सभी आचार्यों द्वारा विद्यामन्दिर से घर जाने की

१. ···बिलम्बित···, चुम्बित···।
२. व्यज्ञापयत्।
३. गतोऽसि।
४. सर्वायुधविद्यासु।
५. विनिर्गमाय।

विद्यागृहात् सर्वाचार्य्यैः। उपगृहीतशिक्षं गन्धगजकुमारकमिव वारिविनिर्गतम्[१], [२]अवगतसकल-कला-कलापं[३] पौर्णमासीशशिनमिव नवोद्गतं[४] पश्यतु त्वां जनः। व्रजन्तु सफलतामतिचिर-दर्शनोत्कण्ठितानि लोक-लोचनानि। दर्शनं प्रति ते समुत्सुकान्यतीव सर्वाण्यन्तःपुराणि। [५]अयमत्रभवतो दशमः संवत्सरः[६] विद्यागृहमधिवसतः। प्रविष्टोऽसि षष्ठमनुभवन् वर्षम्। एवं

उपगृहीतेति। उपगृहीतशिक्षम्—उपगृहीता (= सम्यग्रूपेणाप्ता) शिक्षा (= शिक्षणम्) येन स तं तादृशम्, त्वाम् = भवन्तम्, वारिविर्निगतम्—वारि (= गजबन्धनम्) तस्याः विनिगतम् (= बहिरागतम्) गन्धगजकुमारकम् = गन्धहस्तिशावकम्, इव, अवगतेत्यादिः—अवगतः (= ज्ञातः) सकलानाम् (= समस्तानां षोडशानाम्, द्वासप्ततिसंख्याकानाम् च) कलानाम् (= नृत्यादिकलानाम्) कलापः (= समूहः) येन सः तं तादृशम्, नवोद्गतम् = नवोदितम्, पौर्णमासीशशिनम् = पौर्णमासी-निशाकरम्, इव, त्वां, जनः = प्रजालोकः, पश्यतु = अवलोकयतु। ["वारी तु गजबन्धनी।" अमरः २।८।४३। "वारी स्याद् गजबन्धन्यां कलश्यामपि योषिति। वारिर्वागगजबन्धन्योः स्त्री क्लीबेऽम्बुनि बालुके॥' इति मेदिनी च। एतदनुसारं 'वारिः' 'वारी' वा शब्दः स्त्रीलिङ्ग एवेति बोध्यम्।] अत्रो-पमालंकारः।

व्रजन्त्विति। अतिचिरेत्यादिः—अतिचिरेण (= अतिदीर्घेण कालेन) यद् दर्शनम् (= अव-लोकनम्) तस्मिन् उत्कण्ठितानि (= उत्सुकानि), लोकलोचनानि = जननेत्राणि, सफलताम् = साफल्यम्, कृतार्थताम्, व्रजन्तु = प्रयान्तु। ते = तव, दर्शनम् प्रति = विलोकनं प्रति, सर्वाणि = सकलानि, अन्तःपुराणि = अवरोधस्थाः स्त्रियः, अतीव = अतिशयेन, समुत्सुकानि = समुत्कण्ठितानि सन्तीति भावः।

अयमिति। अत्रभवतः = सम्माननीयस्य तव, विद्यागृहम् = विद्यामन्दिरम्, अधिवसतः = अधितिष्ठतः, अयम् = एषः, दशमः = दशानां पूरणः, संवत्सरः = वर्षः। षष्ठम् = षण्णां पूरणम्, वर्षम् = अब्दम्, अनुभवन् = अनुभवविषयीकुर्वन्, प्रविष्टः = प्राप्तप्रवेशः, असि, प्रवेशं कृतवानसि। एवम् = इत्थम्, सम्पिण्डितेन = सम्मिलितेन, अधुना = इदानीम्, [अमुना = अनेन] षोडशेन = षोडशसंख्याकेन, षडधि-कदशवर्षेण, प्रवर्धसे = वृद्धिं प्राप्नोषि। षोडशवर्षीयो जायसे इति भावः।

अनुमति प्राप्त कर चुके हो। प्रजाजन शिक्षा प्राप्त किये हुए तुमको बन्धन-स्थान (= वारि) से बाहर निकले हुए गन्धगज के कुमार के समान तथा सभी कलाओं के समूह को सीखे हुए तुमको नवीन उदित पौर्णमासी के चन्द्रमा के समान देखें। [गन्धगज-कुमार जैसे शिक्षा प्राप्त करके अपने बन्धन-स्थान से बाहर निकलता है और सद्यः उदित पौर्णमासी का चन्द्रमा जिस प्रकार सभी कलाओं से युक्त होता है। उसी प्रकार तुम भी विद्यागृह के बन्धन से बाहर निकलने वाले हो,तथा सभी प्रकार की कलाओं से युक्त हो।] लोगों के बहुत समय से दर्शनों के लिए उत्कण्ठित नेत्र सफलता को प्राप्त कर लें। अन्तःपुर की सभी स्त्रियां तुम्हारे दर्शन के लिए, तुम्हें देखने के लिए व्यग्र हैं। विद्यागृह में रहते हुए आपका (तुम्हारा) यह दशवाँ वर्ष है। छठे वर्ष का अनुभव करते हुए अर्थात् छठे वर्ष में रहते हुए [इस विद्यामन्दिर में] प्रविष्ट हुए थे। इस प्रकार सब (१० + ६) को मिला देने

१. वारिबन्धाद् विनिर्गतम्। २. अधिगत…। ३. …कलापकम्।
४. उद्गतम्। ५. 'अयम्' इदं नाप्यस्ति। ६. वत्सरः।

सम्प्रिण्डितेनाधुना[1] षोडशेन प्रवर्द्धसे। तदद्यप्रभृति निर्गत्य दर्शनोत्सुकाभ्यो दत्त्वा दर्शनमखिल[2]-मातृभ्यः, अभिवाद्य च गुरूणाम[3]पगतनियन्त्रणो यथासुखमनुभव राज्यसुखानि नवयौवन-ललितानि च। सम्मानय राजलोकम्। पूजय द्विजातीन्, परिपालय: प्रजाः, आनन्दय बन्धुवर्गम्।

अयञ्च ते[4] त्रिभुवनैकरत्नमनिल-गरुड-सम-जव इन्द्रायुधनामा तुरङ्गमः प्रेषितो महाराजेन[5] द्वारि तिष्ठति। एष खलु देवस्य पारसीकाधिपतिना त्रिभुवनाश्चर्य्यमिति कृत्वा 'जलनिधि-

तदद्येति। तत् = तस्मात् कारणात्, अद्यप्रभृति = अस्माद्दिवसादारभ्य, निर्गत्य = बहिरागत्य, विद्यामन्दिरादिति शेषः। दर्शनोत्सुकाभ्यः—दर्शने (= विलोकने) उत्सुकाभ्यः (= उत्कण्ठिताभ्यः) अखिलमातृभ्यः = समस्तजननीभ्यः, दर्शनम् = अवलोकनावसरम्, दत्त्वा = प्रदाय, अभिवाद्य = पादयोः प्रणम्य, च, गुरूणाम् = शिक्षकाचार्याणाम्, अपगतनियन्त्रणः—अपगतम् (= समाप्तम्) नियन्त्रणम् (= नियमनम् निरोधः) यस्य एवम्भूतः सन्, राज्यसुखानि = राज्यानन्दान्, नवयौवनललितानि—नवयौवनस्य = अभिनवतारुण्यस्य) ललितानि (= विलसितानि) च, यथासुखम् = सुखममतिक्रम्य, अनुभव = अनुभवविषयीकुरु, उपभुङ्क्ष्वेति भावः।

सम्मानयेति। राजलोकम् = नृपजनम्, सम्मानय = उचितसम्मानप्रदानेन प्रसन्नं कुरु। द्विजातीन् = ब्राह्मणान्, पूजय = आराधय, वाञ्छित-धनादि-दानेनेति शेषः, प्रजाः = प्रकृतीः, लोकान्, परिपालय = रक्षितं कुरु, बन्धुवर्गम् = स्वजनवर्गम्, आनन्दय = आनन्दितं कुरु।

अयञ्चेति। अयम् = पुरो दृश्यमानः, त्रिभुवनैकरत्नम् = त्रिविष्टपेऽद्वितीयं रत्नम्, त्रैलोक्येऽद्वितीयोऽयमित्यर्थः। [आविष्टलिङ्गत्वान्नपुंसकत्वम् 'वेदाः प्रमाणमिति' वत्।] अनिलेत्यादिः—अनिलः (= पवनः) गरुडः (= वैनतेयः) तयोः समः (= तुल्यः) जवः (= वेगः) यस्य स तादृशः। इन्द्रायुधनामा = इन्द्रायुध—इति नाम (= अभिधेयम्) यस्य सः तादृशः, तुरङ्गमः = अश्वः, महाराजेन = भूपतिना, तव पित्रेत्यर्थः, प्रेषितः = त्वदर्थं प्रहितः, द्वारि = विद्यामन्दिरस्य प्रतीहारे, तिष्ठति = स्थितोऽस्ति।

एष इति। एषः = अयमिन्द्रायुधाख्योऽश्वः, पारसीकाधिपतिना = पारसीकदेशाधिपेन, त्रिभुवनाश्चर्यम् = लोकत्रयस्याद्भुतरूपम्, इति कृत्वा = मत्वा, जलनिधिजलात् = समुद्रसलिलात्, उत्थितम् =

पर सोलहवें वर्ष में वृद्धि को प्राप्त कर रहो, सोलह वर्षों के हो रहे हो। इसलिए आज से [यहाँ से बाहर] निकल कर दर्शनों के लिए उत्कण्ठित सभी माताओं को दर्शन देकर तथा गुरुजनों को प्रणाम करके बन्धन-रहित होते हुए राज्यसुखों का और यौवन के विलासों का सुखपूर्वक (बिना रोक-टोक) उपभोग करो। दूसरे राजा लोगों का सम्मान करो। ब्राह्मणों की पूजा करो। प्रजाजनों का खूब पालन करो तथा बन्धुवर्ग को आनन्दित करो।

और तुम्हारे लिए महाराज द्वारा भेजा गया, तीनों लोकों का अद्वितीय रत्न, इन्द्र और गरुड के समान वेगवाला इन्द्रायुध नामक अश्व [विद्यामन्दिर के] द्वार पर खड़ा हुआ है। और पारसियों के राजा ने [इसको] तीनों लोकों का आश्चर्य है— ऐसा मानकर 'समुद्र के जल से निकले हुए, अयोनिज इस अश्वरत्न को मैंने प्राप्त किया है जो महाराज के चढ़ने योग्य है'—ऐसा सन्देश देकर भेजा है।

१. आपीडितेन। २. अखिलाभ्यः। ३. गुरून्।
४. क्वचित्तु 'ते' इदं नास्ति। ५. [illegible]

जलादुत्थितमयोनिजमिदमश्वरत्नमासादितं मया महाराजाधिरोहणयोग्यम्' इति सन्दिश्य प्रहितः[1]। दृष्ट्वा च निवेदितं लक्षणविद्भिः—'यान्युच्चैःश्रवसः श्रूयन्ते लक्षणानि तैरयमुपेतः। नैवंविधो भूतो भावी वा तुरङ्गम' इति। तदयमनुगृह्यतामधिरोहणेन।

इदञ्च मूर्द्धाभिषिक्त-पार्थिवकुल-प्रसूतानां[2] विनयोपपन्नानां शूराणामभिरूपाणां कलावताञ्च[3] कुलक्रमागतानां राजपुत्राणां सहस्रं परिचारार्थम्[4] अनुप्रेषितं तुरङ्गमारूढं[5] द्वारि प्रणामलालसं प्रतिपालयति।' इत्यभिधाय[6] विरतवचसि बलाहके चन्द्रापीडः पितुराज्ञां शिरसि कृत्वा

बहिर्निगतम्. अयोनिजम् = पुंस्त्रीसम्बन्धादनुत्पन्नम्, स्वतः प्रादुर्भूतमित्यर्थः। इदम् = दृश्यमानम्, मया = पारसीकाधिपतिना, आसादितम् = प्राप्तम्, अश्वरत्नम् = घोटकश्रेष्ठम्, महाराजाधिरोहणयोग्यम् = महाराजस्य (= महाधिपतेः) अधिरोहणम् (= आरोहणम्) तत्र योग्यम् (= उचितम्), इति = एवं रूपेण, सन्दिश्य = सन्देशं विधाय, देवस्य = महाराजस्य, तव पितुः, समीपे इति शेषः, प्रहितः = प्रेषितः। दृष्ट्वा = विलोक्य च, एनमिति शेषः, लक्षणविद्भिः = अश्वलक्षणाभिज्ञैः, निवेदितम् = महाराजाय सूचितम्, किन्तदिति वर्णयति—यानीति। उच्चैःश्रवसः = इन्द्राश्वस्य, यानि, लक्षणानि = प्रकर्षबोधकचिह्नानि, श्रूयन्ते = आकर्ण्यन्ते, तैः = शुभचिह्नैः, अयम् = पुरोवर्त्ती अश्वः, उपेतः = युक्तः। एवंविधः = एतादृशः, तुरङ्गमः = अश्वः, न = नैव, भूतः = जातः, वा = अथवा, भावी = भविष्यति, इति = इदं वाक्यसमाप्तौ। तत् = तस्मात्, अयम् = पुरोवर्त्ती एषोऽश्वः, अधिरोहणेन = आरोहणेन, अनुगह्यताम् = अनुग्रह-विषयीक्रियताम्, आरुह्य एनमनुगृह्णातु भवानिति भावः।

अपरमपि किञ्चिद् राज्ञा प्रेषितमिति सूचयति—इदञ्चेति। मूर्धाभिषिक्तेत्यादिः—मूर्धाभिषिक्ताः (= मूर्ध्नि = शिरसि सविधि कृताभिषेकाः) ये पार्थिवाः (= नृपाः) तेषां कुलेषु (= वंशेषु) प्रसूतानाम् (= गृहीतजन्मनाम्), विनयोपपन्नानाम्—विनयेन (= शिक्षादिना मर्यादया च) उपपन्नाः (= युक्ताः) तादृशानाम्, शूराणाम् = शौर्यवताम्, अभिरूपाणाम् = सुन्दराणाम्, कलावताम् = विविधकलाविदाम्, कुलक्रमागतानाम् = वंशपरम्परया आगतानाम्, परिचारार्थम् = भवत्सेवार्थम्, अनुप्रेषितम् = नृपानुप्रहितम्, तुरङ्गमाधिरूढम् = अश्वसमारूढम्, राजपुत्राणाम् = नृपसुतानाम्, सहस्रम् = दशशती, प्रणामलालसम् = प्रणामे (= भवदभिवादने) लालसा (= अभिलाषः) येषां तत् तादृशम्, सत्, द्वारि = द्वारे, प्रतिपालयति = प्रतीक्षते भवन्तमिति शेषः। इति = पूर्वोक्तम्, अभिधाय = उक्त्वा, बलाहके = एतन्नामके सेनापतौ, विरतवचसि = समाप्तवचने, तूष्णीभूते सति, चन्द्रापीडः = नृपसुतः, पितुः = जनकस्य नृपस्य, आज्ञाम् = आदेशम्, शिरसि = मूर्ध्नि, कृत्वा = विधाय, शिरसाऽदेशं

तथा इस अश्व को देखकर सामुद्रिक शास्त्र जाननेवाले विद्वानों ने कहा है—"इन्द्र के घोड़े उच्चैःश्रवा के जो लक्षण सुने जाते हैं, उनसे यह युक्त है। इस प्रकार का घोड़ा न तो हुआ है और न होगा।" इसलिए इस पर आरूढ़ होकर इसको अनुगृहीत करिए।

और ये मूर्धाभिषिक्त राजाओं के वंश में उत्पन्न, विनययुक्त (मर्यादा-परिपालक), शूर, सुन्दर तथा कलाविज्ञ, वंशपरम्परा से आये हुए तथा सेवा के लिए भेजे गए हजारों राजकुमार घोड़ों पर चढ़े हुए आपको प्रणाम करने की लालसा रखे हुए दरवाजे पर प्रतीक्षा कर रहे हैं"—इस प्रकार से कहकर बलाहक के चुप हो जाने पर चन्द्रापीड ने पिता की आज्ञा को सिर पर करके [सिर झुका

१. प्रहितम्। २. मूर्धाभिषिक्तानाम्। ३. कुलवताञ्च।
४. परिचारार्थम्, परिवारार्थम्। ५. अधिरूढम्। ६. अभिधाय विरराम।

नवजलधरध्वान-गम्भीरया गिरा 'प्रवेश्यतामिन्द्रायुध' इति निर्जिगमिषरादिदेश ।

इन्द्रायुधवर्णनम्

अथ वचनानन्तरमेव[1] प्रवेशितम्, उभयतः खलीन-कटकावलग्नाभ्यां[2] पदे पदे कृताकुञ्चनप्रयत्नाभ्यां पुरुषाभ्यामाकृष्यमाणम्, अतिप्रमाणम् ऊर्ध्वंकर-पुरुष-प्राप्य-पृष्ठभागम्, आपिबन्तमिव सम्मुखागतमखिलमाकाशम्, अतिनिष्ठुरेण मुहुर्मुहुः प्रकम्पितोदररन्ध्रेण हेषारवेण पूरितभुवनोदरविवरेण निर्भर्त्सयन्तमिवालीक-वेग-दुर्विदग्धं गरुत्मन्तम्, अतिदूरमुन्न-

गृहीत्वेति भावः, नवजलधरेत्यादिः—नवः (=सद्योभूतजलः) यः जलधरः (= मेघः) तस्य ध्वानः (=शब्दः) तद्वद् गम्भीरया (=मन्द्रया) गिरा=वाचा 'इन्द्रायुधः = एतन्नामाश्वः, प्रवेश्यताम् = समानीयताम्' इति = एवं रूपेण, निर्जिगमिषुः = गन्तुमिच्छुः सन्, आदिदेश = आज्ञापयामास। विद्यामन्दिरात् राजधानीं प्रति यियासुः सन्नश्वमिन्द्रायुधमानेतुमाज्ञापयामासेति भावः ।

साम्प्रतमिन्द्रायुधस्य वैशिष्ट्यानि प्रतिपादयितुमुपक्रमते—अथेत्यादिना । अत्र अथ शब्दो वाक्यान्तरारम्भसूचनार्थैव बोध्यः, आनन्तर्यस्य शब्दतः एव कथनात् । वचनानन्तरमेव = चन्द्रापीडस्य कथनानन्तरमेव, सद्य इति भावः, प्रवेशितम् = प्रवेशं कारितम्, [" 'इन्द्रायुधम्' अद्राक्षीत्" इति वक्ष्यमाणेनान्वयो बोध्यः । द्वितीयान्तानि पदानि तस्य इन्द्रायुधस्यैव विशेषणानीति ज्ञेयम् ।] उभयतः= भागद्वयात्, खलीनकटकावलग्नाभ्याम्=खलीनकम् (= कविका, मुखयन्त्रणमिति भावः) तस्य कटके (=वलये) अवलीनाभ्याम् (= संयुक्ताभ्याम्) पदे पदे = प्रतिपदम्, कृताकुञ्चनप्रयत्नाभ्याम् = कृतः (= विहितः) आकुञ्चने (= आकृष्य समानयने) प्रयत्नः (= प्रयासः) याभ्यां ताभ्यां तादृशाभ्याम्, पुरुषाभ्याम्=मनुष्याभ्याम्, आकृष्यमाणम्=आकृष्य समानीयमानम् । अतिप्रमाणम्= अतिमहान्तम्, विशालकायमिति भावः । ऊर्ध्वंकरेत्यादिः—ऊर्ध्वम् (= उच्चैः) करौ (=हस्तौ) यस्य तादृशेन पुरुषेण (=मनुष्येण) प्राप्यः (=प्राप्तियोग्यः, आरोहणीयः) पृष्ठभागः (=पृष्ठदेशः) यस्य तम् । सम्मुखागतम्=अभिमुखागतम्, अखिलम्=समस्तम्, आकाशम्=गगनम्, आपिबन्तम्= पानविषयीकुर्वन्तम्, आस्वादयन्तम्, इव । अत्रोत्प्रेक्षा ।

अतिनिष्ठुरेति । अतिनिष्ठुरेण=अतिशयकठोरेण,मुहुर्मुहुः=वारं वारम्, प्रकम्पितोदररन्ध्रेण— प्रकम्पितम् (= समुत्पन्नकम्पम् ; उदररन्ध्रम् (= जठरविवरम्) येन । तथा पूरित-भुवनोदरेण— पूरितम् (= व्याप्तम्) भुवनोदरस्य (= लोकमध्यभागस्य) विवरम् (= छिद्रम्) येन, तादृशेन तेन, हेषारवेण=हेषा-शब्देन, आलीकवेग-दुर्विदग्धम्—अलीकवेगः (= मिथ्याजवः) तेन दुर्विदग्धम् (=दुरभिमानिनम्) गरुत्मन्तम्=गरुडम्, निर्भर्त्सयन्तम्=तिरष्कृतं कुर्वन्तम् इव । अत्राप्युत्प्रेक्षैव ।

कर आज्ञा स्वीकार करके] विद्यामन्दिर से बाहर प्रस्थान करने का इच्छुक होते हुए नये बादलों के गर्जन के समान वाणी से "इन्द्रायुध को प्रवेश कराओ" ऐसा आदेश दिया ।

इन्द्रायुध अश्व का वर्णन

तब चन्द्रापीड ने कहने के तुरन्त बाद भीतर लाए गये घोड़ों में श्रेष्ठ इन्द्रायुध को देखा— जो (अश्व) दोनों ओर की लगाम की जंजीर को पकड़े हुए, पग-पग पर खींचने (रोकने) का प्रयास करते हुए दो लोगों द्वारा आगे खींचा जा रहा था, जो विशाल आकारवाला था, जिसकी पीठ का स्थान ऊपर उठाये हुए हाथवाले पुरुष द्वारा ही पाया जा सकता था, जो मानों सम्मुख आए हुए सम्पूर्ण आकाश को पिये जा रहा था, जो अत्यन्त कठोर, बार-बार उदरच्छिद्र को कंपा देनेवाली, तीनों लोकों के मध्यभाग को भर देनेवाली हेषाध्वनि (घोड़ों की हिनहिनाहट) से मानों झूठे वेग

१. वचनान्तम् ।

२. खलीन-कनक-कटक॰ खलीनकधनक॰ ।

मता अतिदूरमवनमता च जवनिरोध-स्फीत-रोषघुरायमाण-घोर-घोणेन शिरोभागेन निज-दर्पवशादुल्लङ्घनार्थमाकलयन्तमिव त्रिभुवनम्, असित-पीत-हरित-पाटलाभिराखण्डल-चापानुकारिणीभिर्लेखाभिः कल्माषित-शरीरम्, आस्तीर्ण-विविधवर्णकम्बलमिव कुञ्जरकलभम्, कैलास-तटाघातधातु-धूलि-पाटलमिव हरवृषभम्, असुर-रुधिर-पङ्कलेखा-लोहित-सट-

अतिदूरमिति। अतिदूरम् = अतिशयेनोर्ध्वम्, उन्नमता = ऊर्ध्वं गच्छता, अतिदूरम् = अतिशयम्, अवनमता = नीचैर्गच्छता, च। जवेत्यादिः—जवस्य (= वेगस्य) निरोधेन (= अवरोधेन) स्फीतः (= वृद्धिं प्राप्तः) यो रोषः (= क्रोधः) तेन हेतुना घुरघुरायमाणा (= घुरघुरेति ध्वनिं विदधाना) घोरा (= भीषणा) च घोणा (= नासिका) यस्मिन् तादृशेन, शिरोभागेन = मस्तकप्रदेशेन, निजदर्पवशात् = स्वाभिमानवशात्, उल्लङ्घनार्थम् = अतिक्रमणार्थम्, त्रिभुवनम् = लोकत्रयम्, आकलयन्तम् = विचारयन्तम्, इव। अत्राप्युत्प्रेक्षा।

असितेति। असितेत्यादिः—असिताः (= कृष्णाः) पीताः (= गौराः) हरिताः (= हरिद्वर्णाः) पाटलाः (= श्वेतरक्ताः) च ताभिः। आखण्डलचापानुकारिणीभिः—आखण्डलस्य (= इन्द्रस्य) यः चापः (= धनुः) तदनुकारिणीभिः = तमनुकर्तुं शीलमासां तादृशीभिः, तत्तुल्याभिरिति भावः। लेखाभिः = रेखाभिः, रोमपङ्क्तिभिरिति भावः, कल्माषित-शरीरम्—कल्माषितम् (= कर्बुरितम्) शरीरम् (= देहः) यस्य तं तादृशम्। अत एव च, आस्तीर्णविविध-वर्णकम्बलम्—आस्तीर्णम् (= पृष्ठभागोपरि निपातितम्) विविधवर्णम् (= नानारूपम्) कम्बलम् (= रल्लकम्) यस्य तं तादृशम्, कुञ्जरकलभम् = हस्तिशावकम्, इव। कैलासेत्यादिः—कैलासतटे (= रजतपर्वततीरे) यः अभिघातः (= वप्रक्रीडायाम् आघातः) तस्मिन् या धातु-धूलिः (= गैरिक-चूर्णादिः) तया पाटलम् (= पाटलवर्णम्) हरवृषभम् = शिववाहनम्, इव। असुरेत्यादिः—असुराणाम् (= दैत्यानाम्) यत् रुधिरम् (= रक्तम्) तदेव पङ्कः (= कर्दमः) तस्य या लेखा (= पङ्क्तिः) तया लोहिता (= रक्तवर्णा) सटा (= ग्रीवास्थितकेशाः) यस्य स तं तादृशम् पार्वतीसिंहम् = गिरिकन्यावाहनमृगेन्द्रम्, इव। अत्रैकस्यैवोपमेयस्यानेधा वर्णनान्मालोपमालङ्कारः। मूर्तिमन्तम् = शरीरधारिणम्, रंहः संघातम् = वेगसमूहम्, इव। अत्राप्युत्प्रेक्षा, नोपमेति बोध्यम्।

के दुरभिमानी गरुड का तिरस्कार कर रहा था, जो बहुत दूर तक ऊपर उठे हुए और बहुत दूर तक नीचे गए हुए, वेग को रोकने के कारण बढ़े हुए क्रोध से घुर-घुर करते हुए विशाल नथुनोंवाले सिर से मानों अपने घमण्ड के कारण तीनों लोकों को लांघने के लिए सोंच रहा था, नापने का विचार कर रहा था, जिसका शरीर काली, पीली, हरी तथा पाटल (गुलाबी) इसीलिए इन्द्रधनुष का अनुकरण करनेवाली रेखाओं से चितकवरा था, [इसीलिए] जो अनेक रंगों वाली बिछायीं गयी झूलों (= कम्बलों) से सजे हुए हाथी के बच्चे के समान [दिखाई पड़ रहा] था, जो कैलास पर्वत के तटों = किनारों पर आघात = टक्कर देने से निकले हुए गेरु आदि धातुओं की धूलि से पाटल वाले और निश्चल अग्रभाग वाले दो कानों से सुशोभित था, जो उज्ज्वल = चमकती हुई सोने की शृंखला से बनाई गई लगाम की रस्सियों के समूह से युक्त [और] लाख के समान लाल, लम्बे तथा

१. क्वचित्तु 'अतिदूरमुन्नमता च, अवनमता प्रदक्षिणमुन्नमता च'।
२. कुत्रचित् 'घोर' इदं नास्ति। ३. मुखेन। ४. निज-जन-दर्शनवशात् निजजवदर्पावेशात्।
५. कल्मिषित०, कल्मषित०। ६. आस्तीर्णकम्बलमिव, आस्तीर्णचित्रवर्णकम्बलमिव।

मिव पार्वतीसिंहम्, रंहःसंघातमिव मूर्तिमन्तम्, अनवरतपरिस्फुरत्-प्रोथपुटोन्मुक्तसूत्कारेण[1] अतिजवापीतमनिलमिव नासिकाविवरेणोद्वमन्तम्, अन्तःस्खलितमुखर-खलीन-खर-शिखर-क्षोभ-जन्मनो लालाजलभुवः फेनपल्लवान्[2] उदधि-निवास-परिपीतामृतरस-गण्डूषानिवोद्[3]गिरन्तम्, अत्यायतमतिनिर्म्मांसतया[4] समुत्कीर्णमिव वदनमुद्वहन्तम्,आनन-मण्डल-निहितारुण-मणिसमुद्गतैरंशुकलापैरुपेतेनावसक्त-रक्तचामरेणेव निश्चलशिखरेण कर्णयुगलेन विराजमानम्,

अनवरतेति । अनवरतम् (= निरन्तरं यथा स्यात्तथा) परिस्फुरत् (= इतस्ततः प्रसरत्) यत् प्रोथपुटम् (= अश्वघोणाग्रम्) तस्मात् उन्मुक्तः (= परित्यक्तः) यः सूत्कारः (= सूदित्याकारको ध्वनिः) तेन हेतुना, अतिजवापीतम् (= अतिवेगेनास्वादितम्) अनिलम् = वायुम्, इव, नासिका-विवरेण = नासाच्छिद्रेण, उद्वमन्तम् = बहिर्निष्कासयन्तम्, इव । उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

अन्तरिति । अन्तः (= मध्ये) स्खलितम् (= संचलितम्) अतो मुखरम् (= वाचालम्) यत् खलीनम् (= कविका) तस्य खरम् (= तीक्ष्णम्) यत् शिखरम् (= अग्रम्) तस्माद् यः क्षोभः (= परिश्रमः सञ्चलनं वा) तस्मात् जन्म (= उत्पत्तिः) येषां तान् तादृशान्, लालाजलभुवः = मुख-स्रावसलिलसमुत्पन्नान्, फेनपल्लवान् = बुद्बुदाकारमुखजलकिसलयान् । उदधीत्यादिः — परिपीतः (=पान-विषयीकृतः, आस्वादितः) यः अमृतरसः (= पीयूषद्रवः) तस्य गण्डूषान् (= मुखचुलुकान्), उद्गिरन्तम् = उद्वमन्तम्, इव । अत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

अत्यायतमिति । अत्यायतम् = अतिविस्तीर्णम्, अतिनिर्मांसतया = सर्वथा विगतमांसतया, समुत्कीर्णम् = यन्त्रादिना कर्षितम्, इव वदनम् = आननम्, उद्वहन्तम् = धारयन्तम् । अत्राप्युत्प्रेक्षा ।

आननेति । आननेत्यादिः—आननमण्डलम् (= मुखमण्डलम्) तस्मिन् निहिताः (=स्थापिताः) ये अरुणमणयः (= पद्मरागरत्नानि) तेभ्यः समुद्गतैः = समुत्पन्नैः, अंशुकलापैः = किरणसमूहैः, उपेतेन = सहितेन, अतएव, अवसक्तचामरेण—अवसक्तः (= संलग्नः) रक्तचामरः (= लोहितप्रकीर्णकम्) यस्मिन् तेन, तादृशेन, निश्चलशिखरेण — निश्चलम् (= स्थिरम्) शिखरम् (= अग्रदेशः) यस्मिन् तेन तादृशेन, कर्णयुगलेन = श्रोत्रद्वयेन, विराजमानम् = शोभमानम्, इव । अत्राप्युत्प्रेक्षा ।

(कुछ हल्के लाल-सफेद रंगवाले), शंकर के वृषभ के समान [दिखाई दे रहा] था, जो असुरों के खून के पंक की रेखा से लाल-लाल सटाओं (गरदन के बालों) से युक्त पार्वती के सिंह के समान [दिखाई दे रहा] था, जो कि मानों शरीरधारी (मूर्तिमान्) वेगसमूह था, जो लगातार फड़फड़ाते नथुनों से निकलने वाले सूत्कार (सू-सू की आवाज) से [ऐसा लग रहा था कि] मानों बहुत तेजी से पी गई हवा को नासिकाविवर से बाहर निकाल रहा था, जो [अपने मुख के] भीतर खिसकने से आवाज करती हुई या खिसकी हुई तथा आवाज करती हुई लगाम के तीखे अग्रभाग के क्षोभ (संचलन) से उत्पन्न होनेवाले लार के जल से निकले हुए फेनपल्लवों को मानों समुद्र के निवास में खूब पिये गये अमृतरस के गण्डूषों [मुख में भरे हुए जल के घूंटों] को उगल रहा था, जो अतिशय विशाल (लम्बा) तथा मांसरहित होने के कारण मानों नक्काशी किया गया मुख धारण किये हुए था, जो मुखमण्डल पर रखी गई लाल (पद्मराग) मणि [और इसी कारण] मानों लगे हुए लाल चामरों

१. प्रोथोन्मुक्तफूत्कारेण, पुटोन्मुक्तफूत्कारेण । २. फेनलवानुदधीनिवासस्य ।
३. गण्ड । ४. निर्मांसतया ।

उज्ज्वल-कनक-शृङ्खला-रचित-रश्मि[1]-कलाप-कलितया लाक्षालोहितलम्ब-लोल-सटा-सन्तानया जलनिधि-सञ्चरण-लग्न-विद्रुम-पल्लवयेव शिरोधरयोपशोभितम्, अतिकुटिल-कनक-पत्र-लताप्रतान-भङ्गुरेण पदे पदे रणितरत्नमालेन स्थूलमुक्ताफलप्रायेण तारागणेनेव सन्ध्यारागम-[2]रुणेनाश्वालङ्कारेणालङ्कृतम्, अश्वालङ्कार-निहित-मरकतरत्नप्रभा-श्यामायमान-देहतया गगन-तल-निपतित-दिवसकर-रथ-तुरङ्गम[3]-शङ्कामिवो[4]पजनयन्तम्, अतितेजस्वितया जव-निरोधरोष-

उज्ज्वलेति । उज्ज्वलेत्यादिः—उज्ज्वला (= निर्मला, देदीप्यमाना) या कनकशृङ्खला (= स्वर्णरज्जुः) तया रचिताः (= विनिर्मिताः) ये रश्मयः (= किरणाः) तेषां यः कलापः (=समूहः) तेन कलितया (=सहितया), लाक्षेत्यादिः—लाक्षा (=जतु) इव लोहिता (=रक्ता) लम्बा (= विस्तीर्णा) लोला (= चञ्चला) च या सटा (= ग्रीवास्थकेशाः) तस्याः सन्तानः (= समूहः) यस्यां तया । अतएव, जलनिधीत्यादिः—जलनिधौ (= सागरे) यत् सञ्चरणम् (=भ्रमणम्) तत्र लग्नाः (=आसक्ताः) विद्रुमपल्लवाः (=प्रवालकिसलयानि) यस्यां सा तया तादृश्या, इव, शिरोधरया =ग्रीवया, उपशोभितम् =विराजमानम् । अत्राप्युत्प्रेक्षैव ।

अतिकुटिलेति । अतिकुटिलेत्यादिः—अतिकुटिलाः (= अतिवक्राः) याः कनकपत्रलताः (=सुवर्णपत्रभङ्ग्यः) तासां प्रतानैः (=अतिसूक्ष्मरेखाभिः) भङ्गुरेण (=वक्रेण) । पदेपदे = प्रतिपदम्, रणितरत्नमालेन—रणिता (= शब्दिता) रत्नमाला (= मणिमाला) यस्मिन् तेन । स्थूलमुक्ताफलप्रायेण—स्थूलानि (= विशालानि) यानि मुक्ताफलानि (=मौक्तिकानि) तेषां प्रायः (=बाहुल्यम्) यस्मिन् तेन । अरुणेन =रक्तवर्णेन, अश्वालङ्कारेण =तुरगाभूषणेन, अलङ्कृतम् = विभूषितम्, अतएव, तारागणेन =नक्षत्रसमूहेन, सन्ध्यारागम् =सायङ्कालिकलौहित्यम्, इव, विद्यमानम् 'सन्ध्यारागमिवे' त्यत्र तु उपमैव बोध्या ।

अश्वेति । अश्वालङ्कारेत्यादिः—अश्वालङ्कारेषु (=तुरगाभूषणेषु) निहितानि (=स्थापितानि) यानि मरकतरत्नानि (=अश्वगर्भरत्नानि) तेषां प्रभाभिः (=कान्तिभिः) श्यामायमानः (= कृष्णतां समाचरमाणः) देहः (= शरीरम्) यस्य तस्य भावस्तत्ता तया, गगनतलेत्यादिः—गगनतलात् (=आकाशतलात्) निपतितः (=अधोगतः) यो दिवसकरः (=सूर्यः) तस्य यो रथतुरगः (=स्यन्दनाश्वः) तस्य शङ्काम् (=भ्रमम्) उपजनयन्तम् =उत्पादयन्तम्, इव विद्यमानम् । सूर्यरथाश्वानामपि हरिद्वर्णत्वादतिविपुलकायत्वाच्चोभयोः साम्याद्भ्रान्तिः । अत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

अतितेजस्वितयेति । अतितेजस्वितया =अतिशयपराक्रमवत्तया, जवनिरोधरोषवशात्—जवस्य

चंचल (हिलती हुई) सटाओं (गरदन के बालों) के समूह से युक्त [और इसीलिये] मानों समुद्र में सञ्चरण करने के कारण लग गये मूंगों के पल्लवों से युक्त शिरोधरा (ग्रीवा) से उपशोभित था, जो अत्यधिक टेढ़े सुवर्णनिर्मित पत्रभंगों के समूह से कुटिल, पग-पग पर बजती हुई रत्नमाला से युक्त मोटे मोतियों से भरे हुए लाल अश्वालंकारों से सजा हुआ था, मानों तारागणों के समूह से [अलंकृत] सन्ध्याकालीन लालिमा हो, जो अश्वाभूषणों में लगी हुई मरकतमणियों की कान्ति से श्याम अर्थात् हरी होती हुई शरीर कान्ति वाला होने के कारण आकाशतल से गिरे हुए सूर्य के रथ के घोड़े

१. रुचिर । २. सन्ध्यारागारुणेन, सन्ध्यारागानुरागेण ।
३. तुरग० । ४. क्वचित्तु 'इव' इति नास्ति ।

वशात् प्रतिरोमकूपमुद्गतानि[1] सागरपरिचय-लग्नानि[2] मुक्ताफलानीव स्वेदलवजालकानि[3] वर्षन्तम्, इन्द्रनीलमणिपादपीठानुकारिभिरञ्जनशिलाघटितैरिव[4] अनवरत-पतनोत्पतनजनित विषम-खर-मुख-रवैः[5] पृथुभिः खुरपुटैर्जर्जरितवसुन्धरैर्मुरजवाद्यमिवाभ्यस्यन्तम्'—

—उत्कीर्णमिव जङ्घासु, विस्तारितमिवोरसि, श्लक्ष्णीकृतमिव मुखे, प्रसारितमिव कन्धरायाम्, उल्लिखितमिव पार्श्वयोः, द्विगुणीकृतमिव जघनभागे,—

(=वेगस्य) यो निरोधः (=अवरोधः) तस्माद् यो रोषः (=क्रोधः) तद्वशात् (=तदधीनत्वात्) च, [हेतुद्वयं बोध्यम्] प्रतिरोमकूपम् = प्रतिरोमरन्ध्रम्, उद्गतानि = समुत्थितानि, स्वेदलवजालकानि (=घर्मबिन्दुवृन्दानि), सागरपरिचयलग्नानि—सागरपरिचयात् (=समुद्रमध्ये सञ्चरणपौनःपुन्येन यद्वा समुद्रोत्पन्नत्वात्) लग्नानि (=संसक्तानि) मुक्ताफलानि=मौक्तिकफलानि, रसोद्भवानि, इव, वर्षन्तम्=वृष्टिं कुर्वन्तम् । अत्र जात्युत्प्रेक्षा—'मुक्ताफलानीवे'त्यत्र ।

इन्द्रनीलेति । इन्द्रेत्यादिः—इन्द्रनीलमणीनाम् (=मरकतानाम्) यत् पादपीठम् (=पादासनम्) तदनुकारिभिः (= अनुकर्तुं शीलं येषां तैस्तादृशैः), अतो अञ्जनशिलाघटितैः—अञ्जनशिलया (=कृष्णप्रस्तरखण्डेन) घटितैः (=निर्मितैः), इव, अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (=निरन्तरं यथा स्यात् तथा) यत् पतनम् (=भूमाववतरणम्) उत्पतनम् (=भूमेरूर्ध्वंगमनम्) च ताभ्यां जनितः (=उत्पन्नः) विषमः (=विकटः) मुखरवः (=अग्रभागशब्दः) येषां तैस्तादृशैः, पृथुभिः=विशालैः, जर्जरितवसुन्धरैः—जर्जरिता (=विदारिता, जर्जरीकृता) वसुन्धरा (=भूतलम्) यैस्तैः, खुरपुटैः=शफपुटैः, मुरजवाद्यम्=मृदङ्गवाद्यम्; अभ्यस्यन्तम्=अभ्यासं कुर्वन्तम्, इव, पादाघातेन तथाविधध्वन्युत्पादनादिति भावः । 'अभ्यस्यन्तमिवे' त्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

पुनरपि तमेवाश्वं विशेषयितुमाह—उत्कीर्णमिवेति । जङ्घासु=प्रसिद्धासु, प्रसृतासु ["जङ्घा तु प्रसृते" त्यमरः] उत्कीर्णम्=यन्त्रघर्षितम्, इव । उरसि=वक्षःस्थले, विस्तारितम्=विस्तीर्णीकृतम्, इव । मुखे=आनने, श्लक्ष्णीकृतम् = चिक्कणकरणेन सौन्दर्यविशेषमापादितम्, यद्वा, तनूकृतम्, इव । कन्धरायाम्=ग्रीवायाम्, प्रसारितम्=विस्तृतीकृतम्, इव । पार्श्वयोः=कक्षाधोभागयोः, उल्लिखितम्=उत्कीर्णम्,इव । जघनभागे=कटिपश्चाद्देशे,द्विगुणीकृतम्=द्वैगुण्यमापादितम्,इव । अत्र सर्वत्रोत्प्रेक्षैव बोध्या ।

की शंका को उत्पन्न सा कर रहा था, जो अत्यन्त तेजस्वी होने के कारण [नौकरों द्वारा अपने] वेग को रोक देने से उत्पन्न क्रोध के कारण [शरीर के] प्रत्येक रोमच्छिद्र से निकली हुई पसीने की बूंदों के समूह को ऐसे गिरा रहा था मानो सागर से परिचय से या सागर में रहने के कारण लग गये मोतियों की वर्षा कर रहा था, जो इन्द्रनीलमणि के पादपीठ का अनुकरण करने वाले अर्थात् उसके समान दिखाई देने वाले, मानों काजल की शिला से बनाये गये, लगातार नीचे गिरने और ऊपर उठने से उत्पन्न विषम (असमतल) और तीखी आवाज करने वाले, विशाल (मोटे-मोटे) और पृथ्वी को तोड़ देने वाले खुरों से मानों मृदंग बजाने का अभ्यास कर रहा था ।

[ब्रह्मा द्वारा] जिसकी जंघाओं को मानो छील कर (काट कर) बनाया गया था, जिसकी छाती का मानो विस्तार किया गया था, जिसके मुख को मानो चिकना किया गया था, जिसकी गर्दन मानो खींच कर लम्बी की गयी थी, जिसके पार्श्व भाग (बगलें) मानों छीले गए थे, जिसके जघन भाग (पुट्ठे) मानो दूने कर दिये गये थे ।

---

१. कूपसमुद्गतानि, प्रतिरोमकूपात् समुद्गतानि । २. परिचयाल्लग्नानि । ३. स्वेदजलल० । ४. क्वचित्तु 'मणि' इति नास्ति । ५. विषमस्वरमुखरवैः ।

—जव-प्रतिपक्षमिव गरुत्मतः,त्रैलोक्यसञ्चरणसहायमिव[1] मारुतस्य,अंशावतारमिवोच्चैः-श्रवसः, वेगसब्रह्मचारिणमिव[2] मनसः,हरिचरणमिव सकलवसुन्धरोल्लङ्घनक्षमम्, वरुणहंसमिव मानसप्रचारम्,मधुमासदिवसमिव विकसिताशोकपाटलम्,[3] व्रतिनमिव भस्म-सित-पुण्ड्रकाङ्कित-मुखम्, कमलवनमिव मधु-पङ्क-पिङ्गकेसरम्, ग्रीष्मदिवसमिव महायाममुग्रतेजसञ्च,

जवेति । गरुत्मतः=गरुडस्य, जवप्रतिपक्षम् = वेगे प्रतिद्वन्द्विनम्, इव । मारुतस्य=पवनस्य, त्रैलोक्य-सञ्चरणसहायम्=त्रैलोक्ये (=त्रिभुवने) यत् संचरणम् (=परिभ्रमणम्) तस्मिन् सहायम् (=सखायम्) इव । उच्चैःश्रवसः = इन्द्राश्वस्य, अंशावतारम्=अंशेनावतरणम्, इव । मनसः = चेतसः, वेगसब्रह्मचारिणम्=वेगसतीर्थ्यम्, इव । समानं ब्रह्म चरतीति स ब्रह्मचारी । अत्र 'व्रते' इति सूत्रेण णिनिः 'चरणे ब्रह्मचारिणि' इति सूत्रेण समानस्य 'स' इत्यादेशः । अत्र सर्वेषु जात्युत्प्रेक्षा ।

हरिचरणमिति । हरिचरणम् = विष्णोः पादम्, इव, सकलवसुन्धरोल्लङ्घनक्षमम् = समस्त-पृथिवीसमुल्लङ्घनसमर्थम्, वामनावतारे विष्णोःपादो यदा त्रिभुवनमुल्लङ्घितवान् तथैवासौ अश्वोऽपि तदुल्लङ्घनक्षम इति साम्यम् ।

इत आरभ्योभयविशेषणानि निर्दिशति—वरुणेति । वरुणहंसः—वरुणस्य (=प्रचेतसः) हंसः (=मरालः) तमिव, मानसप्रचारम्—मानसवत् (= चित्तवत्) प्रचारः (= गमनम्) यस्य तं तादृशम्, पक्षे—मानसे (=मानससरोवरे) प्रचारः (=सञ्चरणम्) यस्य तं तादृशमित्युभयोः साम्यम् । श्लेषालङ्कारः । मधुमासेत्यादिः—मधुमासः (=वसन्तमासः चैत्रमासो वा) तस्य दिवसः (=दिनम्) तम् इव, विकसिताशोकपाटलम्—विकसितः (=प्रस्फुटितः) य अशोकः (=एतन्नामा वृक्षविशेषः, वञ्जुलः) तद्वत् पाटलम् (= श्वेतरक्तम्), पक्षे—विकसितैः अशोकैः=तत्पुष्पैः, पाटलम् । अत्रापि श्लेषः । व्रतिनम्=संन्यासिनम्, इव, भस्मसितेत्यादिः—भस्मवत् (=भूतितुल्यः) सितः (= शुक्लः) यः पुण्ड्रकः (=तिलकम्) तेन अङ्कितम् (=चिह्नितम्) मुखम् (=आस्यम्) यस्य स तं तादृशम् । पक्षे—भस्मनः (=भूतेः) सितो यः पुण्ड्रकस्तेन चिह्नितं मुखं यस्य स तम् । पुण्ड्रकशब्दः पुंसि लता-विशेषे प्रयुज्यते । तिलकविशेषेऽपि सः प्रयुज्यते । अत्राह अमरः—"अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद् वासन्ती माधवी लता ।" अमरः २।४।७२]

जो मानो वेग में गरुड़ का प्रतिद्वन्द्वी था, जो मानो तीनों लोकों में भ्रमण में वायु का सहायक था, जो उच्चैःश्रवा (इन्द्र के घोड़े) का मानो अंशावतार ही था, जो मानो वेग के अध्यन में मन का सहपाठी था, हरि=वामन भगवान् के चरण के समान जो समस्त पृथ्वीलोक को लाँघने में समर्थ था, जैसे वरुण का हंस मानस (सरोवर) में विचरण करने वाला है उसके समान जो मानस (=चित्त) के सदृश तेज घूमने वाला था, चैत्र मास का दिन जिस प्रकार खिले हुए अशोक के पुष्पों से गुलाबी रंग का होता है उसी प्रकार जो (घोड़ा) खिले हुए अशोक के पुष्प के समान गुलाबी रंग का था, व्रतधारी पुरुष जिस प्रकार भस्म की सफेद रेखाओं से अंकित मुख वाला होता है उसी प्रकार जो (अश्व) भस्म के समान सफेद ललाट पर स्थित रोमों के गुच्छे (भँवरी) से युक्त था, अर्थात् जिसके मुख पर सफेद रोमों का आवर्त बना हुआ था, कमलवन जिस प्रकार पुष्परस के पंक से पीले

१. जय० ।　　२. वेगरय ।　　३. विकासित० ।

भुजङ्गमिव[1] सदागत्यभिमुखम्, उदधिपुलिनमिव शङ्खमालिकाभरणम्, भीतमिव स्तब्धकर्णम्, विद्याधरराज्यमिव चक्रवर्त्तिनरवाहनोचितम्, सूर्य्योदयमिव सकलभुवनार्घार्हम्[2], अश्वातिशय-

कमलेति । कमलवनम्=पङ्कजकाननम्, इव, मध्वित्यादिः—मधु (=पुष्परसः) तेन युक्तः पङ्कः (=कर्दमः) तेन पिङ्गाः (=पिङ्गलवर्णाः) केसराः (=स्कन्धस्थकेशाः) यस्य स तम्, पक्षे—केसराः = किञ्जल्काः यस्य स तम् । अत्राहायुर्वेदे—"अश्वस्य वातादिदोषशान्तये मधुयुक्तवचादिचूर्णस्य पङ्कस्तेन तनुलेपनमिति ।"

ग्रीष्मेति । ग्रीष्मदिवसम्—ग्रीष्मः (=निदाघः) तस्य दिवसः (=दिनम्) तमिव, महायामम्=महान् (=दीर्घः) यामः (=प्रहरः) यस्य स तं तादृशम्, पक्षे—महान् (=विशालः) आयामः (=विस्तारः) यस्मिन् स तं तादृशम् । उग्रतेजसम्—उग्रम् (=तीक्ष्णम्) तेजः (=आतपः) यस्मिन् स तं तादृशम् । पक्षे—उग्रम् (=तीव्रम्) तेजः (=बलादि) यस्य स तं तादृशम् ।

भुजङ्गेति । भुजङ्गम्=सर्पम्, इव, सदागत्यभिमुखम्—सदागतिः (=पवनः) तस्य अभिमुखम् (=सम्मुखम्) । पक्षे—सदा (=सर्वदा) गतिः (=गमनम्) तस्याः अभिमुखम् (=सम्मुखम्) । सदैव गमनायोत्सुकमिति भावः । "मातरिश्वा सदागतिः ।" इत्यमरः ।

उदधीति । उदधिपुलिनम्=समुद्रसैकतम्, इव, शङ्खमालिकाभरणम्—शङ्खानाम् (=कम्बूनाम्) मालिका (= माल्यम्) एव आभरणम् (= आभूषणम्) यस्य तं तादृशम् । पक्षे—शङ्खमालिका (=अश्वानां कण्ठस्थो रोमावर्त्तभेदः) एव आभरणं यस्य स तं तादृशम् ।

भीतमिति भीतम्=भयाक्रान्तम्, इव,स्तब्धकर्णम्—स्तब्धौ (=निश्चलौ) कर्णौ (=श्रोत्रे) यस्य स तं तादृशम् । पक्षेऽपि अयमेवार्थः । अश्वस्य स्वाभाविकत्वादन्यस्य भयजन्यत्वादिति साम्यम् ।

विद्याधरेति । विद्याधरराज्यम् —विद्याधराणाम् (=देवयोनिविशेषाणाम्) राज्यम् (=आधिपत्यम्) इव, चक्रवर्ति-नरवाहनोचितम्—चक्रवर्ती (=सार्वभौमः) यो नरवाहनः (=एतन्नामा राजा) तस्य उचितम् (=योग्यम्) । पक्षे—चक्रवर्ती (=सार्वभौमः) यः नरः (=मानवः, चन्द्रापीडः इति भावः) तस्य वाहने (=उद्वहने) उचितम् (=समर्थम्) । वाह्य-वाहकयोरुभयोरत्युत्तमत्वं बोध्यम् । नरवाहननृपस्य कथा बृहत्कथायां द्रष्टव्या ।

सूर्येति । सूर्योदयम्=भास्करोद्गमनम् इव, सकलभुवनार्घार्हम्—सकलभुवनस्य (=समस्तजगतः) यः अर्घः (=पूजनम्) तस्य अर्हम् (=योग्यम्) । पक्षे—सकलभुवनम् (=समस्तजगत्) एव अर्घः (=मूल्यम्) तस्य अर्हः (=योग्यः) तं तादृशम् । अत्रोपमा । अश्वातिशयम्—अश्वेषु

केशर वाला होता है उसी प्रकार जो (अश्व) मधु से युक्त (वचा आदि औषधियों के) पंक (लेप) से पीले केसरों (गरदन पर स्थित बालों) से युक्त था, गर्मी का दिन जैसे लम्बे याम (प्रहर) वाला और उग्र तेज (धूप, गर्मी) वाला होता है, उसी प्रकार जो (अश्व) महान् आयाम (विशा डील डोल, आकार) वाला तथा अतिशय तेज (बल) से युक्त था, साँप जिस प्रकार सदागति (=वायु) का सम्मुखवर्ती होता है उसी प्रकार जो (अश्व) सदैव गति (गमन) के लिए तत्पर रहने वाला था, जैसे समुद्र का तट शंखों के मालारूपी आभूषणों से युक्त रहता है वैसे ही जो (अश्व) शंखमालिका (गर्दन में बने रोमावर्त्त) रूपी अलंकार से युक्त था, जो भयभीत व्यक्ति के समान निश्चल कानों वाला था, जैसे विद्याधरों (देवयोनिविशेष) का राज्य चक्रवर्ती नरवाहन (वत्सराज के पुत्र) के योग्य था उसी प्रकार जो चक्रवर्ती नर (चन्द्रापीड) के वाहन (सवारी) बनने के योग्य था, जैसे सूर्योदय (का समय) सभी लोकों के द्वारा, सारे संसार द्वारा अर्घदान के योग्य होता है वैसे ही जो

१. उग्रतेजसा भुजगम् । २. भुवनाभ्यर्हम् ।

मिन्द्रायुधमद्राक्षीत् ।

इन्द्रायुधदर्शनानन्तरं चन्द्रापीडस्य मनोभावाः

दृष्ट्वा च तमदृष्टपूर्वममानुषलोकोचिताकारमखिल-त्रिभुवन-राज्योचितमशेषलक्षणोपपन्नमश्वरूपातिशयमतिधीरप्रकृतेरपि चन्द्रापीडस्य पस्पर्श विस्मयं[1] हृदयम् । आसीच्चास्य मनसि —सरभस-परिवर्त्तन[2]-वलित[3]-वासुकि-भ्रमित-मन्दरेण मथ्नता जलधि[4]-जलमिदमश्वरत्नमनभ्युद्धरता[5]

(=तुरगेषु) अतिशयः (=उत्कर्षः) यस्य स तं तादृशम् । इन्द्रायुधम्=एतन्नामकम् अश्वविशेषम्, अद्राक्षीत्=अदर्शदित्याद्यन्वयस्तु आदावेवोक्तः । 'हरिचरणमिव' इत्यत आरभ्य 'सूर्योदयमिव' इत्येतत्पर्यन्तमपेक्षितहेतुत्वात् पूर्णोपमालङ्कारो बोध्यः । स च श्लेषानुप्राणित इति ध्येयम् ॥

दृष्ट्वेति । अदृष्टपूर्वम्=अनवलोकितपूर्वम्, अमानुषलोकोचिताकारम्—अमानुषलोकः (=मानवभिन्नो देवादिलोकः) तस्य उचितः (=योग्यः) आकारः (=आकृतिः) यस्य तम् । अखिलेत्यादिः—अखिलम् (=समस्तम्) यत् त्रिभुवनराज्यम् (= त्रैलोक्याधिपत्यम्) तस्य उचितम् (=योग्यम्) । अशेषलक्षणोपपन्नम्—अशेषाणि (= समग्राणि) यानि लक्षणानि (= शुभलक्ष्माणि) तैरुपेतम् (= सहितम् । अश्वरूपातिशयम्—अश्वरूपः (= तुरगरूपः) अतिशयः (=अनिर्वचनीयः) कश्चिदतिरक्तः पदार्थः,तम्, दृष्ट्वा=विलोक्य, अतिधीरप्रकृतेः=अतिधीरस्वभावस्य, अपि, चन्द्रापीडस्य=नृपसुतस्य एतन्नामकस्य, हृदयम्=चित्तम्, कर्तृ, विस्मयम्=आश्चर्यम्, पस्पर्श=स्पृष्टवत् । अत्रातिशयोक्तिर्बोध्या ।

आसीदिति । अस्य = कुमारस्य चन्द्रापीडस्य, मनसि = स्वान्ते, इदम्, आसीत्=अभूत् । सरभसेत्यादिः—सरभसम् (=वेगेन सहितं यथा स्यात् तथा) यत् परिवर्त्तनम् (=मथनम्) तदर्थं बलितः (=बद्धः, चलितो वा) यो वासुकिः (=शेषनागः, रज्जुरूपः) तेन भ्रमितः (= घूर्णितः) यो मन्दरः (=मन्दराचलः) तेन, करणेन, जलधिजलम्=वारिनिधिसलिलम्, मथ्नता=विलोडयता, सुरासुरलोकेन=देवदानवसमूहेन, इदम्=पुरोवर्ति, अश्वरत्नम्=तुरगमणिम्, अनभ्युद्धरता=अनिष्कास-

(अश्व) समस्त लोकों के अर्घ (मूल्य) के योग्य था । [इस प्रकार के, अश्वों में उत्तम इन्द्रायुध नामक अश्व को चन्द्रापीड ने देखा ।]

इन्द्रायुध को देखने के बाद चन्द्रापीड के मनोभाव

पहले कभी न देखे गये, अमानुषलोक अर्थात् देवताओं के योग्य आकार वाले, सम्पूर्ण तीनों लोकों के राज्य (स्वामित्व) के योग्य, समस्त शुभ लक्षणों से युक्त, उत्कृष्ट अश्वसौन्दर्य से सम्पन्न उस इन्द्रायुध को देखकर अतिशय धीर (गम्भीर) स्वभाव वाले भी चन्द्रापीड के मन ने आश्चर्य को छू लिया, उसके मन में आश्चर्य उत्पन्न हो गया । और उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ—वेगपूर्वक मंथन (घुमाव) में हिलने वाले वासुकि द्वारा अर्थात् उसे रस्सी बनाकर घुमाये जाते हुए मन्दराचल से समुद्र के जल का मन्थन करके देवताओं और दैत्यों ने इस श्रेष्ठ घोड़े को बाहर न निकाल

१. विस्मयः । २. ···निवर्त्तन···। ३. ···चलित···।
४. जलनिधि···। ५. अनभ्युद्धरता ।

किं नाम रत्नमुद्धृतं सुरासुरलोकेन[1]। अनारोहता च मेरुशिलातलविशालमस्य पृष्ठमाखण्डलेन किमासादितं त्रैलोक्यराज्यफलम्। उच्चैःश्रवसा विस्मितहृदयो वञ्चितः खलु जलनिधिना शतमखः। मन्ये च भगवतो नारायणस्य चक्षुर्गोचरमियतापि[2] कालेन नायमुपगतो येनाद्यापि तां गरुडारोहणव्यसनितां न त्यजति[3]। अहो! खल्वतिशयित[4]-त्रिदशराज्य[5]-समृद्धिरियं तातस्य राज्यलक्ष्मीः, यदेवंविधान्यपि सकलत्रिभुवनदुर्लभानि रत्नान्युपकरणतामा-

यता, अगृह्णता, किं नाम रत्नम् = किं हि श्रेष्ठं द्रव्यम्, उद्धृतम् = निष्कासितम्, न किमपीति भावः। तेषां तादृशपरिश्रमस्य वैफल्यमेव प्रतीयते।

अनारोहतेति। अस्य = पुरोवर्त्तिनोऽश्वस्य, मेरुशिलातलविशालम् = सुमेरुपर्वत-शिलातलवद् विस्तृतम्, पृष्ठम् = पृष्ठदेशम्, अनारोहता = अनधिरोहता च सता, आखण्डलेन = इन्द्रेण, त्रैलोक्यराज्यफलम् = त्रिभुवनाधिपत्यफलम्, किम् आसादितम् = किं प्राप्तम् ? न किमपीति भावः। एवञ्चोच्चैःश्रवाः अस्मादश्वादधीन एव बोध्यः। तदेव वर्णयति—उच्चैःश्रवसेति। उच्चैःश्रवसा = एतन्नामकेनाश्वेन, विस्मितहृदयः—विस्मितम् (= साश्चर्यम् हृदयम् (= चित्तम्) यस्य स तादृशः, शतमखः = शतमन्युः इन्द्रः, जलनिधिना = समुद्रेण, वञ्चितः = प्रतारितः, खलु = निश्चयेन। इममश्वमदत्त्वा समुद्रेण वञ्चनैव विहितेति भावः।

मन्ये चेति। अयम् = पुरोवर्त्ती अश्वः, इयता = एतावता, अपि, कालेन = समयेन, भगवतः = ऐश्वर्यवतः, नारायणस्य = विष्णोः, चक्षुर्गोचरताम् = नेत्रग्राह्यताम्, न = नैव, उपगतः = सम्प्राप्तः, येन = कारणेन, अद्यापि = इदानीमपि, ताम् = पूर्वविहिताम्, गरुडारोहणव्यसनिताम्—गरुडे (= वैनतेये) अधिरोहणे (= समारोहणे) व्यसनिताम् (= आसक्तताम्) न = नैव, त्यजति = जहाति, इति, मन्ये = चिन्तयामि। 'मन्ये' इत्यस्य प्रयोगात् क्रियोत्प्रेक्षा।

अहो इति। अहो = इदमाश्चर्यं, खलु = निश्चयेन, तातस्य = मत्पितुस्तारापीडस्य, इयम् = एषा, राज्यलक्ष्मीः = आधिपत्यश्रीः, अतिशयित-त्रिदश-राज्यसमृद्धिः—अतिशयिता (= अतिक्रान्ता) त्रिदशराज्यस्य (= सुराधिपत्यस्य) समृद्धिः (= सम्पन्नता, संवृद्धिर्वा) यया सा तादृशी। यत् = यस्माद्धेतोः, एवंविधानि = पूर्वोक्तस्वरूपाणि, अपि, सकलत्रिभुवनदुर्लभानि—सकले (= समस्ते) त्रिभुवने (= त्रैलोक्ये) दुर्लभानि (= दुष्प्राप्याणि) रत्नानि (= मण्यादीनि सर्वोत्कृष्टवस्तूनीत्यर्थः)

कर कौन सा रत्न निकाल लिया ? अर्थात् कुछ नहीं निकाला। और मेरु पर्वत के शिलातल के समान विशाल इसकी पीठ पर बिना चढ़े हुए इन्द्र ने तीनों लोकों के राज्य का क्या फल प्राप्त कर लिया ? अर्थात् कोई फल नहीं पाया। समुद्र ने उच्चैःश्रवा से विस्मित हृदय वाले इन्द्र को सचमुच में ठग लिया। मैं तो यह समझता हूँ कि यह घोड़ा अभी तक भगवान् विष्णु के नेत्रों के सामने नहीं पड़ा, उन्हें नहीं दिखाई दिया, इसीलिये वे अभी तक गरुड पर चढ़ने के अपने व्यसन को नहीं छोड़ सके। [यदि इसे देख लेते तो गरुड पर चढ़ना छोड़ कर इसी पर आरूढ होने लगते।] आश्चर्य है, पिता जी की यह राज्यलक्ष्मी निश्चित रूप से इन्द्र की राज्यसमृद्धि का अतिक्रमण करने वाली है अर्थात् उससे

१. सुरलोकेन।
२. क्वचित् 'अपि' इति नास्ति।
३. तं गरुडारोहणव्यसनिता न परित्यजति।
४. अतिशय...।
५. राज...।

गच्छन्ति ।

अतितेजस्वितया महाप्राणतया च सदैवतेवे[1]यमस्याकृतिः, यत्सत्यमारोहणे शङ्कामिव मे जनयति । न हि सामान्यवाजिनाममानुषलोकोचिताः सकल-त्रिभुवनविस्मयजनन्य ईदृश्यो भवन्त्याकृतयः । दैवतान्यपि हि मुनिशापवशादुज्झितनिजशरीराणि[2] शापवचनोपनीता[3]-तानि शरीरान्तराण्य[4]ध्यासत एव । श्रूयते हि[5] पुरा किल स्थूलशिरा नाम महातपा मुनिर-खिल-त्रि[6]भुवन-ललामभूतामप्सरसं रम्भाभिधानां शशाप । सा सुरलोकमपहायाश्वहृदये

उपकरणताम् = भोगसाधनताम्, आगच्छन्ति = आयान्ति । एवंविधमश्वरत्नं सुराधिपस्यापि समीपे नास्तीति मम पितुरुत्कृष्टत्वमिति भावः ।

अतितेजस्वितयेति । अस्य = पुरोवर्त्तिनोऽश्वस्य इन्द्रायुधस्य, इयम् = दृश्यमाना, आकृतिः = आकारः, अतितेजस्वितया = महातेजोवत्तया, महाप्राणतया = अतिशयबलवत्तया, च, सदैवता = देवविशेषसहिता, देवाधिष्ठिता, इव, अस्तीति शेषः, यत् = यस्मात् हेतोः, आरोहणे = अधिरोहणे, मे = मम, शङ्काम् = सन्देहम्, इव, जनयति = उत्पादयति, एतत्, सत्यम् = तथ्यम् । पूर्वोक्तशङ्कायां हेतुमाह-न हीति । हि = यतः, सामान्यवाजिनाम् = साधारणाश्वानाम्, अमानुषलोकोचिताः = देवलोकयोग्याः, सकलत्रिभुवनविस्मयजनन्यः—सकलम् (= समस्तम्) यत् त्रिभुवनम् (= त्रैलोक्यम्) तस्य विस्मय-जनन्यः (= आश्चर्यसमुत्पादिन्यः), ईदृश्यः = दृश्यमानाः, एतादृश्यः, आकृतयः = आकाराः, न = नैव, भवन्ति = सन्ति । एवञ्चास्याकृतिः सदैवतैवेति निश्चितम् ।

दैवतान्यपीति । हि = यस्मात् कारणात्, दैवतानि = देवा, अपि, मुनिशापवशात् = ऋष्यननु-ग्रहवशात्, कुर्द्धर्षि-दुर्वचनादिवशात्, उज्झितनिजशरीराणि—उज्झितानि (= त्यक्तानि) निजानि (= स्वकीयानि) शरीराणि (= वपूंषि) यैस्तानि, शापवचनोपनीतानि—शापवचनेन (= अभि-सम्पातवाक्यबलेन) उपनीतानि (= उपस्थापितानि) शरीरान्तराणि (= अन्यदेहान्) अध्यासते = आश्रयन्ति, एव । अत्र "अधिशीङ्स्थाऽसां कर्म" (१।४।४६) इति सूत्रेणाधारस्य कर्मत्वाद्द्वितीया बोध्या ।

श्रूयत इति । हि = यतः, श्रूयते = आकर्ण्यते, पुरा = प्राचीनकाले, स्थूलशिरा नाम = नाम्ना स्थूलशिराः, महातपाः = उग्रतपाः, मुनिः = ऋषिः, अखिलेत्यादिः—अखिलम् (= समस्तम्) यत्

भी अधिक है, क्योंकि तीनों लोकों में दुर्लभ इस प्रकार के रत्न भी उपकरणता (भोगसाधनता) को प्राप्त होते हैं, भोग के लिये होते हैं ।

अत्यन्त तेजस्वी होने के कारण तथा महाबलशाली होने के कारण इस अश्व की यह आकृति देवतायुक्त सी लग रही है, जो कि सचमुच में इस पर सवारी करने में मेरे मन में शंका सी उत्पन्न कर रही है । क्योंकि साधारण घोड़ों की देवलोक के योग्य तथा सम्पूर्ण त्रिभुवन के आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली इस प्रकार की आकृतियाँ नहीं हुआ करती हैं । देवता भी ऋषियों के शाप के कारण अपने वास्तविक शरीर को छोड़कर शापवाक्य से प्राप्त होने वाले दूसरे शरीर को धारण करते ही हैं ।

यह सुना जाता है कि पहले कभी स्थूलशिरा नामक महातपस्वी ने सम्पूर्ण तीनों लोकों की सर्वोत्कृष्ट रम्भा नामक अप्सरा को शाप दे दिया था । वह रम्भा देवलोक छोड़कर अश्व के हृदय में अपने को प्रविष्ट करा कर 'अश्वहृदया' इस नाम से प्रसिद्ध घोड़ी बनकर मृत्युलोक में मृत्तिकावती

१. सदैवतेयम् । २. शरीरकाणि । ३. ···वलोपनीतानि ।
४. शरीराणि । ५. कुत्रचित् 'किल' इति नास्ति । ६. भुवन···।

निवेश्यात्मानमश्वहृदयेति विख्याता बडवा भूत्वा[1] मृत्तिकावत्यां[2] शतधन्वानं नाम राजानमुपसेवमाना मर्त्यलोके महान्तं कालमुवास। अन्ये च महात्मानो मुनिजनशाप-परिपीतप्रभावा नानाकारा भूत्वा बभ्रमुरिमं लोकम्। असंशयमनेनापि महात्मना केनापि शापभाजा भवित-

---

त्रिभुवनम् (=लोकत्रयम्) तस्मिन् ललामभूताम् (=आभूषणभूताम्) रम्भाभिधानाम् = रम्भाख्याम्, अप्सरसम् = स्वर्गस्य वेश्याम्, शशाप = अशपत्। यद्यपि "स्त्रियां बहुष्वप्सरसः" इति नामलिङ्गानुशासनं तथापि "स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्यादेकत्वेऽप्सरा अपि" इति शब्दार्णवकारोक्त्या बहुत्वं प्रायोवाद एव। किञ्च "अनचि च" इति सूत्रस्थमहाभाष्यकारस्य 'अप्सराः' इत्येकवचन-प्रयोगाच्चात्र "अप्सरसम्" इत्येकवचनान्तोऽपि प्रयोगो युज्यत एवेति तत्त्वविदः। अतएव कालिदासादेरप्येकवचनान्तप्रयोगः साधुरेव।

अत्रेयं महाभारतीया कथा—पुरा कदाचित् स्थूलशिरा नाम महर्षिः कुशसमिदर्थं पर्यटन् "आः वयं श्वभ्रान्तरे पतामः, परित्रायस्वास्मान्" इत्यार्त्तस्वरमाकर्ण्य तद्देशं गत्वा लताप्रान्तावलम्बितान् अतलस्पर्शगर्ते पतितुं प्रवृत्तान् जनान् विलोक्य "के यूयम्" इत्यपृच्छत्। ते प्रत्यूचुः—"वयं तव पितरः, त्वया सन्तत्युत्पत्तिर्न विहिता, अतस्तद्वियोगात्त्वदुपरमे पुन्नाम्नि नरके पतिष्यामः।" तच्छ्रुत्वा स्थूलशिराः सन्तानोत्पादनार्थं रम्भाख्यां योषितमभिहितवान् "त्वां कामये।" तया चोक्तम्—"यथाज्ञापयसि, किन्तु पूर्वं देवकार्यं सम्पाद्य आगच्छामि" इत्युक्त्वा गत्वा बहु विलम्बितवती। तेन क्रुद्धो महर्षिः "बडवा भव" इति तां शशाप। नरनारायणावतारपर्यन्तं तस्यावधिं निरदिशत्।

सेति। सा = शापग्रस्ता रम्भा, सुरलोकम् = देवलोकं स्वर्गम्, अपहाय = त्यक्त्वा, अश्वहृदये = तुरगोरसि, आत्मानम् = स्वम्, निवेश्य = संस्थाप्य "अश्वहृदया" इति = एवम्, विख्याता = प्रसिद्धा, बडवा = अश्वा, भूत्वा = जनित्वा, मृत्तिकावत्याम् = एतन्नाम्ना ख्यातायां नगर्याम्, शतधन्वानं नाम = नाम्ना शतधन्वानम्, राजानम् = नृपम्, उपसेवमाना = भजमाना सती, मर्त्यलोके = भूलोके, महान्तम् = सुदीर्घम्, कालम् = समयम्, उवास = न्यवसत्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया।

अन्ये चेति। अन्ये च = अपरे च, महात्मानः = गरीयांसः, महाशयाः, मुनिजनेत्यादिः—मुनिजनानाम् (=ऋषिलोकानाम्) यः शापः (=अभिसम्पातः) तेन परिपीतः (=आस्वादितः, विनाशं प्रापितः) प्रभावः (= माहात्म्यम्) येषां ते, तादृशाः, अत एव, नानाकाराः—नाना (= विविधप्रकाराः) आकाराः (=रूपाः, आकृतयः) येषां ते तादृशाः, भूत्वा = विविधशरीराणि धृत्वेत्यर्थः, इमम् = अमुम्, लोकम् = संसारम्, बभ्रमुः = भ्रमितवन्तः, भ्रमणं चक्रुरिति भावः। असंशयम् = निःसंशयम्, अनेन = अमुना, अपि, महात्मना = महानुभावेन, केनापि = अज्ञातनामधेयेनापि, शापभाजा = शापफलभोक्त्रा, भवितव्यम् = भाव्यम्। मदन्तःकरणम् = मम मानसम्, अस्य = अमुष्य अश्वस्य, दिव्यताम् =

नामक नगरी में शतधन्वा नामक राजा की सेवा करती हुई बहुत समय तक रहती रही। और दूसरे भी बहुत से बड़े-बड़े लोग मुनियों के शाप से विनष्ट प्रभाव वाले होते हुए नाना प्रकार के शरीर वाले होकर इस संसार में घूमते रहे। अतः यह भी महात्मा निश्चित रूप से शापग्रस्त ही होने चाहिए।

---

१. इदं कुत्रचित्तु नास्ति। २. मृत्तिकावत्याम्।

व्यम् । आवेदयतीव मदन्तःकरणमस्य दिव्यताम् ।'

इति विचिन्तयन्नेवारुरुक्षुरासनादुदतिष्ठत् । मनसा च तं तुरङ्गममुपसृत्य[1]—'महात्मन् अर्वन् ! योऽसि, सोऽसि; नमोऽस्तु ते, सर्वथा[2] मर्षणीयोऽयमारोहणातिक्रमोऽस्माकम्, अपरिगतानि दैवतान्यप्यनुचित-परिभवभाञ्जि भवन्ति' इत्यामन्त्रयाम्बभूव । विदिताभिप्राय इव स तमिन्द्रायुधश्चटुलशिरः-केसर-सटा-हत्याकूणिताकेकर-तारकेण तिर्य्यक्चक्षुषा विलोक्य मुहुर्मुहु-

देवत्वम्, अलौकित्वम्, आवेदयति = ज्ञापयति, इव । इति = पूर्वोक्तरूपेण, विचिन्तयन् = विचारयन्, एव, आरुरुक्षुः = आरोढुमिच्छुकः सन्, आसनात् = स्वोपवेशनयोग्यस्थानविशेषात्, उदतिष्ठत् = उत्थितोऽभवत् । आसनात् इत्यस्य सिंहासनादिति बाहुल्येन व्याख्यानं नोचितम्, विद्यामन्दिरे सिंहासनकल्पनाऽनौचित्यात् । अतस्तत्र स्थितात् विष्टरादित एव उत्थितोऽभवदित्येव व्याख्यानं संगतं बोध्यम् ।

शरीरेण गमनात् पूर्वमेव क्षमाप्रार्थनार्थं मनसा गत्वा किञ्चिन्निवेदयितुमिच्छतीति प्रतिपादयति–मनसा चेति । च = समुच्चये, मनसा = चेतसा, तम् = पूर्वोक्तम्, इन्द्रायुधम्, तुरङ्गमम् = अश्वम्, उपसृत्य = समीपं गत्वा । महात्मन् = महानुभाव, अर्वन् != अश्वश्रेष्ठ !, यः = यत्स्वरूपः असि = वर्तसे, सः = तत्स्वरूपः, असि = वर्तसे, ते = तुभ्यम्, नमः = प्रणतिः, अस्तु = भवतु, "नमः" योगे चतुर्थी बोध्या । अस्माकम् = मम, सम्माने बहुवचनम्, अयम् = पुरोजायमानः, आरोहणातिक्रमः—आरोहणेन (= अधिरोहणेन) अतिक्रमः (= अनादरः, अवज्ञा), मर्षणीयः = सोढव्यः । कथमिदमिति चेत्तत्राह–अपरिगतानि = दैवत्वेनापरिचितानि, दैवतानि = सुराः, अपि, अनुचित-परिभवभाञ्जि—अनुचितः (= अयोग्यः) यः परिभवः (= तिरस्कारः) तं भजन्ते = लभन्ते, तानि तादृशानि, भवन्ति = जायन्ते, इति = एवम्प्रकारेण, आमन्त्रयाम्बभूव = अभ्यर्थयामास । मनसि चिन्तयामासेति भावः । ["वृन्दारका दैवतानि पुंसि वा देवताः स्त्रियाम् ।" इत्यमरः १।१।९ इति नपुंसकत्वं दैवत-शब्दस्येति बोध्यम् ।]

विदितेति । सः = पूर्वोक्तः, इन्द्रायुधः = इन्द्रायुधाख्योऽश्वः, विदिताभिप्रायः–विदितः (= ज्ञातः) अभिप्रायः (= आशयः) येन स तादृशः इव, ['हेषारवमकरोदि'ति वक्ष्यमाणेनान्वयो बोध्यः ।] चटुलेत्यादिः—चटुलम् (= चञ्चलम्) यत् शिरः (= मस्तकः) तस्य याः केसराः (= केशविशेषाः) एव सटा (= जटा) तासाम् या आहतिः (= आघातः) तया आकूणिता (= किञ्चित्कुञ्चिता) आकेकरा (= किञ्चिद्वक्रा) तारका (= कनीनिका) यस्मिन् तेन तादृशेन, चक्षुषा = नेत्रेण, तिर्यक् = तिरश्चीनम्, तम् = चन्द्रापीडम्, विलोक्य = दृष्ट्वा, मुहुर्मुहुः = बारम्बारम्, क्षितितलम् = भूतलम्,

क्योंकि मेरा अन्तःकरण इसकी दिव्यता को सूचित सा कर रहा है । [इसलिये यह साधारण घोड़ा नहीं होना चाहिए]

—इस प्रकार से सोचता हुआ उस पर आरूढ़ होने का इच्छुक होता हुआ (वह चन्द्रापीड) अपने आसन से उठ खड़ा हुआ । और मन से उस घोड़े के समीप जाकर "महात्मन् अर्वन् (अश्व) !जो हो, सो हो, तुम्हें मेरा प्रणाम है, हमारा यह आरोहणरूप अनादर क्षमायोग्य है, अर्थात् क्षमा कर देना, क्योंकि बिना पहचाने गये देवता भी तिरस्कार के विषय हो जाते हैं"—इस प्रकार से मन ही मन कहने लगा । वह इन्द्रायुध उस चन्द्रापीड के अभिप्राय को जानता हुआ सा होकर हिलते हुए सिर

१. अनुपसृत्य, समुपसृत्य । २. इतोऽग्रे 'स्थितेन' इत्यधिकः पाठोऽपि लभ्यते ।

स्ताडयता क्षितितलमुत्खात-धूलि-धूसरित-क्रोड-रोम-राजिना दक्षिणखुरेणारोहणाया[१]ह्वयन्निव स्फुरित-घ्राण-विवर-घर्घरध्वनिमिश्रं मधुरमपरुष-[२]हुङ्कारपरम्परानुबद्धमतिमनोहरं हेषारवम्[३] अकरोत् ।

चन्द्रापीडस्य विद्यामन्दिरान्निर्गमनम्

अथानेन मधुर-हेषितेन[४] दत्तारोहणाभ्यनुज्ञ इव इन्द्रायुधमारुरोह चन्द्रापीडः । समारुह्य तं प्रादेशमात्रमिव त्रैलोक्यमखिलं[५] मन्यमानो निर्गत्य, जलधर-[६]विमुक्तोपलासारपरुषेण

ताडयता = विदारयता, उत्खातेत्यादिः—उत्खाता (= उत्खनिता) या धूलिः (= पांसुः) तया धूसरिता (= धूम्रवर्णीकृता) क्रोडरोमराजिः (= भुजान्तरालकपङ्क्तिः) यस्मिन् तेन तादृशेन, दक्षिणखुरेण = अपसव्यशफेन, आरोहणाय = अधिरोहणाय, तम् = चन्द्रापीडम्, आह्वयन् = आकारयन्, आह्वानं कुर्वन्, इव, स्फुरितेत्यादिः—स्फुरितः (= धूतः, स्यन्दितः) यो घ्राणविवरः (= नासिकारन्ध्रम्) तस्य यो घर्घरध्वनिः (= घर्घरेत्यात्मकरवः) तेन मिश्रम् (= संयुक्तम्), मधुरम् (= मृदु), अपरुषेत्यादिः—अपरुषा (= अकठोरा) या हुङ्कारपरम्परा (= हुङ्कृतिध्वनिसन्तानः) तया अनुबद्धम् (= सहितम्) अतिमनोहरम् = अतिशयहृदयाकर्षकम्, हेषारवम् = हेषाशब्दम्, अश्वध्वनिम्, अकरोत् = अकार्षीत् । इन्द्रायुधः स्वक्रियाकलापेन चन्द्रापीडायारोढुमनुमतिं प्रादत्तेति भावः ।

इन्द्रायुधस्यानुमतिं लब्ध्वा चन्द्रापीडः किमकरोदिति वर्णयति—अथेति । अथ = अनन्तरम्, अनेन = पूर्वोक्तेन, मधुरहेषितेन = अकठोरहेषारवेण, दत्तारोहणाभ्यनुज्ञः—दत्ता (= प्रदत्ता) आरोहणे (= अधिरोहणे) अभ्यनुज्ञा (= अनुमतिः, स्वीकृतिः) यस्मै स तादृशः, चन्द्रापीडः = राजकुमारः, इन्द्रायुधम् = एतन्नामानमश्वम्, आरुरोह = अधिरूढः ।

समारुह्येति । तम् = पूर्वोक्तमिन्द्रायुधम्, समारुह्य = आरोहणं विधाय, अखिलम् = सकलम्, त्रैलोक्यम् = लोकत्रयम्, प्रादेशमात्रम् = प्रादेशपरिमितम् [तर्जन्यङ्गुष्ठे वितते सति यन्मानं तत्प्रादेश इति कथ्यते ।]

"प्रदेशिन्यादिभिः सार्धमङ्गुष्ठे वितते सति ।
प्रादेशतालगोकर्णवितस्तयोः यथाक्रमम् ॥"

(ग्रीवा) के बालों (केसरों और जटाओं के आघात से कुछ संकुचित और मुड़ी हुई पुतली वाली आंखों से तिरछे देख कर बार-बार पृथ्वीतल को पीटने वाले, तथा खोदी गई धूलि से छाती के रोमों की पंक्ति को धूसरित करने वाले दाहिने खुर से मानों आरोहण (सवारी करने) के लिये बुलाता हुआ सा, फड़कते हुए नथुनों के छिद्रों की घर्घर ध्वनि से मिली हुई मधुर तथा अकठोर = मृदु हुंकार की परम्पराओं से अनुगत अत्यन्त मनोहर हेषारव (हिनहिनाहट) करने लगा ।

चन्द्रापीड का विद्यामन्दिर से निर्गमन

इसके बाद उस मधुर हेषित (घोड़े की आवाज से मानों जिसको चढ़ने की अनुमति दी जा चुकी है, ऐसा चन्द्रापीड इन्द्रायुध नामक घोड़े पर आरूढ हुआ । उस घोड़े पर

१. रोहणाय । २. अपरुषं । ३. अतिमनोहरह्लेषारवम् ।
४. ···ह्लेषितेन । ५. क्वचित्तु 'अखिलम्' इदं नास्ति । ६. प्रलयजलधर···।

जर्जरयतेव रसातलमतिनिष्ठुरेण खुरपुटानां रवेण, खुररजोनिरुद्ध-घ्राण-घोर-घोषेण च हेषितेन[1] बधिरीकृत-सकलत्रिभुवन[2]-विवरम्[3], अशिशिर-दीधिति-संस्पर्श[4]स्फुरित-विमलफलकेन ऊर्ध्वीकृतेन[5] कुन्त-लता-वनेन उन्नाल-नीलोत्पल-कलिका-वन-गहनं सर इव गगनतलमल-

---

इत्यभिधानचिन्तामणिरिति भानुचन्द्रः। जलधरेत्यादिः—जलधरैः (=मेघैः) विमुक्तः (= परित्यक्तः, वर्षणं कृतः) उपलानाम् (=करकाणाम् हेममयपाषाणखण्डानाम्) आसारः (=निरन्तरा वृष्टिः) स इव परुषः (=कठोरः) तेन, तादृशध्वनिवदित्यर्थः। रसातलम्=भूतलम्, जर्जरयता = विदारयता, इव। अतिनिष्ठुरेण = अतिशयकठिनेन, खुरपुटानाम्=शफपुटानाम्, रवेण=ध्वनिना। खुरेत्यादिः—खुररजोभिः (=शफोद्धूतधूलिभिः) निरुद्धम् (=अवरुद्धम्) यद् घ्राणम् (=घोणा, नासिका) तस्य घोरः (=भीषणः) घोषः (=ध्वनिः) यस्मिन् तेन, तादृशेन, च, हेषितेन = अश्वशब्दितेन, बधिरीकृतेत्यादिः—बधिरीकृतानि (= एडीकृतानि) सकलानि (=समस्तानि) त्रिभुवनविवराणि (=लोकत्रयरन्ध्राणि) येन तत् तादृशम्। [इदं वक्ष्यमाणम् 'अश्वसैन्यम्' इत्यस्य विशेषणं बोध्यम्।]

अशिशिरेत्यादिः—अशिशिराः (= उष्णाः) किरणाः (= रश्मयः) यस्य स सूर्य इत्यर्थस्तस्य तेन वा यः संस्पर्शः (=संश्लेषः) तेन स्फुरितम् (=देदीप्यमानम्) विमलम् (= निर्मलम्) फलकम् (= अग्रभागः) यस्य यस्मिन् वा तेन तादृशेन, ऊर्ध्वीकृतेन = ऊर्ध्वं स्थापितेन, ऊर्ध्वमुख-निहितेन, कुन्त-लता-वनेन—कुन्ताः (=भल्लाः) एव लताः (= व्रततयः) तासां वनेन (= समूहेन, करणभूतेन), उन्नालेत्यादिः—उत् (= उद्गतानि) नालानि (= मृणालानि) यासां ताः याः नीलोत्पलकलिकाः (= इन्दीवरकोरकाः) तासां वनेन (= काननेन) गहनम् (= नीरन्ध्रम्) सरः = सरोवरम्, इव, गगनतलम् = नभस्तलम्, कुर्वाणम् = विदधन्तम्। नीलोत्पलसमूहेन यथा सरोऽलङ्क्रियते तथैव कुन्तसमूहेन गगनमलङ्कृतमासीदिति भावः। 'कुन्तलता-वनेन' इत्यत्र वनशब्दः समूहार्थकः। '.........कलिकावन-गहनम्' इत्यत्र च वनशब्दः काननार्थकः। वनगहनयोः समानार्थकत्वेऽपि अत्र भिन्नार्थकतया पुनरुक्तवदाभासाख्योऽलङ्कार इति केचित्।

सवार होकर तीनों को प्रादेश (बालिस्त) - मात्र मानता हुआ [विद्या - मन्दिर से] निकल कर अदृष्ट सीमा वाली (जिसका अन्तिम छोर नहीं दिखाई दे रहा था ऐसी) घोड़ों की सेना देखी—जो (अश्वसेना) बादलों से गिरे हुए ओलों की मूसलाधार वर्षा के समान कठोर, पृथवीतल को जर्जर करते हुए खुरपुटों की अत्यन्त कठोर (तीखी) ध्वनि से तथा खुरों की (टकराहट से उठी) धूलि से रुंधी हुई नाक की भयानक ध्वनि से युक्त हिनहिनाहट द्वारा सम्पूर्ण तीनों लोकों के (मध्यवर्ती) विवर (छिद्र, खाली स्थान) को बहरा बना रही थी, जो (अश्वसेना) सूर्य की किरणों के संस्पर्श के चमकते हुए निर्मल फलक वाले, ऊपर उठाये गये भाला रूपी लताओं के वन से आकाश तल को, ऊँचे किये हुए नालदण्डों वाले नीलकमलों की कलियों के वन से गहन (भरे हुए) सरोवर के समान, अलंकृत कर रही थी। [ऊपर उठे भाले और उनकी लाठियों को नीलकमल की कलियों तथा नालदण्डों के समान बताया गया है। इन से जैसे सरोवर की शोभा होती है, वैसे ही भालों और उनकी आश्रयभूत लाठियों से अश्वसेना आकाशतल की

---

१. ह्रेषितेन। २. ...त्रिभुवनम्। ३. क्वचित्तु 'विवरम्' इदं नापि दृश्यते। ४. अशिशिरकिरणदीधितिपरामर्श। ५. ऊर्ध्वीकृत०।

ङ्कुर्वाणम्, उद्दण्ड-मायूरातपत्र-सहस्रान्धकारिताष्टदिङ्मुखतया स्फुरित-शतमन्यु-चापकलाप-कल्माषमिव[1] जलधरवृन्दम्, उद्वमत्-फेनपुञ्ज-धवलित-मुखतया अनवरत-वल्गन-चटुलतया[2] च प्रलय-सागर-जल-कल्लोलसङ्घातमिव समुद्गतम्, अदृष्ट-पर्य्यन्तमश्वसैन्यमपश्यत्[3] । तच्च सागरजलमिव चन्द्रोदयेन[4] चन्द्रापीडनिर्गमेन सकलमेव सञ्चचालाश्वीयम् । अहमहमिकया च प्रणामलालसाः सरभसापनीतातपत्र-शून्य-शिरसः परस्परोत्पीडन-कुपित-तुरङ्गम-निवारणा-

उद्दण्डेति । उत् (= ऊर्ध्वमुत्थापिताः) दण्डाः (= यष्ट्यादयः) येषां तानि यानि मायूराणि (= मयूरपिच्छविनिर्मितानि) आतपत्राणि (= छत्राणि) तेषां सहस्रम् (= दशशती) तेन अन्धकारितानि (= अन्धकारं प्रापितानि) अष्टदिङ्मुखानि (= अष्टसंख्याक-काष्ठाग्रभागाः) यस्य तत्तादृशं तस्य भावस्तत्ता तया हेतुना । स्फुरितेत्यादिः—स्फुरितः (= देदीप्यमानः) यः शतमन्योः (= इन्द्रस्य) चापकलापः (= धनुःसमूहः) तेन कल्माषम् (= कर्बुरम्, चित्रवर्णम्) जलधरवृन्दम् (= वारिदसमुदायम्), इव । अत्रोपमा ।

उद्वमदिति । उद्वमदित्यादिः—उद्वमन् (= बहिर्निःसरन्) यः फेनपुञ्जः (= डिण्डीर-समूहः, अश्वकफसमूहः) तेन धवलितानि (= शुभ्रीकृतानि) मुखानि (= आस्यानि) यस्मिन् तस्य भावस्तत्ता तया । अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (= निरन्तरम्) यत् वल्गनम् (= अङ्गादिसञ्चालनम्) तेन या चटुलता (= चञ्चलता) तया, च, समुद्गतम् = प्रादुर्भूतम्, प्रलयेत्यादिः—प्रलये (= प्रलयकाले) यः सागरः (= जलनिधिः) तस्य यत् जलम् (= वारि) तस्य ये कल्लोलाः (= ऊर्मयः) तेषां यः संघातः (= समुदायः) तम्, इव । अदृष्टपर्यन्तम्—अदृष्टाः (= अनवलोकिताः) पर्यन्ताः (= प्रान्तदेशाः) यस्य तत् तादृशम्, अश्वसैन्यम् = तुरगारूढसैनिकसमूहम्, अपश्यत् = व्यलोकयत् ।

तच्चेति । चन्द्रोदयेन = निशाकरोद्गमेन, सागरजलम् = वारिधिपानीयम्, इव, चन्द्रापीडनिर्गमेन = चन्द्रापीडस्य निष्क्रमणेन, च, तत् = पूर्वोक्तम्, सकलम् = समस्तम्, एव, अश्वीयम् = अश्वसैन्यसमूहः, सञ्चचाल = समचलत् । अश्वानां समूहः—इत्यर्थे "केशाश्वानां यच्छावन्यतरस्याम्" इति छप्रत्ययेऽश्वीयम् । एवञ्च तेन चन्द्रापीडः परिवेष्टितोऽभूदिति भावः । साम्यप्रतिपादनादुपमा ।

अहमहमिकयेति । अहमहमिकया = अहं पूर्वम्, अहं पूर्वमित्यहङ्कारोऽहमहमिका = स्पर्धा, तया तादृश्या । ['अहमहमिका तु सा स्याद् परस्परं यो भवत्यहङ्कारः । इत्यमरः २।८।१०१] च, प्रणामलालसाः—प्रणामे (= प्रणतौ, अभिवादने) लालसाः (= इच्छुकाः) । सरभसेत्यादिः—

शोभा बढ़ा रही थी ।] जो ऊपर उठाये गये दण्डों वाले मयूर-पंखों से निर्मित हजारों छतरियों द्वारा आठो दिशाओं के मुखों को अन्धेरे से युक्त कर देने के कारण चमकते हुए हजारों इन्द्रधनुषों के समूह से रंग-बिरंगे (चित्रवर्ण वाले) बादलों के समूह के समान [लग रही] थी, जो (अश्व-सेना) निकलते हुए फेन-समूह के कारण और निरन्तर उछलते कूदते रहने से चञ्चल होने के कारण ऐसी लग रही थी मानों प्रलयकालीन समुद्र के जल की बड़ी-बड़ी तरंगों का समूह प्रादुर्भूत हो गया हो, उमड़ कर आ गया हो, जिस का अन्तिम छोर दिखाई नहीं पड़ रहा था । [ऐसी अश्वसेना देखी ।] और वह सम्पूर्ण अश्वसेना चन्द्रापीड के बाहर निकलने के साथ ही वैसे ही चञ्चल हो उठी जैसे चन्द्रमा के उदय के साथ-साथ समुद्र का जल [क्षुब्ध हो जाता है] । और 'पहले मैं, पहले मैं' इस प्रकार की स्पर्धा से युक्त प्रणाम करने की लालसा वाले, शीघ्रतापूर्वक हटाई गई छतरियों से खुले हुए सिर वाले,

१. कल्माषितम् । २. पूर्वं तम् । ३. अप्रमेयमश्वसैन्यम्, अश्वीयं सैन्यम् । ४. चन्द्रोदयेन ।

यस्ताः[1] राजपुत्रास्तं पर्य्यवारयन्त। एकैकशश्च प्रतिनाम-ग्राह्[2]मावेद्यमाना बलाहकेन विचलित-मुकुट-पद्मराग-किरणोद्गमच्छलेनानुरागमिवोद्वमद्भिः सङ्घटित[3]-सेवाऽञ्जलिमुकुलतया यौव-राज्याभिषेक-कलसावर्जित-सलिल-लग्न-कमलैरिव दूरावनतैः शिरोभिः प्रणेमुः।

चन्द्रापीडस्तु तान् सर्वान् मानयित्वा[4] यथोचितमनन्तरं तुरङ्गमाधिरूढेनानुगम्य-

सरभसम् (= सवेगम्) अपनीतानि (= दूरीकृतानि) यानि आतपत्राणि (= छत्राणि) तैः शून्यानि (= विरहितानि) शिरांसि (= मस्तकाः) येषां ते तादृशाः। परस्परेत्यादिः—परस्परम् (= अन्योन्यम्) यद् उत्पीडनम् (= सङ्घर्षः) तेन कुपिताः (= कोपमुपगताः, अनियन्त्रिताः) ये तुरङ्गमाः (= अश्वाः) तेषां निवारणे (= निषेधने) आयस्ताः (= व्यापृताः) तादृशाः, राजपुत्राः = राजकुमाराः, तम् = चन्द्रापीडम्, पर्यवारयन्त = परिवेष्टितमकुर्वन्।

एकैकश इति। बलाहकेन = एतन्नाम्ना सेनापतिना, प्रतिनामग्राहम् = प्रत्येकनामग्रहण-पूर्वकम्, एकैकशः = एकम् एकम्, आवेद्यमानाः = निवेद्यमानाः 'अयममुकदेशस्य अमुकनामा राजकुमारः, अयञ्चामुकदेशस्य राजकुमारः—इत्येवं रूपेण पृथक्-पृथक् निर्दिश्यमानाः। विचलितेति। विचलितेत्यादिः—विचलिताः (= कम्पिताः) ये मुकुटाः (= किरीटाः) तेषां ये परागाः (= मरकतमणयः) तेषां किरणानाम् (= रश्मीनाम्) य उद्गमः (= प्रादुर्भावः) तस्य च्छलेन (= व्याजेन) अनुरागम् = चन्द्रापीडं प्रति अनुरक्तताम्, पक्षे—रक्तताम्, उद्वमद्भिः = उद्गिरद्भिः। सघटितेत्यादिः—संघटिताः (= मस्तकदेशे संयोजिताः) ये सेवाञ्जलयः (= परिचर्यायाः हस्तसम्पुटाः) ते एव मुकुलाः (= कुड्मलाः) तेषां भावस्तत्ता तया। यौवराज्येत्यादिः—यौवराज्ये (= युवराजकर्मणि) य अभिषेकः (= विधिपूर्वकं स्नानादिः) तदर्थं ये कलसाः (= कुम्भाः) तैः आवर्जितम् (= पातितम्, गृहीतं वा) यद् सलिलम् (= पानीयम्) तत्र लग्नानि (= संसक्तानि) यानि कमलानि (= पद्मानि) तैः, इव, दूरावनतैः—दूरतः (= विप्रकृष्टाद्) अवनतैः (= नम्रीभूतैः) शिरोभिः = उत्तमाङ्गैः, प्रणेमुः = प्रणतिं चक्रुः। अत्रोत्प्रेक्षोपमाद्यलङ्काराणां साङ्कर्यात् सङ्करोलंकारः।

चन्द्रापीड इति। चन्द्रापीडः = एतन्नामा राजकुमारः, तु, तान् = पूर्वनिर्दिष्टान्, सर्वान् = सकलान्, राजकुमारानित्यर्थः, यथोचितम् = यथायोग्यम्, मानयित्वा = सम्मानं प्रदाय; तेषां प्रत्यभिवा-दनादिकं विधायेति भावः। ["नगराभिमुखं प्रतस्थे" इति वक्ष्यमाणेनान्वयो बोध्यः।] अनन्तरम् =

[छतरियों की छाया से रहित सिर वाले), आपस में टकराहट के कारण क्रुद्ध हो गये [अपने-अपने] घोड़ों को रोकने लिये प्रयास करने वाले अर्थात् नियन्त्रित करने में व्यस्त राजकुमारों ने उस चन्द्रापीड को चारों ओर से घेर लिया और बलाहक (सेनापति) द्वारा एक एक का नाम ले लेकर परिचय दिलाये जाते हुए उन राजकुमारों ने दूर से ही नीचे किये गये शिरों से प्रणाम किया, जो (शिर) गिरे या हटे हुए मुकुटों की पद्मराग मणियों की किरणों के निकलने के बहाने से मानों [चन्द्रापीड के प्रति] अनुराग प्रकट कर रहे थे और जो (शिर) ऊपर रखी गईं, बाँधी गईं सेवा-ञ्जलिरूपी कलियों से ऐसे लग रहे थे मानों उसके यौवराज्य (युवराज पद) के अभिषेक के समय कलसों से गिरते हुए जल में कमल निकल आये हों, या जल में कमल लगे हुए हों। [शिर कलस के रूप में तथा उन पर रखी कराञ्जलि कमलों के रूप में प्रतीत हो रहीं थीं। ऐसे शिरों को दूर से ही झुका कर सभी राजकुमारों ने चन्द्रापीड को प्रणाम किया।]

उन सभी (राजकुमारों) का यथोचित सम्मान करके, घोड़े पर सवार हुए वैशम्पायन द्वारा

१. निवारणायासितहस्ताः, निवारणायासिताः। २. प्रतिनामग्रहणम्। ३. सङ्घट्टित। ४. संमानयित्वा।

मानो वैशम्पायनेन, राजलक्ष्मी-निवास-पुण्डरीकाकृतिना,[1] सकल-राजन्यकुल-कुमुद-षण्डचन्द्र-मण्डलेनेव, तुरङ्गम-सेना-स्रवन्ती-पुलिनायमानेन, क्षीरोद-फेन-धवलित-वासुकि-फणामण्डल-च्छविना, स्थूलमुक्ता-कलापजालकावृतेनोपरिचिह्नीकृतं[2] केसरिणमुद्वहताऽतिमहता कार्त्त-स्वरदण्डेन[3] ध्रियमाणेनातपत्रेण निवारितातपः, उभयतः समुद्धूयमान-चामर-कलाप-पवन-

पश्चाद्भागेनैव, तुरङ्गमाधिरूढेन = अश्वसमारूढेन, वैशम्पायनेन = शुकनाससुतेन, स्वसहपाठिना, अनुगम्यमानः = अनुस्रियमाणः।

साम्प्रतमातपत्र-विशेषणद्वारा वैशिष्ट्यं प्रतिपादयति–राजलक्ष्मीति। राजलक्ष्मीत्यादिः–राजलक्ष्मीः (= राजश्रीः) तस्या निवासार्थम् (= निवासयोग्यम्) यत् पुण्डरीकम् (= श्वेतकमलम्) तस्य आकृतिः (= आकारः) इव आकृतिः यस्य तेन तादृशेन। [इमानि तृतीयान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'आतपत्रेण' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्।]

सकलेति। सकलेत्यादिः—सकलानि (=अखिलानि) यानि राजन्यकुलानि (=क्षत्रियमण्डलानि) तान्येव कुमुदषण्डानि (= कैरववृन्दानि) तेषां चन्द्रमण्डलेन (= शशिबिम्बेन), इव। चन्द्रमण्डलावलोकनेन कुमुदानामिव तच्छत्रावलोकनेन राजपुत्राणां प्रमोदेन मुखविकासोऽभवदिति भावः। तुरङ्गमेत्यादिः—तुरङ्गमसेना (= अश्वसैन्यम्) एव स्रवन्ती (= तटिनी, नदी) तस्याः पुलिनायमानेन (= सैकतायमानेन)। अतिदूरप्रसृतत्वात् धारारूपेण चलनाच्च तुरङ्गमसेनायाः नदीत्वं बोध्यम्। सैकतवद्धवलत्वात् प्रसृतत्वाच्च छत्राणां पुलिनत्वं बोध्यम्। क्षीरोदेत्यादिः—क्षीरोदः (= सागरः) तस्य यः फेनः (= डिण्डीरः) तेन धवलितः (= शुभ्रीकृतः) यो वासुकिः (= शेषनागः) तस्य यत् फणामण्डलम् (=फणासमूहः) तस्य छविरिव छविः (= कान्तिः) यस्य स तेन। स्थूलेत्यादिः—स्थूलमुक्तानाम् (= विशालमौक्तिकानाम्) कलापः (= समूहः) एव जालकम् (= माला) तेन आवृतेन (= आच्छादितेन)। उपरि = ऊर्ध्वम्, चिह्नीकृतम् = लाञ्छनीकृतम्, केसरिणम् = सिंहम्, उद्वहता = धारयता, अतिमहता = अतिमहीयसा, कार्त्तस्वरदण्डेन = सौवर्णदण्डेन, ध्रियमाणेन = धार्यमाणेन, केनचिद्भृत्यादिनेति शेषः, आतपत्रेण = छत्रेण, निवारितातपः—निवारितः (= दूरीकृतः) आतपः (= सूर्यकिरणजन्यसन्तापः, घर्मः) यस्य स तादृशः, चन्द्रापीडः। उभयतः = उभयपार्श्वयोः, समुद्धूयमानेत्यादिः—समुद्धूयमानः (= संवीज्यमानः) यः चामरकलापः (= प्रकीर्णकसमूहः, चामरबाल-व्यजनसमूहः) तस्य पवनेन (= वायुना, तदुत्थपवनेनेत्यर्थः) नर्तितौ (= सञ्चालितौ)

अनुगमन किये जाते हुए चन्द्रापीड ने नगर की ओर प्रस्थान कर दिया, जिस (चन्द्रापीड) की [शिर पर लगने वाली] धूप को ऐसे छातों (छत्रों) द्वारा रोका जा रहा था जो (छाते) राजलक्ष्मी के निवास-स्थल श्वेत कमल की आकृति के समान थे, समस्त राजाओं (क्षत्रियों) के वंशरूपी कुमुदवन के लिये चन्द्रमण्डल के समान थे, घोड़ों की सेनारूपी नदी के पुलिन (किनारों) के समान लग रहे थे, क्षीर-समुद्र के फेने से सफेद किये गये वासुकि (शेषनाग) के फणामण्डल की शोभा के सदृश शोभावाले थे, बड़े-बड़े मोतियों की माला के गुच्छों से ढँके हुए थे, ऊपर चिह्न रूप में बनाये गये सिंह को धारण किये हुए थे, बहुत बड़े (लम्बे-लम्बे) सोने के दण्डों से पकड़े (धारण किये) गये थे। [ऐसे छातों से उसकी धूप रोकी जा रही थी], जिस (चन्द्रापीड) के दोनों ओर हिलाये (डुलाये) जाते हुए चाँवरों

---

१. ···निवासयोग्यपुण्डरीकाकृतिना। २. मुक्ताफलकलाप···परिवृतेन। ३. कार्तस्वरेण दण्डेन।

नर्त्तित-कर्णपल्लवः, पुरःप्रधावता तरुण-वीर-पुरुष-प्रायेणाऽनेक-सहस्र-संख्येन पदातिपरिजनेन, 'जय जीवे'ति च मधुरवचसा मङ्गलप्रायमनवरतमुच्चैः पठता बन्दिजनेन स्तूयमानो नगराभिमुखं प्रतस्थे।

चन्द्रापीडप्रवेशे पुरजनमनोभावाः

क्रमेण च तं समासादित-विग्रहमनङ्गमिवावतीर्णं नगरमार्गमनुप्राप्तमवलोक्य सर्व एव परित्यक्तसकलव्यापारो रजनिकरोदय-परिबुध्यमान-कुमुदवनानुकारी जनः समजनि। 'सत्य-

कर्णपल्लवौ (= श्रोत्रकिसलये) यस्य स तादृशः। पुरः = अग्रे, प्रधावता = सत्वरं गच्छता, तरुणेत्यादिः—तरुणाः (= युवानः) ये वीरपुरुषाः (= शूरजनाः) ते प्रायः (= बाहुल्येन, अधिका इत्यर्थः) यस्मिन् तेन तादृशेन। अनेकेति—अनेकानि (= बहूनि) सहस्राणि (= दश-शत्यः) तेषां संख्या यस्मिन् तेन तादृशेन, पदातिपरिजनेन = पत्तिसेवकलोकेन, आवृत इति शेषः। मधुरवचसा = मिष्टवाक्येन, अनवरतम् = निरन्तरम्, जय = सर्वान् पराजित्य विजयी भव, जीव = चिरं प्राणान् धारय, इति = एवम्, मङ्गलप्रायम् = कल्याणबहुलम् उच्चैः = तारस्वरेण, पठता = उच्चारयता, वन्दिजनेन = स्तुतिपाठकपुरुषेण, स्तूयमानः = स्तुतिविषयीक्रियमाणः, सन्, नगराभिमुखम् = स्वराजधान्यभिमुखम् प्रतस्थे = प्रस्थानं चकार। प्र-योगे 'समवप्रविभ्यः स्थः' (१ ३।२२) इति सूत्रेण स्थाधातोरात्मनेपदं बोध्यम्।

चन्द्रापीडे पुरे प्रविशति सति तत्र किमद्भुतमभूदिति वर्णयति—क्रमेणेति। क्रमेण = परिपाट्या, च, समासादित-विग्रहम्—समासादितः (= गृहीतः, पुनर्धृतः) विग्रहः (= शरीरम्) येन तं तादृशम् अनङ्गम् = कामदेवम्, इव, अवतीर्णम् = गृहीतावतारम्, नगरमार्गम् = राजपथम्, अनुप्राप्तम् = सम्प्राप्तम्, तम् = चन्द्रापीडम्, अवलोक्य = दृष्ट्वा, सर्वः = सकलः, एव, जनः = लोकः, परित्यक्त त्यादिः—परि-त्यक्तः (= दूरीकृतः) सकलः (= समग्रः) व्यापारः (= व्यापृतिः, कार्यादिः) येन सः। रजनीत्यादिः—रजनिकरस्य (= चन्द्रस्य) उदयेन (= उद्गमेन) परिबुध्यमानम् (= विकासं प्राप्यमाणम्) यत् कुमुदवनम् = कैरवकाननम्, तदनुकरोति (= विडम्बयति), तच्छीलः तत्सदृश इति भावः, सम-जनि = अभूत्। अत्रोपमोत्प्रेक्षयोः सङ्करः।

के समूह की हवा से कर्णपल्लव नचाये (कँपाये) जा रहे थे, और आगे दौड़ते हुए नवयुवकों और वीरों की बहुलता वाले, कई हजारों की संख्या वाले पैदल लोगों द्वारा तथा 'जय हो, जीवित रहो'—इस प्रकार के मधुर वचनों से ऊँचे स्वर से लगातार मंगलबहुल पाठ करते हुए बन्दी लोगों द्वारा जिसकी स्तुति की जा रही थी [ऐसा चन्द्रापीड नगर की ओर चल दिया]।

चन्द्रापीड के प्रवेशकाल में पुरवासियों के मनोभाव

क्रम से नगर-मार्ग पर पहुँचे हुए उस चन्द्रापीड को [पुनः] शरीर प्राप्त किये हुए [पृथ्वी-तल पर] अवतार ग्रहण किये हुए कामदेव के समान समझ कर सभी लोग अपने समस्त कार्यों को छोड़ कर चन्द्रमा के उदित होने से विकसित हुए कुमुदवन के समान हो गये। [जिस प्रकार चन्द्रोदय के समय कुमुदों का समूह खिल जाता है वैसे ही राजमार्ग पर आये हुए उस चन्द्रापीड को देखकर सभी लोग अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने सारे कामकाज भूल गये।] "इस राजकुमार के होते हुए

१. ... वीरप्रायेण। २. मङ्गलप्रायालापम्। ३. नराभिमुखं। ४. पुण्यकुमुद...।

स्मिन्[1] मुख-कुमुद-कदम्बक-विकृताकृतिः[2] कार्त्तिकेयो विडम्बयति कुमारशब्दम्। अहो! वयमतिपुण्यभाजो यदमानुषीमस्याकृतिमन्तःसमारूढ-प्रीतिरस-निःस्यन्दविस्तारितेन[3][4] कुतूहलोत्तानितेन लोचनयुगलेनानिवारिताः पश्यामः। सफला नोऽद्य जाता जन्मवत्ता। सर्वथा नमोऽस्मै रूपान्तरधारिणे भगवते चन्द्रापीडच्छद्मने पण्डरीकेक्षणाय' इति वदन्नारचितप्रणालाञ्जलि-[5]

पुरजनानां प्रतिक्रियां प्रस्तौति—सतीति। अस्मिन्=अमुष्मिन् चन्द्रापीडे, सति = विद्यमाने, मुखेत्यादिः—मुखानि (=आस्यानि) एव कुमुदानि (=कैरवाणि), यद्वा मुखानि (=षडाननानि) कुमुदानि इव, तेषां यत् कदम्बकम् (=समूहः) तेन विकृता (=बीभत्सा, उद्वेजिका) आकृतिः (=आकारः) यस्य स तादृशः, कार्त्तिकेयः (= गुहः, षण्मुखः), कुमारशब्दम् (= कुमारपदम्), विडम्बयति (=नाममात्रं धत्ते) अन्वर्थं न करोतीति भावः। अयन्तु कौ (=पृथिव्याम्) मारः (=कामदेवः) इत्यन्वर्थतां दर्शयन् साफल्यं तनोतीति भावः। अहो! = इदमाश्चर्ये, वयम्—नगरीवासिनः, अतिपुण्यभाजः=अतिशयसुकृतवन्तः, यत्, अमानुषीम् = अमानवीम्, दैवीमित्यर्थः, अस्य=चन्द्रापीडस्य, आकृतिम्=आकारम्, रूपम्, अन्तरित्यादिः—अन्तः (=स्वान्ते) समारूढः (=समुत्पन्नः) यः प्रीतिरसः (= प्रसादरसः, स्नेहरसः) तस्य निःस्यन्दः (= क्षरणम्, प्रवाहः) तेन विस्तारितेन (= विस्तीर्णीकृतेन) कुतूहलोत्तानितेन—कुतूहलेन (= कौतुकेन) उत्तानितेन (= ऊर्ध्वंमुखेन) लोचनयुगलेन (=नेत्रयुग्मेन) अनिवारिताः (=अप्रतिषिद्धाः), सन्तः,पश्यामः=विलोकयामः। अद्य= अस्मिन् दिने, नः=अस्माकम्, जन्मवत्ता=उत्पत्तिमत्ता, सफला=फलवती, जाता=भूता। चन्द्रापीडछद्मने=चन्द्रापीडच्छलाय, रूपान्तरधारिणे अन्यरूपधारकाय, भगवते = ऐश्वर्यवते, अस्मै=अमुष्मै, पुण्डरीकेक्षणाय=कमलनेत्राय विष्णवे, सर्वथा=सर्वप्रकारेण, नमः=प्रणतिः, अस्तु इति =पूर्वोक्तम्, वदन्=कथयन्, आरचितप्रणामाञ्जलिः—आरचितः (= विनिर्मितः) प्रणामाय (=नमस्काराय) अञ्जलिः, (= करसम्पुटः) येन सः, तादृशः, नगरलोकः = पुरवासि-प्रजाजनः, प्रणनाम=प्रणतिं चकार। तं चन्द्रापीडं साक्षाद् विष्णुं मत्वा श्रद्धया नमश्चकारेत्यर्थः।

मुखरूपी कुमुदों के समूह से विकृत आकार वाले कार्तिकेय जी 'कुमार' शब्द की विडम्बना (उपहास) करते हैं। [कु=पृथ्वी, उस पर मार=कामदेव के समान अथवा 'कु=कुत्सित है, दीन है मार= कामदेव जिससे—ऐसा यह इसमें अन्वर्थ है। इसके विपरीत छः मुखों वाले भयङ्कर कार्तिकेय के लिये 'कुमार' शब्द का प्रयोग तर्कसंगत नहीं है।] अहा! हमलोग तो अत्यन्त पुण्यशाली हैं जो कि इसकी अमानुषी (अलौकिक) आकृति को अपने भीतर ही भीतर उत्पन्न हुए (उमड़ते हुए) प्रेम रस के प्रवाह के कारण फैलाई हुई तथा कौतुक के कारण ऊपर उठाई गई दोनों आँखों से बिना किसी रोक-टोक के (निर्बाध रूप से) देख रहे हैं। आज हम लोगों का जन्मयुक्त होना (जन्मग्रहण करना) सफल हो गया है। दूसरे रूप को धारण किये हुए, चन्द्रापीड के बहाने से अर्थात् उसके छद्मवेश में वर्तमान भगवान् पुण्डरीकेक्षण (= कमललोचन) इन विष्णु को हर प्रकार से पूर्णतः नमस्कार है—इस प्रकार से कहते हुए प्रणामाञ्जलि बनाये हुए नगरवासियों ने प्रणाम किया और सभी ओर से खुल गये किवाड़ों से हजारों खिड़कियों के प्रकट हो जाने से मानों वह नगर भी

---

१. कुत्रचित् इतोऽग्रे 'सम्प्रति' इत्यधिकम्। २. मुखकलापविडम्बनः, मुखकमल...। ३. यदिमाममानुषीम्, यत इमा...। ४. ...निष्पन्द...। ५. प्रणामाञ्जलि।

नगरलोकः प्रणनाम। सर्वतश्च समुपावृत्त-कपाट-पुट-प्रकट-वातायनसहस्रतया चन्द्रापीड-दर्शन-कूतूहलान्नगरमपि समुन्मीलित-लोचन-निवहमिवाभवत्।

चन्द्रापीडप्रवेशे पुरनारीणां भावाः

अनन्तरञ्च 'समाप्तसकलविद्यो विद्यागृहान्निर्गतोऽयं चन्द्रापीडः' इति समाकर्ण्यालोकनकुतूहलिन्यः सर्वस्मिन्नेव नगरे ससम्भ्रममुत्सृष्टार्द्धपरिसमाप्तप्रसाधनव्यापाराः काश्चिद्वाम-करतल-गत-दर्पणाः स्फुरित-सकल-रजनिकर-मण्डला इव पौर्णमासीरजन्यः, काश्चि-

सर्वतश्चेति। च शब्दः किञ्चेत्यर्थे। सर्वतः=सर्वासु दिशासु, समुपावृत्तेत्यादिः—समुपावृत्तम् (=समुद्घाटितम्) कपाटपुटम् (=अरवरसम्पुटम्) यस्मिन् तादृशं प्रकटम् (=प्रकाशितम् स्पष्टम्) यत् वातायनसहस्रम् (=गवाक्षसहस्रम्) तस्य भावस्तत्ता तया, हेतुना। चन्द्रापीडदर्शन-कुतूहलात्=चन्द्रापीडावलोकनौत्सुक्यात्, नगरम्=पुरम्,अपि, समुन्मीलितलोचननिवहम्—समुन्मीलितः (=विकासितः) लोचननिवहः (=नेत्रसमूहः) यस्य येन वा तत् तादृशम्, इव, अभवत्=अजायत। वातायनानामुद्घाटनेन नगरलोचनानामुद्घाटनत्वं बोध्यम्। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अनन्तरमिति। अनन्तरम्=चन्द्रापीडदर्शनोत्कण्ठया गवाक्षकपाटोद्घाटनानन्तरम्, च। समाप्तेत्यादिः—समाप्ता (=सम्यग्गृहीता) सकला (=निखिला) विद्याः (=विविधशास्त्राणि) येन स तादृशः। अयम्=एषः, चन्द्रापीडः=राजकुमारः, विद्यागृहात्=विद्यामन्दिरात्, निर्गतः=निःसृतः, इति = एवम्, समाकर्ण्य = श्रुत्वा, आलोकन-कूतूहलिन्यः—आलोकने (= दर्शने) कुतूहलम् (=औत्कण्ठ्यम्) यासां ताः तादृश्यः। [इमानि प्रथमान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'ललना' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्।] सर्वस्मिन् = समस्ते, एव, नगरे=पुरे, राजधान्याम्, ससम्भ्रमम्=शीघ्रतरम्, सद्य एवेति भावः। उत्सृष्टेत्यादिः—उत्सृष्टः (=परित्यक्तः) अर्धपरिसमाप्तः (=अर्धविहितः) प्रसाधनव्यापारः (=अलङ्करणरूपकर्म) याभिः ताः तादृश्यः। काश्चित्=ललनाः, वामेत्यादिः—वामे (=सव्ये) करतले (=पाणितले) गतः, (स्थितः, गृहीतः) दर्पणः (=आदर्शः) याभिः यासां वा ताः तादृश्यः। अत एव, स्फुरितेत्यादिः—स्फुरितम् (=समुदितम्) सकलम्(=निखिलम्) रजनिकरमण्डलम् (= चन्द्रविम्वम्) यासु ताः तादृश्यः, पौर्णमासीरजन्यः = पूर्णिमारात्र्यः, इव।

चन्द्रापीड के दर्शनों की उत्सुकता से खुली हुईं आँखों के समूह से युक्त सा हो गया। [सभी ओर खिड़कियों के दरवाजे तथा झरोखे खुल जाने से ऐसा लगने लगा मानों उस नगर ने भी चन्द्रापीड को देखने के लिये अपनी आँखें खोल लीं हों।]

चन्द्रापीड के प्रवेश में नगर की स्त्रियों के विविध भाव

इसके बाद 'समस्त विद्याओं को पढ़कर यह चन्द्रापीड विद्यागृह से बाहर निकल आया है'—ऐसा सुनकर उसे देखने की उत्सुक स्त्रियाँ, सम्पूर्ण नगर में घबड़ाहट से या शीघ्रता के कारण अपने शरीर के प्रसाधन (साज सज्जा) को बीच में आधा ही छोड़कर अपने-अपने घरों की छतों पर चढ़ गईं, जिनमें से—कुछ स्त्रियाँ बायें हाथों में शीशे पकड़े हुए थीं इसलिए चमकते हुए चन्द्रमण्डल वाली

१. समुपवृत्त, समपावृत्त…।　　२. …पुट…इदं नापि विद्यते।
३. अयमागच्छति।　　४. सर्वस्मिन्नगरे।

दार्द्रालक्तक-रस-पाटलित-चरणपुटाः कमल-परिपीत-बालातपा इव नलिन्यः, काश्चित् ससम्भ्रम-गति-विगलित-मेखला-कलापाकुलित-चरण-किसलयाः शृङ्खला-सन्दान-मन्द-मन्दसञ्चारिण्य इव करिण्यः, काश्चिज्जलधर-समय-दिवसश्रिय इवेन्द्रायुध-राग-रुचिराम्बरधारिण्यः, काश्चि-दुल्लसित-धवल-नखमयूख-पल्लवान् नूपुररवाकृष्ट-गृहकलहंसकानिव चरणपुटानुद्वहन्त्यः, काश्चित्

निर्मलत्वाद् वर्तुलत्वाच्च दर्पणस्य चन्द्रसाम्यम्। तेनोपमालङ्कारः।

काश्चिदिति। काश्चित्=काश्चन ललनाः, आर्द्रेत्यादिः—आर्द्रः (=द्रवीभूतः) य आलक्तकरसः (=लाक्षाद्रवः, यावकरसः) तेन पाटलितानि (=श्वेतरक्तीकृतानि) चरणपुटानि (=पादपुटानि) याभिः यासां वा ताः तादृश्यः, अत एव, कमलेत्यादिः—कमलैः (=पङ्कजैः, करणभूतैः) परिपीतः (=सम्यग् गृहीतः, आस्वादितः) बालातपः (=नवोदित-सूर्य-प्रकाशः) याभिस्तास्तादृश्यः, नलिन्यः=कमलिन्यः, इव। अत्रालक्तरसस्य बालातपेन चरणपुटानाञ्च कमलेन साम्यं बोध्यम्। अत्राप्युपमा।

काश्चिदिति। काश्चित्=काश्चन ललनाः, ससंभ्रमेत्यादिः—ससंभ्रमा (=सत्वरा) या गतिः (=धावनम्) यद्वा—ससंभ्रमेण=सत्वरेण या गतिः, तया विगलितः (=कटिदेशात् स्रस्तः) यः मेखलाकलापः (=काञ्चीदाम) तेन आकुलितानि (=व्याकुलीभूतानि, निगडितानि) चरणकिसलयानि (= पादपल्लवाः) यासां ताः तादृश्यः, अत एव शृङ्खलेत्यादिः—शृङ्खला (=प्रसिद्धा, निगडम्) तया यत् सन्दानम् (=पादयोः बन्धनम्) तेन मन्द-मन्द-सञ्चारिण्यः (=अतिशयमन्थर-गमनशीलाः) करिण्यः = हस्तिन्यः, इव। अत्र गमनप्रतिबन्धकत्वे साम्यान्मेखलायाः शृङ्खलोपमानम्। तेनोपमा।

काश्चिदिति। काश्चित्=अपराः काश्चन ललनाः, जलधरेत्यादिः—जलधरसमयः (=वर्षर्तुः), तस्य यो दिवसः (=दिनम्) तस्य याः श्रियः (=शोभाः), ता इव, इन्द्रायुधेत्यादिः—इन्द्रायुधम्=(=इन्द्रधनुः) तस्य रागः (= वर्णः) तेन रुचिरम् (= मनोहरम्) अम्बरम् (=गगनम्) धारयन्ति इति तादृश्यः, पक्षे इन्द्रायुधरागतुल्यानि अम्बराणि=वस्त्राणि धारयन्तीति तच्छीलाः। अत्रोपमा।

काश्चिदिति। काश्चित्=काश्चन स्त्रियः, उल्लसितेत्यादिः—उल्लसिताः (=उल्लासं प्राप्ताः, स्फुरिताः) धवलाः (=शुभ्राः) नखमयूखाः (=पुनर्भूरश्मयः) एव पल्लवाः (=किसलयानि) येषु तान्, अत एव, नूपुरेत्यादिः—नूपुररवेण (=पादकटकध्वनिना) आकृष्टाः (=आवर्जिताः) ये गृहकलहंसकाः (=सदनकादम्बाः) तान्, इव, चरणपुटान्=पादपुटान्, चरणयुगलान्, उद्वहन्त्यः=धारयन्त्यः। अत्र नोपमा अपि तु जात्युत्प्रेक्षैवेति तत्त्वविदः।

पौर्णमासी की रातों जैसी [लग रहीं] थीं, कुछ स्त्रियाँ गीले आलता (महावर) के रस से लाल पैरों (पादपुटों) वालीं थीं इसलिये कमलों द्वारा पी गई प्रातःकालीन धूप वाली नलिनियों सी [लग रहीं] थीं, कुछ स्त्रियाँ घबड़ाहट में या शीघ्रता से चलने (भागने) के कारण नीचे खिसकी हुई मेखला-समूह(करधनी) से आकुलित (बँधे हुए) पैररूपी पल्लवों वालीं थीं अतः शृङ्खला (जंजीर)के बन्धन के कारण धीरे-धीरे चलने वाली हथिनियाँ सी [लग रहीं] थीं, कुछ स्त्रियाँ इन्द्रधनुष के समान रंग-बिरंगे सुन्दर वस्त्रों को धारण किये हुए थीं अतः वर्षा ऋतु के समय में दिनों की शोभा सी [लग रहीं] थीं जो कि इन्द्रधनुष के रंगों से मनोहर आकाशको धारण करनेवाली होती है; [अम्बर १=वस्त्र, २—आकाश] कुछ स्त्रियाँ उज्ज्वल और श्वेत नाखूनों के किरणरूपी पल्लवों वाले चरण पुटों को धारण किये हुइ थीं अतः नूपुरों की आवाज से आकर्षित घरेलू कलहंसों को अपने साथ खीचें लिये जाती हुईं सी [लग रहीं]

करतल-स्थित-स्थूलाहार-यष्टयो[1] रतिमिव मदनविनाशशोक-गृहीत-स्फटिकाक्षवलयां विडम्बयन्त्यः, काश्चित् पयोधरान्तरालगलितमुक्तालतास्तनुविमलस्रोतोजलान्तरित[2]-चक्रवाकमिथुना इव प्रदोषश्रियः, काश्चिन्नूपुरमणिसमुत्थितेन्द्रायुधतया परिचयानुगत[3]गृहमयूरिका इव विराजन्त्यः[4], काश्चिदर्द्ध[5]पीतोज्झित-मणिचषकाः स्फुरितरागैर्मधुरसमिवाधरपल्लवैः क्षरन्त्यो हर्म्यत-

काश्चिदिति। काश्चित् = काश्चन स्त्रियः, करतलेत्यादिः—करतले (=हस्ततले) स्थिताः (=विद्यमानाः) स्थूलाः (=विशालाः) हारयष्टयः (=मुक्तामालाः) यासां ताः, अत एव मदनेत्यादिः—मदनः (=कामदेवः) तस्य यो विनाशः (=शिवनेत्राग्निना दाहः) तेन हेतुना यः शोकः (=कष्टातिशयः) तेन गृहीतम् (=धृतम्) स्फटिकाक्षवलयम् (=स्फटिकमणिमय-जपमाल्यम्) यया सा तां तादृशीम्, रतिम् = कामपत्नीम्, विडम्बयन्त्यः=अनुकुर्वन्त्यः, निराकुर्वन्त्यः इव। अत्रोत्प्रेक्षा।

काश्चिदिति। काश्चित् = काश्चन स्त्रियः, पयोधरेत्यादिः—पयोधरयोः (=स्तनयोः) अन्तराले (=मध्ये) गलिता (= शीघ्रगमनत्वेनैकत्रीभूता, स्रस्ता) मुक्तालता (=मौक्तिकमाला) यासां तास्तादृश्यः अत एव, तन्वित्यादिः—तनु (=स्वल्पम्) विमलम् (= निर्मलम्) स्रोतोजलम् (=प्रवाहसलिलम्) तेन अन्तरितानि (= व्यवहितानि) चक्रवाकमिथुनानि (=रथाङ्गाह्वयुग्मानि) यासु ताः, तादृश्यः, प्रदोषश्रियः—प्रदोषः (=रजनीमुखम्) तस्य श्रियः (=शोभाः), इव। रात्रौ चक्रवाकमिथुनानां वियोगः साधारणजनप्रसिद्धः। अत्र चक्रवाकमिथुनेन पयोधरद्वयस्य, विमलस्रोतोजलेन मुक्तालतानां प्रदोषश्रीभिश्च ललनानां साम्यप्रतिपादनादुपमालङ्कारः।

काश्चिदिति। काश्चित् = काश्चन स्त्रियः, नूपुरेत्यादिः—नूपुराणाम् (=पादकटकानाम्) मणिभ्यः (=रत्नेभ्यः) समुत्थितानि (=समुत्पन्नानि, समुद्भूतानि) इन्द्रायुधानि (=शक्रचापतुल्यविविधवर्णकान्तिमण्डलानि) यासां तासां भावस्तया हेतुना। [यद्वा-समुत्थितं यद् इन्द्रधनुस्तस्य भावस्तया हेतुना। अत्र प्रथमार्थस्यैवौचित्यं प्रतीयते।] परिचयेत्यादिः—परिचयेन (=सम्बन्धेन) अनुगताः (=अनुसृताः) गृहमयूरिकाः (=सदनमयूर्यः) यासां ताः इव। अत्रोत्प्रेक्षा।

काश्चिदिति। काश्चित् = काश्चन स्त्रियः, अर्धेत्यादिः—अर्धम् (=सामि) पीतानि (=धयितानि, आस्वादितानि) पश्चाच्च उज्झितानि (=परित्यक्तानि) मणिचषकाणि (=मणिमयपानपात्राणि) याभिस्ताः। अत्र चषकाणां तत्स्थितमद्येषु लक्षणा। ["चषकोऽस्त्री पानपात्रम्" (अमरः २।१०।१४३) इत्यनुरोधेनोभयलिङ्गश्चषकशब्दः।] अतएव, स्फुरितरागैः—स्फुरितः (=प्रकटीभूतः) रागः (=रक्तिमा) येषां तैः, तादृशैः, अधरपल्लवैः = किसलयवद्दन्तच्छदैः, करणभूतैः, मधुरसम् = मद्य-

थीं, कुछ स्त्रियाँ करतलों में मोटे मोतियों की माला को पकड़े हुई थीं अतः [अपने पति] कामदेव के विनाश (मृत्यु) से उत्पन्न शोक के कारण स्फटिकाक्ष-माला को [हाथ से] लिये हुई रति (कामपत्नी) को तिरस्कृत करती हुई सी [दिखाई दे रही] थीं, कुछ स्त्रियाँ अपने स्तनों के मध्यभाग में (दोनों स्तनों के बीच में) लटकती हुई मोतियों की माला से युक्त थीं अतः पतली और उज्ज्वल जलधारा द्वारा अलग-अलग कर दिये गये चकवा चकवी की जोड़ियों से युक्त सायंकाल की शोभा सी [लग रही] थीं. कुछ स्त्रियाँ नूपुर में जटित मणियों से निकलते हुए इन्द्रधनुष (अर्थात् इन्द्रधनुष के समान रंग बिरंगी किरणों) के कारण परिचय प्राप्त होने से पीछे-पीछे आती हुई घरेलू = पालतू मोरनियों के समान शोभित हो रहीं थीं। [नूपुर की मणियों से अनेक रंग की किरणें निकल कर ऐसी प्रतीत हो रहीं थी मानों उन स्त्रियों के पीछे-पीछे रंगबिरंगी पालतू मोरनियाँ आ रहीं हों।] और कुछ स्त्रियाँ

१ ··· स्थूलमुक्ताहार···। २. लताविमल···। ३. परिचयानुगत····। ४. विराजयन्त्यः। ५. दीर्घ।

लानि, ललनाः समारुरुहुः। अन्याश्च मरकत-वातायन-विवर-विनिर्गतमुखमण्डला विकच-कमल-कोशपुटामम्बरतल-सञ्चारिणीं[1] कमलिनीमिव दर्शयन्त्यो ददृशुः।

उदपादि च सहसा सरभस-सञ्चलन-जन्मा, मधुर-सारणास्फालित[2]-वीणारव-कोलाहल-बहुलः[3], रसना-रवाहूत-सारस[4]रसितसम्भिन्नः, स्खलितचरणतल[5]-ताडित-सोपान[6]-जात-गम्भीर-

द्रवम्, क्षरन्त्यः=क्षरणं कुर्वन्त्यः, स्रवन्त्यः इव। ललनाः = अङ्गनाः, हर्म्यतलानि=प्रासादतलानि, समारुरुहुः=समारोहणं चक्रुः। चन्द्रापीडदर्शनाय स्वस्वप्रासादतलमुपजग्मुरिति भावः। अत्र क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः।

अन्याश्चेति। अन्याः=अपराः, च, स्त्रियः, मरकतेत्यादिः—मरकतस्य (=अश्मगर्भस्य) यानि वातायनानि (= गवाक्षाः) तेषां यानि विवराणि (= रन्ध्राणि) तेभ्यो विनिर्गतानि, (=विनिःसृतानि) मुखमण्डलानि (=आननवृन्दानि) यासां ताः, अत एव, विकचेत्यादिः—विकचानि (=भिन्नानि, विकसितानि) कमलकोशपुटानि (=पङ्कजकोशपुटकाकारदलानि) यस्यां तां तादृशीम्, अम्बर-तल-सञ्चारिणीम्=आकाश-तल-गामिनीम्, कमलिनीम्=पद्मिनीम् इव, दर्शयन्त्यः = प्रदर्शयन्त्यः, [आत्मानमिति शेषः।] ददृशुः=अदर्शयन् चन्द्रापीडमिति भावः। अत्र ललनाः कमलिनीस्थानीयाः, तासां मुखमण्डलानि च विकचकमलस्थानीयानीति बोध्यम्। अत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

उदपादीति। च=किञ्चेत्यर्थे। सहसा=सद्यः, ['भूषणनिनादः उदपादि' इति वाक्ययोजना बोध्या। प्रथमान्तानि पदानि भूषणनिनादस्य विशेषणानीति ध्येयम्।] सरभसेत्यादिः—सरभसम् (=सवेगम्) यत् सञ्चलनम् (= इतस्ततो गमनम्) तस्मात् जन्म (= उत्पत्तिः) यस्य सः। मधुरेत्यादिः—मधुरा (= माधुर्ययुक्ता) या सारणा (= तन्त्रीषु अङ्गुलिसञ्चालनम्) तया आस्फालिता (=ताडिता, वादितेति भावः) या वीणा (=वल्लकी) तस्या रवः (=ध्वनिः) स एव कोलाहलः (=कलकलः), यद्वा—तेन जनितः यः कोलाहलः, तेन बहुलः (= प्रचुरः, प्रवृद्धः)। यद्वा—कोलाहलः बहुलः=अधिको यस्मिन् स तादृशः। रसनेत्यादिः—रसनारवैः (=काञ्चीध्वनिभिः) आहूताः (=आकारिताः, आमन्त्रिताः) ये सारसाः (=पुष्कराह्वाः, जलचरपक्षिविशेषाः) तेषां रसितम् (=शब्दितम्) तेन सम्भिन्नः (=सम्मिश्रितः)। स्खलितेत्यादिः—स्खलिताः (=प्रभ्रष्टाः, स्खलनं प्राप्ताः) चरणाः (=पादाः) तेषां तलेन (=निम्नभागेन) ताडितम् (=आहतम्) यत् सोपानजातम् (=आरोहणसमूहः) तस्मात् तस्य वा यो गम्भीरध्वनिः (= मन्द्रशब्दः) तेन

मणिमय मदिरा के प्यालों को आधे पीकर छोड़ देने वाली, अतः चमकते हुए लाल अधरोष्ठों से मधु रस को गिराती हुई सी [लग रहीं] थीं। [ऐसी नगर की रमणियाँ अपनी-अपनी छतों पर चढ़ गईं।] और कुछ [जो किसी कारण से छत पर नहीं चढ़ सकी थें] मरकत मणि के झरोखों के छिद्रों से अपने मुखमण्डल को बाहर निकाले हुईं, जो कमलिनी खिले हुए कोश पुट वाली, आकाशतल में सञ्चरण करने वाली हो उस कमलिनी के समान अपने को दिखलाती हुईं सी [चन्द्रापीड को] देखने लगी।

और अचानक तेजी से चलने के कारण उत्पन्न, मधुर अर्थात् हल्की अङ्गुलियों से बजाई गई बीणा की ध्वनि(झंकार)के कोलाहल की अधिकता से युक्त,करधनी की झंकार से बुलाये गये (अपनी ओर

१. पुटाम्बरतल···। २. ···साधारणास्फालित···। ३. 'बहुल' पदं नापि दृश्यते क्वचित्। ४. ···गृहसारस···। ५. तल-पदं न दृश्यते कुत्रचित्। ६. ···मणिसोपान···।

ध्वनि-प्रहृष्टानामवरोधशिखण्डिनां[1] केकारवैरनुगम्यमानः, नवजलधर-रव-भय-चकित-कलहंस-[2]कोलाहलकोमलः, मकरध्वज-विजय-घोषणानुकारी,परस्पर-विघट्टनारणित-तारतर[3]हारमणीनां रमणीनां श्रोत्रहारी, हर्म्यकुक्षिषु प्रतिरव-निर्ह्लादी भूषणनिनादः।

चन्द्रापीडदर्शने नारीणां दशाः

मुहूर्त्तादिव युवतिजन-निरन्तरतया नारीमया इव प्रासादाः, सालक्तक-पद-कमल-

---

प्रहृष्टानाम् (= अतिशयानन्दितानाम्) अवरोधशिखण्डिनाम् = अन्तःपुरस्थ-मयूराणाम्, केकारवैः = केकाध्वनिभिः, अनुगम्यमानः = अनुस्रियमाणः, तेन सम्मिश्र इति भावः। नवेत्यादिः—नवानाम् (= नूतनानाम्) जलधराणाम् (= मेघानाम्) यः रवः (= ध्वनिः) तस्माद् यद् भयम् (= भीतिः) तेन चकिताः (= भीताः) ये कलहंसाः (= कादम्बाः) तेषां कोलाहलः (= कलकलः) तेन कोमलः (= मृदुलः)। मकरध्वजेत्यादिः---मकरध्वजः (= कामदेवः) तस्य या विजयघोषणा = विजयसूचकशब्दः—त्रैलोक्यं मया जितमित्याकारकोच्चारणम्) तामनुकरोति (= विडम्बयति) तच्छीलः, तत्सदृश इति भावः। परस्परेत्यादिः—परस्परम् (= अन्योन्यम्) यद् विशेषेण घट्टनम् (= संश्लेषः) तेन आरणिता (= सामन्ताद् शब्दिताः) तारतराः (= आकर-शुद्धोद्भवाः अतिविशाला वा) हारमणयः (=माल्यस्थितरत्नानि) यासां ताः तादृशीनाम्, रमणीनाम्=कामिनीनाम्, श्रोत्रहारी = कर्णप्रियः, प्रतिरवनिर्ह्लादी—प्रतिरवेण (= प्रतिध्वनिना) निर्ह्लादी (= प्रचुरीभूतः), भूषणनिनादः (= अलङ्कारोत्थध्वनिः) हर्म्यकुक्षिषु = सौधमध्येषु, उदपादि = उदपद्यत, सञ्जात इति भावः।

मुहूर्त्तादिवेति। मुहूर्त्तात् इव = मुहूर्त्तमात्रकालानन्तरम्, युवतिजनेत्यादिः—युवतिजनैः (= तरुणीलोकैः) निरन्तरतया (= निबिडतया) अतिवाहुल्येनेत्यर्थः, प्रासादाः = राजसदनानि, नारीमयाः=स्त्रीप्रचुरा, इव, ['बभूवु' रिति क्रियायामन्वयो बोध्यः क्वचित्तु 'बभूव' इति परिवर्तनीयम्।] सालक्तेत्यादिः—सालक्तानि (=सयावकानि) यानि पदकमलानि (=चरणपङ्कजानि) तेषां विन्यासैः

आकृष्ट किये गये) सारसों की ध्वनि से युक्त, [स्त्रियों के] लड़खड़ाते हुए पैरों के तलुओं के आघात से आहत (पीटी गयी) सीढ़ियों से उत्पन्न गम्भीर ध्वनि को सुनकर [मेघध्वनि समझकर] अत्यन्त प्रसन्न होते हुए अन्तःपुर के पालतू मयूरों की केकारव (आवाज) से अनुगत किया जाता हुआ, नवीन (ताजे) बादलों की गर्जना के भय से चकित कलहंसों के कोलाहल से कोमल [सुनाई देने वाला], कामदेव की [विश्व] विजय की घोषणा का अनुकरण करने वाला, उसके समान प्रतीत होने वाला, आपस में टकराने से आवाज करती हुई बड़ी-बड़ी मोतियों की मालाओं वाली रमणियों के आभूषणों की कर्णप्रिय, और महलों के मध्य भाग में होने वाली प्रतिध्वनि से युक्त तीखी ध्वनि उठने लगी। [स्त्रियों के जल्दी-जल्दी भागने के कारण उनके आभूषणों की ध्वनि भवनों के मध्य में तेजी से गूंजने लगी।]

चन्द्रापीड को देखकर स्त्रियों की दशा

मुहूर्त भर में (थोड़ी ही देर में) युवतियों द्वारा घना (खूब) भर जाने के कारण महल मानो नारीमय हो गये, [स्त्रियों से बने हुए से दिखाई देने लगे।] आलता (महावर) से युक्त

---

१. प्रहृष्टताम्। २ '''कलहंसकुल'''। ३. क्वचित्तु'' तारतर'''इत्येव पाठो दृश्यते।

विन्यासैः पल्लवमयमिव क्षितितलम्, अङ्गनाङ्गप्रभा-प्रवाहेण[1] लावण्यमयमिव नगरम्, आननमण्डलनिवहेन चन्द्रबिम्बमयमिव गगनतलम्,आतपनिवारणायोत्तानित-करतल-जालकेन[2] कमलवनमयमिव दिक्चक्रवालम्, आभरणांशु-कलापेन इन्द्रायुधमय इवातपः, लोचन-मयूख-लेखा-सन्तानेन[3] नीलोत्पलदलमय इव दिवसो वभूव। कौतुकप्रसारितनिश्चललोचनानाञ्च पश्यन्तीनां तासामादर्शमयानीव सलिलमयानीव स्फटिकमयानीव हृदयानि विवेश चन्द्रापीडाकृतिः।

(=स्थापनैः), क्षितितलम्=भूतलम्, पल्लवमयम्=किसलयमयम्, इव,बभूव। अङ्गनानाम्=कामिनीनाम्, अङ्गप्रभाप्रवाहेण=अवयव-कान्तिनिर्झरेण, नगरम्=पुरम्, लावण्यमयम् = सौन्दर्यबहुलम्, इव 'बभूव' इदं वचनविपर्ययेण योज्यम्। आननेत्यादिः—आननमण्डलानाम्=मुखबिम्बानाम्, निवहेन=समूहेन, गगनतलम् = नभस्तलम्, चन्द्रबिम्बमयम्=शशिमण्डलप्रचुरम्, इव, बभूव। आतपेत्यादिः—आतपः (= सूर्यघर्मः) तस्य निवारणाय (= दूरीकरणाय) उत्तानितानि (= ऊर्ध्वीकृतानि) यानि करतलानि (=हस्ततलानि) तेषां जालकेन (=समुदायेन) दिक्चक्रवालम्—दिशाम् (=दिशानाम्) चक्रवालम् (=मण्डलम्) कमलवनमयम् = पङ्कजकाननप्रचुरम्, इव, बभूव। आभरणांशुकलापेन—आभूषणरश्मिसमूहेन, आतपः=सूर्यप्रकाशः, इन्द्रायुधमयः=शक्रधनुर्मयः, इव, बभूव। लोचनेत्यादिः—लोचनानाम् (= नेत्राणाम्) याः मयूखलेखाः (= रश्मिरेखाः) तासां सन्तानेन (= प्रवाहेण), दिवसः=दिनम्, नीलोत्पलदलमयः—नीलोत्पलानाम् (=नीलकमलानाम्) यानि दलानि (=पत्राणि) तन्मयः (=तत्प्रचुरः) इव, बभूव = अभूत्। अत्र विकारार्थे प्राचुर्यार्थे च मयट् प्रत्ययो बोध्यः। एवञ्चात्र गुणोत्प्रेक्षाऽलङ्कारो बोध्यः।

कौतुकेति। कौतुकेत्यादिः—कौतुकेन (= कौतूहलेन) प्रसारिते (=विस्तारिते विशालतां प्रापिते) अथ च निश्चले (= स्थिरे, सञ्चलनशून्ये) लोचने (=नयने) यासां तासाम्, पश्यन्तीनाम्=अवलोकयन्तीनाम्, 'चन्द्रापीडमिति शेषः,तासाम्=पूर्वोक्तानां नगरललनानाम्, आदर्शमयानि=दर्पणमयानि, इव, तद्रूपाणीवेत्यर्थः, सलिलमयानि=वारिमयानि, इव, तद्रूपाणीवेत्यर्थः, स्फटिकमयानि=स्फटिकमणिमयानि, इव, हृदयानि=चित्तानि, कर्मवाचकमिदम्, चन्द्रापीडाकृतिः—चन्द्रापीडस्य (=एतन्नामकराजकुमारस्य) आकृतिः (= आकारः, स्वरूपम्) विवेश = प्राविशत्। अत्र हृदयाणां भिन्नत्वेन त्रैविध्यं प्रदर्शितम्। गुणोत्प्रेक्षाः। आसाञ्च परस्परनिरपेक्षतया संसृष्टिरलङ्कारो बोध्यः।

पादकमलों को [पृथ्वी पर] रखने से भूतल मानो पल्लवमय हो गया, [नये पत्तों का बना हुआ सा दिखाई देने लगा।] सुन्दर स्त्रियों के अङ्गों की प्रभा के प्रभाव से नगर मानो लावण्यमय हो गया, [सभी ओर लावण्य ही लावण्य सा दिखाई देने लगा] मुखमण्डलों के समूह द्वारा आकाशतल मानो चन्द्रबिम्बमय हो गया, [सभी ओर चन्द्रमा ही चन्द्रमा दिखाई देने लगे।] धूप रोकने के लिये ऊपर उठाये गये करतल-समूह द्वारा दिशामण्डल मानो कमलवनमय हो गये [ऊपर उठाये कमलतुल्य हाथों से सभी ओर कमलों का वन जैसा दिखाई देने लगा।] गहनों की किरणों के समूह से आतप (धूप, सूर्य का प्रकाश) मानों इन्द्रधनुषमय हो गया, नेत्रों की किरणों की रेखाओं के समूह से दिन मानों नील-कमलमय (नीलकमल की पंखुड़ियों से युक्त) हो गया। [सभी ओर विकसित नीली आखें नीलकमलों जैसी लग रहीं थीं।] [चन्द्रापीड को देखने के] औत्सुक्य से फैलाई गईं तथा निश्चल आखों से युक्त देखने वाली उन स्त्रियों के मानों दर्पण से बने हुए [या] मानों जल से बने हुए, [या] मानों स्फटिक मणि से बने हुए हृदयों में चन्द्रापीड की आकृति प्रविष्ट हो गई। [सभी के निर्मल मन पर चन्द्रापीड का सुन्दर रूप अंकित हो गया।]

१. अङ्गप्रभा···। २. ···उत्तानितेन। ३. साम्यसूयालोचन···।

आविर्भूत-मदनरसानाञ्चान्योन्यं[1] सपरिहासाः सविस्रम्भाः ससम्भ्रमाः सेर्ष्याः सोत्प्रासाः साभ्यसूयाः सविलासाः समन्मथाः सस्पृहाश्च तत्क्षणं रमणीयाः[2] प्रसस्रुरालापाः।

तथा हि—"त्वरितगमने! मामपि प्रतिपालय। दर्शनोन्मत्ते! गृहाणोत्तरीयम्।[3] चपले! उल्लासयाऽलकलतामाननावलम्बिनीम्। मूढे! चन्द्रलेखामुपाहर[4]। उपहार[5]-कुसुम-स्खलित-

आविर्भूतेति। तत्क्षणम् = तस्मिन्नेवावसरे, आविर्भूतेत्यादिः—आविर्भूतः (= प्रकटीभूतः) मदनरसः (= कामरसः) यासां तासां तादृशीनां च ललनानामिति भावः। परस्परम् = अन्योन्यम्, सपरिहासाः = परिहाससहिताः, [इमानि प्रथमान्तानि पदानि 'आलापाः' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्।] सविस्रम्भाः = सविश्वासाः, [सह विस्रम्भेन इत्यर्थे समासः] सेर्ष्याः = ईर्ष्यया युक्ताः, सोत्प्रासाः—उत्प्रासः (=वितर्कः) तेन सह वर्तमानाः, साभ्यसूयाः—असूया (=गुणेषु दोषाविष्करणम्) तया वर्तमानाः, सविलासाः=शृङ्गारादिचेष्टान्विताः, समन्मथाः—मन्मथेन (= कामावेशेन) युक्ताः, सस्पृहाः =साभिलाषाः, च, रमणीयाः = मनोहराः, आलापाः=संलापाः, भाषणानि, प्रसस्रुः= विस्तरेण बभूवुः। विभिन्नावस्थासु वर्तमानाः रमण्यो विविधप्रकार-वार्तालापान् प्रारभन्त।

इदानीं वार्तालापस्वरूपं निर्दिशति—तथा हीत्यादिना। त्वरितगमने! = त्वरितम् (= शीघ्रम्) गमनम् (= व्रजनम्) यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ रूपम्, माम् = स्वसहचरीम्, अपि, प्रतिपालय=प्रतीक्षस्व, नैकाकिनी गच्छेत्यर्थः। दर्शनोन्मत्ते!—दर्शनेन (= चन्द्रापीडावलोकनेन) उन्मत्ता (=प्रमत्ता) या तत्सम्बुद्धौ रूपम्, उत्तरीयम् = उपरिवस्त्रम्, संव्यानम्, गृहाण = धारय, पतनात्तत् निवर्त्तयेति भावः। चपले! = चञ्चले!, आननावलम्बिनीम्—आननम् (= आस्यम्) अवलम्बते (=आश्रयति) तच्छीलाम्, मुखावरोधिनीमिति भावः। अलकलताम् = चूर्णकुन्तलराशि लतावल्लम्बमानामिति भावः, ['तद्वृन्दे कैशिकं केश्यमलकाश्चूर्णकुन्तलाः।' अमरः २।६।९६] मूढे != चन्द्रापीडावलोकनेन नष्टप्रतिभे!, चन्द्रलेखाम्=मस्तकभूषणविशेषम्, उपाहर=उत्थापय, शीघ्रतावशात् स्वस्थानाद् भ्रष्टं मस्तकाभूषणविशेषं यथास्थानं निधेहीति भावः।

उपहारेति। हे मदनान्धे! = कामान्धे, 'कामप्रभावेण विवेकशून्ये!, उपहारेत्यादिः— उपहारकुसुमानि (= पूजार्थं पुष्पाणि) तेषु स्खलितौ (= भ्रश्यन्तौ) चरणौ (= पादौ)

और जिनमें [चन्द्रापीडविषयक] कामरस उत्पन्न हो गया था, जो उस पर कामासक्त हो गई थीं, ऐसी स्त्रियों के उसी समय परस्पर में परिहास से युक्त, विश्वास से युक्त, व्यग्रता से युक्त, ईर्ष्या से युक्त, उत्प्रास (= दूसरे की असहनशीलता को उत्पन्न करना) से युक्त, अभ्यसूया (=गुणों में भी दोष खोजना.) से युक्त, विलास (=शृङ्गार चेष्टाओं) से युक्त, कामभाव से युक्त, अभिलाषा से युक्त मनोहारी वार्तालाप बढ़ने लगे। [विभिन्न प्रकार की बातें आपस में होने लगीं।]

जैसे कि—अरी तेज गतिवाली! मेरी भी प्रतीक्षा कर ले। अरी ओ [चन्द्रापीड के] दर्शन से पागल! अपना उत्तरीय (डुपट्टा) तो पकड़ ले [नीचे गिरा जा रहा है]। अरी ओ चपल! मुख पर लटकती हुई केशरूपी लता को संभाल। अरी मूढ़! चन्द्रलेखा (माथे का आभूषण जो आंखों तक लटकता है उस) को दूर कर ले। अरी ओ कामान्ध! उपहार के फूलों पर फिसलते

१. अन्योन्यतः। २. रमणीयः, अभिरमणीयाः। ३. क्वचित्तु इदं पदं नापि विद्यते।
४. चन्द्रलेखे मुहुरुपाहर। ५. समुपाहर...।

[1] चरणा पतसि मदनान्धे ! । संयमय मदनिश्चेतने ! केशपाशम् । उत्क्षिप चन्द्रापीडदर्शनव्यसनिनि ! काञ्चीदामकम् । उत्सर्पय पापे ! कपोलदोलायितं कर्णपल्लवम् । अहृदये ! गृहाण निपतितं दन्तपत्रम् । यौवनोन्मत्ते ! विलोक्यसे जनेन, स्थगय पयोधरभारम्[2] । अपगतलज्जे ! शिथिलीभूतमाकलय दुकूलम् । अलीकमुग्धे ! द्रुततरमागम्यताम् । कुतूहलिनि ! देहि नृपदर्शना-[3]

यस्याः सा तादृशी, सती, पतसि = निपतसि, यद्वा, सामीप्ये भविष्यत्यर्थे लट् । यथा काचनान्धस्त्री पुष्पादिषु स्खलन्ती पतति तथैव त्वमपि पतिष्यसीति भावः ।

संयमयेति । हे मदनिश्चेतने = मदेन (= तारुण्योद्रेकेण) निर्गता (= समाप्ता) चेतना (= विवेकादिः) यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ रूपम्, केशपाशम् = कचसमूहम्, संयमय = ग्रथितं कुरु ।

चन्द्रापीडेति । चन्द्रापीडेत्यादिः—चन्द्रापीडदर्शने (= चन्द्रापीडावलोकने) व्यसनिनि ! (= आसक्तियुक्ते), काञ्चीदामकम् = मेखलागुणम्, उत्क्षिप = उर्ध्वं नय ।

उत्सर्पयेति । पापे ! = पापयुक्ते !, कपोलदोलायितम्—कपोलयोः (= गण्डस्थलयोः) दोलायितम् (= स्थितम्, दोलावत्कम्पमानम्) कर्णपल्लवम् (= श्रवणकिसलयम्) उत्सर्पय = ऊर्ध्वं कुरु। स्वस्थानात् भ्रष्टं श्रोत्रोपर्येव निधेहीति भावः ।

अहृदये इति । अहृदये ! = हृदयशून्ये !, निपतितम् = स्रस्तम्, दन्तपत्रम् = गजदन्तनिर्मितम्, आभूषणम्, गृहाण = स्वीकुरु । अग्रे गच्छन्तीं प्रति कस्याश्चित् सख्याः नर्मवचः ।

यौवनोन्मत्ते इति । यौवनोन्मत्ते ! = तारुण्येनोन्मादविशिष्टे !, जनेन = पुरवासिलोकेन, विलोक्यसे = दृश्यसे, अतः, पयोधरभारम् = स्तनभारम्, स्थगय = वस्त्रेणाच्छादय । शीघ्रगतया वस्त्रादिपतनेन अनावृतं कुचमण्डलमावृतं कुरु इति भावः ।

अपगतलज्जे इति । अपगतलज्जे ! = अपगता (= चन्द्रापीडावलोकन दूरीभूता) लज्जा (= त्रपा) यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ रूपम्, शिथिलीभूतम् = श्लथीभूतम्, आवरणीयाङ्गेभ्यः स्रस्तमिति भावः, दुकूलम् = क्षौमवस्त्रम्, आकलय = संयमय, उचितस्थाने विधेहीति भावः ।

अलीकेति । अलीकमुग्धे != मिथ्यामूढे !, मुग्धात्वाभावेऽपि तथा दर्शयसीति भावः, द्रुततरम् = शीघ्रतरम्, आगम्यताम् = आव्रज्यताम् आगमनं विधीयतामिति भावः । मुग्धालक्षणन्तु—"प्रथमावतीर्णमदनविकारा रतौ वामा । कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥ [साहित्यदर्पणः]

कुतूहलिनीति । कुतूहलिनि ! = कौतूहलयुक्ते !, नृपदर्शनान्तरम् = नृपदर्शनाय (= नृपतिकुमारचन्द्रापीडावलोकनाय) अन्तरम् (= अवकाशम्) देहि = कुरु । कुमारमवलोकयितुं मह्यमप्यवकाशं

हुए पैरों वाली गिर जाओगी । अरी ओ मद से चेतना शून्य ! केशपाश को संयत कर ले । अरी चन्द्रापीड के दर्शन की व्यसनिनी ! करधनी ऊँची कर ले। अरी ओ पापिन ! गालों पर हिलते हुए कर्णपल्लव को हटा ले । अरी ओ हृदयशून्य ! गिरे हुए दन्तपत्र (कंघी या गहना) को उठा ले । अरी ओ जवानी से पागल ! लोग तुझे देख रहे हैं, अपने स्तनों के उभार को ढक ले । अरी ओ निर्लज्ज ! ढीले हो गए रेशमी वस्त्र को कस ले । अरी ओ झूठ मूठ में भोली [बनने वाली] ! जल्दी से आ जाओ । अरी ओ कुतूहल वाली ! राजा (राजपुत्र) को देखने का स्थान [मुझे भी] दे । अरी ओ

१. ···चरणे । २. पयोधरभागम् । ३. दर्शनान्तरम् ।

न्तरम् । असन्तुष्टे ! कियदालोकयसे । तरलहृदये ! परिजनमपेक्षस्व । पिशाचि[1] ! गलितोत्तरीया[2] हृस्यसे[3] जनेन । रागावृतनयने ! पश्यसि न सखीजनम् ? अनेक-भङ्गिविकारपूर्णे ! दुःखम-[4] कारणायासितहृदया जीवसि । मिथ्याविनीते ! किं व्यपदेशवीक्षितैः ? विस्रब्धमालोकय[5] । यौवनशालिनि ! किं पीडयसि पयोधरभारेण । अतिकोपने ! पुरतो भव । मत्सरिणि ! किमेका-

प्रदानं कुर्विति भावः । असन्तुष्टे = सन्तोषशून्ये, कियत् = किम्परिमाणम्, आलोकयसे = विलोकयसि, दीर्घकालं यावदवलोक्यापि असन्तुष्टा वर्तसे इति भावः ।

तरलहृदये इति तरलहृदये ! = चञ्चलचित्ते !, परिजनम् = सेवकलोकम्, अपेक्षस्व = अपेक्षां कुरु, प्रतीक्षां कुर्वती सती मन्दं मन्दं व्रजेति भावः ।

पिशाचीति । हे पिशाचि ! = हे राक्षसि !, गलितोत्तरीया = गलितम् (= स्वस्थानाद् भ्रष्टम्) उत्तरीयम् (= संव्यानम्, उपरिवस्त्रम्) यस्याः सा तादृशी, त्वम्, जनेन = लोकेन, हृस्यसे = उपहास-विषयीक्रियसे । अतः शीघ्रमेवोत्तरीयं समुचितस्थाने स्थापयेति भावः ।

रागावृतेति । रागावृतनयने !—रागेण (= चन्द्रापीडविषयकप्रीत्यतिरेकेण) आवृते (= आच्छादिते) नयने (= नेत्रे) यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ रूपम्, सखीजनम् = सहचरीलोकम्, सहगच्छन्तमपि, न = नैव, पश्यसि = विलोकयसि । अत्र काकुः । नेदमुचितं क्रियते त्वयेति भावः ।

अनेकेति । अनेकेत्यादिः—अनेके (= बहवः) ये भङ्गिविकाराः (= कौटिल्यविकाराः) तैः पूर्णा (= भृता, परिपूरिता) तत्सम्बुद्धौ रूपम्, अकारणायासितहृदया—अकारणम् (= निर्हेतुकम्, यथा स्यात् तथा) आयासितम् (= खेदितम्) हृदयम् (= स्वान्तम्) यया सा तादृशी सती, दुःखम् = कष्टम्, यथा स्यात् तथा, जीवसि = प्राणान् धारयसि । त्वं कदापि राजकुमारं प्राप्तुं नार्हसीति व्यर्थमेवात्मानं पीडयन्ती समयं यापयसीति भावः ।

मिथ्येति । मिथ्याविनीते ! = असत्यविनयप्रदर्शिनि !, व्यपदेशवीक्षितैः = व्याजविलोकनैः, किम् ? न कोऽपि लाभः सम्भवति । अतः, विस्रब्धम् = सविश्वासम्, आलोकय = पश्य । वाञ्छित-चन्द्रापीडविलोकने कपटप्रदर्शनस्य कापि आवश्यकता नास्ति, कोऽपि निवारकोऽपि नास्ति । अतोऽभीष्ट-कालं पश्येति भावः ।

यौवनेति । यौवनशालिनि ! = हे तारुण्यशोभिनि !, पयोधरभारेण = उरोजभरेण, किम् = किमर्थम्, पीडयसि = व्यथयसि । यौवनप्रकर्षेण सुदृढस्तनाभ्यामग्रेवर्तिनीं मां व्यर्थमेव संघर्षणेन पीडयसीति भावः । अत्रातिशयोक्तिः ।

अतिकोपन इति । अतिकोपने ! = हे चण्डि !, पुरतः = अग्रे, भव = एधि । क्रोधातिरेकेण समुत्पादित-संघट्टनमसहमाना काचित् कोपवतीमग्रे गमनाय प्रेरयतीति भावः ।

असन्तुष्ट ! कितना देखोगी । अरी ओ चञ्चल हृदय वाली ! सेवकों का भी ध्यान रख । [उन्हें भी देखने दे ।] अरी ओ पिशाची ! तेरा दुपट्टा नीचे खिसक गया है, तेरी हँसी उड़ाई जा रही है । अरी ओ [चन्द्रापीड के] अनुराग से आच्छादित नेत्रों वाली ! तू अपनी सखी को [मुझे भी] नहीं देख (पहचान) रही है । अरी ओ अनेक भङ्गिमाओं के विकारों से युक्त ! बिना कारण ही अपने हृदय को कष्ट देने वाली तुम दुःख से जी रही हो । अरी ओ झूठ मुठ में विनम्र बनी हुई ! बहानों से देखने की क्या आवश्यकता ? असन्दिग्ध (निश्चिन्त) होकर देखो । अरी ओ भरी जवानीवाली ! अपने स्तनों के भार से मुझे क्यों पीड़ित कर रही हो । अरी ओ गुस्सैल ! तू ही आगे हो जा । अरी

१. पिशाचिके । २. वलितोत्तरीया । ३. विहस्यसे । ४. दुःखकारणायासितहृदया । ५. विलोकय ।

किनी रुणत्सि वातायनम् । अनङ्गपरवशे ! मदीयमुत्तरीयांशुकमुत्तरीयतां नयसि ? रागासव-[1] मत्ते ! निवारयात्मानम् । उज्झितधैर्ये ! किं धावसि गुरुजनसमक्षम् । उल्लसत्स्वभावे ! किमेव-माकुलीभवसि ? मुग्धे ! निगूहस्व मदनज्वर-जनित-पुलकजालकम् । असाध्वाचरणे[2] ! किमेव-

मत्सरिणीति । मत्सरिणि ! = हे अमर्षिणि !, एकाकिनी = एका एव सती, वातायनम् = गवाक्षम्, किम् = किमर्थम्, रुणत्सि = रोधनं करोषि । मह्यमपि चन्द्रापीडदर्शनाय स्थानं देहीति कस्याश्चित् कष्टोक्तिः ।

अनङ्गेति । अनङ्गपरवशे ! = हे कामाधीने !, मदीयम् = मम, उत्तरीयांशुकम् = संव्यानम्, उत्तरीयताम् = स्वकीयोपरिवस्त्रताम्, नयसि = प्रापयसि ! कामाभिभूता सती त्वं स्वकीयं परकीयं वा वस्त्रं न परिचिनोषीति । कस्याश्चिद् परिहासवचः ।

रागेति । रागासवमत्ते—रागः (= चन्द्रापीडविषयकविशिष्टा रतिः) एव आसवः (= सीधु, मद्यम्) तेन मत्ता (= मदयुक्ता) तत्सम्बुद्धौ रूपम् आत्मानम् = स्वाम्, निवारय = वारणं कुरु, चन्द्रापीडप्राप्त्याशातः इति शेषः । स कदापि लब्धुं न शक्य इति तं प्रति ते समासक्तिः व्यर्थैवेति भावः ।

उज्झितेति । उज्झितधैर्ये ! = उज्झितम् (= परित्यक्तम्) धैर्यम् (= धीरता) यया सा तत्सम्बुद्धौ रूपम्, गुरुजनसमक्षम् = ज्येष्ठलोकपुरतः, किम् = किमर्थम्, धावसि = पलायसे । चन्द्रापीड-दर्शनाय मर्यादामुल्लङ्घ्य ते धावनं नोचितमिति भावः ।

उल्लसदिति । उल्लसत्स्वभावे ! = उल्लसन् (= प्रकटीभवन्, प्रवर्द्धमानः वा) स्वभावः (= मनोविकाराः) यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ रूपम्, एवम् = अनेन प्रकारेण, किम् = किमर्थम्, आकुलीभवसि = व्याकुलतां प्रयासि । त्वं चन्द्रापीडसंसर्गं कथमपि प्राप्तुं न शक्नोषीति ते आकुली-भावो व्यर्थ एव वेति भावः । काकुरत्र ।

मुग्ध इति । हे मुग्धे ! = हे मृदुले !, मदनेत्यादिः—मदनज्वरेण (= कामज्वरेण) जनितम् (= समुत्पादितम्) पुलकजालम् (= रोमाञ्चसमुदायम्), निगूहस्व = गोपाय, संवृतं कुर्विति भावः । अन्यथा लोकैर्विलोकिता सती उपहासविषयीभविष्यसीति भावः ।

असाध्विति । असाध्वाचरणे = असाधु (= अशुभम्, गर्हितम्) आचरणम् (= आचारः, रूपम्, चरित्रम्) यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ, एवम् = अनेन प्रकारेण, कथम् = किमर्थम्, उत्ताम्यसि = व्यग्रा भवसि। इदं तवाचरणं पातिव्रत्यविरुद्धं लोकापवादजनकं च भविष्यतीति भावः ।

ओ डाह करने वाली ! क्यों अकेले [ही देखने के लिये] खिड़की या झरोखा रोक रही हो ? अरी ओ कामाधीन ! मेरे दुपट्टे को क्यों अपना दुपट्टा बना रही हो ? अरी ओ अनुराग रूपी मदिरी से मस्त ! अपने को संभालो, नियन्त्रित करो । अरी ओ धैर्य छोड़ देने वाली अधीर ! गुरु (पूज्य बड़े) जनों के सामने क्यों दौड़ रही हो ? अरी ओ अपने मनोभावों को प्रकट करने वाली ! क्यों इस प्रकार से व्याकुल हो रही हो ? अरी ओ भोली भाली ! काम ज्वर से उत्पन्न रोमाञ्चसमूह को छिपा ले। अरी ओ दूषित आचरण वाली ! क्यों इस प्रकार से उत्तेजित या दुःखी हो रही है ? अरी ओ बहुत

१. रागमत्ते । २. असावरणे ।

मुत्ताम्यसि ? बहुविकारे ! अङ्गभङ्गवलनायासित-मध्यभागा[1] वृथा खिद्यसे ! शून्यहृदये ! स्वभवनान्निर्गतमपि नात्मानमवगच्छसि । कौतुकाविष्टे ! विस्मृतासि निःश्वसितुम्[2] । अन्तः-सङ्कल्प-रचित-रत[3]-समागम-सुख-रस-निमीलित-लोचने ! समुन्मीलय लोचनयुगलम्, अतिक्रामत्ययम् । अनङ्ग-शरप्रहार-मूच्छिते ! रविकिरणनिवारणाय कुरु शिरस्युत्तरीयांशुकपल्लवम् ।

बहुविकार इति । बहुविकारे ! = बहवः (=प्रचुराः, विविधाः) विकाराः (= कामविषयकविकृतयः) यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ रूपम्, अङ्गेत्यादिः—अङ्गानाम् (=शरीरावयवानाम्) भङ्गाः (=संस्थानविशेषाः) तेषां वलनम् (=संकोचादिकम्) तेन आयासितः (=कष्टं प्रापितः) मध्यभागः (=मध्यदेशः, कटिप्रदेशः) यया यस्याः वा सा तादृशी सती, वृथा =व्यर्थम्, खिद्यसे = खिन्ना भवसि, आकुलीभवसि । तादृशं राजसुतं त्वं कदापि प्राप्तुं न समर्था भविष्यसीति तेऽयं व्यापारो व्यर्थ एव, न फलप्रद इति भावः ।

शून्यहृदये इति । शून्यहृदये ! —शून्यम् (= चन्द्रापीडातिरिक्तविषयज्ञानरहितम्) हृदयम् (=चित्तम्) यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ रूपम्, स्वभवनात् =निजसदनात्, निर्गतम् =बहिरागतम्, अपि, आत्मानम् =स्वाम्, न = नैव, अवगच्छसि =जानासि । चन्द्रापीडदर्शनव्यग्रतया गृहं त्यक्त्वा बहिरागतेति त्वं स्वयं न जानासीति महदाश्चर्यकरम् । इयं परिहासोक्तिः ।

कौतुकाविष्टे इति । कौतुकाविष्टे ! = कौतुकेन (= चन्द्रापीडावलोकनजन्यौत्सुक्येन) आविष्टा (= गृहीता) तत्सम्बुद्धौ रूपम् । निःश्वसितुम् =निःश्वासं गृहीतुम्, विस्मृता =समुत्पन्नविस्मरणा, असि = वर्त्तसे । अनन्यचित्ततया स्थित्या तथा वर्णनं बोध्यम् ।

अन्तरिति । अन्तरित्यादिः—अन्तःसङ्कल्पेन (=मनोऽध्यवसायेन) रचितः (=कल्पितः) यो रतसमागमः (= सुरतप्राप्तिः) तस्मात् यत् सुखम् (= शातम्, प्रीतिः) तस्य यो रसः (=आन्तराह्लादः) तेन निमीलिते (=मुद्रिते) लोचने (=नेत्रे) यया सा तत्सम्बुद्धौ रूपम् । लोचनयुगलम्=नेत्रद्वयम्, समुन्मीलय =समुद्घाटय, विकासय, अयम् =पुरोवर्त्ती चन्द्रापीडः, अतिक्रामति= अत्येति, अग्रे व्रजतीति भावः । काल्पनिक-सुखवशान्निमीलितनेत्रां काञ्चन प्रति कस्याश्चिदुक्तिः ।

अनङ्गेति । अनङ्गेत्यादिः—अनङ्गः (=कामदेवः) तस्य शराणाम् (=पञ्चबाणानाम्) यः प्रहारः (=आघातः तेन मूच्छिता (=प्राप्तसम्मोहा) तत्सम्बुद्धौ रूपम् । रविकिरणनिवारणाय= सूर्यरश्मि-तापापनयनाय, उत्तरीयांशुकपल्लवम् = उत्तरीयांशुकम् (=संव्यानविस्तारम्) एव पल्लवम् (=किसलयम्) यद्वा—उत्तरीयांशुकं पल्लवम्, इव, तत्, शिरसि=मूर्ध्नि, कुरु =विधेहि । रविकिरणप्रतापात् तव कष्टं भविष्यतीति भावः ।

से विकारों वाली ? अपने अंगों को तोड़ मरोड़ कर मध्य भाग (कमर) को तकलीफ देती हुई व्यर्थ में खिन्न हो रही हो । अरी ओ शून्य हृदयवाली ! अपने घर से निकली हुई भी अपने को नहीं समझ पा रही हो, जान रही हो । अरी ओ कौतुक से अभिभूत ! निःश्वास लेना भी भूल गयी हो । अरी ओ मानसिक चिन्तन से किये गये समागम (मैथुन) के सुख के रस से आखों को बन्द कर लेने वाली ! अपनी दोनों आखें खो लो, यह राजकुमार (आगे) निकला जा रहा है । अरी ओ कामदेव के बाणों के प्रहार से मूर्छित ! सूर्य की किरणों (धूप) को दूर करने (बचाने) के लिये

१. विविधाङ्गभङ्गवलन···, विविधाङ्गभङ्गचलवलन । २. निश्वसितुम् ।
३. ···सुरत···, ···रति···।

अयि सतीव्रत-ग्रहगृहीते ! द्रष्टव्यमपश्यन्ती वञ्चयसि लोचनयुगलम्[1] । अधन्ये ! हतासि परपुरुषा-[2]
दर्शन-व्रतेन । प्रसीद, उत्तिष्ठ सखि! पश्य रतिविरहितं साक्षादिव भगवन्तमगृहीत-मकरध्वजं मकरध्वजम् । अयमस्य सितातपत्रान्तरेण अलिकुलनीले शिरसि तिमिरशङ्कानिपतित इव शशिकरकलापो मालतीकुसुमशेखरोऽभिलक्ष्यसे । एतदस्य कर्णाभरण-मरकत-प्रभा-श्यामायित-

अयीति । अयि सतीव्रतग्रहगृहीते = सतीव्रतम् (= पतिव्रतानियमपरिपालनम्) तद् एव ग्रहः (= भूतादिः) तेन गृहीता (= अभिभूता), तत्सम्बुद्धौ रूपम् । द्रष्टव्यम् = दर्शनीयम्, अपश्यन्ती = अनवलोकयन्ती, लोचनयुगलम् = नेत्रयुग्मम्, वञ्चयसि = प्रतारयसि, छलयसि । तयोः साफल्यं नेच्छसीति भावः । 'अयि' इदं सम्बोधनं कोमलामन्त्रणे बोध्यम् । सतीत्वविनाशभियाऽमुमदृष्ट्वा स्वनेत्रे छलयसीत्यर्थः ।

अधन्य इति । अधन्ये ! = दुर्भगे !, परपुरुषादर्शन-व्रतेन = परपुरुषः (= पत्युर्भिन्नः मनुष्यः) तस्य यद् अदर्शनम् (=अनीक्षणम्) तदेव व्रतम् (= नियमानुष्ठानम्) तेन, हता = पीडिता, नष्टा वा, असि = वर्तसे । एतादृशव्रतग्रहणेन जीवितापि त्वं साम्प्रतं मृतप्राया वर्तसे इति भावः ।

प्रसीदेति । प्रसीद=प्रसन्ना भव । सखि = हे वयस्ये !, उत्तिष्ठ=उत्थिता भव । रतिविरहितम्= रत्याख्यस्वप्रेयसीशून्यम्, अगृहीतमकरध्वजम्—अगृहीतः (= अनात्तः) मरकध्वजः (= मकरनामक-जलीयजन्तुविशेषाङ्किता पताका) येन तं तादृशम्, साक्षात् = मूर्तिमन्तम्, प्रत्यक्षम्, इव, भगवन्तम् = षड्विधैश्वर्यविशिष्टम्, मकरध्वजम् = कामदेवम्, पश्य = अवलोकय । अयं न राजपुत्रोऽपितु साक्षात् कामदेव एवेति अस्य दर्शनाय सत्त्वरमेवोत्थातव्यमिति भावः ।

अयमिति । अस्य = चन्द्रापीडस्य, सितातपत्रान्तरेण—सितम् (= शुभ्रम्) यद् आतपत्रम् (= छत्रम्) तस्य अन्तरेण (= अभ्यन्तरेण), अलिकुलनीले = अलिकुलम् (= भ्रमरराशिः) तदिव नीलम् (= कृष्णम्), तस्मिन्, शिरसि = मूर्ध्नि, अयम् = पुरो दृश्यमानः, मालतीकुसुम-शेखरः = जातीपुष्पशिरोभूषणम्, तिमिरशङ्कानिपतितः—तिमिरशङ्कया =अन्धकारभ्रमेण) निपतितः = अधोदेशे समागतः, तमोविनाशायेति शेषः, शशिकरकलापः = चन्द्ररश्मिसमूहः, इव, अभिलक्ष्यते = संमुखं दृश्यते अत्र 'अलिकुलनिलीने' इत्यत्र लुप्तोपमा, तिमिर-शङ्कानिपतित' इत्यत्र भ्रान्तिमान्, तिमिरस्य शशिकिरण-नाश्यत्वात् तच्छङ्कया तद् विनाशयितु निपतित इव-इत्युत्प्रेक्षा च । तथा चैतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन स्थित्या सङ्करालङ्कारो बोध्यः ।

एतदस्येति । कर्णाभरणेत्यादिः—कर्णाभरणम् (= श्रवणालङ्कारः) यत् मरकतम् (= पद्म-रागमणिः) तस्य या प्रभा (= कान्तिः) तया श्यामायितम् (= श्यामवदाचरितम्), अस्य =

अपने सिर पर रोशनी उत्तरीय (दुपट्टे) का पल्लव = आंचल (आड़) बना लो । अरी ओ सती व्रतरूपी ग्रह से पकड़ी गयी ! दर्शन योग्य को न देखती हुई अपनी आखों को ठग रही हो । अरी ओ अभागिन ! दूसरे पुरुष को न देखने के व्रत से मारी गई हो । प्रसन्न हो जाओ, सखि ! उठो [अपनी प्रेयसी] रति से रहित और अपनी मकर चिह्न से अंकित पताका से रहित (न धारण करने वाले साक्षात् भगवान् कामदेव (मकरध्वज) को देख ले । इसके भ्रमर (-समूह) के समान काले सिर (केशों) के ऊपर यह मालती के फूलों का शिरोभूषण (मुकुट), मानों अन्धकार की शंका से गिरी हुई चन्द्रमा की किरणों का समूह दिखाई दे रहा है । [केश अन्धकार है ऊपर मालती पुष्पों का मुकुट चन्द्रमा की किरणें लग रही हैं ।] कर्णभूषण में जटित मरकत (पन्ना) की किरणों

१. अधमे । २. ···दर्शनपरिहारव्रतेन, ···परीहारव्रतेन ।

मुपरचित-विकच-शिरीष-कुसुम-कर्णपूरमिव कपोलतलमाभाति। अयमस्य हारान्तर्निविष्टारुण-मणि-किरण-कलापच्छलेन हृदयं विविक्षुरभिनवयौवनराग इव बहिः परिस्फुरति। एतदनेन चामरकलापान्तरैरित इव वीक्षितम्[1]। एतत् किमपि वैशम्पायनेन सह समामन्त्र्य[2] दशन-मयूख-लेखा-धवलीकृत[3]-दिक्चक्रवालं हसितम्। एषोऽस्य शुक-पक्षति-हरित-रागेणोत्तरीयांशुकप्रान्तेन

कुमारस्य चन्द्रापीडस्य, एतत्=पुरोवर्ति, कपोलतलम्=गण्डस्थलोपरिभागः, उपरचितेत्यादिः—उपरचितः (= निर्मितः) विकचस्य (= विकसितस्य) शिरीषकुसुमस्य (= शिरीषपुष्पस्य) कर्णपूरः (=श्रवणाभूषणम्) यस्मिन्, तद्, इव, आभाति=प्रतीयते। 'श्यामायितम्' इत्यत्र क्यङन्तोपमा, 'उपरचिते' त्यादौ चोत्प्रेक्षेति परस्परमङ्गाङ्गिभावेन संकरालङ्कारः।

अयमिति। अयम्=पुरो दृश्यमानः, अभिनव-यौवनरागः—अभिनवम् (=सद्य एव सञ्जातम्, नवीनम्) यत् यौवनम् (= तारुण्यम्) तस्य रागः (= अनुरागः) एव रागः (=रक्तिमा), हारान्तर्निविष्टेत्यादिः—हारस्य (=मौक्तिकमाल्यस्य) अन्तः (=मध्ये) निविष्टाः (=प्रविष्टाः) ये अरुणमणयः (=पद्मरागमणयः) तेषां ये किरणाः (=रश्मयः) तेषां यः कलापः (=समूहः) तस्य छलेन (=व्याजेन), विद्यमान इति शेषः, हृदयम्=चित्तम्, कर्म, विविक्षुः=प्रविष्टुमिच्छुः, इव, बहिः=बाह्यभागे, हृदयोपरीत्यर्थः, परिस्फुरति=प्रसर्पति। अस्य राजकुमारस्य दृश्यमाना रक्तकान्तिर्नासावरुणमणिकान्तिः, प्रत्युताभिनवयौवनोत्पादितानुराग एव हृदयं प्रविविक्षुः सम्प्रत्यपि बहिः प्रतीक्षते इति भावः। अत्रोत्प्रेक्षातिशयोक्त्योः परस्पराङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

एतदिति। अनेन=अमुना चन्द्रापीडेन, चामरकलापान्तरैः—चामरकलापस्य (= प्रकीर्णकसमुदायस्य) अन्तरैः (=मध्यैः) इत एव=अस्मिन् स्थाने एव मां प्रत्येव, एतत्=इदम्, वीक्षितम्=विलोकितम्। तादृशदर्शनस्यात्मानमेव विषयीकृत्य कस्याश्चिदियमुक्तिरिति भावः।

एतदिति। वैशम्पायनेन=एतन्नामकेन शुकनासपुत्रेण, स्वमित्रेण, सह=सार्धम्, समामन्त्र्य=संभाषणं विधाय, दशनेत्यादिः दशनानाम् (=दन्तानाम्) ये मयूखाः (= किरणाः) तेषां या लेखा (=पङ्क्तिः) तया धवलीकृतम् (=श्वेतीकृतम्) दिक्चक्रवालम् (=दिशामण्डलम्) यस्यां क्रियायां तद् यथा स्यात्तथा, एतद्=दृश्यमानम्, हसितम्=स्मितम्, हास्यं विहितम्। अत्र दिक्चक्रवालस्य धवलीकरणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिरलङ्कारः।

एष इति। एषः=पुरोवर्त्ती अयम्, बलाहकः=एतन्नामा सेनाधिपतिः, अस्य=दृश्यमानस्य

में श्यामवर्ण का दिखाई देनेवाला इसका यह गण्डस्थल (गाल) मानों खिले हुए शिरीष के फूलों का कर्णाभूषण बना दिया गया हो। इसके हारों के बीच में स्थित लाल मणियों (पद्मरागादि) की किरणों के बहाने मानों [इसका] नव यौवन का यह राग [१- लालिमा, २- कामजनितविकृति] इसके हृदय के भीतर प्रविष्ट होने का इच्छुक होता हुआ बाहर मंडरा रहा है, घूम रहा है। इसने चामरों के समूह के मध्य से इधर (हम लोगों की ओर) ही यह देखा है। वैशम्पायन (शुकनास के पुत्र) के साथ कुछ बातचीत करके दाँतों की किरणों की पंक्ति से सभी दिशाओं को श्वेत करता हुआ यह हँसा है। घोड़ों के खुरों के चलने (टकराहट) के कारण उत्पन्न (उठी) हुई तथा इसके बालों के अग्रभाग में लगी हुई धूलि को यह बलाहक (सेनापति) तोते के पंखों के समान हरे रंगवाले

१. एतदलकचामरकलापान्तरैरितविरलवीक्षितम्, अनेकचामरकलापान्तरितमस्य वीक्षितम्।
२. समामन्त्रयतः। ३. ...धवलित...।

बलाहकस्तुरग-खुर-चलनजन्मानं लग्नमग्रकेशेषु[1] रेणुमपहरति। अयमनेन लक्ष्मीकर-कमल-कोमल-तलः समुत्क्षिप्य तिर्य्यक् तुरङ्गमस्कन्धे निक्षिप्तश्चरणपल्लवः सलीलम्। अयमनेन च ताम्बूल-याचनार्थमुत्तानिततलो[2] दीर्घाङ्गुलिराताम्र-पुष्करकोशशोभी[3] गजेनेव शैवालकवल-ग्रास-लालसः[4] प्रसारितः करः। धन्या सा, या लक्ष्मीरिव निर्जितकमलं करतलमस्य वसुन्धरा-

राजकुमारस्य, अग्रकेशेषु = कचाग्रेषु, लग्नम् = संसक्तम्, तुरग-खुरचलन-जन्मानम्—तुरगखुराणाम् (=तुरङ्गमशफानाम्) यत् चलनम् (=गमनम्) तस्मात् जन्म (=उद्भूतिः) यस्य तं तादृशम्, रेणुम्=धूलिम्, शुकेत्यादिः—शुकः (=कीरः) तस्य पक्षतिः (=पक्षमूलम्) तद्वत् हरितरागः (=हरिद्वर्णः) यस्य स तेन तादृशेन, उत्तरीयांशुकप्रान्तेन=संव्यानैकदेशेन, अपहरति=अपनयति, दूरीकरोति। लुप्तोपमा।

अयमनेनेति। अनेन=दृश्यमानेन चन्द्रापीडेन, लक्ष्मीकर-कमल-कोमलतलः—लक्ष्मी (=विष्णु-प्रिया) तस्याः यत् करकमलम् (=करकञ्जम्) तदिव कोमलम् (=मृदु) तलम् (=स्वरूपम्) यस्य स तादृशः, अयम् = पुरोवर्त्ती, चरणपल्लवः = पादकिसलयः, तुरङ्गमस्कन्धे=अश्वस्यांसदेशे, तिर्यक्=तिर्यग्रूपेण, समुत्क्षिप्य=उत्थाप्य, सलीलम्=सविलासम्, यथा स्यात्तथा, निक्षिप्त=स्थापितः 'लक्ष्मीकरकमलकोमल-तलः' इत्यत्र लुप्तोपमा।

अयमिति। अनेन = चन्द्रापीडेन, ताम्बूलयाचनार्थम् = नागवल्लीदलयाच्ञार्थम् गजेन = हस्तिना, इव, उत्तानिततलः—उत्तानितम्, (=उत्तानतां प्रापितम्) तलम् (=स्वरूपम्) यस्य स तादृशः, दीर्घाङ्गुलिः—दीर्घाः (=लम्बमानाः, आयताः) अङ्गुलयः (=करशिखाः) यस्य स तादृशः, आताम्रेत्यादिः—आताम्रः (आ=ईषद्) ताम्रः (=रक्तवर्णः) यः पुष्करकोशः (=कमलकोशः) तद्वत् शोभते इत्येवंशीलः, तादृशः करः = हस्तः, प्रसारितः = विस्तारितः। हस्तिपक्षे—आताम्रः (=ईषद्रक्तवर्णः) पुष्करकोशः (=शुण्डाग्रपुटः) तेन शोभते तच्छीलः, शैवालकवलेत्यादिः—शैवालम् (=शेवालम्) तस्य यः कवलः (=ग्रासः) तस्य ग्रासे (=भक्षणे) लालसः (=लोलुपः), करः = शुण्डादण्डः, प्रसारितः, यथा कश्चन गजः शैवालग्रासं ग्रहीतुं स्वशुण्डादण्डं प्रसारयति तथैव राजकुमारः ताम्बूलदलं ग्रहीतु स्वकरं प्रसारयामास। 'अत्र श्लेषोपमयोः संकरः'। ["लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसोऽपि सः।" इति रभसः।]

धन्येति। या=रमणी, वसुन्धरासपत्नी=पृथिव्याः सपत्नी सती, लक्ष्मीः=श्रीः, इव, निर्जित-कमलम्—निर्जितम् (=पराजितम्) कमलम् (=पङ्कजम्) येन तत् तथाविधम्, अस्य=चन्द्रापीडस्य

अपने दुपट्टे के किनारे से पोंछ रहा है। इसने लक्ष्मी के करकमल के समान कोमल तलुवेवाला यह चरणपल्लव उठा कर विलासपूर्वक घोड़े के कन्धे पर तिरछा रखा। [घोड़े पर चढ़ते समय ऐसा ही किया जाता है।] और इसने पान माँगने के लिए चित हथेली वाला, लम्बी-लम्बी अंगुलियोंवाला, कुछ लाल लाल (गुलाबी) कमल कोश के समान सुन्दर यह हाथ उसी प्रकार फैला दिया जिस प्रकार कोई हाथी सेंवार (शैवाल) के कौर को खाने की इच्छुक तथा कुछ लाल-लाल अग्रभागवाली अपनी सूंड़ को फैला देता है। [पुष्कर=(१) सूंड़ का अगला भाग, (२) कमल। कर=(१) हाथ, (२) सूंड़।] वह नारी बड़ी भाग्यवाली होगी जो कमल को पराजित करनेवाले अर्थात् उससे भी अधिक कोमल इसके करतल को [विवाह-काल में] पृथ्वी की सौत होकर ग्रहण करेगी। और महारानी

१. आलग्नम्, आलम्बकेशेषु। २. ...तल, करतल।
३. कोमलदीर्घ...। ४. शैवालकवललालसः, कमलग्रासवाञ्छया।

सपत्नी ग्रहीष्यति। धन्या च देवी विलासवती, सकलमहीमण्डल-भार[1]-धारणक्षमः ककुभा दिग्गज इव गर्भेण[2] ययाऽयमूढः।"

—इत्येवंविधानि चान्यानि च वदन्तीनां तासामापीयमान इव लोचनपुटैः, आहूयमान इव भूषणरवैः, अनुगम्यमान इव हृदयैः, अनुवध्यमान[3] इवाभरण-रत्न-रश्मि-रज्जुभिः, उपह्रियमाण इव नवयौवनबलिभिः, शिथिल[4]-भुजलता-विगलित-धवल-वलय-निकरे[5] पदे पदे

करतलम् = हस्ततलम्, ग्रहीष्यति = ग्रहणं करिष्यति, सा = तादृशी रमणी, धन्या = पुण्यवती, परमसौभाग्यशालिनी, भविष्यतीति भावः।

धन्या चेति। देवी = कृताभिषेका महिषी, विलासवती = चन्द्रापीडस्य माता च, धन्या = परमसौभाग्यशालिनी, यया = विलासवत्या, ककुभा = दिशा, गर्भेण = मध्यभागेन, दिग्गजः = दिग्हस्ती, इव, सकलेत्यादिः—सकलम् (= सम्पूर्णम्) यत् महीमण्डलम् (= धराचक्रवालम् तस्य यो भारः (= भरः, प्रशासनादिरूपः) तस्य धारणम् (= वहनम्) तत्र क्षमः (= समर्थः), अयम् = पुरोवर्त्ती चन्द्रापीडः, ऊढः = धृतः। यथा पूर्वादिदिक् सम्पूर्णभूमण्डलभारधारणसमर्थं दिग्गजं मध्ये धारयति तथैव विलासवती समस्तपृथ्वी-परिपालनसमर्थं राजकुमारं स्वगर्भे धृतवतीत्युभयोः साम्यप्रतिपादनादुपमा पूर्णा।

इत्येवमिति इति = पूर्वरूपेण, एवंविधानि = एतादृशानि, अन्यानि = अपराणि च वचनानीति शेषः, वदन्तीनाम् = कथयन्तीनाम्, तासाम् = पूर्वोक्तानां चन्द्रापीडदर्शने समासक्तानां नारीणाम्, लोचनपुटैः = नेत्रपुटैः, आपीयमानः—आ (= समन्तात्) पीयमानः (= पानविषयीक्रियमाणः, अत्यादरेण वीक्ष्यमाणः) इव। भूषणरवैः = आभूषणोत्थध्वनिभिः, आहूयमानः = आकार्यमाणः, निमन्त्र्यमाणः, इव। हृदयैः = चित्तैः, अनुगम्यमानः = अनुस्रियमाणः, इव। आभरणेत्यादिः—आभरणरत्नानाम् (= अलङ्कारमणीनाम्) ये रश्मयः (= किरणाः) त एव रज्जवः (= गुणाः) ताभिः, अनुबध्यमानः = संनह्यमानः, बन्धनविषयीक्रियमाणः, इव। नवयौवनवलिभिः—नवयौवनानि (= नूतनतारुण्यानि) एव बलयः (= उपायनपदार्थाः) तैः, उपह्रियमाणः = उपदीयमानः, उपहारविषयीक्रियमाणः, इव। शिथिलेत्यादिः—शिथिलाः (= श्लथाः) याः बाहुलताः (= भुजलताः) ताभ्यः विगलितः (= प्रच्युतः) धवलः (= शुक्लवर्णः) वलयनिकरः (= कटकसमुदायः) यस्मिन् तस्मिन् तादृशे, पदे पदे = प्रतिपदविक्षेपे, कुसुममिश्रैः = पुष्पसम्पृक्तैः, लाजाञ्जलिभिः = भ्रष्टधान्ययुक्तकरसम्पुटैः,

वसुमती भी बहुत भाग्यशालिनी है, जिसने सम्पूर्ण पृथ्वी के (प्रशासन और परिपालन के) भार को निर्वहन करने में समर्थ इस राजकुमार को गर्भ में उसी प्रकार धारण किया था जिस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी के भार को उठाने में समर्थ दिग्गज को दिशा ने अपने मध्य भाग में धारण किया है। [गर्भ = (१) भ्रूण, (२) मध्य भाग। गज और राजपुत्र, महारानी और दिशा की समानता है।]

—इस प्रकार की तथा दूसरे प्रकार की बातें करती हुई उन पुरवासी स्त्रियों के नेत्रपुटों द्वारा मानो पिया जाता हुआ, उनके गहनों की आवाज से मानों बुलाया जाता हुआ, उनके हृदयों के द्वारा मानों अनुगमन किया जाता हुआ, आभूषणों के [जटित] रत्नों की किरण रूपी रस्सियों द्वारा मानों बाँधा जाता हुआ, नवयौवन रूपी बलियों द्वारा मानों पूजित (समर्पित) किया जाता हुआ, और शिथिल भुजलताओं से गिरे हुए सफेद कंगनों के समूह वाले प्रत्येक पद पर (पग पग पर)

१. क्वचित्तु 'भार' इदं नापि विद्यते। २. दिग्गज इव यया च व्यूढः, गर्भेण यया व्यूढः, गर्भेण यथायं व्यूढः। ३. निबध्यमान। ४. शिथिल···। ५. ···निकरैः।

विवाहानल इव कुसुममिश्रैर्लाजाञ्जलिभिरवकीर्य्यमाणश्चन्द्रापीडो राजकुलसमीपमाससाद।

राजकुलवर्णनम्

क्रमेण च यामावस्थिताभिरनवरत-करटस्थल-गलित-मद-मषीपङ्क-करीभिरञ्जन-गिरिमालामलिनाभिः कुञ्जर-घटाभिरन्धकारितदिङ्मुखतया जलधरदिवसायमानमुद्दण्ड-धवलातपत्रसहस्रसङ्कटम्, अनेकद्वीपान्तरागतदूतशत-संकुलं राजद्वारमासाद्य तुरङ्ग-मादवततार।

अवकीर्य्यमाणः = प्रक्षिप्यमाणः, विवाहानलः = उद्वाहवह्निः, इव, चन्द्रापीडः = एतन्नामा राजकुमारः, राजकुलसमीपम् = नृपसदनान्तिकम्, आससाद = प्राप। यथा विवाहाग्नौ लाजादीनां प्रक्षेपः प्रसिद्धस्तथैव राजागमनेपि लाजादीनां विकिरणमपि लोके दृश्यते इत्युभयोः साम्यम्।

क्रमेणेति। क्रमेण = परिपाट्या, च, ['राजद्वारमासाद्य तुरङ्गमादवततारे' त्यत्रान्वयः] यामावस्थिताभिः—यामेषु (= प्रहरेषु, स्वसेवाकालेष्वित्यर्थः) अवस्थिताभिः (= वर्तमानाभिः,) अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (= सततम्) यथा स्यात्तथा करटस्थलेभ्यः (= कपोलस्थलेभ्यः) गलितः (= प्रच्युतः, निःसृतः) यो मदः (= दानवारि) स एव मषीपङ्कः (= मलिनाम्बुकर्दमः) तं कुर्वन्ति = विदधति, इति तत्कार्यस्ताभिः। अञ्जनेत्यादिः—अञ्जनगिरिः (= कज्जलाचलः) तस्य या मालाः (= श्रेणयः) ता इव मलिनाः (= मलीमसाः, श्यामा इत्यर्थः), ताभिः, कुञ्जरघटाभिः = गजसंहतिभिः, अन्धकारितदिङ्मुखतया—अन्धकारितानि (= सञ्जातान्धकाराणि) दिशाम् (= काष्ठानाम्) मुखानि (= आस्यानि) येषां तेषां भावस्तत्ता, तया, हेतुना, जलधरदिवसायमानम्—मेघदिनमिवाचरमाणम्, [अत्र द्वितीयान्तानि पदानि 'राजद्वारम्' इति वक्ष्यमाणस्य विशेषणानीति बोध्यम्।] उद्दण्डेत्यादिः—उद्दण्डानि (= उपर्युत्थापितदण्डानि) धवलानि (= शुभ्राणि) च यानि आतपत्राणि (= छत्राणि) तेषां यत् सहस्रम् (= दशशती) तेन सङ्कटम् (= संकुलम्)। अनेकेत्यादिः—अनेकानि (= बहूनि) यानि द्वीपान्तराणि (= भिन्नानि अन्तरीपानि) तेभ्यः, आगताः (= आयाताः) ये दूताः (= सन्देशहराः सेवकविशेषाः) तेषां शतेन (= शतसंख्यया, समूहेनेत्यर्थः) सङ्कुलम् (= व्याप्तम्), राजद्वारम् = राजभवनप्रतीहारम्, आसाद्य = प्राप्य, तुरङ्गमात् = अश्वात्, अवततार = अवतीर्णः, चन्द्रापीडो भूमाविति शेषः।

विवाहाग्नि के समान [जिस चन्द्रापीड पर] फूलों से मिली हुई लावा (खीलों) की अञ्जलियाँ बिखेरी जा रही थीं ऐसा चन्द्रापीड [धीरे-धीरे] राजकुल के समीप पहुँचा।

और [चन्द्रापीड] क्रम से राजद्वार पर पहुँच कर घोड़े से उतरा, जो (राजद्वार) [अपनी अपनी बारी से] पहर पहर तक रहनेवाली, गण्डस्थलों से निरन्तर गिरनेवाले मदजल से स्याही के समान कीचड़ को उत्पन्न करनेवाली, अंजन (काजल) के पर्वतपंक्ति के समान मैली (काली) हाथियों की घटाओं (समूहों) से सभी दिशाओं के मुखों (अन्तरालों) के अन्धकार से युक्त (अंधेरे) हो जाने के कारण वर्षा से दिन के समान प्रतीत हो रहा था, जो (राजद्वार) ऊपर उठे हुए (उठाये गये) हजारों सफेद छत्रों से भरा हुआ था, अनेक दूसरे द्वीपों से आये हुए सैकड़ों राजदूतों से व्याप्त (संकुल) था। [उसमें विभिन्न राजदूत इधर उधर आ जा रहे थे। ऐसे राजद्वार पर पहुँचकर चन्द्रापीड घोड़े से उतरा।]

१. ···मिश्र···। २. विगलित। ३. मषीकरीभिः, मसीपङ्कधाराभिः। ४. समाकुलम्।

अवतीर्य्य च करतलेन करे वैशम्पायनमवलम्ब्य पुरः सविनयं प्रस्थितेन बलाहकेनोपदिश्यमान-मार्गस्त्रिभुवनमिव पुञ्जीभूतम्, आगृहीत-कनक-वेत्रलतैः सित-वारबाणैः[1] [2] सितकुसुमशेखरैः सितोष्णीषैः सितवेषपरिग्रहतया श्वेतद्वीपसम्भवैरिव कृतयुगपुरुषैरिव महाप्रमाणैर्दिवानिशमालिखितैरिव उत्कीर्णैरिव तोरणस्तम्भनिषण्णैर्द्वारपालैरनुज्झितद्वार-

साम्प्रतं राजकुलस्य वैशिष्ट्यं वैशद्येन प्रतिपादयितुमुपक्रमते—अवतीर्य चेत्यादिना। अवतीर्य=अश्वादधः उत्तीर्य, करतलेन=स्वहस्ततलेन, वैशम्पायनम्=स्वपरमसखायम्, शुकनाससुतम्, करे=हस्ते, अवलम्ब्य=धृत्वा,आदायेत्यर्थः, पुरः=अग्रे, सविनयम्=विनयसहितं यथा स्यात्तथा, प्रस्थितेन=प्रचलितेन, कृतप्रस्थानेन, बलाहकेन=एतन्नाम्ना सेनापतिना, उपदिश्यमानमार्गः-उपदिश्यमानः (=निर्दिश्यमानः) मार्गः (=पन्थाः) यस्मै स तादृशः, सन् [चन्द्रापीडः राजकुलं विवेशेति प्रघट्टकान्ते दूरे वक्ष्यमाणेनान्वयः। द्वितीयान्तानि पदानि च 'राजकुलम्' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्। अत्र कुलशब्दो गृहस्य वाचकः। यथा चोक्तमनेकार्थकोशे—"कुलं गृहेऽपि ताटङ्के कुबेरे चैव कुण्डले।" एवञ्च 'राजकुलम्' इत्यस्य 'राजसदनम्' विवेशेत्यर्थो भवति। किञ्चान्वयानुपपत्त्यापि राजवंश इत्यर्थो न संगतः।] पुञ्जीभूतम्=एकत्र समवेतम्, त्रिभुवनम्=त्रैलोक्यम्, इव। बहुविस्तारवत्त्वात् निखिल-पदार्थाश्रयत्वाच्च तस्य त्रिभुवनतुल्यतोत्प्रेक्ष्यते। तेनोत्प्रेक्षालङ्कारो न तूपमेति बोध्यम्।

आगृहीतेति। आगृहीतेत्यादिः—आगृहीता (=सम्यग्रूपेणात्ताः) कनकवेत्रलताः (=सुवर्णजटितवेतसयष्टयः) यैस्तैस्तादृशैः, [इमानि तृतीयान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'द्वारपालै' रित्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्।] सितवारबाणैः=सिताः (=शुक्लाः) वारबाणाः (=कञ्चुकाः) येषां ते तैस्तादृशैः, ['कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री।" इत्यमरः२।८।६३] सितकुसुमशेखरैः—सितानि (=शुक्लानि) यानि कुसुमानि (=सुमनांसि) तान्येव शेखरः (=शिरोभूषणम्) येषां ते तैस्तादृशैः, सितोष्णीषैः—सिताः (=शुभ्राः) उष्णीषाः (=मूर्धवेष्टनानि) येषां ते तैस्तादृशैः, सितवेषपरिग्रहतया—सितः (=शुक्लः) वेशः (=नेपथ्यम्) तस्य परिग्रहः (=स्वीकारः, धारणम्) तस्य भावस्तत्ता तया, श्वेतद्वीप-सम्भवैः=श्वेतनामकद्वीपसमुत्पन्नैः, इव, कृतयुगपुरुषैः=सत्ययुगजनैः, इव, महाप्रमाणैः=अत्यन्तोच्चैः लम्बायमानाकारैः, इव, दिवानिशम्=अहर्दिवम्, आलिखितैः=चित्रितैः, इव, उत्कीर्णैः=कर्षितैः, उल्लिखितैः, इव, तोरणस्तम्भनिषण्णैः—तोरणम् (=बहिर्द्वारम्) तस्य ये स्तम्भाः (=स्थूणाः) तेषु निषण्णैः (=आसीनैः), तेषां निकटे विद्यमानैरित्यर्थः, द्वारपालैः= प्रतीहाररक्षकैः, दौवारिकैः,

और उतर कर अपनी हथेली से वैशम्पायन का हाथ पकड़ कर (हाथों में हाथ मिलाये हुए), आगे विनय के साथ (झुके हुए) चलने वाले बलाहक द्वारा मार्ग दिखलाये जाते हुए (चन्द्रापीडने) राजकुल=राजभवन में प्रवेश किया, जो (राजभवन) ऐसा लग रहा था कि उसमें मानों तीनों लोक एकत्र हो गये हों, जिस (राजभवन) के द्वारदेश (दरवाजे के स्थान) को [हाथों में] सुवर्ण-जटित बेंत की छड़ियों को पकड़े हुए, सफेद अंगरखे (कवच) वाले, सफेद फूलों के बने हुए शिरोभूषण वाले, सफेद पगड़ी वाले, [इस प्रकार] सभी सफेद वेशभूषा धारण करने के कारण मानों श्वेतद्वीप में उत्पन्न होने वाले, सतयुग के पुरुषों के समान लम्बे चौड़े आकारवाले, तोरणस्तम्भ (मुख्य द्वार पर बने खम्भों) के समीप दिन रात बैठनेवाले [अतएव] उनमें चित्रित से, अथवा पत्थरों में खोद कर बनाये गये से द्वारपालों द्वारा कभी भी नहीं छोड़ा जाता था। [उक्त रूपवाले द्वारपाल जिसके

१. सितवारवाणधारिभिः : २. इतः पूर्वं 'सिताङ्गरागैः' इत्यधिकः पाठः कुत्रचित्।

देशम्, अनेक-सञ्जवन[1]-चन्द्रशाला[2]-विटङ्क-वेदिका-सङ्कट-शिखरैरभ्रङ्कषैरपहसित[3]-कैलास-शैल-शोभैरमलसुधावदातैः सप्रालेयशैलमिव[4] महाप्रासादैः, अनेक-वातायन-विवर-विनिर्गत-युवति[5]-भूषण-किरण-सहस्रतया कनकशृङ्खलाजालकेनेवोपरिविस्तीर्णेन[6] विराजमानम् अन्तर्गतायुध-

अनुज्झित-द्वारदेशम्—अनुज्झितः (=अपरित्यक्तः) द्वारदेशः (=प्रतीहारस्थानम्) यस्य यस्मिन् वा तत् तादृशं राजकुलमित्यर्थः ।

पुनरपि तदेव विशिनष्टि—अनेकेत्यादिना । अनेकेत्यादिः—अनेकानि (=बहूनि) यानि सञ्जवनानि (=चतुःशालानि) चन्द्रशालाः (=उपरिवर्त्तिभागाः), विटङ्काः (=कपोतपालिकाः) वेदिकाः (=परिष्कृतभूमयः) ताभिः सङ्कटानि (=व्याप्तानि) शिखराणि (=उन्नतदेशाः, गृह-प्रान्ताग्राणि) येषां तैस्तादृशैः, ["प्रासादै'रित्यस्य विशेषणानीमानि तृतीयान्तानि पदानि ।] अभ्रङ्कषैः= आकाशव्यापिभिः, उपहसित-कैलास-शैलशोभैः—उपहसिता (=उपहासविषयीकृता, तिरस्कृता वा) कैलासशैलस्य (= कैलासपर्वतस्य) शोभा (= प्रभा) यैस्तैस्तादृशैः, अमल-सुधावदातैः—अमला (=उज्ज्वला) या सुधा (=श्वैत्योत्पादकलेपनद्रव्यविशेषः, 'चूना' इति हिन्द्यां प्रसिद्धा) तया अवदातैः (= शुभ्रैः) एतादृशैः, यद्वा—तद्वच्छुक्लैः, महाप्रासादैः =विशालाट्टालिकाविशिष्टसदनैः, सप्रालेयशैलम्—प्रालेयशैलेन (=हिमालयपर्वतेन) सहितम् (=युक्तम्) इव, विद्यमानम् । अत्रोत्प्रेक्षा । ["…सञ्जवनं त्विदम् । चतुःशालम् ।" इत्यमरः २।२।६ । "कपोतपालिकायां तु विटङ्कं पुन्नपुंसकम्" । इत्यमरः २।२।१५ । "शुद्धान्ते वलभीचन्द्रशाले सौधोर्ध्ववेश्मनि" । इति रभसः ।]

अनेकेति । अनेकेत्यादिः—अनेकानि (=बहूनि) यानि वातायनानि (= गवाक्षाः) तेषां यानि विवराणि (= रन्ध्राणि) तेभ्यो विनिर्गतम् (= निःसृतम्) युवतीनाम् (= तरुणीनाम्) भूषणकिरणसहस्रम् (=भूषणरश्मिसमुदायः) यस्मिन्, तस्य भावस्तत्ता तया, उपरिविस्तीर्णेन =ऊर्ध्वं प्रतानितेन, कनकशृङ्खलाजालकेन—कनकशृङ्खलाः (=स्वर्णनिगडाः) तासां जालकेन (= समूहेन), इव, विराजमान् =शोभमानम् । वातायनशब्दस्य नपुंसकत्वात् पुंसि केषाञ्चित् प्रयोगः प्रामादिकः । अत्रा-प्युत्प्रेक्षा ।

अन्तर्गतेति । अन्तर्गतायुधनिवहाभिः—अन्तर्गतः (= मध्यस्थितः) आयुधानाम् (=शस्त्रा-

द्वार पर सदैव बैठ कर निगरानी किया करते थे ।] जो (राजभवन) अनेक संजवनों (चतुःशालाओं, आमने सामने बने हुए चार भवनों) से, चन्द्रशालाओं (अटारियों) से, विटङ्कों (कपोतपालिकाओं) से, वेदिकाओं (बैठने आदि के लिये बनाये गये पक्के चबूतरों) से भरे हुए = युक्त शिखरों वाले (बहुत ऊँचे-ऊँचे), आकाश को छूने वाले, कैलास पर्वत की शोभा का उपहास करनेवाले अर्थात् उससे भी अधिक शोभावाले, साफ चूने से पोते जाने से अत्यन्त सफेद किये गये बड़े-बड़े महलों से ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों इसमें हिमालय पर्वत विद्यमान हो, जो (राजभवन) अनेक वातायनों (झरोखों या खिड़कियों) के छिद्रों से युवतियों के आभूषणों की हजारों किरणों के कारण अथवा हजारों युवतियों के आभूषणों की किरणों के कारण ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो ऊपर (चन्दोवे के रूप में) फैलायी गयी सुनहरी शृङ्खलाओं के समूह से शोभित हो रहा हो, जो भीतर रखे गये

१. संयमन, संयवन…। २. चन्द्रशालिका…। ३. उपहसितकैलाश…।
४. …शैलेयमिव । ५. …युवतिकिरण…। ६. वितानेन, विततेन ।

निवहाभिराशीविष-कुल-सङ्कुलाभिः पातालगुहाभिरिवातिगम्भीराभिरायुधशालाभिरुपेतम्, अबलाचरणालक्तक-रस-रक्त-मणि-शकलैः शिखर-निलीनशिखिकुल-कृतकेकारवकलकलैः क्रीडा-पर्वतकैरुपशोभितम्, उज्ज्वलवर्णकम्बलावगुण्ठितकनकपर्य्याणाभिः प्रलम्बचामर-कलाप-[1] चुम्बित-चलकर्णपल्लवाभिः[2] कुलयुवतिभिरिवोपारूढ-[3]शिक्षाविनय-निभृताभिर्[4]यामकरेणुकाभिर-[5]शून्य-कक्षान्तरम्,—

स्त्राणाम्) निवहः (=समूहः) यासां तासां तादृशीभिः,आशीविषेत्यादिः—आशीविषाः (=भुजङ्गाः) तेषां कुलेन (=समूहेन) सङ्कुलाभिः (=व्याप्ताभिः), पातालगुहाभिः=रसातलकन्दराभिः, इव, इदमुपमायाम्, अतिगम्भीराभिः=अतिगभीराभिः, आयुधशालाभिः=शस्त्रशालाभिः, उपेतम्=युक्तम् ।

अबलेति । अबलेत्यादिः—अबलाः (= स्त्रियः) तासां चरणानाम् (= पादानाम्) यः अलक्तकरसः (=यावकद्रवः) तेन रक्तानि (=अरुणवर्णानि) मणिशकलानि (=रत्नखण्डानि) येषु येषां वा तैः, शिखरेत्यादिः—शिखरेषु (=सानुषु) निलीनाः (=निलीय स्थिताः) ये शिखिनः (=मयूराः) तेषां कुलेन (=समूहेन) कृताः (= विहिताः) केकारवाः (=मयूरवाणीध्वनयः) एव कलकलः (=कोलाहलः) येषु तैस्तादृशैः, क्रीडापर्वतकैः=खेलाचलैः, क्रीडार्थं निर्मितैः पर्वततुल्य-स्थलैरित्यर्थः, उपशोभितम्=विराजितम् ।

उज्ज्वलेति । उज्ज्वलेत्यादिः—उज्ज्वलवर्णाः (=धवलवर्णाः) ये कम्बलाः (=रल्लकाः, ऊर्णावस्त्राणि) तैः अवगुण्ठितानि (=आच्छादितानि) कनकपर्याणानि (=सुवर्णनिर्मित-पल्ययनानि) यासां ताभिः, प्रलम्बेत्यादिः—प्रलम्बानि (=दीर्घाणि) यानि चामराणि (=प्रकीर्णकानि) तेषां कलापैः (=समूहैः) चुम्बिताः (=स्पृष्टाः) चलाः (= चञ्चलाः) कर्णपल्लवाः (= श्रोत्र-किसलयानि) यासां ताभिः, उपारूढेत्यादिः—उपारूढौ (=अधिगतौ) यौ शिक्षाविनयौ (=शिक्षण-विनम्रते) ताभ्यां निभृताभिः (=भृताभिः, सहिताभिः), करेणुकापक्षे—शिक्षा (=सङ्केतज्ञानम्) विनयः (=अनुग्रता) च, ताभ्यां निभृताभिः=निश्चलाभिः, कुलयुवतिभिः=कुलीनयुवतिभिः, इव, विद्य-मानाभिः, यामकरेणुकाभिः=चतुष्किकाहस्तिनीभिः, प्रतिप्रहरं भिन्नभिन्नत्वेन बन्धनीयाभिः करिणीभिः, अशून्यकक्षान्तरम्—अशून्यम् (=पूर्णम्, संयुतम्) कक्षान्तरम् (=प्रकोष्ठमध्यक्षेत्रम्) यस्मिन् तत् तादृशम् । अत्र सादृश्यप्रतिपादनादुपमा ।

(काले, भयंकर) आयुधों के समूहवाली अत्यन्त गहरी आयुधशालाओं से युक्त होता हुआ ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों (काले और भयंकर) सापों (आशीविषों) के समूह से भरी हुई पाताल लोक की गुफायें हों, जो (राजभवन) स्त्रियों के पैरों के गीले आलते से लाल किये गये मणियों के टुकड़ों से युक्त (अतएव) चोटियों पर बैठे हुए मयूरों के समूह द्वारा की गयी केकाध्वनि के कोलाहल से युक्त क्रीडापर्वतों (खेलने के लिये बनाये गये ऊँचे टीलों) से शोभित था, जिस (राजभवन) के कमरों के भीतरी भाग—उज्ज्वल वर्णवाले (चमकते हुए) कम्बलों से ढँकी हुई झूलों (काठियों, जीनों) वालीं, लटकते हुए चामरों के समूह से युक्त (चुम्बित), चञ्चल पल्लवों के सदृश कानोंवाली, प्राप्त कराई गई शिक्षा और विनम्रता से युक्त कुलीन स्त्रियों के समान (सिखाई जाने के कारण सीधी बनी हुई) निश्चल यामकरेणुकाओं (एक एक पहर तक वहाँ पहरा देने के लिये बाँधी गईं हथिनियों) द्वारा—खाली नहीं रहते थे, [अर्थात् ऐसी हथिनियों वहाँ सदैव खड़ी रहती थीं ।]

१. प्रचल, लम्ब । २. '''कलापचल''' । ३. उपरूढ, उपगूढ''' ।
४. '''विनयेन निभृताभिः । ५. यामक''' ।

—आलान-स्तम्भनिषण्णेन च नवजलधरघोष-गम्भीरम्,[1] अनुगत-वीणा-वेणु-रवरम्यम्,[2] आस्फालित-घर्घरिका-घर्घरम्, अनवरतसंगीतकमृदङ्गध्वनिम्,[3] आमीलित-लोचन-त्रिभागेण वामदशन-कोटि-निषण्ण-हस्तेन निश्चलकर्णतालेनाकर्णयता सलीलमुभयपार्श्वावलम्बि-वर्ण-[4]

आलानेति। आलानस्तम्भनिषण्णेन—आलानस्तम्भः (=गजबन्धनस्तम्भः) तत्र निषण्णेन (=आसीनेन) ["गन्धमादननाम्ना गन्धहस्तिना सनाथीकृतैकदेशम्" इत्यत्रान्वयः। एवञ्च तृतीयान्तानीमानि पदानि'गन्धहस्तिना' इति वक्ष्यमाणस्य विशेषणानीति बोध्यम्।] नवजलधर-घोष-गम्भीरम्—नवः (=सद्योभूतजलः, नूतनः) यो जलधरः (=वारिधरः, मेघः) तस्य यो घोषः (=गर्जनरवः) स इव गम्भीरम् (= मन्दध्वानम्)। अनुगतेत्यादिः—अनुगताः (= सहिताः) ये वीणायाः (=तन्त्र्याः) वेणोः (=वंशस्य) च रवाः (=शब्दाः) तैः रम्यम् (=मनोहरम्)। आस्फालितेत्यादिः—आस्फालिता (=वादिता) या घर्घरिका (= घर्घर्-इत्याकारकध्वन्युत्पादको वाद्यविशेषः) तस्याः घर्घरः (= घर्घररवः) यस्मिन् तत्, तन्निनादमिश्रमित्यर्थः, अनवरतसङ्गीतक-मृदङ्गध्वनिम्—अनवरतम् (=सततम्) सङ्गीतके (=गीतनृत्यवाद्यत्रयात्मके) यो मृदङ्गध्वनिः (=मुरजध्वनिः) तम्, सलीलम्=विलाससहितं यथा स्यात्तथा, ['आकर्णयता' इत्यस्य कर्मेदम्] आमीलितेत्यादिः—आमीलितः (=ईषन्मुद्रितः) लोचनयोः (=नेत्रयोः) त्रिभागः (=तृतीयांशः) येन तेन तादृशेन, वामदशनेत्यादिः—वामः (=अपसव्यः) यः दशनः (=दन्तः) तस्य या कोटिः (=अग्रभागः) तस्यां निषण्णः (=स्थितः) हस्तः (=शुण्डादण्डः) यस्य तेन तादृशेन, निश्चलकर्णतालेन—निश्चले (=अचले) कर्णताले (=तालपत्रवद्विस्तृतौ श्रवणौ, श्रवणाभूषणे वा) यस्य तेन तादृशेन, आकर्णयता=श्रृण्वता, मृदङ्गध्वनिमित्यत्रान्वयस्तूक्तः। एवञ्च स गजो मृदङ्गध्वनिसमाकर्णने मग्न आसीदिति भावः।

उभयेति। केचित्तु 'सलीलमि' त्यस्यास्मिन् वाक्येऽन्वयमिच्छन्ति। सलीलम्=सविलासम्, उभयपार्श्वेत्यादिः—उभयपार्श्वे (= पार्श्वद्वये) अवलम्बते (=आश्रयति, लम्बायमानं वर्त्तते) तच्छीलः (=तत्स्वभावः) यो वर्णकम्बलः (=विचित्रपृष्ठास्तरणम्, 'झूल' इति हिन्द्यां प्रसिद्धम्) यस्य तस्य भावस्तत्ता, तया। आविष्कृतेत्यादिः—आविष्कृतम् (= प्रकटितम्, प्रदर्शितम्) धातुभिः

जिस (राजभवन) का एक भाग गन्धमादन नामक गन्धगज से युक्त था, अर्थात् उसमें एक ओर गन्धगज विराजमान था, जो (गन्धगज) आलानस्तम्भ (हाथी बाँधने के खम्भे) के समीप बैठा हुआ था, जो (गन्धगज) नये बादलों की गर्जना के समान गंभीर, निरन्तर साथ में बजती हुई वीणा और वेणु (बाँसुरी) की ध्वनि से मनोहर, पीटी गयी (थापें दी गई) घर्घरिका (एक चर्मवाद्यविशेष) की घर्घर ध्वनि से मिश्रित, निरन्तर संगीतक (गीत, वाद्य, नृत्य तीनों) में मृदङ्ग की ध्वनि को, अपनी आँखों के किनारों को कुछ बन्द किए हुए, बायें दाँत के किनारे पर सूँड़ रखे हुए, कर्णरूपी तालपत्रों को निश्चल (स्थिर) किये हुए, लीलापूर्वक (आनन्दपूर्वक) सुन रहा था, जो (गन्धगज) [अपनी पीठ पर] दोनों ओर लटकने वाली रंगीन झूल (वर्ण-कम्बल) के कारण ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों (गेरु आदि खनिजों=) धातुओं से रंग-बिरंगे पक्षसंपुट (पंखों) को प्रकट करता (दिखाता)

१. कलधरगर्जितघोष···। २. अतनु···।
३. अनवरतसङ्गीतकमृदङ्गध्वनिम्। अनवरत···आमीलित, अनवरतसङ्गीतमृदङ्गध्वनिमतिमनोहरं किञ्चिदामिलित···। ४. प्रलम्बित···।

कम्बलतया विन्ध्यगिरिणेवाविष्कृतधातु-विचित्रित[1]-पक्षसम्पुटेन, आधोरण-गीतानन्द-कृत-मन्द्र-कण्ठ-गर्जितेन, मदजल-शबल-शङ्ख-शोभित-श्रवणपुटेन, रजनिकर-बिम्ब-चुम्बि-संवर्त्तकाम्बुद[2]-वृन्द[3]-विडम्बकेन, कर्णावलम्बिना[4] काञ्चनमयेन कृतकर्णपूरमिवाङ्कुशेन मुखमुद्वहता, मदजल-मलिनेन द्वितीयेनेव कर्णचामरेण कपोलतलदोलायमानेन मधुकरकुलेनालङ्क्रियमाणेन,अत्युदग्र-

---

(=गैरिकादिभिः) विचित्रितम् (= विविधवर्णाङ्कितम्) पक्षसंपुटम् (=छदसम्पुटम्) येन स तादृशेन, विन्ध्यगिरिणा=विन्ध्यपर्वतेन, इव विद्यमानेन । अत्र द्रव्योत्प्रेक्षा ।

आधोरणेति । आधोरणेत्यादिः--आधोरणः (=हस्तिपकः) तस्य गीतम् (=गानम्) तस्माद् य आनन्दः (=पराप्रीतिः) तेन कृतम् (=विहितम्) मन्द्रम् (=गम्भीरम्) कण्ठगर्जितम् (= गलविवरगर्जितम्) येन तेन, तादृशेन । ['आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः ।' इत्यमरः २।८।५९]

मदेति । मदजलेत्यादिः—मदजलम् (= दानवारि) तेन शबलः (=चित्रवर्णः) यः शङ्खः (=भालभ्रूवोरन्तरम्, ललाटास्थि) तेन शोभितम् (=विराजितम्) श्रवणपुटम् (=कर्णसम्पुटम्) यस्य स तेन तादृशेन । ['शङ्खः कम्बौ न योषिन्ना भालास्थ्नि निधिभिन्नखे ।" इति मेदिनी]

रजनीति । रजनिकरेत्यादिः--रजनिकरबिम्बम् (= चन्द्रबिम्बम्) चुम्बन्ति (=स्पृशन्ति) तच्छीलाः ये संवर्त्तकाम्बुदाः (= प्रलयकालिकमेघ-विशेषाः) तेषां वृन्दम् (=समुदायम्) तद् विडम्बयति (=अनुकरोति) य सः तादृशस्तेन । ['संवर्त्तः प्रलयः कल्पः ··· ।' इत्यमर १।४।२२। संवर्त्तस्य अम्बुदाः=मेघाः । तद्वद्विशालो भयानकश्चेति बोध्यम् ।] अत्रोपमा ।

कर्णेति । कर्णावलम्बिना=श्रवणश्रितेन, काञ्चनमयेन = कार्तस्वररचितेन, अङ्कुशेन=सृणिना, कृतकर्णपूरम् = विहितश्रवणाभूषणम्, इव, मुखम्=आस्यम्, उद्वहता =धारयता । अत्र क्रियोत्प्रेक्षा ।

मदेति । मदजलमलिनेन—मदजलम् (=दानवारि) तेन मलिनेन (=मलीमसेन) [मधुकरकुलेन—इति पक्षे—मदजलम् इव मलिनम् =कृष्णवर्णम्] अतएव द्वितीयेन=अन्येन, कर्णचामरेण= श्रवणप्रकीर्णकेन, इव, विद्यमानेन, कपोलतलदोलायमानेन कपोलतले (=गण्डफलके) दोलायमानेन (=इतस्ततो भ्रममाणेन, उड्डीयमानेनेत्यर्थः) मधुकरकुलेन = भ्रमरसमूहेन, अलङ्क्रियमाणेन =विभूष्यमाणेन । 'कर्णचामरेणेवे' त्यत्रापि द्रव्योत्प्रेक्षा ।

हुआ विन्ध्य पर्वत हो, जो (गन्धगज) महावत (आधोरण) के गानों से [उत्पन्न] आनन्दके कारण गंभीर कण्ठगर्जन कर रहा था, जिस (गन्धगज) के दोनों कान मदजल से रंगे हुए शंख (ललाटास्थि) से शोभित थे, [इसलिये] चन्द्रमा के बिम्ब का स्पर्श करने वाले [प्रलय काल में उत्पन्न होने वाले] संवर्त्तक नामक मेघों के समूह का अनुकरण कर रहा था, उनके समान दिखाई दे रहा था, जो (गन्धगज) कान के पास लटके हुए, सोने के बने हुए अंकुश से (युक्त मुख को) मानों कर्णपूर से युक्त मुख को धारण किये हुए था; जो (गन्धगज) मदजल से मलिन, मानों दूसरे कर्णचामर बने हुए,

---

१. ···चित्रित···। २. चुम्बितावर्त्तक, चुम्बिनावर्त्तक, चुम्बितसंवर्त्तक।

३. ···वृन्द···इदं क्वापि न दृश्यते । ४. कर्णान्तलम्बिना ।

तया पूर्वंकायस्य वामनतया[1] च जघनभागस्य पातालादिवोत्तिष्ठता[2],निशासमयेनेव परिस्फुरत्सा-र्द्धचन्द्रनक्षत्रमालेन,शरदारम्भेणेव प्रकटितारुण-चारु-पुष्करेण, वामनरूपेणेव कृतत्रिपदीविला-

अत्युदग्रतयेति । पूर्वंकायस्य=शरीरपूर्वभागस्य, अत्युदग्रतया=अत्युन्नततया, जघनभागस्य = शरीरपश्चाद्भागस्य वामनतया=खर्वतया, च, पातालाद्=रसातलात्, उत्तिष्ठता=प्रादुर्भवता, इव, इदं पशूनां स्वाभाविकं वर्णनम् । गजादयः सर्वेऽपि पशवः पृथ्वीतलादुत्थानसमये प्रथमं पूर्वंकायं किञ्चि-दुत्थाय तदनन्तरमपरकायमुत्थापयन्ति । तेन पातालान्निर्गमनं प्रतीयते इति भावः । 'पूर्वंकायस्य' इत्यत्र 'पूर्वं कायस्ये'ति विग्रहे 'पूर्वापराधरोत्तराणामि' त्यादिना समासः । क्रियोत्प्रेक्षा ['उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रिता-स्तुङ्गेऽथ वामने ।" इत्यमरः ३।१।७०]

निशेति । परिस्फुरदित्यादिः—परिस्फुरन्ती (=देदीप्यमाना) सार्धचन्द्रा (=अर्धचन्द्रा-कृतिसहिता) नक्षत्रमाला (=अश्विनीप्रभृतिसप्तविंशतिनक्षत्रराशिः) यस्मिन् तेन तादृशेन, गजपक्षे—परिस्फुरन्ती (=शोभमाना) सार्धचन्द्रा (=अष्टमीचन्द्राकृतिमस्तकाभरणविशेषसहिता) नक्षत्रमाला (= सप्तविंशतिसंख्याकमौक्तिकग्रथिताभरणविशेषः) यस्य तेन तादृशेन । निशासमयेन = रात्रिकालेन, इव । ['सैव नक्षत्रमाला स्यात् सप्तविंशतिमौक्तिकैः ।' इत्यमरः २।६।१०६]

शरदिति । प्रकटितेत्यादिः—प्रकटितम् (= आविष्कृतम्) अरुणम् (= रक्तम्) चारु (= मनोहारि) पुष्करम् (= शुण्डाग्रम्) येन तादृशेन, पक्षे—प्रकटितानि (= विकसितानि, आविष्कृतानि) अरुणानि (=रक्तानि) चारूणि (=सुन्दराणि) च पुष्कराणि (=कमलानि) यस्मिन् तेन तादृशेन, शरदारम्भेण=शरत्कालप्रारम्भेण, घनात्ययप्रारम्भेण, इव । ["पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले । व्योम्नि खड्गफले पद्मे तीर्थौषधिविशेषयोः ॥" इत्यमरः ३।३।१८६-८७]

वामनेति । कृतत्रिपदीविलासेन—कृतः (= विहितः) त्रिपद्या (=पादबन्धनशृङ्खलया) विलासः (=क्रीडा) येन स तादृशेन, पक्षे—कृतः त्रिपद्या (=पादत्रयोत्थापनेन, त्रैलोक्यमापनार्थ-मिति शेषः) विलासः (=लीला) येन स तादृशेन, वामनरूपेण = वामनावतारेण, विष्णोः पञ्चमाव-तारेण, इव । केचित्तु त्रिपदी=पादमुत्क्षिप्य पादत्रयेऽङ्गावस्थानम्, तस्याः विलासः । 'त्रिपदी पाद-बन्धनम् ।' इति यादवकोषमनुसृत्य पूर्वं व्याख्यातम् ।

कपोलतल पर मड़राते हुए भौरों के समूह से शोभित हो रहा था, [भ्रमर-पक्ष में—मदजल के समान मलिन ।] जो (गन्धगज) शरीर के पूर्व भाग (अगले हिस्से) के अत्यन्त ऊँचा होने से और जघन भाग (पिछले हिस्से) के बौना होने के कारण ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों पाताल से ऊपर उठ = निकल रहा हो, [हाथी आदि सभी पशुओं के उठते समय शरीर ऐसा ही हो जाता है, वे पहले आगे का हिस्सा कुछ उठाकर बाद में पिछला हिस्सा उठाते हैं ।] जो (गन्धगज) चमकते हुए [स्वर्णादि-निर्मित] अर्धचन्द्र (आभूषणविशेष) से युक्त नक्षत्रमाला (सत्ताइस संख्या वाले नक्षत्रों के समान सत्ताईस मोतियों की माला) से युक्त ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों अर्धचन्द्र (अष्टमीचन्द्र) के साथ चमकती हुई नक्षत्रों की राशि से युक्त रात्रि का समय हो, जो (गन्धगज) लाल-लाल सुन्दर सूँड़ को प्रकट करता (दिखाता) हुआ ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों कि लाल और सुन्दर कमलों को प्रकट करने (खिलाने) वाला शरद ऋतु का आरम्भ हो, [पुष्कर—१. कमल, २. सूँड़ का अग्रभाग] जो (गन्धगज) त्रिपदी (एक पैर उठाकर केवल तीन पैरों पर खड़े रहने) का खेल करता हुआ [तीन पैर उठाकर विश्व को नापने वाले] वामनावतार (वामन भगवान् का रूप) सा प्रतीत हो

---

१. अतिवामनतया, वानतया । २. पातालतलादिव ।

सेन, स्फटिकगिरितटेनेव लग्न-सिंहमुखप्रतिमेन, प्रसाधितेनेव[1] आलोल[2]कर्णपल्लवाहतमुखेन, गन्धमादननाम्ना गन्धहस्तिना सनाथीकृतैकदेशम्,—

—उज्ज्वल-पट्ट[3]-कम्बल-पट-प्रावारित[4]-पृष्ठैश्च　रसित-मधुर-घण्टिका-रव-मुखर-कण्ठै-

स्फटिकेति । लग्नेत्यादिः—लग्ना (=दन्तोपरि संसक्ता) सिंहमुखस्य (=मृगाधिपास्यस्य) प्रतिमा (=दन्तबन्धनशृङ्खला) यस्य स तेन तादृशेन, पक्षे—लग्ना (=सम्मुखे स्थितत्वात् सङ्क्रान्ता) सिंहमुखस्य = पार्वती-वाहनमूर्तसिंहवदनस्य प्रतिमा (= प्रतिबिम्बम्) यस्मिन् तेन तादृशेन, स्फटिकगिरितटेन=स्फटिकाचलवप्रेण, इव । ["प्रतिमा गजदन्तस्य बन्धे चानुकृतावपि ।" इति मेदिनी ।]

प्रसाधितेनेति । आलोलेत्यादिः—आ (= ईषत्) लोलौ (= चञ्चलौ) यौ कर्णपल्लवौ (=श्रवणकिसलये, तद्वद् विशालावित्यर्थः) ताभ्याम् आहतम् (=भ्रमरादिदूरीकरणाय ताडितम्) मुखम् (=आननम्) यस्य स तेन तादृशेन । पक्षे—कर्णौ (=श्रवणौ) पल्लवौ (=किसलये) इव—इति समासार्थः, प्रसाधितेन=विविधभूषादिविभूषितेन लोकेन, इव ।

[पूर्वतः 'निशासमयेनेव' इत्यत आरभ्य 'प्रसाधितेनेव' एतत्पर्यन्तं पूर्णोपमा श्लेषश्चानयोः सङ्करः ।]

गन्धमादनेति । गन्धमादननाम्ना—गन्धमादन इति नाम (= अभिधेयम्) यस्य स तेन, गन्धहस्तिना=गन्धगजेन, सनाथीकृतैकदेशम्—सनाथीकृतः (= स्वस्थित्या संयुक्तीकृतः) एकदेशः (=एकभागः) यस्य तत्तादृशम्, 'राजकुलम्' इदं मुख्यं विशेष्यम् । 'यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति मदद्विपाः । ··· ··· ··· ···इति गन्धगजलक्षणं प्रसिद्धम् ।

उज्ज्वलेति । [इमानि तृतीयान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'तुरङ्गमै' रित्यस्य विशेषणनीति बोध्यम् ।] उज्ज्वलेत्यादिः—उज्ज्वलाः (=धवलाः) ये पट्टकम्बलाः (=कृमिकोशोद्भवसूत्रनिर्मितरल्लकाः) तैः पटाः (=वस्त्राणि), तैश्चः प्रावारितानि (=समाच्छादितानि) पृष्ठानि (= पृष्ठदेशाः) येषां तैः तादृशैः, [क्वचित्तु—पट्टकम्बलपटुप्रावारितेत्यादि पाठः, तत्र पट्टकम्बलैः पटु=सम्यक् इत्यर्थो बोध्यः, शेषं पूर्ववत् । वस्तुतस्तु—अश्वानां स्वभावानुसारं केचित् क्षौमैः केचित् कम्बलैः, केचिच्च पटैः=वस्त्रैः प्रावारितपृष्ठदेशा आसन्नित्यर्थेऽश्वालंकाराणां वैभिन्यं सिध्यतीति बोध्यम् ।

रसितेत्यादिः—रसिताः (=रणिताः) मधुराः (=मनोहराः) याः घटिकाः (=क्षुद्रघण्टाः) तासां रवः (=स्वरः) तेन मुखराः (=वाचालाः, ध्वनियुक्ताः) कण्ठाः (=ग्रीवाः) येषां तैःतादृशैः,

रहा था, जो (गन्धगज) सिंहसदृश मुख वाली प्रतिमा (दाँत बाँधने की शृङ्खला) से युक्त था अर्थात् जिसके दाँतों के अग्रभाग में सिंहमुख सदृश जंजीर बँधी हुई थी अतः ऐसा लग रहा था मानों जिसमें [पार्वती के] सिंह का प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा हो ऐसा कैलाशपर्वत (स्फटिकपर्वत) का किनारा हो, जो फड़फड़ाते हुए कर्णपल्लवों से ताड़ित मुखवाला था इसलिए ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों कि सजा सजाया व्यक्ति हो जिसका मुख कर्णभूषण के रूप से पल्लवों से रगड़ खा रहा हो । [इस प्रकार की विशेषताओं वाला गन्धमादन नामक गन्धगज उस राजभवन के एक भाग में स्थित था ।]

और जो (राजभवन) राजा के प्रिय, घुड़साल में स्थित ऐसे घोड़ों से शोभित था जिन (घोड़ों) की पीठें उज्ज्वल रेशमी कम्बल वस्त्रों से ढँकी हुई थीं, [अथवा रेशमीवस्त्रों, कम्बलों और वस्त्रों से ढँकी थीं, इससे अश्वों की विविधता प्रकट होती है ।] जिन (अश्वों) के कंठ (गरदनें) बजती हुई

१. क्वचित्तु 'इव' पदं नास्ति ।　　२. आलोध्र····।
३. पटु ।　　४. प्रावृत, प्रावरित ।

मञ्जिष्ठालोहित-स्कन्ध-केसर-बालैर्वन-गज-रुधिर-पाटल-सटैरिव केसरिभिः, पुरो-निहित-यवस-राशि-शिखरोपविष्ट-मन्दुरापालैरासन्न-मङ्गल-गीत-ध्वनि-दत्तकर्णैरन्तःकपोल-धृत-मधुर-सरस-लुलित-लाज-कवलैर्भूपालवल्लभैर्मन्दुरागतैस्तुरङ्गमैरुद्भासितम्,—

—अधिकरण-मण्डमगतैश्चार्य्य-वेषैरत्युच्चवेत्रासनोपविष्टैर्धर्म्ममयैरिव धर्म्माधिकारिभि-

मञ्जिष्ठेत्यादिः—मञ्जिष्ठा (=प्रसिद्धः रञ्जनद्रव्यविशेषः) सा इव लोहिताः (=रक्तवर्णाः) स्कन्ध-केसराणाम् (=अंसस्थितकेशानाम्) वालाः (=रोमाणि) येषां तैस्तादृशैः। [स्कन्धकेसरशब्देनैव वालार्थप्रतीतौ सत्यामपि बालशब्दप्रयोगः स्पष्टतार्थ एव बोध्यः।] वनेत्यादिः—वनगजाः (=अरण्य-हस्तिनः) तेषां रुधिरेण (=रक्तेन) पाटलाः (=श्वेतरक्ताः) सटाः (=ग्रीवास्थितकेशाः) येषां तैस्तादृशैः, केसरिभिः = सिंहैः, इव, विद्यमानैरिति शेषः। पुरोनिहितेत्यादिः—पुरः (=अग्रे) निहितः (=स्थापितः, क्षिप्तः) यो यवराशिः (=तृणसमूहः) तस्य शिखरम् (= ऊर्ध्वप्रदेशः) तस्मिन् उपविष्टाः (=संस्थिताः) मदुरापालाः (=अश्वशालापालकाः) येषां तैस्तादृशैः। आसन्ने-त्यादिः—आसन्नः (=समीपवर्त्ती) यो मङ्गलगीतध्वनिः (=माङ्गल्यसूचकगानशब्दः) तस्मिन् दत्ताः (= न्यस्ताः) कर्णाः (= श्रोत्राणि) यैस्तैस्तादृशैः। अन्तःकपोलेत्यादिः—अन्तःकपोलेषु (=गण्डस्थलाभ्यन्तरेषु) धृताः (=स्थापिताः) मधुराः (=मिष्टाः) सरसाः (= रसान्विताः) लुलिताः (=हस्तेन मर्दिताः) ये लाजाः (=भ्रष्टधानाः) तेषां कवलाः (=ग्रासाः) येषां तैस्तादृशैः भूपालवल्लभैः=नृपप्रियैः, मन्दुरागतैः = वाजिशालाप्राप्तैः, तुरङ्गमैः=अश्वैः, उद्भासितम्=उप-शोभितम्। राजकुलमिति विशेष्यमग्रे वक्ष्यति।

अधिकरणेति। अधिकरणेत्यादिः—अधिकरणम् (= अधिक्रियन्तेऽस्मिन् लोकाः तद्, इति न्यायालयः) तत्र गतैः (= प्राप्तैः) आर्यवेषैः (=सभ्योचितनेपथ्यैः, धृतसमुचितवस्त्रादिभिः), अत्युच्चवेत्रासनोपविष्टैः—अत्युच्चम् (=अतीवोन्नतम्) यद् वेत्रासनम् (=वेतसोपवेशनस्थानम्) तस्मिन् उपविष्टैः (=समासीनैः), धर्ममयैः=सुकृतमयैः, इव, धर्माधिकारिभिः=धर्मनिर्णयकारिभिः, महापुरुषैः=श्रेष्ठलोकैः, अधिष्ठितम्=समाश्रितम्, राजकुलमिति विशेष्यम्। लेखकवैशिष्ट्येन राजकुलं

घन्टियों की मधुरध्वनि से ध्वनियुक्त थीं, जिनके कन्धों के बाल मंजीठा से लाल हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानों जंगली हाथियों के खून से लाल-लाल होने वाले सटाओं (गरदन के बालों) से युक्त सिंह हों, जिनके आगे (सामने) रखे हुए चारे (घासादि) के ढेरों के शिखरों पर सईस बैठे हुए थे, जो समीप में हो रहे मंगलगीतों की ध्वनि में अपने कान लगाये [हुए सुन रहे] थे, जो कपोलों (जबड़ों) के भीतर रखी हुई मीठी (गुड़ादि से) सरस और [हाथों आदि से] मसली हुई लावा (खीलों) के कौर से युक्त थे, रखे हुए थे। [घुड़साल के ऐसे घोड़ों से वह राजभवन शोभित था।]

और जो (राजभवन) न्यायालय में विद्यमान, सम्माननीय वेषभूषावाले, बहुत ऊँची बेंत की कुर्सियों पर बैठे हुए मानों धर्ममय हों ऐसे धर्माधिकारी महापुरुषों से युक्त था। जहाँ सभी गाँवों तथा नगरों के नामों को जानने वाले, सम्पूर्ण संसार को एक घर के समान देखने वाले, [अथवा सारे संसार को मानों एक घर जैसा देखने वाले, सभी वस्तुओं को अच्छे प्रकार से समझने वाले] सभी लोकों के

---

१. बालपल्लवैः। २. क्वचित्तु 'निहित' इति, 'वन' इति च नास्ति।
३. मधु-रस-लव-लुलित०। ४. जम्बाल०।

महापुरुषैरधिष्ठितम्,अधिगत-सकल-ग्राम-नगर-नामभिरेकभवनमिव[1] जगदखिलमालोकयद्भिरालिखित-सकल-भुवन-व्यापारतया धर्म्मराजनगर-व्यतिकरमिव दर्शयद्भिरधिकरणलेखकैरा[2]लिख्यमान-शासन-सहस्रम्, अभ्यन्तरावस्थित-नरपति-निर्गम-प्रतीक्षण-परेण[3] च स्थान-स्थानेषु[4] बद्धमण्डलेन कनकमयार्द्धचन्द्र-तारागण-शबल-चर्म्मफलकैर्निशासमयमिव[5] दर्शयता, स्फुरित-

विशेषयितुमाह—अधिगतेति । अधिगतेत्यादिः—अधिगतानि (=ज्ञातानि) सकलानाम् (=सर्वेषाम्) ग्राम-नगराणाम् (=संवसथ-पुराणाम्) नामानि (=अभिधेयानि) यैस्तैस्तादृशैः । श्रीरघुनाथेन ग्राम-लक्षणमेवमुक्तम्—

"तथा शूद्रजनप्रायाः सुसमृद्ध-कृषीवलाः ।
क्षेत्रोपयोगिभूमध्ये वसतिर्ग्रामसंज्ञिका ॥"

नगरलक्षणञ्चैवमुक्तं मार्कण्डेयपुराणे—

"देवतायतनैश्चित्रैः प्रासादापणवेश्मभिः ।
नगरं दर्शयेद्विद्वान् राजमार्गैश्च शोभनैः ॥"

अखिलम् =समस्तम्, जगत्=विश्वम्, एकभवनम् =एकसदनम्, इव, आलोकयद्भिः =पश्यद्भिः अवगच्छद्भिरिति भावः ।

आलिखितेति । आलिखितेत्यादिः—आलिखिताः (= लिपिविषयीकृताः) सकलभुवनस्य (=त्रिविष्टपस्य, समस्तसंसारस्य) व्यापाराः (=व्यवहाराः) यैः तेषां भावस्तत्ता तया, कारणेन धर्मराजेत्यादिः—धर्मराजस्य (=यमराजस्य) यत् नगरम् (=पुरं, संयमिनी नगरीति ख्याता) तस्य व्यतिकरम् (=अतिशयम्, सम्बन्धम्) दर्शयद्भिः=प्रकटयद्भिः, अधिकरणलेखकैः=यस्य यस्य कार्यस्य यदधिकरणं तस्मिन् लिपिकरैः, आलिख्यमान-शासन-सहस्रम्—आलिख्यमानम् (=पत्रादिषु लिपि-विषयीक्रियमाणम्) शासनानाम् (=राजादेशानाम्) सहस्रम् (=दशशती) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

इदानीं तत्रत्यान् सेवकान् वर्णयितुमारभते—अभ्यन्तरेति । [अत्र तृतीयान्तानि पदानि 'सेवक-जनेन' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] अभ्यन्तरेत्यादिः—अभ्यन्तरे (=अन्तःप्रदेशे, राज्ञः समीपे इति भावः) अवस्थिताः (=विद्यमानाः, स्वस्वकार्यसाधनायेति भावः) ये नरपतयः (=भूपतयः), तेषां निर्गमः (=बहिर्निष्क्रमणम्) तस्य प्रतीक्षणम् (=प्रतीक्षा) तस्मिन् परेण (=परायणेन, निरतेन), स्थानस्थानेषु=स्थानानि च स्थानानि च स्थानस्थानानीति कर्मधारयः, बहुषु स्थानेषु, बद्धमण्डलेन = बद्धम् (=रचितम्) मण्डलम् (=वर्त्तुलाकारेणावस्थानम्) येन तेन तादृशेन । कनकेत्यादिः—कनक-मयाः (= सुवर्णमयाः, सुवर्णनिर्मिताः) ये अर्धचन्द्राः (= अर्धचन्द्राकारसदृशलक्षणानि) च तैः

कार्य-कलाप को लिखने के कारण मानों धर्मराज (यमराज) के नगर [के कामकाज] की अपेक्षा अतिशय को दिखलाने वाले, [वहाँ ऐसा लग रहा था मानों कि धर्मराज की नगरी संयमनी में जो कामकाज की भीड़ होती है उससे भी अधिक वहाँ थी ।] न्यायालय के लेखकों द्वारा हजारों आज्ञा-पत्र लिखे जा रहे थे । जो (राजभवन) भीतर बैठे हुए राजाओं के निकलने की प्रतीक्षा करते हुए, जगह-जगह पर समूह बनाकर बैठे हुए, सुनहरे अर्धचन्द्रों और तारागणों [के चित्रों] से चित्रित

१. ग्रामकर्वटनगर, ग्रामखेर्वटनगर, सकलनगर-खेटखर्वट० । २. अधिकार० ।
३. ...निर्गमन...। ४. स्थाने स्थाने । ५. ... शतचन्द्रैः ।

निशित-करवालकर-प्ररोह-करालितातपेनैकश्रवणपुटघटित-धवलदन्तपत्त्रेणोर्ध्व-बद्ध-मौलि-कलापेन धवल-चन्दन-स्थासक-खचित-भुजोरुदण्डेन, बद्धासिधेनुकेनाऽन्ध्र-द्रविड-सिंहलप्रायेण सेवकजनेनास्थान-मण्डपगतेन च यथोचितासनोपविष्टेन; प्रसारयता दुरोदरक्रीडामभ्यस्यताऽष्टा-[1]

शवलानि (=कर्बुराणि) यानि चर्मफलकानि (=खड्गादिप्रहाररक्षासाधनभूत-चर्मनिर्मित-पदार्थ-विशेषा, 'ढाल' इति हिन्द्यां प्रसिद्धानि), तैः करणैः, निशासमयम् =रात्रिकालम्, दर्शयता =सूचयता, प्रकटयता, इव । स्फुरितेत्यादिः—स्फुरिताः (= देदीप्यमानाः) निशिताः (= तीक्ष्णाः) ये करवालाः (=खड्गाः) तेषां ये कराः (=किरणाः) तेषां प्ररोहाः (=अङ्कुराः) तैः करालितः (=भयङ्करीकृतः, दन्तुरितः) आतपः (=सूर्यालोकः) येन स तेन तादृशेन । एकश्रवणेत्यादिः—एकश्रवणपुटे (=एकश्रोत्रपुटे) घटितम् (=योजितम्) धवलम् (=श्वेतम्) दन्तपत्रम् (=गजदन्त-निर्मितपत्रसदृशश्रोत्राभरणम्) येन तेन तादृशेन । ऊर्ध्वेत्यादिः— ऊर्ध्वम् (=उपरि) बद्धः (=नद्धः) मौलिकलापः (=केशसमुदायः) येन तेन तादृशेन । धवलेत्यादिः—धवलम् (=शुभ्रम्) यत् चन्दनम् (=मलयजम्) तस्य य स्थासकाः (=आर्द्रचन्दनलेपनचिह्नानि) तैःखचितौ (=अङ्कितौ) भुजौ (=हस्तौ) ऊरुदण्डौ (=सक्थिदण्डौ) च यस्य तेन तादृशेन । बद्धेत्यादिः—बद्धा (=कट्यादौ नद्धा) असिधेनुका (=छुरिका) येन तेन तादृशेन, ["छुरिका चासिधेनुका ।" इत्यमरः २।८।९२] आन्ध्रेत्यादिः—आन्ध्राः (=अन्ध्रदेशे भवाः तैलङ्गाः इति भावः) द्रविडाः (=द्रविडदेशोत्पन्नाः) सिंहलाः (=सिंहलदेशभवाः) [अत्र लक्षणया तत्तद्देशभवाः पुरुषा बोध्याः ।] प्रायाः (=प्रचुराः) यस्मिन् तेन तादृशेन, सेवकजनेन =परिचारकलोकेन । [इदं विशेष्यबोधकं पदम् । 'अधिष्ठितं राजकुलं विवेश' त्यत्रान्वयः ।]

साम्प्रतं सामन्तानां वैशिष्ट्य-प्रतिपादनद्वारा राजकुलस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादयति—आस्थान-मण्डपगतेनेति । [अत्रत्यानि तृतीयान्तानि पदानि 'सामान्तलोकेन' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] आस्थानेत्यादिः—आस्थानमण्डपः (=सभामण्डपः, सभागृहम् तस्मिन् गतेन (=प्राप्तेन,स्थितेन),च= इदं समुच्चये, यथोचितेत्यादिः—यथोचितानि (= यथायोग्यानि) यानि आसनानि (=विष्टरादीनि) तेषु उपविष्टेन(=निषण्णेन), दुरोदरक्रीडाम्=द्यूतक्रीडाम्, प्रसारयता=विस्तारयता, ['दुरोदरो द्यूतकारे,पणे

[चमकने वाली] चमड़े की ढालों द्वारा मानों रात्रि का समय दिखाते हुए, चमकती हुई, धारवाली तलवारों की किरणों के अंकुरों से धूप को भीषण अर्थात् तेज चमक वाली बनाते हुए, एक कान में सफेद दन्तपत्र (हाथी के दाँतों का कर्णभूषण) पहने हुए, बालों के समूह को ऊपर की ओर बाँधे हुए, सफेद चन्दन की थापों (= लिप्त हाथों के चिह्नों) से युक्त भुजदण्डों और उरुदण्डों वाले, [अपनी कमर में] छुरियों को बाँधे (लटकाये) हुए, अधिकांश आन्ध्र, द्रविड़ और सिंहल (श्रीलंका के रहने वाले सेवकों से [युक्त था] और जो (राजभवन) सभामण्डप में गये हुए, समुचित आसनों पर बैठे हुए, दुरोदर क्रीडा का विस्तार करते हुए (जुए के खेल को और बढ़ाते हुए), अष्टापद (चौपड़-

१. घटितानेकदन्तपत्रेण ।

पद-व्यापारमास्फालयता परिवादिनीमालिखता चित्रफलके भूमिपालप्रतिबिम्बम्, आबध्नता काव्यगोष्ठीम्, आतन्वता परिहासकथाम्, विन्दता बिन्दुमतीम्, चिन्तयता प्रहेलिकाम्,भावयता नरपतिकृतकाव्यसुभाषितानि, पठता द्विपदीं¹, गृह्णता कविगुणान्, उत्किरता² पत्रभङ्गान्, आलपता वारविलासिनीजनम्, आकर्णयता वैतालिकगीतम्³, अनेकसहस्रसंख्येन, धवलोष्णीष-पट्टाश्लिष्टविकट-किरीट-सङ्कट-शिरसा, सनिर्झर-शिखर-लग्न⁴-बालातपमण्डलेनेव कुलपर्वत-

द्यूते दुरोदरम् ।' इत्यमरः ३।३।१७२] अष्टापदव्यापारम् = शारिफलनिक्षेपकार्यम्, अभ्यस्यता = अभ्यासं कुर्वता, ["अष्टापदं शारिफलम् ··· ··· ··· ।" इत्यमरः २।१०।६। अत्र क्रीडायां पङ्क्तौ पङ्क्तौ अष्ट पदानि भवन्ति । "अष्टनः संज्ञायाम्" ६।३।१२५ इति सूत्रेणाष्टशब्दस्य दीर्घो भवति ।] परिवादिनीम् = वीणां सप्ततन्त्रीविशिष्टाम्, आस्फालयता = वादयता । [··· ···वीणा तु वल्लकी । विपञ्ची सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी ॥" इत्यमरः १।७।३] चित्रफलके = आलेख्यपट्टके, भूमिपालप्रतिबिम्बम् = भूमिपालो राजा तारापीडः, तस्य प्रतिरूपम्, आलिखता=चित्रीकुर्वता । काव्यगोष्ठीम्= काव्यालापम्, आबध्नता = विदधता, ["गोष्ठी सभालापयोः स्त्रियाम् ।" इति मेदिनी स्वरचनाः परकीयरचनाश्च श्रोतुं स्वस्योपवेशनेन जनवन्धं कुर्वतेत्यर्थः । परिहासकथाम् = उपहासजनकशब्दरचनाम्, आतन्वता = विस्तारयता । बिन्दुमतीम् = पद्याक्षरसंख्यकबिन्दुयुक्तां विचित्रां लिपिम्, विन्दता = कुर्वता, प्राप्नुवता । प्रहेलिकाम् = उक्तिवैचित्र्यविशिष्टां गूढशब्दरचनाम्, चिन्तयता = ध्यायता, नरपतीत्यादिः— नरपतिः (= राजा तारापीडः) तेन कृतानि (= विरचितानि) काव्यानि (= कविकर्माणि) सुभाषितानि (=सूक्तानि) च, यद्वा काव्यरूपाणि सुभाषितानि, भावयता = गाम्भीर्येण विचारयता, द्विपदीम् = पदद्वयात्मिकां रचनाविशेषम्, पठता = उच्चारयता, कविगुणान् = काव्यरचयितृविशेषधर्मान्, गृह्णता = ग्रहणं कुर्वता । पत्रभङ्गान्—पत्राणि (=केतक्यादिसम्बन्धीनि) तेषां भङ्गान् (=रचनाविशेषान्, विच्छित्तीः) उत्किरता = उत्कीर्णं कुर्वता, गणिकादीनामङ्गेषु तच्चिह्नानि सम्पादयतेति भावः । वारविलासिनीजनम् = गणिकालोकम्, आलपता=आलापं कुर्वता, वैतालिकगीतम् = वन्दिजनानां सुभाषितपाठकानां वा गायनम्, आकर्णयता = शृण्वता । अनेकसहस्रसंख्येन—अनेकानि सहस्राणि संख्या (=परिमाणम्) येषां तेन, सहस्राधिकेनेत्यर्थः । धवलेत्यादिः - धवलः (= शुभ्रः) यः उष्णीषपटः (=मूर्धवेष्टनवस्त्रम्) तेन आश्लिष्टानि (=संयुक्तानि, आलिङ्गितानि) विकटानि (=विपुलानि) यानि किरीटानि (=मुकुटानि) तै सङ्कटानि (=संकुलानि, व्याप्तानि) शिरांसि (=मस्तकानि) यस्य तेन तादृशेन । अत एव, सनिर्झरे-त्यादिः—सनिर्झराणि (=सप्रस्रवणानि) यानि शिखराणि (=शृङ्गाणि) तेषु लग्नम् (=संयुक्तम्) बालातपमण्डलम् (=नवीनदिनकरकिरणजालम्) यस्य

एक प्रकार का जुआ का खेल) का अभ्यास (सीखने का प्रयास) करते हुए, बीणा (बीन) बजाते हुए, चित्रफलकों पर राजा के चित्र बनाते हुए, काव्यसभा का आयोजन करते हुए, परिहास = हँसी मजाक की बातों का विस्तार करते हुए, 'बिन्दुमती' [बिन्दुओं द्वारा रचना] को समझते हुए, पहेलियों को सोंचते हुए, राजा (तारापीड) द्वारा बनाये गये काव्यों और सुभाषितों की समीक्षा करते हुए, 'द्विपदी' (दो दो पदों की रचनाविशेष) को पढ़ते हुए, कवियों के गुणों का ग्रहण करते हुए (उनके गुणों की प्रशंसा करते हुए) [सुन्दर फूलों के] पत्रभंगों की रचना करते हुए, वेश्या लोगों से बातचीत करते हुए, वैतालिकों (भाटों आदि) के गीत सुनते हुए, कई हजार संख्यावाले, सफेद पगड़ी के वस्त्र (पट्टी) से कसे गये बड़े मुकुटों से ढँके हुए शिर वाले, [इसीलिए] झरनों से

१. द्विपदीः । २. उत्कीर्यता । ३. ···गीतिम् । ४. ···ग्नालग्न ।

चक्रवालेन, मूर्द्धाभिषिक्तेन सामन्तलोकेनाधिष्ठितम्, आस्थानोत्थित-भूमि-पाल-संवर्त्तितानाञ्च कुथानां रत्नासनानाञ्च राशिभिरनेकवर्णैरिन्द्रायुधपुञ्जैरिव विराजित-सभा-पर्य्यन्तम्, अमल-[1]मणि-भूमि-संक्रान्त-मुख-निवह-प्रतिबिम्बतया विकच-कमलपुष्प-प्रकरमिव सम्पादयता, गतिवश-रणित-नूपुर-पारिहार्य्य[2]-रशना-स्वन[3]-मुखरेण, स्कन्धावसक्त[4]-कनकदण्ड-चामरेण,

तेन तादृशेन, कुलपर्वतचक्रवालेन—कुलपर्वताः (= महेन्द्रादयः सप्तसंख्यकगिरयः) तेषां चक्रवालेन (= मण्डलेन) इव । मूर्धाभिषिक्तेन = राज्याभिषिक्तेन, विहितराज्याभिषेकेन । इदानीं विशेष्यमाह—सामन्तलोकेन = मण्डलेश्वरसमुदायेन, आयत्तदेशस्थराजसमूहेन, अधिष्ठितम् = समाश्रितम्, 'राजकुलं विवेश' इत्यत्रान्वयस्तूक्त एव ।

आस्थानेति । आस्थानेत्यादिः—आस्थानात् (= सभामण्डपात्) उत्थिताः (= विहितोत्थानाः) ये भूमिपालाः (= राजानः) तेभ्यस्तेषां वा संवर्त्तितानाम् (= संवेष्टितानाम्, उत्थाप्यैकत्रदेशे निहितानाम्) च, कुथानाम् = विचित्रकम्बलानाम्, रत्नासनानाम् = मणिजटितोपवेशनसाधनानाम्, च, अनेकवर्णैः = विविधवर्णैः, राशिभिः = समूहैः, इन्द्रायुधपुञ्जैः = इन्द्रचापसमूहैः, इव, विराजित-सभा-पर्यन्तम्—विराजितः (= शोभितः) सभापर्यन्तः (= संसत्प्रान्तभागः) यस्मिन् यस्य वा तत् तादृशम् ।

इदानीं वारविलासिनीनां वैशिष्ट्येन राजकुलं विशिनष्टि—अमलेति । अमलेत्यादिः—अमला (= उज्ज्वला) या मणिभूमिः (= रत्ननिबद्धभूभागः) तस्यां सङ्क्रान्तानि (= निपतितानि, सम्बलितानि) यानि मुखानि (= आननानि) तेषां यो निवहः (= समूहः) तस्य प्रतिबिम्बानि (= प्रतिमाः) यस्य तस्य भावस्तत्ता तया, कारणेन, विकचकमलपुष्पप्रकरम्—विकचानि (= विकसितानि) यानि कमलपुष्पाणि (= पद्मकुसुमानि) तेषां प्रकरम् (= समुदायम्), सम्पादयता = विदधता, इव, [तृतीयान्तानि पदानि 'वारविलासिनीजनेन' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] गतिवशेत्यादिः—गतिवशेन (= चलनवशेन, कारणेन) रणिताः (= शब्दिताः) ये नूपुराः (= पादकटकाः) पारिहार्याणि (= कङ्कणानि) रशनाः (= काञ्चीदामानः) च, तासां स्वनैः (= ध्वनिभिः) मुखरेण (= वाचालेन) । स्कन्धावसक्तेत्येदिः—स्कन्धेषु (= अंसेषु) अवसक्तानि (= निहितानि) कनकदण्डानि (= सौवर्णदण्डयुक्तानि) चामराणि (= प्रकीर्णकानि) यस्य येन वा सः तेन तादृशेन । अनवरतम् =

युक्त शिखरों (चोटियों) पर गिरती हुई धूपमण्डल (धूपसमूह) से युक्त कुलपर्वतों के समूह के समान दिखाई देने वाले, मूर्धाभिषिक्त (राज्याभिषेक किये गये) सामन्तों (मण्डलाधीशों) से आश्रित था, [अर्थात् उस राजभवन में उक्त विशेषतावाले हजारों सामन्त विद्यमान थे ।] जो (राजभवन) सभामण्डप से राजाओं के उठ जाने पर लपेटे गये गलीचों और रत्नजटित आसनों के समूहों से अनेक रंगों वाले मानों इन्द्रधनुष के समूहों से शोभित सभा के प्रान्त भाग (किनारे के स्थानों) वाला था, [गलीचों और रत्नजटित आसनों को लपेट कर किनारे पर रख दिये जाने से उनकी कान्ति इन्द्रधनुष के समान उस स्थान को शोभित कर रही थी ।] जो (राजभवन) उज्ज्वल मणिजटित भूमि पर मुखसमूह के पड़े हुए प्रतिबिम्बों के कारण मानों खिले हुए कमल के पुष्पों के समूह की रचना करती हुईं, चलने-फिरने के कारण बजते हुए नूपुरों, कंगनों और करधनियों की आवाज से शब्द करती हुईं, कन्धों पर स्वर्णदण्ड के चामर लटकाये हुईं, लगातार बाहर निकलती हुईं तथा भीतर जाती हुईं वेश्या लोगों द्वारा

१. क्वचित् 'मणि' इदं नास्ति । २. परिहार्य ।
३. रव । ४. [illegible]

निर्गच्छता प्रविशता चानवरतं वारविलासिनीजनेनाकुलितम्,[1] एकदेशनिषण्णचामीकर-शृङ्खला-संयत-श्वगणम्,[2] इतस्ततः प्रचलित-परिचितामितकस्तूरिकाकुरङ्ग-परिमल-वासित-[3]दिङ्मुखम्, अनेक-कुब्ज-किरात-वर्षवर[4]-बधिर-वामन[5]-मूक-सङ्कुलम्, उपाहृत-किन्नर-मिथुनम्, आनीत-वनमानुषम्, आबद्ध-मेष-कुक्कुट-कुरर-कपिञ्जल-लावक-वर्त्तिका-युद्धम्, उत्कूजित-

निरन्तरम्, निर्गच्छता = निःसरता, प्रविशता = प्रवेशं विदधता, च,वारविलासिनीजनेन = गणिकालोकेन, आकुलितम् = व्याप्तम्, 'राजकुलं विवेशे' त्यादावन्वयः । 'सम्पादयतेव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा ।

["आवापकः पारिहार्यः कटको वलयोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमरः २।६।१०७ । "पादाङ्गदं तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम् । हंसकः पादकटकः ··· ···· ··· ॥ इत्यमरः ।७।६।१०९-१०]

पुनरपि राजकुलं विशिनष्टि—एकदेशेति । एकदेशेत्यादिः—एकदेशे (= एकभागे) निषण्णः (= आसीनः, उपविष्टः) चामीकरशृङ्खलया (= स्वर्णशृङ्खलया) संयतः (= बद्धः) श्वगणः (= कुक्कुरसमूहः) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

इतस्तत इति । इतस्ततः = यत्र तत्र, विभिन्नभागेष्वित्यर्थः, प्रचलिताः (= सञ्चलिताः) परिचिताः (= विश्वस्ताः) अमिताः (= असंख्याः) ये कस्तूरिकाकुरङ्गाः (= गन्धमृगाः) तेषां परिमलेन (= शरीरसुगन्धेन) वासितानि (= आमोदितानि) दिङ्मुखानि (= दिशावदनानि) यस्य तत् तादृशम् ।

अनेकेति । अनेकेत्यादिः—अनेके (= बहवः) कुब्जाः (= गडुलाः) किराताः (= अल्पतनवः), वर्षवराः (= नपुंसकाः) बधिराः (= एडाः) मूकाः (= वागिन्द्रियशून्याः) च तैः, सङ्कुलम् = व्याप्तम् । ["किरातो म्लेच्छभेदे स्यात् मूनिम्बेऽल्पतनावपि ।' इति मेदिनीकोषानुसारेण 'अल्पतन्वर्थकं' एव किरातशब्दोऽत्र बोध्यः, अन्य-शब्द-साहचर्यात्, न तु म्लेच्छजातिविशेषपरः, तस्य तत्र स्थित्यनुचितत्वादिति भावः । कामन्दक्यां वर्षवरलक्षणमेवमुक्तम्—"ये त्वल्पसत्वाः प्रथमाः क्लीबाश्च स्त्रीस्वभाविनः । जात्या न दुष्टाः कार्येषु ते वै वर्षवराः स्मृताः" ॥

उपाहृतेति । उपाहृतेत्यादिः—उपाहृतानि (= उपाहारीकृतानि, एकत्रीकृत्य आनीतानि वा) किन्नरमिथुनानि (= अश्वमुखदम्पत्यः) यस्मिन् तत् तादृशम् । किन्नरः = देवयोनिविशेषः, कुबेरदूता वा । ["किन्नरः किम्पुरुषस्तुरङ्गवदनो मयुः ।' इत्यमरः १।१।७१] आनीतेत्यादिः—आनीताः (=आहृताः) वनमानुषाः (= अरण्यचरमानवाः) यत्र तत् तादृशम् ।

आबद्धेति । आबद्धेत्यादिः—आबद्धानि (= प्रवर्तितानि) मेषाः (= एडकाः) कुक्कुटाः (= चरणायुधाः) कुरराः (= मत्स्यादनाः पक्षिविशेषाः) कपिञ्जलाः (= गौरतित्तिराः, चातका वा) लावकाः (= लघुजाङ्गलाः, हिन्द्यां 'लवा' इति ख्याताः) वर्तिकाः (= वर्त्तकाः 'हिन्द्यां 'बटेर' इति ख्याताः) तासां युद्धानि (= संग्रामाः) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

उत्कूजितेति । उत्कूजितेत्यादिः—उत् (= उच्चैः) कूजिताः (= शब्दायमानाः) चकोराः

भरा हुआ था । जिसमें एक ओर सोने की जंजीरों में बँधे हुए कुत्ते बैठे थे । जिसके दिशाओं के मुख अर्थात् सभी दिशायें इधर-उधर घूमने वाले, परिचित अनगिनत (= बहुत से) कस्तूरी मृगों की की सुगन्ध से सुगन्धित थीं । जो अनेक कूबड़ों, किरातों (= अल्पशरीर वाले), वर्षवरों (नपुंसकों), बहिरों,बौनों और गूंगों से भरा हुआ था । जहाँ किन्नरों के जोड़े लाये गये थे । जहाँ वनमानुष लाये गये थे । जहाँ भेड़ों, मुर्गों, कुररों, कपिञ्जलों (तीतरों), लावाओं तथा बटेरों के युद्ध कराये जा रहे थे ।

१. वारविलासिनीनां जनेन । २. ···श्वगणम् । ३. अपरिमितसितकस्तूरिका० । ४. ····वर्षधर, वर्वरवर्षवर···। ५. वामनक ।

चकोर-कादम्ब-हारीत-कोकिलम्, लालप्यमान-शुकसारिकम्,[1] इभपति-परिमलामर्ष-जृम्भितैश्च[2][3] निष्कूजद्भिः शिखरिणां जीवितैरिव गिरिगुहानिवासिभिर्गृहीतैः पञ्जरकेसरिभिरुद्भ्रास्यमानम्, उत्त्रास्यमानैः काञ्चन-भवन-प्रभा-जनित-दावानल-शङ्कैर्लोलतारकैर्भ्रमद्भिर्भवन-हरिण-[4] कदम्बकैर्लोचनप्रभया शबलीकृतदिगन्तरम्, उद्दाम-केकारवानुमीयमान-मरकत-कुट्टिम-

---

(=विषसूचकाः पक्षिविशेषाः) कादम्बाः (=कलहंसाः) हारीताः (=पक्षिविशेषाः, कपोत-जातीयाः) कोकिलाः (=पिकाः) च यस्मिन् तत् तादृशम् ।

लालप्यमानेत्यादिः—लालप्यमानाः (= संभाष्यमाणाः) शुकाः (= कीराः) सारिकाः (=स्त्रीजातीयाः पक्षिविशेषाः हिन्द्यां 'मैना' इति ख्याताः) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

इभपतीति । इभपतीत्यादिः—इभपतिः (=गजेन्द्रः,गन्धगजः) तस्य यः परिमलः (=सुगन्धः, मदगन्ध इति भावः) तस्मात् यः अमर्षः (=कोपः) तेन जृम्भितैः (=घूर्णितैः), च,निष्कूजद्भिः= शब्दायमानैः, गर्जद्भिः, शिखरिणाम्=पर्वतानाम् जीवितैः = जीवनैः, इव, गिरिगुहानिवासिभिः = पर्वतकन्दरावासिभिः, गृहीतैः =कन्दराभ्यः कौशलेन बद्ध्वानीतैः, पञ्जरकेसरिभिः =लौहपिञ्जरस्थितसिंहैः उद्भ्रास्यमानम्=संशोभमानम् । सिंहानां कृते'निष्कूजन' शब्दप्रयोगो न समीचीनः । अतस्तत्र 'गर्जद्भि' रित्यर्थो विधेयः । इव शब्दोऽत्र उत्प्रेक्षायाम् ।

उत्त्रास्यमानैरिति । काञ्चनेत्यादिः—काञ्चनभवनानि (=सुवर्णमयगृहाणि) तेषां या प्रभा (=कान्तिः) तया जनिता (=उत्पादिता) दवानलशङ्का (= दवाग्निसन्देहः) येषां तैः, अत एव, उत्त्रास्यमानैः=सातिशयं त्रासं प्राप्यमाणैः, तथा च, लोलतारकैः=चञ्चलकनीनिकैः, भ्रमद्भिः=इतस्ततः पर्यटद्भिः, वनहरिणकदम्बकैः=आरण्यमृगसमूहैः, लोचनप्रभया=नयनकान्त्या, शबलीकृतदिगन्तरम्—शबलीकृतानि (=चित्रीकृतानि) दिगन्तराणि (=दिशामन्तराणि) यस्य, यस्मिन् वा तत्, तादृशम् ।

उद्दामेति । उद्दामेत्यादिः—उद्दामा (= उद्धतः) यः केकारवः (= मयूरशब्दः) तेन अनुमीयमानम् (= अनुमानविषयीक्रियमाणम्) मरकतकुट्टिमेषु (= अश्मगर्भबद्धभूमिषु) स्थितम्

[इन्हें आपस में लड़ाकर मनोरंजन किया जा रहा था ।] जहाँ चकोर, कलहंस, हारीत (पक्षी-विशेष) तथा कोयलें खूब कूज रहीं थीं । जहाँ तोता और मैना से बुलवाया जा रहा था [बोलना सिखाया जा रहा था ।] जो गजराजों [के मद] की गन्ध को न सहन करने के कारण [कुपित] क्षुब्ध और गरजते (गुर्राते) हुए, इस कारण ऐसे प्रतीत होते हुए कि मानों कि पर्वतों के प्राण (जो पहले) पर्वतों की गुफाओं में रहने वाले, [किन्तु इस समय] पकड़े गये, पिंजरों (कटघरों) में रहते हुए सिंहों से शोभित हो रहा था । जिसके दिशाओं के मध्यभाग सुवर्णनिर्मित भवनों की कान्ति (चमक) से [अपने मनों में] उत्पन्न दावानल की शङ्का वाले [इसीलिए] अत्यन्त त्रस्त कराये गये, चंचल पुतलियों वाले, [इधर-उधर] घूमने वाले घरेलू (पाले गये) हिरनों के समूह द्वारा [अपने] नेत्रों की कान्ति से रंग-बिरंगे कर दिये गये थे (किये जा रहे थे) । जहाँ पर मयूरों की अत्यन्त तीक्ष्ण आवाज द्वारा मरकत मणि-जटित फर्श पर बैठे हुए मयूरों के समूह का अनुमान किया जा रहा

---

१. आलप्यमान० ।
२. क्वचित्तु 'इभ' पदं नास्ति ।
३. क्वचित्तु 'मदपरिमल' इति ।
४. 'भुवन' ।

स्थित-शिखण्डि-मण्डलम्, अतिशिशिर-चन्दन-विटपि-च्छाया-निषण्ण-निद्रायमाण-गृहसारसम्,—

—अन्तःपुरेण च बालिकाजन-प्रस्तुत-कन्दुक-पञ्चालिकाक्रीडेन, अनवरत[1]-संवाह्यमान[2]-दोला[3]-शिखर-क्वणित-घण्टा-टङ्कार-पूरिताशामुखेन, भुजङ्ग-निर्मोक-शङ्कित-मयूर-ह्रियमाण-हारेण, सौध-शिखरावतीर्णप्रचलित-पारावत-कुलतया, स्थलोत्पलिनीवनेनेवा[4]ऽन्तः

(=निषण्णम्) शिखण्डिमण्डलम् (=मयूरवृन्दम्) यस्मिन् तत्, तादृशम्।

अतिशिशिरेति। अतिशिशिरेत्यादिः—अतिशिशिराः (=अतिशयशीतलाः) ये चन्दनविटपिनः, (=मलयजपादपाः) तेषां छायासु (=अनातपस्थानेषु) निषण्णाः (= आसीनाः) निद्रायमाणाः (= स्वापमनुभवन्तः) च गृहसारसाः (= भवनपालितपुष्कराह्वनामकजलपक्षिणः) यस्मिन् तत् तादृशम्।

साम्प्रतमन्तःपुरवैशिष्ट्यप्रतिपादनद्वारा राजकुलस्य वैशिष्ट्यं निर्दिशति—**अन्तःपुरेणेति**। [इमानि तृतीयान्तानि पदानि 'अन्तःपुरेण' इत्यस्य विशेषणानि। एतच्च 'समुपेताभ्यन्तरम्' इति दूरं वक्ष्यमाणेनान्वेतीति बोध्यम्।] बालिकेत्यादिः—बालिकाजनेन (= कन्यालोकेन) प्रस्तुता (= आरब्धा) कन्दुकैः (=गेन्दुकैः) पञ्चालिकाभिः (=वस्त्रादिनिर्मिताभिः, पुत्रिकाभिः) क्रीडा (=खेलनकम्) यस्मिन् तेन तादृशेन। ["पञ्चालिका पुत्रिका स्याद् वस्त्रदन्तादिभिः कृता।" इत्यमरः २।१०।१९। भानुचन्द्रस्तु—'पञ्चभिर्मृदादिमयीभिः स्वल्पगुलिकाभिर्धूतं पञ्चालिकोच्यते।" इत्याह।

अनवरतेति। अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (=निरन्तरम्) संवाह्यमानाः (=आरुह्यमाणाः तरुणीभिरानन्दप्राप्तये आन्दोल्यमानाः) याः दोलाः (=प्रेङ्खाः 'हिंडोला' इति हिन्द्यां ख्यातम्) तासां शिखराणि (=ऊर्ध्वभागाः) तेषु क्वणिताः (=ध्वनिताः) याः घण्टाः (=क्षुद्रघण्टिकाः) तासां टंकारैः (= टन् टन्—इत्याकारकध्वनिभिः) पूरितानि (=भृतानि) आशामुखानि (=दिशावदनानि) यस्मिन् तेन तादृशेन।

भुजङ्गेति। भुजङ्गेत्यादिः—भुजङ्गस्य (= सर्पस्य) यो निर्मोकः (= कञ्चुकः) तेन तस्मिन् वा शङ्कितः (=प्राप्तशङ्कः) यो मयूरः (= बर्हो) तेन ह्रियमाणः (=गृह्यमाणः) हारः (=मौक्तिकमाला) यस्मिन् तत् तादृशम्।

सौधेति। सौधशिखरेत्यादिः—सौधशिखरात् (=प्रासादोच्चभागात्, अट्टालिकायाः) अवतीर्णम् (=अधःसमागतम्) ततश्च प्रचलितम् (=प्रव्रजितम्) पारावतकुलम् (=कपोतवृन्दम्) यस्मिन्

था, किया जा सकता था। जहाँ पर बहुत अधिक ठंडी चन्दन वृक्षों की छाया में घरेलू (पालतू) सारस सो रहे थे।

और जिस (राजभवन) का भीतरी भाग अन्तःपुर (रनिवास) से युक्त था, जिस (अन्तःपुर) में बालिकाओं द्वारा गेंद और पुतलियों (गुड़ियों) का खेल प्रस्तुत किया जा रहा था, जहाँ लगातार हिलाए जाते हुए झूलों के शिखर (ऊपरी ओर) पर बजती हुई घण्टियों की टंकार (टनटन आवाज) से दिशाओं के मुख भरे जा रहे थे, जहाँ साँप की केंचुल की शंका वाले मयूरों द्वारा [इधर-उधर टँगे हुए] हार उठाकर ले जाये जा रहे थे, [हारों को साँप की केंचुल समझकर मोर उन्हें उठाकर ले जा रहे थे।] जो राजमहल के शिखरों (ऊपरी भागों) से उतरे हुए [नीचे इधर-उधर] घूमते

१. अविरत। २. वाह्यमान।
३. ···तोली···। ४. स्थलोत्पलिनीवनशोभितेनेव।

पुरिकाजन-प्रस्तुत-नरपति-चरित-विडम्बनक्रीडेन, अश्वमन्दुरा-परिभ्रष्टागतैरवलुप्तभवन-दाडिमीफलैराखण्डिताङ्गण-सहकार-पल्लवैरभिभूत-कुब्ज-वामन-किरात-करतलाच्छिन्नानि भूषणानि विकिरद्भिः कपिभिराकुलीभूतेन,[1] शुक-सारिका-प्रकाशित-सुरत-विस्रम्भालाप-लज्जितावरोधजनेन, प्रासाद-सोपान-समारोहणचलितैरबलानां चरणावसक्तैर्मणिमयैः पदे

तस्य भावस्तत्ता तया, हेतुना, स्थलपद्मिनीवनेन—स्थलपद्मिन्यः (= स्थलकमलिन्यः) तासां वनेन (= काननेन) इव । क्वचित्तु '... ... वनशोभितेनेव' इति पाठस्तत्र स्थलपद्मिनीनां वनेन = समूहेन, शोभितेन इव । अत्रोत्प्रेक्षा ।

अन्तःपुरिकेति । अन्तपुरिकेत्यादिः—अन्तपुरिकाजनेन (= अवरोधस्थलोकेन) प्रस्तुता (= आरब्धा) नरपतीनाम् (= विभिन्नानां राज्ञाम्) (नरपतेः तारापीडस्य वा) चरितानाम् (= चरित्राणाम्, विविधव्यवहाराणाम्) विडम्बनक्रीडा (= अनुकरणखेलनम्) यस्मिन् तेन तादृशेन ।

अश्वेति । अश्वमन्दुरेत्यादिः—अश्वमन्दिरा (=अश्वशाला) तस्याः परिभ्रष्टाः (=बन्धनान्मुक्ताः) सन्तः आगताः (=सम्प्राप्ता) तैः, ['कपिभि'रिति वक्ष्यमाणस्य विशेषणानीमानि तृतीया-बहुवचनान्तानि पदानि ।] अवलुप्तदाडिमफलैः—अवलुप्तानि (= भिन्नानि, त्रोटितानि वा) भवनदाडिमफलानि (= गृहमध्य-प्ररूढदाडिमीफलानि) यैस्तैस्तादृशैः । आखण्डितेत्यादिः—आखण्डितानि (= भृशं चूर्णितानि) अङ्गणसहकाराणाम् (= प्राङ्गणस्थितरसालवृक्षाणाम्) पल्लवानि (= किसलयानि) यैस्तैस्तादृशैः । अभिभूतेत्यादिः—अभिभूताः (=पराभूताः) ये कुब्जाः (=गडुलाः) वामनाः (=खर्वाः) किराताः (=स्वल्पतनवः) च तेषां करतलात् (=हस्ततलात्) छिन्नानि (=बलाद् गृहीतानि) भूषणानि (=अलङ्कारान्) विकिरद्भिः =यत्र तत्र विक्षिपद्भिः, कपिभिः =वानरैः, आकुलीभूतेन = व्यग्रीभूतेन ।

शुकेति । शुकसारिकेत्यादिः—शुकाः (=कीराः) सारिकाः (=पीतपादाः स्त्रीपक्षिविशेषाः, 'मैना' इति हिन्द्यां ख्याताः) च, ताभिः प्रकाशिताः (=लोकानां पुरः प्रकटीकृताः) ये सुरते (=मैथुने) विस्रम्भालापाः (=विश्वाससम्भाषणानि) तैः लज्जिता (=समुत्पन्नत्रपाः) अवरोधजनाः (= अन्तःपुरस्त्रियः) यस्मिन् तेन तादृशेन ।

प्रासादेति । प्रासादेत्यादिः—प्रासादस्य (=राजभवनस्य) यानि सोपानानि (=आरोहणानि) तेषु यत् समारोहणम् (=उपरिष्टाद्गमनम्) तेन चलितैः (=कम्पितैः), अबलानाम् = रमणीनाम्, चरणावसक्तैः =पादावलग्नैः, मणिमयैः = रत्नजटितैः, पदे पदे=प्रतिपदम्, रणद्भिः =कूजद्भिः,

---

हुए कबूतरों के समूह के कारण स्थलकमलिनी के वन (समूह) जैसा [प्रतीत हो रहा] था, जहाँ अन्तःपुर में स्थित स्त्रियों द्वारा राजा (तारापीड) के चरित के अनुकरण की क्रीडा प्रस्तुत की रही थी, (राजा के अच्छे कार्यों की नकल का खेल दिखाया जा रहा था ।) जो (रनिवास) घुड़साल से [बन्धन से] छूट कर [भाग कर] आये हुए, राजभवन के अनार के फलों को तोड़ते हुए, आँगन के आम के वृक्षों के पत्तों को खण्डित करते हुए (काटते हुए), (और) डरे हुए (अभिभूत) कुबड़ों, बौनों, किरातों (स्वल्प तनुवाले) के करतलों से छीने गये गहनों को [इधर-उधर] बिखेरते हुए बन्दरों द्वारा व्याकुल कर दिया गया था, जहाँ तोतों और मैनाओं द्वारा सुरत-कालीन विश्वस्त बातों को प्रकट कर दिये जाने के कारण अन्तःपुर की स्त्रियाँ लजित हो रहीं थीं । जिस (रनिवास) का आँगन महल की सीढ़ियों पर चढ़ने के कारण हिलते हुए, सुन्दरियों के पैरों में लगे हुए, पग-पग

---

१. आकुलीकृतेन ।

पदे [1]रणद्भिस्तुलाकोटि-वलयैर्द्विगुणीकृत-कूजित-[2]रुताभिः भवन-[3]हंसमालिकाभिर्धवलिता[4]ङ्गणेन,
[5]धृत-धौत-धवल-दुकूलोत्तरीयैः कलधौत-दण्डावलम्बिभिः [6]पलित-पाण्डुर-मौलिभिराधारमयै[7]रिव[8]
मर्य्यादामयैरिव मङ्गलमयैरिव गम्भीराकृतिभिः स्वभाव-धीरैरुष्णीषिभिर्वयःपरिणामेऽपि
[9]जरत्सिंहैरिवापरित्यक्तसत्त्वावष्टम्भैः कञ्चुकिभिरधिष्ठितेन समुपेताभ्यन्तरम्,—

तुलाकोटिवलयैः=पादाङ्गदमण्डलैः, द्विगुणीकृत-कूजित-रुताभिः—द्विगुणीकृतम् (=द्विगुणतां प्रापितम्) कूजितरुतम् (=कूजनरूपध्वनिः) यासां ताभिः, तादृशीभिः। 'कूजितरुतम्' इत्यत्र भेदप्रतिपादनायैवोभयोः प्रयोगस्तेन न पौनरुक्त्यं शङ्क्यम्। भवन(कल)हंस-मालिकाभिः=सदनपरिपालित-कलहंस-पङ्क्तिभिः, धवलिताङ्गणेन—धवलितम् (=शुभ्रीकृतम्) अङ्गणम् (=अजिरम्) यस्य तेन तादृशेन। ['अङ्गनं चत्वराजिरम्।'' इत्यमरः।]

कञ्चुकिनां वैशिष्ट्यं प्रतिपादयन् राजकुलमेव विशेषयन्नाह—धृतेति। धृतेत्यादिः—धृतानि (=धारितानि) धौतानि (=प्रक्षालितानि) धवलानि (=शुभ्राणि) दुकूलस्य (=क्षौमस्य) उत्तरीयाणि (=प्रावाराः) यैस्तैः तादृशैः। [इमानि तृतीयाबहुवचनान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'कञ्चुकिभि' रित्यस्य विशेषणानि।] कलधौत-दण्डावलम्बिभिः—कलधौतम् (= सुवर्णम्, सुवर्ण-निर्मितम्) दण्डम् (=यष्टिम्) अवलम्बन्ते (=धारयन्ति) इति तैस्तादृशैः। पलित-पाण्डुर-मौलिभिः—पलितेन (=जरावस्थाजनितशुक्लतया) पाण्डुराः (=धवलाः) मौलयः (=शिरस्थकेशाः) 'येषां तैस्तादृशैः। आधारमयैः=अवष्टम्भमयैः, इव, [क्वचित्तु—'आचारमयैरिव' इति पाठः तत्र 'साधुव्यवहार-निर्मितैरिवेत्यर्थः।] मर्यादामयैः—मर्यादा=स्थितिः, नीतिपथानुवर्तनम्, तन्मयैः, इव, सर्वदा न्याय्य-व्यवहरणात्। मङ्गलमयैः=श्रेयोमयैः, इव, सर्वेषामेव मङ्गलानुध्यानात्। एषु उत्प्रेक्षालङ्कारो बोध्यः। गम्भीराकृतिभिः—गम्भीरा (=दुरवगाहा) आकृतिः (=आकारः) येषां तैस्तादृशैः। स्वभावधीरैः—स्वभावेन (=प्रकृत्या) धीरैः (=धैर्यशीलैः), उष्णीषिभिः—उष्णीषम् (= शिरोवेष्टनम्) अस्ति येषां ते तैस्तादृशैः। वयःपरिणामे=वृद्धावस्थायाम्, अपि, जरत्सिंहैः=वृद्धमृगेन्द्रैः, इव, अपरित्यक्ते-त्यादिः—अपरित्यक्तः (= अनुज्झितः) सत्त्वस्य (= साहसस्य) अवष्टम्भः (= आलम्बनम्) यैस्तैस्तादृशैः, सिंहपक्षे—सत्त्वानाम् (=जन्तूनाम्) अवष्टम्भः (=अवलम्बनम्, करपञ्जरादिना ग्रहण-मिति भावः) यैस्तैः। ["द्रव्यासुव्यवसायेऽपि सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु।" इत्यमरः] विशेष्यमाह—कञ्चुकिभिः=सौविदल्लैः, अधिष्ठितेन=आश्रितेन, अन्तपुरेण, समुपेताभ्यन्तरम्—समुपेतम् (=संयुक्तम्) आभ्यन्तरम् (=अन्तर्भागः) यस्य तत् तादृशं राजकुलं विवेशेति मुख्यं वाक्यम्।

पर बजते हुए, मणिजटित गोल नूपुरों (तुलाकोटिवलय) से दूनी की जाती हुई कूजन की ध्वनिवाले पालतू हंसों की पंक्तियों (समूह) से धवल किया जा रहा था, [सफेद बना दिया गया था।] जो (रनिवास) धुले उज्ज्वल रेशमी वस्त्रों के उत्तरीय धारण किये हुए, सुवर्ण—[जटित] डंडों को पकड़े हुए. पक जाने से सफेद केशों से युक्त, मानों आधारमय, मानों मर्यादामय, मानो मङ्गलमय, गम्भीर आकृतिवाले, स्वभाव से धैर्यशाली, उष्णीष (पगड़ी) [को धारण करने] वाले, उम्र ढल जाने पर भी अर्थात् बुढ़ापे में भी बूढ़े सिंह जैसे सत्त्वों (= पशुओं) का अवष्टम्भ=आलम्बन=पकड़ना नहीं छोड़ता है उसी के समान सत्त्व (बल, साहस) का आश्रय न छोड़ने वाले कञ्चुकियों से अधिष्ठित (युक्त) था।

१. विभूषणैः पदैः पदैः। २. रुताभिः। ३. कलहंस। ४. धवलीकृताजिरेण।
५. क्वचित्तु 'धृत' पदं नास्ति। ६. पाण्डुरपाक···। ७. आचारमयैरिव।
८. क्वचित्तु इतोऽग्रे 'विनयमयैरिव' इत्यधिकः पाठः। ९. जरीजरत्।

—जलधर-सनाथमिव[1] कृष्णागुरुधूमपटलैः, सनीहारमिव यामकुञ्जरघटा-करसीकरैः, सनिशमिव तमालवीथिकान्धकारैः, सबालातपमिव रक्ताशोकैः[2], सतारागणमिव मुक्ता-कलापैः, सवर्षासमयमिव धारागृहैः, सतडिल्लतमिव हेममयीभिर्मयूरयष्टिभिः, सगृहदैवतमिव शालभञ्जिकाभिः, शिवभवनमिव द्वारावस्थित-दण्डपाणि-प्रतीहारगणम्, उत्कृष्ट-कविगद्यमिव[3]

प्रकारान्तरेण पुनरपि राजभवनमेव विशिनष्टि—जलधरेति। कृष्णागुरुधूमपटलैः—कृष्णाऽगुरुः (= काकतुण्डः) तस्य धूमपटलैः (= वह्निकेतनवृन्दैः), जलधर-सनाथम् = वारिदसंयुक्तम्, इव। यामेत्यादिः—यामकुञ्जराः (= प्रतिप्रहरवर्त्तिनः गजाः) तेषां या घटा (= समूहः) तस्याः कराणाम् (= शुण्डादण्डानाम्) शीकरैः (= जलकणैः), सनीहारम् = सहिमम्, इव। ["अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम्।" इत्यमरः १।३।१८]

सनिशमिति। तमालवीथिकान्धकारैः-तमालाः (= तापिच्छवृक्षाः) तेषां वीथिका (= पङ्क्तिः) तस्याः ये अन्धकाराः (= तमांसि) तैः, सनिशम् = निशया (= रात्र्या) सहितम्, इव। उभयत्र तमसः सादृश्यात्। रक्ताशोकैः = अरुणवर्णाशोककुसुमैः, सबालातपम् = नवीनसूर्यालोकसहितम्, इव, लौहित्येनोभयसाम्यात्। मुक्ताकलापैः = मौक्तिकाभूषणसमूहैः, सतारागणम्—नक्षत्रराशिसहितम्, इव। धारागृहैः = अनवरतवारिवर्षकयन्त्रैः, सवर्षासमयम् = वर्षाकालसहितम्, इव। हेममयीभिः = सुवर्णनिर्मिताभिः, मयूरयष्टिभिः = बर्हिवृन्दोपवेशनदण्डैः, सतडिल्लतम् = विद्युल्लतासहितम्, इव। शालिभञ्जिकाभिः = पुत्रिकाभिः, सगृहदैवतम् = गेहदेवतासहितम्, इव 'राजकुलं' विवेशेत्यत्रान्वयः। अत्र 'जलधरसनाथमिव' इत्यत आरभ्य 'सगृहदैवतमिव' इत्येतत्पर्यन्तं सर्वत्रोत्प्रेक्षालङ्कारो बोध्यः।

शिवेति। शिवभवनम् = शङ्करसदनम्, इव, द्वारावस्थितेत्यादिः—द्वारे (= द्वारि) अवस्थितः (= विद्यमानः, निषण्णः) दण्डपाणिः (= यष्टिहस्तः) प्रतीहारगणः (= द्वारपालसमूहः) तस्य तत् तादृशम्। पक्षे—द्वारावस्थितः, दण्डपाणिः = एतन्नामको भैरवविशेषः, प्रतीहाररूपाः प्रमथगणाश्च यस्य तत् तादृशम्।

उत्कृष्टेति। उत्कृष्टम् (= अलङ्कारगुणाद्युपेतम्) कविगद्यम् (= कवयितृ-छन्दोविहीनपद-

जो (राजभवन) काले अगुरु के धूम के समूह से मानो मेघों से युक्त था, जो पहर-पहर पर बदले जाने वाले हाथियों के समूह की सूड़ों के जलकणों से मानों ओस से युक्त था, जो तमाल वृक्षों की पंक्तियों (कतारों) के अंधेरे के कारण मानो निशा से युक्त था, जो लाल अशोक वृक्षों के कारण मानों प्रातःकालीन (सवेरे होने वाली) धूप से युक्त था, जो मोतियों के समूह के कारण मानों तारागणों से युक्त था, जो धारागृहों (फुब्बारों) के कारण मानों वर्षा के समय से युक्त था, जो सोने की मयूरयष्टियों [मोरों के बैठने में डंडो] के कारण मानो विद्युत्लता से युक्त था, जो शालभञ्जिकाओं (पुत्तलियों) के कारण मानों गृहदेवताओं से युक्त था, जो द्वार पर स्थित हाथ में डंडा लिये हुए द्वारपालरूपी गणों वाले या द्वार पर स्थित दण्डपाणि-नामक द्वारपाल-विशेष से युक्त शिवभवन के समान [वह राजभवन] दरवाजों पर विद्यमान, हाथों में डंडे लिये द्वारपालों के समूह से युक्त था, अनेक प्रकार के वर्णों के समूह द्वारा प्रतिपादित किये जाते हुए नवीन अर्थों के समूह वाले उत्कृष्ट कविगद्य के समान जो अनेक (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि) वर्णों की श्रेणियों द्वारा [उपहार या कर के

१. सजलजलधर०। २. आरक्ताशोकैः। ३. कविकाव्यमिव।

विविधवर्णश्रेणि[1]-प्रतिपाद्यमानाऽभिनवार्थ-सञ्चयम्[2], अप्सरोगणमिव प्रकटमनोरमारम्भम्[3], दिवसकरोदयमिव उल्लसत्पद्माकर-कमलामोदम्, उष्णकिरणमिव निजलक्ष्मीकृतकमलोपकारम्,

वृन्दम्) इव, यद्वा—उत्कृष्टकवेः (= सर्वंविधरचनानिपुणकवयितुः) गद्यम् = कादम्बर्यादिकमिवेति व्यज्यते, विविधेत्यादि :—विविधाः (= अनेकप्रकाराः) ये वर्णाः (= ब्राह्मणादयः, तेषां श्रेण्या (= समूहेन) प्रतिपाद्यमानः (= उत्पाद्यमानः, उपहाररूपेण समर्प्यमाणः) अभिनवः (= प्रत्यग्रः) अर्थसञ्चयः (=धनराशिः) यस्मिन् तत् तादृशम् । पक्षे—विविधाः (=नानाप्रकाराः) ये वर्णाः (=अकारादयः) तेषां श्रेण्या (= पङ्क्तया) प्रतिपाद्यमानः (= निरूप्यमाणः, बोध्यमानः) अभिनवानाम् (= नूतनानाम् अश्रुतपूर्वाणाम्) अर्थानाम् (= अभिधेयानाम्) सञ्चयः (= संग्रहः) यस्मिन् तत् तादृशम् । उपमात्र । ['वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु वाक्षरे ।' इत्यमरः ३।३।४८]

अप्सरोगणमिति । अप्सरोगणम्—अप्सरसाम् (= घृताच्यादीनाम्) गणः (= समूहः) तमिव, प्रकटमनोरमारम्भम्—प्रकटाः (= प्रकाशाः, सर्वजनविदिताः) मनोरमाः (= सुन्दराः) च, आरम्भाः (= कार्याणि) यस्मिन् तत् तादृशम् । पक्षे—प्रकटा (= स्पष्टा) मनोरमा (= मनोहारिणी यद्वा—प्रकटमनोरमा (= अत्यन्तमनोहारिणी) रम्भा (= एतन्नाम्नी स्वर्वेश्याविशेषा) यस्मिन् तत् तादृशम् । अत्राप्युपमा ।

दिवसेति । दिवसकरोदयम्—दिवसकरस्य (= सूर्यस्य) उदयम् (= उद्गमनम्), इव, उल्लसदित्यादिः—उल्लसन् (= प्रादुर्भवन्) पद्माकरेषु (= तडागेषु) कमलानाम् (= नीरजानाम्) आमोदः (= परिमलः) यस्मिन् तत् तादृशम् । पक्षे—उल्लसन् पद्माकरैः (= लक्ष्मीसमुत्पादकैर्हेतुभिः) कमलायाः (= लक्ष्म्याः) मोदः (= हर्षः) यस्मिन् तत् तादृशम् । केचित्तु—अभङ्गश्लेषमाश्रित्योभयपक्षे प्रथमोक्तमेव व्याख्यानं स्वीकुर्वते । अपरे तु–उल्लसन्तः पद्माकराः = श्रीकारकाः कमलाः = हरिणविशेषा, तेषाम् आमोदः=परिमलः यस्मिन् तत्—इत्यपि व्याचक्षते । ['पङ्कजे सलिले ताम्रे कमलस्तु मृगान्तरे।' इति हैमः । "स्यात् कुरङ्गेऽपि कमलः ।" इत्यमरश्च ३।३।१९५]

उष्णेति । उष्णकिरणम्—उष्णाः (= तीक्ष्णाः) किरणाः (= रश्मयः) यस्य सः सूर्यः, तम्, इव, निजलक्ष्मीत्यादिः—निजक्ष्म्या (= स्वीयकान्त्या) कृतः (= विहितः) कमलानाम् (= पद्मानाम्) उपकारः (= उपकृतिः विकासरूपेत्यर्थः) येन स तं तादृशम् । पक्षे—निजलक्ष्म्या, कृतः कमलायाः = राज्यलक्ष्म्याः, उपकारः (= वर्धनरूपा उपकृतिः) येन तत् तादृशम् ।

रूप में] प्रस्तुत किये जाते हुए नवीन अर्थ (धनादि) के संग्रह वाला था, दृश्यमान हृदयहारिणी रम्भा या मनोरमा और रम्भा [नामवाली अप्सराओं] से युक्त अप्सराओं के समूह के समान जो मनोहर आरम्भों (= कार्यों) को प्रस्तुत करने वाला था, प्रकट होती हुई (अनुभव-विषय बनती हुई) पद्मों (कमलों के आकर (= तालाब आदि) में कमलों की आमोद (= सुगन्ध) से युक्त सूर्योदय के समान जो (राजसदन) दिखाई देते हुए पद्माकर (= लक्ष्मी को उत्पन्न करने वाले साधनों) से कमला (= लक्ष्मी के मोद (= आनन्द) से युक्त था, अपनी श्री = कान्ति से कमलों के (विकासरूपी) उपकार को करने वाले उष्णकिरण = सूर्य के समान जो अपनी सम्पत्ति से राज्य-लक्ष्मी का वृद्धिरूपी उपकार करने वाला था, पताका और अंकों से शोभित होने वाले नाटक के समान जो पताकाओं (ध्वजाओं) पर बने हुए चिह्नों से शोभित था अथवा अंक = मध्यभाग में पताकाओं से शोभित था, या पताका (वैजयन्ती) रूपी चिह्नों से सुशोभित था, असुराधिप बाण के

१. श्रेणी । २. प्रतिपाद्यमानानेक० । ३. रम्भाभोगम् ।

नाटकमिव पताकाङ्क-शोभितम्,[1] शोणितपुरमिव बाणयोग्यावासोपेतम्, पुराणमिव विभागा-
वस्थापित-सकलभुवनकोशम्,[2] सम्पूर्ण-चन्द्रोदयमिव[3] मृदुकरसहस्र-संवर्द्धितरत्नालयम्, दिग्गज-

---

नाटकमिति । नाटकम् = रूपकविशेषम्, इव, पताका (= व्यापिप्रासङ्गिकवृत्तम्) अङ्काः (= परिच्छेदाः) च तैः शोभितम् । "व्यापिप्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते ।" नाटके पताका अङ्काश्च भवन्तीति भावः । पक्षे—पताकाङ्कशोभितम् पताका (= वैजयन्त्यः) एव अङ्काः (= चिह्नानि) तैः शोभितम्, यद्वा—पताकाभिः अन्यैश्चाङ्कैः शुभचिह्नैः शोभितम् । राजगृहे वैजयन्त्यः अन्यानि च शुभचिह्नानि भवन्तीत्युभयोः साम्यम् ।

शोणितेति । शोणितपुरम् = बाणाख्यदैत्याधिपस्य नगरम्, इव, बाणयोग्यावासोपेतम्—बाणस्य (= एतन्नामकस्य दैत्यराजस्य) योग्यः (= उचितः) य आवासः (= भवनम्) तेन उपेतम् (= युक्तम्), अत्रपक्षे - बाणानाम् (= शराणाम्) योग्यः (= उचितः) य आवासः (= स्थापन-गृहम्) तेनोपेतम् ।

पुराणमिति । पुराणम् = पञ्चलक्षणात्मकं व्यासप्रणीतशास्त्रविशेषम्, इव, विभागेत्यादिः—विभागेन (= श्रेणीरूपेण) अवस्थापितः (= रक्षितः) सकलभुवनानाम् (= समस्तलोकानाम्) कोषः (= धनादिनिधिः) यस्मिन्, तत् तादृशम् । पक्षे—विभागे (= अंशविशेषे) अवस्थापितः (= वर्णितः, निहितः) सकलभुवनस्य (= समस्तलोकस्य) कोशः (= मण्डलम्) यत्र तत् तादृशम् । पुराणलक्षणञ्चैतत्प्रसिद्धम्—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

एतानि अष्टादशपुराणानां संक्षिप्तनामानि—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि जगुर्बुधाः ॥

सम्पूर्णेति । सम्पूर्णचन्द्रोदयम्—सम्पूर्णः (= समस्तः, षोडशकलासहितः) यः चन्द्रः (=शशी) तस्य उदयः (= उद्गमः) तम् इव, मृदुकरेत्यादिः—मृदुकराणाम् (= कोमलकिरणानाम्) यत् सहस्रम् (= दशशती) तेन संवर्धितः (= वृद्धिं प्रापितः) रत्नालयः (= सागरः) येन तं तादृशम् । पक्षे—मृदवः (= अल्पाः, सर्वैः सह्याः) ये कराः (= राजदेयद्रव्याणि) तैः संवर्द्धिताः (= वृद्धिं नीताः) रत्नालयाः (= धनागाराणि) यस्य तत् तादृशम् ।

दिग्गजमिति । दिग्गजम् = दिशाहस्तिनम्, इव, अविच्छिन्नेत्यादिः—अविच्छिन्नः (= अत्रु-

---

रहने योग्य भवन से युक्त शोणितपुर के समान जो बाणों के [रखने या चलाने के] योग्य भवनों से युक्त था, तत्तद् विभागों (खण्डों) में समस्त भुवन मण्डल वाले पुराण के समान जो औचित्य के अनुसार रखे गये समस्त लोकों के खजानों से युक्त था, [अपनी] हजारों मृदु = कोमल किरणों द्वारा रत्नालय = समुद्र की वृद्धि कराने वाले सम्पूर्ण चन्द्रमा के उदय के समान जो मृदु = आसानी से वसूल किये गये हजारों कर = टैक्सों द्वारा बढ़ाये गये, भरे गये रत्नों के आलय (रत्नभण्डार) से युक्त था, कभी भी न टूटने वाली प्रचुर मदजल की परम्परा वाले दिग्गज के समान जो कभी भी न

---

१. प्रकटपताकाङ्क० । २. यथाविभागावस्थापित० अवस्थित । ३. पूर्ण० ।

मिवाविच्छिन्न-महादान-सन्तानम्, ब्रह्माण्डमिव सकलजीवलोकव्यवहार-कारणोत्पन्नहिरण्य-गर्भम्, ईशानबाहुवनमिव महाभोगि-मण्डलसहस्राधिष्ठित-प्रकोष्ठम्[1], महाभारतमिवानन्तगीता-

टितः) महादानस्य (=प्रचुरमदजलस्य) सन्तानः (=प्रवाहः) यस्य स तम् । पक्षे—अविच्छिन्नः महादानस्य (=प्रचुरदानस्य, दीनादिभ्यः समर्पणस्य) सन्तानः (=अजस्रप्रवाहः) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

ब्रह्माण्डमिति । ब्रह्माण्डम् = भुवनमण्डलम् इव, सकलेत्यादिः—सकलजीवलोकानाम् (=समस्तप्राणिवर्गाणाम्) यो व्यवहारः (=आचारः) तस्य कारणम् (=निदानभूतः) उत्पन्नः (=जातः) हिरण्यगर्भः (=ब्रह्मा) यस्मिन् तत् तादृशम् । हिरण्यगर्भस्य श्रुतौ स्मृतौ च जगत्कारणत्वं बहुश उक्तम् "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" इत्यादिना । पक्षे—सकलजीवलोकानां व्यवहारः = विवादादिनिश्चयः एव कारणम् = हेतुः, तस्माद् उत्पन्नानि = जातानि (= निर्णयावसरे लोकैः समर्पितानि) हिरण्यानि (=सुवर्णादीनि द्रव्याणि) गर्भे (=मध्यदेशे) यस्य तत् तादृशम् । ['विवादो व्यवहारः स्यात्'''' ... ।" इत्यमरः १।६।९]

ईशानेति । ईशानबाहुवनम्—ईशानः (= शिवः) तस्य बाहूनाम् (= भुजानाम्) वनम् (= समुदायः) तम्, इव, महाभोगीत्यादिः—महाभोगिनाम् (= विशालसर्पाणाम्) मण्डलानाम् (= मण्डलीरूपेणस्थितानाम्) यत् सहस्रम् (= समूहः) तेन अधिष्ठितः (= आश्रितः) प्रकोष्ठः (=मणिबन्धप्रदेशः) यस्य तत् तादृशम् । पक्षे महाभोगिनः (= सततविषयोपभोगनिरताः जनाः) तेषां मण्डलानाम् (=समूहानाम्) सहस्रेण (=सहस्रसंख्येन) अधिष्ठिताः (= समाश्रिताः) प्रकोष्ठाः (=गृहैकदेशाः) यस्य यस्मिन् वा तत्तादृशम् ["उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः ।" इत्यमरः १।८।८ । "'''प्रकोष्ठस्तस्य चाप्यधः ।" इत्यमरः २।६।८० ।]

महाभारतमिति । महाभारतम् = इतिहासात्मको ग्रन्थविशेषः, तदिव, अनन्तेत्यादिः—अनन्तः (=श्रीकृष्णः) तस्य या गीता (= उपदेशप्रधानो अष्टदशाध्यायात्मको ग्रन्थविशेषः) यद्वा तस्य यद् गीतम् (= स्तुत्यादिकम्) तस्याः तस्य च यद् आकर्णनम् (= श्रवणम्) तेन आनन्दितः (= प्राप्तानन्दः) नरः (= अर्जुनः) यस्मिन् तत् । पक्षे—अनन्तानि (= असंख्यानि) यानि गीतानि (= गानानि) तेषामाकर्णनेन आनन्दिताः नराः (=लोकाः) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

यदुवंशमिति । यदुवंशम् = यदुः (= एतन्नामा नृपतिविशेषः) तस्य वंशः (= कुलम्) तम् इव, कुलक्रमेत्यादिः—कुलक्रमेण (= वंशपरिपाट्या) आगताः (= आयाताः) शूरः

टूटने (रुकने) वाले बड़े-बड़े दान के विस्तार से युक्त था, समस्त जीवलोकों (= प्राणिमात्र) के व्यवहार के कारणभूत हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जिससे उत्पन्न हुए थे ऐसे ब्रह्माण्ड के समान जो सभी मनुष्यों के व्यवहार=मुकदमों के निर्णय से उत्पन्न (=शुल्क रूप में प्राप्त) हिरण्य=सुवर्ण से युक्त मध्यभाग वाला था, हजारों महाभोगी=विशाल सर्पों के मण्डल से युक्त प्रकोष्ठ (=कलाई) वाले शंकर भगवान् के बाहुओं के वन (= समूह) के समान जो हजारों महाभोगी (= महाविलासी) लोगों के समूह द्वारा आश्रित प्रकोष्ठों (= कक्षों, कमरों) से युक्त था, जैसे अनन्त=श्रीकृष्ण की गीता=उपदेश-विशेष को सुनने से आनन्दित नर=अर्जुन से युक्त महाभारत था वैसे ही जो अनन्त=असंख्य गीतों

१. अध्यासितप्रकोष्ठमिव ।

कर्णनानन्दितनरम्, यदुवंशमिव कुलक्रमागत-शूर-भीमपुरुषोत्तमबल-परि[1]पालितम्, व्याकरण-मिव प्रथम-मध्यमोत्तम-पुरुष-विभक्तिस्थितानेकादेश-कारकाख्यात-सम्प्रदान[2]क्रियाव्यय-प्रपञ्च-

(=वसुदेवपिता) भीमः (=भीमसेनः) पुरुषोत्तमः (=श्रीकृष्णः) बलः (= बलभद्रः) च तैः परिपालितम् (= परिरक्षितम्)। वस्तुतस्तु—शूरौ = वीरौ, भीमौ—भीषणौ च यौ पुरुषोत्तमबलौ= श्रीकृष्णबलरामौ, ताभ्यां परिपालितम्—अयमेवार्थः साधीयान्। पक्षे—कुलक्रमेण आगताः ये शूराः (=शौर्यवन्तः) भीमाः (= भीषणाः) पुरुषोत्तमाः (= नरश्रेष्ठाः) तेषां बलेन (= शक्त्या, सैन्येन वा) परिपालितम्।

व्याकरणमिति। व्याकरणम् = पाणिनि-प्रभृतिप्रोक्तशब्दशास्त्रम्, इव, प्रथमेत्यादिः— प्रथमपुरुषः (='शेषे प्रथमः' पा० सू० १।४।१०८ इति सूत्रबोधितस्वरूपः) मध्यमपुरुषः (="युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः" पा० सू० १।४।१०६ इति सूत्रबोधित-स्वरूपः) उत्तमपुरुषः ("अस्मद्युत्तमः" पा० सू० १।४।१०७ इति सूत्र-बोधितस्वरूपः) [द्वन्द्वत्वेन पुरुषस्य प्रत्येकं योगो बोध्यः।] विभक्तयः (= सुप्तिङ्रूपाः "विभक्तिश्च" पा० सू० १।४।१०४ इति सूत्रेण बोधित-स्वरूपाः), तासु स्थिताः (= विद्यमानाः, निर्दिष्टाः) ये अनेके (= नानाविधाः) आदेशाः (=रूपान्तरप्राप्त्यादिरूपाः, यथा 'सुपि च' पा० सू० ७।३।१०२ इत्यादिना सुपि परेऽकारान्ताङ्गस्य दीर्घं आदेशः।) कारकाणि (=कर्त्रादिरूपाणि षट्), आख्यातम् (=तिङन्तं पदम्, क्वचित्तु तिङ् इत्यपि) सम्प्रदानम् (=चतुर्थीविभक्ति-निमित्तभूतम् "चतुर्थी सम्प्रदाने' इति सूत्रविहितम्) क्रियाः (=क्रियार्थबोधकभ्वादि-शब्दाः) अव्ययानि (=सर्वदैकरूपेण विद्यमानाः, एतत्संज्ञकाः शब्दविशेषाः)। ["सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।" इत्यव्ययलक्षणं प्रसिद्धम्।] एतेषां प्रपञ्चेन (=विस्तरेण) सुस्थितम् (=सुविख्यातम्)।

पक्षे तु—प्रथमः (=अयमधमः) मध्यमः (=अयमनुत्कृष्टाधमः) उत्तमः (= अयं सर्वो-त्कृष्टः)—एवंविधा या पुरुषविभक्तिः (=पुरुषविभागः, तत्तद्योग्यतया तेषां विभाग) तस्यां स्थिताः (=नियुक्ताः) ये अनेकादेशकारकाः (=नानाविधाज्ञापरिपालकाः,आज्ञाप्रदायकाश्च) तैः आख्याताः (= प्रतिपादिताः, कथिताः) सम्प्रदानक्रियाः (= अस्मै इदं देयम्, अस्मै चेदं देयमित्यादिरूपेण समीचीनवितरणव्यापाराः) ताभिः, तासु वा यो व्ययप्रपञ्चः (= व्ययविस्तारः) तस्मिन् सुस्थितम् (=सुष्ठुरूपेण विद्यमानम्)। श्लेषोपपादनार्थं कारकप्रयोगेऽपि सम्प्रदानशब्दस्य पुनः प्रयोगः।

के सुनने से आनन्दित मनुष्यों से युक्त था, जैसे यदुवंश कुलपरम्परा से आये हुए शूर तथा भयंकर पुरुषोत्तम =श्रीकृष्ण तथा बल = बलराम द्वारा परिपालित था उसी प्रकार जो कुलपरम्परा से आये हुए शूरों, वीरों और श्रेष्ठ पुरुषों की बल=सेना से परिपालित=सुरक्षित था, व्याकरण शास्त्र जैसे— प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष, उत्तमपुरुष, विभक्तियों में स्थित=विहित अनेक आदेशों, कारकों, आख्यातों (तिङन्तों) सम्प्रदानकारक तथा अव्ययों के प्रपञ्च=विस्तार से सुव्यस्थित होता है उसी प्रकार जो प्रथम (=अतिसामान्य, निम्न) मध्यम तथा उत्तम कोटि के पुरुषों के विभाजन [करने] में नियुक्त, [राजा की] अनेक आज्ञाओं [के पालन] को करने वाले (लोगों) द्वारा कही गई दान की क्रिया

१. 'क्वचित्तु 'परि' इदं नास्ति। २. सम्प्रदानापादान०।

सुस्थितम्, उदधिमिव भयान्तःप्रविष्ट[1]-सपक्षभूमिभृत्[2]-सहस्रसङ्कुलम्, उषानिरुद्धसमागममिव चित्र-लेखा[3]-दर्शित-विचित्र-सकलत्रिभुवनाकारम्, बलियज्ञमिव पुराणपुरुष-वामनाधिष्ठिताभ्यन्तरम्, शुक्लपक्षप्रदोषमिव वितत-शशि-किरण-कलाप-धवला[4]म्बर-वितानम्, नरवाहनदत्त-चरित[5]-

उदधिमिवेति। उदधिम् = सागरम्, इव, भयान्तरित्यादिः—भयात् (= भीतेः) अन्तः (= मध्ये) प्रविष्टाः (= समागताः) सपक्षाः (= पतत्रसहिताः) ये भूभृतः (= पर्वताः) तेषां सहस्रम् (= दशशती) तेन सङ्कुलम् (= व्याप्तम्)। पक्षे—भयात् अन्तप्रविष्टाः ये सपक्षाः (= ससहायकाः) भूभृतः (= पृथ्वीपालकाः राजनः) तेषां सहस्रेण सङ्कुलम्। कदाचित् इन्द्रेण पक्षच्छेदभिया मैनाकादयः पर्वताः सपक्षाः समुद्रे निमज्ज्य स्थिता आसन् इति पुराणादौ प्रसिद्धम्।

उषेति। उषाऽनिरुद्धसमागमम्—उषा (= बाणासुरदुहिता) अनिरुद्धः (= श्रीकृष्णस्य पौत्रः) तयोः समागमः (= सम्बन्धः) तम्, इव, चित्रलेखेत्यादिः—चित्रलेखया=एतन्नाम्न्या उषासख्या) दर्शिताः (= प्रकाशिताः) विचित्राः (= नानाविधाः) सकलत्रिभुवनस्य (= समस्तत्रिविष्टपस्य आकाराः (= आकृतयः) यस्मिन् तत् तादृशम्। पक्षे—चित्रलेखाभिः (= चित्रपङ्क्तिभिः) दर्शिताः (=प्रकाशिताः) विचित्राः सकलत्रिभुवनाकाराः यस्मिन् तत् तादृशम्। अनिरुद्धविषयक-प्रेमानुरक्तहृदयायै उषायै तस्याः सखी चित्रलेखा विविधानि चित्राणि प्रादर्शयदिति पुराणेषु प्रसिद्धम्। तथा चोक्तं विष्णुपुराणे— "ततः पटे सुरान् दैत्यान् गन्धर्वांश्च प्रधानतः। मनुष्यांश्चाभिलिख्यास्यै चित्रलेखाऽप्यदर्शयत्।"

बलियज्ञमिति। बलियज्ञम् = बलिनामकविरोचनसुतस्याध्वरम्, इव, पुराणेत्यादिः—पुराण-पुरुषः (= आदिपुरुषः) यो वामनः (= वामनरूपधारी उपेन्द्रः) तेन अधिष्ठितम् (= आश्रितम्) आभ्यन्तरम् (= मध्यभागः) यस्य तं तादृशम्। पक्षे—पुराणपुरुषाः (= वृद्धलोकाः) वामनाः (= खर्वाः) च, तैः अधिष्ठितमाभ्यन्तरं यस्य तत् तादृशम्। [पुरा कदाचिद् दैत्यराजबलेर्दर्पदलनाय भगवान् विष्णुः तस्य यज्ञे वामनरूपं धृत्वा पदत्रयं स्थानं याचितवान्। तदनन्तरं सकलमपि ब्रह्माण्डं पादद्वयेनैव परिमाप्य तस्य दर्पं दूरीकृतवानित्यादि कथा पुराणेषु प्रसिद्धा।]

शुक्लपक्षेति। शुक्लपक्षप्रदोषम्—शुक्लपक्षस्य (= सितपक्षस्य) प्रदोषः (= रजनीमुखम्) तम्, इव, विततेत्यादिः—वितताः (= विस्तीर्णाः) ये शशिकिरणाः (= चन्द्ररश्मयः) तेषां कलापेन (= समूहेन) धवलम् (= शुभ्रम्) अम्बरम् (= आकाशम्) एव वितानम् (= उल्लोचः) यस्मिन् तत् तादृशम्। पक्षे—विततशशिकिरणकलाप इव धवलम् (= शुक्लम्) अम्बरवितानम् (= वस्त्र-

के व्यय (= खर्च) के विस्तार से सुस्थित = सुप्रसन्न था, जैसे समुद्र [इन्द्र के द्वारा पंखों के काट दिये जाने के] भय से भीतर छिपे हुए हजारों सपक्ष = पंखोंवाले भूभृत् = पर्वतों से व्याप्त था उसी प्रकार जो [अन्य किसी राजा के] भय से भीतर प्रविष्ट हुए हजारों सपक्ष = अपने पक्ष के भूभृत् = राजाओं से भरा हुआ था, जैसे उषा और अनिरुद्ध का समागम [उषा की सखी] चित्रलेखा द्वारा प्रदर्शित (बना कर दिखाये गये) नाना प्रकार के समस्त तीनों लोकों के आकारों (= चित्रों, आकृतियों) से युक्त था उसी प्रकार जो चित्रों की रेखाओं द्वारा प्रदर्शित, बनाये गये विविध प्रकार के समस्त तीनों लोकों के आकारों = आकृतियों से युक्त था, बलि राजा का यज्ञ जैसे पुराणपुरुष वामन (अवतार) से युक्त मध्य भाग वाला था उसी प्रकार जो पुराणपुरुषों = वृद्धों (= कञ्चुकियों) और बौनों से युक्त मध्य क्षेत्र वाला था, (उसके मध्य भाग में वृद्ध और बौने थे), जैसे शुक्ल पक्ष का प्रदोष=सायं काल का प्रारम्भिक समय फैली हुई चन्द्र किरणों के समूह से सफेद होने वाले अम्बर(आकाश) रूपी वितान (चंदोवा) से युक्त होता है वैसे ही जो फैली हुई चन्द्रकिरणों के समूह के समान सफेद

१. भयात् प्रविष्ट०। २. भूभृत्०। ३. विचित्रलेखा। ४. धवलित। ५. नरवाहनदत्तकथेव।

मिवान्तःसंवर्द्धित-प्रियदर्शन-राजदारिका-गन्धर्वदत्तोत्कण्ठम्, महातीर्थमिव सद्योऽनेक-पुरुषप्राप्ता-भिषेक-फलम्, प्राग्वंशमिव नानासवपात्र-सङ्कुलम्, निशासमयमिवानेकनक्षत्रमालालङ्कृतम्,

---

निर्मितोल्लोचः) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

नरवाहनेति । नरवाहनदत्तचरितम्—नरवाहनदत्तः (=एतन्नामा नृपविशेषः) तस्य चरितम् (=चरित्रम्), इव, अन्तःसंवर्द्धितेत्यादिः—अन्तःसंवर्द्धिता (=अन्तःपुरे वृद्धिं प्राप्ता) प्रियदर्शना (=रमणीयावलोकना) राजदारिका (=राजकुमारी) गन्धर्वदत्ता (=एतन्नाम्नी) तस्या उत्कण्ठा (=नरवाहनदत्तस्य कृते औत्सुक्यम्) यस्मिन् तत् तादृशम् । पक्षे—अन्तः (=अवरोधे) संवर्द्धिताः प्रियदर्शनाः याः राजदारिकाः ताभिः गन्धर्वेभ्यः (=देवगायकेभ्यः) दत्ता (=समर्पिता) उत्कण्ठा (=संमिलनौत्सुक्यम्) यस्मिन् तत् तादृशम् । यद्वा—अन्तःसंवर्द्धिताभ्यः प्रियदर्शनाभ्यो राजदारिकाभ्यो गन्धर्वैः दत्ता उत्कण्ठा यस्मिन् तत् तादृशमित्यप्यर्थः सम्भवति । [सागरदत्तनामक-गन्धर्वराजस्य गन्धर्वदत्ता नाम्नी सुताऽसीत् । सा कदाचित् नरवाहनदत्तस्य गुणातिशयमाकर्ण्य तद्विषये परमोत्सुकाऽभूदिति पुराणादौ प्रसिद्धम् । तथा च दृश्यते कथासरित्सागरे—"राजा सागरदत्ताख्यो गन्धर्वाणामिहास्ति यः । तस्य गन्धर्वदत्ताख्या सुतास्ति न्यक्कृताप्सराः ॥"]

महातीर्थमिति । महातीर्थम् (=विशिष्टतीर्थं वाराणस्यादिकम्), इव, सद्यः=शीघ्रमेव, अनेकेत्यादिः—अनेके (=असंख्याः) ये पुरुषाः (=लोकाः) तैः प्राप्तम् (=लब्धम्) अभिषेकस्य (=जलमज्जनस्य) फलम् (=पुण्यादिकम्) यस्मिन् तत् तादृशम्, यद्वा—अनेकपुरुषैः (=पूर्वजैः) प्राप्तम् अभिषेकात् (=जलादिस्नानात्) फलम् (=पापविनाशादिरूपम्) यस्मात् (तीर्थस्थानात्) तत् तादृशम् । पक्षे—सद्यः=तारापीडदर्शनसमये एव, अनेके ये पुरुषाः (=विविधदेशीयनृपात्मजाः) तैः प्राप्तम् (=समासादितम्) अभिषेकः (=राज्याभिषेकः) एव फलम् यस्मात् (राजभवनात्) तत् तादृशम् ।

प्राग्वंशमिति । प्राग्वंशः = हविर्गृहात् प्राग्गृहम्, तम् इव, नानासत्रपात्रसंकुलम्—नाना (= विविधानि) यानि सवस्य (=यज्ञस्य) पात्राणि (=भाजनानि) तैः सङ्कुलम् (=व्याप्तम्) । यद्वा—नानाविधः य आसवः (= सोमवल्ल्यासवः) तस्य पात्रैः सङ्कुलमित्यर्थः । यस्मिन् गृहे होमसम्पादनार्थं हविः स्थाप्यते तस्मात् प्राग्दिशि वर्तमानं यजमानादिनिवासाय यद् भवनं तद् 'प्राग्वंश' इत्युच्यते । अत एवोक्तममरे "प्राग्वंशः प्राग्घविर्गेहात् ।" इत्यमरः २।७।१६] पक्षे—नाना आसवपात्रैः (=मदिराभाजनैः) संकुलम् । "यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः ।' इत्यमरः २।७।१३ । मैरेयमासवः सीधुः । इत्यमरः २।१०।४१]

निशासमयमिति । निशासमयम्=रात्रिकालम्, इव, अनेकेत्यादिः—अनेकानि (=बहूनि)

अम्बर = वस्त्रों के वितानों (चंदोवा) से युक्त था, जैसे नरवाहनदत्त का चरित अन्दर (हृदय के भीतर) बढ़ाये हुए, प्रियदर्शना (सुन्दरी) राजदारिका (राजकुमारी) गन्धर्वदत्ता के प्रति औत्सुक्य से युक्त था वैसे ही जो अन्तःपुर में बढ़ाई (पाली पोसी) गई प्रियदर्शना (सुन्दर) राजकुमारियों द्वारा गन्धर्वों के प्रति दी (की) गई उत्कण्ठा से युक्त था अथवा अन्तःपुर में संवर्द्धित सुन्दर राजकुमारियों के प्रति गन्धर्वों द्वारा की गई उत्कण्ठा से युक्त था, जहाँ अनेक (पूर्वज) पुरुषों द्वारा स्नान का फल तत्काल प्राप्त किया जाता है ऐसे महान् तीर्थ (गंगा, संगम) के समान उस (राजभवन) में अनेक (सामन्त आदि) पुरुषों को [राज्य के] अभिषेक रूपी फल तत्काल प्राप्त होता है, प्राग्वंश (हविः शाला से पहले वाला भवन) जैसे अनेक प्रकार के सव = यज्ञसम्बन्धी पात्रों से भरा होता है अथवा नाना प्रकार के आसव (सोमरस आदि) के पात्रों से भरा होता है वैसे ही जो अनेक

प्रभातसमयमिव पूर्वदिग्भाग-रागानुमेय-मित्रोदयम्, गन्धिक[1]-भवनमिव स्नान-धूप-विलेपन[2]-वर्णकोज्ज्वलम्, ताम्बूलिकभवनमिव कृत-लवली-लवङ्गैला-कक्कोल[3]-पत्त्रसञ्चयम्, प्रथम[4]-वेश्या-

यानि नक्षत्राणि (=तारकाः) तेषां माला (=श्रेणिः) तया अलङ्कृतम् (=विभूषितम्) । पक्षे—अनेकाः (नानाविधाः) याः नक्षत्रमालाः (= सप्तविंशतिसंख्याकमौक्तिकगुम्फिता स्रग्विशेषा) तया अलङ्कृतम् । ["सैव नक्षत्रमाला स्यात् सप्तविंशतिसंख्यकैः ।" इत्यमरः २।६।१०६।]

प्रभातेति । प्रभातसमयम् = प्रातःकालम्, इव, पूर्वदिग्भागेत्यादिः - पूर्वदिग्भागे (=प्राचीदिगंशे) यो रागः (=लालिमा) तेन अनुमेयः (=अनुमातुं योग्यः) मित्रस्य (=भानोः) उदयः (=उद्गमनम्) यस्मिन् तम् । पक्षे—पूर्वदिशा (=पूर्वरीत्या) भागेन (=एकदेशेन) यो रागः (=स्नेहः राज्ञस्तारापीडस्येत्यर्थः) तेन अनुमेयाः (=अनुमातुं योग्याः) मित्राणाम् (=सुहृदाम्) उदयाः (=अभ्युदयाः, कल्याणानि) यस्मिन् तत् तादृशम् । स्वल्पप्रेम्णापि मित्राणामुन्नतिर्दृश्यते स्म प्रगाढानुरागवतां विषये तु न किमपि वाच्यमिति भावः । ['मित्रं सुहृदि न द्वयोः । सूर्ये पुंसि ।' इत्यनेकार्थः । "··· · मित्रो रवावपि ।" इत्यमरः ३।३।१६७]

गन्धिकेति । गन्धिकभवनम्=सुगन्धिद्रव्यविक्रेतृसदनम्, इव, स्नानेत्यादिः—स्नानम् (=स्नानीयं द्रव्यम्) धूपः (=गुग्गुल्वादिकम्) विलेपनम् (= चन्दनादितरलद्रव्यम्) वर्णकम् (=अङ्गरागद्रव्यम्) तैः उज्ज्वलम् (= दीप्तिमत्) तत् तादृशम् । पक्षेऽपि पूर्वोक्ता एवार्था इत्यभङ्गश्लेषः । ["गात्रानुलेपनी वर्तिवर्णकं स्याद् विलेपनम् ।" इत्यमरः २।६।१३]

ताम्बूलिकेति । ताम्बूलिकभवनम् = नागवल्लीदलविक्रेतुः सदनम्, इव, कृतेत्यादिः—कृतः (=विहितः) लवली (= सुगन्धवल्लीविशेषः), लवङ्गम् (=देवकुसुमम्), एला (=चन्द्रवाला 'बड़ी इलायची' इति हिन्द्यांख्याता), कक्कोलः (=कोशफलम्) पत्त्रम् (=पत्त्रम्, नागवल्लीदलम्)–एतेषां सञ्चयः (=सङ्ग्रहः) यस्मिन् तत् तादृशम् । पक्षेऽप्ययमेवार्थः इत्यभङ्गश्लेषः । ["पृथ्वीका चन्द्रवालैला निष्कुटिर्बहुलाऽथा सा ।"इत्यमरः २।४।१२५ । "अथ कोलकम् । कक्कोलकं कोशफलम्··· ··· ।" इत्यमरः २।६।१२९-३०]

प्रथमेति । प्रथम-वेश्यासमागमम् - प्रथमः (= आद्यः) यः वेश्यया (= वारवनितया) समागमः (=सम्मिलनम्) तम्, इव, अविदितेत्यादिः –अविदिताः (= अज्ञाताः, गाम्भीर्यातिशयात्)

प्रकार के मदिरापात्रों से भरा हुआ था, रात्रि का समय जैसे अनेक नक्षत्रों की माला (समूह) से सजा हुआ होता है वैसे ही जो (राजभवन) अनेक नक्षत्रमालाओं (सत्ताईस मोतियों की गूँथी मालाओं) से भरा हुआ था, प्रभात का समय जैसे पूर्व दिशा में होने वाले राग (लालिमा) से मित्र =सूर्य के उदय के अनुमान करने योग्य होता है वैसे ही जहाँ पूर्वदिशा =पहले के समान ही एक अंश से मित्रों = सहृदों के उदय का अनुमान किया जा सकता था, गन्धिक (इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य के व्यापारी) का भवन जैसे स्नान के उपयोगी द्रव्य, धूप, अंगविलेपन आदि (के संग्रह) से उज्ज्वल होता है वैसे ही जो (राजभवन) इन द्रव्यों से उज्ज्वल (श्वेत) था, ताम्बूलिक (पान के व्यवसायी) का घर जैसे लवली (एक सुगन्धित लताविशेष) लौंग, इलायची, कक्कोल के पत्रों के किये गये संग्रह वाला होता है वैसे ही जो (राजभवन भी) इन पूर्वोक्त के संग्रह वाला था, वेश्या का प्रथम समागम (मिलन) जैसे न जाने गये हृदयाभिप्राय और शारीरिक चेष्टायें तथा [मुखादि के]

१. गान्धिक० । २. ··· लेपन । ३. ···कङ्कोलि, कङ्कोल । ४. प्रधान··· ।

समागममिवाऽविदित-हृदयाभिप्राय-चेष्टाविकारम्, कामुकजनमिव बहु-चाटू-संलाप-सुभाषित-रसास्वाद-दत्त-तालशब्दम्, धूर्त्तमण्डलमिव दीयमान-मणि-शत-सहस्रालङ्करण-कृतलेख्यपत्र-सञ्चयम्, धर्म्मारम्भमिवाशेषजन-मनः-प्रह्लादनम्, महावनमिव विविध[1]श्वापद-द्विजोपघुष्टम्, रामा-

---

हृदयस्य (=चित्तस्य) अभिप्रायाः (=आशयाः) यासु तादृश्यः चेष्टाः (= शृङ्गारविलासाः) विकाराः (=भ्रूविक्षेपादयः) च यस्मिन् तं तादृशम्। पक्षे—अविदितः (राज्ञः) हृदयाभिप्रायः, याभ्यः तथोक्ताः चेष्टाः (=शारीरिकी-क्रियाः) विकाराः (=मुखनेत्रादिभङ्गयः) च यस्मिन् तत् तादृशम्। उभयत्र समानार्थत्वमपि सम्भवतीति बोध्यम्।

कामुकेति। कामुकः = कामयिता, यः जनः = लोकः, तम्, इव, बहुचाट्वित्यादि :—बहूनि (=असङ्ख्यानि) चाटूनि (= मनोहारीणि मिथ्यावाक्यानि) येषु तादृशाः ये संलापाः (=सम्भाषणानि) सुभाषितानि: (=सूक्तानि) च तैः यो रसास्वादः (=शृङ्गारदिरसानुभवः) तेन तस्मिन् वा दत्ताः (=कृताः) तालशब्दाः (= समर्थक–करताडनध्वनयः) येन तं तादृशम्। पक्षे—बहु······तालशब्दाः यस्मिन् तत् तादृशम्। उभयत्रापि समानार्थत्वेनाभङ्गश्लेषः।

धूर्तेति। धूर्त्तमण्डलम् =धूर्त्ताः (=द्यूतकृतः) तेषां मण्डलम् (=वृन्दम्) इव, दीयमानेत्यादिः—दीयमानानि (= समर्प्यमाणानि, पराजयादिहेतुनेति शेषः) यानि मणीनाम् (= रत्नानाम्) शत-सहस्राणि (= एतावत्संख्याकानि) अलङ्करणानि (= आभूषणानि) तेषु कृतः (= विहितः) लेख्यपत्राणाम् (=लेखनीयदलानाम्) सञ्चयः (=संग्रहः) यस्मिन् तत् तादृशम्। पक्षे—दीयमानानि (=विविधनृपैः सामन्तैश्चोपहाररूपेण समर्प्यमाणानि) मणिशतसहस्रालङ्करणानि तेषां कृतः नियुक्त-लेखकादिभिः लेख्यपत्रसंचयः =समर्पकनामादिलेखनीयपत्रसंग्रहो यस्मिन् तत् तादृशम्। दीयमानहेतावेव भेदः, शेषं तूभयत्र समानमित्यभङ्ग श्लेषः।

धर्मेति। धर्मारम्भम्—धर्मस्य (=सुकृतस्य) आरम्भः (=प्रारम्भः, उपक्रमः) तम्, इव, अशेषजनेत्यादिः—अशेषाः (=समस्ताः, ये जनाः (=लोकाः) तेषां मनः (=चित्तम्) तस्य प्रह्लादनम् (=आनन्दसमुत्पादकम्)। उभयत्र समानार्थं इत्यभङ्गश्लेषः।

महावनेति। महावनम् =महाकाननम्, अरण्यानीम्, इव, विविधेत्यादिः—विविधाः (=अनेक प्रकाराः) श्वापदाः (=व्याघ्रादिर्हिंस्रजन्तवः) द्विजाः (=पक्षिणः) च, तैः उपघुष्टम् (=शब्दितम्)।

विकार आदि वाला होता है वैसे ही जहाँ लोगों के मन के भाव, क्रियाकलाप और विकार नहीं जाने जा सकते थे, कामुक व्यक्ति जैसे अनेक प्रकार की चापलूसी की बातें तथा सुभाषितों के रसास्वाद में ताली को पीट कर शब्द करता है वैसे ही वहाँ भी था, धूर्तों (= जुआरियों) की मण्डली जैसे (जुआ में) दिये जाने वाले सौ हजार =लाखों मणियों तथा आभूषणों के विषय में किये गये लेख्यपत्रों (दस्तावेजों) के संग्रह से युक्त होता है वैसे ही जो (राजभवन) [दान और उपहार आदि में] दिये जाते हुए लाखों मणियों तथा आभूषणों के विषय में लिखे (तैयार किये) गये पत्रों (दस्तावेजों)के संग्रह से युक्त था, धर्म (यज्ञादि पुण्यकर्मों) का आरम्भ जैसे सभी लोगों के मन को आनन्दयुक्त करने वाला होता है, वैसे ही वह भी था, महावन जैसे अनेक प्रकार के श्वापदों (=सिंह आदि जंगली पशुओं)

---

१. क्वचित्तु 'विविध' इदं नास्ति।

यणमिव कपि[1]-कथासमाकुलम्, माद्रीकुलमिव नकुलालङ्कृतम्, सङ्गीतभवनमिवानेकस्थानावस्थापितमृदङ्गम्, रघुकुलमिव भरतगुणानन्दितम्[2], ज्यौतिषमिव ग्रह-मोक्ष-कला-भागनिपुणम्,

पक्षे—विविधाः ये श्वापदाः (=लौहपञ्जरस्थाः सिंहादयः) द्विजाः (=ब्राह्मणाः यद्वा पिञ्जरस्थाः कीरादिपक्षिणः). च तैः उपघुष्टम् । एवञ्चाभङ्गश्लेष । ["दन्तविप्राण्डजाः द्विजाः ।' इत्यमरः ३।३।३०]

रामायणमिति रामायणम् = बालमीक्यादिरचितं रामचरितम्, इव, कपि-कथासमाकुलम्—कपीनाम् (= हनूमत्प्रभृति-वानरश्रेष्ठानाम्) कथाभिः (=वार्त्ताभिः) समाकुलम् (= व्याप्तम्) । पक्षे—कपिभिः (= पालितवानरैः) कथाभिः (= विभिन्नोपाख्यानैः) च समाकुलम् । यद्वा विविधाश्चर्यजनककार्यकरणसमर्थानां कपीनामद्भुतकथाभिः समाकुलमित्यर्थः । अत्राभङ्गश्लेषः ।

माद्रीति । माद्रीकुलम् = माद्री (=मद्रदेशराजदुहिता, पाण्डुपत्नी) तस्याः कुलम् (=वंशः) तद्वदिव, नकुलालङ्कृम्—नकुलेन (=सहदेवाग्रजेन) अलङ्कृतम् (=सुशोभितम्) । पक्षे—नकुलैः (=परिपालित-भुजङ्गारिभिः, सर्पहन्तृभिः) अलङ्कृतम् । न कुलम् अस्येत्यर्थे बहुव्रीहौ "नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचि-नकुल-नख-नपुंसक-नक्षत्रनक्र-नाकेषु प्रकृत्या" (६।३।७५) इति सूत्रेण नञः प्रकृतिभावान्नलोपाभावः ।

सङ्गीतेति । सङ्गीतभवनम्—सङ्गीतकम् (='गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते' इति लक्षणलक्षितम्) तस्य भवनम् (=सदनम्), इव, अनेकेत्यादिः—अनेकेषु (= विविधेषु) स्थानेषु (=प्रदेशेषु) अवस्थापिताः (=निहिताः) मृदङ्गाः (=मुरजाः) यस्मिन् तत् । पक्षे—अनेकस्थानावस्थापितानि मृदाम् (=मृत्तिकानाम्) अङ्गानि (=अवयवाः, मृन्निर्मितपुत्तलिकादीनि यस्मिन् तत् तादृशम् । अत्राभङ्गश्लेषः ।

रघुकुलमिति । रघुकुलम् = रघुवंशः, तद्विव, भरतगुणानन्दितम्—भरतस्य (=कैकेयीसुतस्य) गुणैः (=पितृ-भ्रातृभक्त्यादिसद्गुणैः) आनन्दितम् (=प्रमोदितम्) । पक्षे—भरतानाम् (=नटानाम्) गुणैः (=अभिनयकलाकौशलैः) आनन्दितम् । अत्राप्यभङ्गश्लेषः । ["भरता इत्यपि नटाः···। इत्यमरः २।१०।१२] "···भरतो नाट्यशास्त्रमुनौ तटे । रामानुजे च दौष्यन्तौ······।" इति मेदिनी]

ज्योतिषमिति । ज्योतिषम् = ज्योतिःशास्त्रम्, ग्रहनक्षत्रादिबोधकशास्त्रम्, तदिव, ग्रहेत्यादिः—ग्रहः (=राहुणा चन्द्रसूर्ययोर्ग्रहणम्) मोक्षः (=राहुणा तयोर्मोक्षणम्) कला (=पञ्चपलात्मकः समयः चन्द्रस्य षोडशांशः) भागः (=पञ्चदण्डात्मकःकालः, यद्वा—राशेस्त्रिशांशकः) तेषु (= तत्प्रतिपादनेषु) निपुणम् (=समर्थम्) । पक्षे—ग्रहः (= दुष्टानामपराधिनामुद्धतनृपाणां च ग्रहणम्) मोक्षः (=समुचितदण्डप्राप्त्यनन्तरं मोक्षणम्) कलाः (=नृत्यगीतादिचतुःषष्टिविद्याः) भागः (=शास्त्रानुकूलं धनादिवितरणम्) तेषु निपुणाः (=दक्षाः जनाः) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

तथा द्विजों (=पक्षियों) द्वारा किये गये शब्दों से युक्त होता है वैसे ही जो पालतू श्वापदों और पक्षियों के शब्दों से या द्विजों=ब्राह्मणों के [वेदादि के] घोष से युक्त था, रामायण जैसे कपि= हनुमान् आदि की कथा से भरी हुई है वैसे ही जो [पालतू] वानरों की अनेक प्रकार की [आश्चर्यजनक] कहानियों से युक्त था, माद्री=पाण्डु की द्वितीय पत्नी का कुल जैसे नकुल नामक पुत्र से अलंकृत था वैसे ही जो नकुलों (सर्पहन्ता पालतू नेवलों) से युक्त था, संगीतशाला जैसे अनेक स्थानविशेष पर रखे हुए मृदंगों वाली होती है वैसे ही जो स्थान-स्थान पर रखे गये अनेक मिट्टी के अंगों अर्थात् मिट्टी की बनी हुई मूर्तियों से युक्त था, रघु का कुल जैसे भरत (कैकेयीपुत्र) के गुणों से आनन्दित था वैसे ही जो भरतों=नाटककारों के गुणों (कलानैपुण्यादि) से आनन्दयुक्त था, ज्योतिष जिस प्रकार ग्रह

1. कवि···।　　　　२. भरतकुलानन्दितम् ।

नारदीयमिव वर्ण्यमान-राजधर्म्मम्,[1] यन्त्रमिव विविध-शब्द-रस-लब्धास्वादम्, मृदुकाव्य-मिवान्य-चिन्तित-स्वभावाभिप्रायावेदकम्,[2][3] महानदी-प्रवाहमिव सर्वदुरितापहरम्,[4] धनमिव न

नारदीयमिति। नारदीयम् = नारदपुराणम् इव, वर्ण्यमानराजधर्मम्—वर्ण्यमानाः (= प्रतिपाद्यमानाः) राजधर्माः (= नृपकर्त्तव्यानि) यस्मिन्, तत् तादृशम्। पक्षे—वर्ण्यमानः (= स्तूयमानः) राजधर्मो यस्मिन् तत् तादृशम्। अत्राप्यभङ्गश्लेषः। [नारम् = अज्ञानं द्यति = खण्डयति—इति नारदः = देवर्षिः, तेन प्रोक्तं पुराणमिति छ = ईयप्रत्यये नारदीयमिति साधु।]

यन्त्रमिति। यन्त्रम् = वीणादिकम्, इव, विविधेत्यादिः—विविधाः (= नानाप्रकाराः) ये शब्दाः (= वीणोत्थध्वनयः) तेषां रसस्य (= रागमाधुर्यस्य) लब्धः (= प्राप्तः) आस्वादः (= चर्वणम्) यस्मात् तत् तादृशम्। पक्षे—विविधा ये शब्दाः (= योजितवाक्यानि) तेषां ये रसाः (= शृङ्गारादयः) तैः लब्धः आस्वादः (= चर्वणा) यस्मिन् तत् तादृशम्।

मृदुकाव्यमिति। मृदुकाव्यम्—मृदु (= माधुर्यादिगुणयुक्तं सुकुमारम्) यत् काव्यम् (= कविकर्म), तदिव, अन्यचिन्तितेत्यादिः—अन्यैः (= लेखकातिरिक्तैः जनैः) चिन्तितः (= श्रवणमात्रेण ज्ञातः) यः स्वभावः (= सहजः, स्वाभाविकः) अभिप्रायः (= आशयः, रचयितृतात्पर्यम्) तस्य आवेदकम् (= प्रतिपादकम्)। पक्षे—अन्यैः (= अन्यदेशवर्तिभिर्लोकैः) चिन्तितौ (= ध्यातौ न तु प्राप्तौ) स्वभावः (= प्रकृतिः) अभिप्रायः (= आशयः, च, तत्रस्थानां जनानामिति भावः) तयोः आवेदकम् (= सूचकम्)। अत्राभङ्गश्लेषः।

महानदीति। महानदीप्रवाहम्—महानदी (= बृहत्सरित्) तस्याः प्रवाहः (= ओघः) तम्, इव, सर्वदुरितापहरम्—सर्वाणि (= सकलानि) दुरितानि (= पापानि) अपहरति (= दूरीकरोति) इति तम्। पक्षे—सर्वदुरितानि (= समस्तदुश्चरितानि) अपहरति (= समुचितदण्डादिप्रदानेन दूरीकरोति) इति तत्, तादृशम्।

धनमिति। धनम् = द्रव्यम्, तदिव, कस्यचित् = कस्यचन जनस्य, नाकाङ्क्षणीयम् = नाभि-

(= सूर्य तथा चन्द्रमा के ग्रहण) और मोक्ष तथा कला (समय की निश्चित मात्रा) और भाग (राशि का एक भाग) [के ज्ञान कराने] में निपुण है वैसे ही जो [शत्रुओं और अपराधियों के] पकड़ने [दण्डित करने के बाद] छोड़ने की कला में [या चौंसठ कलाओं] तथा [शास्त्रानुकूल धनादि के] विभाजन में दक्ष था, वीणा आदि वाद्य यन्त्र जैसे अनेक प्रकार के शब्दों (ध्वनियों के रस से प्राप्त आस्वाद (आनन्द) वाला होता है वैसे ही अनेक प्रकार के (व्यञ्जक और वाचक) शब्दों से होने वाले रस का समास्वाद जहाँ से प्राप्त होता था, सुकुमार काव्य जैसे अन्य (= रचयिता) के चिन्तित स्वाभाविक आशय को प्रतिपादित करने वाला होता है वैसे ही जो अन्य लोगों द्वारा सोचे गये उनके भावों (विचारों) तथा अभिप्रायों को बतलाने वाला था, (वहाँ सभी अपने भाव और अभिप्राय कहने में स्वतन्त्र थे।) नदी का प्रवाह जैसे सभी प्रकार के पापों को हर लेता है वैसे ही जो सभी प्रकार के दुश्चरितों को समाप्त करने वाला था, जो धन के समान किसी का अवाञ्छनीय नहीं

१. प्रावर्ण्यमान। २. प्रनन्य…। ३. वेदकम्। ४. दुरिततापहरम्।

कस्यचिन्नाकाङ्क्षणीयम्[1], सन्ध्यासमयमिव दृश्यमानचन्द्रापीडोदयम्, नारायणवक्षःस्थलमिव श्री-रत्न-प्रभा-भासित-दिगन्तम्, बलभद्रमिव कादम्बरी-रस-विशेष-वर्णनाकुलमतिम्[2], ब्राह्मणमिव[3]

लषणीयम्, इति न = नैव, अपितु सर्वैरप्यभिलषणीयमेवेति भावः। "द्वौ नञौ प्रकृतार्थं द्रढयतः" इति न्यायेन प्रस्तुतार्थस्य दाढर्यं सिध्यति। पक्षेऽपि समानार्थतैवेत्यभङ्गश्लेषः।

सन्ध्येति। सन्ध्यासमयम्—सन्ध्यायाः (= सायम्) समयः (= कालः) तमिव, दृश्यमान-चन्द्रापीडोदयम्—दृश्यमानः (= विलोक्यमानः) चन्द्रः (= चन्द्रमाः) एव आपीडः (= शिरोभूषणम्) तस्य उदयः (= उद्गमनम्) यस्मिन् तं तादृशम्। पक्षे - दृश्यमानः चन्द्रापीडस्य (= एतन्नामकस्य राजसुतस्य) उदयः (= उद्गमनम्, आगमनमिति भावः) यद्वा—चन्द्रापीडस्य (= चन्द्रशेखरस्य) उदयः (= आविर्भावः) यस्मिन् तत् तादृशम्। चन्द्रापीडस्यागमनात् पूर्वं तस्य तत्र वर्णनं नोचितमिति 'चन्द्रापीडः = चन्द्रशेखरः' इत्येवार्थः सम्यक्।

नारायणेति। नारायण-वक्षःस्थलम्—नारायणस्य (= श्रीमद्विष्णोः) वक्षःस्थलम् (= उरःस्थलम्) इव, श्रीरत्नेत्यादिः—श्रीः (= लक्ष्मीः) रत्नम् (= कौस्तुभाख्यो मणिः) तयोः याः प्रभाः (= कान्तयः) ताभिः भासिताः (= प्रदीपिताः) दिगन्ताः (= दिशामन्तर्देशाः) यस्य, यस्माद् वा तत् तादृशम्। पक्षे—श्रीरत्नानि (= शोभायुक्तानि मण्यादीनि) तेषां प्रभाभिः भासिताः दिगन्ताः यस्मिन् यस्माद् वा तत्तादृशम्।

बलभद्रमिति। बलभद्रः = कृष्णाग्रजः, बलरामः तम्, इव, कादम्बरीत्यादिः कादम्बरी (= मदिरा) तस्या यो रसविशेषः (= आस्वादविशेषः) तस्य वर्णने (= प्रतिपादने, महत्त्वनिरूपणे) इत्यर्थः) आकुला (= व्यग्रा) मतिः (= बुद्धिः) यस्य स तं तादृशम्। पक्षे— कादम्बरी (= मदिरा, यद्वा वक्ष्यमाणा कादम्बरी नाम्नी स्त्री) तस्याः रसविशेषवर्णने आकुला मतिर्यस्मिन् तत्। 'कादम्बरी रसविशेषवर्णनाकुलमति' इति नपुंसके लिङ्गव्यत्ययः कार्यः, नपुंसके च अमो लोपः। ["सुरा हलिप्रिया हाला परिस्रुद् वरुणात्मजा। गन्धोत्तमाप्रसन्नेरा कादम्बर्यः परिस्रुता।" इत्यमरः २।१०।३९]

ब्राह्मणमिति। ब्राह्मणः = विप्रः, तम्, इव, पद्मासनेत्यादिः—पद्मासनम् (= योगादौ प्रसिद्धः

था अर्थात् सभी का चाहा हुआ था, सन्ध्या का समय जैसे दिखाई देते हुए चन्द्रमा रूपी आपीड (= शिरोभूषण) के उदय वाला होता है वैसे ही जो दृश्यमान चन्द्रापीड (राजकुमार) के अभ्युदय वाला था अथवा दिखाई देते हुए चन्द्रापीड = भगवान् शंकर के उदय = प्राकट्य वाला था, नारायण (विष्णु) का वक्षस्थल जैसे श्री (लक्ष्मी) और रत्न (कौस्तुभमणि) की प्रभा से दिगन्तों को प्रकाशित करने वाला है वैसे ही श्री = सम्पत्ति और रत्नों = विविध रत्नों से दिगन्तों को प्रकाशित करने वाला था, बलभद्र (बलराम) जैसे कादम्बरी (मदिराविशेष) के रस विशेष के वर्णन में आकुल मति वाले थे उसी प्रकार कादम्बरी (मदिरा) के रस विशेष के वर्णन में व्यग्र बुद्धि (वाले लोगों) से युक्त था, ब्राह्मण जैसे पद्मासन के उपदेश के लिये [या पद्मासन पर स्थित होकर उपदेश के द्वारा] भूमण्डल दिखलाता है वैसे ही पद्मा = लक्ष्मी के आसन (स्थिति) के लिये भूमण्डल दिखाया गया था। [कहीं-कहीं 'ब्रह्माणमिव' इत्यादि पाठ है। उसमें—ब्रह्मा के समान पद्मासन आदि के

१. काङ्क्षणीयम्, काङ्क्षणीयं फलम्।　२. ···मति।　३. ब्रह्माणमिव।

पद्मासनोपदेश-दर्शित-भूमण्डलम्, स्कन्दमिव शिखिक्रीडारम्भचञ्चलम्, कुलाङ्गनाप्रचारमिव सर्वदोपजातशङ्कम्,वेश्याजनमिवोपचारचतुरम्,दुर्जनमिवापगतपरलोकभयम्,१अन्त्यजजनमिवा-

आसनविशेषः) तस्य उपदेशेन (=शिक्षणेन) दर्शितम् (=प्रकाशितम्) भूमण्डलम् (=पृथिवीवलयः। येन तम् । पद्मासनस्य लक्षणं चेदं प्रतिपादितम्—"ऊरुमूले वामपादे पुनस्तु दक्षिणं पदम् । वामोरौ स्थापयित्वा तु पद्मासनमिति स्मृतम् ।" यद्वा—पद्मासनः = ब्रह्मा तस्योपदेशेन दर्शितं भूमण्डलं येन तम् । पक्षे—पद्मा (=राज्यलक्ष्मीः) तस्या आसनाय (= दीर्घकालं स्थितये) य उपदेशः (=तारापीडाय धर्मादिज्ञानप्रदानम्) तेन दर्शितम् (=प्रकटितम्) भुवः (= पृथिव्याः) मण्डलम् (=अन्तरालम्, तत्स्थव्यवहार इति भावः) यस्मिन् तत् तादृशम् ।

स्कन्दमिति । स्कन्दः=कार्तिकेयः, तम्, इव, शिखीत्यादिः—शिखी (=वाहनभूतमयूरः) तस्य क्रीडा (=खेला) तस्य आरम्भः (= उपक्रमः) तेन चञ्चलः (= चपलः) तम् । पक्षे—शिखिनः (=परिपालितमयूराः) तेषां क्रीडारम्भेण (=नृत्यक्रीडोपक्रमेण) चञ्चलम् (=चटुलप्रायम्)। अत्राप्यभङ्गश्लेषः ।

कुलाङ्गनेति । कुलाङ्गनाप्रचारम्—कुलाङ्गनाः (=सत्कुलोत्पन्नाः स्त्रियः) तासां प्रचारः (=बहिर्देशे गमनादिः) तम्, इव, सर्वदेत्यादिः—सर्वदा (=सदा) उपजाता (=समुत्पन्ना, सामान्यजनानामिति शेषः) शङ्का (=सन्देहः) यस्मिन् तं तादृशम् । पक्षे—सर्वदा उपजाता शङ्का (=भीतिः) यस्मिन् तत् तादृशम् । यद्वा—सर्वं ददाति —इति सर्वदः=परमेश्वरः, तस्माद् उपजाता शङ्का (=भयम् यस्मिन् तत्तादृशम् ।

वेश्याजनमिति । वेश्याजनः=गणिकालोकः, तम्, इव, उपचारचतुरम्—उपचारे (=अभ्यागतादीनां सत्कारे) चतुरम् (=निपुणम्)। पक्षे—उपचारे (=सेवायां सत्कारादौ च) निपुणम् (=समर्थम्)। तत्स्थलोकानां चतुरत्वाद् राजसदनस्यापि चतुरत्वं बोध्यमित्यभङ्गश्लेषः ।

दुर्जनमिति । दुर्जनः (=दुष्टलोकः) तम्, इव, अपगतपरलोकभयम्—अपगतम् (=दूरीभूतम्) परलोकात् (=स्वर्गात्) भयम् (=भीतिः) यस्य तं तादृशम् । अज्ञानावरणादिना दुर्जनानामीश्वरादौ भयं नास्तीति भावः। पक्षे—अपगतम् (=दूरीभूतम्) परलोकात् (=शत्रुजनात्) भयम् (=त्रासादिः) यस्मिन् तत् तादृशम् । राजसदने सम्यग् रूपेण सुरक्षितत्वेन कस्मादपि किमपि भयं कस्यापि नासीदिति भावः ।

अन्त्यजेति । अन्त्यजजनः=चाण्डालादिलोकः, रजकादिर्वा, तम्, इव, अगम्येत्यादिः—अगम्यः

उपदेश द्वारा भूमण्डल के दिखाने वाले—ऐसा अर्थ है ।] स्कन्द कुमार कार्त्तिकेय जैसे शिखियों (मयूरों) की क्रीडा के आरम्भ होने से चञ्चल होता है वैसे जो प्रकार पालतू मोरों की नृत्य क्रीडा आरम्भ होने से चञ्चल था । कुलीन स्त्रियों का प्रचरण (घूमना) जैसे सदैव उत्पन्न शंकाओं वाला रहता है वैसे ही जो सदैव [राजदण्डादिभय से] उत्पन्न आशङ्काओं से युक्त था । वेश्या लोग जैसे उपचार (आये हुए लोगों के सत्कार) में चतुर होती हैं वैसे ही अभ्यागतों के स्वागत में कुशल

१. अन्त्यजन० ।

ऽगम्यविषयाभिलाषम्, अगम्यविषयासक्तमपि प्रशंसनीयम्, अन्तक-भटगणमिव कृताकृतसुकृत-विचारनिपुणम्, सुकृतमिवादिमध्यावसान-कल्याणकरम्, वासरारम्भमिव परिस्फुरत्पद्मरागा-

(=अप्राप्यः) विषयाणाम् (=भोग्यानां शब्दस्पर्शादीनाम्) अभिलाषः (=इच्छा) यस्य स तं तादृशम्। यद्वा—अगम्ये (=गन्तुमशक्ये) विषये (=गहने विपिनादौ) अभिलाषः (=भ्रमणा-वासादिवाञ्छा) यस्य सः तं तादृशम्। पक्षे—अगम्यः (=अप्राप्यः) विषयाणाम् (=राजकीय-भागानाम्) अभिलाषः (=मनोरथः, परेषामिति शेषः) यस्मिन् तत् तादृशम्। शत्रवो यस्य कमपि भागं प्राप्तुमभिलाषमपि कर्तुं नार्हन्तीति भावः। अत्रिस्मृतावन्त्यजा इमे वर्णिताः—"रजकश्चर्मकारश्च नटो वुरुड एव च। कैवर्त्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते चान्त्यजाः स्मृताः।" अत्र पूर्वोक्तेषु च प्रायोऽभङ्गश्लेपा-लङ्कारो बोध्यः।

अगम्येति। अगम्येत्यादिः—अगम्याः (=अभोग्याः, निषिद्धाः) ये विषयाः (=परस्त्री-गमनादयः) तेषु आसक्तम् (=लम्पटम्), अपि, प्रशंसनीयम् (=प्रशस्तियोग्यम्), अत्र विरोधः। एतत्परिहारस्तु—अगम्यः (=शत्रुभिराक्रान्तुमयोग्यः) विषयः (=स्वकीयो देशः) तत्र आसक्तम्। यद्वा—अगम्यः (= सामान्यनृपैराक्रान्तुमशक्यः) यो देशः (= शत्रुप्रदेशः) तस्मिन् आसक्तम् (=स्वराज्यवृद्धयेऽभिलाषयुक्तम्) अत्रार्थे विरोधाभावः। ["विषयो गोचेर देशे तथा जनपदेऽपि च" इति मेदिनी।]

अन्तकेति। अन्तकेत्यादिः—अन्तकः (=यमराजः) तस्य भटगणः (=दूतसमूहः, वीरसेवक-समुदायः), तम्, इव, कृताकृतेत्यादिः—कृतानि (=विहितानि) अकृतानि (=अविहितानि) च यानि सुकृतानि (=सत्कर्माणि, पुण्यानि) तेषां यो विचारः (=विमर्शः) तत्र निपुणम् (=दक्षम्)। पक्षे—कृताकृतयोः (= विहिताविहितयो, कर्मणोः, प्रजाभिरिति शेषः) सुकृतेन (=धर्मानुसारेण) विचारे (=मीमांसायाम्) निपुणम् (=गुप्तचरादिमाध्यमेन) ज्ञाने समर्थम्।

सुकृतमिति। सुकृतम् =धर्मम्, पुण्यम्,इव, आदिमध्येत्यादिः—आदौ (= आरम्भिकावस्थायाम्) मध्ये (=अन्तराले) अवसाने (=अन्तावस्थायाम्) च कल्याणकरम् (=शुभकारकम्)। पक्षे—आदि-मध्यावसानेषु=बहिर्देश-मध्यदेशसकलावशिष्टदेशेषु, कल्याणकरम् = मङ्गलकारकम्।

वासरेति। वासरारम्भम्—वासरस्य (=दिवसस्य) आरम्भः (=प्रारम्भः, प्रत्यूषकालः) तम्, इव, परिस्फुरदित्यादिः—परिस्फुरन्ति (= विकसन्ति) यानि पद्मानि (= पङ्कजानि) तेषां

(लोगों से युक्त) था, दुर्जन (दुष्ट) को जैसे परलोक =स्वर्ग का भय नहीं रहता है वैसे ही जो परलोक= अन्य शत्रु आदि राजाओं के भय से रहित था, अन्त्यज (चतुर्थवर्ण के लोग) जिस प्रकार अगम्य = पूरी न हो सकने वाली विषयाभिलाषाओं से युक्त होता है वैसे ही अगम्य (सामान्यतया अप्राप्य) विषयों (देशों) को जीतने की इच्छा (वाले लोगों) से युक्त था (अथवा दूसरे देशों की जीतने की इच्छा अन्य लोगों द्वारा अगम्य =न जान सकने योग्य थी), जो अगम्य विषयों (=परस्त्री-गमन आदि) में आसक्त होता हुआ भी प्रशंसा के योग्य था, [विरोधपरिहार—अगम्य =अजेय देशों को प्राप्त करने की अभिलाषा से युक्त था।] अन्तक =यमराज के दूतों का समूह जैसे किये गये और न किये गये सुकृतों (पुण्यों) के विचार में निपुण है वैसे ही [लोगों द्वारा] किये गये और न किये गये बुरे तथा अच्छे कर्मों के विचार में निपुण (लोगों से युक्त) था। सुकृत =पुण्य जैसे आदि, मध्य और अवसान =अन्तमें (सभी अवस्थाओं में) कल्याणकारी होता है वैसे ही जो सभी अवस्थाओं

१. क्वचित्तु 'परिस्फुरत्' इदं नास्ति।

रुणी-क्रियमाण-निशान्तम्, दिव्यमुनिगणमिव कलापि[1]-सनाथ-श्वेतकेतु-शोभितम्[2], भारतसमरमिव कृतवर्म्म[3]-बाण-चक्र-सम्भारभीषणम्, पातालमिव महाकञ्चुक्यध्यासितम्[4], वर्ष-पर्वतसमूह-

रागेण (= लौहित्येन) अरुणीक्रियमाणः (= रक्तवर्णीक्रियमाणः) निशान्तः = निशावसानम्) यस्मिन् तम्। पक्षे—पद्मरागैः (= रक्तमणिभिः, एतन्नामकरत्नविशेषैः) अरुणीक्रियमाणम् (= रक्तीक्रियमाणम्) निशान्तम् (= भवनम्) यस्मिन् तत् तादृशम्। अत्र श्लेपालङ्कारः। ["निशान्त-वस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम्।" इत्यमरः २।२।५]

दिव्यमुनीति। दिव्येत्यादिः—दिव्याः(= देवलोकसम्बद्धाः) ये मुनयः (=वसिष्ठादयः) तेषां गणः (= समूहः) तम्, इव, कलापीत्यादिः—कलापी (= वैशम्पायनशिष्यः) तत्सनाथः (= तत्सहितः) श्वेतकेतुः (= एतन्नामा ऋषिविशेषः) तेन शोभितम् (=विराजितम्) भानुचन्द्रस्तु— "कलापी सनाथः श्वेतकेतुश्च त्रयोऽप्येते देवर्षयस्तैः शोभितम् = विराजितम् —" इति व्याचख्यौ। पक्षे—कलापिनः (=बर्हिणः मयूराः) तैः सनाथाः (=सहिताः) ये श्वेतकेतवः (=शुभ्रध्वजाः) तैः शोभितम्।

भारतेति। भारतसमरम् = भारतग्रन्थवर्णित-कौरव-पाण्डव-युद्धम्, इव, कृतवर्मेत्यादिः— कृतवर्मा (= हृदीकनामक-यदुराज-सुतः) तस्य बाणचक्रस्य (= शरसमुदायस्य यः संभारः (=प्रयोगः) तेन भीषणम् (=भयानकम्)। यद्वा—कृतवर्मणः (=एतन्नाम्नो नृपतेः) बाणचक्रस्य संभारेण (= राशिना) भीषणमित्यप्यर्थः सम्भवति। पक्षे—कृतः (= विहितः) वर्मणाम् (= कवचानाम्) बाणानाम् (=इषूणाम्) चक्राणाम् (= एतन्नाम्ना प्रसिद्धानामस्त्रविशेषाणम्) यः सम्भारः (= समूहः, एकत्रीकरणम्) तेन भीषणम् (=भयजनकम्, शत्रूणामिति शेषः)। अत्र श्लेषः। ["…तनुत्रं वर्म दंशनम्।" इत्यमरः २।८।६४]

पातालमिति। पातालम् = रसातलम्, इव, महाकञ्चुक्यध्यासितम्—महाकञ्चुकिनः (=विशालसर्पाः) तैः अध्यासितम् =अध्याश्रितम्)। पक्षे—महान्तः =वृद्धाः) ये कञ्चुकिनः (सौविदल्लाः) तैः अध्यासितम् (=समाश्रितम् । ["सौविदल्लाः कञ्चुकिनः स्थापत्याः सौविदाश्च ते।" इत्यमरः २।८।८]। "समौ कञ्चुकनिर्मोकौ।" इत्यमरः १।८।९। कञ्चुकः अस्ति येषां ते कञ्चुकिनः =सर्पाः पाताले सर्पाणामाधिपत्यमिति सुप्रसिद्धमेव।]

वर्षेति। वर्ष-पर्वत-समूहम्—वर्षपर्वताः (= सीमानिर्धारकाः सप्तपर्वतविशेषाः) तेषां समूहः (=समुदायः) तम्, इव। वर्षपर्वताश्चैते—

में कल्याण करने वाला था, दिन का प्रारम्भ जैसे खिलते हुए कमलों की लालिमा से लाल-लाल किये जाते हुए रात्रि के अन्त्य भाग वाला होता है वैसे ही चमकती हुई पद्मराग मणियों से जिसके निशान्त=भवन लाल-लाल किये जा रहे थे, दिव्य मुनियों का समूह जैसे कलापी से सनाथ (युक्त) श्वेतकेतु नामक ऋषि से शोभित है वैसे ही जो कलापियों =मयूरो (मयूरचित्रों) से युक्त श्वेतकेतु= सफेद पताकाओं से शोभित था, महाभारत युद्ध जैसे कृतवर्मा के बाणों के समूह रूप सामग्री से भीषण था, वैसे ही जो किये गये (रखे गये) वर्मों (कवचों) बाणो, चक्रों के समूह के संचय से भयानक था, पातात जैसे महान् बड़े-बड़े कंचुकियों (=सापों) से अधिष्ठित हैं वैसे ही जो वृद्ध कञ्चुकियों

१. क्वचित्तु 'चित्र' इत्यधिकः,पाठोऽपि। २. उपशोभितम्।
३. …शिलीमुख। ४. महाकञ्चुकिसहस्राध्यासितम्।

मिवान्तःस्थितापरिमित-शृङ्गि-हेमकूटञ्च[1], महाद्वारमपि दुष्प्रवेशम्, अवन्तिविषयगतमपि मागध-जनाधिष्ठितम्, स्फीतमपि भ्रमन्नग्नलोकं राजकुलं विवेश।

"हिमवान् हेमकूटश्च निषधो मेरुरेव च।
चैत्रः कर्णी च शृङ्गी च सप्तैते वर्षपर्वताः॥"

इति हारावल्यां निर्दिष्टाः। अन्तरित्यादिः—अन्तःस्थितौ (=अभ्यन्तरस्थौ) अपरिमितौ (=परिमाणशून्यौ, महाविशालौ) शृङ्गि-हेमकूटौ (=एतन्नामकौ पर्वतविशेषौ) यस्मिन् तम्, तादृशम्। पक्षे—अन्तःस्थितानि (=अभ्यन्तरे विद्यमानानि) अपरिमितानि (=असीमितानि) शृङ्गिहेमानि (=आभूषणसुवर्णानि) तेषां कूटानि (=वृन्दानि) यस्मिन्, तत् तादृशम्। "अलङ्कारार्थ यत्स्वर्णं तच्छृङ्गिकनकं विदुः।" इति भानुचन्द्रः। केचित्तु—शृङ्गिणाम्=गवादीनाम्, हेम्नाम्=सुवर्णानाम्, च कूटः=समूहः, यस्मिन् तत् तादृशमिति व्याचष्ट। ["अयोघने शैलशृङ्गे सीराङ्गे कूटमस्त्रियाम्।" इत्यमरः ३।३।३७। एतदनुसारं पुंसि नपुंसके च कूटशब्दः साधुः]

महाद्वारमिति। महाद्वारम्—महान्ति (=विपुलाकाराणि) द्वाराणि (=प्रतीहाराः) यस्य तत्तादृशम्, अपि, दुष्प्रवेशम् = दुःखेन प्रवेष्टुं योग्यम्, इति विरोधः, दौवारिकाणां सावधानतयाऽनभिप्रेतपुरुषैः प्रवेष्टुमशक्यमिति तत्परिहारः। ["स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः ··· ···।" इत्यमरः २।२।१६]

अवन्तीति। अवन्तिविषयगतम्=अवन्तिविषयः (=मालवदेशः) तत्र गतम् (=स्थितम्), अपि, मागधजनाधिष्ठितम्—मागधजनैः (= मगधदेशीयलोकैः) अधिष्ठितम् (=आश्रितम्) इति विरोधः, तत्परिहारस्तु—मागधजनैः = स्तुतिपाठकलोकैः अधिष्ठितम् इति तत्परिहारः। ["मागधो मगधोद्भूते शुक्लजीरकवन्दिनः।" इति हैमः।]

स्फीतमिति। स्फीतम् = धनादिवृद्धिमत्, अपि, भ्रमन्नग्नलोकम्—भ्रमन्तः (= भ्रमणं विदधानाः) नग्नाः (= निर्वस्त्राः) लोकाः (=जनाः) यस्मिन् तत् तादृशम्, इति विरोधः। तत्परिहारस्तु—भ्रमन्तः नग्नलोकाः = क्षपणकाः, स्तुतिव्रताः च यस्मिन् तत् तादृशम्। ["नग्नो वन्दिक्षपणयोः पुंसि, त्रिषु विवाससि।" इति मेदिन्यनुसारं नग्नशब्दो वन्दिक्षपणकयोरर्थे प्रयुज्यते। राजकुले क्षपणकानां स्थितेरनौचित्यात् 'नग्नलोकाः' इत्यस्य 'वन्दिजना' इत्येवार्थः तर्कसङ्गत इति बोध्यम्। अत एव भानुचन्द्रोऽपि—भ्रमन्तः=देशान्तरादागताः, नग्नलोकाः = स्तुतिव्रता नग्नाचार्याश्च यस्मिन् तत् तादृशम्—इत्याह। राजकुलम् = राजसदनम्, विवेश=प्राविशत्। अत्र कुलशब्दो न वंशार्थकः अपितु "कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च। भवने च ·· ···।" इति मेदिन्यनुसारेण भवनार्थक एवेति बोध्यम्।

से युक्त था, वर्ष पर्वतों का समूह जैसे मध्यमें स्थित, परिमाणशून्य (अतिविशाल) शृङ्गी और हेमकूट नामक पर्वतों से युक्त है वैसे ही जो भीतर रखे गये अपरिमित शृङ्गिहेम (गहनों के सोने) के समूहों से युक्त था, जो विशाल द्वार वाला होता हुआ भी कठिनता से प्रवेश करने योग्य था, [बिना ठीक से जाँच पड़ताल किये गये किसी का प्रवेश करना कठिन था।] जो अवन्ति देश में स्थित होता हुआ भी मागध (मगध के) लोगों द्वारा अधिष्ठित था, [विरोध-परिहार—मागध=प्रशस्ति-गान करने वाले भाटों से युक्त था।] जो स्फीत = समृद्धियुक्त होता हुआ भी घूमते हुए नग्न लोगों से युक्त था। [विरोध-परिहार—नग्नलोक=दिगम्बरजैनों से युक्त था अथवा देश-विदेश में भ्रमण करने वाले नागा साधुओं से युक्त था। इस प्रकार के राजकुल=राजभवन में चन्द्रापीड ने प्रवेश किया।]

१. ···अपरिमाणशृङ्ग···।

चन्द्रापीडस्य मातापित्रोर्दर्शनम्

ससम्भ्रमोपगतैश्च कृतप्रणामैः[1] प्रतीहारमण्डलैरुपदिश्यमानमार्गः. सर्वतः प्रचलितेन च पूर्वंकृतावस्थानेन दूर-पर्य्यस्त-मौलि-शिथिलित[2]-चूडामणि-मरीचि-चुम्बित-वसुधातलेन राजलोकेन प्रत्येकशः प्रतीहार-निवेद्यमानेन[3] सादरं प्रणम्यमानः,पदे-पदे चाभ्यन्तर-विनिर्गताभिराचारकुशलाभिरन्तःपुरवृद्धाभिः क्रियमाणावतरण[4]मङ्गलः, भुवनान्तराणीव विविध-प्राणि-सहस्र-

---

एवञ्च पूर्ववर्णितविशेषणविशिष्टं राजभवनं प्राविशत् चन्द्रापीड इति मुख्यं वाक्यं परिसमाप्तम् ।

पूर्ववर्णिते राजभवने चन्द्रापीडे प्रविष्टे किमभूत् किञ्च स विहितवानिति वर्णयितुमारभते—**ससम्भ्रमेत्यादिना । ससम्भ्रमोगतैः**—ससम्भ्रमम् (=सवेगं यथा स्यात् तथा) उपगतैः (=समीपमागतैः), कृतप्रणामैः—कृताः (=विहिताः) प्रणामाः (=प्रणतयः) यैस्तैस्तादृशैः, प्रतीहारमण्डलैः = द्वारपालसमूहैः, उपदिश्यमानमार्गः = निर्दिश्यमानपथः, [प्रथमान्तानि पदानि चन्द्रापीडस्य कर्तृरूपस्य विशेषणानीति बोध्यम्, द्वितीयान्तानि पदानि 'पितरम्' इति वक्ष्यमाणस्य विशेषणानि । 'अपश्यदि'ति क्रियायामन्वयः ।] सर्वतः =समन्तात्, प्रचलितेन =सञ्चलितेन, च,पूर्वकृतावस्थानेन—पूर्वम् (= चन्द्रापीडगमनप्रतीक्षया पूर्वम्) कृतम् (= विहितम्) अवस्थानम् (= अवस्थितिः) येन, तादृशेन । **दूरपर्यस्तेत्यादिः**—दूरात् (=विप्रकृष्टादेव) पर्यस्ताः (=नम्राः) ये मौलयः (=मस्तकाः, शिरांसि) तैः शिथिलिताः (=शिथिलीकृताः) चूडामणयः (=शिरोभूषणानि) तेषां मरीचिभिः (=किरणैः) चुम्बितम् (= स्पृष्टम्) वसुधातलम् (= पृथ्वीतलम्) येन तादृशेन, तथा प्रत्येकशः = एकैकशः, प्रतीहारनिवेद्यमानेन = द्वारपालदत्तपरिचयेन, राजलोकेन = विविधदेशसामन्तनृपसमूहेन, सादरम् = आदरसहितम् यथा स्यात् तथा, प्रणम्यमानः =नमस्क्रियमाणः, अभिवन्द्यमानः ।

पदे-पदे इति । च =किञ्चेत्यर्थे बोध्यः । आभ्यन्तर-विनिर्गताभिः = मध्यदेशादन्तःपुराद्विनिःसृताभिः, आचारकुशलाभिः =राजभवनोचितव्यवहारनिपुणाभिः, अन्तःपुर-वृद्धाभिः - अवरोध-जरतीभिः, महत्तरिकाभिरित्यर्थः, पदे-पदे = प्रतिपदम्, प्रतिपादविक्षेपम्, क्रियमाणावतरणमङ्गलः— क्रियमाणम् (=विधीयमानम्) अवतरणमङ्गलम् (=समागतस्वागतमङ्गलव्यवहारः, धान्यदूर्वादि-माङ्गलिकद्रव्यप्रक्षेप-मङ्गल-वचनपाठादिरूपः) यस्य स तादृशः ।

भुवनान्तराणीति । भुवनान्तराणि =लोकान्तराणि, इव, अतिविस्तृतत्वात् साम्यम्. विविधेत्यादिः—विविधाः (=नानाप्रकाराः) ये प्राणिनः (=जीवाः) तेषां सहस्रेण (=दशशत्या,

---

और [चन्द्रापीड के आने पर] घबड़ाहट से या अति शीघ्रता से पास आये हुए, प्रणाम किये हुए द्वारपालों द्वारा दिखलाये गये मार्ग वाले, [अर्थात् जिस चन्द्रापीड को द्वारपालों ने मार्ग-निर्देश किया] और चारों ओर से चले हुए [तथा चन्द्रापीड के आगमन के] पहले से बैठे हुए, दूर तक झुकाये गये मस्तकों से ढीली होने वाली चूडामणि की किरणों से पृथ्वीतल को चूमते (छूते) हुए तथा द्वारपाल द्वारा एक एक करके परिचित कराये गये राजाओं (अधीन राजाओं तथा सामन्तों) द्वारा प्रणाम किये जाते हुए, [अर्थात् सामन्तों ने एक एक करके जिसे प्रणाम किया था ।] और भीतर से बाहर निकल कर आई हुई, [राज-परिवार के] आचार को जानने में कुशल अन्तःपुर की वृद्ध स्त्रियों द्वारा [आगमन के समय] पग-पग पर अवतरणमङ्गल किये जाते हुए [अर्थात् वृद्ध स्त्रियाँ जिसका

---

१. कृतप्रणामः । २. ···चलित । ३. ·· निवेद्यमाननाम्ना । ४. अवतारणः,अवतरणक।

सङ्कुलानि सप्तकक्षान्तराण्यतिक्रम्य, अभ्यन्तरावस्थितम्, अनवरत-शस्त्रग्रहण[1]-श्यामिकाली-ढकरतलैः कर-चरण-लोचन[2]-वर्जमसितलोहजालकावृत[3]शरीरैः, आलानस्तम्भैरिव गजमद-परिमल-लोभ-निरन्तर[4]-निलीन-मधुकर-पटल-जटिलैः, कुलक्रमागतैरुदात्तान्वयैरनुरक्तैर्महाप्राण[5]-तया अतिकर्कशतया च दानवैरिवाशयाकार-सम्भाव्यमानपराक्रमैः[6] सर्वतः शरीररक्षा-

समूहेनेत्यर्थः) सङ्कुलानि = व्याप्तानि, सप्तकक्षान्तराणि—सप्त (= सप्तसंख्यकानि) कक्षान्तराणि (= प्रकोष्ठान्तराणि) अतिक्रम्य = अतिक्रमणं विधाय ।

अभ्यन्तरेति । अभ्यन्तरावस्थितम्—अभ्यन्तरे (= भवनस्य मध्यदेशे) अवस्थितम् = विराजमानम् । [इमानि द्वितीयान्तानि 'पितरम्' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (= निरन्तरम्) यत् शस्त्रग्रहणम् (= आयुधधारणम्) तेन या श्यामिका (= कृष्णवर्णचिह्नविशेषः) तया आलीढानि (= आश्लिष्टानि) करतलानि (= हस्ततलानि) येषां तैः तादृशैः । कर-चरणेत्यादिः—कर-चरण-लोचनम् (= हस्तपादनयनम्) वर्जम् = वर्जयित्वा, [प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवचनम्, 'वर्जम्' इत्यत्र क्त्वार्थे णमुल्] असितेत्यादिः—असितम् (= कृष्णम्) लोहजालकम् (= अयःकवचम्) तेन आवृतम् (= आच्छादितम्) शरीरम् (= कायः) येषां तैः तादृशैः । अत एव, आलानस्तम्भैः = गजबन्धनस्तम्भैः, इव, अत्रोपमा । साम्यमाह—गजमदपरिमलेत्यादिना गजमद-परिमलेत्यादिः—गजमदस्य (= हस्तिमदजलस्य) यः परिमलः (= उत्कृष्टगन्धः) तस्य लोभेन (= लिप्सया) निरन्तरम् (= अनवरतं यथा स्यात् तथा) निलीनाः (= निलीय स्थिताः) ये मधुकराः (= भ्रमराः) तेषां यानि पटलानि (= समूहाः) तैः जटिलैः (= व्याप्तैः) । कुलक्रमागतैः = वंशपरम्परासमागतैः, उदात्तान्वयैः = उदात्तः (= महान् उत्कृष्टः) अन्वयः (= वंशः) येषां तैः, तादृशैः, अनुरक्तैः = प्रीतियुक्तैः । महाप्राणतया = अत्यधिकशक्तिमत्तया, अतिकर्कशतया = अत्यन्तकठोरतया, च, दानवैः = दैत्यैः, इव, [अत्रोपमा] । अत एव, आशयेत्यादिः—आशयः (= चित्ताभिप्रायः) आकारः (= आकृतिः) च ताभ्यां संभाव्यमानः (= सम्भावनाविषयीक्रियमाणः) पराक्रमः (= विक्रमः, साहसं वा) येषां तैस्तादृशैः, सर्वतः = सर्वासु दिशासु, शरीररक्षाधिकारनियुक्तैः—शरीररक्षा (= देह-

अवतरण मंगल = आरती आदि कर रहीं थीं ऐसे] चन्द्रापीड ने अनेक प्रकार के प्राणियों से भरे हुए दूसरे (सात) लोकों के समान सात प्रकोष्ठों को पार करके भीतर स्थित अपने पिता [तारापीड] का दर्शन किया,— जो पिता राजा तारापीड) लगातार शस्त्रों को पकड़े (धारण किये) रहने से कालिमा से युक्त करतलों वाले, [देखना तथा चलना फिरना आदि के लिये केवल] हाथ, पैर तथा आँखों को छोड़ कर (सम्पूर्ण) शरीर को काले लोहे के कवच से ढके हुए, [इस कारण] मानों गजमद की सुगन्ध के लोभ से निरन्तर चिपटे हुए भ्रमरसमूह से ढके हुए आलान-स्तम्भों (हाथियों के बाँधने के लोहे के खम्भों) के समान [प्रतीत होते हुए], कुलक्रम से आये हुए, उच्च कुल वाले, [राज-परिवार के प्रति] अनुराग रखने वाले, अपने महान् बल के कारण और अतिशय कठोरता के कारण दैत्यों के समान [प्रतीत होते हुए], अभिप्राय और आकार दोनों से जिनके पराक्रम की सम्भावना की जा सकती थी ऐसे, सभी ओर से शरीर की रक्षा के अधिकार में लगाये गये अर्थात्

---

१. ···शस्त्रप्रह···। २. ···विलोचन···। ३. आलावृत० ।
४. क्वचित्तु 'निरन्तर' इति नापि वर्तते । ५. महाप्रमाणतया ।
६. अतिशयाकारैः संभाव्यमानपराक्रमैः, अतिशयाकारसंभाव्यमान० ।

धिकारनियुक्तैः पुरुषैः परिवृतम्, उभयतो वारविलासिनीभिश्चानवरतमुद्धूयमानधवल-[1] चामरम्, अमल-पुलिनतल-शोभिनि सुरकुञ्जरमिव मन्दाकिनी-वारिणि हंसधवल-शयनतले निषण्णं पितरमपश्यत् ।

'आलोकये'ति च प्रतीहारवचनानन्तरम्, अतिदूरावनतेन, चलित-चूडामणिना शिरसा कृतप्रणामम्, 'एह्येहि' इत्यभिदधानो[2] दूरादेव प्रसारितभुजयुगलः, शयनतलादीषदुच्छ्वसित-[3]

रक्षणम्) एव अधिकारः (=अधिकृतिः) तत्र नियुक्तैः (=कृतनियोगैः), पुरुषैः =लोकैः, परि-वृतम् =परिवेष्टितम् ।

उभयत इति । उभयतः =पार्श्वद्वये, वारविलासिनीभिः =गणिकाभिः, अनवरतम् =निरन्तरम्, उद्धूयमानधवलचामरम् = उद्धूयमानम् (= वीज्यमानम्) धवलम् (= शुभ्रम्) चामरम् (= प्रकीर्णकम्) यस्य तं तादृशम् । अमलेत्यादिः—अमलम् (= निर्मलम्) यत् पुलिनतलम् (=सैकततलम्) तेन शोभते (=राजते) तच्छीलम् तस्मिन्, तादृशे, मन्दाकिनीवारिणि =स्वर्गङ्गा-जले, विद्यमानम्, सुरकुञ्जरम् = ऐरावतम्, इव, 'हंसधवलशयनतले—हंसे (= मराले) इव धवले (=शुभ्रे) शयनतले (=शय्यातले, निषण्णम्=आसीनम्, पितरम् =जनकम्, तारापीडम्, अपश्यत्= व्यलोकयत् । अत्रोपमाद्वयस्याङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।

आलोकयेति । आलोकय =पश्य, पितरमिति शेषः, इति =एवम्, प्रतीहारवचनानन्तरम् = द्वारपालकथनात् परम्, अतिदूरावनतेन—अतिदूरात् (=बहुविप्रकृष्टात्) अवनतेन (=विनम्रेण), चलितचूडामणिना—चलितः (=कम्पितः) चूडामणिः (=शिरोरत्नम्) यस्य तेन,तादृशेन, शिरसा= मस्तकेन, कृतप्रणामम् =विहितनमस्कृतिम्, तादृशं कुमारम्, 'एहि एहि =आगच्छ आगच्छ'—इति = एवम्, अभिदधानः =भाषमाणः, दूरात् =विप्रकृष्टात्, एव, प्रसारित-भुजयुगलः—प्रसारितम् (=विस्ता-रितम्) भुजयुगलम् (= बाहुद्वयम्) येन स तादृशः, शयनतलात् = शय्यातलात्, ईषद् =अल्पम्,

अंगरक्षक बनाये गये पुरुषों द्वारा घिरा हुआ था । जिस (पिता) के दोनों ओर नर्तकियाँ श्वेतचामर डुला रहीं थीं, जो (पिता) निर्मल बालू के तट से शोभित होने वाले, हंस के समान श्वेत सिंहासन पर बैठा हुआ था अतः [निर्मल तट से शोभायुक्त] आकाश-गंगा के श्वेत जल में [बिराजमान] ऐरावत हाथी के समान [प्रतीत हो रहा] था । [जिस प्रकार निर्मल बालू के तटतल से शोभायमान मन्दाकिनी के जल में स्थित हाथी की शोभा होती है उसी प्रकार हंस के समान धवल पलंग या शय्या पर बैठे हुए राजा तारापीड की शोभा प्रतीत हो रही थी ।]

और द्वारपाल के 'देखिये' इस प्रकार के कहने के तत्काल बाद, बहुत दूर अर्थात् नीचे की ओर शिर झुकाये हुए, हिलती हुई चूडामणि वाले शिर से प्रणाम करने वाले तथा विनय से अत्यधिक झुके हुए उस (चन्द्रापीड) को—'आओ, आओ'—ऐसा कहते हुए, दूर से ही हाथ फैलाये हुए, शयनतल से शरीर को कुछ ऊपर उठाते हुए, आनन्दजल (आँसुओं) से नेत्रों को भरे हुए, अर्थात् आँखों में प्रसन्नता के आँसुओं को भरे हुए, रोमाञ्च हो जाने के कारण मानों [चन्द्रापीड को अपने

१. हंसधवले । २. आदरेणाभिदधानः । ३. उल्लसितमूर्तिः ।

मूर्तिः, आनन्दजल-पूर्य्यमाण-लोचनः समुद्गतपुलकतया[1] सीव्यन्निव[2], एकीकुर्वन्निव, पिबन्निव[3] तं पिता विनयावनतमालिलिङ्ग। आलिङ्गितोन्मुक्तश्च पितुश्चरणपीठसमीपे पिण्डीकृतमुत्तरीयमात्मीयं[4] ताम्बूलकरङ्क[5]वाहिन्या सत्वरमासनीकृतम् 'अपनये'ति शनैर्वदन्नग्रचरणेन समुत्सार्य्य चन्द्रापीडः क्षितितल[6] एव निषसाद। अनन्तरं निहिते[7] चास्यासने राज्ञा सुतनिर्विशेषमुपगूढो-

उच्छ्वसितमूर्तिः--उच्छ्वसिता (= ऊर्ध्वीकृता) मूर्तिः (= शरीरम्) येन स तादृशः, आनन्देत्यादिः—आनन्दः (= परमसुखम्) तत्सम्बन्धिजलम् (= प्रमोदाश्रु) तेन पूर्यमाणे (= भ्रियमाणे) लोचने (= नेत्रे) यस्य स तादृशः, पिता = जनकः तारापीडः, विनयावनतम् = विनयावनम्रम्, तम् = स्वसुतं, चन्द्रापीडम्,समुद्गतपुलकतया—समुद्गतः (= प्रादुर्भूतः) पुलकः (= रोमाञ्चः) यस्य स तस्य भावस्तत्ता तया, सीव्यन् = स्वशरीरेण सह सीवनं कुर्वन्, इव, एकीकुर्वन् = अभिन्नं विदधद्, इव, पिबन् = पानं कुर्वन्, इव, आलिलिङ्ग = परिषष्वजे। अत्र तिसृषु क्रियासु इवार्थयोगात् क्रियोत्प्रेक्षाणां निरपेक्षतया वर्तमानत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः।

आलिङ्गितेति। आलिङ्गितोन्मुक्तः--अलिङ्गितः (= प्रथमम् आश्लिष्टः) उन्मुक्तः (= पश्चाच्च परित्यक्तः) च, राजकुमारः, ताम्बूलकरङ्कवाहिन्या = नागवल्लीदलपेटिकाधारिण्या, परिचारिकया, सत्वरम् = शीघ्रम्, पिण्डीकृतम् = वर्तुलीकृतम्, विष्टरीकृतम्, स्वीयम् = आत्मीयम्, उत्तरीयम् = संव्यानम्, 'अपनय=दूरीकुरु' इति = एवम्, शनैः=मन्दम्, वदन् = उच्चारयन्, अग्रचरणेन = चरणाग्रभागेन पादाङ्गुलीभिरिति भावः, समुत्सार्य = दूरीकृत्य, चन्द्रापीडः = एतन्नामा राजपुत्रः, क्षितितले = भूतले, एव, निषसाद = निषण्णोऽभूत्।

अनन्तरमिति। अनन्तरम् = चन्द्रापीडोपवेशनानन्तरम्, राज्ञा = तारापीडाख्येन भूपतिना, सुतनिर्विशेषम् = पुत्रतुल्यं यथा स्यात्तथा, उपगूढः = आलिङ्गितः, वैशम्पायनः = शुकनासपुत्रः, निहिते = स्थापिते अस्य = चन्द्रापीडस्य, आसने = विष्टरे, न्यसीदत् = उपविशत्। केचित्तु--"अस्य = राजकुमारस्य, अनन्तरम् = पश्चात्, निहिते = स्थापिते, आसने = विष्टरे, न्यसीदत् = उपाविशत्।" परमेता-

में] सिलते हुए, मानों एक करते हुए, मानों पीते हुए पिता (तारापीड) ने उसका आलिङ्गन किया। [आलिङ्गन के समय शरीर में रोम खड़े हो गए थे जिससे लग रहा था कि तारापीड सुइयों से उसे अपने साथ सिल रहा हो या कीलों से ठोंक कर एक में मिला रहा हो या आँखों से पिये जा रहा हो।] पिता द्वारा किये गए आलिङ्गन से मुक्त होता हुआ चन्द्रापीड, पान का डिब्बा (पानदान) ढोने वाली परिचारिका द्वारा लपेट कर शीघ्र ही आसन बनाए गए (आसन के रूप में रखे गये) उत्तरीय को 'हटा दो' ऐसा कहता हुआ उसे अपने पैर के अग्रभाग से हटा कर पिता के चरणपीठ के निकट भूतल पर ही बैठ गया। इसके बाद अपने पुत्र के समान ही आलिङ्गन किया गया वैशम्पायन [भी]

१. ...आपूर्यमाण...। २. ...पुलककण्टकतया।
३. इतोऽग्रेऽपि 'तम्' इति अधिकं पठ्यते क्वापि। ४. आत्मताम्बूल...।
५. ...करण्ड...। ६. समुत्सार्य क्षितितले। ७. अनन्तरविहिते, अनन्तरविनिहिते।

वैशम्पायनो न्यसीदत् । मुहूर्तमिव विस्मृत-चामरोत्क्षेप-निश्चलानां वारविलासिनीनां साभिलाषैरनिल-चलित-कुवलय-दाम-दीर्घैराजिह्म-तरलतर-तारशारैरवलुप्यमान इव दृष्टिपातैः स्थित्वा "गच्छ, वत्स ! पुत्रवत्सलां मातरमभिवाद्य दर्शनलालसां यथाक्रमं सर्वा जननीर्दर्शनेनानन्दय" इति विसर्जितः पित्रा, सविनयमुत्थाय निवारितपरिजनो वैशम्पायनद्वितीयोऽन्तःपुरप्रवेशयोग्येन राजपरिजनेन उपदिश्यमानवर्त्माऽन्तःपुरमाययौ ।

दृशोऽन्वयो न सङ्गतः । यदि 'अनन्तरनिहिते' इति समस्तं पदं तदा तु न कापि हानिः ।

मुहूर्तमिति । विस्मृतेत्यादिः—विस्मृतः (=अस्मृतः) यः चामराणाम् (=प्रकीर्णकानाम्) उत्क्षेपः (=वीजनम्), तेन निश्चलानाम् (=क्रियाशून्यानाम्) चन्द्रापीडस्यातिशयसौन्दर्यमवलोक्य चामरोत्क्षेपरूपं स्वकर्तव्यमपि विस्मृत्य निश्चलरूपेण स्थितानामिति भावः । वारविलासिनीनाम् = गणिकानाम्, साभिलाषैः = सस्पृहैः, अनिलेत्यादिः—अनिलेन (=पवनेन) चलितम् (=प्रकम्पितम्) यत् कुवलयदाम (=नीलकमलमाल्यम्) तद्वद् दीर्घैः (=विशालैः), आजिह्मेत्यादिः—आ (=ईषत्) जिह्माः (= कुटिलाः) तरलतराः (=अति-चञ्चलाः) ताराः (= कनीनिकाः) ताभिः शाराः (=चित्रवर्णाः) तैः, तादृशैः, [यद्वा··· ···ताराः येषु अतः शारैः = चित्रैः, तादृशैः । क्वचित्तु—'सारै'रिति पाठः । ' ·· ···तारा = कनीनिका एव सारम् = प्रधानं येषु तैस्तादृशैः ।] दृष्टिपातैः = नयनपातैः, नयनप्रान्तैरित्यर्थः, अवलुप्यमानः = लुप्तीक्रियमाणः,पीयमान इति भावः, राजकुमारश्चन्द्रापीड इति शेषः, मुहूर्तम् = किञ्चित्क्षणम्, इव, स्थित्वा = स्थितिं विधाय । 'वत्स = प्रिय पुत्र !, गच्छ = व्रज, पुत्रवत्सलाम् = सुतहिताम्, दर्शनलालसाम् = अवलोकनोत्सुकाम्, मातरम् = स्वजननीम्, अभिवाद्य = पादग्रहणं कृत्वा, पादयोः प्रणम्येति भावः, यथाक्रमम् = क्रमानुसारम्, सर्वाः = सकलाः, जननीः = उपमातॄः, दर्शनेन = अवलोकनेन, आनन्दय = प्रमोदय, इति = एवम् उक्त्वा, पित्रा = तातेन, विसर्जितः = विसृष्टः, सविनयम् = विनयेन सहितं यथा स्यात्तथा, उत्थाय = उत्थानं कृत्वा, निवारितपरिजनः—निवारितः (म = निषिद्धः, स्वसार्धमागनादिति शेषः) परिजनः (=परिचारकलोकः) येन स तादृशः, वैशम्पायनद्वितीयः = वैशम्पायनसहितः, अन्तःपुर-प्रवेशयोग्येन = अवरोधप्रवेशार्हेण, राजपरिजनेन = राजसेवकलोकेन, उपदिश्यमानवर्त्मा—उपदिश्यमानम् (=निर्दिश्यमानम्) वर्त्म (= मार्गः) यस्मै स तादृशः सन्, अन्तःपुरम् = शुद्धान्तम्, आययौ = आजगाम ।

उस चन्द्रापीड के बाद (पीछे समीप में) रखे गये आसन पर बैठ गया । चामरों को डुलाना भूल जाने से निश्चल खड़ी हुई वेश्याओं के अभिलाषयुक्त तथा हवा से हिले हुए नीलकमलों की माला के समान दीर्घ (लम्बे), कुछ तिरछे और चञ्चल पुतलियों से चित्र वर्ण वाले दृष्टिपातों (चितवनों) से अवलुप्त सा होता हुआ (अर्थात् पिया जाता हुआ, या चुराया जाता हुआ) (वह चन्द्रापीड) कुछ देर तक ठहर कर—"जाओ बेटा !" दर्शनों की लालसा वाली पुत्रवत्सला माता का अभिवादन करके क्रमानुसार सभी माताओं को अपने दर्शन से आनन्दित करो—" ऐसा [कह कर] पिता द्वारा बिदा किया गया वह विनय के साथ उठ कर नौकरों को रोक कर, केवल वैशम्पायन को साथ में लिए हुए, अन्तःपुर में प्रवेश के योग्य (कुछ) राज-सेवकों द्वारा मार्ग दिखलाया जाता हुआ अन्तःपुर पहुँचा ।

१.···वस । २. ···जिह्मित···। ३. ···लालसाः । ४. परिजनेन ।

तत्र धवल-कञ्चुकावच्छन्न-शरीरैरनेक-शतसंख्यैः[1] श्रियमिव क्षीरोदकल्लोलैः[2] समन्तात् परिवृतां शुद्धान्तवंशिकैः[3], अतिप्रशान्ताकाराभिश्च कषायरक्ताम्बरधारिणोभिः सन्ध्याभिरिव सकललोक-वन्द्याभिः प्रलम्बश्रवणपाशाभिर्विदितानेक-कथालाप[4]-वृत्तान्ताभिर्भूतपूर्वाः[5] पुण्याः[6] कथाः कथयन्तीभिः, इतिहासान् वाचयन्तोभिः, पुस्तकानि दधतीभिः[7], धर्म्मोपदेशान् निवेद-

तत्रेति । तत्र = अन्तःपुरे, धवलेत्यादिः-धवलाः (= शुभ्राः) ये कञ्चुकाः (= वारबाणाः) तैः अवच्छन्नानि (= आच्छादितानि) शरीराणि (= कायाः) येषां तैः, अनेकशतसंख्यैः—अनेके (= बहवः) ये शतसंख्याः (= शतसंख्याकाः) तैः । शुद्धान्तवंशिकैः—शुद्धाः (= निर्दोषाः) ये अन्तर्वंशिकाः (= अन्तःपुराधिकृतलोकाः) तैः । वंशस्य (= राजकुलस्य) अन्तः (= अभ्यन्तर-भागः अन्तःपुरमित्यर्थः) । अन्तर्वंशोऽस्ति येषां तेऽन्तर्वंशिकाः । 'शुद्धाश्च ते अन्तर्वंशिकाः च तैः । ["अन्तःपुरे त्वधिकृतः स्यादन्तर्वंशिको जनः ।" इत्यमरः] क्षीरोदकल्लोलैः = क्षीरनिधितरङ्गैः, श्रियम् = लक्ष्मीम्, इव, समन्तात् = सर्वतः, परिवृताम् = परिवेष्टिताम्, ['मातरम्' इत्यस्य वक्ष्यमाणस्य विशेषणानीमानि पदानि, 'प्रणनाम' इति क्रियायामन्वयः ।]

अतिप्रशान्तेति । अतिप्रशान्तेत्यादिः—अतिप्रशान्तः (= अतीवशान्तिमयः) आकारः (= आकृतिः) यासां ताः तादृशोभिः । कषायेत्यादिः—कषायेण (= निर्यासेन) रक्तानि (= रञ्जितानि) यानि अम्बराणि (= वस्त्राणि) तानि धारयन्ति इति तच्छीलाः ताभिः, [सन्ध्यापक्षे—कषाय; (= रक्तपदार्थः) इव रक्तम् (= लोहितम्) अम्बरम् (= आकाशम्) धारयन्ति तच्छीलाः ताभिः ।] सकललोकवन्द्याभिः—सकललोकैः (= समस्तजनैः) वन्द्याभिः (= अभिवन्दनीयाभिः), संध्याभिः = सायंवेलाभिः, इव, विद्यमानाभिः । प्रलम्बेत्यादिः—प्रलम्बाः (= दीर्घाः) श्रवणपाशाः (= श्रोत्र-पाल्यः, शोभनकर्णाः वा) यासां तास्ताभिः । [··· ···पाशस्तु मृगपक्ष्यादिबन्धने । कर्णान्ते शोभनार्थः स्यात् कचान्ते निकरार्थकः । छात्राद्यन्ते च निन्दार्थः ·· ··· ··· । इति हैमः] सामुद्रिके लम्बकर्णत्वं शुभलक्षणं प्रतिपादितम् । विदितेत्यादिः—विदिताः (= ज्ञाताः) अनेकाः (= बह्व्यः) कथाः (= उपाख्यानानि) आलापाः (= परस्परोक्तिप्रत्युक्तयः) वृत्तान्ताः (= लौकिकवार्ताः) च याभिः ताभिः । भूतपूर्वाः = पूर्वं भूताः, पुण्याः = पवित्राः, कथाः = उपाख्यानानि, कथयन्तीभिः = प्रतिपादयन्तीभिः । इतिहासान् = पुरावृत्तानि, वाचयन्तीभिः = व्याख्यापयतीभिः, पुस्तकानि = ग्रन्थान्,

वहाँ (अन्तःपुर में) पास जाकर माता (विलासवती) को प्रणाम किया, जो (माता) सफेद वस्त्रों से ढके हुए शरीर वाले, शुद्ध अन्तःपुर के सेवकों से, क्षीरसागर की तरंगों से लक्ष्मी के समान चारो ओर से घिरी हुई थी, [अथवा सेवकों से घिरी हुई ऐसी लग रही थी मानों क्षीरसागर की तरंगों से घिरी हुई लक्ष्मी हो ।] जिस (माता) का मनोविनोद वृद्ध बौद्ध संन्यासिनियाँ कर रहीं थीं जो (संन्यासिनियाँ) अत्यन्त शान्त आकार वाली, कसैले लाल रंग से रंगे गये वस्त्रों को धारण करने वाली तथा सभी लोगों द्वारा प्रणाम करने के योग्य [अत्यन्त शान्त स्वरूप वाली, लाल

१. ···नेक···।   २. ···जलकल्लोलैः ।   ३. शुद्धान्तान्तर्वंशिकैः ।
४. क्वचित्तु 'आलाप' इदं नास्ति ।   ५. श्रुतपूर्वाः ।   ६. पुण्याः इदं नापि पठ्यते ।
७. वाचयन्तीभिरितिहासपुस्तकानि, दधतीभिर्धर्म्मोपदेशान् , निवेदयन्तीभिः पुण्याः कथाः ।

यन्तीभिर्जरत्प्रव्रजिताभिर्विनोद्यमानाम्, उपरचितस्त्रीवेषभाषेण[1] गृहीत-विकट-प्रसाधनेन वर्षवरजनेनोपसेव्यमानाम्[2], अनवरताभिधूयमान-[3]बालव्यजनकलापाम्, अङ्गनाजनेन च वसनाभरण-कुसुम-पटवास-ताम्बूल-तालवृन्ता[4]ङ्गराग-भृङ्गार-धारिणा मण्डलोपविष्टेनोपास्यमानाम्, पयोधरान्तरावलम्बित[5]मुक्तागुणाम् अचलद्वय-मध्य-स्रवद्[6]गङ्गा-प्रवाहामिव मेदिनीम्,

दधतीभिः = धारयन्तीभिः, पठनायेति शेषः, धर्मोपदेशान् = सुकृतशिक्षाः, निवेदयन्तीभिः = ज्ञापयन्तीभिः, जरत्प्रव्रजिताभिः = वृद्धसंन्यासिनीभिः, विनोद्यमानाम् = विनोदविषयीक्रियमाणाम् ।

उपरचितेति । उपरचिते (= विहिते) स्त्रियाः (= नार्याः) वेषभाषे (= नेपथ्य-भाषणे) येन तादृशेन, क्वचित्तु-उपरचितस्त्रीवेषभारेण इति, उपरचितः स्त्रियाः वेषभारः = वस्त्रकेशादिधारणादिः, येन तादृशेन । गृहीतविकट-प्रसाधनेन—गृहीतम् (= धृतम्) विकटम् (= विपुलम्, विकृतम् वा) प्रसाधनम् (= अलङ्करणादिकम्) येन तादृशेन । वर्षवर-जनेन = नपुंसकलोकेन, उपसेव्यमानम् = समुपास्यमानाम् । [भानुचन्द्रः तेषां लक्षणं यथा—"ये स्वल्पसत्त्वाः प्रथमाः क्लीबाश्च स्त्रीस्वभाविनः । जात्या न दुष्टाः कार्येषु ते वै वर्षवराः स्मृताः ॥" इति भानुचन्द्रः ।]

अनवरतेति । अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (= निरन्तरम्) अभिधूयमानः (= संवीज्यमानः) बालव्यजनकलापः (= चामरसमूहः) यस्याः सा तां तादृशीम् ।

अङ्गनेति । वसनेत्यादिः—वसनानि (= वस्त्राणि) आभरणानि (= आभूषणानि) कुसुमानि (= पुष्पाणि) पटवासाः (= रक्तचूर्णविशेषान्) ताम्बूलानि (= नागवल्लीदलानि) तालवृन्तानि (= व्यजनानि) अङ्गरागान् (= चन्दनादिविलेपनद्रव्याणि) भृङ्गारान् (= सुवर्णनिर्मितजलपात्रविशेषान्, कनकालुकाः) एतान् धारयतीति तेन तादृशेन । ["भृङ्गारः कनकालुका ।" इत्यमरः २।८।३२] मण्डलोपविष्टेन = वर्तुलाकारतया निषण्णेन । अङ्गनाजनेन = स्त्रीलोकेन, च, उपास्यमानाम् = संसेव्यमानाम् ।

पयोधरेति । परोधरेत्यादिः—पयोधरयोः (= स्तनयोः) अन्तरे (= मध्ये) अवलम्बितः (= लम्बायमानः) मुक्तागुणः (= मौक्तिकदाम) यस्याः सा तां तादृशीम् । अत एव, अचलेत्यादिः—अचलद्वयस्य (= पर्वतयुग्मस्य) मध्ये (= अन्तराले) स्रवन् (= प्रवहमानः) गङ्गाप्रवाहः (= जाह्नवीजलधारा) यस्यां तां तादृशीम्, मेदिनीम् = पृथिवीम्, इव, विद्यमानाम् । अत्रोपमा ।

रंग वाले आकाश वाली तथा सभी लोगों द्वारा प्रणाम करने योग्य] सन्ध्याओं के समान थीं, लम्बे लम्बे लटकते हुए श्रवणपाशवाली थीं, अनेक कथाओं और वृतान्तों (किस्सों) को जानने वालीं थीं, पवित्र कथायें कह रहीं थी, इतिहास बाँच रही थीं, पुस्तकें लिये हुईं थीं, धर्म-सम्बन्धी उपदेश दे रहीं थीं । जो (माता) स्त्रियों की वेष और भाषा बनाये हुए अथवा स्त्रियों का पूरा वेष धारण किये, खूब सजे हुए, वर्षवरों (नपुंसकविशेषो) द्वारा सेवित की जा रही थी, जिस (माता) के ऊपर लगातार पंखे डुलाये जा रहे थे, जो (माता) वस्त्र, आभूषण, फूल, पटवास (गन्ध द्रव्य), पान, तालवृन्त (पंखा), अंगराग तथा (सुवर्णादि-निर्मित) कलसों को पकड़े हुईं (हाथों में लिए हुईं); मण्डल बनाकर बैठे हुईं स्त्रियों के समूह द्वारा सेवित हो रही थी, जिस (माता) के स्तनों के

१. ···भारेण । २. संसेव्यमानाम् । ३. ···विधूयमान···।
४. क्वचित्तु 'ताल' इदं नास्ति । ५. पयोधरावलम्बि, पयोधरविलम्बि, पयोधरविलम्बित ।
६. क्वचित्तु 'द्रव' पदं नास्ति, अचलद्वयप्रसृतगङ्गा···।

आसन्न-दर्पण-पतित-मुखप्रतिबिम्बाम् अर्क-बिम्बप्रविष्ट-शशिमण्डलामिव दिवं[1] समुपसत्य मातरं प्रणनाम ।

सा तु तं[2] ससम्भ्रममुत्थाप्य सत्यप्याज्ञासम्पादनदक्ष पार्श्वपरिवर्त्तिनि परिजने स्वयमेव कृतावतरणमङ्गला[3], प्रस्नुत[4]-पयोधर-क्षरत्पयोबिन्दुच्छलेन द्रवीभूय स्नेहाकुलेन निर्गच्छतेव[5] हृदयेनान्तः शुभशतानीव ध्यायन्ती[6] मूर्द्धन्युपाघ्राय तं सुचिरमाशिश्लेष ।

आसन्नेति । आसन्नेत्यादिः—आसन्नः (= समीपाभिमुखस्थः) यो दर्पणः (=आदर्शः) तस्मिन् पतितः (=सङ्क्रान्तः) प्रतिबिम्बः (=आस्यप्रतिच्छाया) यस्याः सा तां तादृशीम् । अत एव अर्केत्यादिः—अर्कबिम्बे (=रविमण्डले) प्रविष्टम् (=कृतप्रवेशम्) शशिमण्डलम् (=चन्द्र-मण्डलम्) यस्याः सा तां तादृशीम । दिवम् =गगनम्, इव, वर्तमानाम्, मातरम् =स्वजननीम्, समुप-सृत्य =पार्श्वे गत्वा, प्रणनाम =नमश्चकार । अमावस्यायां नक्षत्रमण्डल-समंसूत्रन्यायेन सूर्यमण्डलादधोदेशे चन्द्रमण्डलं तिष्ठति । अत्रादर्शस्य सूर्यबिम्बोपमानम्, मुखस्य शशिबिम्बोपमानम्, राज्ञ्याः विलासवत्यास्तु अमावस्योपमानमिति बोध्यम् । तेनोपमालङ्कारः ।

सेति । सा =विलासवती, तु =पुनरित्यर्थे, तम् =पादपतितं स्वसुतं चन्द्रापीडम्, ससम्भ्रमम् = सत्वरम्, उत्थाप्य =उत्थितं विधाय, आज्ञेत्यादिः—आज्ञा (=नियोगः, आदेशः) तस्याः सम्पादने (=परिपूरणे) दक्षे (=कुशले), पार्श्वपरिवर्त्तिनि =समीपस्थायिनि, परिजने =सेवकलोके, सत्यपि = विद्यमानेऽपि, स्वयम् =आत्मना, एव, कृतावरतरणमङ्गला—कृतम् (=अनुष्ठितम्) अवतरणमङ्गलम् (=यानावतरणकालिकं धान्यदूर्वादिनिक्षेपरूपं मङ्गलाचरणम्) यया सा तादृशी । प्रस्नुतेत्यादिः— प्रस्नुतौ (=पयःपूर्णौ, द्रवीभूतौ) यौ पयोधरौ (=वक्षोजौ) ताभ्याम् क्षरन्तः (=स्रवन्तः) ये पयोबिन्दवः (=दुग्धपृषताः) तेषां छलेन (=व्याजेन) द्रवीभूय तरलीभूय, निर्गच्छता=निःसरता, इव, स्नेहाकुलेन =प्रेमपूर्णेन स्नेहव्यग्रेण वा, हृदयेन =चित्तेन, करणभूतेन, अन्तः =मध्ये, अभ्यन्तरे, शुभशतानि =कल्याणशतानि, ध्यायन्ती इव =चिन्तयन्ती, इव, मूर्ध्नि =मस्तके, उपाघ्राय =उपाघ्रातं कृत्वा, सुचिरम् =चिरकालपर्यन्तम्, तम् =चन्द्रापीडम्, आशिश्लेष =आलिलिङ्ग ।

मध्य में मोतियों की माला लटक रही थी अतः दो पर्वतों के मध्य में बहते हुए गंगा के प्रवाह वाली पृथ्वी के समान [दिखाई दे रही] थी, जो समीप में रखे हुए शीशे पर गिरते हुए मुख-प्रतिबिम्ब वाली थी, अतः सूर्यबिम्ब में प्रविष्ट शशिमण्डल से युक्त आकाश के समान [दिखाई दे रही] थी। [ऐसी माता के पास जाकर चन्द्रापीड ने प्रणाम किया ।]

और उस माता ने भी शीघ्रता से उठा कर, आज्ञापालन के समर्थ सेवक लोगों के समीप में रहने पर भी स्वयं ही अवतरण-मंगल (आगमनकाल में दूर्वा आदि से मांगलिक क्रिया) सम्पन्न करके, द्रवीभूत दूधवाले स्तनों से गिरते हुए दूध की बूंदों के बहाने से द्रव बन कर बाहर निकलते हुए से हृदय से (अपने) भीतर ही भीतर सैकड़ों शुभों का ध्यान करती हुई (आशीर्वाद देती हुई) उसने सिर में सूंघ कर उस (चन्द्रापीड) का बहुत देर तक आलिंगन किया ।

१. दिवसमुपसृत्य, दिवसश्रियम् । २. क्वचित्तु 'तं' पदं नास्ति । ३. कृतावतरणका । ४. प्रस्नुत···प्रपस्नुत । ५. निर्गतेव । ६. शतान्यभिध्यायन्ती, शतानीवाभिध्यायन्ती ।

अनन्तरञ्च तथैव कृतयथोचितसमुपचारमाश्लिष्ट[1]-वैशम्पायना स्वयमुपविश्य विनयाद-वनितले समुपविशन्त[2]माकृष्य बलादनिच्छन्तमपि चन्द्रापीडमुत्सङ्गमारोपितवती।

ससम्भ्रम[3]-परिजनोपनीतायामासन्द्यामुपविष्टे च वैशम्पायने चन्द्रापीडं पुनः पुनरालिङ्ग्य ललाटदेशे वक्षसि भुजशिखरयोश्च मुहुर्मुहुः करतलेन परामृशन्ती विलासवती तमवादीत्—'वत्स ! कठिनहृदयस्ते पिता, येनेयमाकृतिरीदृशी[4] त्रिभुवनलालनीया क्लेशमति-

अनन्तरमिति । अनन्तरम् = चन्द्रापीडालिङ्गनानन्तरम्, च, तथैव = पूर्ववत्,कृतेत्यादिः—कृतः (= विहितः) यथोचितम् (= यथायोग्यम्) समुपचारः (= अवतरणमङ्गलम्) यस्यां क्रियायां तद् यथा स्यात्तथा, आश्लिष्टवैशम्पायना—आश्लिष्टः (= आलिङ्गितः) वैशम्पायनः (= एतन्नामा शुकनासपुत्रः) यया सा तादृशी, स्वयम्, उपविश्य = उपवेशनं कृत्वा, विनयात् = विनम्रतायाः, अवनितले = भूतले, समुपविशन्तम् = उपवेशनाय यत्नं कुर्वन्तम्, अनिच्छन्तम् = अनभिलाषुकम्, अपि, चन्द्रापीडम् = एतन्नामानं स्वसुतम्, बलात् = हठात्, आकृष्य = आकृष्टं कृत्वा, उत्सङ्गम् = क्रोडम्, आरोपितवती=आरोपयामास । अतिक्रान्तयौवनतया क्रोडोपवेशनायानभिलाषिणमपि स्वसुतं स्नेहातिरेकेण स्वोत्सङ्गे एव आरोपयामास विलासवतीति भावः ।

ससम्भ्रममिति । ससम्भ्रमम् = सत्वरं यथा स्यात् तथा, परिजनोपनीतायाम्—परिजनेन (= सेवकेन) उपनीतायाम् (= समानीतायाम्) आसन्द्याम् = वेत्रपीठे, वैशम्पायने = एतन्नामके शुकनासपुत्रे, उपविष्टे = निषण्णे, च सति, चन्द्रापीडम् = एतन्नामानं स्वसुतम्, पुनः = भूयोभूयः, अलिङ्ग्य = आलिङ्गनं विधाय, आश्लिष्य, ललाटदेशे = मस्तकस्थले, वक्षसि = उरसि, भुजशिखरयोः = स्कन्धयोः, च, मुहुः मुहुः = वारं वारम्, करतलेन = हस्ततलेन, परामृशन्ती = संस्पृशन्ती, विलासवती = एतन्नाम्नी, चन्द्रापीडजननी, तम् = स्वसुतम्, चन्द्रापीडम्, अवादीत् = अवोचत् ।

सा सुतं किमवोचदिति वर्णयति— वत्सेति । वत्स ! = प्रिय पुत्र !, ते = तव, पिता = जनकः, कठिनहृदयः— कठिनम् (= कठोरम्) हृदयम् (= चित्तम्) यस्य स तादृशः, येन = त्वदीयेन पित्रा, त्रिभुवनलालनीया—त्रिभुवने (= त्रैलोक्ये) लालनीया (= लालनयोग्या, प्रेम्णा पालनीया), ईदृशी= एतादृशी, इयम् = सन्निहिता, साक्षात् पुरो दृश्यमाना त्वदीया, आकृतिः = आकारः, देह इत्यर्थः, [इयन्तम् = एतावन्तम्] अतिमहान्तम् = अतिदीर्घम्, कालम् = समयम्, इयन्तम् = एतावत्परिमाणम्

और उसके बाद उसी प्रकार (अर्थात् चन्द्रापीड के समान ही) यथोचित उपचार किये जाते हुए वैशम्पायन का भी आलिंगन करके, स्वयं बैठ कर, विनय के कारण पृथ्वीतल पर ही बैठते हुए, न चाहने वाले भी उस चन्द्रापीड को, बलपूर्वक खींच कर अपनी गोद में बैठा लिया। [बड़ा हो जाने से चन्द्रापीड उस समय गोद में बैठना नहीं चाहता था तथापि माता ने स्नेहातिरेक से और दीर्घकालिक वियोग के बाद मिलन होने से उसे बलपूर्वक अपनी गोद में ही बैठा लिया।]

जब घबड़ाये हुए सेवकों द्वारा लाई गई कुर्सी (आसन्दी) पर वैशम्पायन बैठ गया तब चन्द्रापीड को पुनः पुनः आलिंगन करके ललाट देश में,वक्षःस्थल में और भुजाओं के शिखरों (कन्धों) में बार-बार करतल से स्पर्श करती हुई, सहलाती हुई विलासवती उस चन्द्रापीड से बोली—"बेटा ! तुम्हारे पिता कठोर हृदय वाले हैं जिन्होंने तीनों लोकों में लालन (पालन) के योग्य इस प्रकार के शरीर को इतने

१. '''समुपचाराश्लिष्ट'''। २. समुपाविशन्तम् । ३. ससम्भ्रमं । ४. ईदृश'''' ।

महान्तमियन्तं कालं लम्भिता। कथमसि सोढवानतिदीर्घामिमां[1] गुरुजनयन्त्रणाम्[2] ? अहो ! बालस्यापि सतः कठोरस्येव ते महद्धैर्यम्[3]। अहो ! विगलित-शिशुजन-क्रीडा-कौतुक-लाघवमर्भकस्यापि[4] ते हृदयम्। अहो ! गुरुजनस्योपरि भक्तिरसाधारणी[5] सर्वथा[6]। यथा पितुः प्रसादात् समस्ताभिरुपेतो विद्याभिरालोकितोऽसि[7], एवमचिरेणैव कालेनानुरूपाभिर्वधूभिरुपेतमालोकयिष्यामि' इत्येवमभिधाय लज्जास्मितावनतमात्ममुखप्रतिबिम्बगर्भे विकच-कमलकृत-कर्ण-

---

क्लेशम् = कष्टम्, लम्भिता = प्रापिता। त्वत्पितुर्व्यवहारेण तद्हृदयस्य काठिन्यं स्पष्टम्। अतिदीर्घाम् = दीर्घकालव्यापिनीम्, इमाम् = एताम्, पूर्वानुभूतामित्यर्थः, गुरुजनयन्त्रणाम् = पाठकजनविहतनियमनम्, कथम् = केन प्रकारेण, सोढवान् = मर्षितवान्, असि ? = विद्यसे, विद्यामन्दिरे इति शेषः।

अहो इति। बालस्य = शिशोः, माणवकस्य, सतः = विद्यमानस्य, अपि, ते = तव, कठोरस्य इव = कठिनस्य इव, प्रौढावस्थायां विद्यमानस्य इवेति भावः, महत् = अत्यधिकम्, धैर्यम् = धीरता, अहो = इदमाश्चर्ये। अर्भकस्य = बालस्य, अपि, ते = तव, हृदयम् = चित्तम्, विगलितेत्यादिः—विगलितम् (= दूरीभूतम्) शिशुजनस्य (= बालकलोकस्य) क्रीडाकौतुकम् (= खेलाकुतूहलम्) तेन लाघवम् (= लघुत्वम्) यस्मात् तत् तादृशम्, वर्तते इति शेषः। अहो—इदमाश्चर्ये। गुरुजनस्य = शिक्षकलोकस्य, पूज्यलोकस्य वा, उपरि = उपरिष्टात्, सर्वथा = सर्वप्रकारैः, असाधारणी = असामान्या, भक्तिः = सेवाभावः, तवेति शेषः, कथमन्यथा एतावत्कालं तत्र गुरुयन्त्रणां सहमानोऽध्ययने निरतः स्याः। अहो—इदमाश्चर्यं। अत्र 'अहो' त्रयमपि आश्चर्ये एव बोध्यम्।

यथेति। यथा = येन प्रकारेण, पितुः = जनकस्य, प्रसादात् = अनुग्रहात्, समस्ताभिः = निखिलाभिः, विद्याभिः = आन्वीक्षिक्यादिभिः, उपेतः = युक्तः, आलोकितः = दृष्टः, असि = वर्त्तसे, एवम् = तथैव, अचिरेणैव = अल्पेनैव, कालेन = समयेन, अनुरूपाभिः = स्वयोग्याभिः, वधूभिः = स्नुषाभिः उपेतम् = युक्तम्, विविधवधूसहितम्, त्वाम्, आलोकयिष्यामि = द्रक्ष्यामि, इति = एवं रूपेण, अभिधाय = उक्त्वा, लज्जास्मितावनतम्—लज्जा (= त्रपा) स्मितम् (= ईषद् हास्यम्) ताभ्याम् अवनतम् (= अवनम्रम्), एनम् = पुरोवर्त्तिनम्, चन्द्रापीडम्, आत्मेत्यादिः - आत्मनः (= निजस्य) मुखस्य (= आस्यस्य) प्रतिबिम्बम् (= प्रतिच्छाया) गर्भे (= मध्ये) यस्य तस्मिन् तादृशे, [चन्द्रापीडस्य निर्मलगण्डकस्यस्य समीपे स्वमुखप्रापणात् तस्मिन् प्रतिबिम्बोत्थानादिति भावः।] विकचेत्यादिः—विकचम् (= विकसितम्) यत् कमलम् (= पङ्कजम्) तेन कृतः (= विहितः) कर्णपल्लवानाम्

समय तक बड़े क्लेश को प्राप्त करवाया, कष्ट दिलवाया। गुरुजनों की यह इतनी लम्बी यन्त्रणा (कष्ट) किस प्रकार सहन की है। आश्चर्य ! बालक होते हुए भी कठोर तुम्हारा महान् धैर्य है अर्थात् तुम अभी बालक ही हो किन्तु बड़े बड़े लोगों के समान तुम्हारा धैर्य और दृढ़ता है। आश्चर्य ! बालक होने पर भी तुम्हारा हृदय बालक-जनोचित क्रीडा (खेलकूद) के कौतुक की लघुता से रहित है, अर्थात् तुममें हल्कापन नहीं है। अहो ! गुरुजनों पर तुम्हारी यह सर्वथा असाधारण भक्ति (सेवाभाव) है। जिस प्रकार पिता के अनुग्रह से समस्त विद्याओं से युक्त दिखाई दे रहे हो, उसी प्रकार शीघ्र ही तुम्हारे योग्य वधुओं से युक्त अर्थात् विवाहित रूप में तुम्हें देखूंगी''—इस प्रकार से कह कर लज्जा और मुस्कराहट के साथ झुके हुए इस (चन्द्रापीड) के उस कपोल पर चुम्बन कर लिया जिस कपोल के मध्य में अपने (= विलासवती के) मुख का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था [इसलिये] मानो जिसने खिले

---

१. कथमपि। २. गुरुयन्त्रणाम्। ३. किमत···।
४. अर्भकत्वे त्वयि, अर्भकत्वेऽपि ते, अर्भके ते। ५. असाधारण। ६. सर्वा। ७. अवलोकसे।

पल्लवावतंस इव कपोले पर्यचुम्बदेनम्[1]। एवञ्च तत्रापि नातिचिरमेव स्थित्वा क्रमेण सर्वान्तः-पुराणि दर्शनेनानन्दयामास[2]।

चन्द्रापीडस्य शुकनासदर्शनम्

निर्गत्य च राजकुलद्वारावस्थितम्[3] इन्द्रायुधमारुह्य तथैव तेन राजपुत्रलोकेनानुगम्यमानः शुकनासं द्रष्टमयासीत्।

यामावस्थित-विविध-गज-घटा-सङ्कटम्[4], अनेक-तुरङ्ग-सहस्र-सम्बाधम्, अपरिमितजन-

---

(=श्रोत्रकिसलयानाम्) अवतंसः (=आभूषणम्) यस्मिन् तादृशे, इव, [कर्णाभूषणीकृतकमलसहिते इव विद्यमाने इति भावः।] कपोले = गण्डे, चन्द्रापीडस्येति शेषः, पर्यचुम्बत् = परिचुम्बनं कृतवती। अत्रोत्प्रेक्षा। एवम् = उक्तप्रकारेण, च, तत्रापि = मातुः समीपेऽपि, नातिचिरम् = नातिचिरकालमेव, किञ्चित्कालमेवेत्यर्थः, स्थित्वा = स्थितिं विधाय, क्रमेण = परिपाट्या, आनुपूर्व्येण वा, सर्वान्तःपुराणि = समस्ताः अवरोधस्थाः जननीतुल्याः नारीः, दर्शनेन = अवलोकनेन, आनन्दयामास = प्रमुदिताश्चकार। सर्वान्तःपुराणि — इदं लक्षणया अन्तःपुरनिवासिमहिषीपरम्, तेन तत्रत्याः सर्वा अपि आनन्दयुक्ता अकरोदिति भावः।

निर्गत्येति। निर्गत्य = निःसृत्य, च, मातृभवनेभ्य इति शेषः, राजकुलद्वारावस्थितम् = राजभवनद्वारविराजमानम्, इन्द्रायुधम् = एतन्नामानमश्वश्रेष्ठम्, आरुह्य = आरोहणं विधाय, तथैव = पूर्वोक्तप्रकारेणैव, तेन = पूर्ववर्णितेन, राजपुत्रलोकेन = नृपसुतसमूहेन, अनुगम्यमानः = अनुव्रज्यमानः, शुकनासम् = एतन्नामकं प्रधानसचिवं वैशम्पायनपितरम्, द्रष्टुम् = अवलोकयितुम्, साक्षात्कर्तुम्, अयासीत् = अगमत्।

यामेति। यामावस्थितेत्यादिः—यामेषु (=प्रहरेषु) अवस्थिताः (=वर्त्तमानाः, प्रतिप्रहरं परिवृत्त्य, परिवृत्त्य स्थिताः) ये विविधाः (=नानाप्रकाराः) गजाः (=हस्तिनः) तेषां या घटा (=समूहः) तया सङ्कटम् (=सम्बाधम्, आकुलम्)। [इत आरभ्य द्वितीयान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'शुकनासद्वारम्' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम्।] अनेकेत्यादिः—अनेके (= बहवः ये तुरङ्गाः (= अश्वाः) तेषां सहस्रेण (= दशशत्या, प्रचुरसंख्यया) सम्बाधम् (= सङ्कटम्, युक्तम्)। ["सङ्कटं ना तु सम्बाधः कलिलं गहनं समे। सङ्कीर्णे सङ्कुलाकीर्णे ... ...।" इत्यमरः] अपरिमितेत्यादिः—अपरिमिताः (=अगणिताः) ये जनाः (=लोकाः) तेषां ये समूहाः (=समुदायाः)

हुए कमल को कर्ण-पल्लव-आभूषण बनाया था। [महारानी के मुख की परछाईं पड़ने से चन्द्रापीड का गाल ऐसा लग रहा था मानों उसने खिले हुए कमल को कर्णपल्लव का आभूषण बना लिया हो।] और इस प्रकार वहाँ भी थोड़ी ही देर तक रुक कर क्रमशः सभी अन्तःपुर [की स्त्रियों] को अपने दर्शन द्वारा आनन्दित किया।

चन्द्रापीड द्वारा शुकनास का दर्शन

फिर [राजभवन से बाहर] निकल कर राजभवन के द्वार पर विद्यमान इन्द्रायुध घोड़े पर आरूढ़ होकर पहले के ही समान उन राजपुत्रों द्वारा अनुगत होता हुआ शुकनास को देखने के लिये (उनका दर्शन करने के लिये) चल दिया। शुकनास के भवन का द्वार—जो एक एक पहर के लिये खड़े रहने वाले विविध हाथियों के समूह से व्याप्त था। कई हजार घोड़ों से भरा हुआ था। अगणित

---

१. क्वचित्तु 'एव' नापि दृश्यते। २. नन्दयामास।
३. राजकुलद्वारा बहिःस्थितम्। ४. '''गमनम्'''।

समूह-सम्मर्द-सङ्कुलम्,[1] एकदेशोपविष्टैः सहस्रशो निबद्ध-चक्रवालैरनेककार्य्यागतैर्दर्शनोत्सुकैः समन्ततो विविधशास्त्राञ्जनोन्मीलितप्रतिभैश्चीवरच्छद्मना[2] विनयानुरागिभिर्धर्म्मपटैरिवा-[3] वगुण्ठितैः शाक्यमुनिशासनपथधौरेयैः, रक्तपटैः[4] पाशुपतैर्द्विजैश्च दिवानिशमासेव्यमानम्,

---

तेषां यः सम्मर्दः (=परस्पराघातः) तेन सङ्कुलम् (=व्याप्तम्)।

एकदेशेति । एकदेशोपविष्टैः—एकस्मिन् देशे (=भागे) उपविष्टैः (=आसीनैः), सहस्रशः=बहुशः, निबद्धचक्रवालैः—निबद्धम् (=विहितम्) चक्रवालम् (=मण्डलम्) यैः तैस्तादृशैः। अनेककार्यागतैः—अनेकानि (=विविधानि, बहूनि) यानि कार्याणि (=कर्त्तव्यानि प्रयोजनानि) तदर्थम् आगतैः (=आयातैः)। दर्शनोत्सुकैः—दर्शनार्थम् (=साक्षात्कारार्थम्) उत्सुकैः (=उत्कण्ठितैः)। समन्ततः=परितः, विविधेत्यादिः—विविधानि (=नानाप्रकाराणि) यानि शास्त्राणि (=अनुशासनानि, तत्प्रतिपादकानि मतानि) एव अञ्जनानि, (=नयनौषधानि) तैः उन्मीलिताः (=प्रकाशिता, विकासं प्रापिता) प्रतिभाः (=उत्कृष्टमतय) येषां तैः। [क्वचित्तु 'प्रतिभैः' इत्यत्र 'बुद्धिलोचनैः' इति पठ्यते, 'बुद्धय एव लोचनानि येषां तैः' इत्यर्थः। भानुचन्द्रस्तु—'विकासं प्रापितानि प्रतिमानि चक्षूंषि येषां तैः' इति व्याचष्ट।] चीवरछद्मना—चीवराणि (= संन्यासिप्रभृतिभिः धारणीयवस्त्राणि) तेषां छद्मना (= कपटेन) विनयानुरागिभिः—विनये (= धर्मशिक्षायाम्) अनुरागः (=आसक्तिः) एव अनुरागः (=रञ्जनद्रव्यम्) येषां तैः। [भानुचन्द्रस्तु—अवरछद्मना= सेवकभिषेण, विनयेनानुरागो विद्यते येषां तै'रिति व्याचष्ट।] धर्मपटैः=लिखितधर्मशास्त्रवसनैः, [येषु पटेषु धर्मशासनानि उल्लिख्यान्तेवासिभ्यः प्रदर्श्यन्ते ते धर्मपटाः।] इव, अत्रोत्प्रेक्षा। अवगुण्ठितैः = कृतावगुण्ठनैः, आच्छादितैरिव वर्तमानैः, शाक्येत्यादिः—शाक्यमुनिः (=अर्कबान्धवतपस्वी, बुद्धः) तस्य यानि शासनानि (=आदेशाः) तेषां पन्थाः (= मार्गः) तस्मिन् धौरेयैः (= धुरन्धरैः)। रक्तपटैः=रक्ताम्बर-धारिभिः, बौद्धैरित्यर्थः। पाशुपतैः=शैवैः, [पशुपतिः=शिवः देवता येषां ते-- इत्यर्थे 'साऽस्य देवता' इत्यर्थेऽणि पाशुपत इति], द्विजैः=ब्राह्मणैः, च, दिवानिशम् = अहर्निशम्, आसेव्यमानम्=उपास्यमानम्, शुकनाशं प्रति स्नेहातिरेकेणेति भावः।

लोगों की भीड़ से व्याप्त था। जो (द्वार) एक भाग में बैठे हुए, हजारों, (छोटे छोटे) गोल बनाये हुए, विभिन्न प्रयोजनों से आये हुए, [शुकनास का] दर्शन करने के लिए उत्सुक, चारो ओर से विविध शास्त्र (-ज्ञान-) रूपी अंजन से स्पष्ट प्रतीत (खुली) हुई प्रतिभा वाले, चीवर वस्त्रों (मुनियों द्वारा पहने जाने वाले रंगे कपड़ों) के व्याज से मानों विनय (धर्म) के प्रति अनुराग रूपी रंग से रंगे हुए 'धर्मपटों' (धर्मसूचक वस्त्रों) से ढके हुए (धारण किये हुए) बुद्ध के शासन (आज्ञा) के मार्ग [के अनुयायियों] में मुखिया=प्रधान, लाल-लाल वस्त्रोंवाले बौद्धों, शैवों (शिव के भक्तों) तथा

---

१. समूहसहस्र···। २. उन्मीलितबुद्धिलोचनैः।

३. रक्ताम्बरछद्मना गुरुविनयानुरागिभिः। ४. रक्तपादैः।

अभ्यन्तरप्रविष्टानाञ्च सामन्तानां जघनोपविष्ट-पुरुषोत्सङ्गावस्थित-द्विगुणकुथाभिरतिचिराव-स्थान-निर्वेद-प्रसुप्ताधोरणाभिरपर्य्याणाभिः सपर्य्याणाभिश्च निश्चलावस्थानप्रचलायिताभिः शतसहस्रशः करिणीभिराकीर्णम्, शुकनास-गृहद्वारमासाद्य, सत्वरप्रधावितैर्द्वारदेशावस्थितैः प्रतीहारपुरुषैरनिवार्य्यमाणोऽपि राजकुल इव राजपुत्रो बाह्याङ्गण एव तुरगादवततार ।

अभ्यन्तेति । च = किञ्चेत्यर्थे । अभ्यन्तरप्रविष्टानाम्—अभ्यन्तरे (= प्रासादमध्ये) प्रविष्टानाम् (= विहितप्रवेशानाम् सामन्तानाम् = स्वदेशपार्श्ववर्त्तिनां मण्डलेश्वराणाम्, ['शतसहस्रशः करिणीभिः' इत्यस्य विशेषणानि इमानि पदानि —] जघनेत्यादिः—जघनेषु (= करिण्याः कट्या अग्रिमो भागः तेषु) उपविष्टाः (= निषण्णाः) ये पुरुषाः (= सामन्तसेवकजनाः) तेषाम् उत्सङ्गेषु (= क्रोडेषु) अवस्थिताः (= वर्तमानाः) द्विगुणाः (= द्विगुणिताः) कुथाः (= पृष्ठास्तरणानि, वर्णस्तोमाः) यासु ताः ताभिः । अतिचिरेत्यादिः—अतिचिरम् (= बहुकालम्) यद् अवस्थानम् (= अवस्थितिः) तेन यो निर्वेदः (= खेदः, स्वावमाननं वा) तेन प्रसुप्ताः (= निद्रामुपगताः) आधोरणाः (= हस्तिपकाः) यासां ताभिः तादृशीभिः, अपर्याणाभिः = पल्ययनशून्याभिः, सपर्याणाभिः = पल्ययनसहिताभिः, च, निश्चलावस्थान-प्रचलायिताभिः—निश्चलम् (= चेष्टाशून्यम्) यद् अवस्थानम् (= अवस्थितिः) तेन हेतुना प्रचलायिताभिः (= समुत्पन्ननिद्राभिः शतसहस्रशः = शतशः, सहस्रशश्च, अगणिताभिरित्यर्थः, करिणीभिः = हस्तिनीभिः, आकीर्णम् = सङ्कुलम् । ["आरोहणा हस्तिपका हस्त्यारोहाः निषादिनः ।" इत्यमरः २ ८।५९] 'घूर्णितः प्रचलायितः ।' इत्यमरः ३।१।३२] शुकनास-गृहद्वारम्—शुकनासस्य (= प्रधानामात्यस्य), गृहद्वारम् = भवनप्रतीहारम्, आसाद्य = प्राप्य । सत्वर-प्रधावितैः = सत्वरं यथा स्यात् तथा प्रधावितैः = आचरितद्रुतगमनैः, द्वारदेशावस्थितैः—प्रतीहारप्रदेश-विद्यमानैः, प्रतीहारपुरुषैः = द्वारपाललोकैः, अनिवार्यमाणः = अनिषिध्यमानः, अपि, राजपुत्रः = राज-कुमारश्चन्द्रापीडः, राजकुले इव = राजभवने इव, बाह्याङ्गणे = बहिःस्थितचत्वरे, एव, तुरङ्गात् = स्वाश्वात्, अवततार = अवतीर्णः, अश्वपृष्ठं विहाय भूमौ स्थित इति भावः ।

ब्राह्मणों से दिन रात उपासित रहता था, [ये लोग हर समय जहाँ बैठे रहते थे ।] और जो (द्वार) भीतर गए हुए सामन्तों की लाखों (शतसहस्र) हथिनियों से व्याप्त था, जिन (हथिनियों) के जघनों (कटि के अग्रिम भाग) में बैठे हुए पुरुषों की गोद में दोहरी मोड़ कर (तह करके) कुथें (पीठ पर बिछाये जाने वाले आसन, झूलें) रखीं थीं, जिन (हथिनियों) के महावत बहुत देर तक [स्वामी की प्रतीक्षा में] बैठे रहने के कारण उत्पन्न उदासीनता (आलस्य) से सो गये थे, जिनमें कुछ झूलों से युक्त थीं, कुछ झूलों से रहित थीं, जो (हथनियाँ) निश्चल खड़ी रहने से ऊँघने लगी थी,— ऐसे द्वार को प्राप्त कर, (वहाँ पहुँच कर) शीघ्रता से दौड़ते हुए, दरवाजे पर खड़े हुए द्वारपालों द्वारा न रोका जाता हुआ भी (चन्द्रापीड) राजकुमार राजभवन के समान ही बाहर आँगन में ही घोड़े से उतर गया । [जैसे राजभवन में आगन में ही घोड़े से उतर गया था वैसे ही वहाँ भी आँगन में ही घोड़े से उतर गया ।]

१. स्थानोपविष्टपुरुषावस्थित । २. संगस्थितद्विगुणकथाभिः ।
३. घोरणाभिः सपर्याणाभिः । ४. बाह्याङ्ग । ५. तुरङ्गात् ।

द्वारदेशावस्थापित[1]-तुरङ्गश्च वैशम्पायनमवलम्ब्य पुरःप्रधावितैः समुत्सारित-परिजनै-[2]स्तत्प्रतीहार-मण्डलैरुपदिश्यमानमार्गः, तथैव चलितमुकुटकोटिभिर्नरेन्द्रवृन्दैः सेवासमुपस्थि-तैरुत्थायोत्थाय प्रणम्यमानस्तथैव च[3] प्रचण्ड-प्रतीहार-हुङ्कार-भय-मूकीभवत्परिजनानि प्रचलित-वेत्रलता-चकित[4]-सामन्त-चक्र-चरण-शत-चलित-वसुन्धराणि कक्षान्तराणि

द्वारदेशेति । च=किञ्च, द्वारेत्यादिः—द्वारदेशे (=प्रतीहारप्रदेशे) अवस्थापितः (=रक्षितः, परित्यक्तः) तुरङ्गः (=अश्वः) येन सः तादृशः । वैशम्पायनम्=शुकनाससुतं स्वसहाध्यायिनम्, अवलम्ब्य=आलम्ब्य, पुरः=अग्रे, प्रधावितैः = कृतसत्वरप्रयाणैः, समुत्सारितपरिजनैः—समुत्सारिताः (=दूरीकृताः), परिजनाः =सेवकलोकाः) यैस्तैस्तादृशैः, प्रतीहारमण्डलैः=द्वारपालसमूहैः, उपदिश्यमान-मार्गः—उपदिश्यमानः (= कथ्यमानः, निर्दिश्यमानः) मार्गः (= पन्थाः) यस्मै स तादृशः, सन्. तथैव=राजसदनसदृशम् एव, चलितेत्यादिः—चलिताः (=कम्पिताः) मुकुटानाम् (=शिरोभूषणानाम्) मणयः (=रत्नानि) येषां तैस्तादृशैः । सेवासमुपस्थितैः—सेवार्थम् (=सपर्यार्थम्) समुपस्थितैः (=समागतैः), नरेन्द्रवृन्दैः = नरपतिसमूहैः, उत्थाय उत्थाय = उत्थानं विधाय विधाय, प्रणम्यमानः=नमस्क्रियमाणः ।

तथैवेति । तथैव=तेनैव प्रकारेण, च, राजभवनसदृशमेव । प्रचण्डेत्यादिः– प्रचण्डाः (=अत्यन्त-कोपनाः) ये प्रतीहाराः (=द्वारपालाः) तेषां यो हुङ्कारः (="हुम्" इत्याकारकध्वनिः) तस्माद् यद् भयम् (=भीतिः) तेन मूकीभवन्ति (=मौनतामुपयान्ति) परिजनाः (=सेवकलोकाः) येषु तानि तादृशानि । [यद्वा—प्रचण्डः यः प्रतीहारहुङ्कारः—इत्यन्वयः ।] प्रचलितेत्यादिः—प्रचलिताः (=इतस्ततो विक्षिप्ताः) या वेत्रलताः (=वेतसयष्टयः) ताभिः चकितम् (=शङ्कितम्) यत् सामन्तचक्रम् (=मण्डलेश्वरवृन्दम्) तस्य यत् चरणशतम् (=पादशतम्, चरणशतन्यासः) तेन चलिता (=कम्पिता) वसुन्धरा (=तत्रत्या भूमिः) येषु तानि तादृशानि, कक्षान्तराणि=भिन्नान् भिन्नान् प्रकोष्ठान्, निरीक्षमाणः=अवलोकयन् ।

द्वार पर घोड़े को खड़ा कर वैशम्पायन को पकड़ कर (उसका हाथ अपने हाथ में डालकर), आगे दौड़ते हुए तथा सेवकों को हटाते हुए द्वारपालों के समूह द्वारा मार्ग दिखलाये जाते हुए और उसी प्रकार (राजभवन के समान ही) हिलते हुए मुकुटों के अग्र भाग वाले, सेवा के लिए आये हुए सामन्त-राजाओं के समूह द्वारा उठ उठ कर प्रणाम किये जाते हुए, और उसी प्रकार (राजभवन के सदृश ही) प्रचण्ड (भयानक) द्वारपालों के हुंकार से मूक होते हुए सेवकों से युक्त, और चलती (हिलाई जाती) हुई बेंत की छड़ियों से चकित (शङ्कित) सामन्तों के समूह के सैकड़ों चरणों [के चलने] के कारण हिलती कांपती) हुई भूमि वाले भीतरी कक्षों (कमरों) को देखते हुये, और उसी प्रकार (राजभवन के समान ही) नये नये चूने से पोते गये अत्यन्त सफेद महलों से भरे

---

१. अवस्थित ...। २. तथैव च प्रतीहारम्, तथैव प्रतीहारम्...।

३. क्वचित्तु 'च' नोपलभ्यते । ४. त्रासनचकित ।

निरीक्षमाणः,तथैव च नव-नव-सुधावदात-प्रासाद-निरन्तरं द्वितीयमिव राजकुलं शुकनासभवनं विवेश। प्रविश्य चानेक-नरेन्द्र-सहस्रमध्योपविष्टमपरमिव पितरमुपदर्शितविनयो दूरावनतेन मौलिना शुकनासं ववन्दे।

शुकनासस्तं ससम्भ्रमं समुत्थायानुपूर्व्येणोत्थित-राजलोकः सादरमभिमुखदत्ताविरल-पदः प्रहर्ष-विस्फारितलोचनागतानन्द-जलकणः समं वैशम्पायनेन प्रेम्णा गाढमालिलिङ्ग।

तथैवेति। तथैव च=तेनैव प्रकारेण च, यथा राजभवने तथैवेत्यर्थः। नवनवेत्यादिः—नवनवाः (=अतिशयनवीनाः), सुधया (=धौत्यसम्पादकद्रवद्रव्यविशेषेण, हिन्द्यां 'चूना' इत्याख्येन) अवदाताः (=निर्मलाः) च ये प्रासादाः (=अट्टालिकाः, सौधानि) तैः निरन्तरम् (=निरवकाशम्, व्याप्तम्) द्वितीयम्=अन्यत्, राजकुलम्=राजभवनम् इव, विद्यमानम्, शुकनासभवनम्=प्रधानामात्य-सदनम्, विवेश=प्राविशत्। अत्र द्रव्योत्प्रेक्षैव बोध्या न तूपमेति मान्याः।

प्रविश्येति। प्रविश्य=प्रवेशं कृत्वा, च, अनेकेत्यादिः—अनेके (=असङ्ख्याः) ये नरेन्द्राः (=भूपतयः) तेषां सहस्रम् (=दशशती) तस्य मध्ये (=मध्यदेशे) उपविष्टम् (=निषण्णम्), अपरम्=द्वितीयम्, पितरम्=जनकम्, इव, [अत्राप्युत्प्रेक्षा] शुकनासम् = एतन्नामानं वैशम्पायन-पितरम्, उपदर्शितविनयः—उपदर्शितः (=प्रकटितः) विनयः (= नम्रता) येन स तादृशः सन्, दूरावनतेन=दूराद् (=दविष्ठात्) अवनतेन (=विनम्रेण) मौलिना (=मस्तकेन) ववन्दे = नमश्चक्रे। तं प्रति पितृतुल्यं व्यवहारं प्रादर्शयदिति भावः।

शुकनास इति। ससम्भ्रमम् = सवेगम्, सत्वरम्, समुत्थाय=उत्थानं कृत्वा, आनुपूर्व्येण = यथाक्रमम्, उत्थितः (=समुत्थितः) राजलोकः (=सामन्तसमूहः) यस्मात् स तादृशः, सादरम् = सम्मानसहितम्, अभिमुखेत्यादिः—अभिमुखम् (=चन्द्रापीडसम्मुखम्) दत्तानि (=निहितानि) अविरलानि (=अविच्छिन्नानि) पदानि (=पादनिक्षेपाः) येन स तादृशः। प्रहर्षेत्यादिः—प्रहर्षेण (=प्रमोदेन) विस्फारिते (=विकासिते) ये लोचने (=नयने) तयोः आगताः (=सम्प्राप्ताः) आनन्दजलकणाः (=प्रमोदाश्रुबिन्दवः) यस्य स तादृशः, सन्, शुकनासः=एतन्नाना प्रधानसचिवः, वैशम्पायनपिता, वैशम्पायनेन=स्वसुतेन एतन्नामकेन, समम्=सार्धम्, प्रेम्णा=स्नेहेन, गाढम्=सान्द्रम् यथा स्यात् तथा, आलिलिङ्ग=समाश्लिश्लेष। 'सम'मित्युक्त्या स तयोः स्वल्पमपि भेदं न प्राकटयदिति सूचितम्।

हुए शुकनास के भवन, जो मानों दूसरा राजभवन था, में प्रवेश किया। और उसमें प्रवेश करके कई हज़ार राजाओं (सामन्तों) के मध्य में बैठे हुए शुकनास को, मानों दूसरे पिता को, विनम्रता प्रदर्शित करते हुए, दूर तक नीचे झुके हुए शिर से, प्रणाम किया।

शुकनास ने शीघ्रता (हड़बड़ी के साथ) उठ (खड़े हो) कर, उनके साथ क्रमशः (एक एक करके) राजसमूह भी उठ खड़ा हुआ, आदरसहित उस (चन्द्रापीड) की ओर लगातार कई पैर चल कर अत्यधिक प्रसन्नता के कारण खिले हुए नेत्रों में आये हुए आनन्द-जलकणों (आनन्द के अश्रुओं) से युक्त होकर वैशम्पायन के साथ ही साथ [चन्द्रापीड का] प्रेम से गाढ़ आलिंगन किया। आलिंगन से

---

१. तथैव नव··· । २. प्रासादसहस्र···। ३. ···उपस्थितम्। ४. उत्थाय।
५. ···पूर्वेण। ६. लोकैः। ७. संहर्ष···। ८. विलोचन···। ९. सह।

आलिङ्गितोन्मुक्तश्च सादरोपनीतमपहाय[1] रत्नासनमवनावेव राजपुत्रः समुपाविशत्, तदनु च वैशम्पायनः। उपविष्टे च राजपुत्रे शुकनासवर्जमन्यदखिलमवनिपालचक्रमुज्झितनिजासनमवनितलमभजत। स्थित्वा च तूष्णीं क्षणमिव[2] शुकनासः समुद्गतप्रीतिपुलकैरङ्गैरावेद्यमान-हर्ष-प्रकर्षस्तमब्रवीत्[3]—

"तात![4] अद्य खलु देवस्य तारापीडस्य समाप्तविद्यमुपारूढयौवनमालोक्य भवन्तं

आलिङ्गित इति। आलिङ्गितेत्यादिः—पूर्वम् आलिङ्गितः (=आश्लिष्टः) पश्चाच्च उन्मुक्तः (=परित्यक्तः), एतादृशः, राजपुत्रः=राजकुमारः चन्द्रापीडः, सादरोपनीतम्—आदरेण (=सम्मानेन) उपनीतम् (= प्रापितम्), रत्नासनम् = मणिमयोपवेशनसाधनम्, अपहाय = परित्यज्य, अवनौ =भूमौ, एव, समुपाविशत् =अतिष्ठत्, उपविष्टोऽभूत्, तदनु =तदनन्तरम्, च, वैशम्पायनः = शुकनासपुत्रः, चन्द्रापीडसहाध्यायी, समुपाविशदित्यर्थः। राजपुत्रे =राजकुमारे चन्द्रापीडे, उपविष्टे = विहितोपवेशने, निषण्णे इत्यर्थः भूमावेवेति शेषः, शुकनासवर्जम् = शुकनासं विहाय, अन्यत् =अपरम्, अखिलम् =सकलम्, अवनिपालचक्रम् = नृपतिमण्डलम्, उज्झितासनम्—उज्झितम् (=परित्यक्तम्) आसनम् (=स्व-समुचितासनम्) येन तत् तादृशं सत्, अवनितलम् =भूतलम्, अभजत् =अधिश्रियत्। [शुकनासस्य प्रधानामात्यत्वेऽपि विप्रत्वेन पितृसखत्वेन पितृस्थानीयतया च चन्द्रापीडे भूमावुपविष्टेऽपि शुकनासस्यासनोपवेशनमेवोचितम्। अन्येषां नृपाणां तु, राजकुमारे भूमावुपविष्टे सति आसनोपवेशनमनुचितमिति कृत्वा अवनितलाश्रयणमेवोचितमिति बोध्यम्।

स्थित्वेति। क्षणम् इव =किञ्चित्कालपर्यन्तमेव, तूष्णीम् =मौनम्, स्थित्वा =भूत्वा, समुद्गतेत्यादिः—समुद्गताः (= समुत्पन्नाः) प्रीत्या (= प्रमोदेन) पुलकाः (= रोमाञ्चाः) यस्य सः, आवेद्यमानेत्यादिः—आवेद्यमानः (= सूच्यमानः) हर्षप्रकर्षः (=प्रमोदातिरेकः) यस्य स तादृशः, शुकनासः=एतन्नामा प्रधानामात्यः, तम्=चन्द्रापीडम्, अब्रवीत्=अवादीत्। च=किञ्चेत्यर्थे आदौ योज्यः।

इदानीं शुकनासस्य हर्षातिरेकप्रतिपादनद्वारा सर्वेषामिष्टसिद्धिं निर्दिशति—तातेत्यादिना। तात != वत्स !, अद्य =अस्मिन् दिवसे, समाप्तविद्यम्—समाप्ता (=सम्यग् गृहीता, शिक्षिता) विद्या (=आन्वीक्षिक्यादयः) येन स तं तादृशम्, उपारूढयौवनम्—उपारूढम् (=उत्पन्नम्) यौवनम् (=तारुण्यम्) यस्य स तं तादृशम्, भवन्तम् =त्वाम्, [आदरातिशयप्रकटनाय भवच्छब्दप्रयोगो बोध्यः] आलोक्य = विलोक्य, देवस्य = महाराजस्य, तारापीडस्य =एतन्नामकस्य ते पितुः, सुचिराद् =बहुविलम्बात्, भुवन-

मुक्त हुआ राजकुमार आदरसहित लाये गये रत्नजटित आसन को छोड़ कर भूतल पर ही बैठ गया और उसके बाद वैशम्पायन भी बैठ गया। और राजकुमार के बैठ जाने पर अकेले शुकनास को छोड़ कर शेष समस्त राजा लोग अपने-अपने रत्नासनों को छोड़ कर भूतल पर ही बैठ गये। कुछ देर तक चुप बैठ कर उत्पन्न प्रसन्नता से पुलकित अंगों से हर्ष के अतिरेक को प्रकट करता हुआ शुकनास उस चन्द्रापीड से बोला—"वत्स ! विद्या समाप्त किये हुए अर्थात् सभी विद्याओं को पढ़ लेने वाले और यौवन को प्राप्त करने वाले आप को देख कर महाराज तारापीड को भुवनराज्य (पृथ्वी के आधिपत्य)

१. समुपविष्टे। २. क्षणमपि। ३. '''हृदयहर्ष'''। ४. तात चन्द्रापीड !।

सुचिराद् भुवनराज्यफलप्राप्तिरुपजाता। अद्य समृद्धाः सर्वा गुरुजनाशिषः। अद्य फलितमनेकजन्मान्तरोपात्तमवदातं कर्म्म[1]। अद्य प्रसन्नाः कुलदेवताः, न ह्यपुण्यभाजां भवादृशास्त्रि-[2]भुवन-विस्मयजनकाः[3] पुत्रतां प्रतिपद्यन्ते। क्वेदं वयः ? क्वेयमानुषी शक्तिः ? क्व चेदमशेषविद्याग्रहणसामर्थ्यम् ? अहो ! धन्याः प्रजाः, यासां भरत-भगीरथ-प्रतिमो भवानुत्पन्नः

राज्यफलप्राप्तिः–भुवनराज्यस्य (=लोकाधिपत्यस्य) फलस्य (=शुभपरिणामस्य) प्राप्तिः (=उपलब्धिः), उपजाता=प्रादुर्भूता। इदानीमेव तस्याधिपत्यस्य सुफलं लब्धमिति भावः। अद्य=अस्मिन् दिने, सर्वाः=समस्ताः, गुरुजनाशिषः= पूज्यजनाशीर्वचांसि, समृद्धाः=सम्पत्तिभाजः, सम्पूर्णा इति भावः, जाता इति शेषः अद्य=अस्मिन् दिने, अनेकजन्मान्तरोपात्तम् –अनेकानि (=बहूनि, भूतपूर्वाणि) जन्मान्तराणि (=भवान्तराणि) तेषु, तेभ्यो वा; उपात्तम् (=अर्जितम्), अवदातम्=पवित्रम्, कर्म=शुभकर्म, फलितम्=फलप्रदं जातमिति भावः। अद्य=अस्मिन् दिने, कुलदेवताः=कुलाधिष्ठातृदेवताः, प्रसन्नाः=प्रमुदिताः। पूर्वोक्तवैशिष्ट्ये किं प्रमाणमिति लक्षयति—नहीत्यादिना। हि=यस्मात् कारणात्, अपुण्यभाजाम्=पापवताम्, भवादृशाः=भवत्सदृशाः, त्रिभुवनेत्यादिः—त्रिभुवनस्य (=त्रैलोक्यस्य) विस्मयम् (= आश्चर्यम्) जनयन्ति (= उत्पादयन्ति) ये तादृशाः, लोकाः, पुत्रताम् = तनयत्वम्, न=नैव, प्रतिपद्यन्ते=प्राप्नुवन्ति। अत्र वैधर्म्येण हेतुना कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासाख्योऽलङ्कारः सुस्पष्टः।

सम्प्रति त्रिभुवनविस्मयजनकत्वं विस्तरेण निरूपयति—क्वेत्यादिना। इदम्=दृश्यमानमभिनवतारुण्यरूपम्, अत्यल्पमित्यर्थः, वयः = अवस्था, क्व = कुत्र ? इयम्=दृश्यमाना सर्वैर्ज्ञायमाना च, अमानुषी=अमानवी, शक्तिः=सामर्थ्यम्, क्व=कुत्र ? इदम्=दृश्यमानम्, अशेषविद्याग्रहणसामर्थ्यम्—अशेषाः (=समस्ताः) याः विद्याः (=शास्त्रादीनि) तासां ग्रहणस्य (=उपादानस्य) सामर्थ्यम् (=शक्तिः), क्व=कुत्र ? एतादृश्यामल्पायामवस्थायामेतादृशस्याश्चर्यजनकस्य वैशिष्ट्यस्य दर्शनमलौकिकमेव बोध्यम्।

अहो इति। अहो=इदमानन्दातिरेके, प्रजाः=प्रकृतयः, धन्याः=भाग्यशालिन्यः, यासाम्= प्रजानाम्, भरतेत्यादिः—भरतः (=दौष्यन्तिः, यद्वा—ऋषभदेवपुत्रः) भगीरथः (=सगरपौत्रः) तौ प्रतिमा (=उपमा) यस्य सः, यद्वा—ताभ्यां प्रतिमः (=सदृशः), भवान्=त्वम्, पालयिता=

का फल बहुत समय बाद वस्तुतः आज प्राप्त हुआ है। आज सभी गुरुजनों के आशीः समृद्ध (पूर्णतया फलीभूत) हुये हैं। आज अनेक पूर्व जनों के उपार्जित पुण्य कर्मों का फल प्राप्त हो गया। आज कुलदेवता प्रसन्न हो गये हैं, क्योंकि तीनों लोकों के आश्चर्य को उत्पन्न करने वाले आप जैसे लोग अपुण्यशालियों (पापात्माओं) के पुत्र नहीं बनते हैं। कहाँ यह [छोटी] अवस्था ? और कहाँ यह अमानुषी (मनुष्यों से भिन्न देवता आदि में देखी जाने वाली विलक्षण) शक्ति ? और कहाँ यह समस्त विद्याओं को पढ़ने (सीख जाने) का सामर्थ्य ? अहो ! प्रजा धन्य है जिसके भगीरथ और भरत के समान आप पालन करने वाले उत्पन्न हुए हैं। पृथिवी ने कौन सा पवित्र कार्य किया है जिससे उसने

---

१. सत्पुण्यभाजाम्। २. सकल-त्रिभुवन···। ३. ···हेतवः।

पालयिता। किं खलु कृतमवदातं कर्म्म वसुन्धरया,ययासि भर्त्ता समासादितः। हरिवक्षःस्थल-निवासाऽसद्ग्रहव्यसनितया[1] हृता खलु लक्ष्मीः, या विग्रहवती भवन्तं नोपसर्पति। सर्वथा कल्प-कोटीर्महावराह इव दंष्ट्रावलयेन[2] वह बाहुना वसुन्धराभारं सह पित्रा' इत्यभिधाय च[3] स्वयमा-भरण-वसन-कुसुमाङ्गरागादिभिरभ्यर्च्य विसर्जयाञ्चकार।

रक्षकः, उत्पन्नः = जातः, असि। खलु = निश्चयेन, वसुन्धरया = पृथिव्या, किम् = कीदृशम्, अवदातम् = पवित्रम्, शुद्धम्, कर्म = सुकृतम्, कृतम् = विहितम्, यया = वसुन्धरया, भर्त्ता = प्रभुः, पालयिता, त्वमिति शेषः, आसादितः = प्राप्तः।

हरिवक्षःस्थलेति। हरीत्यादिः—हरिः (= विष्णुः) तस्य वक्षःस्थले = उरःस्थले, निवासे (= अवस्थितौ) य असद्ग्रहः (= हठः; दुर्बुद्धिः) स एव व्यसनिता (= समासक्तिः) तया हेतुना, लक्ष्मीः = श्रीः, हृता = वञ्चिता, खलु = निश्चयेन, या = लक्ष्मीः, विग्रहवती = शरीरधारिणी सती, भवन्तम् = त्वाम्, न = नैव, उपसर्पति = समीपमागच्छति। अमूर्त्तरूपेण आगच्छन्त्यपि शरीरिणी भूत्वा विष्णुमिव त्वां नोपसर्पतीति तस्याः वञ्चितात्वं स्पष्टम्।

[अत्र लक्ष्म्याः हृतत्वसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्त्यलङ्कारः,तेन हि भगवतोऽपि राजपुत्रस्योत्कर्षबोधनाद् व्यतिरेकालङ्कारः प्रतीयते इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिरिति तत्त्वविदः।]

विप्रत्वेन महामात्यत्वेन चाशीर्वचोभिः स्ववक्तव्यमुपसंहरन्नाह शुकनासः—सर्वथेति। महावराहः = आदिशूकरः, विष्णोस्तृतीयावतारः, इव, दंष्ट्रावलयेन = दाढामण्डलेन, पित्रा = जनकेन, सह = सार्धम्' बाहुना = भुजेन, वसुन्धराभारम् = पृथ्वीपालनभरम्, कल्पकोटीः = कोटिसंख्यकान् कल्पान्, सर्वथा = सर्वप्रकारैः, वह = धारय। अत्र अत्यन्तसंयोगे 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' द्वितीया बोध्या 'कल्पकोटीः' इति पदे। [अत्र 'इव' शब्दस्य .योगः—१. महावराहे, २. बाहुना, ३. वसुन्धराभारम्—इत्येतेषु क्व समीचीन इति विचारणीयम्। बाणेन तु 'महावराह' इत्यत्रैव निर्दिष्टः। एवञ्च यथा महावराहो दंष्ट्रावलयेन वसुन्धराभारमुवाह तथैव त्वमपि स्वभुजेन पृथ्वीशासनभारं वहेति साम्यमित्युपमालङ्कारः सुस्पष्टः।] इति = पूर्वोक्तम्, अभिधाय = उक्त्वा, स्वयम् = आत्मनैव, आभरणेत्यादिः—आभरणानि (= आभूषणानि) वसनानि (= वस्त्राणि) कुसुमानि (= पुष्पाणि) अङ्गरागाः (= विलेपनद्रव्याणि चन्दनादीनि)—इत्यादिभिः (= प्रभृतिभिः) अभ्यर्च्य = सम्पूज्य, विसर्जयाञ्चकार = विसर्जितवान्।

वराहावतारं धृत्वा दंष्ट्रावलयेन जलमग्नां पृथ्वीमुद्धृतवान् विष्णुरिति कथा वाराहपुराणादौ प्रसिद्धा।

तुम्हें पतिरूप में प्राप्त किया है ? भगवान् विष्णु के वक्षःस्थल में निवास के दुराग्रह के व्यसन के कारण लक्ष्मी वास्तव में मारी गई, धोखा में रही हैं, जो लक्ष्मी शरीरधारिणी होकर आपके पास नहीं आ रही है। जिस प्रकार महावराह अपने दंष्ट्रामण्डल (दाढ़-समूह) से पृथ्वी को धारण करने वाले हैं (थे) उसी प्रकार आप पिता (महाराज तारापीड) के साथ भुजा से (बाहुबल से) करोड़ों कल्पों तक पृथ्वी का शासन-भार धारण करते रहो—" ऐसा कह कर स्वयमेव आभूषण, वस्त्र, पुष्प और अंगराग (विलेपन) आदि से अच्छी तरह से पूजा (सम्मान) करके [चन्द्रापीड को] बिदा किया।

---

१. ...व्यसनिनी।　　२. दंष्ट्रावलेन।　　३. क्वचित्तु 'च' इदं नास्ति।

चन्द्रापीडस्य स्वावासं प्रति गमनम्

विसर्जितश्चोत्थायान्तःपुरं प्रविश्य दृष्ट्वा[1] वैशम्पायनमातरं मनोरमाभिधानां निर्गत्य समारुह्येन्द्रायुधं पित्रा पूर्वकल्पितं प्रतिच्छन्दकमिव राजकुलस्य, द्वारावस्थित-सित-पूर्ण-कलशम्, आबद्ध-हरित-वन्दनमालम्,[2] उल्लसित-सितपताकासहस्रम्, अभ्याहतमङ्गल-तूर्य्य-रव-परिपूरित-दिगन्तरम्, उपरचित-विकच-कमल-कुसुम-प्रकरम्, अचिरकृताग्निकार्यम्, उज्ज्वल-विविक्त-परिजनम्, उपपादिताशेष-गृहप्रवेश-मङ्गलं कुमारो भवनं जगाम। गत्वा च

विसर्जित इति। विसर्जितः = गृहगमनायाभ्यनुज्ञातः, च, चन्द्रापीडः, उत्थाय = उत्थानं कृत्वा, अन्तःपुरम् = अवरोधम्, प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, मनोरमामिधानाम् = मनोरमाख्याम्, वैशम्पायनमातरम् = स्वसहाध्यायि-जननीम्, दृष्ट्वा = विलोक्य, निर्गत्य = निःसृत्य, इन्द्रायुधम् = एतन्नामानमश्वम्, समारुह्य = आरूढो भूत्वा, आरोहणं विधाय, पित्रा = जनकेन तारापीडेन, पूर्वकल्पितम् = प्रागेव निर्मितम् (= निर्मापितम्), निर्धारितं वा, राजकुलस्य = राजभवनस्य, प्रतिच्छन्दकम् = प्रतिरूपकम्, इव, "भवनं जगाम" इत्यत्रान्वयः। ["प्रतिरूपं प्रतिच्छदः।" इति त्रिकाण्डशेषः। अत्र द्वितीयान्तानि पदानि 'भवनम्' इत्यस्य विशेषणानि बोध्यानि।] द्वारेत्यादिः—द्वारे (= प्रतिहारे) अवस्थिताः (= संस्थापिताः, निहिताः) सिताः (= शुभ्राः) पूर्णाः (= जलादिभृताः) कलशाः (= घटाः) यस्मिन् तत् तादृशम्। आबद्धेत्यादिः—आबद्धाः (= संदानिताः, योजिताः) हरिताः (= पलाशवर्णाः) वन्दनमालाः (= माङ्गल्यानि पुष्पमाल्यानि) यस्मिन् तत् तादृशम्। ["तोरणार्द्धे च माङ्गल्यं दाम वन्दनमालिका।' इत्यभिधानचिन्तामणिः।] भानुचन्द्रस्तु—'चन्दनमाला' इति पपाठ। उल्लसितेत्यादिः—उल्लसितम् (= उच्छ्रितम्) सितानाम् (= शुभ्राणाम्) पताकानाम् (= केतूनाम्) सहस्रम् (= दशशती) यस्मिन् तत् तादृशम्। अभ्याहतेत्यादिः—अभ्याहतानि (= वादितानि, ताडितानि) यानि मङ्गलतूर्याणि (= मङ्गलसूचकवाद्यविशेषाः) तेषां रवेण (= ध्वनिना) परिपूरितानि (= भृतानि, व्याप्तानि) दिगन्तराणि (= दिशामध्यदेशाः) यस्मिन् तत् तादृशम्। उपरचितेत्यादिः - उपरचितः (= निर्मितः) विकचानाम् (= विकसितानाम) कमलकुसुमानाम् (= पङ्कजपुष्पाणाम्) प्रकरः (= समूहः) यस्मिन् तत् तादृशम्। अचिरेत्यादिः—अचिरम् (= सद्य एव) कृतम् (= विहितम्) अग्निकार्यम् (= अग्निहोत्रादिकम्) यस्मिन् तत् तादृशम्। उज्ज्वलेत्यादिः—उज्ज्वलाः (= निर्मलाः) विविक्ताः (= पवित्राः भिन्नभिन्नरूपाः वा) परिजनाः (= परिचारकाः) यस्मिन् तत् तादृशम्। उपपादितेत्यादिः—उपपादितानि (= सम्पादितानि, राज्ञैवेति शेषः) अशेषाणि (= सकलानि) गृहप्रवेशमङ्गलानि (= गृहप्रवेशकालिकाभ्युदयकृत्यानि वास्तुपूजाप्रभृतीनि) यस्मिन् तत् तादृशम्। भवनम् = सदनम्, जगाम = ययौ, 'कुमार = चन्द्रपीडः' इत्याद्यन्वयस्तु पूर्वमेव प्रदर्शितः।

चन्द्रापीड का अपने आवास में प्रस्थान

वहाँ से विदा किया गया (वह) उठकर अन्तःपुर में जाकर वैशम्पायन की मनोरमा नाम वाली माता का दर्शन करके बाहर निकल कर इन्द्रायुध अश्व पर आरूढ़ होकर पिता (तारापीड) द्वारा बनवाये गये भवन में कुमार चन्द्रापीड गया, जो (भवन) मानों राजभवन का प्रतिबिम्ब (पूर्ण रूप से एक समान) था, जिस (भवन) के दरवाजे पर सफेद (उज्ज्वल) और [जलादि से] भरे हुए कलश रखे हुए थे, जिस (भवन) में हरी-हरी ताजी वन्दनवार बाँधी गई थीं, (हरे चन्दन की मालायें बाँधी गई थीं।) जिसमें हजारों सफेद पताकायें फहरा रहीं थीं, जिसमें बजाये गये मंगल

१. दृष्ट्वा च। २. " हरिचन्दन'''हरितचन्दन'''।

श्रीमण्डपावस्थिते शयने मुहूर्त्तमुपविश्य सह तेन राजपुत्रलोकेनाऽभिषेकादिकमशनावसान-[1] मकरोद्दिवस-विधिम् । अभ्यन्तरे च शयनीय-गृह[2] एवेन्द्रायुधस्यावस्थानमकल्पयत् ।

प्रदोषवर्णनम्

एवंप्रायेण चास्योदन्तेन तदहः परिणतिमुपययौ । गगनतलादवतरन्त्या दिवसश्रियः

गत्वेति । गत्वा = प्रविश्य, गमनं कृत्वा, च, श्रीमण्डपावस्थिते—श्रीमण्डपः (= शोभाशाली सभाभवनम्) तत्र अवस्थिते (= स्थापिते) शयने = पर्यङ्के, मुहूर्तम् = नाडिकाद्वयम्, स्वल्पकालम्, उपविश्य = उपवेशनं कृत्वा, स्थित्वा, तेन = पूर्ववर्णितेन, स्वसार्धमागतेन, राजपुत्रलोकेन = नृपसुतजनेन, सह = सार्धम्, अभिषेकादिम्—अभिषेकः (= स्नानम्) आदिः यस्य, आदौ वा यस्मिन् तम्, अशनावसानम्—अशनम् (= भोजनम्) अवसाने (= अन्ते) यस्य तं तादृशम्, दिवसविधिम् = दिनकार्यम्, अकरोत् = चकार ।

अभ्यन्तर इति । अभ्यन्तरे = मध्ये, शयनीयगृहे = शयनभवने, एव, इन्द्रायुधस्य = एतन्नामकस्य-स्वतुरङ्गमस्य, अवस्थानम् = अवस्थितिम्, अकल्पयत् = अन्वतिष्ठत्, अकारयत् । एवञ्चाश्वं प्रति मित्रवदाचरणमकरोदिति तस्य प्रेमातिशयो द्योत्यते ।

एवंप्रायेणेति । च = अपि चेत्यर्थः, एवं प्रायेण = इत्थम्भूतेन, अस्य = चन्द्रापीडस्य, उदन्तेन = वृत्तान्तेन, तत् = पूर्वोक्तम्, अहः = दिनम्, परिणतिम् = परिणामम्, अवसानमिति भावः, ययौ = उपजगाम । प्रदोषसमयः समायात इति भावः ।

गगनेति । रविमण्डलम् = सूर्यबिम्बम्, [कर्तृपदम्] उन्मुक्तपादम् = उन्मुक्ताः (= ऊर्ध्वं त्यक्ताः) पादाः (= किरणाः) येन तत् तादृशं सत् । गगनतलात् = आकाशतलात्, अवतरन्त्याः = अधो देशे आगच्छन्त्याः, दिवसश्रियः = दिनलक्ष्म्याः, स्वप्रभापिहितरन्ध्रम्—स्वप्रभया (= स्वकान्त्या,

---

वाद्यों की आवाजों से दिशाओं के मध्य भाग व्याप्त हो गये थे, जिसमें खिले हुए कमल के फूलों के समूह (गुलदस्ते) बनाये गये थे; जिसमें कुछ ही पहले [हवन आदि] अग्निकार्य सम्पादित हुआ था, जिसमें उज्ज्वल और पवित्र अथवा भिन्न भिन्न स्वरूप वाले सेवक थे, जिसमें गृहप्रवेश-सम्बन्धी सम्पूर्ण मंगलकृत्य किये जा चुके थे । [ऐसे नवीन भवन में कुमार चन्द्रापीड ने प्रवेश किया ।] और वहाँ पहुँच कर सभामण्डप (श्रीमण्डप) में रखे गये पलंग पर कुछ देर के लिये बैठ कर उन (अपने साथ आये हुए) राजकुमारों के साथ स्नान से लेकर भोजन-पर्यन्त दैनिक कार्य किये । और उस शयनगृह के भीतर ही इन्द्रायुध अश्व (के विश्राम, निवास) का स्थान करवाया । [इन्द्रायुध से इतना प्रभावित हुआ था कि उसे अपने से अलग रखना चन्द्रापीड को सह्य नहीं था ।]

प्रदोष-वर्णन

और इसके इस प्रकार के उदन्त (घटनाओं) के साथ वह दिन बीत गया । सूर्य-मण्डल ऊपर की ओर पाद (किरणें, पैर) किये हुए ऐसे गिर पड़ा मानों आकाशतल से नीचे उतरती (आती) हुई दिनश्री का पद्मराग (मणिनिर्मित) नूपुर हो जिसने अपनी कान्ति से अपने छिद्र ढक लिये हों, [कोई व्यक्ति ऊपर से नीचे गिरते समय पैरों को ऊपर किये रहता है वैसे ही सूर्य भी अपनी किरणों

---

१. अभिषेकादिम् । २. ···इवशयनीयम् ।

पद्मरागनूपुरमिव स्वप्रभा-पिहित-रन्ध्रं रविमण्डलमुन्मुक्तपादं पपात। जलप्रवाह[1] इव रथचक्र-मार्गानुसारेण दिवसकरस्य वासरालोकः प्रतीचीं ककुभमगात्[2]। अभिनवपल्लवलोहिततलेन[3] करेणेवाधोमुखप्रसृतेन रविबिम्बेन[4] वासरः कमलरागशेषं ममार्ज। कमलिनीपरिमलपरि-चयागतालिमालाकुलित-कण्ठं कालपाशैरिव चक्रवाकमिथुनमाकृष्यमाणं विजघटे। करपुटैरा-

किरणपङ्क्त्या) पिहितम् (=आच्छादितम्) रन्ध्रम् (=छिद्रम्) यस्य तत् तादृशम्, पद्मरागनूपुरम्= लोहितमणिमयपादकटकम्, इव, पपात =स्रस्तम्, गगनादिति शेषः। नूपुरं प्रायः सच्छिद्रमेवेति सर्वजन-प्रसिद्धम्। स्वप्रभापिहितमित्यत्र स्वपदेन 'नूपुरस्य' ग्रहणम्। इवशब्दो जात्युत्प्रेक्षायाम्।

जलप्रवाह इति। वासरालोकः = दिनप्रकाशः, जलप्रवाहः=वारिपूरः, इव, दिवसकरस्य= सूर्यस्य, रथचक्रमार्गानुसारेण=स्यन्दनचक्रस्य वर्त्मानुसारेण, प्रतीचीम्=पश्चिमाम्, ककुभम्=दिशाम्, अगात् = अगमत्। जलप्रवाहपक्षे—रथचक्रखातमार्गेणेत्यर्थः, जलस्य निम्नदेशगामित्वादिति भावः। उपमात्र।

अभिनवेति। वासरः = दिवसः, अभिनवेत्यादिः—अभिनवपल्लवम् (=नूतनकिसलयम्), इव, लोहिततलम् (=रक्ततलम्) यस्य तेन तादृशेन, करेण=हस्तेन, इव, अधोमुखप्रसृतेन=निम्नमुख-विस्तृतेन, रविबिम्बेन = सूर्यमण्डलेन, अशेषम्=समस्तम्, कमलरागम्=पङ्कजरक्तिमानम्, ममार्ज = प्रोञ्छितवान्, दूरीचकारेति भावः। अन्योपि कश्चित् तथाविधेन करेण कस्यापि रागादिकं दूरीकरोति। अत्र 'अभिनवपल्लवलोहितेन, अधोमुखप्रसृतेन' एतद्द्वयमपि करस्य रविबिम्बस्य चोभयोः विशेषणं बोध्यम्। अत्रोत्प्रेक्षा।

कमलिनीति। कमलिनीत्यादिः—कमलिनी (=पद्मिनी) तस्याः यः परिमलः (= उत्कृष्ट-गन्धः) तस्य परिचयेन (=ज्ञानेन) आगता (=सम्प्राप्ता) या अलिमाला (=भ्रमरपङ्क्तिः) तया आकुलितः (=व्याप्तः, गृहीतः) कण्ठः (= गलदेशः) तस्य तत्, अत एव, कालपाशैः=कृष्णबन्धन-रज्जुभिः, आकृष्यमाणम् = विधीयमानाकर्षणम्, इव, चक्रवाकमिथुनम्=रथाङ्गाह्वयद्वन्द्वम्, विजघटे = वियुक्तं बभूव। अत्राप्युत्प्रेक्षा।

करपुटैरिति। दिवसकर-बिम्बम् = सूर्यमण्डलम्,कर्तृपदम्, आदिवसान्तम्=दिनावसानपर्यन्तम्,

को ऊपर किये हुए गिर पड़ा, अस्त हो गया।] दिन का प्रकाश जल के प्रवाह के समान सूर्य के रथ के पहिए के मार्ग के अनुसार (अनुसरण करता हुआ) पश्चिम दिशा की ओर चला गया। दिन ने नये पल्लव के समान लाल तल वाले नीचे की ओर फैले हुए हाथ के समान [नव पल्लव-सदृश लालतल वाले और नीचे की ओर फैले हुए] सूर्यमण्डल द्वारा कमलों की सम्पूर्ण लालिमा पोंछ दी। [अथवा दिन ने नीचे की ओर फैले हुए तथा नवपल्लव-सदृश सूर्यमण्डल द्वारा, मानों कि नवपल्लव के समान लाल हथेली वाले तथा नीचे की ओर फैलते=बढ़ते हुए हाथ द्वारा, कमलों की सारी लालिमा पोंछ डाली गई।] कमलिनी की सुगन्ध के परिचय (पहचान) से आये हुए भौंरों की पंक्तियों (समूहों) से घिरे हुए कण्ठ वाले चकवी-चकवे के जोड़े ऐसे अलग-अलग हो गये मानों कि उन्हें कालपाश (यम के फन्दों) ने खींच कर अलग-अलग कर दिया हो। सूर्यबिम्ब ने किरण रूपी अञ्जलियों द्वारा दिन

१. सलिलप्रवाह इव। २. दिशमगमत्।
३. अभिनवपल्लववल्लोहितकरेण। ४. दिवसकरबिम्बेन।

दिवसान्तमापीतमरविन्द-मधुरसमिव रक्तातपच्छलेन गगनगमनखेदादिव दिवसकरबिम्बं ववाम।

क्रमेण च प्रतीची-कर्णपूररक्तोत्पले लोकान्तरमुपगते भगवति गभस्तिमालिनि, समुल्लसितायामम्बर-तडाग-विकच-कमलिन्यां सन्ध्यायाम्, कृष्णागुरुपङ्क-पत्त्रलतास्विव

करपुटैः = किरणपुटैः, एव, करपुटैः = अञ्जलिभिः, आपीतम् = सम्यक् पानविषयीकृतम्, अरविन्दमधुरसम् = कमलपुष्पमधुद्रवम्, गगनगमनखेदात्—गगने (=आकाशे) यद् गमनम् (=संचरणम्) तेन यः खेदः (= श्रमः) तस्मात्, इव, कारणात्, रक्तातपच्छलेन—रक्तः (=लोहितः) यः आतपः (=रवि-प्रकाशः) तस्य छलेन (= मिषेण), ववाम = अवमत्, उद्वमनं चकार। मार्गगमनश्रमातिरेकात् परिश्रान्तस्य पीतजलादेर्वमनं यथा भवति तथैव अत्र सूर्यस्य रक्तातपच्छलेन जातमिति भावः।

[अत्र किरण-हस्तयोर्भेदेऽपि श्लेषमाध्यमेनाभिन्नत्वाध्यवसायात् अतिशयोक्तिः, 'गमनखेदादिवे' त्यत्र हेतूत्प्रेक्षा, 'रक्तातपच्छलेने' त्यत्रापह्नुतिश्च, 'ववामे' त्यत्र सापह्नुचा क्रियोत्प्रेक्षा चे-त्येतेषां परस्पर-मङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कार इति तत्त्वविदः।]

क्रमेणेति। क्रमेण = परिपाट्या, च, प्रतीचीत्यादिः—प्रतीची (=पश्चिमा दिक्) तस्याः, कर्णपूरम् (=श्रवणाभरणम्), एव, रक्तोत्पलम् (=लोहितकुवलयम्) तद्रूपे, भगवति=ऐश्वर्यसम्पन्ने, गभस्तिमालिनि=अंशुमालिनि, सूर्ये इत्यर्थः, लोकान्तरम् = अन्यद्भुवनम्, अस्ताचलमित्यर्थः, उपगते = प्राप्ते सति। अत्र सूर्ये रक्तोत्पलत्वारोपः शाब्दः, प्रतीच्यां च स्त्रीत्वारोपः आर्थं इत्येकदेशविवर्ति रूपक-मत्र द्रष्टव्यम्।

समुल्लसितायामिति। अम्बरेत्यादिः—अम्बरम् (=गगनम्) एव, तडागः (=महाह्रदः) तस्मिन् तस्य वा, विकचकमलिन्याम् (=विकसितपद्मिन्याम्, लोहितत्वात्) सन्ध्यायाम्=सायंवेलायाम्, समुल्लसितायाम्=उल्लासं प्राप्तायाम्, शोभमानायामिति भावः। अत्राम्बरे तडागत्वारोपः सन्ध्यायां विकचकमलिनीत्वारोपे निमित्तमिति परस्परितरूपकमलङ्कार इत्याहुः।

कृष्णेति। कृष्णागुर्वित्यादिः—कृष्णागुरुः (=श्यामकाकतुण्डः) तस्य पङ्कः (=कर्दमः) तस्य पत्त्रलतासु (=पत्रसदृशचिह्नविशेषेषु), इव, तिमिरलेखासु=अन्धकारपङ्क्तिषु, दिशामुखेषु =

की समाप्ति तक अर्थात् दिन भर पिये गये कमलों के मधुरस को लाल-लाल (सायंकालीन) धूप के व्याज से, मानों आकाश में [अत्यधिक] चलने की थकान के कारण, उगल दिया हो, [जैसे कोई बहुत थका हुआ व्यक्ति वमन कर देता है वैसे ही सूर्यमण्डल ने भी अतिशय चलने की थकान के कारण कमलों के मधुरस का वमन लाल किरणों के बहाने से कर दिया हो।]

और पश्चिमदिशारूपी नायिका के कर्णभूषणरूपी रक्तकमल के समान प्रतीत होने वाले भगवान् सूर्य के क्रमशः दूसरे लोक में चले जाने पर, अस्त हो जाने पर,(अर्थात् जब सूर्य अस्त हो गये), आकाशरूपी तालाब (सरोवर)में खिली कमलिनीरूपी सन्ध्या के उल्लसित (शोभित)हो जाने पर (अर्थात् जब सन्ध्या हो गई), काले अगुरु के द्रव से बनी हुई पत्त्रलताओं के समान अंधकार 'रेखाओं के दिशाओं के मुखों में

१. दिवसान्तम्। २. '''म्बरतल'''। ३. '''तडाक'''।

तिमिरलेखासु स्फुरन्तीषु दिशामुखेषु,[1] अलिकुलमलिनेन[2] कुवलयवनेनेव रक्तकमलाकरे तिमिरेण[3] उत्सार्यमाणे सन्ध्यारागे, कमलिनी-निपीतमातपमुन्मूलयितुमन्धकार-कर-पल्लवेष्विव[4] प्रविशत्सु[5] रक्तकमलोदराणि मधुकरकुलेषु, शनैः शनैश्च निशाविलासिनीमुखावतंस-पल्लवे गलिते सन्ध्यारागे, दिक्षु[6] विक्षिप्तेषु सन्ध्यादेवतार्च्चन[7]-बलिपिण्डेषु, शिखर-देश-लग्नतिमिरास्व-

ककुभां भागेषु आननेषु च, स्फुरन्तीषु = प्रसरन्तीषु, सतीषु । इह तिमिरलेखासु पत्रलतासादृश्यं शाब्दम्, ककुभां स्त्रीसादृश्यन्तु आर्थमित्येकदेशविवर्त्ति रूपकमलङ्कारः । ["दिशस्तुः ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः ।" इति (१।३।१) अमरानुसारेण ककुप्-शब्दस्य हलन्ततया 'ककुभानाम्' इति केषांचिल्लेखनं नोचितम् ।

अलिकुलेति अलिकुलेत्यादिः—अलिकुलम् (= भ्रमरवृन्दम्) तेन मलिनम् (= मलीमसम्) तेन तादृशेन, कुवलयवनेन = नीलकमलसमूहेन, रक्तकमलाकरे = रक्तारविन्दसरोवरे, इव, अलिकुलवन्मलिनेन, तिमिरेण = अन्धकारेण, सन्ध्यारागे = सायन्तनलौहित्ये, उत्सार्यमाणे = दूरीक्रियमाणे सति । अत्रोपमा । वनशब्दो लक्षणया समूहार्थकः ।

कमलिनीति । कमलिनीनिपीतम्—कमलिनीभिः (= पद्मिनीभिः) निपीतम् (= निःशेषेण पानविषयीकृतम्) आतपम् (= सूर्यालोकम्, घर्ममित्यर्थः) उन्मूलयितुम् = स्वशत्रुत्वेन समूलं विनाशयितुम्, अन्धकारकरपल्लवेषु—अन्धकाराणाम् (= तिमिराणाम्) करपल्लवेषु (= विस्तारितहस्तेषु), इव, मधुकर-कुलेषु = भ्रमरसमुदायेषु रक्तकमलोदराणि—रक्तकमलानाम् (= लोहितपङ्कजानाम्) उदराणि (= अभ्यन्तराणि) प्रविशत्सु = प्रवेशं विदधत्सु, सत्सु । अत्रोत्प्रेक्षा ।

शनैरिति । निशेत्यादिः-निशा (= रात्रिः) एव विलासिनी (= विलासवती, आभूषणप्रिया नायिका) तस्याः यत् मुखम् (= आननम्, आद्यभागश्च) तस्य अवतंसपल्लवे (= अलङ्कारीभूतकिसलयस्वरूपे) सन्ध्यारागे (= सायन्तनलौहित्ये), शनैः शनैः = मन्दं मन्दम्, गलिते = दूरीभूते च सति । अत्र रूपकमलङ्कारः ।

दिक्ष्विति । सन्ध्येत्यादिः—सन्ध्यायाम् (= सायंकाले) यानि देवतार्च्चनानि (= वारत्वादि-देवपूजाः) तेषां यद्वा—देवतार्चनार्थं बलिपिण्डेषु (= उपायनीभूतान्नपुष्पादि-द्रव्येषु) दिक्षु (=काष्ठासु) विक्षिप्तेषु (= विकीर्णेषु) सायं-सन्ध्या-साधकैरिति शेषः ।

फैल जाने पर, (अर्थात् जब चारो ओर अंधेरा फैल गया था) जैसे भौंरों के समूह द्वारा मलिन (काले किये गये) नीलकमलों का वन लाल कमलों के तालाब (सरोवर) को हटा देते हैं, अर्थात् उसे ढक लेते हैं वैसे ही भ्रमरसमूह के समान मलिन (काले) अन्धकार द्वारा सन्ध्या की लालिमा हटा दिये जाने पर, [सन्ध्या की लालिमा रक्त कमलों के तालाब जैसी थी, अन्धेरा भौरों के समूह के सदृश काला था । जैसे नीलकमलों की अधिकता से लालकमलों का तालाब छिपा दिया जाता है वैसे ही अन्धेरा की अधिकता से सायंकाल की लालिमा छिपा दी गई, हटा दी गई ।] कमलिनी द्वारा पी गई धूप को निकालने (उगलवाने) के लिए अन्धकार के करपल्लवों के समान भौरों के समूह के रक्तकमलों के उदरों (मध्य भाग) में प्रवेश कर लेने पर, (अर्थात् जब भौरें कमलों के भीतर प्रविष्ट हो गये) और धीरे-धीरे रात्रिरूपी नायिका के मुख के आभूषणभूत पल्लव (रूपी) सन्ध्याराग (सायंकालीन लालिमा) के

---

१. दिशां मुखेषु । २. अलिकुलेन मलिनेषु । ३. तिमिरनिकरेण । ४. '''अन्धकारपल्लवेषु । ५. विशत्सु । ६. दिक्षु विक्षु । ७. '''अर्चना'''।

नारूढमयूरास्वपि मयूराधिष्ठितास्विव मयूरयष्टिषु,गवाक्षविवरनिलीनेषु प्रासादलक्ष्मीकर्णोत्पले-[1]
ष्विव पारावतेषु, विगत-विलासिनीसंवाहन-निश्चल-[2]काञ्चन-पीठासु[3] मूकीभूतघण्टास्वरास्वन्तः-[4]
पुरदोलासु,भवनसहकार-शाखावलम्बि-[5]पञ्जरेषु विगतालापेषु शुकसारिकानिवहेषु, सङ्गीत-[6]वि-

शिखरेति । शिखरेत्यादिः—शिखरदेशेषु (=ऊर्ध्वभागेषु) लग्नम् (=व्याप्तम्, सम्बद्धम्) तिमिरं (=तमः) यासां तासु, अत एव, अनारूढेत्यादिः—अनारूढाः (= अनाश्रिताः) मयूराः (=बर्हिणः) यासु तासु तादृशीषु, अपि, मयूरयष्टिषु = कलाप्यवस्थानदण्डेषु, मयूराधिष्ठितासु = मयूराश्रितासु, इव, सतीषु । तासु यष्टिषु ऊर्ध्वभागलग्नस्यान्धकारस्यैव मयूररूपेण प्रतीतिरिति भावः । अत्र पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गालङ्कारेण क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारस्य सङ्करः ।

गवाक्षेति । प्रासादेत्यादिः—प्रासादस्य (= राजभवनस्य) या श्रीः (=लक्ष्मीः, शोभा) तस्याः कर्णोत्पलेषु (=श्रवणालङ्कारीभूतनीलकमलेषु), इव, पारावतेषु = कपोतेषु, गवाक्षविवर-निलीनेषु—गवाक्षविवरेषु (= वातायनरन्ध्रेषु) निलीनेषु (= मौनीभूय स्थितेषु, सत्सु) गवाक्षाः कर्णतुल्योर्ध्वदेशस्थाः, कपोताश्च तदुत्पलतुल्याः प्रतीयन्ते इति भावः । अत्रोत्प्रेक्षा ।

विगतेति । विगतेत्यादिः— विगतम् (= दूरीभूतम्, अपगतम्) कामिनीनाम् (= रमणीनाम्) यत् संवाहनम् (=समुद्वहनम्) तेन हेतुना निश्चलानि (=स्थिराणि) काञ्चनपीठानि (=सौवर्णा-सनानि) यासां तासु तादृशीषु, अन्तःपुरदोलासु=अवरोधप्रेङ्खासु, मूकीभूतघण्टास्वरासु—मूकीभूताः (= निःशब्दाः) घण्टास्वराः (= घण्टिकाध्वनयः) यासां तासु तादृशीषु सतीषु । दोलानामानन्दं विहाय कामिन्यः स्वस्वशयनादिकक्षेषु गता इति भावः ।

भवनेति । भवनेत्यादिः—भवनस्य (=राजसदनस्य) ये सहकाराः (=आम्रवृक्षाः) तेषां शाखाऽवलम्बीनि (=स्कन्धाश्रितानि) पञ्जराणि (=पिञ्जराणि) येषां तेषु तादृशेषु, शुकसारिका-निवहेषु=कीर-सारिका-समूहेषु, विगतालापेषु—विगताः (=अपगताः, समाप्ताः) आलापाः (=वार्त्ताः) येषां तेषु, सत्सु ।

सङ्गीतेति । सङ्गीतेत्यादिः—सङ्गीतम् (=गीतवाद्यनृत्यात्मकम्) तस्य यो विरामः (=अव-

दूर हो जाने पर,(अर्थात् जब निशारूपी स्त्री के मुख के आभूषणभूत नवपल्लव के समान सन्ध्या की लालिमा हट चुकी थी),दिशाओं में (चारो ओर) सन्ध्यादेवी के पूजा के बलिपिण्डों के बिखेरे जाने पर,(अर्थात् जब सायं सन्ध्या की पूजा के पिण्ड इधर उधर रखे जा चुके थे), मयूरयष्टियों (मोर बैठने के डंडों) के मयूरों द्वारा न चढ़े (बैठे) हुए होने पर भी, ऊपरी भाग में व्याप्त अन्धेरा वाली [होने के कारण] मयूरों से युक्त (मयूरों से आरूढ़) सी हो जाने पर, (अर्थात् जब ऊपरी भाग में अन्धेरे से युक्त होने से, मयूरयष्टियां मयूर न बैठने पर भी ऐसी लग रहीं थीं मानों उन पर मयूर बैठे हुए हों ।) कबूतरों के, मानों राजभवन की लक्ष्मी के स्वर्णकमलों के,झरोखों के छिद्रों में छिप जाने पर,(अर्थात् जब कबूतर जो मानों प्रासादलक्ष्मी के कर्णों के कमल हों, झरोखों के छिद्रों में छिप कर बैठ गये थे , विलासिनी स्त्रियों का झूलना (संवाहन) समाप्त हो जाने से निश्चल हुई स्वर्णपट्टिका (सोने के आसन) वाले, अन्तःपुर के झूलों के मूक । बन्द) हुए घंटियों के स्वरवाली हो जाने पर, (अर्थात् झूले हिलना बन्द हो जाने से उनमें लगी घंटियों की आवाज भी बन्द हो गयी), भवन के भीतर के आम के पेड़ों की शाखाओं में

१. क्वचित् 'इव' नास्ति । २. '''निश्चलासु''' । ३. काञ्चनपीठिकासु ।
४. '''घण्टासु, घण्टारवासु । ५. '''अवलम्बित । ६. सङ्गीतक'''।

रामविश्रान्तरवासूत्सार्य्यमाणासु वीणासु, युवति-नूपुर-शब्दोपशमनिभृतेषु भवनकलहंसेषु, अप-नीयमान-कर्णशङ्ख[1]-चामर-नक्षत्रमाला-मण्डनेषु मधुकरकुल-शून्य-कपोलभित्तिषु मत्तवारणेषु, प्रदीप्यमानेषु राजवल्लभ-तुरङ्ग[2]म-मन्दुराप्रदीपेषु. प्रविशन्तीषु प्रथमयाम-कुञ्जरघटासु, कृत-स्वस्त्ययनेषु[3] निष्क्रामत्सु पुरोहितेषु, विसर्जित-राजलोक-विरलपरिजनेषु विस्तारितेष्विव राज-

सानम्) तेन विश्रान्तः (=शान्तः, अपगतः) रवः (=ध्वनिः) यासां तासु तादृशीषु, वीणासु = वल्लकीषु, उत्सार्यमाणासु=दूरीक्रियमाणासु, वादकानां समीपादिति शेषः।

युवतीति। भवनकलहंसेषु=गृहपरिपालितराजहंसेषु, युवतीत्यादिः—युवतीनाम् (=तरुणीनाम्) यानि नूपुराणि (= पादकटकानि) तेषां यः शब्दः (= ध्वनिः) तस्य य उपशमः (= शान्तिः, विरामः) तेन निभृतेषु (=निश्चलेषु,मूकीभूतेषु) सत्सु। ['कादम्बः कलहंसः स्यात्।' इत्यमरः।]

अपनीयमानेति। अपनीयमानेत्यादिः—अपनीयमानानि (=उत्सार्यमाणानि, दूरीक्रियमाणनि) कर्णशङ्खः (= श्रोत्रकम्बुः), [भानुचन्द्रस्तु—दृष्टिदोषप्रशमार्थं कर्णे बद्धः शङ्खः।] चामरम् (=प्रकीर्णकम्) नक्षत्रमाला (=सप्तविंशतिमौक्तिकमाला)—एवंविधानि मण्डनानि (=आभूषणानि) येषां येषु वा तेषु तादृशेषु। मत्तवारणेषु (= मत्तगजेषु) मधुकरेत्यादिः—मधुकराः (=भ्रमराः) तेषां कुलानि (=समूहाः) तैः शून्याः (=रहिताः) कपोलभित्तयः (= गण्डस्थलानि) येषां तेषु, सत्सु। [नक्षत्रमालालक्षणम्—"सैव नक्षत्रमाला स्यात् सप्तविंशतिमौक्तिकैः।"] सायङ्काले भ्रमरा गजगण्डस्थलानि परित्यज्य गता इति भावः।

प्रदीप्यमानेष्विति। राजवल्लभेत्यादिः—राजवल्लभाः (= नृपप्रियाः) ये तुरङ्गमाः (= अश्वाः) तेषां मदुरा (= शाला) तस्यां तस्या वा प्रदीपेषु (= दीपकेषु), प्रदीप्यमानेषु (=प्रज्ज्वाल्यमानेषु) सत्सु।

प्रविशन्तीष्विति। प्रथमेत्यादिः—प्रथमयामे (= आद्यप्रहरे) याः कुञ्जरघटाः (=हस्तिसमूहाः) तासु, प्रविशन्तीषु=प्रवेशं कुर्वतीषु, सतीषु।

कृतेति। कृतेत्यादिः—कृतम् (= विहितम्, अनुष्ठितम्) स्वस्त्ययनम् (= विघ्नोपशमनविधानम्) यैः तेषु तादृशेषु, पुरोहितेषु=पुरोधस्सु, निष्क्रामत्सु=निर्गच्छत्सु, सत्सु।

लटकते हुए पिंजरो [में रहने] वाले तोतों और मैनाओं के समूह के आलाप (परस्पर बातचीत) से रहित हो जाने पर, (अर्थात् जब भवनों में आम के पेडों में लटके हुए पिंजरों में स्थित तोते मैना आपस में बोलना बन्द कर चुके थे), संगीत के समाप्त हो जाने से शान्त (बन्द) हो गयी ध्वनिवाली वीणाओं के हटा दिये जाने पर, युवतियों के नूपुरों की ध्वनि के बन्द हो जाने से भवन के (पालतू) कलहंसों के चुप (शान्त) हो जाने पर, मत्त हाथियों के कर्णशंख (कानों के सजावट के शंख), चामर, नक्षत्रमाला (२७ मोतियों से गुंथी माला) आदि आभूषणों के हटा दिये जाने पर (तथा) भौरों के समूह से रहित गण्डस्थल वाले हो जाने पर, राजा के प्रिय घोड़ों की घुड़शाल के प्रदीपों के जला दिये जाने पर, [रात के] पहले पहर में (खड़े किये जाने वाले) हाथियों के समूह के प्रविष्ट होने लगने पर, पुरोहितों के स्वस्तिवाचन करने के बाद बाहर निकलने पर, राजाओं के समूह के बिदा हो जाने के कारण थोड़े से सेवकों के रह जाने से राजभवन के कमरों के मध्यभागों के विस्तारयुक्त (फैले हुए) से

१. '''मण्डलपिच्छेषु, मण्डलेषु। २. तुरङ्ग'''। ३. कृतराजस्वस्त्ययनेषु।

कुलकक्षान्तरेषु,प्रज्वलित-दीपिका-सहस्रप्रतिबिम्ब-चुम्बितेषु [1] कृत-विकच-चम्पकदलोपहारेष्विव मणिभूमि-कुट्टिमेषु, निपतित-दीपालोकासु रवि-विरहार्त्त-नलिनी-विनोदनागत-बालातपास्विव भवनदीर्घिकासु, निद्रालसेषु पञ्जरकेसरिषु, समारोपितकार्म्मुके गृहीतसायके यामिक इवान्तः-

विसर्जितेति । विसर्जितेत्यादिः—विसर्जितः (= विसृष्टः, गृहगमनायादिष्टः) यो राजलोकः (=सामन्तसमुदायः) तेन हेतुना विरलाः (=अल्पसंख्याः) परिजनाः (=परिचारकाः) येषु तेषु तादृशेषु, राजकुलेत्यादिः—राजकुलस्य (=नृपभवनस्य) कक्षान्तरेषु (=प्रकोष्ठाभ्यन्तरेषु), विस्तारितेषु=विस्तारं प्राप्तेषु, इव । लोकानामल्पत्वे कक्षाणामभ्यन्तरे स्थानप्राचुर्यदर्शनात् विस्तारित्वमिव प्रतीयते इति भावः । 'विस्तारितेष्विव' इत्यत्र पदार्थहेतुक-काव्यलिङ्गेन सङ्कीर्णा-क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः ।

प्रज्ज्वलितेति । प्रज्ज्वलितेत्यादिः—प्रज्ज्वलितानाम् (= प्रदीपितानाम्) दीपिकानाम् (=लघुदीपकानाम्) यत् सहस्रम् (=दशशती, प्रचुरम्) तस्य यानि प्रतिबिम्बानि (=प्रतिच्छायाः) तैः चुम्बितेषु (=संश्लिष्टेषु, सहितेषु), मणिकुट्टिमेषु =स्फटिकादिमणिनिबद्धभूमिषु, कृतेत्यादिः—कृतः (= विहितः) विकचैः (= विकसितैः) चम्पकदलैः (= चम्पकपुष्पपत्रैः) उपहारः (=निक्षेपः पूजादिकं वा) येषु तेषु, इव, सत्सु । अत्रापि पूर्ववत् क्रियोत्प्रेक्षैव सङ्कीर्णा ।

निपतितेति । निपतितदीपालोकासु—निपतितः (=प्रपतितः) दीपानाम् (=दीपकानाम्) आलोकः (=प्रकाशः) यासु तासु, भवनदीर्घिकासु=राजसदनाभ्यन्तरस्थितवापीषु, रविविरहेत्यादिः—रविविरहेण (=सूर्यवियोगेन) आर्त्ताः (=व्याकुलाः) याः नलिन्यः (=पद्मिन्यः) तासां विनोदनाय (=समाश्वासनाय) आगतः (=आयातः) बालातपः (=नवोदितसूर्यालोकः) यासु तासु तादृशीषु, इव, सतीषु । अत्र क्रियोत्प्रेक्षा, समासोक्तिः, काव्यलिङ्गञ्च इत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः ।

निद्रेति । पञ्जरकेसरिषु = पिञ्जरस्थसिंहेषु, निद्रालसेषु—निद्रया (= प्रमील्या) अलसेषु (=मन्थरेषु) सत्सु ।

समारोपितेति । समारोपितम् (= अधिज्यं कृतम्) कार्मुकम् (= धनुः) येन तस्मिन् तादृशे, गृहीतसायके—गृहीताः (=आत्ताः) सायकाः (=बाणाः) येन तस्मिन् तादृशे, मकरकेतौ=कामदेवे, यामिके=प्राहरिके जने, इव, अन्तःपुरप्रविष्टे—अन्तःपुरे (=अवरोधे) प्रविष्टे (=कृत-

हो जाने पर,(अर्थात् जब राजा लोग चले गये तो उनकी सेवा में लगे हुए अधिक सेवक भी छूट गये,अतः लोगों से भरे कमरों में अब अधिक स्थान दिखाई देने के कारण मानों उनका विस्तार=फैलाव सा कर दिया गया),जलाए गये हजारों दीपों के प्रतिबिम्ब से युक्त मणिजटित फर्शों के ऐसे प्रतीत होने पर मानों खिले हुए चम्पा के फूलों की पंखुड़ियों से भेंट दी गई हो,भवन (के भीतर बनी हुई) वापियों के, गिरते हुए दीपकों के प्रकाश से युक्त होने पर,मानों सूर्य के वियोग से आर्त्त (व्याकुल,दुःखी) कमलिनियों के विनोद [= दुःख दूर करने] के लिए बाल आतप (प्रातःकालीन हल्की धूप) से युक्त हो जाने पर, (अर्थात् भवनस्थित वापियों में दीपकों का प्रतिबिम्ब पड़ने पर ऐसा लगने लगा मानों सूर्य के विरह से दुःखी कमलिनियों का दुःख दूर करने के लिए सखीतुल्य प्रातःकालीन हल्की धूप वहाँ आ गई हो),पिंजरों में कैद किये गये सिंहों के निद्रा से अलसाये हुए हो जाने पर, धनुष में प्रत्यञ्चा चढ़ाये हुए और बाण लिये हुए पहरेदार के समान (धनुष खींचे बाण लिए हुए) कामदेव के अन्तःपुर में प्रविष्ट हो जाने पर, (अर्थात् धनुष और बाण से तैयार पहरेदार के समान कामदेव जब अन्तःपुर में प्रवेश कर चुका था),

१. 'क्वचित्सु 'कृत' इदं नास्ति ।

पुरप्रविष्टे मकरकेतौ, अवतंसपल्लवेष्विव सरागेषु कर्णे क्रियमाणेषु सुरतदूतीवचनेषु,सूर्यकान्त[1]-मणिभ्य इव संक्रान्तानलेषु प्रज्वलत्सु[2] मानिनीनां शोकविधुरेषु हृदयेषु, प्रवृत्ते प्रदोषसमये चन्द्रापीडः प्रज्वलित-दीपिका-चक्रवाल-परिवारश्चरणाभ्यामेव राजकुलं गत्वा पितुः समीपे मूहूर्त्तं[3] स्थित्वा दृष्ट्वा च विलासवतीमागत्य स्वभवनमनेकरत्नप्रभा-शबलमुरगराज-फणामण्डल-

प्रवेशे) सति। यथा कश्चन प्राहरिको भृत्यः स्वकार्यनिर्वाहार्थं धनुरादिना सज्जीभूय आगच्छति तथैव कामदेवोऽपि समागत इति साम्यप्रतिपादनादुपमा स्पष्टा।

अवतंसेति। अवतंसपल्लवेषु=श्रोत्राभूषणीभूतकिसलयेषु, इव, सरागेषु=१. दूतीवचनपक्षे—अनुरागसहितेषु, २. पल्लवपक्षे—लौहित्यविशिष्टेषु, सुरतेत्यादिः– सुरते (=मैथुने) दूत्याः (=सन्देश-हारिण्याः) वचनेषु (=वाक्येषु), कर्णे (=श्रवणे), क्रियमाणेषु=विधीयमानेषु सत्सु। उपमात्र।

सूर्यकान्तेति। सूर्यकान्तमणिभ्यः = एतन्नाम्ना ख्यातेभ्यो मणिविशेषेभ्यः, सङ्क्रान्तानलेषु—संक्रान्तः (=सञ्चरितः,प्रतिबिम्बितः) अनलः (=अग्निः) येषु तेषु तादृशेषु, इव, शोकविधुरेषु=शोक-पीडितेषु, मानिनीनाम्=मानवतीनां नायिकानाम्, हृदयेषु=चित्तेषु प्रज्वलत्सु=कामानलेन दह्यमानेषु सत्सु। उत्प्रेक्षालङ्कारः।

प्रवृत्ते इति। प्रदोषसमये=रात्रिमुखे, प्रवृत्ते = सञ्जाते सति, पूर्ववर्णिते समये समागते सती-त्यर्थः। चन्द्रापीडः=एतन्नामा राजकुमारः, प्रज्वलितेत्यादि—प्रज्वलितम् (=प्रदीप्तम्) यत् दीपिका-चक्रवालम् (= प्रदीपवृन्दम्) तदेव परिवारः (= परिच्छदः, परिजनः) यस्य स तादृशः सन्, चरणाभ्याम्=पादाभ्याम्, एव, नतु वाहनेनाश्वादिना वा, राजकुलम् = राजसदनम् गत्वा=प्राप्य, पितुः = जनकस्य तारापीडस्य, समीपे = अन्तिके, मूहूर्त्तम् = किञ्चित्कालम्, स्थित्वा = उपविश्य, विलासवतीम्=एतन्नाम्नीं स्वजननीम्, दृष्ट्वा = विलोक्य, च, स्वभवनम्=स्वसदनम्, आगत्य=सम्प्राप्य, अनेकेत्यादिः—अनेकेषाम् (= बहूनाम्) रत्नानाम् (= मणीनाम्) प्रभाभिः (= कान्तिभिः) शबलम् (=चित्रवर्णम्), उरगेत्यादिः—उरगराजस्य (=सर्पाधिपतेः) फणामण्डलम् (= फणा-

लालिमा (राग)से युक्त कर्णभूषणभूत पल्लवों के समान प्रेम से युक्त सुरत (संभोग) की दूतियों के वचनों को कान में ग्रहण कर लिये जाने पर (सराग=लालिमा से युक्त, अनुराग से युक्त), [जैसे लालिमायुक्त कर्णभूषणभूत पल्लव कान में रखे जाते हैं वैसे ही सुरतदूती के प्रेम-परिपूर्ण वचन भी कान में सुने जाते हैं।] मानों सूर्यकान्त मणि से प्राप्त राई गई अग्निवाले मानिनी स्त्रियों के शोक से व्याकुल हृदयों के जलने लगने पर, (अर्थात् सूर्यकान्त मणि से जिनमें अग्नि पहुँचा दी गई है ऐसे मानवती स्त्रियों के शोकविधुर हृदय जब जलने लगे),—[इस प्रकार के] प्रदोष के समय के प्रवृत्त हो जाने पर (सायंकाल हो जाने पर) जलते हुए दीप-समूह रूपी सेवकों से घिरा हुआ चन्द्रापीड पैरों से (पैदल) ही राजभवन जाकर, पिता (तारापीड) के पास कुछ देर बैठ (रुक) कर और विलासवती (माता) का दर्शन करके अपने भवन में [वापस] आकर अनेक रत्नों की कान्ति (चमक) से शबल (रंग-बिरंगे,

१. क्वचित्तु 'कान्त' पदं नाप्यस्ति। २. ज्वलत्सु। ३. मुहूर्त्तकम्।

मिव हृषीकेशः शयनतलमधिशिश्ये ।

चन्द्रापीडस्य मृगयावर्णनम्

प्रभातायाञ्च निशीथिन्यां समुत्थाय समभ्यनुज्ञातः[1] पित्रा अभिनव-मृगयाकौतुकाकृष्य-[2] माण-हृदयो भगवत्यनुदित एव सहस्ररश्मावारुह्येन्द्रायुधम्, अग्रतो बालेयप्रमाणानाकर्षद्भिः[3] चामीकरशृङ्खलाभिः कौलेयकान्,जरद्व्याघ्रचर्म-शबल-वसन-कञ्चुक-धारिभिरनेक-वर्ण-पट्ट-[4]

समूहम्), हृषीकेशः = विष्णुः (हृषीकाणाम् = इन्द्रियाणाम्, ईशः = अधिपतिः), इव, शयनतलम् = शय्यातलम्, अधिशिश्ये = शयितवान् । "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" (पा० सू० १।४।४६) इत्यनेनाधारस्य कर्मत्वाद् द्वितीया बोध्या ।

इदानीं चन्द्रापीडस्य मृगयावर्णनमारभते—प्रभातायाञ्चेत्यादिना । च शब्दः किञ्चेत्यर्थे । निशीथिन्याम् = निशायाम्, प्रभातायाम् = विभातायाम्, व्यतीतायामित्यर्थः, समुत्थाय = उत्थानं कृत्वा, पित्रा = जनकेन तारापीडेन, समभ्यनुज्ञातः = प्रदत्तानुज्ञः, मृगयार्थमिति शेषः, अभिनवेत्यादिः— अभिनवा (= अपूर्वा, नवीना) या मृगया (= आखेटकम्) तस्या यत् कौतुकम् (= आश्चर्यम्) तेन आकृष्यमाणम् (= ह्रियमाणम्, प्रेर्यमाणम्) हृदयम् (= स्वान्तम्) यस्य स तादृशः, चन्द्रापीडः। भगवति = ऐश्वर्यवति, सहस्ररश्मौ = सहस्रांशुमालिनि सूर्ये, अनुदिते = उदयमप्राप्ते, एव, प्रत्यूषवेलाया-मिति भावः, इन्द्रायुधम् = एतन्नामकमश्वविशेषम्, आरुह्य = आरोहणं कृत्वा, बालेयप्रमाणान्—बालेयः (= रासभः) तत्प्रमाणान् (= तत्प्रमाणत्वविशिष्टान्, गर्दभसदृशविशालाकारान्) कौलेयकान् = सारमेयान्, चामीकरशृङ्खलाभिः = सुवर्णनिगडैः, अग्रतः = अग्रे, आकर्षद्भिः = आकर्षणं विदधद्भिः, [इमानि तृतीयान्तानि पदानि वक्ष्यमाणस्य 'श्वपोषकै' रित्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् । "चक्रीवन्तस्तु बालेया रासभा गर्दभाः खराः ।" इत्यमरः २।९।७७ । "कौलेयकः सारमेयः कुक्कुरो मृगदंशकः ।" इति चामरः २।१०।२१] जरदित्यादिः—जरन् (= वृद्धः) यो व्याघ्रः (= शार्दूलः) तस्य यत् चर्म (= त्वक्) तद्वत् शबलम् (= चित्रम्) वसनम् (= वस्त्रम्) तस्य (= तन्निर्मितम्) यत् कञ्चुकम् (= वारवाणम्) तद् धारयन्ति (= बिभ्रति) इति तैः । अनेकेत्यादिः—अनेकवर्णानि (= नाना-वर्णानि) यानि पट्टानि (= क्षौमवस्त्राणि) तेषां चीरिकाभिः (= क्षुद्रक्षुद्रखण्डैः) उद्बद्धाः

जगमगाते हुए पलंग पर उसी प्रकार सो गया जिस प्रकार विष्णु भगवान् (अनेक रत्नों की कान्ति से रंग बिरंगे शोभायमान) शेषनाग के फनों के समूह पर शयन करते हैं ।

चन्द्रापीड की मृगया (शिकार) का वर्णन

और रात बीत जाने पर (रात्रि के प्रभात के रूप में हो जाने पर) उठ कर पिता से (शिकार क्रीडा की) अनुमति प्राप्त किया हुआ, नये (सबसे पहले वाले) शिकार (खेलने) के कौतूहल से आकर्षित किये जाते हुए हृदय वाला (चन्द्रापीड) भगवान् सूर्य के उदित न होने पर ही (सूर्योदय से पहले ही), इन्द्रायुध घोड़े पर सवार होकर आगे दौड़ते हुए ऐसे कुत्तापालकों—जो (कुत्तापालक) गधों (बालेयों) के आकार के समान (विशाल) कुत्तों (कौलेयकों) को सोने की जंजीरों से [बाँध कर] खींच रहे थे, जो (कुत्तापालक) बूढ़े बाघ के चमड़े के समान रंगबिरंगे (चितकबरे) कपड़ों के कञ्चुक कमीजें या चोंगा पहने हुए थे, जिन्होंने अनेक रंग वाले रेशमी वस्त्र

१. अभ्यनुज्ञातः । २. ...प्रवकृष्यमाण...। ३. बालेयद्वीपिप्रमाणान्, आकर्षद्भिः । ४. ...शबलकञ्चुक...।

चीरिकोद्[1]बद्धमौलिभिरुपचितश्मश्रु-गहनमुखैरेककर्णविसक्त-हेमतालीपुटैराबद्ध-निबिडकक्षैरन-वरत-श्रमोपचितोरुपिण्डकैः[2] कोदण्डपाणिभिः[3] श्वपोषकैरनवरत-कृत-कोलाहलैः प्रधावद्भिर्द्विगुणी-क्रियमाण-गमनोत्साहो[4] बहु-गज-तुरग-पदाति-[5]परिवृतो वनं[6] ययौ।

तत्र चापटङ्कारभयचकितवनदेवताभिरर्धाक्षेणेव वीक्षितः ...

(= संयताः) मौलयः (= मस्तकस्थकेशाः) येषां तैस्तादृशैः । उपचितेत्यादिः—उपचितानि (= वृद्धानि, कर्त्तनाद्यभावादिति शेषः) यानि श्मश्रूणि (= आस्यलोमानि) तैः गहनानि (= सङ्कीर्णानि, व्याप्तानि) मुखानि (= आस्यानि) येषां तैस्तादृशैः । एकेत्यादिः—एकस्मिन् कर्णे (= श्रोत्रे) अवसक्तम् (= लग्नम्) हेम्नः (= सुवर्णस्य) तालीपुटम् (= कर्णाभरणविशेषः) येषां तैस्तादृशैः । आबद्धेत्यादिः—आबद्धाः (= नद्धाः) निबिडा (= दृढा) कक्षाः (= मध्यभागाः) यैस्तैस्तादृशैः । अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (= निरन्तरं यथा स्यात् तथा) यः श्रमः (= परिश्रमः, व्यायामादिः) तेन उपचिते (= वृद्धिं गते, सुपुष्टे) ऊरुपिण्डके: (= सक्थिपिण्डके) येषां तैस्तादृशैः । कोदण्डपाणिभिः - कोदण्डाः (= धनूंषि) पाणौ (= हस्ते) येषां तैस्तादृशैः । ['प्रहरणार्थेभ्यः निष्ठासप्तम्यौ' इति वचनात् कोदण्डशब्दस्य पूर्वनिपातः ।] अनवरतेत्यादिः—अनवरतम् (= निरन्तरं यथा स्यात्तथा) कृतः (= विहितः) कोलाहलः (= उग्रध्वनिः) यैः तैस्तादृशैः । प्रधावद्भिः = सत्वरं गच्छद्भिः, श्वपोषकैः = कुक्कुरपरिपालकैः भृत्यैः, द्विगुणीत्यादिः—द्विगुणीक्रियमाणः (= पूर्वतोऽधिकीक्रियमाणः, द्विरावृत्तीक्रियमाणः) गमने (= प्रयाणे) उत्साहः (= अध्यवसायः) यस्य स तादृशः । बहुगजेत्यादिः—बहुभिः (= अनेकैः) गजैः (= हस्तिभिः) तुरगैः (= अश्वैः) पदातिभिः (= पदयायिभिः सैनिकैः) च परिवृतः (= परिवेष्टितः) सन् चन्द्रापीडः, वनम् = काननम्, ययौ = जगाम ।

तत्रेति । तत्र = तस्मिन् वने, च । चापेत्यादिः—चापः (= धनुः) तस्य यः टङ्कारः (= चापोत्थध्वनिविशेषः) तस्माद् यद् भयम् (= भीतिः) तेन चकिता (= त्रस्ताः) याः वनदेवताः (= वनाधिष्ठातृदेव्यः) ताभिः अर्धाक्षेण (= अर्धसङ्कुचितनेत्रेण) वीक्षितः (= अवलोकितः) सन्, तादृशः चन्द्रापीडः । आकर्णान्तेत्यादिः—आकर्णान्तम् (= श्रवणान्तपर्यन्तम्) प्राक् आकृष्टाः (= आकर्षिताः) पश्चाच्च मुक्ताः (= त्यक्ताः) तैस्तादृशैः । तथा—विकचेत्यादिः—विकचानि (= विकसितानि) यानि कुवलयानि (= पङ्कजानि) तेषां यानि पलाशानि (= पर्णानि) तद्वत् कान्तिः (= शोभा)

के टुकड़ों से अपने सिर बाँध रखे थे, जिनके मुख (चेहरे) बढ़ी हुई दाढ़ी तथा मूँछ से गहन (खूब भरे हुए) थे, जिनके एक कान में सोने का तालीपुट (एक प्रकार का आभूषण) लटका (लगा) हुआ था, जिन्होंने दृढ़ता से (अच्छी तरह) कमर को [कस कर] बाँध रखा था, लगातार व्यायाम (शारीरिकश्रम) करने से जिनकी जाँघें और पिंडलियाँ स्थूल (पुष्ट) हो गईं थीं, जिनके हाथों में धनुष थे, और जो लगातार शोर मचा रहे थे—के द्वारा (शिकार के लिये) जाने का उत्साह दुगुना कराया जाता हुआ, बहुत से हाथी, घोड़े और पैदल सैनिकों द्वारा चारो ओर से घिरा हुआ वन की ओर चल दिया।

और वहाँ (वन में) धनुष की टंकार के भय से चकित (त्रस्त) वनदेवी द्वारा आधी (अधखुली) आँख से देखे गये, (चन्द्रापीड ने) कानों तक खींच कर फेंके गये, खिले हुए नीलकमल

१. अवबद्ध, ऊर्ध्वबद्ध । २. ...पिण्डकैः । ३. दण्डपाणिभिः ।
४. ...क्रियमाणोत्साहः, ...मनोत्साहः । ५. ...पदातिभिः । ६. वनं वनं । ७. ...अवकृष्ट...।

भित्ति-भिदुरैश्च नाराचैः, चाप-टङ्कार-भय-चलित-वनदेवताद्धांक्षिवीक्षितो[1] वनवराहान् केसरिणः[2] शरभांश्चामरानने[3]ककुरङ्गांश्च सहस्रशो जघान। अन्यांश्च जीवत एव महाप्राणतया स्फुरतो जग्राह।

समारूढे च मध्यमह्नः सवितरि वनात् स्नानोत्थितेनेव[4] श्रमसलिलबिन्दुवर्षमनवर-

येषां तैस्तादृशैः, भल्लैः = अर्धचन्द्राकारशरविशेषैः। मदकलेत्यादिः—मदेन (= दानवारिणा) कलाः (= मनोहराः) मदमत्ताः, ये कलभाः (= गजशावकाः त्रिंशद्वर्षीयाः) तेषां याः कुम्भभित्तयः—कुम्भाः (=शिरसः पिण्डाः) ते एव भित्तयः (=कुडयानि) तासां भिदुरैः (=भेदकैः, विदारकैः), नाराचैः = बाणैः, च, वनवराहान् = आरण्यशूकरान् केसरिण = सिंहान्, शरभान् = अष्टापदान्, चामरान् = चमरमृगान्, अनेककुरङ्गान् = असंख्यमृगान्, च, सहस्रशः = बहुशः, जघान = हतवान्। महाप्राणतया=अतिशयशक्तिमत्तया, च, जीवतः = प्राणान् धारयतः, स्फुरतः = स्पन्दमानान्, एव, अन्यान् = अपरान्, पशून्, जग्राह = गृहीतवान्। "विकच····· कान्तिभिः भल्लैः" रित्यत्र 'भल्लै' रित्यस्य व्याख्यानं प्रायः 'कुन्तैः' इति दृश्यते, तत्तु न सम्यक् "स्नुहीदलफलो भल्लः" इति यादवकोशात्, "वेताल-भल्ल-भल्लकाश्च" इत्यमरकोशात् "भल्लः स्यात् पुंसि भल्लूके शस्त्रभेदे पुनर्द्वयो"रिति मेदिनीकोशाच्च विरोधात्। अतो अर्धचन्द्राकारबाणविशेषा एवात्र भल्लपदवाच्या इति बोध्यम्। ['विकचकुवलये'त्यादौ वाचकलुप्तोपमा। अर्धाक्षेण वनदेवताकर्तृकवीक्षणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धप्रतिपादनादतिशयोक्तिः। तयोश्च नैरपेक्ष्येण स्थितया संसृष्टिः।]

समारूढ इति। सवितरि = सूर्ये, अह्नः = दिनस्य, मध्यम् = मध्यभागम्, समारूढे=अधितिष्ठति, प्राप्ते सति, ["कुमारश्चन्द्रापीडः वनात् स्वभवनमाजगामे" त्यत्रान्वयः] स्नानोत्थितेन—स्नानात् (= जलादिमज्जनात्) उत्थितेन (= कृतोत्थानेन) इव, सता, [इमानि तृतीयान्तपदानि'इन्द्रायुधेन'

की पंखुड़ियों के समान कान्ति (चमक) वाले भल्ल-नामक विशेष बाणों से तथा मदमत्त कलभों (हाथियों के बच्चों) के दीवाल-सदृश मस्तकों को वेधने (फोड़ सकने) वाले नाराचों (= लौहमय विशेष बाणों) से हजारों जंगली सुअर, शेर, शरभ (आठ पैरों वाले मृगविशेष), चामर (चमरी गायें, या विशेष हरिण) और बहुत से दूसरे हिरन मार डाले (शिकार कर डाले)। तथा अधिक शक्तिशाली होने से चलते फिरते जीवित ही बहुत से दूसरे [पशु] पकड़ लिये।

विमर्श—"आकर्णान्ताकृष्टमुक्तैः विकच-कुवलय-पलाशकान्तिभिः भल्लैः" इस वाक्य के "भल्लै" शब्द का हिन्दी अनुवाद 'भाला' ऐसा अनेक व्याख्याकारों ने किया है। किन्तु यह प्रमादग्रस्त है। क्योंकि "स्नुहीदलफलो भल्लः" इस यादवकोष के अनुसार और "वेताल-भल्ल-भल्लाश्च" (अमर ३।५।२१) तथा "भल्लः स्यात् पुंसि भल्लूके शास्त्रभेदे पुनर्द्वयोः।" इस मेदिनी कोष के अनुसार अर्धचन्द्राकार एक विशेष प्रकार का बाण ही 'भल्ल' है। साथ ही कान तक खींच कर छोड़ना—यह अर्थ भी बाण के साथ उपपन्न होता है। भानुचन्द्र ने तो "विकचकुवलयपलाशकान्तिभिर्भल्लैः" इतना पाठ ही नहीं लिया है—"अथ नाराचान् विशेषयन्नाह—कर्णान्तेति। आकर्णान्तमाश्रवणप्रान्तमाकृष्टा आकर्षिताः पश्चान्मुक्ताः क्षिप्तास्तैः।" अतः इस पाठ की और इसकी व्याख्या की युक्तता-अयुक्तता विचारणीय है।

(अनु०) और भगवान् सूर्य के दिन के मध्य में आरूढ़ हो जाने पर अर्थात् मध्याह्न हो जाने

१. चापटङ्काररव···। २. वनवराहकेसरिणः। ३. चमराननेकविध···।४. क्वचित् 'इव' नास्ति।

तमुज्झता मुहुर्मुहुर्दशनविघट्टनैः[1] खणखणायित-खर-खलीनेन श्रम-शिथिल-मुख-विगलित[2]-फेनिल-रुधिर-लवेन पर्य्याण-पट्टकानुसरणोत्थित[3]-फेनराजिना कर्णावतंसीकृतमुत्फुल्लकुसुमशबलमलि-पटल-झङ्काररव-मुखरं[4] वनगमनचिह्नं पल्लव-स्तबकमुद्वहतेन्द्रायुधेनोह्यमानः,समुद्गतस्वेदतया-[5]ऽन्तरार्द्रीकृत-मण्डलेन मृग-रुधिर-लव-शत-शबलेन वारबाणेन द्विगुणतरमुपजनितकान्तिः,[6]

इत्यस्य विशेषणानि ।] अनवरतम् = निरन्तरम्, श्रमसलिलबिन्दुवर्षम्—श्रमसलिलम् (=स्वेदः) तस्य बिन्दवः (=पृषताः) तेषां वर्षम् (=वृष्टिम्) उज्झता= त्यजता । मुहुः मुहुः =बारं बारम्, दशनैः =दन्तैः यानि विघट्टनानि (=घर्षणानि) तैः, खणखणायितेत्यादिः—खणखणायितः (=खण-खणेत्याकारकशब्दायितः) खरः (=तीक्ष्णः, निशितः) खलीनः (= मुखरज्जुः, कविका) येन तेन तादृशेन । श्रमेत्यादिः—श्रमेण (= खेदेन) शिथिलम् (= श्लथम्, विवृतम्) यत् मुखम् (=आस्यम्) तस्मात् विगलिताः (=स्रस्ताः) फेनिलाः (=फेनसहिताः, कफयुक्ताः) रुधिरलवाः (=रक्तबिन्दवः) यस्य तेन तादृशेन । ["कविका तु खलीनोऽस्त्री ··· ··· ।" इत्यमरः २।८।४९। एतेन खलीनशब्दस्य पुंसि नपुंसके चोभयत्र प्रयोगः साधुः ।] पर्याणेत्यादिः—पर्याणम् (=पल्ययनम्) तस्य यः पट्टकः (=स्थितिपीठम्, उपवेशनपीठम्), तत्रानुसरणम् (=तत्पर्यन्तगमनम्) यस्याः सा एवं विधा सती उत्थिता (=जाता) फेनराजिः (=कफश्रेणिः) यस्य तेन तादृशेन । कर्णावतंसीकृतम्= श्रोत्राभूषणीकृतम्, उत्फुल्लेत्यादिः—उत्फुल्लानि (=विकचानि) यानि पुष्पाणि (=कुसुमानि) तैः, शबलम् (= चित्रवर्णम्, मिश्रितम्) अलिपटलेत्यादिः—अलीनाम् (= भ्रमराणाम्) पटलानि (=वृन्दानि) तेषां यो झङ्कारः (= झम्-इत्याकारको ध्वनिः) तेन मुखरम् (= वाचालम्) वनगमनचिह्नम्—वने (= कानने) यद् गमनम् (=प्रयाणम्) तस्य चिह्नम् (=लक्ष्म) तत्, तादृक्, पल्लवस्तबकम् = किसलयगुच्छकम्, उद्वहता = धारयता, इन्द्रायुधेन = एतन्नामकेनाश्वेन, उह्यमानः =पृष्ठदेशे नीयमानः ।

समुद्गतेति । समुद्गतस्वेदतया—समुद्गतः (= समुत्पन्नः. स्वेदः (= परिश्रमसलिलम्) तस्य भावस्तत्तया, अन्तरार्द्रीकृत-मण्डलेन—अन्तः (=अभ्यन्तरे) आर्द्रीकृतम् (=क्लिन्नीकृतम्) मण्डलम् (=वर्तुलाकारभागः, परिधिः) यस्य तेन तादृशेन । मृगेत्यादिः—मृगाणाम् (=हरिणानाम्) यत् रुधिरम् (=रक्तम्) तस्य ये लवाः (= कणाः) तेषां यत् शतम् (=वृन्दम्) तेन शबलेन (=चित्र-वर्णेन), तादृशेन, वारबाणेन =कञ्चुकेन, द्विगुणतरम् = द्विरावृत्ततरम्, पूर्वतोऽप्यधिकतरम्, उपजनित-कान्तिः—उपजनिता (=उत्पन्ना) कान्तिः (=सौन्दर्यम्) यस्य स तादृशः, चन्द्रापीड इत्यर्थः ।

पर ऐसे इन्द्रायुध अश्व—जो लगातार पसीने की बूदों की बरसा कर रहा था, मानों कि स्नान करके उठा (आया) हो, दाँतों के बार बार आपस में टकराने से जिसकी कठोर लगाम खन-खन आवाज कर रही थी, जिसके अत्यधिक श्रम (थकान) के कारण शिथिल (ढीले ढाले) मुख से फेन [कफ] से युक्त खून की बूंदें चू (गिर) रहीं थीं, जिसकी जीन की काठी (बैठने के आसन) के कपड़े के साथ साथ फेने की राशि उठी हुई थी, (पहुँच रही थी), जो कानों का आभूषण बने हुए, खिले पुष्पों से रंगबिरंगे, भौरों के समूह की झंकार की ध्वनि से मुखर (ध्वनि करने वाले), वन में जाने के लिये चिह्नस्वरूप नवपल्लवों (कोंपलों) के गुच्छे को धारण किये हुए था—के द्वारा वहन किया जाता हुआ, पसीना निकल आने के कारण भीतर से गीले किये गये मण्डलाकार भागवाले, [ऊपर

१. खररवाभीतेन । २. ···गलित···। ३. ···अनुसारोत्थित···।
४. ···झङ्कारमुखर···। ५. ···अन्तरान्तरा···। ६. ···उपजातकान्तिः ।

अनेकरूपानुसरण-सम्भ्रम-परिभ्रष्ट-च्छत्रधरतया[1] छत्रीकृतेन[2] नवपल्लवेन[3] निवार्य्यमाणातपः, विविध-वन-लताकुसुम-रेणु-धूसरो वसन्त इव विग्रहवान्, अश्वखर-रजो-मलिन-ललाटाभिव्यक्तावदात-स्वेद-लेखः, दूरविच्छिन्नेन पदातिजनेन[4] शून्यीकृतपुरोभागः, प्रजवि-तुरङ्गमाधिरूढैरल्पावशिष्टैः सह राजपुत्रैः "एवं मृगपतिः, एवं वराहः, एवं महिषः[5], एवं शरभः, एवं

अनेकेति । अनेकेत्यादिः --अनेके (=वहवः) ये रूपाः (=पशवः, मृगाः) तेषाम् अनुसरणम् (=पश्चाद् गमनम्, गवेषणम्) तस्मिन् यः सम्भ्रमः (=चेतसो वैक्लव्यम्, शीघ्रता) तेन हेतुना परिभ्रष्टः (=परिच्युतः, छत्रधारणस्थानादिति शेषः) छत्रधरः (=आतपत्रधारकः) यस्य तस्य भावस्तत्ता तया, छत्रीकृतेन =आतपत्रीकृतेन, नवपल्लवेन =अभिनवकिसलयेन, निवार्यमाणातपः—निवार्यमाणः (=दूरीक्रियमाणः) आतपः (=घर्मः) यस्य स तादृशः । ["रूपं मृगेऽपि विज्ञेयम् ।" इति हलायुधः । "रूपं स्वभावे सौन्दर्ये नामगे पशुशब्दयोः ।" इति मेदिनी च ।]

विविधेति । विविधेत्यादिः—विविधाः (=अनेकप्रकाराः) याः वनलताः (=आरण्यव्रततयः) तासां यानि पुष्पाणि (=कुसुमानि) तेषां रेणुभिः (=पुष्पपरागैः) धूसरः (=ईषत्पाण्डुवर्णः), अत एव, विग्रहवान् =शरीरधारी, वसन्तः =कुसुमाकरर्तुः, इव । पुष्पपरागैस्तस्यापि पाण्डुरत्वादिति साम्येनोपमा ।

अश्वेति । अश्वेत्यादिः—अश्वानाम् (=तुरङ्गाणाम्) ये खुराः (=शफानि) तेषां रजोभिः (=धूलिभिः), मलिनम् (=मलीमसम्,कश्मलम्) यत् ललाटम् (=मस्तकः) तस्मिन् अभिव्यक्ता (=प्रकटीभूता) अवदाता (=निर्मला) स्वेदलेखा (=घर्मबिन्दुरेखा) यस्य स तादृशः ।

दूरेति । दूरविच्छिन्नेन = दूरात् (=विप्रकृष्टाद्) विच्छिन्नेन (=भ्रष्टेन, विमुक्तेन) पदातिजनेन (= पदगसैनिकलोकेन) शून्यीकृतपुरोभागः—शून्यीकृतः (= रिक्तीकृतः) पुरोभागः (= अग्रदेशः) यस्य स तादृशः । अग्रेगामिसैनिकानां वियोगेन अग्रभागः शून्य आसीदिति भावः ।

प्रजवीति । प्रजवीत्यादिः—प्रजविनः (=प्रकृष्टवेगवन्तः) ये तुरङ्गमाः (=अश्वाः) तेषु तान् वा अधिरूढैः (= कृतारोहणैः), अल्पावशिष्टैः =स्तोकैः, राजपुत्रैः =नृपकुमारैः, सह =सार्धम्, चन्द्रापीड इति भावः, एवम् =पूर्वोक्तप्रकारेण एतादृशो वा, मृगपतिः =मृगेन्द्रः सिंहः, एवम्=एतादृशः, वराहः =शूकरः, एवम् =एतादृशः, महिषः =सैरिभः, एवम् =एतादृशः, शरभः =अष्टापदः, एवम् =

लगे हुए] मृगों के खून की सैकड़ों बूंदों से चित्रित (चितकबरे) कवच द्वारा उत्पन्न की गई दूनी शोभावाला, अनेक पशुओं (मृगों आदि) का पीछा करने की शीघ्रता (व्यग्रता) के कारण छत्रधारी के छूट जाने से छत्र बने हुए पल्लवों द्वारा रोकी गयी धूपवाला, अनेक प्रकार की वन की लताओं के फूलों के पराग से घूसरवर्ण का होता हुआ मानो शरीरधारी (विविध पुष्पपराग से घूसरवर्णवाला) कामदेव [सा प्रतीत होने वाला], घोड़े के खुरों से उठी हुई धूलि से मैली, माथे पर साफ दिखाई पड़ती हुई पसीने की रेखाओं वाला, दूर छूट गये पैदल सैनिकों के (अभाव के) कारण आगे के भाग में शून्य अर्थात् जिसके आगे कोई सैनिक नहीं दौड़ रहा था, तेज दौड़ने वाले घोड़ों पर सवार कुछ थोड़े से बचे हुए राजकुमारों के साथ—"सिंह को ऐसे, सुअर को ऐसे, भैंसे को ऐसे,

१. ···अनुसार···। २. छत्रधारतया । ३. वनपल्लवेन ।
४. ···परिजनेन । ५. वनमहिषः ।

हरिणः" इति तमेव मृगयावृत्तान्तमुच्चारयन् स्वभवनमाजगाम ।

चन्द्रापीडस्य विश्रामादिवर्णनम्

अवतीर्य्य[1] च तुरङ्गमात् ससम्भ्रम-प्रधावित-परिजनोपनीत उपविश्यासने[2] वारबाणमवतार्य्य, अपनीय चाशेषं तुरङ्गाधिरोहणोचितं[3] वेषपरिग्रहमितस्ततः प्रचलित-तालवृन्त-पवनापनीयमानश्रमो मुहूर्त्तं विशश्राम । विश्रम्य च मणि-रजत-कनक-कलश-शत-सना-

---

एतादृशः, हरिणः = मृगः, मारितः इति शेषः, इति = एवं, पूर्वोक्तम्, तम् = अनुभूतम्, विहितं वा, मृगयावृत्तान्तम् = आखेटकोदन्तम्, उच्चारयन् = कथयन्, स्वभवनम् = स्वसदनम्, आजगाम = आययौ, पराववृते । अत्रानेकदा "एवम्" शब्दप्रयोगेऽनवीकृतत्वदोषस्य शङ्का न करणीया, वैचित्र्यविशेषस्य द्योतितत्वेन रसापकर्षकत्वाभावात् । यदि 'एवम्' शब्दः क्रियान्वयी तदा 'अनेन प्रकारेण सिंहो हतः' इत्याद्यर्थो बोध्यः ।

साम्प्रतं मृगयाक्रीडनात् परावृत्तस्य राजकुमारस्य विश्रामं निरूपयति—अवतीर्येति । स्वभवनागमनानन्तरं च, तुरङ्गमात् = अश्वात्, अवतीर्य = अवरोहं कृत्वा, ससंभ्रमेत्यादिः—ससंभ्रमम् (= सत्वरम्) प्रधावितः (= प्रगतः) यः परिजनः (= सेवकलोकः) तेन उपनीते (= समानीते) आसने = विष्टरादौ, उपविश्य = उपवेशनं कृत्वा, वारबाणम् = कवचम्, उत्तार्य - अपनीय, देहादुन्मुच्य, तुरङ्गाधिरोहणोचितम्—तुरङ्गे (= अश्वे) अधिरोहणे (= आरोहणे) उचितम् (= योग्यम्), अशेषम् = समस्तम्, वेषपरिग्रहम् = वेशपरिच्छदम्, अपनीय = दूरीकृत्य, अपसार्यं, च, इतस्ततः = यत्र तत्र (= उभयतः सर्वतो वा) प्रचलितेत्यादिः—प्रचलितानि (= आन्दोलितानि) यानि तालवृन्तानि (= व्यजनानि) तेषां पवनैः (= तदुत्थवायुभिः) अपनीयमानः (= दूरीक्रियमाणः), श्रम (= क्लमः, मृगयाजनितखेदः) यस्य स तादृशः, कुमारः, मुहूर्त्तम् = क्षणपर्यन्तम्, विशश्राम = विश्रामं कृतवान् ।

विश्रम्येति । विश्रम्य = विश्रामं कृत्वा, च, मणीत्यादिः—मणयः (= चन्द्रकान्ताद्याः) रजतम् (= रौप्यम्) कनकम् (= सुवर्णम्)—एतेषां शतेन (= शतसंख्यया, समूहेन) सनाथाम्

शरभ (आठ पैरों के मृगविशेष) को ऐसे, हिरन को ऐसे [मार डाला] (अथवा—ऐसे सिंह को, ऐसे शूकर को, ऐसे भैंसे को, ऐसे शरभ को, ऐसे हिरन को) [मार डाला ऐसे] उस शिकार की घटना को कहता हुआ अपने भवन वापस लौट आया ।

चन्द्रापीड के विश्रामादि का वर्णन

[वापस लौटने पर] घोड़े से उतर कर शीघ्रता में दौड़े हुये नौकरों द्वारा लाये गये आसन पर बैठकर, कवच उतार कर, घोड़े पर सवारी करने के योग्य सम्पूर्ण वेश भूषा हटा कर इधर-उधर हिलाये जाते हुए पंखों से हवा किया जाता हुआ वह कुछ देर विश्राम करता रहा । और विश्राम करने के बाद, स्नानगृह में गया जहाँ पर मणियों के, चाँदी के, सोने के सैकड़ों कलस [जलादि से भरे हुए] रखे थे और बीच में सोने की एक स्नानपीठ (चौकी) रखी हुई थी । जिसने स्नानक्रिया समाप्त कर ली थी, स्वच्छ वस्त्र से शरीर पोंछ (कर सुखा) लिया था, स्वच्छ रेशमी वस्त्रखण्ड (पल्लव) माथे

---

१. उत्तीर्य । २. समुपविश्यासने । ३. तुरङ्गमा…।

थामन्तर्विन्यस्त-काञ्चनपीठां स्नानभूमिमगात्। निर्वर्तिताभिषेकव्यापारस्य[1] च विविक्त-वसन-परिमृष्टवपुषः, स्वच्छदुकूल-पल्लवाकलित[2]-मौलेर्गृहीतवाससः[3] कृतदेवतार्चनस्या[4]ऽङ्गरागभूमौ समुपविष्टस्य राज्ञा विसर्जिता महाप्रतीहाराधिष्ठिता राजकुलपरिचारिकाः[5], कुलवर्द्धनासनाथाश्च विलासवती-दास्यः, सर्वान्तःपरप्रेषिताश्चान्तःपुर-परिचारिकाः, पटलक-विनिहितानि विविधान्याभरणानि माल्यान्यङ्गरागान्[6] वासांसि चादाय पुरतस्तस्योपतस्थुः, उपनिन्युश्च[7]।

(=सहिताम्), अन्तर्विन्यस्तेत्यादिः—अन्तः (=मध्ये) विन्यस्तम् (=स्थापितम्) काञ्चनपीठम् (=स्वर्णपीठम्, स्वर्णनिर्मितमासनम्) यस्यां सा तां तादृशीम्। स्नानभूमिम्=मज्जनस्थानम्, स्नानागारमिति भावः, अगात्=अगमत्।

निर्वर्तितेति। निर्वर्तितेत्यादिः--निर्वर्तितः (= निष्पादितः, विहितः) अभिषेकव्यापारः (= स्नानक्रिया) येन तस्य तादृशस्य, विविक्तेत्यादिः—विविक्तम् (= पवित्रम्, उज्वलम्) यद् वसनम् (=वस्त्रम् अङ्गप्रोञ्छणवस्त्रम्) तेन परिमृष्टम् (= परिष्कृतम्, शुष्कीकृतम्) वपुः (=शरीरम्) यस्य तस्य तादृशस्य, [केचित्तु--विविक्ते = एकान्तप्रदेशे-इति व्याचख्युः।] स्वच्छेत्यादिः—स्वच्छम् (=निर्मलम्) यत् दुकूलपल्लवम् (=क्षौमवसनकिसलयम्, क्षौमखण्डम्) तेन आकलितः (=बद्धः, वेष्टितः) मौलिः (=मस्तकः, शिरो वा) यस्य येन वा तस्य तादृशस्य। गृहीतवाससः— गृहीतानि (=स्वीकृतानि, परिहितानि) वासांसि (=वस्त्राणि) येन तस्य तादृशस्य। कृतेत्यादिः—कृतम् (= सम्पादितम्) देवतानाम् (= इष्टदेवानां शिवादीनाम्) अर्चनम् (= पूजनम्) येन तस्य तादृशस्य। अङ्गरागभूमौ=विलेपनस्थाने, समुपविष्टस्य=विहितोपवेशनस्य, स्थितस्य, तस्य=चन्द्रापीडस्य पुरतः=अग्रे, [इति वक्ष्यमाणेनान्वयः] राज्ञा=नृपेण,तारापीडेन, विसर्जिताः=प्रेषिताः, महाप्रतीहाराधिष्ठिताः—महाप्रतीहारेण (=प्रमुखद्वारपालकेन) अधिष्ठिताः (= रक्षकत्वेन आश्रिताः), राजकुलपरिचारिकाः=राजभवनसेविकाः, कुलवर्धनासनाथाः = कुलवर्धनया (= एतन्नाम्न्या पूर्ववर्णितया महत्तरिकया दास्या) सनाथाः (=सहिताः) विलासवतीदास्यः=चन्द्रापीडमातुः सेविकाः, सर्वेत्यादिः—सर्वैः (=सकलैः) अन्तःपुरैः (=अवरोधस्थैः मातृकल्पैः महिषीलोकैः) प्रेषिताः (= प्रेरिताः), अन्तःपुर-परिचारिकाः=अवरोधसेवाकारिण्यः, च, पटलकेत्यादिः—पटलके=पेटिकामध्ये, वर्ज्जरिकायाम्, विनिहितानि (=स्थापितानि) विविधानि=नानाप्रकाराणि, आभरणानि=आभूषणानि, माल्यानि=पुष्पस्रजः, अङ्गरागान्=विलेपनानि, वासांसि=वस्त्राणि, च, आदाय=गृहीत्वा, नीत्वा, उपतस्थुः = उपस्थिताः बभूवुः, उपनिन्युः=उपजह्रुः, च। तैर्वस्तुभिः महिषीणां प्रेमतिरेकं प्रदर्शयामासुरिति भावः।

पर बाँध लिया था, वस्त्र पहन लिये थे, देवताओं की पूजा कर ली थी, जो अङ्गराग लगवाने के स्थान पर बैठ चुका था—ऐसे उस चन्द्रापीड के सामने राजा तारापीड द्वारा भेजी गईं, मुख्य द्वारपालक से अधिष्ठित (संरक्षित) राजकुल की सेविकायें और कुलवर्धना के साथ माता विलासवती की दासियाँ तथा अन्तःपुर की अन्य महारानियों द्वारा भेजी गईं अन्तःपुर की परिचारिकायें पेटी में रखे हुए अनेक प्रकार के गहने, मालायें, अङ्गराग और वस्त्रों को लेकर (सेवार्थ) उपस्थित हुईं तथा [वे सभी वस्तुयें] समर्पित कीं, चन्द्रापीड को दे दीं।

१. निर्वत्तित···। २. ···आकुलित···। ३. गृहीतधौतवाससः। ४. कृतदेवार्चनस्य।
५. ···प्रतिचारिकाः। ६. माल्याङ्गरागान्। ७. उपनिन्युश्चोपनीतानि च।

यथाक्रममादाय च ताभ्यः प्रथमं स्वयमुपलिप्य वैशम्पायनमुपचिताङ्गरागो[1] दत्त्वा च समीपवर्त्तिभ्यो यथार्हमाभरण-वसनाङ्गराग-कुसुमानि विविध-मणिभाजन-सहस्रसारं[2] शारदमम्बरतलमिव स्फुरिततारागणमाहारमण्डपमगच्छत्। तत्र च द्विगुणित-कुथासनोपविष्टः[3] समीपोपविष्टेन तद्गुणोपवर्णनपरेण[4] वैशम्पायनेन[5] यथार्हं[6] भूमिभागोपवेशितेन[7] राजपुत्रलोकेन

यथाक्रममिति। यथाक्रमम्=अनुक्रमेण, क्रममनतिक्रम्य, च, ताभ्यः=पूर्वोक्ताभ्यः परिचारिकाभ्यः आदाय=गृहीत्वा, तत्तद्वस्तूनीति भावः, प्रथमम्=आदौ, स्वयम्=आत्मनैव, वैशम्पायनम्=शुकनासपुत्रं स्वपरमसखायम्, उपलिप्य = उपलेपनं कृत्वा अङ्गरागद्रव्येणेति शेषः, पश्चात्, उपरचिताङ्गरागः—उपरचितः (=विहितः) अङ्गरागः (=विलेपनम्) येन तादृशः। [अत्र केचित्—'स्वयम् उपरचिताङ्गरागः' इत्यन्वयं स्वीकुर्वन्ति, परन्तु अत्र 'वैशम्पायनम् उपलिप्य' इत्यत्रोपलेपनक्रियायाः कर्तृत्वं न दृश्यते। अतः 'स्वयम्' इत्यस्य उभयत्राप्यन्वयः स्वीकरणीयः। स्नेहातिरेकेण चन्द्रापीडः स्वयमेव प्रथमं वैशम्पायनस्य उपलेपनं कृत्वा स्वस्याप्युपलेपन चकारेति तात्पर्यं बाणस्य।] ततः, समीपवर्तिभ्यः=पार्श्ववर्तिभ्यः, राजकुमारादिभ्यः, यथार्हम्=यथायोग्यम्, आभरणेत्यादिः—आभरणानि (=आभूषणानि) वसनानि (=वस्त्राणि) अङ्गरागम् (=विलेपनद्रव्यम्) कुसुमानि (=पुष्पाणि) चैतानि, दत्वा=वितीर्य, विविधेत्यादिः—विविधानि (=नानाप्रकाराणि) यानि मणि-भाजनानि=मणिमयपात्राणि भोजनसम्बन्धीनि) तेषां सहस्रम् (= समूहः) तेन सारम् (= प्रधानम्), यद्वा—तदेव सारः (=स्थिरांशः) यस्य तम् [क्वचित्तु 'शारम्' इति पाठः, तस्य 'विचित्रम्' इत्यर्थः।] अत एव, स्फुरिततारागणम्—स्फुरितः (= प्रकाशितः) तारागणः (= नक्षत्रराशिः) यस्मिन् तत् तादृशम्, शारदम्=शरत्कालिकम्, अम्बरतलम् = गगनतलम्, इव, विद्यमानम्, आहारमण्डपम्=भोजनालयम्, अगच्छत्=अव्रजत्। अत्र गगनतलभोजनागारयोः साम्यप्रतिपादनादुपमा।

तत्र चेति। च=किञ्चेत्यर्थे। तत्र=तस्मिन् भोजनालये, ['आहारविधिमकरोदित्यन्वयः।] द्विगुणीकृतकुशासनोपविष्टः—द्विगुणीकृतम् (=द्विरावृत्य स्थापितम्) यत् कुथासनम्=कम्बलासनम्, तस्मिन् उपविष्टः=निषण्णः, सन् चन्द्रापीडः, समीपोपविष्टेन=निकटनिषण्णेन, तद्गुणोपवर्णनपरेण—तस्य (=चन्द्रापीडस्य) ये गुणाः (=शौर्यादयः) तेषामुपवर्णनम् (=श्लाघनम्) तस्मिन् परेण (=समासक्तेन निरतेन) वैशम्पायनेन=स्वपरममित्रेण, [वक्ष्यमाण 'सह' शब्दयोगेऽत्रापि तृतीया) तथा, यथार्हम्=यथायोग्यम्, भूमिभागोपवेशितेन=भूप्रदेशनिषण्णेन, यस्य या भूमिरुचिता तस्यामुपविष्टेन,

उस (चन्द्रापीड) ने क्रमशः उन परिचारिकाओं से [वे वस्तुयें] लेकर, पहले स्वयं वैशम्पायन का अनुलेपन किया, इसके बाद अपने [शरीर पर] अङ्गराग लगा कर और पास में विद्यमान [दूसरे राजकुमारों]को योग्यता के अनुसार आभूषण, वस्त्र,अङ्गराग और पुष्पों को देने के बाद अनेक प्रकार की मणियों के (बने हुए)हजारों भोजनपात्रों से विचित्र अर्थात् जगमगाते हुए तथा चमकते हुए अनेक तारागणों से युक्त शरत्कालीन आकाशतल के समान भोजनमण्डप (भोजन करने के स्थान) में पहुँचा। [जैसे शरद् ऋतु का आकाश खिले हुए चमकते हुए अनेक प्रकार के नक्षत्रों से शोभाय-

१. उपरचिताङ्गरागः। २. '''शारं शाराम्बर'''। ३. द्विगुणीकृत'''। ४. ''' गुणवर्णन'''। ५. 'सह' इत्यधिकम्। ६. यथार्हंभूमि'''। ७. ''' सह राज'''।

'इदमस्मै दीयताम्, इदमस्मै दीयताम्'[1] इति प्रसाद-विशेष-[2]दर्शन-संवर्द्धितसेवारसेन च सहाहार-विधिमकरोत् । उपस्पृश्य च गृहीतताम्बूलस्तस्मिन् मुहूर्त्तमिव स्थित्वेन्द्रायुधसमीपमगमत्[3] । तत्र चानुपविष्ट एव तद्गुणोपवर्णनप्रायालापाः कथाः कृत्वा सत्यप्याज्ञाप्रतीक्षणोन्मुखे[4] पार्श्वपरि-

"अस्मै = एतस्मै, इदम् = निर्दिश्यमानम्, एतद् वस्तु, दीयताम् = समर्प्यताम्, अस्मै = एतस्मै, इदम् = एतत्, दीयताम् = समर्प्यताम्" इति = एवम्, पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यर्थः, प्रसादेत्यादिः—प्रसादः (= अनुग्रहः, प्रसन्नता) तस्य विशेषः (= आधिक्यम्) तस्य दर्शनेन (= प्रकटनेन, प्रकाशनेन) संवर्द्धितः (= वृद्धिं प्रापितः, समेधितः) सेवारसः (= परिचर्यानुरागः) यस्य स तेन तादृशेन, राजपुत्रलोकेन = राजकुमार-समूहेन, सह = सार्धम्, आहारविधिम् = भोजनक्रियाम्, अकरोत् = कृतवान् । 'तद्गुणोपवर्णनपरेण' इत्यत्र 'तद्' शब्देन चन्द्रापीडस्यैव परामर्शः । अन्यैः राजकुमारैस्तस्यादभुतगुणानामज्ञानात् तेभ्यः तद्गुण-वर्णनं नासङ्गतमिति बोध्यम् । यद्वा—'तद्' शब्देन भाज्यपदार्थानां परामर्शः । तेषामपि प्रशंसा भोजनकाले नानुचितेति बोध्यम् ।

उपस्पृश्येति । च = अनन्तरार्थकः । उपस्पृश्य = आचम्य, भोजनानन्तरमिति भावः, गृहीत-ताम्बूलः—गृहीतम् (= आत्तम्, स्वीकृतम्) ताम्बूलम् (= नागवल्लीदलम्) येन सः तादृशः, तस्मिन् पूर्ववर्णिते भोजनमण्डपे, मुहूर्त्तम् इव = किञ्चित् कालम् इव, स्थित्वा = स्थितिं कृत्वा, इन्द्रायुधसमीपम् = इन्द्रायुधनामकाश्वसन्निकटम्, अगमत् = अगच्छत् । अत्र 'इव' शब्दो वाक्यालङ्कारे ।

तत्र चेति । तत्र = इन्द्रायुधस्याश्वस्य समीपे, अनुपविष्टः = अनिषण्णः, उत्थित एव, तद्गुणे-त्यादिः—तस्यः (= इन्द्रायुधस्य) ये गुणाः (= प्रजवित्वादयः शारीरिकसौन्दर्यादयश्च) तेषाम् उपवर्णनम् (= श्लाघनम्) प्रायः (= बाहुल्यम्) येषु तादृशा आलापाः (= संलापाः) यासु ताः तादृशीः, कथाः = मिथोभाषणानि, प्रबन्धकल्पनाः, कृत्वा = विधाय, आज्ञाप्रतीक्षणोन्मुखे—आज्ञा (= आदेशः) तस्याः प्रतीक्षणम् (= समयावेक्षणम्, प्रतिपालनम्) तस्मिन् उन्मुखे (= उद्यते, सावधाने) पार्श्ववर्तिनि = समीपस्थायिनि, परिजने = परिचारके, सति = विद्यमाने, अपि, तद्गुणहृत-

मान होता है वैसे ही भोजनमण्डप अनेक प्रकार की मणियों आदि के बने चमकते हुए भोजनपात्रों से सुशोभित था ।] और वहाँ (भोजनमण्डप में) दुहरे (मोड़ कर) रखे गये कम्बल के गलीचे पर बैठ कर, पास में बैठे हुए, उस (चन्द्रापीड) के गुणों की प्रशंसा करने में लगे हुए वैशम्पायन [के साथ] तथा औचित्य के अनुसार भूमि के भागों पर (उसके निकट या दूर) बैठे हुए, "यह (भोज्यविशेष) इसको दीजिये' 'यह इसको दीजिए—" इस प्रकार के (चन्द्रापीड के) अनुग्रह विशेष दिखलाने के कारण उसके प्रति और अधिक बढ़े हुए सेवाभाव वाले राजकुमारों के साथ भोजनक्रिया सम्पन्न की । [जब चन्द्रापीड अपने साथ के राजकुमारों को लक्षित करके ऐसा कहने लगा—"इसे यह खाद्य पदार्थ दीजिए, इसे यह दीजिये"—तो उन राजकुमारों का सेवाभाव और अधिक बढ़ गया ।] भोजन समाप्त करने के बाद आचमन करके पान लेकर (खाकर) उस (भोजनमण्डप) में कुछ ही देर ठहर कर इन्द्रायुध-अश्व के पास गया और वहाँ पर खड़े-खड़े ही उस (इन्द्रायुध) के गुणों की प्रचुरता से

१. कुत्रचिदेकदेव दृश्यते, प्रदीयताम् । २. क्वचित्तु 'प्रसाद' इदं नास्ति ।
३. अगात् । ४. आज्ञां प्रतीक्षमाणोन्मुखे ।

वर्तिनि परिजने तद्गुणहृत-हृदयः[1] स्वयमेवेन्द्रायुधस्य पुरो यवसमाकीर्य्य निर्गत्य राजकुलमयासीत् । तेनैव च क्रमेणावलोक्य राजानमागत्य निशामनैषीत् ।

पत्रलेखावर्णनम्

अपरेद्युश्च[2] प्रभातसमय एव सर्वान्तःपुराधिकृतम्[3], अवनिपतेः परमसम्मतम्, अनुमार्गागतया च[4], प्रथमे वयसि वर्त्तमानया, राजकुल-संवासप्रगल्भयाप्यनुज्झितविनयया, किञ्चिदुपारू-

हृदयः—तस्य (=इन्द्रायुधस्य) ये गुणाः (=पूर्वोक्ताः प्रजवित्वादयः) तैः हृतम् (=आकर्षितम्) हृदयम् (=चित्तम्) यस्य सः तादृशः, राजकुमारः, स्वयमेव =आत्मना एव, इन्द्रायुधस्य =एतन्नामकस्याश्वस्य, पुरः =अग्रे, यवसम् = बुसम्, घासादिकम्, आकीर्य =विक्षिप्य, निर्गत्य =तस्मात् स्थानाद् वहिरागत्य, राजकुलम् =राजभवनम्, अयासीत् =अगमत् ।

तेनैवेति । तेनैव =पूर्वोक्तेनैव, क्रमेण =परिपाटया, राजानम् =नृपम्, पितरं तारापीडम्, अवलोक्य =दृष्ट्वा, प्रणामादिकं विधायेति भावः, आगत्य =परावृत्य, स्वभवनमिति शेषः, निशाम् = रात्रिम्, अनैषीत् =अयापयत् ।

अपरदिवसीयं वृतान्तं वर्णयितुमारभते—अपरेद्युश्चेति । च = किञ्चेत्यर्थे । अपरेद्युः = अपरस्मिन् दिवसे, प्रभातसमये =प्रत्यूषकाले, एव, ['कन्यया अनुगम्यमानं कैलासनामानं कञ्चुकिनमायान्तमपश्यदित्यत्रान्वयः । द्वितीयान्तानि पदानि 'कञ्चुकिनम्' इत्यस्य विशेषणानि । तृतीयान्तानि च पदानि 'कन्यया' इत्यस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] सर्वान्तःपुराधिकृतम्—सर्वम् (=समस्तम्) यद् अन्तःपुरम् (=अवरोधस्थानम्) तत्र अधिकृतम् (= अधिकारयुक्तम्, नियुक्तम्), अवनिपतेः = भूपतेस्तारापीडस्य, परमसम्मतम् =अत्यन्तविश्वासपात्रत्वेनाभीप्सितम्, कञ्चुकिनम् ।

अनुमार्गेति । अनुमार्गागतया - अनु (=अनुलक्ष्यीकृत्य) मार्गम् (=कैलासस्य पन्थानम्) आगतया (=प्राप्तया) । प्रथमे =आद्ये, कौमारे, वयसि =अवस्थायाम् वर्त्तमानया =विद्यमानया । राजकुलेत्यादिः—राजकुले (=राजवंशे, राजभवने वा) यः संवासः (=संस्थितिः) तेन हेतुना, प्रगल्भया =प्रतिभान्वितया, सत्या, अपि, अनुज्झित-विनयया—अनुज्झितः (=अपरित्यक्तः) विनयः (=विनम्रता) यया सा तया तादृश्या । किञ्चिदित्यादिः किञ्चित् (=स्वल्पम्) यथा स्यात् तथा,

युक्त बातें कहकर (कहते हुए), आज्ञापालन की प्रतीक्षा में लगे हुए नौकरों के समीपवर्त्ती होने पर भी, उस (इन्द्रायुध) के गुणों से आकृष्ट हृदय वाला होकर अपने आप (अपने ही हाथों से) इन्द्रायुध के सामने घास रख कर वहाँ से निकला और राजभवन में पहुँचा और वहाँ पर उसी पूर्वोक्त क्रम से ही राजा (अपने पिता) के दर्शन करके वापस लौट कर रात बिताई ।

पत्रलेखा का वर्णन

दूसरे दिन प्रातःकाल हो सम्पूर्ण अन्तःपुर के अधिकारी, राजा तारापीड के अत्यन्त विश्वास (या स्नेह के) पात्र आते हुए कैलाश नामक कञ्चुकी को देखा, जिसके मार्ग का अनुगमन / पीछा कन्या कर रही थी, जो (कन्या) प्रथम अवस्था अर्थात् कौमार अवस्था में वर्तमान थी, राजकुल (राजभवन) में अधिक रहने से प्रतिभावती होती हुई भी विनय को न छोड़ने वाली थी, यौवन को कुछ प्राप्त कर चुकी थी, बीरबहूटी (वर्षा में उत्पन्न होने वाले छोटे-छोटे लाल-काले रंग

१. अपहृत, प्रपहृत । २. परेद्युश्च । ३. अधिकृततया । ४. 'च' नापि दृश्यते ।

ढयौवनया, शक्रगोपका[1]लोहित-रागेणांशुकेन रचितावगुण्ठनया सबालातपयेव पूर्वया ककुभा, प्रत्यग्र-दलितमनः-[2]शिला-वर्णनाऽङ्ग-लावण्य-प्रभा-प्रवाहेणामृतरस-नदीपूरेणेव भवनमापूरयन्त्या, ज्योत्स्नयेव राहुग्रहग्रास-[3]भयादपहाय रजनीकरमण्डलं गाम[4]वतीर्णया, राजकुल-देवतयेव[5]

उपारूढम् (=उत्पन्नम्) यौवनम् (=तारुण्यम्) यस्यास्तस्या तया तादृश्या ।

शक्रगोपकेति । शक्रेत्यादिः—शक्रगोपः एव शक्रगोपकः, स्वार्थे कप्रत्ययः, शक्रगोपकः (=इन्द्रगोपापरनामको रक्तवर्णो: वर्षर्तु भवः कीटविशेषः) तद्वत् लोहितः (=रक्तः) वर्णः (=रागः) यस्य तेन तादृशेन, अंशुकेन = क्षौमवस्त्रेण, रचितावगुण्ठनया—रचितम् (= विहितम्) अवगुण्ठनम् (=मुखादिवेष्टनम्) यया सा तया तादृश्या, अत एव, सबालातपया—बालातपः (=प्रत्यग्रोदितसूर्यप्रकाशः) तेन सहिता वर्तमाना तया तादृश्या, पूर्वया=प्राच्या, ककुभा=दिशया, इव, । शक्रगोपेत्यादौ लुप्तोपमा, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, श्रौती उपमा चेत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः ।

प्रत्यग्रेति । प्रत्यग्रेत्यादिः—प्रत्यग्रम् (=सद्यः, तत्कालम्) एव दलिता (=चूर्णिता) या मनःशिला (=मनोगुप्ता, एतन्नामा धातुविशेषः 'मैनसिल' इति हिन्द्यां प्रसिद्धा) तस्या इव वर्णः (= रागः) यस्य तेन तादृशेन, अङ्गेत्यादिः—अङ्गानाम् (= देहावयवानाम्) यत् लावण्यम् (=सौन्दर्यम्) तस्य या प्रभा (=कान्तिः) तस्याः प्रवाहेण (=परम्परया रयेण वा) अमृतेत्यादिः—अमृतरसस्य (=सुधाद्रवस्य) या नदी (=सरित्) तस्याः पूरेण (=प्रवाहेण), इव, भवनम् = राजकुमारसदनम्, आपूरयन्त्या =परिपूर्णं कुर्वन्त्या, अत एव, राहुग्रह-ग्रासभयात्—राहुग्रहः (= सैहिकेयनामकग्रहविशेषः) तेन ग्रासः (=भक्षणं निगरणम्) तस्माद् यद् भयम् (=भीतिः) तस्मात्, रजनीकरमण्डलम् =निशाकरबिम्बम्, अपहाय =परित्यज्य, गाम् =पृथिवीम्, अवतीर्णया = आगतया, ज्योत्स्नया =कौमुद्या, इव, विद्यमानया ।

['अत्र ··· ··· मनःशिलावर्णेन' इत्यत्र लुप्तोपमा, पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, द्रव्योत्प्रेक्षा—चेत्येतेषामङ्गाङ्गिभावेन परस्परं सङ्कराख्योलङ्कारः फलतीति बोध्यम् । "मनःशिला मनोगुप्ता मनोह्वा नागजिह्विका । नैपाली कुनटी गोला ··· ।" इत्यमरः २।९।१०८।]

राजकुलेति । मूर्तिमत्या =शरीरधारिण्या, राजकुलदेवतया =राजवंशाधिष्ठातृदेव्या, इव । अत्र द्रव्योत्प्रेक्षा ।

के कीड़े) के लाल रंग के समान रंग वाले रेशमी वस्त्र से मुख को ढँके हुई (घूँघट काढ़े हुई) थी अत एव प्रातःकालीन धूप से युक्त पूर्व दिशा के समान [प्रतीत हो रही] थी, जो ताजे पीसे (तोड़े) गये मैनशिल के रंगों के समान अंगों के सौन्दर्य के कान्ति-प्रवाह द्वारा, मानों अमृतरस की नदी की बाढ़ से उस भवन को आप्लावित कर (भर) दे रही थी, जो मानो राहु नामक ग्रह के द्वारा ग्रास (भक्षण) किये जाने के भय से चन्द्रमण्डल को छोड़कर पृथ्वी पर उतर आई हुई चान्दनी हो, जो मानो राजकुल की शरीरधारिणी देवी थी; जो झन-झन ध्वनि करते हुए मणिमय नूपुर से अच्छी तरह लिपटे हुए चरणों वाली थी अतः मानों कूजते हुए कलहंसों से घिरी हुई कमलिनी हो, जिसका

१. ···लोहित···। २. मनः शिलाचूर्णं वर्णेन । ३. राहुग्रास, राहुग्रसन० । ४. भूमण्डलम् । ५. कुलदेवतया ।

मूर्त्तिमत्या, क्वणितमणिनूपुराकुल[1]-चरणयुगलया[2] कूजत्कलहंसाकुलित-कमलयेव कमलिन्या, महार्हं-हेम-मेखला-कलाप-कलित[3]-जघनस्थलया, नाऽतिनिर्भरोद्भिन्नपयोधरया, मन्दं-मन्दं[4] भुज-लता-विक्षेप-प्रेङ्खित-नख-मयूखच्छलेन धाराभिरिव लावण्यरसमनवरतं क्षरन्त्या, दिङ्-मुखविसर्पिणि हारलतानां रश्मिजाले निमग्नशरीरतया क्षीरसागरोन्मग्नवदनयेव लक्ष्म्या,

क्वणितेति । क्वणितेत्यादिः—क्वणिते (=शब्दिते, मुखरे) ये मणिनूपुरे (=मणिमय-पादकटके) ताभ्याम्, आकुलम् (= सम्बद्धम् , चरणयुगलम् (=पादयुग्मम्), यस्याः सा तया, तादृश्या, अत एव, कूजदित्यादिः—कूजन्तौ (= ध्वनिं कुर्वन्तौ) यौ कलहंसौ (= राजहंसौ) ताभ्याम् आकुलिते (=सम्बद्धे) कमले (=पङ्कजे) यस्याः सा तया तादृश्या, कमलिन्या = पद्मिन्या, इव, विद्यमानया । उपमात्र ।

महार्हेति । महार्हेत्यादिः—महार्हः (=महार्घः) यः हेम्नः (= स्वर्णस्य) मेखलाकलापः (=रसनादामा) तेन कलितम् (= परिवेष्टितम्) जघनस्थलम् (= कटिभागः) यस्याः तया तादृश्या । ['जघनं स्यात् स्त्रियाः श्रोणिपुरोभागे कटावपि ।" इति मेदिनी]

नातीति । नातीत्यादिः—नातिनिर्भरम् (= नातिबाहुल्येन, अनतिशयेन) उद्भिन्नौ (=प्रकटतामुपगतौ) पयोधरौ (=स्तनौ) यस्याः सा तया तादृश्या ।

मन्दं मन्दमिति । मन्दं मन्दम् = शनैः शनैः, नातिप्रयासेनेति भावः, भुजेत्यादिः—भुजलतयोः (=बाहुलतयोः) यो विक्षेपः (= इतस्ततश्चालनम्) तेन प्रेङ्खिताः (=प्रसृताः, धूताः) ये नखानाम् (=पुनर्भवाणाम्) मयूखाः (=किरणाः तेषां छलेन (= व्याजेन) अनवरतम् (=निरन्तरम्) धाराभिः = प्रवाहैः, लावण्यरसम् = तारुण्यद्रवम्, क्षरन्त्या = स्रावयन्त्या, इव । अत्रापह्नुति-क्रियोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ।

दिङ्मुखेति । दिङ्मुखविसर्पिणि—दिङ्मुखे (= दिशाग्रभागे) विसर्पति (= प्रसरति) तच्छीलः तस्मिन्,सर्वत्र प्रसरणशीले इत्यर्थः, हारलतानाम् = मुक्तामालानाम्, रश्मिजाले = किरणसमुदाये, निमग्नशरीरतया—निमग्नम् (=बुडितम्) यत् शरीरम् (=कायः) तस्य भावस्तत्ता तया, क्षीरे-त्यादिः—क्षीरसागरात् (= दुग्धवारिनिधेः, शुभ्रपयोराशेः) उन्मग्नम् (= सलिलोपरि-निःसृतम्) वदनम् (=आस्यम्) यस्याः सा तया तादृश्या, लक्ष्म्या = विष्णुप्रियया श्रिया, इव, दृश्यमानया । उपमात्र ।

जघन-स्थल (कटिप्रदेश) बहुत कीमती स्वर्ण की करधनी-समूह से युक्त (घिरा हुआ) था, जिसके पयोधर (स्तन) अच्छी तरह (अधिक) उभरे नहीं थे, जो अपनी लम्बी तथा पतली भुजलताओं को धीरे-धीरे इधर उधर हिलाने के कारण काँपते हुए (कम्पनयुक्त) नाखूनों की किरणों के ब्याज से मानों अपने लावण्य रस की धाराओं से लगातार बरसाकर रही थी, जो दिशाओं के अग्रभाग (मुखों) में फैलने वाले हारलताओं के समूह में डूबे हुए किरणसमूह से घिरे हुए शरीरवाली होने के कारण ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो क्षीरसागर से अभी-अभी निकले हुए मुखवाली लक्ष्मी हो, जिसकी अधर रेखा (नीचे का ओष्ठ) अत्यधिक पान [खाने] के कारण [उत्पन्न] श्यामता से काली हो

१. आकुलित, आकलित ।
२. चरणया रुचिररेणु-चर्चित-चञ्चरीक-चक्रवाल-वाचालित-रक्तकमलयुगलयेव स्थलकमलिन्या ।
३. आकलित । ४. मन्दमन्दं ।

बहल-ताम्बूल[1]कृष्णिमान्धकारिताधर-लेखया, सम-सुवृत्त[2]-तुङ्गनासिकया, विकसित-पुण्डरीक-[3]लोचनया, मणिकुण्डल[4]मकरपत्त्र-भङ्ग-कोटिकिरणातपाहत-[5]कपोलतया सकर्णपल्लवमिव मुख-मुद्वहन्त्या, पर्युषितधूसर-चन्दन-रस-तिलकालङ्कृत-ललाटपट्टया, मुक्ताफलप्रायालङ्कारया,

---

बहलेति । बहलेत्यादिः—बहलः (=प्रचुरः, निबिडः) यः ताम्बूलस्य (=नागवल्लीदलस्य) कृष्णिमा (=श्यामिता) तेन अन्धकारिता (=मलीमसीकृता) अधरलेखा (=रदनच्छदरेखा) यस्याः, तया तादृश्या ।

समेति । समेत्यादिः—समा (=अनुच्चनीचा अविषमेति भावः) सुवृत्ता (=सुन्दरवर्तुलाकारा) तुङ्गा (=उन्नता) च नासिका (=नासा) यस्याः तया तादृश्या ।

मणीति । मणीत्यादिः—मणिकुण्डलयोः (= मणि-कर्णाभूषणयोः) ये मकरपत्त्रभङ्गाः (=मकराकारसदृशपत्त्रलताः) तेषां कोट्योः (=अग्रभागयोः) ये किरणाः (=रश्मयः) तेषाम् आतपाः (=प्रकाशाः) तैः आहतौ (= ताडितौ, संस्पृष्टौ, प्रतिबिम्बितौ) कपोलौ (=गण्डफलकौ) यस्याः सा तस्या भावस्तत्ता तया,हेतुना सकर्णपल्लवम् =श्रोतावतंसेन सहितम्, इव, विद्यमानम् मुखम् =आस्यम्, उद्वहन्त्या =धारयन्त्या, तद्रश्मीनामेव किसलयवदवभासमानत्वादिति भावः । अत्र गुणोत्प्रेक्षा ।

पर्युषितेति । पर्युषितम् (=पूर्वदिनविहितम्) अत एव धूसरम् (=किञ्चित्पाण्डुवर्णम्) यत् चन्दनरसस्य (=श्रीखण्डद्रवस्य) तिलकम् (=विशेषकम्) तेन अलङ्कृतः (=विभूषितः) ललाटपट्टः (=भालस्थलम्) यस्याः तया तादृश्या । ["तमालपत्त्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम् । द्वितीयं च तुरीयं न स्त्रियाम्…… ॥' इत्यमरः २।६।१२३ तेन पुंसि नपुंसके च तिलकविशेषकौ साधू ।]

मुक्तेति । मुक्तेत्यादिः—मुक्ताफलानि (=मौक्तिकानि) प्रायेण (= बाहुल्येन) येषु तादृशाः अलङ्काराः (=आभूषणानि) यस्याः तया तादृश्या ।

गई थी, [देर तक पान खाते रहने के बाद उससे ओष्ठों का रंग लाल न रह कर काला हो जाता है] जिसकी नाक सम (बराबर), गोल तथा ऊँची थी, जिसके नेत्र खिले हुए कमल के समान [सुन्दर] थे, मणिमय कुण्डलों के मकरपत्रभङ्ग (मकर के आकार की पत्त्रलता) के किनारों (अग्रभाग) की किरणों के प्रकाश से आहत कपोलस्थल वाली होने के कारण जो मानों कर्णपल्लव से युक्त मुख को धारण किए हुई थी, [कर्णपल्लवयुक्त मुखवाली सी प्रतीत हो रही थी,] जो बासी (एक दिन पहलेवाला) अत एव धूसर (मटमैले) चन्दन रस के तिलक से अलंकृत (सुशोभित) ललाट स्थल वाली थी, [जिसके माथे पर बासी मटमैले चन्दन की टिकली लगी हुई थी ।] जो अधिकतर मोतियों के आभूषणों वाली थी, जैसे राधेय =कर्ण की राज्यलक्ष्मी ने अङ्ग (देश की प्रजा के अनुराग को उत्पन्न किया था वैसे ही जो अपने अंगों में राग (चन्दनलेपनादि) लगाये हुई थी, जैसे नई वनों की पंक्ति (कतार) कोमल और पतली लताओं से युक्त होती है वैसे ही जो कोमल (सुकुमार) शरीरलता वाली थी, जैसे त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद —वेदत्रयी) सुप्रतिष्ठित (अच्छी तरह स्थापित या

---

१. कृष्णिका । २. समुपवृत्त । ३. धवललोचनया ।
४. मरकतमकर…। ५. कपोलतलतया ।

राधेयराजलक्ष्म्येवोपपादिताङ्गरागया, नववनलेखयेव[1] कोमल-तनु-लतया, त्रय्येव सुप्रतिष्ठित-चरणया, मखशालयेव वेदिमध्यया, मेरुवनलतयेव कनकपत्त्रालंकृतया, महानुभावाकारया-ऽनुगम्यमानं कन्यया[2] कैलासनामानं कञ्चुकिनमायान्तमपश्यत् ।

राधेयेति । राधेयेत्यादिः—राधेयः (= राधापरिपालितः कर्णः) तस्य या राजलक्ष्मीः (= आधिपत्यश्रीः) तया,इव, उपपादिताङ्गरागया—उपपादितः (= विहितः अङ्गरागः (=विलेपनद्रव्यम्) यया तादृश्या । पक्षे—उपपादितः (= सम्पादितः, कृतः) अङ्गेषु (= एतन्नामकदेशविशेषेषु) रागः (= अनुरागः निवासासक्तिः) यया तया तादृश्या । उपमा स्पष्टा ।

नवेति । नवेत्यादिः—नवा (= अभिनवा, प्रत्यग्रा) या वनलेखा (= काननश्रेणिः) तया, इव, कोमलेत्यादिः—कोमला (= सुकुमारा) तनुलता (= शरीरवल्ली) यस्याः तया । पक्षे—कोमलाः = मृदुलाः) तन्व्यः (= कृशाः) च लताः = व्रततयः) यस्यां सा तया तादृश्या । अत्राप्युपमा ।

त्रय्येति । त्रय्या = त्रयी (= वेदत्रयी) तया, इव, सुप्रतिष्ठितचरणया—सुप्रतिष्ठितौ (=सम्यग् रूपेण न्यस्तौ) चरणौ (= पादौ) यया तया तादृश्या । पक्षे –सुप्रतिष्ठिताः (= सुप्रसिद्धाः) चरणाः (= शाखाः) यस्याः सा तया तादृश्या । [वेदशाखाविषये महाभाष्ये पस्पशाह्निके एवं प्रतिपादितम्—'एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाऽऽथर्वणो वेदः । एवञ्च ऋग्वेदे एकविंशतिः, यजुर्वेदे एकशतम्, सामवेदे सहस्रम्, अथर्ववेदे च नव शाखाः ।]

मखेति । मखशालया = यज्ञशालया, इव, वेदिमध्यया—वेदिवत् (= यज्ञीयवेदिवत्) मध्यः (=कटिप्रदेशः) यस्याः तया तनुमध्ययेत्यर्थः । पक्षे -- वेदिः (=परिष्कृता भूमिः) मध्ये (=अभ्यन्तरे) यस्या तया तादृश्या । ['वेदिः परिष्कृता भूमिः ।" इत्यमरः ।]

मेर्विति । मेरुवनतलया—मेरुः (= सुमेरुनामकस्वर्णपर्वतः) तस्य तस्मिन् वा यद् वनम् (= विपिनम्) तस्य लता (= वल्ली) इव = यथा, कनकपत्त्रालङ्कृता—कनकपत्राणि (=सुवर्णमयश्रवणाभूषणादीनि) तैः अलङ्कृता (= विभूषिता) तया तादृश्या । पक्षे—कनकस्य (= स्वर्णस्य) पत्रैः (= पल्लवैः) अलङ्कृता (=विभूषिता) तया । [भानुचन्द्रस्तु—"कनकः =नागकेसरः चम्पको वा तस्य पत्राणि = दलानि । 'कनको नागकेसरे । धतूरे चम्पके काञ्चनारकिंशुकयोरपि ।" इत्यनेकार्थः ।] अत्रोपमा ।

महेति । महानुभावाकारतया—महान् (=अतिशयितः) अनुभावः (= माहात्म्यम्) आकारः (=आकृतिः) च यस्याः तया तादृश्या । कन्यया = दारिकया, अनुगम्यमानम् = अनुस्रियमाणम्, कैलासनामानम् = कैलासाख्यम्, कञ्चुकिनम् = सौविदल्लम्, अन्तःपुरचरम्, अपश्यत् = व्यलोकयत्—इत्याद्यन्वयस्तु प्रागेवोक्तः ।

प्रसिद्ध) चरणों = शाखाओं वाली होती है वैसी ही जो [चलते समय भूमि पर] चरणों को अच्छी प्रकार से रखने वाली थी, [भागती हुई या काँपती हुई नहीं चलती थी,] जैसे यज्ञशाला मध्यभाग में वेदि (=परिष्कृत संशोधित भूमि) से युक्त होती है वैसे ही जो वेदि के समान पतली या सुन्दर मध्यदेश (कटिप्रदेश) वाली थी, जैसे मेरु पर्वत की वनलता सोने के पत्तों से शोभित होती है वैसे ही जो सोने के कर्णाभूषणों से सजी थी, जो महान् अनुभाव (उच्चकुल या माहात्म्य) और तदनुरूप आकार से युक्त थी । [ऐसी पत्त्रलेखा नामक कन्या जिसके पीछे-पीछे चल रही थी ऐसे आते हुए कैलासनामक कञ्चुकी को चन्द्रापीड ने देखा ।]

१. नवनववन० । २. कन्यकया ।

स कृतप्रणामः समुपसृत्य क्षितितल-निहित-दक्षिणकरो विज्ञापयामास—'कुमार ! महादेवी विलासवती समाज्ञापयति—'इदं खलु कन्यका[1] महाराजेन पूर्वं कुलूत-[2]राजधानीमवजित्य कुलूतेश्वर-[3]दुहिता पत्त्रलेखाभिधाना बालिका सती बन्दीजनेन सहानीयान्तःपुरपरिचारिका-मध्यमुपनीता । सा मया विगतनाथा राजदुहितेति च[4] समुपजातस्नेहया दुहितृनिर्विशेषमियन्तं कालमुपलालिता संवर्द्धिता च । तदियमिदानीमुचिता भवतस्ताम्बूलकरङ्क[5]वाहिनीति

स इति । सः=पूर्वोक्तः कञ्चुकी, कृतप्रणामः—कृतः (=विहितः) प्रणामः (=नमस्कारः) येन स तादृशः । समुपसृत्य = समीपमागत्य, क्षितितलेत्यादिः—क्षितितले (= भूतले) निहितः (=स्थापितः) दक्षिणः (=सव्येतरः) करः (=पाणिः) येन स तादृशः सन् विज्ञापयामास= निवेदयामास, व्यजिज्ञपदिति भावः । भूमौ दक्षिणकरं संस्थाप्य विज्ञापनं राजकुलपरम्पराप्रसिद्धमेव ।

स किं विज्ञापयामासेति वर्णयति—कुमारेत्यादिना । कुमार=राजकुमार ! महादेवी=पट्टमहिषी, विलासवती=एतन्नाम्नी, तव जननी, समाज्ञापयति = समादिशति । किं समादिशतीति वर्णयति—इयमिति । खलु=निश्चयेन, इयम्=एषा,पुरोवर्त्तिनी, कन्यका=कुमारिका, महाराजेन = नृपाधिपतिना तव पित्रा, पूर्वम्=प्राक्, कुलूतराजधानीम्—कुलूतस्य (= देशविशेषस्य, सम्भवतः साम्प्रतं 'कुल्लू' इति नाम्नाख्यातस्य, हिमाचलप्रदेशान्तर्गतस्य) राजधानीम् (= राजस्थानम्, राजनगरम्) अवजित्य= स्वायत्तीकृत्य, पत्त्रलेखाभिधाना—पत्त्रलेखा इति अभिधानम् (=नाम) यस्याः सा तादृशी, कुलूतेश्वरदुहिता=कूलतराजकन्या, बालिका = बाला, सती=विद्यमाना, बन्दीजनेन = युद्धनिरुद्धलोकेन, स्तुतिपाठकलोकेन वा, सह = सार्धम्, आनीय = आनीतां विधाय, अन्तःपुरेत्यादिः—अन्तःपुरस्य (=अवरोधस्य) याः परिचारिकाः (=सेविकाः) तासां मध्यम् (=अन्तरम्) उपनीता (=प्रापिता,रक्षिता)।

सेति । विगतनाथा—विगताः (= नष्टाः) नाथाः (= रक्षकाः पित्रादयः) यस्याः सा, राजदुहिता=नृपसुता, इति=अस्माद् हेतोः, सा=पूर्ववर्णिता पत्त्रलेखा, समुपजातस्नेहया—समुपजातः (=समुत्पन्नः) स्नेहः (=प्रेम) यस्याः सा तया तादृश्या, मया=विलासवत्या, इयन्तम्=एतावन्तम्, कालम्=समयम्, यावत्, दुहितृनिर्विशेषम्—दुहिता (=कन्या) तस्याः सकाशात् निः (=निर्गतः) विशेषः (=भेदः) यस्यां यथा स्यात् तथा, पुत्रीसदृशं यथा स्यात्तथा, उपलालिता = परिपालिता, संवर्द्धिता=वृद्धिं प्रापिता, च ।

तदिति । तत् = तस्मात् कारणात्, इदानीम् = साम्प्रतम्, इयम् = पुरोवर्त्तिनी पत्त्रलेखा, भवतः=तव, उचिता = योग्या, ताम्बूलकरङ्कवाहिनी = नागवल्लीदल-पात्रधारिणी, इति=एवम्,

उस (कैलासनामक केचुकी) ने प्रणाम करके समीप जाकर दाहिना हाथ पृथ्वी पर रख कर यह निवेदन किया—"कुमार ! महारानी विलासवती आज्ञा दे रही है—'महाराज (तुम्हारे पिता) ने पहले कुलूत की राजधानी को जीत कर कुलूतराज की पत्त्रलेखा नामवाली इस कन्या को बालिका के रूप में ही बन्दीजनों (कैदी लोगों या स्तुतिपाठकों) के साथ लाकर अन्तःपुर की परिचारिकाओं के बीच में रख दिया था । यह एक अनाथ है और राजकन्या है—इसलिए इस पर [मेरा] स्नेह उत्पन्न हो जाने कारण इसको इतने समय तक अपनी पुत्री के समान ही लालन (स्नेह) किया है और [पाल पोस कर] बड़ा किया है । इसलिए इस समय यह आपकी पान की पिटारी (पानदान) ढोने के योग्य [हो चुकी] है—यह मानकर मैंने [तुम्हारे पास] इसको भेजा है । आयुष्मान् आपको

१. कन्या । २. कलूत, कुन्तल । ३. कलूतेश्वर, कुन्तलेश्वर०···।
४. 'च' नापि विद्यते । ५. करण्डक० ।

¹कृत्वा मया प्रेषिता। न चास्यामायुष्मता परिजनसामान्यदृष्टिना भवितव्यम्। बालेव लालनीया। स्वचित्तवृत्तिरिव चापलेभ्यो निवारणीया। शिष्येव ²द्रष्टव्या। सुहृदिव सर्व-³विश्रम्भेष्वभ्यन्तरीकरणीया। दीर्घकाल-संवर्द्धित-स्नेहतया स्वसुतायामिव हृदयमस्यामस्ति मे। ⁴महाभिजन-राज-वंश-प्रसूता चार्हतीयमेवं⁵विधानि कर्माणि। ⁶नियतं स्वयमेवेयमति-⁷

कृत्वा = विधाय, मया = तव मात्रा, प्रेषिता = प्रहिता, तव समीपे इति शेषः।

न चेति। आयुष्मता = चिरञ्जीविना त्वया, अस्याम् = पुरोवर्तिन्यां पत्रलेखायाम्, परिजन-सामान्यदृष्टिना—परिजने (= सेवके) सामान्या (= सर्वसाधारणा) दृष्टिः (= दर्शनम्, व्यवहार-भावना) यस्य तेन तादृशेन, न = नैव, भवितव्यम्। राजकुमारीत्वेनैव मत्वा व्यवहर्त्तव्येति भावः। बाला = बालिका, इव, लालनीया = पालनीया, तेनास्या अपराधाः क्षन्तव्या इति भावः। स्वचित्तवृत्तिः= निजमनोवृत्तिः, इव = यथा, चापलेभ्यः = चाञ्चल्येभ्योऽविचारितकारिताभ्यः, निवारणीया = वर्जनीया। यथा चित्तवृत्तयः अनुचितकार्येभ्यो वार्यन्ते तथैवेयमपि अकार्येभ्यो वारणीया। शिष्या = शासनीयाऽध्येत्री, इव, द्रष्टव्या = दर्शनीया व्यवहर्त्तव्येति भावः। सर्वविश्रम्भेषु = सकल-विश्वनीयविषयेषु, सुहृत् = सन्मित्रम्, सखी वा, इव = यथा, अभ्यन्तरीकरणीया = मध्यवर्त्तिनी कार्या। अभिजाततयाऽनया कदापि रहस्योद्घाटनासम्भवात् सर्वं गोपनीयतममपि प्रकटनीयम्। अत्र "बालेव" इत्यत आरभ्य "सुहृदिव" इत्येतत्पर्यन्तमुपमा स्पष्टा।

दीर्घेति। दीर्घकालेत्यादिः—दीर्घकालम् (= बहुसमयम्) संवर्द्धितः (= वृद्धिं प्रापितः) यः स्नेहः (= प्रीतिः) तस्य भावस्तत्ता तया, स्वसुतायाम् = निजकन्यायाम्, इव = यथा, अस्याम् = एतस्यां पत्रलेखायाम्, मे = मम, हृदयम् = चित्तम्, अस्ति = वर्त्तते। एवञ्च त्वयापीयं भगिनीत्वेनैव द्रष्टव्या। इति मे पक्षपातोऽस्यामिति भावः।

महाभिजनेति। महाभिजनेत्यादिः—महान् (= उदात्तः) अभिजनः (= पूर्वजोषितदेशः) यस्य स तादृशः, यः राजा (= नृपः) तस्य वंशः (= कुलम्) तस्मिन् प्रसूता (= सञ्जाता), इयम् = एषा, एवंविधानि = एतादृशानि, पूर्वोक्तानि, कर्माणि = कार्याणि, ताम्बूलकरङ्कवाहनादीनि, कर्तुमिति शेषः, अर्हति = योग्या वर्तते।

नियतमिति। नियतम् = निश्चितम्, इयम् = पुरोवर्त्तिनी एषा, अतिविनीततया = अतिशयनम्र-

इसके प्रति नौकरानी के समान साधारण विचार वाला नहीं होना है, अर्थात् इसे केवल नौकरानी के रूप में मत देखना। बालिका के समान लालन (स्नेह) करना चाहिए। अपनी चित्तवृत्ति के समान चपलताओं से दूर करना चाहिए, अर्थात् जैसे चित्तवृत्ति को चञ्चलता से रोका जाता है वैसे ही इसे भी चञ्चलता से रोकना चाहिए। शिष्या के समान देखना चाहिए अर्थात् गल्ती होने पर सुधार कराने का प्रयास करना चाहिए। सभी विश्वसनीय कार्यों में मित्र के समान अन्तरङ्ग बनाना चाहिए। [कुलीन राजकन्या होने से इससे किसी अनिष्ट की शंका नहीं करनी चाहिए।] बहुत अधिक समय

१. क्वचित्तु 'कृत्वा' इदं नास्ति। २. उपवेष्टव्या।
३. विश्वासेषु। ४. क्वचित्तु इतोऽग्रे "बलवानस्यां पक्षपातः" इत्यधिकं पठ्यते।
५. एवंविधानि नियतं कर्माणि। ६. नियतं च। ७. अभिविनीततया।

विनीततया कतिपयैरेव दिवसैः कुमारमाराधयिष्यति । केवलमतिचिरकालोपचिता बलवती मे प्रेमप्रवृत्तिरस्याम् । अविदितशीलश्चास्याः कुमार इति सन्दिश्यते । सर्वथा तथा कल्याणिना प्रयतितव्यम्,यथेयमतिचिरमुचिता परिचारिका ते भवति[1]",—इत्यभिधाय विरत-वचसि कैलासे कृताभिजात[2]-प्रणामां पत्त्रलेखामनिमिषिलोचनं[3] सुचिरमालोक्य चन्द्रापीडः 'यथाज्ञापयत्यम्बा' इत्येवमुक्त्वा[4] कञ्चुकिनं प्रेषयामास ।

तया, कतिपयैः=कतिचिद्भिरेव न तु बहुभिरित्यर्थः, दिवसैः=दिनैः, कुमारम्=राजकुमारं त्वामिति भावः, स्वयमेव=आत्मनैव, आराधयिष्यति = सेविष्यते, सन्तोषयिष्यतीति भावः । तर्हि भवत्याः कथनस्य किमुद्देश्यमिति सन्देहे निराकर्तुमाह—केवलमिति । केवलम्=परम्, अस्याम्=पत्त्रलेखायाम्, अतिचिरकालोपचिता—अतिचिरकालात् (=सुदीर्घकालात्) उपचिता (=वृद्धिमुपगता) बलवती= सातिशया, मे = मम, प्रेमप्रवृत्तिः=स्नेहाभिनिवेशः । कुमार=राजकुमार ! भवान्, च, अस्याः = पत्त्रलेखायाः, अविदितशीलः—अविदितम् (=अज्ञातम्) शीलम् (=स्वभावः) यस्य स तादृशः, इति=अस्मात् हेतोः, सन्दिश्यते=संसूच्यते । एवञ्च सदैव एतद्ध्येयं यदियं न साधारणी सेविका अपि तु मम स्नेहपात्रं राजसुतैवेति भावः ।

सर्वथेति । सर्वथा = सर्वप्रकारेण, कल्याणिना = श्रेयस्विना त्वया, तथा = तेन प्रकारेण, प्रयतितव्यम्=प्रयतनीयम्, यथा=येन प्रकारेण, इयम्=पत्त्रलेखा, अतिचिरम्=चिरकालं यावत्, ते= तव, उचिता=योग्या, परिचारिका=सेविका, भवति=भविष्यति । ["वर्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" (पा० सू० ३।३।१३१) इति समीपिनि भविष्यति लट् ।] इति=एवम्, पूर्वोक्तम्, अभिधाय = कथयित्वा, कैलासे = एतन्नामके महाकञ्चुकिनि, विरतवचसि—विरतम् (= अपास्तम्) वचः (= कथनम्) यस्य तस्मिन् तादृशे सति, तूष्णीके सतीति भावः । कृताभिजातप्रणामाम्—कृतः (=विहितः) अभिजातः (=कुलीनः, कुलीनव्यक्तितुल्य इति भावः) प्रणामः (= प्रणतिः) यया तां तादृशीम्, पत्त्रलेखाम्=एतन्नाम्नीं सेविकाम्, चन्द्रापीडः=एतन्नामा राजकुमारः, अनिमेष-लोचनम् = निमेषशून्यनयनं यथा स्यात् तथा, सुचिरम् = सुदीर्घकालपर्यन्तम्, आलोक्य=विलोक्य, अम्बा=जननी, यथा=येन प्रकारेण, आज्ञापयति=आदिशति,तथैव विधास्यामीति शेषः । इत्येवम्= इत्थम् उक्त्वा=कथयित्वा, कञ्चुकिनम्=कैलाशनामानम्, प्रेषयामास=विसर्जयामास । ["अभिजातः कुलीने स्यान्न्याय्यपण्डितयोस्त्रिषु ।" इति मेदिनी]

से बढ़े हुए स्नेह के कारण इसमें अपनी पुत्री के समान मेरा हृदय है, अर्थात् मैं इसे हृदय से अपनी पुत्री मानती हूँ । बहुत बड़े राजकुल में उत्पन्न होनेवाली यह (पत्त्रलेखा) इस प्रकार के (ताम्बूल-करकवाहन आदि जैसे) कार्यों को करने योग्य है । निश्चय ही, अपने आप अत्यन्त विनम्र होने के कारण (अथवा सुशिक्षित होने के कारण) कुमार को कुछ ही दिनों में प्रसन्न कर लेगी, केवल बहुत समय से बढ़ी हुई बलवती [मेरी] स्नेहप्रवृत्ति (प्रेमव्यापार) इसमें हैं । और कुमार को इसका स्वभाव ज्ञात नहीं है, इसलिए (आपको) सन्देश दिया जा रहा है । कल्याणशाली आपको हर प्रकार से ऐसा करना चाहिए जिससे यह बहुत समय तक यह आपकी योग्य परिचारिका बनी रहे—" ऐसा कहकर कैलाश (कंचुकी) के चुप हो जाने पर, कुलीन (व्यक्तियों) के समान प्रणाम करनेवाली उस पत्त्रलेखा को चन्द्रापीड ने अपलक नेत्रों से बहुत देर तक देखने के बाद "माता जी जैसी आज्ञा देती है [वैसा ही करूँगा]—" ऐसा कहकर कञ्चुकी को (वापस) भेज दिया ।

१. भवतीतीत्यभिधाय ।　२. प्रभिजात० ।　३. ···लोचनः ।　४. एवमुक्त्वा ।

पत्रलेखा तु ततः प्रभृति दर्शनेनैव समुपजातसेवारसा न दिवा, न रात्रौ, न सुप्तस्य, नासीनस्य, नोत्थितस्य, न भ्रमतो न राजकुलगतस्य छायेव राजसूनोः पार्श्वं मुमोच। चन्द्रापीडस्यापि तस्यां दर्शनादारभ्य प्रतिक्षणमुपचीयमाना महती प्रीतिरासीत्। अभ्यधिकञ्च प्रतिदिवसमस्याः[1] प्रसादमकरोत्, आत्महृदयादव्यतिरिक्तामिव चैनां सर्वविश्रम्भेष्वमन्यत।

शुकनासोपदेश-वर्णनम्

एवं समतिक्रामत्सु दिवसेषु[2] राजा चन्द्रापीडस्य यौवराज्याभिषेकं चिकीर्षुः प्रतीहारा-

---

पत्रलेखेति। पत्रलेखा = कुलूतेश्वरदुहिता, तु, ततः प्रभृति = तस्मात् कालादारभ्य, दर्शनेन = अवलोकनेन, एव चन्द्रापीडस्येति शेषः, समुपेत्यादिः—समुपजातः (= समुत्पन्नः) सेवायाम् (= परिचर्यायाम्) रसः (= अनुरागः) यस्याः सा तादृशी, सती, न दिवा = न दिवसे, न रात्रौ = न निशायाम्, न सुप्तस्य = न शयानस्य, न आसीनस्य = न निषण्णस्य, न उत्थितस्य = न विहितोत्थानस्य, न भ्रमतः = न भ्रमणं कुर्वतः, न राजकुलगतस्य = न राजभवनगतस्य, राजसूनोः = राजकुमारस्य चन्द्रापीडस्य, छाया = स्वप्रतिबिम्बम्, इव, पार्श्वम् = सामीप्यम्, मुमोच = तत्याज। यथा कस्यचिदपि जनस्य छाया तं न कदापि त्यजति यद्वा—छाया = अनातपः, पार्श्वम् = बाहुमूलाधोभागं न त्यजति तथैव सा सर्वदा तेन राजपुत्रेण सहैव सती सेवापराऽभूत्। उपमालङ्कारः।

चन्द्रापीडस्येति चन्द्रापीडस्य = राजकुमारस्य, अपि, दर्शनात् = अवलोकनात्, आरभ्य = प्रभृति, तस्या इति शेषः, तस्याम् = पत्रलेखायाम्, प्रतिक्षणम् = क्षणं क्षणम् प्रति, उपचीयमाना = वर्द्धमाना, सती, महती = सातिशया, प्रीतिः = स्नेहः, आसीत् = अभूत्।

अभ्यधिकमिति च शब्दः किञ्चेत्यर्थे। अस्याः पत्रलेखायाः, प्रतिदिवसम् = प्रतिदिनम्, अभ्यधिकम् = अधिकाधिकम्, प्रसादम् = अनुग्रहम्, अकरोत् = चकार। सर्वविश्रम्भेषु = सकल-विश्वास-स्थलेषु, च, एनाम् = पत्रलेखाम्, आत्महृदयात् = निजस्वान्तात्, अव्यतिरिक्ताम् = अभिन्नाम्, इव, अमन्यत = अमंस्त, ज्ञातवानिति भावः। अत्रोत्प्रेक्षा।

साम्प्रतं यौवराज्याभिषेकात् पूर्वं चन्द्रापीडाय किमपि विशिष्टमुपदेष्टव्यमावश्यकमिति निरूपयति—एवमित्यादिना। एवम् = पूर्वोक्तप्रकारेण, दिवसेषु = दिनेषु, समतिक्रामत्सु = गच्छत्सु, व्यतीतेष्विति, भावः। राजा = नृपः, तारापीडः, चन्द्रापीडस्य = एतन्नाम्नो राजकुमारस्य, यौवराज्याभिषेकम् -यौवराज्ये (= युवराजकर्मणि) अभिषेकम् (= अभिषेचनम्) युवराजपदे प्रतिष्ठामिति भावः, चिकीर्षुः =

पत्रलेखा ने तो उसी समय से लेकर [चन्द्रापीड के] दर्शन से ही उत्पन्न हुए सेवारस वाली होती हुई अर्थात् उसे सेवाभाव उत्पन्न हो गया था, अतः न दिन में, न रात में, न सोते हुए, न बैठे हुए, न खड़े हुए, न घूमते हुए और न राजभवन में गये हुए राजकुमार का छाया के समान साथ (पीछा) छोड़ा। [अर्थात् जैसे परछाईं सदैव साथ रहा करती है वैसे ही पत्रलेखा भी राजकुमार के साथ ही साथ रहने लगी।] चन्द्रापीड की भी, [पत्रलेखा के] दर्शन से लेकर उस में प्रतिक्षण बढ़ती हुई बहुत अधिक प्रीति (प्रेम) हो गयी थीं, उसका प्रेम लगातर बढ़ता गया और वह प्रतिदिन उस पर और अधिक अनुग्रह (कृपा) करने लगा। और उस (चन्द्रापीड) ने अपनी सभी विश्वसनीय बातों में उसे अपने हृदय से अभिन्न माना। [उससे कोई भी बात नहीं छिपाता था।]

शुकनास के उपदेश का वर्णन

इस प्रकार से [कुछ] दिन बीत जाने पर चन्द्रापीड के यौवराज्य (पद) पर अभिषेक करने के इच्छुक राजा (तारापीड) ने द्वारपालों को [आवश्यक] सामग्री के समूह के संग्रह करने के लिए

---

१. प्रतिदिनम्। २. केषुचिद्दिवसेषु।

नुपकरणसम्भार-संग्रहार्थमादिदेश[1]। समुपस्थितयौवराज्याभिषेकञ्च तं कदाचिद्दर्शनार्थमागतमारूढविनयमपि विनीततरमिच्छन्[2] शुकनासः सविस्तरमवाच—

"तात चन्द्रापीड ! विदितवेदितव्यस्या[3]ऽधीतसर्वशास्त्रस्य ते नाल्पमप्युपदेष्टव्यमस्ति। केवलञ्च[4] निसर्गत एवाऽभानुभेद्यमरत्नालोकच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।

कर्तुमिच्छुः, सन्, प्रतीहारान् = द्वारपालान्, उपकरण-सम्भार-संग्रहार्थम्—उपकरणम् (= अभिषेक-सामग्री) तस्य यः संभारः (= समूहः) तस्य संग्रहार्थम् = आनयनार्थम्, आदिदेश = आज्ञापयामास।

समुपस्थितेति। च शब्दः किञ्चेत्यर्थे। समुपस्थितेत्यादिः—समपस्थितः (= सम्प्राप्तः) यौवराज्यस्य (= युवराजकर्मणः) अभिषेकः (= अभिषेचनम्) यस्य तं तादृशम्, कदाचित् = कस्मिंश्चिद्दिवसे, दर्शनार्थम् = अवलोकनार्थम्, शुकनासस्येति शेषः। आगतम् = सम्प्राप्तम्, आरूढविनयम् = सम्प्राप्तविनयम्, अपि, तम् = चन्द्रापीडम्, विनीततरम् = विनम्रतरम्, इच्छन् = अभिलषन्, शुकनासः = एतन्नामा प्रधानामात्यः, सविस्तरम् = सव्यासम्, विशदम्, उवाच = अवोचत्।

शुकनासः चन्द्रापीडाय किमुपदिदेशेति निरूपयति—तातेत्यादिना। तात = हे वत्स, चन्द्रापीड !, विदितवेदितव्यस्य—विदितम् (= ज्ञातम्) वेदितव्यम् (= ज्ञातव्यम्) येन तस्य तादृशस्य, अधीतसर्वशास्त्रस्य—अधीतानि (= पठितानि) सर्वाणि (= सकलानि) शास्त्राणि (= न्यायादीनि वेदादीनि च) येन तस्य तादृशस्य, ते = तव, अल्पम् = स्तोकम्, अपि, उपदेष्टव्यम् = वक्तव्यम्, न = नैव, अस्ति = वर्तते। अत्रोपदेष्टव्यत्वाभावं प्रति पूर्वोक्तं विशेषणद्वयं कारणमिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

यद्येवं तर्हि कस्मादयमुपदेशारम्भ इत्यत आह—केवलमिति। च शब्दः किञ्चेत्यर्थे। केवलम् = परम्, यौवनप्रभवम् = तारुण्यप्रभवम् (= यौवनात् प्रभवति = समुत्पद्यते इति तादृशम्) तमः = अज्ञानान्धकारः, निसर्गतः = स्वभावतः, एव, अभानुभेद्यम् = असूर्योच्छेद्यम्, सूर्येणापि दूरीकर्तुं योग्यं नास्तीति भावः, अरत्नालोकच्छेद्यम्—न (= नैव) रत्नानाम् (= मणीनाम्) आलोकेन (= प्रकाशेन, प्रभया) छेद्यम् (= नाशयितुं योग्यम्), उत्कृष्टमणीनां प्रभयापि यौवनजन्यतमो नाशयितुं न शक्यते, अप्रदीपप्रभापनेयम्—न (= नैव) प्रदीपप्रभया (= दीपालोकेन) अपनेयम् (= विनाशयोग्यम्, अपनयनयोग्यम्), अनेक-प्रदीपप्रकाशैरपि तारुण्यतमोऽपनेतुं न शक्यते इति भावः, कीदृशमित्यत आह—अतिगहनम्—अतिशयेन (= निरवधिकतया) गहनम् (= अलब्धमध्यम्) सर्वविधतमांसि सूर्यस्य, रत्नानां दीपानां वा प्रकाशेन दूरीभूय लोकानां सौख्याय जायन्ते किन्तु यौवनप्रभवं तमस्तु अतिगहनत्वात् प्रसिद्धेन केनाप्युपायेन दूरीकर्तुं न शक्यतेऽतस्तस्यातिनिकृष्टत्वमिति भावः। अत्रातिशयोक्तिः, समुच्चयो व्यतिरेकः काव्यलिङ्गञ्चेत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करालङ्कारः।

आदेश दे दिया। जिसका यौवराज्याभिषेक उपस्थित (अर्थात् शीघ्र ही होनेवाला था ऐसे चन्द्रापीड को जो किसी समय [शुकनास के] दर्शन करने के लिए आया था, और जो स्वतः विनय (विनम्रता अथवा शिक्षा)से युक्त था, और अधिक विनीत (शिक्षित)करने के लिए शुकनास ने विस्तारपूर्वक कहा—

"तात (वत्स) चन्द्रापीड ! जानने योग्य [सभी] का ज्ञान रखने वाले तथा समस्त (राजनीति आदि) शास्त्रों को पढ़ चुके हुए तुम्हारे लिए अब थोड़ा-सा भी उपदेश करने योग्य नहीं [शेष बचा] है। परन्तु [इतना कहना आवश्यक है कि] यौवन से उत्पन्न होनेवाला अन्धकार स्वभावतः अत्यन्त गहन (घना) होता है जो सूर्य द्वारा [अपने प्रकाश से] भी नहीं भेदा (दूर किया) जा सकता है, न रत्नों को कान्ति (चमक) से छेदा (हटाया) जा सकता है और न उत्कृष्ट दीप की ज्योति (प्रकाश) से ही हटाया जा सकता है। [अतः ऐसे अन्धकार से बचना आवश्यक है।]

१. उपसंभार०। २. …कर्तुमिच्छन्। ३. वेद्यस्य। ४. तु।

अपरिणामोपशमो दारुणो लक्ष्मीमदः। कष्टमनञ्जनवर्त्तिसाध्यमपरमैश्वर्य्यतिमिरान्धत्वम्[1]। अशिशिरोपचारहार्य्योऽतितीव्रो[2] दर्पदाहज्वरोष्मा। सततममूलमन्त्रगम्यो[3][4] विषमो विषयविषा-

अपरिणामेति। लक्ष्मीमदः—लक्ष्म्याः (=धनसम्पत्तेः) मदः (=उन्मत्तता) अपरिणामोपशमः—न (=नैव) विद्यते परिणामे (=वयःपरिणतौ, वार्द्धक्यावस्थायाम्) उपशमः (=निवृत्तिः) यस्य स तादृशः, अत एव, दारुणः=भीषणः। सुरादिमादकपदार्थोपसेवनोत्पन्नोन्मत्तता तु औषधादिना कालाधिकेऽतीते च स्वयमेव नश्यति परन्तु धनसम्पत्तिसंसर्गजन्यो मदस्तु केनाप्युपायेन न शाम्यति जीवनपर्यन्तं च मदयतीति अस्य वैलक्षण्यं स्पष्टम्। काव्यलिङ्गमत्र पदार्थहेतुकम्।

कष्टमिति। अनञ्जनवर्तिसाध्यम्—न (=नैव) अञ्जनवर्त्या (= विडालादि-वसाकज्जलादिना) साध्यम् (= प्रतीकार्यम्), ऐश्वर्यतिमिरान्धत्वम्—ऐश्वर्यम् (= धनादिवैभवम्) एव तिमिरम् (=तिमिराख्यो नेत्ररोगः) तेन अन्धत्वम् (= अवलोकनशक्तिराहित्यम्), अपरम् = प्रसिद्धेभ्यो नेत्ररोगेभ्यो भिन्नम्, कष्टम्=दुःखकरम्। प्रसिद्धं तिमिरान्धत्वन्तु विशेषवर्त्तिकया नाशयितुं शक्यते परन्तु ऐश्वर्यतिमिरेण जातमन्धत्वं तु न कथमपि दूरीकर्तुं शक्यते। तिमिररोगापहरणविषये चेत्थमुक्तमष्टाङ्गहृदये आयुर्वेदीयग्रन्थे—"रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ तयोस्तुल्यमथाञ्जनम्। ईषत्कर्पूरसंयुक्तमञ्जनं तिमिरापहम्।"

अशिशिरेति। अतितीव्रः=अतिशयेन तीक्ष्णः, दर्पदाहज्वरोष्मा—दर्पः (=अहङ्कारः) एव दाहज्वरः (= तीव्रतापः) तस्य ऊष्मा (= उष्णता, घर्मः) अशिशिरोपचार्यः—न (=नैव) शिशिरैः (=शीतलैः) उपचारैः (=स्रक्चन्दनादिभिः) हार्यः (=हर्तुं योग्यः, शमनीयः)। अन्यज्वरजन्योन्योष्मा तु प्रसिद्धैः शीतलोपचारैः शमयितुं शक्यः, परन्तु दर्पदाहज्वरजन्योष्मा न कथमपि शमयितुं शक्य इति भावः।

सततमिति। विषमः=कठिनः, विषयविषास्वादमोहः—विषयाः (= स्रक्चन्दनादयः) [विषिण्वन्ति विषयिणमिति व्युत्पत्तिः] एव विषाणि (=गरलानि) [प्राणहरणतुल्यकष्टकारित्वात्] तेषां य आस्वादः (=भक्षणम्, उपभोगः) तेन यो मोहः (=मूर्च्छा, अज्ञानता), सततम् = निरन्तम्, अमूलमन्त्रगम्यः—न (=नैव) मूलैः (=ओषधिमूलैः) मन्त्रैः (=विषप्रभावदूरकरणसमर्थशब्दसमूहविशेषैः) गम्यः (= साध्यः)। अन्यादृशो मोहस्तु ओषधिमूलैर्मन्त्रविशेषैः वा नियन्तुं शक्यः, परन्तु विषयविषास्वादेन यो मोहो जायते, स न केनापि उपायेन नियन्तुं शक्य इति तस्य विषमत्वम्।

लक्ष्मी (धनादि सम्पत्ति) का दारुण (भयानक) मद (नशा) परिणाम (वृद्धावस्था) में भी शान्त (समाप्त) होनेवाला नहीं है। [अन्य मद तो अधिक समय बीतने पर प्रभावहीन हो जाते हैं किन्तु लक्ष्मीमद कभी भी समाप्त नहीं होता है।] और ऐश्वर्य (अतिशय समृद्धि) रूपी अन्धकार से उत्पन्न अन्धापन (मोतियाबिन्द) दूसरा ही है जो अञ्जन की वर्त्तिका (सुरमा की सलाई) से अच्छा नहीं होनेवाला, [और] कष्ट देने वाला है। अहंकाररूपी दाहक ज्वर की गर्मी अत्यन्त तीखी (तेज) अतः [चन्दन आदि] शीतल उपचारों (गर्मीनाशक दवाओं) से शान्त होनेवाली नहीं है। विषय (कामिनी-संसर्ग आदि) रूपी विष के आस्वाद (उपभोग) से होनेवाली मूर्च्छा अत्यन्त विषम

१. अपटलम्। २. अत्यन्ततीव्रो। ३. मूल। ४. शम्यो।

स्वादमोहः। नित्यमस्नानशौचवध्यो[1] बलवान् रागमलावलेपः। अजस्रमक्षपावसानप्रबोधा घोरा च राज्यसुखसन्निपातनिद्रा भवतीति[2] विस्तरेणाभिधीयसे[3]। १—गर्भेश्वरत्वम्, २—अभिनवयौवनत्वम् ३—अप्रतिमरूपत्वम्, ४—अमानुषशक्तित्वञ्चेति महतीयं[4] खल्वनर्थपरम्परा सर्वा।

नित्यमिति। बलवान्=बलशाली, रागमलावलेपः—रागः (=विषयासक्तिः) एव मलः (=पङ्कः) तस्य अवलेपः (=लेपनम्, संश्लेषः), नित्यम् = प्रतिदिनम्, अस्नानशौचवध्यः—न (=नैव) स्नानेन (=मज्जनादिना) शौचेन (=शुचिक्रिया) च वध्यः (= नाशनीयः, प्रक्षालनीयः), अन्यादृशः कर्दमाद्यवलेपस्तु स्नानेन अन्येन वा शौचोपायेन दूरीकर्तुं शक्यते परन्तु रागमलावलेपस्य परिमार्जनं तु न कथमपि सम्भवति। अत एवास्य बलवत्त्वम्। ["···· मलोऽस्त्रियाम्।" २।६।६५ इत्यमरेण मलशब्दः पुंसि नपुंसके च साधुः।]

अजस्रमिति। राज्यसुख-सन्निपात-निद्रा—राज्यम् (=आधिपत्यम्) तस्मात् तस्य वा यत् सुखम् (=आनन्दः) तदेव सन्निपातनिद्रा (=सन्निपात-प्रमीला) यद्वा-सन्निपातः=संघात एव निद्रा, अजस्रम्=निरन्तरम्, अक्षपावसानप्रबोधा—न (=नैव) क्षपायाः (=निशायाः) अवसाने (=अन्ते, समाप्तौ, प्रातःकाले इति भावः) प्रबोधः (=विनिद्रत्वं जागरणम्) यस्यां सा तादृशी, घोरा=भीषणा च, भवति=वर्त्तते। अन्यनिद्रायास्तु प्रातः अवसानं भवति तेन मनुष्या जाग्रति, किन्तु राज्यसुखानां संघातेन या निद्रा प्रादुर्भवति तस्यास्तु न कदापि अवसानम्, तेन च प्रबोधश्चेत्युभयमपि न भवतीति तस्या घोरात्वं स्पष्टम्। इति=अस्माद्धेतोः, विस्तरेण=विशदरूपेण, अभिधीयसे=उपदिश्यसे, त्वमिति शेषः। अचिरमेव युवराजपदे अभिषिक्ते सति त्वयि अपि पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि दोषा सम्भाव्यन्तेऽतो हेतोः त्वदिष्टचिन्तकेन मया त्वमवश्यमुपदेशनीय इत्यत एवोपदिश्यसे इति भावः।

गर्भेश्वरत्वमिति। १-गर्भात् (=गर्भकालात्, जन्मतः) एव ईश्वरत्वम् (=प्रभुत्वम्), २-अभिनवयौवनत्वम्=अभिनवम् (=अतिनूतनम्) यौवनम् (=तारुण्यम्) यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्, ३-अप्रतिमरूपत्वम्—अप्रतिमम् (= निरूपमम्, अतुल्यम्) रूपम् (= सौन्दर्यम्) यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्, ४-अमानुषशक्तित्वम्—अमानुषी (=न विद्यते मानुषेषु तादृशी, दैवीति भावः) शक्तिः (=सामर्थ्यम्) यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्, च, इति इयम्=एवं रूपा पूर्वोक्ता, महती=गरीयसी, सर्वा=सकला, अनर्थपरम्परा=अनिष्टपरम्परा, कष्टपरम्परा। अत्र हेतुमानलङ्कारः।

(कष्टकारक) तथा लगातार मूल (जड़ी बूटी) और मन्त्रों से दूर करने योग्य नहीं होती है, [अन्य प्रकार की मूर्च्छा कभी जड़ी-बूटी या मन्त्रों के प्रभाव से दूर हो जाती है किन्तु उपर्युक्त मूर्च्छा किसी से भी दूर नहीं होती है।] विषयाभिलाष रूपी मल (कीचड़ आदि दूषित पदार्थ) का अवलेप (सम्पर्क) सदैव स्नान और शौचक्रिया (प्रक्षालनादि) से भी नहीं नष्ट किया (हटाया) जा सकता। और राज्यसुखों के सन्निपात = समूहरूपी (या सन्निपात रोग रूपी या सन्निपात से होने वाली) निद्रा भयानक (प्रगाढ) है जो सदैव रात के बीत जाने पर भी जागरणरहित होती है। [अन्य प्रकार की नींद तो रात बीत जाने पर प्रातः जागरण से युक्त होती है, व्यक्ति जाग जाता है किन्तु राज्यसुखों के सन्निपात से होनेवाली नींद में ग्रस्त व्यक्ति कभी भी नहीं जाग सकता।]—इन्हीं कारणों से तुम से विस्तारपूर्वक कहा जा रहा है, समझाया जा रहा है। १-गर्भ अर्थात् जन्मकाल से ही ईश्वर (ऐश्वर्यवान्) होना, २-नया यौवन होना, ३-अनुपम (बेजोड़) सुन्दर होना, और ४-अमानुषी (सामान्य मानव में न होनेवाली अर्थात् दैवी) शक्ति होना—यह सभी अनर्थों की बहुत बड़ी परम्परा है। इन (चारों) में एक-एक (अकेला कोई) भी सभी प्रकार के अविनयों (धृष्टताओं) का आयतन (निवासस्थान) है,

१. शौचवध्यो रागमलावलेपः, बाध्यो बलवान्। २. इत्यतः। ३. अभिधीयसे। ४. महती।

अविनयानामेकैकमप्येषामायतनम्,किमुत समवायः। यौबनारम्भे च प्रायः शास्त्रजलप्रक्षालन-निर्म्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः। अनुज्झितधवलतापि[1] सरागेव[2] भवति यूनां दृष्टिः। अपहरति च वात्येव शुष्कपत्त्रं समुद्भूतरजोभ्रान्तिरतिदूरमात्मेच्छया[3] यौवनसमये पुरुषं प्रकृतिः।

अविनयानामिति। एषाम् = पूर्वोक्तानां गर्भेश्वरत्वादीनाम्, मध्ये, एकैकम् = प्रत्येकम्, अपि, अविनयानाम् = धृष्टतानाम्, अशिष्टाचाराणाम्, आयतनम् = निवासस्थानम्, समवायः = समुदायः, किमुत = किं वक्तव्यमिति भावः। एषु एकमपि विनाशायालम्, यदि दौर्भाग्याच्चत्वारि यत्र वसन्ति तत्र तु न किमपि वक्तव्यमवशिष्यते इति भावः। अत एवोक्तं नीतिग्रन्थे विष्णुशर्मणा—यौवनं धन-सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।"

यौवनारम्भ इति। यौवनारम्भे = तारुण्यस्य आरम्भकाले, प्रायः = बाहुल्येन, शास्त्रेत्यादिः—शास्त्राणि (= आन्वीक्षिक्यादिविद्याः) एव जलम् (= वारि) तेन यत् प्रक्षालनम् (= धावनम्, परिमार्जनम्) तेन हेतुना निर्मला (= कालुष्यरहिता स्वच्छा) अपि बुद्धिः (= मतिः) कालुष्यम् (= कलुषताम्, वैपरीत्यम्) उपयाति (= गच्छति), शास्त्रज्ञानजन्यबुद्धिविकासो नश्यतीति भावः। अत्र रूपकं विरोधाभासश्चेत्यनयोः अङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

अनुज्झितेति। अनुज्झितधवलता—अनुज्झिता (= अपरित्यक्ता) धवलता (= शुभ्रता) यया सा तादृशी, अपि, यूनाम् = तरुणानाम्, दृष्टिः = नेत्रम्, सरागा—रागेण (= लौहित्येन) सहिता एव, भवति। अत्रार्थे विरोधः, अस्य परिहारस्तु—रागेण (= अनुरागेण, विषयाभिलाषेण) सहिता भवति। एवञ्च विरोधाभासोऽलङ्कारः।

अपहरतीति। च शब्दःकिञ्चेत्यर्थे। यौवनसमये = तारुण्यकाले, समुद्भूतरजो-भ्रान्तिः-समुद्भूता (= समुत्पन्ना) रजसाम् (= धूलिकणानाम्) भ्रान्तिः (= भ्रमणम्) यस्यां सा तादृशी, वात्या = वातसमूहः, इव, समुद्भूतरजोभ्रान्तिः—समुद्भूता (= समुत्पन्ना) रजसा (= रजोगुणेन) भ्रान्तिः (= भ्रमः) यस्यां सा तादृशी, प्रकृतिः = स्वभावः, मनोवृत्तिः, पुरुषम् = मनुष्यम्, आत्मेच्छया = निजेच्छया, अतिदूरम् = अतिविप्रकृष्टम्, अनिष्टकारिस्थानपर्यन्तम्, अपहरति = प्रापयति। अत्रोपमा। [वातानां समूहः—इत्यर्थे 'पाशादिभ्यो यः (४।२।४९) इति सूत्रेण यप्रत्यये अल्लोपे टापि च वात्येति साधुः।] आत्मेच्छया—इत्यत्रात्मना प्रकृतेः परामर्शः।

फिर [इन चारों के] समूह का तो कहना ही क्या ? और यौवन के प्रारम्भ में प्रायः शास्त्र (-अध्ययन) रूपी जल के प्रक्षालन से निर्मल होती हुई भी बुद्धि कलुषता (दूषण) को प्राप्त हो जाती है, मैली हो जाती है। युवकों की दृष्टि [अपनी] धवलता को न छोड़ती हुई भी सरागा (१–लालिमा, २–प्रेम से युक्त) ही होती है। जिस प्रकार वात्या = बवण्डर रजः (धूलि) की भ्रान्ति(चक्कार) से युक्त होती हुई अपनी इच्छा से सूखे पत्ते को बहुत दूर तक उड़ा कर ले जाती है उसी प्रकार यौवन के समय में प्रकृति (स्वभाव), मनोवृत्ति (जिसमें रजोगुण के कारण भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती है), पुरुष को अपनी (अर्थात् प्रकृति की) इच्छानुसार दूर तक ले जाती है। [जैसे सूखा पत्ता वातसमूह के गोल चक्कर में फँसकर बहुत दूर तक उड़ता चला जाता है। वैसे ही यौवन में रजोगुण से उत्पन्न भ्रान्ति वाली प्रकृति

१. धवलापि। २. सरागेव। ३. अदूरम्, दूरम्।

इन्द्रियहरिण-हारिणी[1] च सततदुरन्तेयमुपभोगमृगतृष्णिका[2]। नवयौवनकषायितात्मनश्च सलिलानीव तान्येव विषयस्वरूपाण्यास्वाद्यमानानि मधुरतराण्यापतन्ति मनसः। नाशयति च दिङ्मोह इवोन्मार्गप्रवर्त्तकः पुरुषमत्यासङ्गो विषयेषु। भावदृशा एव भवन्ति भाजनान्युप-[3]

इन्द्रियेति। च शब्दः किञ्चेत्यर्थे। इन्द्रियेत्यादिः—इन्द्रियाणि (=हृषीकाणि) एव हरिणाः (=मृगाः) तान् हरति (=आकर्षति) इति तादृशी इयम्=सन्निकटस्था, उपभोगमृगतृष्णिका—उपभोगः (=कामिन्यादिसंभोगभिलाषः) एव मृगतृष्णिका (=मरीचिका) सततदुरन्ता—सततम् (=निरन्तरम्) दुरन्ता (=दुःखावसाना)। मरुभूमौ मध्याह्ने तृषार्त्ताः हरिणाः रविकिरणेषु जलभ्रान्त्या धावन्ति किन्तु धावन्तोऽन्ते जलमलभमानाः म्रियन्ते तथैव मानवानामिन्द्रियाण्यपि विषयान् प्रति धावन्ति सन्ति दुःखमेव जनयन्ति। अत्र परम्परितरूपकालङ्कारो बोध्यः।

नवेति। नवेत्यादिः—नवयौवनेन (=अभिनवतारुण्येन) कषायितः (= विपरिवर्तितः, विकृतः) आत्मा (=स्वरूपम्) यस्य तस्य तादृशस्य पुरुषस्येति शेषः यद्वा आत्मनः=मनसः=चित्तस्य, सलिलानि=जलानि, इव, तानि=पूर्वानुभूतानि, प्रथितानि, एव, विषयस्वरूपाणि=भोग्यवस्तूनि शब्दस्पर्शादीनि आस्वाद्यमानानि=उपभुज्यमानानि सन्ति, मधुरतराणि=अतिशयेन सुरसानि, आपतन्ति= आपाततः प्रतीयन्ते। यथा कश्चन जनो हरीतक्यादिभक्षणेन कषायितायां जिह्वायां पीयमानममधुरमपि सलिलं मधुरमनुभवति तथैव नवयौवनेन कषायिते चेतसि वस्तुतोऽमधुरा हानिकरा अपि विषया आस्वाद्य-मानाः मधुरा एव प्रतीयन्ते, कदाचित्तु मधुरतरा अनुभूयन्ते। अत्रोपमा स्पष्टा।

का तेन हानिरिति चेदाह—नाशयतीति। च=किञ्च। उन्मार्गप्रवर्त्तकः—उन्मार्गे (= कुपथे) प्रवर्त्तकः (=प्रेरकः) दिङ्मोहः=दिशाभ्रान्तिः, इव=यथा, विषयेषु=चन्दनवनितादिषु, अत्यासङ्गः= अतीवासक्तिः, पुरुषम्=मनुष्यम्; नाशयति=नष्टं करोति, अधः पातयतीति भावः। दिङ्मोहो यथाऽ-नभिप्रेतपथे पुरुषं नीत्वा तं नाशयति पीडयति तथैव विषयेषु अतितरामासक्तिरपि पुरुषमनुचितदेशं प्रापय्याधः पातयतीति साम्यादुपमा।

भवादृशा इति। भवादृशाः=भवत्सदृशाः, सुयोग्या इत्यर्थः, एव, उपदेशानाम्=समुचित-शिक्षाणाम्, भाजनानि=पात्राणि, भवन्ति=विद्यन्ते, नान्ये इति भावः। उचिते पात्रे एव दीयमानं

पुरुष को विवश करके इधर उधर अनिष्ट स्थानों पर पहुँचा देती है।] और इन्द्रिय रूपी हिरनों को हर लेने वाली यह उपभोगरूपी मृगतृष्णा निरन्तर दुरन्ता=कष्ट से समाप्त होनेवाली या बुरे परिणाम वाली होती है। नये यौवन से कसैले चित्तवाले पुरुष के मन को जल के समान भोग किये जाते हुए विषयों के स्वरूप और अधिक मीठे (मनोहर) प्रतीत होते हैं। [जैसे कोई व्यक्ति हर्रा आदि कसैली चीज खाने के बाद पानी पीता है तो वही पानी और अधिक मीठा लगने लगता है वैसे ही यौवन में अन्तःकरण कसैला हो जाने से उन्हीं विषयों का आनन्द और अधिक प्रतीत होने लगता है।] गलत मार्ग पर ले जाने वाले दिङ्मोह (दिशासम्बन्धी अज्ञान या भ्रम) के समान ही विषयों (स्त्री-सम्पर्कादि) में अत्यासक्ति भी पुरुष को कुत्सित मार्ग में ले जाने वाली होती हुई, उसका विनाश

१. इन्द्रियहरिणहरती च। २. सततमतिदुरन्ते इवं दूरं नयत्युपभोग०। ३. भाजनम्।

देशानाम्। अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखेनोपदेशगुणाः[1]। गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य। इतरस्य तु[2] करिण इव शङ्खाभरणमाननशोभासमदयमधिकतरमुपजनयति। हरत्यतिमलिनमन्धकारमिव[3] दोषजातं प्रदोषसमयनिशाकर इव। गुरूपदेशः प्रशमहेतुर्वयः[4]परिणाम इव पलितरूपेण

ज्ञानं फलति। कथमिति चेत्तत्राह—अपगतेति। हि=यतः, अपगतमले—अपगतम् (=दूरीभूतम्, विनष्टम्) मलम् (=कालुष्यम्) यस्मात् तस्मिन् तादृशे, स्फटिकमणौ = स्फटिकरत्ने, रजनिकर-गभस्तयः=चन्द्ररश्मयः, इव, अपगतमले, मनसि=चित्ते, उपदेशगुणाः=शिक्षणगुणाः, सुखेन=अनायासेन, विशन्ति=प्रविशन्ति। यथा निर्मले स्फटिकमणौ चन्द्रकिरणानां सुखेन प्रवेशो भवति तथैव निर्मले एव मनसि शिक्षाया गुणानामपि प्रवेशो भवति। साम्यप्रतिपादनादुपमा।

गुरुवचनमिति। गुरुवचनम्—गुरुः (=हिताहितोपदेष्टा शुभचिन्तकः) तस्य वचनम् (=वाक्यम्, शिक्षणम्) अमलम् (=निर्मलम्), सद् अपि, अभव्यस्य=असाधोः, नीचस्येति भावः, श्रवणस्थितम्=श्रोत्रगतम्, सलिलम्=जलम्, इव, महत्=अतिशयम्, शूलम्=वेदनाम्, उपजनयति=उत्पादयति। यथा श्रोत्रपतितं निर्मलमपि सलिलं महत् कष्टं जनयति तथैव निकृष्टजनस्य कर्णगतं हितकरममलमपि गुरोः शिक्षणं तस्य कष्टप्रदमेव भवतीति भावः। अत्रोपमा।

इतरस्येति। इतरस्य=अभव्यभिन्नस्य योग्यस्येति भावः, तु, गुरुवचनमिति शेषः, करिणः=गजस्य, शङ्खाभरणम्=कम्बुविभूषणम्, इव, अधिकतरम्=प्रचुरतरम्, आननशोभासमुदयम्=मुखसौन्दर्य-संघातम्, उपजनयति=उत्पादयति। अत्रोपमा। अत्र प्रायशो व्याख्यासु "आननशोभासमुदयम्= मुख-कान्त्युत्पत्तिम्, वदनसौन्दर्योत्पत्तिम्' इति समुदयशब्द उत्पत्त्यर्थकोऽवलोक्यते। परन्तु नैतदुचितम् 'उपजनयती'ति क्रियापदेन पौनरुक्त्यापत्तेः। अतः "समुदायः समुदयः समवायश्चयो गणः।' २।५।४० इत्यमरानुसारं समूहार्थक एव 'समुदय' शब्दोऽत्र बोध्यः।

हरतीति। अस्मिन्नपि वाक्ये 'गुरुवचनम्' इति कर्तृत्वेन सम्बध्यते। प्रदोषेत्यादिः—प्रदोषसमये (=रजनीमुखकाले) यः निशाकरः (=चन्द्रः), स इव, गुरुवचनम्, अतिमलिनम्=अत्यन्तमलीमसम्, अन्धकारम्=तमः, इव, दोषजातम्=कामक्रोधादि-दोषसमूहम्, हरति=दूरीकरोति। अत्र द्विः प्रयुक्त इव शब्दो गुरुवचनस्य अन्धकारस्य च साम्यं प्रतिपादयति। तेनोपमा बोध्या।

पूर्वोक्तमेव प्रकारान्तरेण वर्णयति—गुरुपदेश इति। प्रशमहेतुः—प्रशमः (= कामादिविकार-प्रशमनम्) तस्य हेतुः (=कारणम्), वयः परिणामः=अवस्थापरिणतिः, वार्धक्यम्, शिरसिज-जालम्=

(पतन) कर देती है। जैसे निर्मल स्फटिकमणि में चन्द्रमा की किरणें सरलता से प्रविष्ट हो जाती हैं वैसे ही निर्मल (सांसारिक विकार-रहित) मन में [गुरुओं के] उपदेश के गुण अनायास प्रविष्ट हो जाते हैं (प्रभाव डालते हैं)। जैसे जल [स्वतः] निर्मल [होता हुआ भी] कान में स्थित [पहुँचा हुआ] अत्यन्त वेदना उत्पन्न करता है वैसे ही गुरु का उपदेश (वचन) निर्मल (हितकारक) होता हुआ भी अभव्य (दुष्ट, निकृष्ट) व्यक्ति के कान में स्थित (पहुँचा हुआ) अत्यन्त पीड़ा उत्पन्न करता है। परन्तु [वही गुरूपदेश] अभव्य से भिन्न अर्थात् सज्जन (विवेकशील) व्यक्ति के मुख की और अधिक शोभा वैसे ही बढ़ाता है जैसे शङ्खनिर्मित आभूषण हाथी के मुख के सौन्दर्यसमूह को उत्पन्न करता है। और जैसे रात्रि के प्रारम्भकाल का चन्द्रमा अत्यधिक मलिन भी अंधकार को दूर कर देता

१. सुखम्। २. च। ३. हरति च सकलम्०। ४. क्वचित् 'वयः' पदं नास्ति।

शिरसिजजालममलीकुर्वन् गुणरूपेण तदेव परिणमयति। अयमेव चानास्वादित-विषय-रसस्य ते काल उपदेशस्य। कुसुमशर-शर[1]-प्रहार[2]जर्जरिते हि[3] हृदि[4] जलमिव गलत्युपदिष्टम्। अकारणञ्च भवति दुष्प्रकृतेरन्वयः श्रुतं वाविनयस्य[5]। चन्दनप्रभवो[6] न दहति किमनलः? किंवा

शिरःस्थितकेशराशिम्, अमलीकुर्वन्=स्वच्छीकुर्वन्, तदेव=शिरसिजजालम् एव, पलितरूपेण=वार्धक्य-हेतुकशुक्लत्वरूपेण, परिणमयति=परिपाकं नयति। तद्वत्, प्रशमहेतुः—प्रशमः (=अन्तरिन्द्रियनिग्रहः) तस्य हेतुः (=कारणम्) गुरूपदेशः=गुरुशिक्षा, दूषणजातम्, अमलीकुर्वन् तदेव=दूषणजातमेव, गुणरूपेण=दयादाक्षिण्यादि-गुणरूपेण, परिणमयति=परिवर्त्तयति। अत्र वयः परिणामेन वार्धक्येन सह गुरूपदेशस्य साम्यं प्रतिपादयति। यथा कामादिविकार-प्रशमन-हेतुः वयःपरिणामः (वार्धक्यम्) केशसमूहं निर्मलीकुर्वन् तमेव केशसमूहं पलितरूपेण परिणमयति तथैव प्रशमहेतुः (= अन्तरिन्द्रिय-निग्रहकारणीभूतः)गुरूपदेशोऽपि दोषजातममलीकुर्वन् तदेव च गुणरूपेण परिणमयतीति भावः। उपमात्र।

समयान्तरे उपदेशकरण-सम्भवे सत्यपीदानीमेव कथमुपदिश्यते इति चेत्तत्राह—अयमेवेति। अनास्वादितेत्यादिः—अनास्वादितः (= नानुभूतः) विषयाणाम् (= रूपरसादीनाम्) रसः (=आस्वादः) येन तस्य तादृशस्य, ते=तव, उपदेशस्य=शिक्षणस्य, अयम्=एषः, एव, कालः=समयः। यौवराज्येऽभिषिक्ते तु कृतविषयरसास्वादस्य ते उपदेशो व्यर्थं एव भविष्यतीति भावः।

आस्वादितविषयरस्योपदेशे का क्षतिरित्यत आह—कुसुमशरेति। हि=यतः, कुसुमशरेत्यादिः—कुसुमशरः (=कामदेवः) तस्य ये शराः (=बाणाः) तेषां प्रहारेण (=आघातेन) जर्जरितम् (=जीर्णम्, विदीर्णम्) तस्मिन् तादृशे, हृदि=हृदये, उपदिष्टम्=शिक्षितम्, गुरुवचनम्, सलिलम्=जलम् इव, गलति=क्षरति, निरर्थकं भवतीति भावः। चालन्यां यथा जलं स्थापयितुं न शक्यते तथैव अनङ्गबाण-प्रहार-विदीर्णे हृदये गुरूपदेशः स्थातुं न शक्नोतीति भावः। अत्रोपमा।

किमुत्तमकुलोत्पन्नां गृहीतशिक्षाणामपि सामान्यैव स्थितिरित्यत आह—अकारणमिति। च = किन्त्वित्यर्थे। दुष्प्रकृतेः=दुरात्मनः, असत्स्वभावस्य, अन्वयः=सद्वंशः, वा=अथवा, श्रुतम्=शास्त्रज्ञानम्, विनयस्य=सन्मार्गप्रवृत्तेः, अकारणम्=अहेतुः भवति, हेतुर्न भवतीति भावः। क्वचित्तु—"··· श्रुतं वाऽविनयस्य" इति पाठः। अत्र दुष्प्रकृतेः अविनयस्य=नम्रतारहितस्य पुरुषस्य—इत्यादि पूर्ववत् व्याख्या कार्या। 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते।" "न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः। स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥" प्रभृतिभिर्वचनैः स्वभावस्यैव प्राधान्यं प्रतिपाद्यते न कुलस्य न वाध्ययनस्येति बोध्यम्।

स्वोक्तमर्थं समर्थयते—चन्दनेत्यादिना। चन्दनप्रभवः—चन्दनात् (=मलयजात् वृक्षात्) प्रभवति

है वैसे ही [गुरुवचन भी] अति मलिन (अत्यन्त निकृष्ट भी) दोषसमूह को दूर कर देता है [अज्ञान रूपी अंधकार को हटा देता है।] जैसे प्रशम अर्थात् कामादिविकारों के शान्त करने का कारणभूत अवस्था का परिणाम अर्थात् बुढापा सिर के केशों के समूह को अमल=सफेद करता हुआ उन्हीं केशों को [ज्येष्ठता और अनुभवशीलता आदि] गुण के रूप से परिणत कर देता है वैसे ही प्रशमहेतु अन्तरिन्द्रिय-निग्रह का कारणभूत) गुरु का उपदेश [उस दोषसमूह को निर्मल करता हुआ] उसी को गुण रूप से बदल देता है। और सांसारिक विषयों के आस्वाद (उपभोग) से रहित आपके लिये उपदेश का यही उचित समय है। क्योंकि कामदेव के बाणों के प्रहार से जर्जरित (बेधे गये)

१. कुसुमशर-प्रहार०।　२. ···संप्रहार०।　३. 'हि' इति नापि विद्यते।
४. हृदये।　५. श्रुतं चाऽविनयस्य।　६. चन्दनप्रभवोऽपि।

प्रशमहेतुनापि न प्रचण्डतरीभवति वडवानलो वारिणा ? गुरूपदेशश्च नाम पुरुषाणामखिल-मलप्रक्षालनक्षममजलं स्नानम्[1], अनुपजातपलितादिवैरूप्यमजरं वृद्धत्वम्[2], अनारोपितमेदोदोषं गुरूकरणम्[3], असुवर्णविरचनमग्राम्यं कर्णाभरणम्[4],अतीतज्योतिरालोकः, नोद्वेगकरः प्रजागरः ।

(=सङ्घर्षेण उत्पद्यते) इति चन्दनप्रभवः, अनलः =अग्निः, किं न =नैव, दहति =ज्वलयति, भस्मसात् करोति ? अपि तु दहत्येव । चन्दनं तु शीतलं किन्तु तस्माज्जातोऽग्निस्तु तद्विपरीतो दाहक एव । वा =अथवा, प्रशमहेतुना=तापशमनकारणीभूतेन, अपि, वारिणा =जलेन, वाडवानलः = वडवाग्निः, किं न =नैव, प्रचण्डतरीभवति = प्रबलतरीभवति ? अपि तु भवत्येव । एवमेव शास्त्रज्ञानं विनयस्य कारणं नापि भवति । अत्रापि स्वभावस्यैव प्राधान्यं दृश्यते ।

प्रकारान्तरेण पुनरपि गुरुवचनानां महत्त्वं निरूपयति—गुरूपदेशश्चेति । च शब्दः किञ्चेत्यर्थे । गुरूपदेशः—गुरूणाम् (=हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेशकानाम्) उपदेशः (=शिक्षणम्) नाम =इदं प्रसिद्धौ, पुरुषाणाम् =मनुष्याणाम्, अखिलमल-प्रक्षालन-क्षमम्—अखिलम् (=समस्तम्) यत् मलम् (=कालुष्यम्) तस्य प्रक्षालने (=धावने,स्वच्छीकरणे) क्षमम् (=समर्थम्) अजलम् =जलभिन्नम्, स्नानम् =मज्जनम् । अन्यत् स्नानं तु जलसहितमेव भवतीत्यस्योत्कृष्टत्वं बोध्यम् ।

अनुपजातेति । गुरूपदेशः—इति सर्वत्र योज्यम्, अनुपजातेत्यादिः—अनुपजातम् (=अनुत्पन्नम्) पलितादि (=वार्धक्यमूलककेशश्वेतत्वादि) वैरूप्यम् (=विरूपता) यस्मिन् तादृशम्, अथ च अजरम्—अविद्यमाना (= न वर्तमाना) जरा (= जीर्णता) यस्मिन् तादृशम्, वृद्धत्वम् = स्थविरत्वम् । अन्यत्प्रसिद्धं वृद्धत्वन्तु उपजातपलितादि-वैरूप्यमथ च सजरं भवतीत्यस्योत्कृष्टत्वम्, सदसद्विवेकोत्पादनादस्य वैलक्षण्यमपीति भावः । अस्मिन् विषये महर्षिमनुरुवाच—"न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः । यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ [मनुः]

अनारोपितेति । गुरूपदेशः, अनारोपितेत्यादिः—अनारोपितः (=अविहितः, अनुत्पादितः वा) मेदसः (=वसायाः) दोषः (=दुर्गुणः, स्थूलत्व-तुन्दिलत्वादिः) येन यस्मिन् वा तादृशम्, गुरूकरणम् = स्थूलीकरणम्, गौरवहेतुस्वरूपः, अन्यत्र गुरूकरणे मेदोदोषः स्थूलत्वादिः भवत्येवेत्यस्य वैलक्षण्यम् ।

असुवर्णेति । गुरूपदेशः, असुवर्णविरचनम् =अविद्यमाना सुवर्णेन =काञ्चनेन, विरचना = निर्माणम्, यस्य यस्मिन् वा, तत् तादृशम् अग्राम्यम् =ग्राम्यत्वदोषशून्यम्, नागरिकमिति भावः, कर्णाभरणम् = श्रवणाभूषणम् । अन्यत् कर्णाभरणन्तु स्वर्णनिर्मितं ग्राम्यत्वादि-दोषविशिष्टमपि भवति । गुरूपदेशस्तु केवलं श्रुतिमात्रेणैव श्रोत्रशोभां वर्धयति वैदग्ध्यादि-सम्पादनद्वारेति अस्योत्कृष्टत्वम् ।

हृदय में उपदेश उसी प्रकार बह जाता है जैसे छिद्रयुक्त पात्र में पानी । दुष्ट प्रकृति वाले के लिए उत्तम कुल और अध्ययन विनय के कारण नहीं होते हैं अर्थात् उच्चकुल में पैदा हुआ है अथवा बहुत पढ़ा है इसलिए विनयी ही होगा—ऐसा नियम नहीं है । क्योंकि चन्दन की लकड़ी से उत्पन्न होनेवाली आग क्या नहीं जलाती है ? अथवा आग को शान्त करने के कारणभूत भी जल द्वारा क्या बड़वानल और अधिक प्रचण्ड नहीं होता है ? गुरु का उपदेश सभी दोषों को दूर करने में समर्थ बिना जल का स्नान है । जिसमें श्वेतकेशता (=बालों का सफेद होना) आदि कोई [शारीरिक] विकार नहीं उत्पन्न होता है ऐसा बुढ़ापे से रहित वृद्धत्व (वृद्ध होना) है । मेदोदोष (चरबी) को न

१. अजलस्नानम् । २. मवबोधम् । ३. विरचना ग्राह्यम् । ४. अपनीत० ।

विशेषेण राज्ञाम्[1]। विरला हि तेषामुपदेष्टारः। प्रतिशब्दक[2] इव राजवचनमनुगच्छति जनो भयात्। उद्दाम-दर्पाश्च[3] पृथुस्थगित-श्रवणविवराश्चोपदिश्यमानमपि[4] ते न शृण्वन्ति। शृण्वन्तोऽपि

अतीतेति। गुरूपदेशः, अतीतज्योति —अतीतम् (=गतम्) ज्योतिः (=प्रकाशः) यस्मात् तादृशः आलोकः (=प्रकाशः)। अयमुपदेशो ज्योतिर्विनापि सर्वाधिकं प्रकाशं जनयतीति भावः। ज्योतिः शब्दस्य नित्यनपुंसकत्वेन पुंसि केषाञ्चनोल्लेखः प्रामादिक एवेति बोध्यम्।

नोद्वेगेति। नोद्वेगकरः—न (=नैव) उद्वेगकरः (=सन्तापकारकः) प्रजागरः=अतिशय-जागरणम्। अन्यत्र प्रजागरे तु मानसी शारीरिकी च व्यथा भवति। गुरूपदेशेन यो जागरः=प्रबोधो भवति तेन तु अज्ञानादिजन्याः पीडा विनश्यन्तीति अस्य वैलक्षण्यम्। अजलस्नानमित्याद्यारम्य प्रजागर-इत्यन्तं सर्वत्र उपमेये गुरूपदेशे उपमानानां स्नानादीनां तत्तद्वैशिष्ट्यरूपकमलङ्कारो बोध्यः।

अयमुपदेशो न केवलं तवैवेत्यत आह—विशेषेणेति। एते पूर्वोक्ता उपदेशाः,राज्ञाम्=नृपाणाम्, विशेषेण=आधिक्येन,प्रदातव्याः। कथमिति चेत्तत्राह—हीति। हि=यतः,तेषाम्,राज्ञामित्यर्थः,उपदेष्टारः= उपदेशकाः उपदेशप्रदानशक्तिमन्त इति भावः, विरलाः = स्वल्पा, एव भवन्ति। कोऽत्र हेतुरित्यत आह—प्रतिशब्दक इति। जनः=लोकः, जातावेकवचनम्, भयात्=भीतेः, राजवचनम्=नृपकथनम्, प्रतिशब्दकः=प्रतिध्वनिः, इव=यथा, अनुगच्छति=अनुव्रजति। अनुचिते सत्यपि तस्य प्रत्युत्तरं दातुं न प्रभवति। अत एव नृपोपदेशकानां विरलत्वं बोध्यम्।

यदि कश्चिन्निर्भीकः सन् हिताय उपदेष्टुं प्रयतेत एव तर्हि को दोष इत्यत आह—उद्दामेति। उद्दामदर्पाः—उद्दामा (=उत्कटाः) दर्पाः (=अहङ्काराः) येषां ते तादृशाः, पृथुस्थगितेत्यादिः—पृथु (=बहु यथा स्यात् तथा) स्थगिते (=आच्छादिते, संवृते) श्रवणविवरे (=श्रोत्ररन्ध्रे) येषां ते तादृशाश्च सन्तः, ते=राजानः, उपदिश्यमानम्=कथ्यमानम्, अपि, गुर्वादिभिरिति शेषः, न=नैव, शृण्वन्ति=आकर्णयन्ति। यथा लोके शोथेन कर्णविवरे अवरुद्धे सति श्रोतुं न शक्यते तथैव राजानोऽपि अहंकारातिशयेन श्रवणशक्तिहीनाः सम्पद्यन्ते इति भावः। अत्र चकारद्वय-प्रयोग एककालं सूचयतीति बोध्यम्।

ननूपदेशसमये तत्र विद्यमाना उपदेशदायिनमवारयन्तोऽपि राजानः कथं नाकर्णयन्तीत्यत आह—शृण्वन्त इति। शृण्वन्तः=आकर्णयन्तः, अपि, ते गुरूपदेशानिति शेषः,गजनिमीलितेन—गजः (=करी)

उत्पन्न करनेवाला गुरूकरण (१-भारी बना देना, २-महत्त्वपूर्ण बना देना) है। जिसकी स्वर्ण से रचना नहीं होती है ऐसा ग्राम्यत्व (=गवांरपन) से रहित [श्रोताओं के] कान का आभूषण है। अर्थात् कान का आभूषण होने पर भी सोने से निर्मित नहीं है और न अशोभनीय है। [भौतिक] ज्योति से रहित प्रकाश है। अर्थात् ज्वालायुक्त न होता हुआ भी प्रकाश है। और उद्वेग (= थकान, व्याकुलता) न करनेवाला प्रबोध (जागरण) है। [अन्यत्र जागरण में उद्वेग होता है किन्तु गुरूपदेश से जो प्रबोध=जागरण होता है वह कल्याणकारी ही होता है।] और [यह गुरूपदेश] विशेष रूप से राजाओं के लिए हैं क्योंकि उनको उपदेश देनेवाले विरल (बहुत कम) ही होते हैं। कारण यह है कि भय से लोग राजा के वचनों का प्रतिध्वनि के समान पालन (अनुसरण) करते हैं। उत्कट अहंकारवाले

१. अत्र 'तु' इत्यधिकोऽपि पाठः। २. एव।

३. उद्दामदर्पश्वयथुस्थगित०,उद्दामदर्पाश्च पृथुस्थगित-दर्पाश्वयथुसंस्थगित। ४. उपदिश्यमपि।

च गजनिमीलितेनावधीरयन्तः[1] खेदयन्ति हितोपदेशदायिनो गुरून्। अहङ्कार-दाहज्वर-मूर्च्छान्धकारिता विह्वला हि राजप्रकृतिः, अलीकाभिमानोन्मादकारीणि धनानि, राज्य-विषविकार-तन्द्राप्रदा[2] राजलक्ष्मीः[3]।

'आलोकयतु तावत् कल्याणाभिनिवेशी लक्ष्मीमेव प्रथमम्। इयं हि खड्गमण्डलोत्पल-वन-विभ्रम-भ्रमरी लक्ष्मीः क्षीरसागरात् पारिजातपल्लवेभ्यो[4] रागम्, इन्दुशकलादे-

तद्वत् यत् निमीलितम् (=नेत्रसङ्कोचनम्) तेन। [वस्तुतस्तु—गजनिमीलितमिव यत् निमीलितं तेन—इत्येव व्याख्यानमुचितम्।] अवधीरयन्तः=अवहेलयन्तः, उपदेशमिति शेषः, हितोपदेशदायिनः= कल्याणप्रदशिक्षाप्रदायकान्, गुरून्=शिक्षकान्, खेदयन्ति=क्लेशं प्रापयन्ति, तदुपदेशावज्ञासम्पादनेनेति भावः। अत्र लुप्तोपमा।

राजस्वभावमाह—अहङ्कारेति। हि=यस्मात्, राजप्रकृतिः=नृपस्वभावः, अहङ्कारेत्यादिः—अहङ्कारः (=अभिमानः) एव दाहज्वरः (=तीव्रतापः) तेन या मूर्च्छा (=मोहः) तया अन्धकारिता (=अन्धकार इवाचरिता, सञ्जातान्धकारा, सदसद्विवेकशून्येति भावः), अत एव, विह्वला= विक्लवा चञ्चला वा। धनानि=सम्पत्तयः, अलीकेत्यादिः—अलीकः (= मिथ्या) योऽभिमानः (=दर्पः) उन्मादः (=उन्मत्तता) च तौ कर्तुं शीलं येषां तानि तादृशानि। यद्वा—अलीकाभिमानेन उन्मादकारीणि धनानि। राजलक्ष्मीः=राजश्रीः, राज्येत्यादिः—राज्यम् (=आधिपत्यम्) एव विषम् (=गरलम्) तस्माद् यो विकारः (=विकृतिः) तेन या तन्द्रा (=प्रमीला) तां प्रददातीति सा तादृशी। एतैः कारणैरेव राजानः पूर्वोक्तानि विचित्राणि रूपाणि धारयन्तीति भावः। अत एव राज्ञामुपदेशस्य परमावश्यकता वर्तते। भवांश्च शीघ्रमेव आधिपत्ये अभिषिक्तो भविष्यतीतीदानीमेवोपदेशौचित्यं भवतीति शुकनासस्याशयः।

इदानीं लक्ष्मीस्वभाववर्णनमाध्यमेन तस्या वैलक्षण्यं प्रतिपादयति—आलोकयत्वित्यादिना। कल्याणाभिनिवेशी—कल्याणम् (= मङ्गलम्) अभिनिविशते (=आग्रहं करोति) इति तच्छीलः मङ्गलविषयकाग्रहवान् भवान्, प्रथमम् = आदौ, तावत्=इदं वाक्यालंकारे, लक्ष्मीम् = श्रियम्, एव, पश्यतु=विलोकयतु।

इयमिति। हि=यतः, खड्गेत्यादिः—खड्गमण्डलम् (=असिसमूहः) एव उत्पलवनम् (=कमलकाननम्) तस्मिन् यो विभ्रमः (= विचरणम्), तत्र भ्रमरी (=मधुकरी, तत्तुल्येति भावः), इयम्=एषा, निरूप्यमाना,लक्ष्मीः=श्रीः, पारिजातपल्लवेभ्यः=कल्पवृक्षकिसलयेभ्यः, रागम्=

और [दर्परूपी शोथ=सूजन से] जिनके कर्णछिद्र अच्छी तरह से रुँधे हुए हैं ऐसे [राजा लोग] दिए जाते हुए भी उपदेश को नहीं सुनते हैं। और सुनते हुए भी हाथी के आँख बन्द कर लेने के समान अर्थात् उनकी पूर्ण उपेक्षा करते हुए उन हितकारी उपदेश देनेवाले गुरुओं को दुःखी करते हैं। अहंकाररूपी दाहक ज्वर से उत्पन्न मूर्च्छा (अचेतनता) से अन्धकारयुक्त (अज्ञानी) बनी राजप्रकृति (राजस्वभाव) विह्वल रहती है, परेशान रहती है। धन झूठे अभिमान और उन्माद को उत्पन्न करानेवाले होते हैं। और राजलक्ष्मी राज्यविषरूपी विकार से उत्पन्न तन्द्रा (आलस्य) को देने वाली(उत्पन्न करनेवाली) है।

कल्याण [-कारक कार्यों] में आग्रह रखनेवाले [प्रिय चन्द्रापीड आप] पहले लक्ष्मी को ही देख लें। यह लक्ष्मी जो मानों [शूर वीर योद्धाओं की] तलवारों के कमलवन में विचरण करनेवाली भौंरी है जो साथ में रहने के परिचय के कारण क्षीरसमुद्र से [बाहर आते समय]—पारिजात (कल्प वृक्ष) के पत्तों से राग (=१-लालिमा,२—आसक्ति), चन्द्रमा की कला से पूर्ण वक्रता (१—टेढ़ापन,

१. अवधारयन्तः। २.···तन्द्राप्रदा,विषतन्द्रीः। ३. राज्यलक्ष्मीः। ४. क्वापि 'सुभद्र' इत्यधिकम्।

कान्तवक्रताम्, उच्चैःश्रवसश्चञ्चलताम्, कालकूटान्मोहनशक्तिम्, मदिराया मदम्, कौस्तुभमणेर्नैष्ठुर्य्यम्,[1]— इत्येतानि सहवास-परिचयवशाद्विरहविनोदचिह्नानि गृहीत्वेवोद्गता[2]।

नह्येवंविधमपरिचितमिह[3] जगति किञ्चिदस्ति[4], यथेयमनार्य्या[5]। लब्धापि खलु दुःखेन परिपाल्यते। दृढगुण-सन्दान[6]-निष्पन्दीकृतापि नश्यति। उद्दाम-दर्प-भटसहस्रोल्लासिता[7]-

रक्तिमानम्, विषयाभिलाषं च, 'गृहीत्वा इवोद्गता' इति मुख्यं वाक्यं सर्वत्र योज्यम्। [यथा कश्चन लोकः स्थानान्तरं गन्तुं प्रवर्तते तदा सहवासजनितपरिचयात् तत्तद् वैशिष्ट्यमपि स्वसार्धं नयति। एवमेव क्षीरसागरे निवासकाले स्वसहवासिनां यानि वैशिष्ट्यानि तानि सर्वाणि नीत्वेव लक्ष्मीः क्षीरसागरात् प्रादुर्भूतेति भावः। अत एव क्षीरसागरस्थितानां सर्वेषां वैशिष्ट्यमत्र प्रदर्शयति।] इन्दुशकलात् = चन्द्रखण्डात्, एकान्तवक्रताम् = नितान्तकुटिलताम्, प्रतिकूलताम् च, उच्चैःश्रवसः = इन्द्रवाहनीभूतादश्वविशेषात्, चञ्चलताम् = चपलताम्, अल्पकालस्थायित्वम्, च। कालकूटात् = कालकूटनामकविष-विशेषात्, मोहनशक्तिम् = मूर्च्छोत्पादनसामर्थ्यम्, अन्यवशीकरणशक्तिं च। मदिरायाः = मद्यात्, मदम् = उन्मादकत्वम्, औद्धत्यं च। कौस्तुभमणेः = कौस्तुभाख्यरत्नात्, नैष्ठुर्यम् = काठिन्यं निर्दयत्वं च। इति = पूर्वोक्तानि, एतानि = रागादीनि, सहवास-परिचयवशात् = एकत्रावस्थानप्रणयवशात्, विरहविनोदचिह्नानि—विरहस्य (= पारिजातपल्लवादिभ्यो वियोगस्य) विनोदचिह्नानि (= अपनोदनचिह्नभूतानि) गृहीत्वा = आदाय, इव, क्षीरसागरात् = दुग्धसमुद्रात्, उद्गता = उत्थिता, बहिरागता। क्वचित्तु 'गृहीत्वैव' इति पाठः। अत्र गृहीत्वा इत्यस्यां क्रियायां पारिजातपल्लवादीनामपादानत्वम्, उद्गता—इत्यस्यां च क्रियायां क्षीरसागरादित्यस्यापादानत्वं बोध्यम्।

लक्ष्म्या एतद्विभूषितस्य नृपस्य च निन्दां प्रस्तौति—न हीत्यादिना। इह = अस्मिन्, जगति = संसारे, एवंविधम् = एतादृशम्, अपरिचितम् = परिचयजन्यस्नेहादिनिरपेक्षम्, किञ्चित् = किमपि, नहि = नैव, अस्ति = वर्तते, यथा = येन प्रकारेण, इयम् = एषा, अनार्या = नीचा, अश्रेष्ठा, लक्ष्मीः वर्तते इति शेषः।

अमुमेवार्थं द्रढयति—लब्धेत्यादिना। लब्धा = प्राप्ता, अपि, इयं लक्ष्मीः, दुःखेन = क्लेशेन, परिपाल्यते = परिपालनविषयीक्रियते, संरक्ष्यते। अन्यस्तु सामान्यप्रयासेन परिपालयितुं शक्यत इति भावः।

दृढेति। दृढेत्यादिः—दृढाः (= गाढाः) ये गुणाः (= शौर्यादयः, सन्धिविग्रहादयश्च) ते एव सन्दानम् (= बन्धनम्) तेन निष्पन्दीकृता (= निश्चलीकृता) अपि, लक्ष्मीः, नश्यति = अभावं गच्छति, अन्यत्र प्रयातीति भावः।

उद्दामेति। उद्दामेत्यादिः—उद्दामा (= उत्कटः) दर्पः (= अभिमानः) येषां तादृशा ये

२—प्रतिकूलता), उच्चैःश्रवा (नामक अश्व) से चञ्चलता (= १—अस्थिरता, २—चपलता), कालकूट (नामक विष) से मोहन शक्ति (१—वश में करने की शक्ति, २—मूर्च्छित करने की शक्ति), मदिरा से मद (१—अहंकार, २—मादकता, नशा), कौस्तुभ मणिसे निष्ठुरता (= १—निर्दयता, २—कठोरता) —इन विरहविनोद (विरहजन्य कष्टों को दूर करने) के चिह्नों को मानों लेकर ऊपर निकली है।

इस संसार में इस प्रकार का अपरिचित कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जैसे की यह दुष्ट लक्ष्मी है। यह प्राप्त हुई भी बहुत दुःख से पाली जाती है, सुरक्षित रखी जाती है। और दृढ़ गुणों (१—शूरता आदि गुणों, २—रस्सियों) के बन्धन से निश्चल की जाती हुई भी नष्ट हो जाती है। उत्कट घमण्डवाले हजारों वीर योद्धाओं द्वारा चमकायीं गईं (ऊपर उठाई गई) तलवार रूपी लताओं (अर्थात् लम्बी-लम्बी तलवारों)

१. प्रतिनैष्ठुर्यम्। २. गृहीत्वैवोद्गता। ३. एवंविधमपरम्। ४. 'किञ्चित्'—इति नापि दृश्यते। ५. अनार्या दुःखेन लभ्यते। ६. दृढगुणपाश०। ७. उल्लसितासि०।

सिलता-पञ्जर-विधृताप्यपक्रामति । मदजल-दुर्द्दिनान्धकारगजघटित-घन-घटा-परिपालितापि[1] प्रपलायते, न परिचयं रक्षति, नाभिजनमीक्षते, न रूपमालोकयते,[2] न कुलक्रममनुवर्त्तते, न शीलं पश्यति, न वैदग्ध्यं गणयति, न श्रुतमाकर्णयति, न धर्म्ममनुरुध्यते, न त्यागमाद्रि-

भटाः (=शूराः) तेषां सहस्रम् (=दशशती, प्रचुरसंख्या) तेन उल्लासिताः (=उत्थापिताः) या असिलताः (=खड्गव्रततयः) ता एव पञ्जरम् (=पिञ्जरम्, पक्ष्यादिबन्धनसाधनीभूतं लौहमयं वस्तु) तस्मिन् विधृता (=स्थापिता, बन्दीकृता), अपि,अपक्रामति=अपसरति, शत्रुनृपं प्रति यातीति भावः । अत्र रूपकम् ।

मदजलेति । मदजलेत्यादिः—मदजलम् (= दानसलिलम्) तदेव अन्धकारः (= तमः, श्यामत्वादिरिति भावः) तेन युक्ताः ये गजाः (= हस्तिनः) तैः घटिता (= निर्मिता) या घना (=निबिडा) घटा (=समूहः) तया परिपालिता (=संरक्षिता), अपि, यद्वा—मदजलैः अन्धकारो येभ्यः तादृशाः ये गजा एव घनाः (=मेघाः) तेषां घटया (=समूहेन) परिपालितापि, प्रपलायते= प्रकर्षेण पलायनं करोति । 'प्र' 'परा' पूर्वकात् 'अय' धातोः रेफस्य लत्वम् "उपसर्गस्यायतौ" इति सूत्रेणेति बोध्यम् । अत्र परम्परितरूपकम् । विभावनाविशेषोक्तिसन्देहानां साङ्कर्यात् सङ्करालङ्कारः ।

नेति । इयं लक्ष्मीः परिचयम्=संस्तवम्, न=नैव, रक्षति=स्थापयति परिचितमपि झटिति परित्यजति, कुक्कुरोपि नैतादृशमाचरति । अभिजनम्=सत्कुलम् न=नैव, ईक्षते = विलोकयति, नीचकुलोत्पन्नं प्रति सत्वरं प्रयाति, भृत्योऽपि नेत्थमाचरति । रूपम्=सौन्दर्यम् न=नैव, आलोकयते= पश्यति, सुरूपमपि पुरुषं विहाय कुरूपमुपयाति, वेश्यापि नेदं करोति । कुलक्रमम्=वंशपरम्पराम्, न= नैव, अनुवर्त्तते=अनुसरति । गजादिरपि नैतादृशं करोति ।

शीलम् = सत्स्वभावम्, न = नैव, पश्यति = विलोकयति, दुष्टं प्रत्यपि भृशं गच्छति । वैदग्ध्यम् = विदग्धताम्, वैदुष्यम्, न = नैव, गणयति = विचारयति, मूर्खं जनमपि आश्रयति । श्रुतम्=शास्त्रश्रवणम्, न=नैव, आकर्णयति=शृणोति शास्त्रज्ञं सन्त्यज्य मूर्खं सेवते इति भावः । धर्मम्=सुकृतम्, न=नैव, अनुरुध्यते=अनुसरति, धर्मानुरोधेन धार्मिकं न समाश्रयतीति भावः। प्रायशः पापिन एव समालिङ्गति । त्यागम्=दानम्, न=नैव, आद्रियते=सत्करोति, दाननिरतजनस्य नादरं करोति । विशेषज्ञताम्=विशेषाभिज्ञताम्, न=नैव, विचारयति=विमृशति । धूर्तोपि नैतादृशं करोतीति भावः । आचारम्=सदाचारम्, न=नैव,विचारयति=चिन्तयति, चाण्डालादिसमीपे प्रयाति ।

के पिंजड़े में स्थापित की गई भी (उससे बचकर) निकलकर भाग जाती है । मदजलरूपी दुर्दिन (वर्षा) से अन्धकारयुक्त हाथियों द्वारा बनाई गई मेघघटाओं (अथवा मेघसमूहों) से सुरक्षित की गई भी [बाहर] भाग जाती है । [यह लक्ष्मी] न तो परिचय (जान पहिचान) की रक्षा करती है, न उच्च कुल को देखती है, न रूप को देखती है, न वंशपरम्परा का अनुसरण करती है । न शील (सत्स्वभाव या सच्चरित्र) को देखती है, न वैदुष्य को गिनती है, न सुनी हुई बात को अर्थात् शास्त्रज्ञान को सुनती है, न धर्म का अनुरोध करती है, न दान का आदर करती है, न विशेषज्ञता का विचार करती है, न आचार (परम्परागत व्यवहार) का पालन करती है, न सत्य को जानती है. और न [शरीर आदि के शुभ] लक्षणों को प्रमाण मानती है । [जिनके शरीर में तिल मस्सा आदि शुभ

१. गजघन० । २. प्रालोकयति ।

यते, न विशेषज्ञतां विचारयति, नाचारं पालयति, न, सत्यमनुबुध्यते,[1] न लक्षणं प्रमाणीकरोति। गन्धर्वनगर[2]लेखेव पश्यत एव नश्यति। अद्याप्यारूढ-मन्दर-परिवर्त्तावर्त्त-भ्रान्ति-जनित-संस्कारेव परिभ्रमति।[3] कमलिनी-सञ्चरण[4]व्यतिकर-लग्न-नलिन-नाल-कण्टकेव[5] न क्वचिदपि[6] निर्भरमाबध्नाति पदम्। अतिप्रयत्नविधृतापि परमेश्वरगृहेषु विविध-गन्धगज-गण्ड-मधुपान-

सत्यम् = अवितथम्, न = नैव, अनुबुध्यते = अवगच्छति, वञ्चकानामेव आश्रयणं करोति। लक्षणम् = तिलमषीकादिचिह्नविशेषम्, न = नैव, प्रमाणीकरोति = प्रमाणयति, सुलक्षणानपि परित्यज्य दुर्लक्षणानाश्रयति। पूर्वोक्तानि सर्वाण्यपि निन्दितानि कर्माणि विदधाति।

गन्धर्वेति। गन्धर्वलेखा=गन्धर्वनगरम्, इव, इयं लक्ष्मीः, पश्यतः=विलोकयतः, एव, नश्यति= अदृष्टा भवति। गन्धर्वनगरं तु बृहत्संहितायामेवं वर्णितम्—"गन्धर्वनगरमुत्थितमापाण्डुरशनिपातवातकरम्। दीप्ते नरेन्द्रमृत्युर्वामेऽरिभयं जयः सव्ये॥

अद्यापीति। अद्यापि = अधुनापि, आरूढेत्यादिः—आरूढः (=उत्पन्नः, प्राप्तो वा) यः मन्दरस्य (= मन्दराख्यपर्वतस्य) परिवर्तन (= पर्वतभ्रमणेन) आवर्त्तः (= जलस्य भ्रमिः) तस्मिन् या भ्रान्तिः (=भ्रमणम्, लक्ष्म्या इति भावः) तया जनितः (=उत्पादितः) यः संस्कारः (= वेगाख्यो गुणविशेषः) सः अस्ति अस्याः सा तादृशी, इव, परिभ्रमति = स्थानात् स्थानात् भ्रमणं करोति। कुत्रापि नैव दीर्घकालं स्थिरीभूय विराजत इति भावः।

कमलिनीति। कमलिनीत्यादिः—कमलिनी (=पद्मिनी) तासु स्वनिवासस्थानभूतासु, यत् सञ्चरणम् (=सञ्चारः) तदेव व्यतिकरः (=सम्बन्धः) तेन हेतुना लग्नाः (= संसक्ताः) ये नलिन-नालानाम् (= कमलनालानाम्) कण्टकाः (= नालाग्रभागाः) यस्याः सा तादृशी, इव सती, क्वचिदपि = कस्मिंश्चिदपि स्थाने, निर्भरम् = निश्चलम्, पदम् = चरणम्, न = नैव, आबध्नाति = विदधाति। कण्टकलग्नो जनो यथा एकस्मिन् स्थाने एकं पदं चिरं स्थापयितुं न शक्नोति तथैवेयं लक्ष्मीरपीति भावः। उत्प्रेक्षा

अतिप्रयत्नेति। परमेश्वरगृहेषु = महाराजसदनेषु, अतिप्रयत्नविधृता—अतिप्रयत्नेन (=अतिशयप्रयासेन) विधृता (=संस्थापिता) अपि, विविधेत्यादिः—विविधाः (= विभिन्नाः) ये गन्धगजाः (=गन्धहस्तिनः) तेषां गण्डेषु (=कपोलेषु) यानि मधूनि (=दानसलिलानि) तेषां पानेन (=सेवनेन) मत्ता (=उन्मत्ता, क्षीबा) इव, परिस्खलति = परिभ्रश्यति। अत्राप्युत्प्रेक्षैव।

चिह्न हैं उनके पास भी नहीं जाती है या जाकर छोड़ देती है।] गन्धर्वनगर की रेखा (पंक्ति) के समान देखते-देखते ही गायब (अदृष्ट, लुप्त) हो जाती है। (यह लक्ष्मी) आज भी मन्दराचल के घूमने के कारण होनेवाली भँवरों के चक्कर से उत्पन्न संस्कार से युक्त होकर [चारों ओर] चक्कर काटती फिरती है। कमलिनी पर विचरण के कारण उस कमलिनी के नाल (डंडे) के काँटे चुभी हुई के समान कहीं भी एक स्थान पर निश्चिन्त होकर पैर नहीं रखती है। अथवा ऐसे घूमती रहती है मानों पैर में काँटा चुभ गया हो। राजाओं के महलों में बहुत प्रयास करके पकड़ कर रखी गई भी (यह लक्ष्मी) मानों अनेक गन्धगजों के गण्डस्थलों के मधु के पीने से मत्त हुई सी लड़खड़ा कर गिर

१. अवबुध्यते। २. क्वचित्तु 'नगर' इति नास्ति। ३. भ्रमति।
४. सञ्चार०। ५. कण्टकक्षतेव। ६. इदं नापि दृश्यते।

मत्तेव परिस्खलति। पारुष्यमिवोपशिक्षितुमसिधारासु[1] निवसति। विश्वरूपत्वमिव[2] ग्रहीतुमाश्रिता नारायणमूर्त्तिम्। अप्रत्ययबहुला च दिवसान्त-कमलमिव समुपचित-मूल-दण्ड-कोश-मण्डलमपि मुञ्चति भूभुजम्। लतेव विटपकानध्यारोहति। गङ्गेव वसुजनन्यपि तरङ्गबुद्बुद-

भवतु अतिशयसमृद्धिमतां गृहेषु गजादीनां स्थित्या मधुपानेन परिस्खलनं नाम, परन्तु सतां सामान्यानां गृहे तदभावात् कथं तत्रापि परिस्खलनमित्यत आह—पारुष्यमिति। पारुष्यम्=कठोरतामेव, उपशिक्षितुम्=अभ्यसितुम्, इव, असिधारासु=खड्गधारासु, निवसति=निवासं करोति।

विश्वरूपत्वमिति। विश्वरूपत्वम्—विश्वम् (=ब्रह्माण्डम्) तस्य रूपाणि यस्मिन् तत् तस्य भावस्तत्त्वम्। यद्वा—ब्रह्माण्डरूपत्वम्, गृहीतुम् = स्वीकर्तुम्, इव, नारायणमूर्तिम्=विष्णुशरीरम्, आश्रिता=अधिगता। विष्णुः विश्वरूपो वर्ततेऽतस्ताहशं रूपमाप्तुमियं तेन संगता। व्यापारिणां गेहेषु अन्यत्र च लक्ष्म्याः विविधानि रूपाणि दृश्यन्ते। भानुचन्द्रस्तु—"अथवा विश्वेन रूप्यते = निरूप्यते यद्रूपं तद्विश्वरूपम्, तस्य भावस्तत्त्वम्।" अत्रोत्प्रेक्षा।

अप्रत्ययेति। अप्रत्ययबहुला—अप्रत्ययः (=अविश्वासः) बहुलः (=प्रचुरः) यस्यां सा तादृशी, समुपचितेत्यादिः—समुपचितानि (=वृद्धिं गतानि) मूलम् (=कन्दः) दण्डः (=नालम्) कोशः (=कमलाभ्यतरदेशः) मण्डलम् (=पारिमण्डल्यम्) यस्य तत् तादृशम्, दिवसान्तकमलम्=दिनावसानपङ्कजम्, इव, समुपचितेत्यादिः—समुपचितानि (=सम्यग् रूपेण वृद्धिं प्रापितानि) मूलम् (=विजयस्य मूलं कारणं सैन्यादिबलम्) दण्डः (=चतुर्षूपायेष्वन्यतमः) कोषः (=धनादिसङ्ग्रहः) मण्डलम् (=देशः, राष्ट्रम् यस्य स तं तादृशम्, अपि, भूभुजम्=भूपतिम्, मुञ्चति=परित्यजति। एतादृशबलवतापि रोद्धुं न शक्येति भावः। अत्र श्लेष उपमा चानयोः सङ्करः।

लतेवेति। लता=व्रतती, इव, विटपकान्=वृक्षान्, पक्षे—निन्दितकामुकान् अध्यारोहति=आश्रयति। 'विटपः पल्लवे षिड्गे विस्तारे स्तम्बशाखयोः।" इति विश्वकोशात् पूर्वोक्तार्थौ। स्वार्थे कप्रत्ययः। विटान् पाति=रक्षतीति विटपः। विटलक्षणञ्चेत्थम्—"संभोगहीनसम्पद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः। वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्।" उपमाश्लेषौ।

गङ्गेवेति। गङ्गा=जाह्नवी, इव, वसुजननी=वसोः (=भीष्मस्य) जननी (=प्रसूः) अपि, तरङ्गबुद्बुदचञ्चला=तरङ्गबुद्बुदौ (=भङ्ग-स्यासकौ) ताभ्यां चञ्चला (=चपला)। पक्षे-वसूनाम् (=धनानाम्) जननी (=उत्पादयित्री) अपि तरङ्गबुद्बुदवत् चञ्चला=अस्थिरा।

जाती है (समाप्त हो जाती है या चली जाती है)। यह मानों पारुष्य (=कठोरता, निर्दयता) सीखने के लिए तलवारों की धारों में रहती है। विष्णु के शरीर को मानों विश्वरूपत्व (=समस्त ब्रह्माण्ड का विराट् रूप अथवा सभी प्रकार के रूप) का ग्रहण करने के लिए आश्रित किये हुए है। और अतिशय अविश्वास से युक्त अर्थात् किसी पर भी विश्वास न करनेवाली यह दिवस के अन्त में अर्थात् सायंकाल में परिपुष्ट मूल (=जड़), दण्ड (=नाल), कोश (=भीतरी भाग) और मण्डल (=गोलस्वरूप) वाले कमल के समान ही मूल (=मूल देश, पैतृक राज्य), दण्ड (= दमन), कोश (=खजाना) और मण्डल (=कर देनेवाले राजाओं) वाले महान् राजा का भी परित्याग कर देती है। (अर्थात् सायं समय में कमल जैसे शोभाहीन हो जाता है उसी प्रकार राजा भी लक्ष्मीहीन हो जाता है।) लता जैसे विटपों (वृक्षों) पर आरूढ होती है वैसे ही यह भी विटपों (विटों=धूर्तों को संरक्षण देनेवाले अर्थात् महादुष्टों) पर आरूढ होती है, उनके साथ रहती है। वसु (भीष्म) की

१. दिवसान्त० । २. समुचि०।

चञ्चला । दिवसकरगतिरिव प्रकटित-विविध-संक्रान्तिः । पातालगुहेव तमोबहुला । हिडिम्बेव[1] भीमसाहसैकहार्य्यहृदया । प्रावृडिवाचिरद्युतिकारिणी । दुष्टपिशाचीव दर्शितानेकपुरुषोच्छ्राया स्वल्पसत्त्वमुन्मत्तीकरोति । सरस्वतीपरिगृहीतमीर्ष्ययेव नालिङ्गति । जनं गणवन्तमपवित्रमिव

दिवसेति । दिवसकरगतिः = सूर्यसञ्चरणम्, इव, प्रकटित-विविध-सङ्क्रान्तिः—प्रकटिता (=प्रकाशिता) विविधेषु (=नानाप्रकारेषु, रूपेषु स्थानेषु वा) सङ्क्रान्तिः (=सञ्चारः) यया सा तादृशी । पक्षे—प्रकटिता विविधाः (=अनेकाः द्वादशधा) सङ्क्रान्तयः (=राश्यन्तर-सङ्क्रमणानि) यया सा तादृशीः । सूर्यो द्वादशराशिषु सङ्क्रामतीति प्रसिद्धम् । उपमा ।

पातालेति । पातालगुहा=रसातलकन्दरा इव, तमोबहुला = तमःप्रचुरा । पक्षे—तमोगुणप्रधानेति भावः । अस्यामपि तमोगुणस्यैवोत्कृष्टत्वं दृश्यते । उपमा ।

हिडिम्बेति । हिडिम्बा=घटोत्कचमाता, इव, भीमसाहसैकहार्यहृदया—भीमस्य (= भीमसेनस्य) साहसैकेन (=साहसगुणमात्रेण, हिडिम्बमारणादिरूपेणेति भावः) हार्यम् (=हरणीयम्, वशीकरणीयम्) हृदयम् (= चित्तम्) यस्याः सा । अत्र पक्षे– भीमसाहसैकेन (= शत्रुराज्याक्रमणप्रभृति-केवल-भीषणहठवादितया), हार्यम् (=हतुं शक्यम्) हृदयम् (=चित्तम्) यस्याः सा तादृशी । हिडिम्बा राक्षसी भीमस्य केवलं साहसं विलोक्यैवाकृष्टा भूत्वा तत्पत्नी बभूवेति महाभारतादौ सुप्रसिद्धम् ।

प्रावृडिति । प्रावृट्=वर्षासमयः, इव, अचिरद्युतिकारिणी—अचिरम् (=अल्पकालम्) द्युतिम् (=शोभाम्) करोति (=सम्पादयति) तादृशी । पक्षे—अचिरद्युतिम् =तडितं कर्तुं शीलं यस्याः सा तादृशी । यथा विद्युदाकाशे किञ्चित्क्षणमेव प्रकाश्य लुप्ता भवति तथैव लक्ष्मीरपि प्रभावं प्रदर्श्य लुप्ता जायते इति भावः ।

दुष्टेति । दुष्टपिशाची—दुष्टा (=क्रूरा) पिशाची (=राक्षसी), इव, दर्शितेत्यादिः—दर्शितः (=प्रकटितः) अनेकपुरुषाणाम् (=नानामनुष्याणाम्) उच्छ्रायः (=औन्नत्यम्) यया सा तादृशी सती, स्वल्पसत्त्वम् =अल्पसाहसम्, भीरुमित्यर्थः, उन्मत्तीकरोति =उन्मत्ततां प्रापयति । पक्षे—दर्शितः अनेकपुरुषाणाम् उच्छ्रायः (=अभ्युन्नतिः) यया सा तादृशी । अत्रोपमा ।

सरस्वतीति । इयं लक्ष्मीः, सरस्वतीपरिगृहीतम् = शारदानुगृहीतम्, विद्वांसं पुरुषमित्यर्थः, ईर्ष्यया =मात्सर्येण, इव, न =नैव, आलिङ्गति =आश्रयति । यथा सपत्नी स्वस्वामिनं सपत्न्यन्तरसम्बद्धं ज्ञात्वा नालिङ्गति तथैवेयं लक्ष्मीरपि बुधं सरस्वतीसम्बद्धं नालिङ्गति । 'जनमि'तीदमिहैवान्वितं केचित्स्वी-

जननी गङ्गा जैसे तरंगों और बुलबुलों से चंचल है वैसे ही यह लक्ष्मी भी वसु (धन) की जननी होती हुई भी तरङ्ग और बुलबुलों के समान चंचल=अस्थायी है । सूर्य की गति जैसे मेष और वृष आदि विविध १२ संक्रान्तिओं को प्रकट करती है वैसे ही यह भी अनेक व्यक्तियों में संक्रमण किया करती है । पाताल की गुफा जैसे बहुत अधिक अंधेरे से युक्त है वैसे ही यह भी तमोगुण की अधिकता वाली है । हिडिम्बा (घटोत्कच की माता) जैसे भीमसेन के केवल साहस से वशीभूत हृदयवाली हो गई थी वैसे ही यह भी भयानक साहसपूर्ण कार्यों से ही वश में की जाने योग्य है । वर्षा जैसे बिजली को उत्पन्न करनेवाली है वैसे ही यह थोड़े ही समय द्युति (चमकदमक) करने वाली है । दुष्ट पिशाचिनी जैसे [एक के ऊपर एक खड़े हुए] अनेक पुरुषों की ऊँचाई दिखा देने वाली होती है और स्वल्पसत्त्व वाले अर्थात् भीरु (डरपोक) को भी उन्मत्त बना देती है वैसे ही यह भी अनेक व्यक्तियों की उन्नति (वृद्धि) दिखा देने वाली होती है और साधारण व्यक्ति को भी उन्मत्त बना देती है। सरस्वती द्वारा गृहीत अर्थात् विद्वान् पुरुष का आलिङ्गन मानों [सौत की] ईर्ष्या के कारण नहीं करती है ।

१. हिडम्बेव ।

न स्पृशति, उदारसत्त्वममङ्गलमिव न बहु मन्यते, सुजनमनिमित्तमिव न[1] पश्यति, अभिजात-महिमिव लङ्घयति, शूरं कण्टकमिव परिहरति, दातारं दुःस्वप्नमिव[2] न स्मरति, विनीतं पात-किनमिव नोपसर्पति[3], मनस्विनमुन्मत्तमिवोपहसति[4]।

परस्परविरुद्धञ्चेन्द्रजालमिव दर्शयन्ती प्रकटयति जगति[5] निजं चरितम्। तथाहि—

कुर्वन्ति। अपरे आगामिनि वाक्येऽन्वितं वदन्ति।

जनमिति। गुणवन्तम्=गुणिनम्, जनम्=लोकम्, अपवित्रम्=मलिनं दोषादिग्रस्तम्, इव, न=नैव, स्पृशति=स्पर्शं करोति, मलादिसम्पर्कभीत्येति भावः।

उदारेति। उदारसत्त्वम्=उदारस्वभावम् महाशयम्, अमङ्गलम्=अकल्याणम्, इव, बहु=अधिकम्, न=नैव, मन्यते=आद्रियते। अतिदानादिना स्वहानिभीत्येति भावः।

सुजनमिति सुजनम्=सज्जनम्, अनिमित्तम्=अपशकुनम्, इव, न=नैव, पश्यति=विलोकयति। यथा अपशकुनं प्रति सावधानतया दृष्टिर्न दीयते तथैवेयं लक्ष्मीः सुजनं सावधानतया न विलोकयति।

अभिजातमिति। अभिजातम्=सत्कुलोत्पन्नम्, अहिम्=सर्पम्, इव, लङ्घयति=उल्लङ्घ्य गच्छति। यथादंशभीत्या सर्पमुल्लङ्घ्याग्रे व्रजन्ति लोकास्तथैव स्वविनाशभिया लक्ष्मीरभिजातमुल्लङ्घ्या-न्यत्र पलायते।

शूरमिति। शूरम्=शौर्यवन्तम्, कण्टकम्=द्रुमाङ्गम्, शरीरवेधनादिकारणीभूतम्, इव, परिहरति=दूरतस्त्यजति। शूरः स्वाभिमानरक्षणाय लक्ष्मीमपि त्यजन्तीति एषा तान्नोपगच्छति।

दातारमिति। दातारम्=दानशीलम्, दुःस्वप्नम्=अशुभस्वप्नम्, इव, न=नैव, स्मरति=स्मृतिविषयीकरोति। दानिना स्वपरित्यागं विचिन्त्य तेषां स्मरणमप्यनुचितं जानाति।

विनीतमिति। विनीतम्=विनम्रम्, पातकिनम्=पापकारिणं लोकम्, इव, न=नैव, उपसर्पति=उपयाति। विनयी लक्ष्मीरक्षां कर्तुं न प्रभवतीति न तानुपसर्पति।

मनस्विनमिति। मनस्विनम्=प्रशस्तचित्तम्, स्वाभिमाननम्, उन्मत्तम्=उन्मादयुक्तम्, इव, उपहसति=उपहासविषयीकरोति। मनस्विभिरेतस्याः परित्यागसम्भवात्। उपमा।

परस्परेति। च शब्दः किञ्चेत्यर्थे। इन्द्रजालम् = कुहकम्, दर्शयन्ती = प्रकाशयन्ती, इव, जगति=संसारे, परस्परविरुद्धम्=मिथोऽसम्बद्धधर्मयुक्तम्, निजम्=स्वीयम्, चरितम्=वृत्तम्, प्रकटयति=आविष्करोति। अत्रोत्प्रेक्षा।

पूर्वोक्तं परस्परविरुद्धधर्मवत्त्वं प्रदर्शयति—तथाहीत्यादिना। पूर्वोक्तश्च एवं रीत्या बोध्यम्। सततम्=निरन्तरम्, ऊष्माणम्=तापम्, जनयन्ती=उत्पादयन्ती, अपि, जाड्यम्=शैत्यम्, उपजनयति=

गुणवान् व्यक्ति का स्पर्श [इसलिए] नहीं करती है मानों कि वह अपवित्र हो। उदार स्वभाववाले को [इसलिए] अधिक नहीं मानती है कि मानो वह अमंगल हो। सुजन (भले पुरुष) को [इसलिए] नहीं देखती है कि मानों वह अनिमित्त (शुभ लक्षणहीन) हो। उच्चकुल में उत्पन्न व्यक्ति को [इसलिए] लांघ जाती है, छोड़कर आगे बढ़ जाती है कि मानो वह सांप हो। शूर को [इसलिये] छोड़ देती है कि मानों वह दुःस्वप्न हो। विनयी के पास [इसलिए] नहीं जाती है कि वह मानों पातकी हो। मनस्वी का उपहास [इसलिए] करती है कि मानों वह उन्मत्त हो। परस्पर-विरोधी बातों वाले इन्द्रजाल के समान अपने चरित्र को दिखाती हुई सी प्रकट करती है अर्थात् इन्द्रजाल में जैसे परस्पर

१. क्वचित् 'न' इति नैव दृश्यते। २. दुःखस्वप्नम्। ३. नापसर्पति ४. हसति। ५. इदं क्वचिन्नापि पठ्यते।

सततम्[1] ऊष्माणमुपजनयन्त्यपि[2] जाड्यमुपजनयति। उन्नतिमादधानापि नीचस्वभावतामाविष्करोति। तोयराशिसम्भवापि[3] तृष्णां संवर्द्धयति। ईश्वरतां दधानाप्यशिवप्रकृतित्वमातनोति। बलोपचयमाहरन्त्यपि लघिमानमापादयति। अमृतसहोदरापि कटुक[4]विपाका।

उत्पादयति, करोतीत्यर्थः। अत्र विरोधः, ऊष्माणम्=धनगर्वम्,जाड्यम्=जडताम्,सदसद्विवेकराहित्यम्—इत्यर्थेन विरोधपरिहारः।

उन्नतिमिति। उन्नतिम्=ऊर्ध्वंगतिम्, आदधाना=कुर्वाणा, अपि, नीचस्वभावताम्=निकृष्टवृत्तित्वम्, उपजनयति=सम्पादयति। अत्र विरोधः, परिहारस्तु—उन्नतिम्=उत्कर्षम्, नीचस्वभावताम्=निकृष्टप्रकृतित्वम्—इत्यर्थेन।

तोयराशीति। तोयराशीत्यादिः—तोयराशिः (=जलनिधिः) तस्मात् सम्भवः (=समुत्पत्तिः) यस्याः सा तादृशी, अपि, तृष्णाम्=पिपासाम्, सवंर्द्धयति=समेधयति। अत्र विरोधः। परिहारस्तु—तृष्णाम्=धनादिलिप्साम्—इत्यर्थेन। "तृष्णे स्पृहापिपासे द्वे।" इत्यमरः।

ईश्वरतामिति। ईश्वरताम्=शिवत्वम्, दधाना = धारयन्ती, अपि, अशिवप्रकृतित्वम्=अशिवस्वभावत्वम्, आविष्करोति=प्रकटयति। अत्र विरोधः। परिहारस्तु—ईश्वरताम् = प्रभुताम्, दधानापि, अशिवप्रकृतित्वम्=अमङ्गलस्वभावत्वम् आविष्करोति—इत्यर्थेन।

बलोपचयमिति। बलोपचयम्=शारीरिकबलवृद्धिम्, आहरन्ती = आनयन्ती, कुर्वती, अपि, लघिमानम् = लघुत्वं दौर्बल्यमित्यर्थः, आपादयति = सम्पादयति। अत्रार्थे विरोधः। परिहारस्तु—बलोपचयम्—बलस्य (=सैन्यस्य) उपचयम् वृद्धिम्, लघिमानम्=कृपणताम्, आपादयति—इत्यर्थेन।

अमृतेति। अमृतसहोदरा—अमृतस्य (=सुधायाः) सहोदरा (= सोदर्या), अपि, कटुकविपाका—कटुकः (=कटुः, अप्रियः) विपाकः (=रसः) यस्याः सा तादृशी। अत्रार्थे विरोधः। परिहारस्तु—कटुकः=सन्तापजनकत्वेन क्लेशकरः विपाकः=परिणामः यस्याः सा तादृशी—इत्यर्थेन।

विरोधी कार्य दिखाये जाते हैं वैसे ही लक्ष्मी अपना परस्पर-विरोधी रूप प्रकट करती है। वह इस प्रकार से है—निरन्तर ऊष्मा (गर्मी) को उत्पन्न करती हुई भी जड़ता (शीतलता) को उत्पन्न करती है। [इस विरोध का परिहार ऊष्मा=दर्प, जड़ता=मन्दबुद्धिता उत्पन्न करती है—अर्थ मानकर होता है।] उन्नति=ऊँचाई प्रदान करती हुई भी नीचे होना प्रकट करती है। [विरोध-परिहार—उन्नति = अभ्युदय, नीचस्वभावता = निकृष्ट स्वभाव होना प्रकट करती है—इस अर्थ से है।] तोयराशि=जलसमूह से उत्पन्न होने वाली भी यह तृष्णा=प्यास को बढ़ाती है। [विरोध-परिहार—तोयराशि = समुद्र से उत्पन्न होने वाली। तृष्णा = धनादि की उत्तरोत्तर लिप्सा बढ़ाती है—इस अर्थ से है।] ईश्वरता=शिवरूपता को धारण करती हुई भी अशिव-स्वभाव वाला होने का विस्तार करती है। [विरोधपरिहार—ईश्वरता=धनी होना। अशिवप्रकृतित्व = अमंगल स्वभाववाला होने का विस्तार करती है—इस अर्थ से होता है।] बल की वृद्धि करती हुई भी हल्कापन ला देती है। [विरोधपरिहार—बल=सैन्य की वृद्धि करती हुई भी लघिमा = तुच्छता ला देती है—इस अर्थ से है।] अमृत की सहोदरा (सगी बहन) होती हुई भी कड़वे विपाक=फलवाली है। [विरोधपरिहार—कटु अनिष्ट परिणामवाली है—इस अर्थ से है।] यह=विग्रह शरीर वाली होती हुई भी प्रत्यक्ष दिखाई

१. सन्ततम्। २. प्रारोपयन्त्यपि। ३. ०राशिरिव। ४. कटु०।

विग्रहवत्यप्यप्रत्यक्षदर्शना । पुरुषोत्तमरतापि खलजनप्रिया । रेणुमयीव स्वच्छमपि कलुषीकरोति ।

यथा यथा चेयं चपला दीप्यते तथा तथा दीपशिखेव कज्जलमलिनमेव कर्म्म केवलमुद्वमति । तथाहि—इयं संवर्द्धनवारिधारा तृष्णाविषवल्लीनाम्, व्याधगीतिरिन्द्रिय-

---

विग्रहेति । विग्रहवती = शरीरधारिणी, अपि, मूर्तिमती अपि, अप्रत्यक्षदर्शना—अप्रत्यक्षम् (= चक्षुषोऽविषयः) दर्शनम् (=अवलोकनम्) यस्याः सा तादृशी । अत्रार्थे विरोधः । परिहारस्तु—विग्रहवती = कलहवती, स्वप्राप्तये प्रियेष्वपि कलहजननीति भावः । "विग्रहः कायविस्तारविभागे ना रणे स्त्रियाम् ।" इति मेदिनी ।

पुरुषोत्तमेति । पुरुषोत्तमरता—पुरुषोत्तमेषु (= उत्तमजनेषु) रता (=आसक्ता), अपि, खलजनप्रिया—खलजनानाम् (= दुष्टपुरुषाणाम्) प्रिया (= अभीष्टा) यद्वा खलाः जनाः प्रियाः यस्याः सा तादृशी । अत्रार्थे विरोधः । परिहारस्तु– पुरुषोत्तमे (= विष्णौ) रता (= अनुरक्ता) । पुरुषेषु उत्तम इति विग्रहे सप्तमीतत्पुरुषः, तेन 'न निर्धारणे' इति न निषेधः समासस्य ।

अत्रेदं बोध्यम्—"ऊष्माणमारोपयन्त्यपि" इत्यारभ्य 'पुरुषोत्तमरता' इत्येतत् पर्यन्तमष्टवाक्येषु विरोधाभासाख्योऽलङ्कारः ।

रेणुमयीति । रेणुमयी=धूलिमयी, इव, स्वच्छम्=निष्कलुषम्, अपि, जनं कलुषीकरोति=मलिनीकरोति । अत्रोत्प्रेक्षा ।

यथेति । च शब्दः किञ्चेत्यर्थे । चपला = चञ्चला, इयम्=लक्ष्मीः यथा यथा = येन येन प्रकारेण, दीप्यते = दीप्ता भवति, प्रकाशते, तथा तथा = तेन तेन प्रकारेण, दीपशिखा = दीपज्वाला, इव, कज्जलमलिनम्—कज्जलम् (= अञ्जनम्), इव, मलिनम् (= मलीमसम्) एव, कर्म = परपीडनादिक्रियाम्, केवलम्, उद्वमति = उद्गिरति । दीपकज्वाला उज्ज्वला दृश्यमानापि मलीमसं कज्जलमेव परिणमयति तथैवेयमपि निन्दितकर्माणि एव कारयतीति भावः । अत्रोपमा ।

केन रूपेण मलिनं कर्मोद्वमतीति प्रकटयति—तथा हीत्यादिनेति । इयम् = लक्ष्मीः तृष्णाविषवल्लीनाम्—तृष्णा (=लिप्सा) एव विषवल्ल्यः (= विषलताः) तासाम्, संवर्द्धनवारिधाराः—संवर्द्धने (= विस्तारणे) वारिधारा (= जलधारा) । यथा यथेयं प्राप्यते तथा तथैवाधिकमवाप्तुं, तृष्णां वर्धयति ।

इन्द्रियेति । इयं लक्ष्मीः, इन्द्रिय-मृगाणाम्—इन्द्रियाणि (= हृषीकाणि) एव मृगाः

देनेवाली नहीं है । [विरोधपरिहार—विग्रह=युद्ध का कारण होती हुई भी प्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ती है ।] उत्तम पुरुषों में आसक्त होती हुई भी खलों = दुष्टों की प्रिया है । [विरोधपरिहार—पुरुषोत्तम = विष्णु में अनुरक्त होती हुई भी दुष्टों को चाहने वाली है ।] यह मानो धूलि से युक्त अर्थात् बनी हुई होने से स्वच्छ व्यक्ति को भी कलुषित कर डालती है ।

और यह चपला लक्ष्मी जैसे-जैसे दीप्त होती है वैसे-वैसे दीपशिखा के समान केवल काजलसदृश मलिन कर्मों का उद्वमन = प्रकटन करती है । [अर्थात् जैसे-जैसे लक्ष्मी की वृद्धि होती है वैसे वैसे मनुष्य बुरे से बुरे कार्यों में प्रवृत्त होने लगता है ।] यह इस प्रकार है—यह लक्ष्मी तृष्णारूपी विषलताओं को बढ़ानेवाली जलधारा है, [जैसे जैसे प्राप्त होती जाती है और अधिक पाने की लिप्सा बढ़ती जाती है ।] इन्द्रियरूपी मृगों [को विवश करने] के लिए व्याधों का गीत है [व्याध के गीतों से

मृगाणाम्, परामर्शधूमलेखा सच्चरित-चित्राणाम्, विभ्रमशय्या मोहदीर्घनिद्राणाम्, निवास-जीर्णवलभी धनमद-पिशाचिकानाम्, तिमिरोद्गतिः शास्त्रदृष्टीनाम्, पुरःपताका[1] सर्वाविनयानाम्, उत्पत्तिनिम्नगा[2] क्रोधावेगग्राहाणाम्, आपानभूमिर्विषयमधूनाम्, सङ्गीतशाला भ्रूविकार-

(=हरिणाः) तेषाम्, व्याधगीतिः = मृगवधाजीवगानम् । यथा व्याधाः स्वमधुरगीतैर्मृगानाकृष्य तेषां प्राणान् हरन्ति तथैवेयमपि इन्द्रियाणि विषयाभिमुखानि विधाय लोकान्नाशयति ।

परामर्शेति । इयं लक्ष्मीः, सच्चरितचित्राणाम्—सच्चरितानि (=सुवृत्तानि) एव चित्राणि (=आलेख्यानि) तेषाम्, परामर्शधूमलेखा—परामर्शः (=आमर्शनम् प्रोञ्छनम्, आवरणम्) तदर्थं धूमलेखा (= अग्निकेतनरेखा) । यथा धूमलेखा शनैः शनैः चित्राणि आवृतानि कृत्वा विनाशयति तथैवेयमपि शनैः शनैः सच्चरितानि विनाशयति ।

विभ्रमेति । इयं लक्ष्मीः, मोहदीर्घनिद्राणाम्—मोहाः (=मौढ्यानि, कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक-शून्यताः) एव दीर्घनिद्राः (=दीर्घस्वापाः) तासाम्, विभ्रमशय्या=विलासशयनम् । अस्याः संसर्गेण पुरुषाणां सदसद्विवेको विनश्यतीति भावः ।

निवासेति । इयं लक्ष्मीः, धनमदपिशाचिकानाम्—धनमदाः (= सम्पत्त्यहङ्काराः), एव, पिशाचिकाः (=राक्षस्यः) तासाम्, निवासजीर्णवलभी—निवासाय (=अवस्थानाय) जीर्णवलभी (=प्राचीना चन्द्रशाला, गृहोपरिभागो वा) । यथा जीर्णगृहेषूपरिभागे पिशाच्यादयो निवसन्ति तथैवास्यां लक्ष्म्यां धनमदानामवस्थानं वर्तते इति बोध्यम् ।

तिमिरेति । इयं लक्ष्मीः, शास्त्रदृष्टीनाम्=शास्त्राणि (=वेदादीनि) एव दृष्टयः (=नेत्राणि) तासाम्, तिमिरोद्गतिः—तिमिरस्य (=नेत्ररोगविशेषस्य) उद्गति=उत्पत्तिः, अनयैव तासां निरो-धात् । इयं लक्ष्मीः, सर्वाऽविनयानाम्—सर्वेषाम् (=सकलानाम्) अविनयानाम् (=औद्धत्यानाम्) पुरःपताका=अग्रवैजयन्ती । यथा पताकामवलोक्य रथाद्यागमनमनुमीयते तथैव लक्ष्मीं दृष्ट्वा सकलदुश्चरि-त्राणामनुमानं भवतीति भावः । क्रोधावेग-ग्राहाणाम्—क्रोधस्य (=प्रकोपस्य) आवेगाः (=संभ्रमाः) एव ग्राहाः (=मकरादिजलजन्तवः) तेषाम् उत्पत्तिनिम्नगा—उत्पत्तौ (=उद्‌भवे, प्रजनने) निम्नगा (=नदी) । लक्ष्मीसत्तायामेव क्रोधोद्‌भूताः विकाराः जायन्ते इति भावः । विषयमधूनाम्—विषयाः

जैसे मृग विवश होकर उनके पास चले जाते हैं और मारे जाते हैं, वैसे ही लक्ष्मी के कुप्रभाव से इन्द्रिय-विषयासक्त पुरुष का विनाश होता है ।] सच्चरित-रूपी चित्रों का आवरण करने वाली धुएँ की रेखा है । [धूयें से जैसे चित्र ढक जाते हैं, नहीं दिखाई देते हैं वैसे ही लक्ष्मी के कारण अच्छा चरित्र लुप्त हो जाता है ।] मोहरूपी दीर्घनिद्रा के लिए विलास-शय्या है । [विलास-शय्या से मनुष्य कभी नहीं उठ पाता है ।] धनमद रूपी पिशाचिनियों के रहने के लिए जीर्ण शीर्ण अटारी है । [जैसे जीर्ण मकान के ऊपरी भाग में पिशाचिनी आदि रहती है वैसे ही लक्ष्मी में मद आदि रहते हैं ।] शास्त्ररूपी नेत्रों के लिए तिमिर (मोतियाबिन्द जैसा कोई) रोग-विशेष है । [तिमिर से जैसे दर्शन-शक्ति छिप जाती है वैसे ही लक्ष्मी के कारण शास्त्र ज्ञानरूपी दृष्टि समाप्त हो जाती है, सदसद्विवेक लुप्त हो जाता है । सभी अविनयों (उद्दण्डताओं) की यह पुरःपताका (आगे चलने वाली पताका) है । [जैसे पताका देखकर उसके पीछे रथादि का अनुमान होता है उसी प्रकार लक्ष्मी देखकर समस्त

१. पुरःसरपताका ।　　२. आवासभूमिः ।

नाट्यानाम्, आवासदरी दोषाशीविषाणाम्, उत्सारणवेत्रलता सत्पुरुषव्यवहाराणाम्,[1] अकालप्रावृड् गुणकलहंसकानाम्, विसर्पणभूमिर्लोकापवादविस्फोटकानाम्,[2] प्रस्तावना कपटनाटकस्य, कदलिका कामकरिणः, वध्यशाला साधुभावस्य, राहुजिह्वा धर्म्मेन्दुमण्डलस्य। न हि तं पश्यामि, यो ह्यपरिचितयानया[3] न निर्भरमुपगूढः। यो वा न विप्रलब्धः।

(=स्रक्चन्दनस्त्रीसम्पर्कादयः) एव मधूनि (=मद्यानि) तेषाम् आपानभूमिः=पानगोष्ठीस्थानम्, लक्ष्मीसत्त्वे एव प्रचुरभोगसम्भवः। भ्रूविकार-नाट्यानाम्—भ्रूविकाराः (=भ्रुकुटिभङ्गाः) एव नाट्यानि (=नर्तनानि) तेषां सङ्गीतशाला=सङ्गीत-शिक्षण-स्थलम्,रङ्गशाला। तस्यां यथा भ्रूकुटि-सञ्चालनादि शिक्ष्यते तथैव लक्ष्मीसत्त्वे पुरुषेण इमे विकाराः शिक्ष्यन्ते। दोषाशीविकाराणाम्—दोषाः (=कामादिदूषणानि) एव आशीविषाः (=सर्पाः) तेषाम्, आवासदरी=निवासकन्दरा, अस्यां सत्यामेव कामादिविकाराणां प्राबल्येन सम्भवात्। सत्पुरुष-व्यवहाराणाम्—सत्पुरुषाः (=शिष्ट-लोकाः) तेषां ये व्यवहाराः (=परहितसाधनादि-सदाचाराः) तेषाम्, उत्सारणवेत्रलता—उत्सारणाय (=दूरीकरणाय) वेत्रलता (=वेतसयष्टिः)। यथा वेतसयष्ट्या जना दूरीक्रियन्ते तथैव अस्याःसत्तया सदाचारा दूरीक्रियन्ते। गुणकलहंसकानाम्—गुणाः (=दाक्षिण्यादयः) एव कलहंसाः (=कादम्बाः) तेषाम्, अकालप्रावृट्—अकाले (=असमये) प्रावृट् (=वर्षा)। अकालवर्षया यथा कादम्बाः पलाय्यन्ते तथैवानया गुणाः दूरीक्रियन्ते। लोकापवादविस्फोटकानाम्—लोकापवादाः(=जनापवादाः,जनाधिक्षेपाः) एव विस्फोटकाः (=पिटकाः) तेषाम्, विसर्पणभूमिः (=विस्तरणस्थानम्)। लक्ष्मीसत्तायां विविध-निन्दिताचरणजन्यलोकापवादाः जायन्ते। कपटनाटकस्य—कपटम् (=छलम्)एव नाटकम् (=अभिनयः) तस्य प्रस्तावना=आमुखम्, अस्याः सत्तायां कपटारम्भसम्भवः। कामकरिणः—कामः (=कामदेवः) एव करी (=हस्ती) तस्य कदलिका (=रम्भा)। यथा कदलीसमूहे करिणः स्वच्छन्दं भ्रमन्तः आनन्दमनु-भवन्ति तथैवास्याः सत्तायां स्वच्छन्दविहारदर्शनम्। साधुभावस्य=सज्जनतायाः, वध्यशाला=हनन-स्थानम्। अस्याः सत्तायां साधुत्वस्य सर्वथा विनाशो दृश्यते। धर्मेन्दुमण्डलस्य—धर्मः (=सुकृतानुष्ठानम्) एव इन्दुमण्डलम् (=चन्द्रमण्डलम्) तस्य राहुजिह्वा=सैंहिकेयरसना। अस्याः सत्तया सर्वविधधर्मा-चरणानां विनाशो लोपो वा भवति।

न हीति। हि=निश्चितम्, तम्=जनम्, न=नैव, पश्यामि=अवलोकयामि, यः=जनः, अपरिचितया=परस्परज्ञानरहितया, अनया=लक्ष्म्या, निर्भरम्=गाढं यथा स्यात् तथा, न=नैव,

अविनयों का अनुमान कर लिया जाता है।] क्रोध के आवेगरूपी ग्राहों (मगरों) की उत्पत्ति-स्थानरूपी नदी है। [नदी में जैसे मगर आदि भीषण जलजन्तु पैदा होते हैं वैसे ही लक्ष्मी आने पर क्रोध के आवेग आदि पैदा हो जाते है।] विषय [सुख] रूपी मदिराओं के लिए [मदिरा] पान का स्थान (शराब घर) है। भौंहों को टेढ़ा करना आदि विलास रूपी नाट्यों (अभिनयों) के लिए सङ्गीतशाला है। दोषरूपी अजगर सर्पों की निवासगुफा (रहने के लिए गुफा) है। सज्जनों के व्यवहार (या उपदेशों) को हटाने वाली वेत्रलता है, [जैसे छड़ी से मार कर किसी को भगा दिया जाता है वैसे ही लक्ष्मी द्वारा सज्जनों के व्यवहार = आचरण भगा दिये जाते हैं।] गुणरूपी कलहंसों [की भगाने वाली] अकाल वर्षा है। लोकनिन्दा रूपी फोड़ों के फैलाने की [उपयुक्त] स्थान है। कपटरूपी नाटक की प्रस्तावना (भूमिका) है। कामरूपी हाथी की [प्रिय भक्ष्य]

---

१. व्याहाराणाम्। २. ···विस्फोटानाम्। ३. क्वचित्तु 'अनया' इदं न दृश्यते।

नियतमियमालेख्यगतापि चलति, पुस्तमय्यपीन्द्रजालमाचरति,[1] उत्कीर्णापि विप्रलभते, श्रुताप्यभिसन्धत्ते, चिन्तितापि वञ्चयति।

एवंविधयापि चानया दुराचारया कथमपि दैववशेन परिगृहीता[2] विक्लवा[3] भवन्ति राजानः, सर्वाविनयाधिष्ठानताञ्च गच्छन्ति। तथा हि—अभिषेकसमय एव चैतेषां[4] मङ्गल-

उपगूढः=आलिङ्गितः। वा=अथवा यः=नरः, न=नैव, विप्रलब्धः=प्रतारितः। संसारे प्रायः सर्वानपि पुरुषान् कदाचिदियमवश्यमेव आलिङ्गति, स्वयमाश्लिष्यति। पश्चाच्च अकस्मात् तं विहायान्यमुपयतीति भावः। अत्र समासोक्तिः।

नियतमिति। नियतम्=निश्चितम्, इयम्=लक्ष्मीः, आलेख्यगता=चित्रस्थिता अपि, चलति=अन्यत्र प्रयाति। पुस्तमयी=मृत्काष्ठादि-रचितपुत्तलिकारूपा, अपि, इन्द्रजालम्=कुहकम्, आचरति=प्रदर्शयति। अकस्मात् लुप्यति। क्वचित्तु 'पुस्तकमयी' इति पाठः, तस्य 'ज्ञानमयी'—इत्यर्थः। 'मृदा वा दारुणा वाऽथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा। लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते।' उत्कीर्णा=उत्कीरिता, प्रस्तरादौ निस्तक्ष्य रचिता, अपि, विप्रलभते=झटिति परित्यज्य वञ्चयति। श्रुता=आकर्णिता, अपि, अभिसन्धत्ते=अनुसन्दधाति। [श्रुतम् अस्ति अस्या इत्यर्थे 'अर्श आदिभ्योऽच्' इति सूत्रेण अच् प्रत्यये सति, श्रुता='श्रुतवती' इत्यर्थः। 'दुराचरणनिरोधक-ज्ञानवती अपी' त्यर्थः] चिन्तिता=आध्याता, अपि, वञ्चयति=प्रतारयति। अत्र विरोधाभासाख्योऽलङ्कारः।

एवम्विधयेति। एवंविधया=एतादृश्या, पूर्ववर्णितया, अपि, दुराचारया = दुष्टाचरणया, च, अनया=लक्ष्म्या, कथमपि=केनापि प्रकारेण, महता क्लेशेनेति भावः, दैववशेन=भाग्यवशेन, परिगृहीताः=स्वीकृताः, राजानः=भूपतयः, विक्लवाः=समाकुलाः, भवन्ति=सम्पद्यन्ते। सर्वाविनयाधिष्ठानताम्—सर्वेषाम् (=सकलानाम्) अविनयानाम् (=अशिष्टाचाराणाम्, दुर्बुद्धीनाम्) अधिष्ठानताम् (=अधिकरणताम्), च, गच्छन्ति=व्रजन्ति, प्राप्नुवन्ति।

पूर्वोक्तमेव समर्थयितुमाह—तथा हीत्यादिना। एतेषाम्=भूपतीनाम्, अभिषेकसमये=राज्या-

कदली=केला का पौधा है। साधुभाव = सज्जनता की वध्यशाला (समाप्त करने का घर) है और धर्मरूपी चन्द्रमण्डल की [उसको ग्रसित करने वाली] राहु की जीभ है। [मैं] उस (उस प्रकार के व्यक्ति) को नहीं देखता=जानता हूँ जो इस अपरिचिता लक्ष्मी द्वारा खूब आलिङ्गित न किया गया हो अथवा जिसे धोखा न दिया गया हो। यह निश्चित है कि यह लक्ष्मी चित्र में चित्रित होती हुई भी चल देती है। पुस्तमयी—मिट्टी लकड़ी या लोह आदि की बनी हुई भी [अथवा पुस्तक के रूप में रहती हुई भी] इन्द्रजाल का आचरण (अनेक व्यवहार) करती है। [पत्थर आदि में] खोदी गई (बनाई गई) भी धोखा देती है। [केवल] सुनी गई भी कपट करती है और केवल सोची गई भी ठग लेती है। इस (पूर्ववर्णित) प्रकार की इस दुराचारिणी लक्ष्मी द्वारा भाग्यवश स्वीकार किये गये (अनुग्रह के पात्र बनाये गये) भी राजा लोग व्याकुल हो जाते हैं और सभी प्रकार के अविनयों (अशिष्ट आचरणों) के आश्रय बन जाते हैं अर्थात् उनमें सभी प्रकार की बुराइयाँ आ जाती हैं। यह इस प्रकार है—अभिषेक के समय ही मानों मङ्गल-कलसों के जलों से

१. पुस्तकमय्यपि। २. दैवपरिगृहीताः। ३. विक्लवीभवन्ति। ४. एवंषाम्, एव चैषाम्।

कलशजलैरिव प्रक्षाल्यते दाक्षिण्यम्, अग्निकार्य्यधूमेनेव मलिनीक्रियते[1] हृदयम्, पुरोहित-कुशाग्र-सम्मार्जनीभिरिवापह्रियते[2] क्षान्तिः, उष्णीषपट्ट[3]-बन्धेनेवाच्छाद्यते[4] जरागमनस्मरणम्, आतपत्र-मण्डलेनेवापसार्य्यते[5] परलोकदर्शनम्, चामरपवनैरिवापह्रियते सत्यवादिता,

---

मिषेककाले, एव, मङ्गलकलशजलैः=कल्याणघटसलिलैः, इव, दाक्षिण्यम्=औदार्यम्, प्रक्षाल्यते=धाव्यते, प्रलाक्ष्य दूरीक्रियते इति भावः। नृपेषु प्रायः औदार्यं न दृश्यते। [दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्तिषु।' इति शाश्वतः। भावे ष्यञ् प्रत्यये—दाक्षिण्यम्।] इवशब्देनोत्प्रेक्षाङ्कारः। 'एतेषाम्' इदं सर्वत्र योज्यम्।

अग्नीति। अग्नीत्यादिः—अग्निकार्यम् (=हवनादिकम्) तस्य धूमेन (=वह्निकेतनेन) इव, हृदयम्=चित्तम्, मलिनीक्रियते = मलीमसीक्रियते। नृपाः बाहुल्येन विकृतचित्ता एव भवन्तीति भावः। अत्रोत्प्रेक्षा।

पुरोहितेति। पुरोहितेत्यादिः—पुरोहितः (=पुरोधाः, आचार्यः) तस्य कुशाग्राणि (=दर्भाग्राणि), एव, सम्मार्जन्यः (=शोधन्यः) ताभिः, इव, शान्ति=क्षमा, राज्ञामिति शेषः, अपह्रियते = दूरीक्रियते। नृपाः सामान्यविषयेष्वपि युद्धार्थमुग्रा भवन्तीति भावः। अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः साङ्कर्यात् सङ्करः।

उष्णीषेति। उष्णीष-पट्टबन्धेन=उष्णीषम् (= मुकुटम्, मूर्धवेष्टनम्) तदेव पट्टबन्धः (= क्षौमवसनबन्धनम्) तेन, इव, जरागमनस्मरणम्—जरा (= वार्धक्यम्) तस्या आगमनस्य (=आगमस्य, प्राप्तेः) स्मरणम् (=स्मृतिः) आच्छाद्यते=आव्रियते। वयमपि वृद्धो भूत्वा निधनं प्राप्स्याम इति चिन्ता न कदापि भवति नृपाणामिति ते प्रायः स्वच्छन्दमेवाचरन्तीति भावः।

आतपत्रेति। आतपत्रमण्डलेन—आतपत्रम् (=छत्रम्) तस्य मण्डलम् (=निस्तलम्) तेन, इव, परलोकदर्शनम्=भवान्तरस्य ज्ञानम्, अपसार्यते=दूरीक्रियते। छत्रेणावृततया ते राजानः परलोकं द्रष्टुं न समर्था भवन्तीति भावः।

चामरेति। चामरपवनैः=प्रकीर्णकोत्थ-वायुभिः, इव, सत्यवादिता=तथ्यभाषकता, अपह्रियते= अपनीयते। व्यजनपवनेन यथा धूलिकणादयः दूरीक्रियन्ते तथैव राज्ञां सत्यवादिताऽपीति भावः। ते प्रायशोऽसत्यमेव भाषन्ते इति भावः।

ही इनकी उदारता (दाक्षिण्य)को धो दिया जाता है, मानो अग्निकार्य (यज्ञादि क्रिया) से [इनका] हृदय मलिन कर दिया जाता है, मानों पुरोहितों के कुशों की नोक (अग्रभाग) रूपी झाड़ू (संमार्जनी) से क्षान्ति (=सहनशीलता) बुहार दी जाती है, हटा दी जाती है। मानो उष्णीषपट्ट (पगड़ी) के बाँधने के द्वारा बुढ़ापा आने का स्मरण ढक दिया जाता है। (कभी बूढ़े होंगे—यह स्मरण ही नहीं रहता है।) मानों छत्रमण्डल द्वारा परलोक (स्वर्गलोक) का दर्शन (दिखाई देना, ज्ञान करना) दूर कर दिया जाता है। मानों चामर (पंखों) से उत्पन्न हवाओं द्वारा सत्यवादिता (सत्य बोलना) उड़ा दी जाती है, हटा दी जाती है। मानों बेंत की छड़ियों द्वारा गुण हटा (भगा)

---

१. मलिनीभवति। २. अपनीयते। ३. ...पट...।
४. अवाच्छाद्यते। ५. अपवार्यते, अपर्यायते।

वेत्रदण्डैरिवोत्सार्य्यन्ते गुणाः,जयशब्दकलकलरवै[1]रिव तिरस्क्रियन्ते साधुवादाः,ध्वजपटपल्लवैरिव परामृक्ष्यते यशः।[तथा हि—][2]केचित्[3] श्रम-वश-शिथिल-शकुनि-गल-पुट[4]-चपलाभिः खद्योतोन्मेष-मुहूर्त्त-मनोहराभिर्मनस्विजनगर्हिताभिः सम्पद्भिः प्रलोभ्यमाना धन-लवलाभावलेपविस्मृत-जन्मानोऽनेकदोषोपचितेन दुष्टासृजेव[5] रागावेशेन बाध्यमानाः, विविधविषय-ग्रास[6]-लालसैः

वेत्रे ति । वेत्रदण्डैः=वेतसयष्टिभिः, इव, गुणाः=धैर्यादयः, उत्सार्यन्ते=दूरीक्रियन्ते । नृपाः बाहुल्येन गुणहीना एव भवन्तीति भावः ।

जयेति । जयेत्यादिः—जयशब्दस्य (= जय-जय-इत्याकारकध्वनिसमूहस्य) कलकलरवैः (=कोलाहलध्वानैः), साधुवादाः=हितवचनानि, यद्वा—सौजन्य-प्रशंसावचनानि, तिरस्क्रियन्ते= अनाद्रियन्ते । साधुवादापेक्षया जयशब्दश्रवणेऽभिरुचिं प्रदर्शयन्तीति भावः ।

ध्वजेति ध्वजेत्यादिः—ध्वजाः (=वैजयन्त्यः) तेषां पटाः (=वस्त्राणि) तेषां पल्लवैः, (=प्रान्तैः) यद्वा—पटा एव पल्लवानि, (=किसलयानि) तैः, यशः (=कीर्तिः) परामृक्ष्यते= प्रोञ्छ्यते । प्रायशः दुराचरणात् शनैः शनैः कीर्तिः तथैव लुप्यते यथा वस्त्रादिना शुभचिह्नानि प्रोञ्छ्यन्ते इति भावः । अत्र सर्वत्र उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । क्वचितु रूपकेण साङ्कर्यात् सङ्करोऽपीति बोध्यम् ।

पूर्वोक्तमेव प्रदर्शयति—तथा हीत्यादिना । तथा हि = एवं बोध्यम् । केचित्=केचन नृपाः, [अत्र 'विह्वलतामुपयान्ती'ति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ।] श्रमेत्यादिः—श्रमवशेन (= प्रयासाधिक्येन) शिथिलम् (=श्लथम्) यत् शकुनेः (=मयूरादिपक्षिणः) गलपुटम् (=कण्ठदेशः) तद्वत् चपलाभिः (=चञ्चलाभिः) खद्योतेत्यादिः– खद्योतः (= ज्योतिरिङ्गणः) तस्य य उन्मेषः (=अवभासः, प्रकाशः) स इव मुहूर्तम् (= क्षणपर्यन्तम्) मनोहराभिः (= हृदयहारिणीभिः) किञ्चित्कालमेव प्रियाभिरित्यर्थः, अत एव हेतोः, मनस्विजनगर्हिताभिः—मनस्विनः (=ज्ञानिनः) जनाः (=लोकाः) तैः गर्हिताभिः (=निन्दिताभिः), एतादृशाभिः, सम्पद्भिः=धनादिसमृद्धिभिः, प्रलोभ्यमानाः=लोभं प्राप्यमाणाः, आकृष्यमाणा इति भावः ।

धनेति । धनेत्यादिः—धनस्य (=वित्तस्य) लवः (=लेशः) तस्य यो लाभः (=उपलब्धिः) तस्माद् योऽवलेपः (=अहङ्कारः) तेन विस्मृतानि (=विस्मरणं प्रापितानि) जन्मानि (=जनूंषि) यैस्ते तादृशाः । [धनस्मृत्यैव विस्मृतजन्मादि-सम्बन्धलोका इति भावः ।] अनेकदोषोपचितेन—अनेकैः (=नानाविधैः) दोषैः (=दूषणैः, वातपित्तकफविकारैः) उपचितेन (=वृद्धिं गतेन), दुष्टासृजा—दुष्टेन (=दूषितेन) असृजा (रक्तेन) इव=यथा, (अनेकदोषोपचितेन = कामक्रोधादिदोषसमूह-वर्धितेन , रागावेशेन—रागः (=इच्छा, अरुणिमा च) तेषाम् आवेशेन=अभिनिवेशेन, बाध्यमानाः= पीड्यमानाः । 'विह्वलतामुपयान्ती' त्यत्रान्वयो बोध्यः । अत्र सादृश्यात् पूर्णोपमा ।

दिये जाते हैं । मानों 'जय हो, जय हो' इस प्रकार के शब्दों के कोलाहल द्वारा साधुवाद (अच्छी बातें) तिरस्कृत कर दी जाती हैं और मानों ध्वजाओं के वस्त्रों द्वारा यश पोंछ कर साफ कर दिया जाता है ।

और इस प्रकार—कुछ राजा लोग अत्यधिक थकान के कारण लटकी हुई (ढीली ढाली) किसी पक्षी की गर्दन (गलपुट) के समान हिलती हुई अर्थात् अस्थिर, जुगनू की चमक के समान केवल कुछ देर के लिए चमकने वाली, और मनस्वी (स्वाभिमानी) व्यक्तियों द्वारा गर्हित (निन्दित) सम्पत्ति से लुभाये जाते हुए, थोड़े से धन को प्राप्त कर लेने के अभिमान के कारण अपने जन्म को भूलते हुए, (अर्थात् अजन्मा, अमर ऐसा समझते हुए), [वात, पित्त, कफ] अनेक प्रकार के दोषों

१. कलकलैः । २. इदं क्वापि न दृश्यतेऽपि । ३. क्वचित् ।
४. ···पक्षपुट···। ५. दोषासृजेव। ६. विषयरसग्रास ।

पञ्चभिरप्यनेक-सहस्रसङ्ख्यैरिवेन्द्रियैरायास्यमानाः, प्रकृतिचञ्चलतया लब्धप्रसरेणैकेनापि[1] शतसहस्रतामिवोपगतेन मनसाऽऽकुलीक्रियमाणा विह्वलतामुपयान्ति। ग्रहैरिव गृह्यन्ते। भूतैरिवाभिभूयन्ते। मन्त्रैरिवावेश्यन्ते। सत्त्वैरिवावष्टभ्यन्ते। वायुनेव विडम्ब्यन्ते। पिशाचैरिव ग्रस्यन्ते। मदनशरैर्मर्माहता[2] इव मुखभङ्गसहस्राणि कुर्वते। धनोष्मणा पच्यमाना इव विचे-

विविधेति। विविधेत्यादिः—विविधाः (=नानाप्रकाराः) ये विषयाः (=शब्दस्पर्शादीन्द्रियविषयाः) तेषां ग्रासाः (=उपभोगाः)। यद्वा - ते एव ग्रासाः (= कवलानि) तेषु लालसैः (=साभिलाषैः, लोलुपैः), पञ्चभिः=पञ्चसङ्ख्याकैः, चक्षुर्घ्राणादिभिरित्यर्थः, अपि, अनेकसहस्रसंख्यैः= बहुसहस्रसंख्यैः, इव, इन्द्रियैः=हृषीकैः, विषयज्ञानकरणैरित्यर्थः, आयास्यमानाः = परिक्लिश्यमानाः, स्वस्वविषयेषु प्रबलप्रेरणयेति शेषः।

प्रकृतीति। प्रकृतिचञ्चलतया—प्रकृत्या (=स्वभावेन, एव) चञ्चलतया (=चपलतया) कारणेन, लब्धप्रसरेण—लब्धः (=प्राप्तः) प्रसरः (=अवकाशः) येन तादृशेन, एकेन=अद्वितीयेन, सता, अपि, सहस्रताम् = सहस्रत्वम्, असंख्यत्वमित्यर्थः, उपगतेन = प्राप्तेन, इव, मनसा=चेतसा, आकुलीक्रियमाणाः=व्याकुलीक्रियमाणाः, विह्वलताम् = व्याकुलताम्, चञ्चलतां वा, उपयान्ति = उपगच्छन्ति, प्राप्नुवन्ति। अत्र क्रियोत्प्रेक्षा।

राज्ञां तदानीन्तनीमवस्थां वर्णयति—ग्रहैरिति। ते राजानः ग्रहैः = शनैश्चरादिभिः खेटैः, गृह्यन्ते=ध्रियन्ते, स्वप्रभाववशीक्रियन्ते, इव [अत्र सर्वत्र 'राजानः' इति संयोज्यम्, तच्च उक्तकर्मत्वेन प्रथमान्तमिति बोध्यम्।] भूतैः=देवयोनिविशेषैः, ['…भूतोऽमी देवयोनयः' इत्यमरः] रुद्रानुचरैः, सिंहादिभिर्वा, अभिभूयन्ते = आक्रम्यन्ते, इव, । मन्त्रैः=देवाद्यधिष्ठातृकशब्दविशेषैः, आवेश्यन्ते= आविष्टाः क्रियन्ते, इव। सत्त्वैः=सिंहादिहिंस्रप्राणिभिः, अवष्टभ्यन्ते=बलाद्गृह्यन्ते इव। वायुना= पवनेन, विडम्ब्यन्ते=इतस्ततो विचाल्यन्ते, इव। पिशाचैः=राक्षसैः ग्रस्यन्ते=भक्ष्यन्ते, इव। अत्र इवार्थस्य क्रियायामन्वयात् सर्वत्र क्रियोत्प्रेक्षाऽलङ्कार इति बोध्यम्।

अवस्थान्तराण्यपि दर्शयति—मदनेति। मदनशरैः = कामदेवबाणैः, मर्माहताः—मर्मसु (=सन्धिस्थलेषु) आहताः (=ताडिताः), इव, मुख-भङ्गसहस्राणि—मुखभङ्गानाम् (=आननविकाराणाम्) सहस्राणि (=दशशतो, बहूनि), कुर्वते=विदधति। धनोष्मणा=वित्तोन्मादजन्यतापेन, पच्यमानाः=पाकविषयीक्रियमाणाः, इव, विचेष्टन्ते=विविधां चेष्टां कुर्वन्ति, विविधव्यापारान् कुर्वन्तीति

से बढ़े हुए, दोषों से युक्त रक्त के समान (अनेक प्रकार के काम, क्रोधादि दोषों से बढ़े हुए) राग (विषयासक्ति) के आवेश से (=आग्रह) से पीड़ित किये जाते हुए; विविध विषयरूपी ग्रासों की लालसा वाले (अर्थात् विषयों के उपभोग के लिये उत्कण्ठित) [इसलिये वास्तव में] पाँच होती हुई भी गिनती में हजारों प्रतीत होने वालीं इन्द्रियों द्वारा पीड़ित किये जाते हुए, और स्वभाव से ही चञ्चल होने के कारण अवसर प्राप्त किये हुए [वास्तव में] एक होते हुए भी लाखों की संख्या को प्राप्त कर लेने वाले मन के द्वारा आकुल किये जाते हुए—व्याकुल होते रहते हैं। मानों (वे राजा लोग) [शनि आदि] ग्रहों द्वारा पकड़ लिये जाते हैं (अधीन कर लिए जाते हैं)। मानों भूतों (देवयोनिविशेष वालों) के द्वारा अभिभूत (तिरस्कृत) कर दिये जाते हैं, (वे राजाओं पर आरूढ हो जाते हैं)। मानों मन्त्रों द्वारा [भूत प्रेतादि से] आविष्ट कर लिये जाते हैं। मानों [सिंह

१. प्रसारेण। २. …अभिहता इव।

छन्ते। गाढप्रहाराहता[1] इवाऽङ्गानि न धारयन्ति। कुलीरा इव तिर्य्यक् परिभ्रमन्ति। अधर्म्म-भग्नगतयः पङ्गव इव परेण सञ्चार्य्यन्ते। मृषावाद-विपाक-सञ्जात-मुखरोगा[2] इवातिकृच्छ्रेण जल्पन्ति। सप्तच्छद-तरव इव कुसुम-रजोविकारैः पार्श्ववर्त्तिनां[3] शिरः शूलमुत्पादयन्ति।

भावः। गाढप्रहाराभिहताः—गाढः (=तीव्रः, प्रबलः) यः प्रहारः (=आघातः) तेन आहताः (=अभिहताः, ताडिताः) इव, अङ्गानि (=अवयवान्) न=नैव, धारयन्ति = धर्तुं वोढुं वा पारयन्ति। सर्वत्रोत्प्रेक्षैव बोध्या।

कुलीरा इति। कुलीराः=कर्कटाः, इव, तिर्यक्=कुटिलम्, परिभ्रमन्ति=परिभ्रमणं कुर्वन्ति। सर्वैः सह कौटिल्यमेव प्रदर्शयन्तीति भावः। उपमात्र।

अधर्मेति। अधर्मभग्नगतयः—अधर्मेण (=पापाचरणेन, दुष्कृतेन) भग्ना (=विनष्टा) गतिः (=गमनम्, सदाचारानुष्ठानम्) येषां ते तादृशाः सन्तः, पङ्गवः=खञ्जाः, इव, परेण=अन्येन, सचिवादिना, कर्णेजपादिना वा, सञ्चार्यन्ते = सञ्चारणं कार्यन्ते। ते स्वयमशक्ताः किमपि कर्त्तुमिति अन्येषां परामर्शेनैव किञ्चिदपि कर्तुं प्रभवन्तीति भावः। उपमात्र।

मृषावादेति। मृषावादेत्यादिः—मृषावादः (=असत्यभाषणम्) तस्य विपाकः (=परिणामः) तेन सञ्जातः (=समुत्पन्नः) मुखरोगः (=आस्यव्याधिः) येषां ते तादृशाः सन्तः,इव, अतिकृच्छ्रेण=महता क्लेशेन, जल्पन्ति=भाषन्ते। उचितानुचितनिर्णयप्रसङ्गेऽपि उपेक्षया मौनमेवाश्रित्य स्वकर्त्तव्यं न पालयन्तीति भावः।

सप्तच्छदेति। सप्तच्छदतरवः=सप्तपर्णवृक्षाः,इव, कुसुमरजोविकारैः—कुसुमरजसाम् (= पुष्प परागाणाम्) विकारैः (=तत्सम्पर्कजन्यपवनप्रकोपनैः , राजपक्षे—कुसुमानि (=नेत्ररोगाः अव-हेलनासूचकनेत्रभङ्गीविशेषाः) एव रजोविकाराः (=रजोगुणविकृतयः) तैः, पार्श्ववर्तिनाम्=समीप-स्थायिनाम्, शिरःशूलम्=शिरोवेदनाम्, उत्पादयन्ति=जनयन्ति। सप्तपर्णपुष्परजसः सम्पर्केण शिरोवेदनो-त्पत्तिर्यथा तथैव राज्ञां नेत्रविकारलक्ष्यीभूताः समीपवर्तिनः जनाः पीडयन्ते इति भावः। ["कुसुमं स्त्री-रजोनेत्ररोगयोः फलपुष्पयोः।" इति मेदिनी।] अत्रोपमा।

आदि हिंसक] सत्वों=जन्तुओं द्वारा दबोच (पकड़) लिए जाते हैं। मानों हवा द्वारा इधर-उधर हिला डुला दिये जाते हैं। मानों पिशाचों द्वारा ग्रसित (गृहीत) कर लिए जाते हैं। कामदेव के बाणों द्वारा मर्मस्थलों पर ताड़ित होते हुए से हजारों मुख-भंगिमायें (विविध प्रकार की मुखाकृतियाँ) बनाते हैं। मानों धन की गर्मी के द्वारा उबाले जाते हुए से विविध चेष्टाएँ करते हैं। मानों गाढ़ (भारी) प्रहार से आहत होते हुए अपने अंगों को नहीं संभाल (धारण कर) पाते हैं। केंकड़ों के समान टेढ़े-मेढ़े (कुटिल रूप में) चलते हैं। अधर्म के कारण भंग हुई (समाप्त हुई गति (क्रियाशीलता) वाले होते हुए पंगुओं (लंगड़ों) के समान दूसरों के द्वारा संचारित किये (चलाये) जाते हैं। [प्रायः] मानों असत्य बोलने के फलस्वरूप उत्पन्न हुए मुखरोग वाले वे बहुत कष्ट से बोल पाते हैं। जैसे सप्तपर्ण वृक्ष पुष्पों के पराग के विकार से समीपवर्ती लोगों के शिर में पीड़ा उत्पन्न कर देते है, उसी प्रकार वे कुसुम (नेत्ररोगविशेष) रूप रजोगुण-परिणामों से समीपवर्ती लोगों के सिर दर्द पैदा कर डालते हैं।

---

१. अभिहता इव। २. मृषावाद-विष···। ३. आसन्नवर्त्तिनाम्।

आसन्नमृत्यव[1] इव बन्धुजनमपि नाभिजानन्ति । उत्कुपित[2]-लोचना इव तेजस्विनो नेक्षन्त । कालदष्टा इव महामन्त्रैरपि न प्रतिबुध्यन्ते । जातुषाभरणानीव[3] सोष्माणं न सहन्ते । दुष्टवारणा इव महामानस्तम्भनिश्चलीकृता[4] न गृह्णन्त्युपदेशम् । तृष्णाविषमूर्च्छिताः[5] कनकमयमिव

आसन्नेति । आसन्नमृत्यवः—आसन्नः (=समीपवर्त्ती) मृत्युः (=मरणम्, प्राणवियोगः) येषां ते तादृशाः, जनाः, इव, बन्धुजनम्=स्वजनं पुत्रादिकम् अपि, न=नैव, अभिजानन्ति=परिचिन्वन्ति । सामान्यलोकाः बुद्धिलोपात् राजानस्तु दर्पात् तथाऽचरन्तीति साम्यम् । उपमात्र ।

उत्कुपितेति । उत्कुपितलोचनाः—उत्कुपिते (=रुग्णे) लोचने (=नयने) येषां तादृशाः जना, इव, तेजस्विनः=प्रतापवतः, न=नैव, ईक्षन्ते=विलोकयन्ति, रुग्णाः अशक्त्या, राजानश्च ईर्ष्यया न पश्यन्तीति भावः ।

कालदष्टा इति । कालदष्टा—कालेन (= महाविषभुजङ्गेन) यद्वा—काले=निषिद्धकाले, दष्टाः (=कृतदंशनाः, भक्षिताः), इव, महामन्त्रैः = गारुडादि-देवताकशब्दसमूहविशेषैः, अपि, न=नैव, प्रतिबुध्यन्ते=प्रबोधं प्राप्नुवन्ति, पक्षे—महामन्त्रैः—षाड्गुण्यविषयकोत्तमपरामर्शैरपि, न, प्रतिबुध्यन्ते = उचितं विधेयमनुजानन्ति । मृत्युसमये समागते कालभुजगेन भक्षिता जनाः यथा केनापि महामृत्युञ्जयमन्त्रेणापि न प्राणरक्षां कर्तुं शक्नुवन्ति तथैव हितकारिभिः सन्धिविग्रहादिसमुपदेश-ववचनैरपि राज्ञां बुद्धिः सफलतां न गच्छतीति भावः ।

जातुषेति । जातुषाभरणानि—जातुषाणि (=लाक्षानिर्मितानि) आभरणनि (=आभूषणानि) इव, सोष्माणम्=तेजस्विनम्, अग्निम्, न=नैव, सहन्ते=मृष्यन्ति । यथाऽग्निसम्पर्के एव जातुषाभरणानि द्रवीभूय विनश्यन्ति तथैव प्रतापवतां सम्पर्के राज्ञां सत्त्वं क्षीयते ।

दुष्टेति । दुष्टवारणाः=मदोन्मत्तगजाः, इव, महामान-स्तम्भ-निश्चलीकृताः—महान् (=अतिशयितः) यः मानः (=दर्पः) स एव स्तम्भः (=स्थूणा) तेन निश्चलीकृताः (=स्तब्धतामधिगताः) उपदेशम् = हितकारिवचनम्, न = नैव, गृह्णन्ति=शृण्वन्ति । पक्षे—महत् (=दीर्घम्) मानम् (=प्रमाणम्) यस्य स तादृश यः स्तम्भः (=आलानस्तम्भः) तेन निश्चलीकृताः (=स्थिरीकृताः) बद्धाः, सन्तः, उपदेशम्=हस्तिपकवचनम्, नैव, शृण्वन्ति=परिपालयन्ति । साम्यप्रतिपादनादुपमा ।

तृष्णेति । तृष्णेत्यादिः—तृष्णा (=धनादिलिप्सा) एव विषम् (= गरलम्) तेन मूर्च्छिताः

जिनकी मृत्यु समीप में आ गई है ऐसे (मरणासन्न) लोगों के समान वे अपने बन्धु जनों को भी नहीं पहचान पाते हैं, अति दुःखी (रुग्ण या मिचमिचाते) नेत्रों वाले के समान तेजस्वियों को नहीं देख पाते हैं, (तेजस्वियों की आँख से आँखे नहीं मिला पाते हैं;) कालसर्प द्वारा डसे गये व्यक्ति के समान महामन्त्रों (गरुड़-सम्बन्धी मन्त्रों) से भी पुनः जीवित (ज्ञानयुक्त) नहीं किये जाते हैं। लाख के आभूषणों के समान गर्मी (तेजस्वी लोगों) नहीं को सहन कर पाते हैं । जैसे उन्मत्त हाथी बहुत बड़े बन्धनस्तम्भ से बाँधकर निश्चल किये गये (होकर अपने महावत की बातें नहीं मानते हैं) वैसे ही अपने उत्कट अभिमान के कारण उत्पन्न स्तब्धता (जड़ता) के कारण निश्चल होते हुए वे [दिये जाने वाले] उपदेश को नहीं सुनते हैं, उस ओर ध्यान ही नहीं देते हैं । तृष्णारूपी विष से मूर्च्छित

१. पुरःस्थितं बन्धुजनम् । २. उत्कम्पित० । ३. जातुषा इव ।
४. महत्मान महामानकृता अपि न । ५. प्रवितृष्णावेगमूर्च्छिता ।

सर्वं पश्यन्ति। इषव इव पानवर्द्धिततैक्ष्ण्याः[1] परप्रेरिता[2] विनाशयन्ति। दूरस्थितान्यपि फलानीव दण्डविक्षेपैर्महाकुलानि शातयन्ति। अकालकुसुमप्रसवा इव मनोहराकृतयोऽपि लोकविनाशहेतवः। श्मशानाग्नय इवातिरौद्रभूतयः। तैमिरिका इवादूरदर्शिनः। उपसृष्टा इव क्षुद्राधिष्ठित-

(=मोहमुपगताः) सन्तः, सर्वम् =सकलम्, पदार्थमात्रमिति भावः। कनकमयम् =सुवर्णमयम्, इव, पश्यन्ति =विलोकयन्ति। अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः सङ्करः।

इषव इति। इषवः = बाणाः इव, पानवर्द्धिततैक्ष्ण्याः—पानम् (=निशानघर्षणम्) तेन वर्द्धितम् (=वृद्धिंगतम्) तैक्ष्ण्यम् (=निशितत्वम्) येषां ते तादृशाः, पक्षे—पानम् (=मध्वादिसेवनम्) तेन वर्द्धितं तैक्ष्ण्यम् (=मदक्रूरत्वम्) येषां ते तादृशाः सन्तः, परप्रेरिताः—परेण (=चापेन, धनुर्धारिणा वा) प्रेरिताः (=प्रयोजिताः), पक्षे—परैः =धूर्तादिभिः प्रेरिताः =प्रोत्साहिताः सन्तः, विनाशयन्ति =लक्ष्याणि नाशयन्ति, पक्षे—प्रजादीन् विनाशोन्मुखं कुर्वन्ति। उपमात्र।

दूरेति। दण्डविक्षेपैः =यष्टिप्रहारैः, पक्षे—दण्डरूपचतुर्थोपायैः, दूरस्थितानि =विप्रकृष्टवर्तीनि, अपि, महाकुलानि =विशालवंशोत्पन्नलोकान्, दूरस्थितानि, फलानि =आम्रादिफलानि, इव, शातयन्ति = पातयन्ति, पक्षे—नाशयन्ति। यथा दण्डप्रहारैः फलानां पातनं तथैव दण्डनीत्या प्रशस्तवंशीयजनानां पीडनं क्रियते राजभिरिति भावः। अत्रोपमा।

अकालेति। अकालकुसुमप्रसवाः—अकाले (= असमये) ये कुसुमानाम् (= पुष्पाणाम्) प्रसवाः (= उद्गमाः), ते, इव, मनोहराकृतयः—मनोहराः (= चित्ताकर्षकाः) आकृतयः (=आकाराः) येषां ते तादृशाः, सन्तः, अपि, लोकविनाशहेतवः—लोकस्य (=संसारस्य जनस्य वा) विनाशस्य (= क्षयस्य) हेतवः (= कारणानि), भवन्तीति शेषः। अकाले कुसुमोद्गमस्योत्पातनिमित्तत्वं प्रसिद्धम्। तथा चोद्धृतं भानुचन्द्रेण—"द्रुमौषधिविशेषाणामकाले कुसुमोद्गमः। फलप्रसवयोर्बन्धं महोत्पातं विदुर्बुधाः। एवञ्च मनोहारिण्याकृत्याऽपि ते राजानो लोकविनाशसूचका एवेति बोध्यम्। अत्रोपमा।

श्मशानेति। श्मशानाग्नयः—श्मशानम् (= प्रेतवनम्) तस्य अग्नयः (= वह्नयः), इव, अतिरौद्रभूतयः—अतिरौद्राः (= परेषामत्यन्तभीतिकारिकाः) भूतयः (= भस्मानि) येषां ते तादृशाः, पक्षे—अतिरौद्रा भूतयः (= सम्पत्तयः) येषां ते तादृशाः। ['भूतिर्भस्मनि सम्पत्ति-हस्तिशृङ्गारयोः स्त्रियाम्।' इति मेदिनी।]

तैमिरिका इति। तैमिरिकाः—तिमिरम् (=नेत्ररोगविशेषः) तद् संजातं येषां ते तादृशाः, तिमिरनामक-रोगाक्रान्ता इति भावः, अदूरदर्शिनः =विप्रकृष्टस्थवस्तुविलोकनशक्तिशून्या इति भावः। तैमिरिका इव दूरवर्तिनं हिताहितं वेत्तुं न समर्था इति भावः। अत्राप्युपमा।

किये गए वे सभी ओर या सभी पदार्थों को स्वर्णमय ही देखते हैं। जैसे बाण पान (शान रखने वाले पत्थर के घर्षण) से तीखे होते हुए पर =धनुष से छोड़े जाने पर दूसरों को मार डालते हैं वैसे ही वे [मदिरा आदि के] पीने से और अधिक क्रूर होते हुए दूसरों (चुगलखोरों आदि) के द्वारा प्रेरित होने पर दूसरों का विनाश कर डालते हैं। जैसे लोग दूर (बहुत ऊँचाई पर) लटकते हुए (स्थित) आम आदि फलों को डंडों के प्रहारों से [नीचे जमीन पर] गिरा देते हैं वैसे ही वे दूर रहने वाले भी बड़े-बड़े कुलों [के लोगों] को दण्डरूप चतुर्थ उपाय के माध्यम से अर्थात् बहुत अधिक दण्ड लेकर नष्ट कर देते हैं। असमय में फूलने वाले फूल जैसे सुन्दर आकृति वाले होते हुए भी लोगों के विनाश के कारण होते है वैसे ही वे भी सुन्दर आकार वाले होते हुए भी लोगों के विनाश के कारण बनते हैं।

१. प्रसवः, प्रसवः, प्रगनयः। २. पादव्याः।

भवनाः । श्रूयमाणा अपि प्रेतपटहा इवोद्वेजयन्ति । चिन्त्यमाना अपि महापातकाध्यवसाया इवोपद्रवमुपजनयन्ति । अनुदिवसमापूर्य्यमाणाः पापेनेवाध्मातमूर्त्तयो भवन्ति । तदवस्थाश्च व्यसनशतशरव्यतामुपगता[1] वल्मीकतृणाग्रावस्थिता[2] जलबिन्दव इव पतितमप्यात्मानं

उपसृष्टा इति । उपसृष्टाः = रतिसंलग्ना वेश्याः, इव, क्षुद्राधिष्ठितभावनाः – क्षुद्रैः (= नीचलोकैः) अधिष्ठितम् (= आश्रितम्) भवनम् (= सदनम्) येषां ते तादृशाः, पक्षे— क्षुद्रैः = विटादिभिः, अधिष्ठितं भवनं यासां ताः तादृश्यः । [भानुचन्द्रस्तु—"उपसृष्टाः = बहिष्कृता इव" इति व्याचख्यौ ।]

श्रूयमाणा इति । श्रूयमाणाः = आकर्ण्यमानाः, श्रवणगोचरीभूताः, अपि, प्रेतपटहाः = मृतसंस्कारकालिकढक्काशब्दाः, इव, उद्वेजयन्ति = उद्वेगं, वैक्लव्यं जनयन्ति । यथा प्रेतपटहानां श्रवणे उद्वेगो जायते तथैव राज्ञां वचनादिश्रवणेऽपीति साम्यादुपमा । प्रेतपटहवादनं काश्यादौ लोकाचारः । उपमात्र ।

चिन्त्यमाना इति । चिन्त्यमानाः = मनसि स्मर्यमाणाः, अपि, महापातकाध्यवसायाः— महापातकानाम् (= ब्रह्महत्यादीनाम्) अध्यवसायाः (= उद्योगाः), इव, उपद्रवम् = चित्तस्योद्विग्नताम्, उपजनयन्ति = उत्पादयन्ति । महापातकानां स्मरणेऽपि मनसि यथा भयं जायते तथैव राज्ञां स्मरणेऽपीति साम्यम् । तेनोपमा । मनुना महापातकलक्षणमेवमुक्तम्—"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः । महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥" (मनुः ११।५४)

अनुदिवसमिति । अनुदिवसम् = प्रतिदिनम्, पापेन = दुष्कृतेन, आपूर्यमाणाः = भ्रियमाणाः, इव, आध्मातमूर्तयः = स्फीतशरीराः, स्थूलदेहाः, भवन्ति = सम्पद्यन्ते । एतेन किं भवतीत्याह— तदवस्थाश्चेति । तदवस्था = ताः (= पूर्ववर्णिताः) अवस्थाः (= दशाः) येषां ते तादृशाः, च, व्यसनशतशरव्यताम्—व्यसनशतस्य (= कामक्रोधादिसमुत्पादितदोषसमूहस्य) शरव्यताम् (= लक्ष्यताम्) उपगताः = प्राप्ताः, व्यसनलक्ष्यीभूता इति भावः । वल्मीकतृणाग्रावस्थिताः—वल्मीकम् (= कीटविशेषनिःसारितमृत्पुञ्जः) तत्र तृणाग्रे (= उत्पन्नघासाद्यग्रभागे) अवस्थिताः (= विद्यमानाः), जलबिन्दवः = सलिलपृषताः, इव, पतितम् = स्वधर्मभ्रष्टम्, पृथिव्यां समागतम्, अपि, आत्मानम् =

श्मशान की अग्नि जैसे अत्यन्त भयानक (भूति) राख वाली होती है वैसे ही वे अत्यन्त भयानक विभूति (सम्पत्तियों) वाले होते हैं । तिमिर (नेत्ररोग विशेष) से ग्रस्त व्यक्ति जैसे दूर स्थित (पदार्थ) को नहीं देख पाते हैं वैसे ही वे दूर स्थित (स्वर्ग आदि) को नहीं देख पाते हैं, नहीं समझ पाते हैं । उपसृष्ट (रतिक्रीडा-लग्न वेश्या या उत्पातादियुक्त व्यक्ति) जैसे क्षुद्रों (नीचों, मधुमक्खी या विटादि) से अधिष्ठित घरों वाले होते हैं वैसे वे भी क्षुद्रों से अधिष्ठित भवनों वाले होते हैं । [शवयात्रा के साथ बजाये जानेवाले] प्रेतपटह जैसे [केवल] सुने जाते हुए भी उद्वेग (घृणा या व्याकुलता) को उत्पन्न करते हैं वैसे ही वे अर्थात् राजाओं की बातें सुनी जाती हुई भी मन को उबा देती हैं, कष्टयुक्त कर देती है । वे याद किये जाते हुए भी ब्रह्महत्या आदि महापातकों के उत्साह के समान उपद्रव = मानसिक अशान्ति उत्पन्न कर देते हैं । वे प्रतिदिन मानों पाप से भरे जाते हुए से मोटे शरीर वाले हो जाते हैं और इस प्रकार (पूर्ववर्णित) अवस्थाओं वाले होते हुए वे राजा लोग सैकड़ों [द्यूत, मदिरापान आदि] व्यसनों के लक्ष्यभाव को प्राप्त करते हुए अर्थात् लक्ष्य बनते हुए गिरते हुए भी अपने को उसी प्रकार नहीं जान पाते हैं जिस प्रकार बल्मीक (दीमकों द्वारा बनाये गये मिट्टी के

१. ···लक्ष्यताम्···। २. ···स्थिता···।

नावगच्छन्ति ।

अपरे तु—स्वार्थनिष्पादनपरैर्धन-पिशित-ग्रास-गृध्रै[1] रास्थान-नलिनीबकैः—द्यूतं विनोद-इति, परदाराभिगमनं वैदग्ध्यमिति, मृगया[2] श्रम इति, पानं विलास इति, प्रमत्तता[3] शौर्य-

स्वम्, न = नैव, अवगच्छन्ति = जानन्ति । यथा वल्मीके जलपतनेऽपि तस्य शुष्कतया न प्रतीतिस्तथैव मोहात् पतनकालेऽपि नात्मप्रतीतिः राज्ञामिति भावः । अत्राप्युपमा ।

इदं बोध्यम्—पूर्ववाक्येषु क्वचित् कर्मत्वेन क्वचिच्च कर्तृत्वेन राजपदार्थस्यान्वयात् परस्मैपदमात्मनेपदं च द्रष्टव्यम् ।

राजादीनां व्यसनान्येवमाह मनुः—"मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नो परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाऽटया च कामजो दशको गणः" पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम् । वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ [मनु० ७।४७-४८]

राज्ञां पार्श्ववर्तिनो धूर्तास्तेषां दोषानपि गुणपक्षमध्यारोपयन्तः स्तुतिभिस्तान् मूर्खतां प्रापय्य सर्वजनस्योपहासपात्रत्वं कुर्वन्तीति विचार्य धूर्तानां वैशिष्ट्यं प्रथमं वर्णयति—अपरे इति । अपरे=अन्ये केचन राजानः, तु, ["प्रतार्यमाणाः ··· उपहास्यतामुपयान्ती"ति वक्ष्यमाणेनान्वयः ।] स्वार्थेत्यादिः—स्वस्य (=आत्मनः) अर्थः (=प्रयोजनम्) तस्य यत् निष्पादनम् (=सम्पादनं, पूरणम्) तस्मिन् परैः (= निरतैः) धनेत्यादिः—धनम् (= वित्तम्) एव पिशितम् (= मांसम्) तस्य ग्रासे (=भक्षणे, ग्रहणे वा) गृध्रैः (= दूरदृग्भिः पक्षिविशेषैः, तत्तुल्यैरित्यर्थः), आस्थानेत्यादिः—आस्थानम् (=सभामण्डपः) एव नलिनी (=पद्मिनी) तस्यां बकैः (=कह्वैः, पक्षिविशेषैः) । यथा धूर्तबकपक्षिणो नलिनीमाश्रित्याच्छादितदेहाः सत्यवसरे झटित्येव मीनान् चञ्चुपुटेन गृहीत्वा भक्षयन्ति तथैव धूर्ता अपि राज्ञः आश्रित्यान्यान् सरलान् जनान् प्रतारयन्तीति भावः । अत्र रूपकम् । [इमानि पदानि धूर्तैरिति वक्ष्यमाणस्य विशेषणानीति बोध्यम् ।] अत्र परम्परितरूपकमलङ्कारः ।

केन रूपेण दोषे गुणानध्यारोपयन्तीति वर्णयति—द्यूतमिति । द्यूतम् = दुरोदरम्, विनोदः = क्रीडासाधनम्, मनोरञ्जनमिति भावः, इति । वस्तुतस्त दोष एवेदम् । परदाराभिगमनम्—परदाराणाम् (=अन्येषां कामिनीनाम्) अभिगमनम् (= संसर्गः, संभोगो वा) वैदग्ध्यम् = चातुर्यम्, इति । वस्तुतस्तु पातकमेवैदम् । मृगया = आखेटः, श्रमः = व्यायामः, इति=एवम् । अत एव अभिज्ञानशाकुन्तले—"मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ।" इत्युक्तम् । वस्तुतस्तु प्राणिहिंसात्वात् मृगया पापसाधनमेव । पानम् = मदिरादिसेवनम्, विलासः = विलसितम्, इति । वस्तुतस्तु पातकमेवेदमिति सर्वत्र निर्दिष्टम् । प्रमत्तता = अनवधानता, क्षीबता वा, शौर्यम् = शूरता, इति । वस्तुस्तु गुणादर्शना-

ढेर) के ऊपर उत्पन्न घास आदि के अग्रभाग में स्थित जल की बूंदें [गिरती हुई भी अपने को नहीं जान पाती हैं क्योंकि वे उस मृत्पुञ्ज में सोख ली जाती हैं] ।

और दूसरे कुछ राजा लोग—अपने स्वार्थ की सिद्धि करने में लगे हुए, धनरूपी मांस को पकड़ने में गीध के समान, (तथा) [राजा के] सभाभवन रूपी कमलिनी में [छिपकर या घेर कर बैठे हुए] बगुलों के समान दुष्ट, ठगने में कुशल धूर्तों के द्वारा—द्यूत (जुआ खेलना) विनोद (मन का बहलाना) है, अन्यों की स्त्रियों से संसर्ग करना विदग्धता (चतुरता) है, शिकार खेलना श्रम (व्यायाम) है, मदिरापान विलास है, प्रमत्तता (अनवधानता, लापरवाही) शूरता है अपनी

१. ···धूर्तबकैः । २. मृगयां । ३. प्रमत्ततां ।

मिति, स्वदारपरित्यागो[1]ऽव्यसनितेति, गुरुवचनावधीरणमपरप्रणेयत्वमिति, अजितभृत्यता[2] सुखोपसेव्यत्वमिति, नृत्य-गीत-वाद्य-[3]वेश्याभिसक्तौ[4] रसिकतेति[5], महापराधाकर्णनं[6] महानुभावतेति, पराभवसहत्वं[7] क्षमेति, स्वच्छन्दता[8] प्रभुत्वमिति, देवावमाननं महासत्त्वतेति,

दिकं महादोष एव । स्वदार-परित्यागः = निजस्त्रीत्यागः, अव्यसनिता = अनासक्तिः, इति । वस्तुतस्तु धर्मविरुद्धमेवैतदाचरणम् । गुरुवचनावधीरणम्—गुरुः (= हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेष्टा) तस्य वचनम् (= उपदेशः) तस्य अवधीरणम् (= उपेक्षा) अपर-प्रणेयत्वम् = अन्यानधीनत्वम्, इति, । 'वश्यः प्रणेयः' इति कोशः । हितकारिवचनोपेक्षा अभ्युदय-विनाशिकी एवेति सर्वत्र दृश्यते । अजितभृत्यता = अनायत्तीकृतानुचरता, [यस्य भृत्या जिता अधीना न भवन्ति स राजा स्वेष्टं साधयितुं न प्रभवतीति भृत्यनियन्त्रणमनिवार्यम् ।] सुखोपसेव्यत्वम्—सुखेन (= अनायासेन, स्वेच्छया) उपसेव्यत्वम् (= उपसेवनीयत्वम्, स्वस्येति शेषः), इति । वस्तुतस्तु अजितभृत्यता महान् दोषः, राज्यविनाश-हेतुश्चेति विचार्य भृत्येषु सम्यगधिकारो नियन्त्रणञ्चातीवावश्यकम् । राज्ञः सारल्ये उपेक्षाभावेन च भृत्याः तस्य मृत्युकारणमपि भवितुमर्हन्ति । नृत्येत्यादिः—नृत्यम् (= नाट्यम्) गीतम् (= गानम्), वाद्यम् (= वादित्रम्), वेश्या (= वारनारी, गणिका) च—एतासु अभिसक्तिः (= समासक्तिः) रसिकता = रसिकत्वम्, रसाभिज्ञत्वम्, इति । वस्तुतस्तु अतिशयनिरतता पतन-कारणमेवेति बोध्यम् ।

महापराधेति । महापराधेत्यादिः—महापराधानाम् (= ब्रह्महत्यादि-महापातकानाम्) आकर्णनम् (= श्रवणम्), महानुभावता = महाधर्मिष्ठता, महाप्रभावशालिता, इति । वस्तुतस्तु महापातकानामाकर्णनापेक्षया तेषां निराकरणाय तद्विषये दण्डदानाय च सावधानेन भाव्यमिति भावः । पराभवसहत्वम्—पराभवः (= अन्यविहिततिरस्कारः) तस्य सहत्वम् (= मर्षणीयत्वम्) क्षमा = तितिक्षा, इति । वस्तुतस्तु राज्ञा कदापि कथमपि स्वतिरस्कारो न क्षन्तव्यः । अन्यथा तस्य क्लीबता प्रसिद्धा भूत्वा विनाशहेतुर्भविष्यतीति पराभवकर्ता समुचितरूपेण दण्डनीय एवेति नीतिरतिप्रसिद्धा । स्वच्छन्दता = स्वेच्छाचारिता, प्रभुत्वम् = स्वतन्त्रत्वम्, इति । वस्तुतस्तु स्वच्छन्दचारिणो विनाशः सुनिश्चित इति महानयं दोष एवेति भावः । देवावमाननम्—देवानाम् (= शिवादिदेवतानाम्) अवमाननम् (= तिरस्कारः) महासत्त्वता—महाशक्तिमत्ता, इति । वस्तुतस्तु देवावमानेन विनाशः सद्योभावीति लोके सर्वत्र दृश्यते । तेन तस्य राज्ञोऽपि स निश्चित इति बोध्यम् । बन्दिजनख्यातिः—

विवाहित पत्नियाँ छोड़ देना व्यसन का अभाव (व्यसनों में अनासक्ति) है, गुरुजनों के वाक्यों का अनादर करना दूसरों के द्वारा शासित न होना है, [अपराध कर देने पर भी] अपने नौकरों को दण्ड न देना (नौकरों को अपने नियन्त्रण में न रखना) अपना सरलता से सेवायोग्य होना है, नाच, गाना, बजाना (संगीत) और वेश्याओं में आसक्त रहना रसिक होना है, बड़े- बड़े अपराधों (महापातकों) का सुनना (महान् अपराधों को सुनकर भी उनके लिए समुचित दण्ड न देना) महान् प्रभाव होना है, [अपनी] पराजय सह लेना क्षमा है, स्वच्छन्दता (मनमानापन) प्रभुता (अपना स्वामित्व-प्रदर्शन) है, देवताओं का अपमान करना अतिशय वीरता है, बन्दीजनों द्वारा की

१. परित्यागं, परित्यागेषु । २. भृत्यताम् । ३. नृत्त···। ४. अभिसक्ति ।
५. रसिकतामिति । ६. महापराधावकर्णनम्, महापराधानवकर्णनम् ।
७. परिभवसहत्वम् पराभवप्रहत्वम् । ८. स्वच्छन्दता ।

बन्दिजनख्यातिर्यश[1] इति, तरलता[2] उत्साह इति, अविशेषज्ञता[3] अपक्षपातित्वमिति—दोषानपि गुणपक्षमध्यारोपयद्भिरन्तः स्वयमपि विहसद्भिः प्रतारणकुशलैर्धूर्त्तै[4]रमानुषलोकोचिताभिः स्तुतिभिः प्रतार्य्यमाणा वित्तमदमत्तचित्ता निश्चेतनतया[5] तथैवेत्यात्मन्यारोपितालीकाभिमाना[6]

बन्दिजनाः (= स्तुतिपाठकाः) तैः कृता ख्यातिः (= स्वप्रसिद्धिः) यशः = कीर्तिः। न तु सा वास्तविकीकीर्ति तया दर्पोऽनुचित एवेति भावः। तरलता = आशुकारिता, सर्वकार्येष्वेति शेषः, उत्साहः = अध्यवसायः, प्रगल्भता, इति। वस्तुतस्तु अविचारितानुष्ठानं प्रायो विनाशकरमेवेति भावः। अत एवोक्तं किरातार्जुनीये "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।" इत्यादि। अविशेषज्ञता = विशेषाविशेषानभिज्ञता, अपक्षपातित्वम् = पक्षपातशून्यत्वम्, इति। वस्तुतस्तु विशेषाविशेषौ विचार्यैव पुरस्कारो दण्डो वा प्रदातव्यः। सर्वत्र समदृष्टिना तु न न्यायो विधातुं शक्यते। अत एवोक्तं "निर्विशेषं यदा राजा समं सर्वेषु वर्तते। तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते॥" इति वचनाद् योग्यजनसम्मानेनैवेष्टिसिद्धिरिति भावः। इति = पूर्वोक्त रीत्या, दोषान् = दूषणानि, अपि, गुणपक्षम् = गुणपङ्क्तिम् अध्यारोपयद्भिः = अन्तर्भावं विदधद्भिः, मिथ्या प्रशंसद्भिरिति भावः। अन्तः = स्वचेतसि, स्वयमपि = आत्मना, अपि, विहसद्भिः = उपहसद्भिः, [मम चाटूक्तिभिरयं राजा प्रतारित इति ममेष्टसिद्धिर्निश्चितेति ज्ञात्वा मनसि प्रसन्नतामनुभवद्भिश्चटुकारैरिति भावः], प्रतारण-कुशलैः = प्रवञ्चनानिपुणैः, धूर्त्तैः = वञ्चकैर्जनैः, अमानुषेत्यादिः—अमानुषलोकः (= मानुषलोकाद् भिन्नः, देवलोक इति भावः) तस्य उचिताभिः (= योग्याभिः) स्तुतिभिः = प्रशंसाभिः, श्लाघाभिः, प्रतार्यमाणाः = वञ्च्यमानाः, वित्तेत्यादिः—वित्तम् (= धनम्) तस्य यो मदः (= दर्पः) तेन मत्तम् (= उन्मत्तम्) चित्तम् (= स्वान्तम्) येषां ते तादृशाः, सन्तः, निश्चेतनतया—निर्गता (= निष्क्रान्ता) चेतना (= ज्ञानम्) यस्मात् तस्य भावस्तत्ता, हेतुना। तथैव = एतैर्जनैर्वयं यादृशाः वर्णितास्तेनैव प्रकारेण स्मः, इति = एवं रूपेण, आत्मनि = स्वस्मिन्, आरोपितालीकाभिमानाः—आरोपितः (= आरोपविषयीकृतः, कल्पितः) अलीकाभिमानः (= मिथ्याभिमानः) येषां ते तादृशाः, मर्त्यधर्मणः—मर्त्यस्य (= मरणशीलस्य मनुष्यस्य) धर्मः (= जन्ममरणादिः) येषां ते तादृशाः, अपि ["धर्मादनिच् केवलात्" इति सूत्रेणा-

गई स्तुति (प्रशंसा) कीर्ति है, आशुकारिता (उतावलापन) उत्साह है, और विशेष का ज्ञान न करना (गुणी या मूर्ख की पहचान न कर सकना) पक्षपात का अभाव है—इस प्रकार से दोषों को भी गुणपक्ष में अध्यारोपित करते हुए, स्वयं भी अपने मन में (भीतर ही भीतर) हँसते हुए, ठगने में सफल धूर्तों के द्वारा मनुष्यलोक में न हो सकने वाली अर्थात् देवलोक-सदृश स्तुतियों से ठगे जाते हुए, धन के मद से मत्त चित्त वाले [होते हुए], (इस कारण) निश्चेतनता = निर्बुद्धि होने से [धूर्त आदि द्वारा की गई स्तुतिओं को] उसी प्रकार का अर्थात् सत्य समझ कर अपने में झूठे अभिमान का आरोप करते हुए मरणशील होने पर भी स्वयं देवताओं के अंशों से मानों अवतीर्ण हों, मानों देवत्व से युक्त हो, मानों अतिमानव हों—इस प्रकार से अपने को समझते हुए, देवताओं के योग्य (उनके द्वारा करने योग्य) क्रियायें और प्रभाव को आरम्भ करते हुए (राजा लोग) सभी लोगों के उपहास के पात्र बनते हैं और सेवकों द्वारा अपनी [देवताओं के रूप में] की जाती हुई

१. ख्याति। २. तरलताम्। ३. अविशेषज्ञताम्।
४. अमानुषोचिताभिः। ५. मत्तनिश्चयेन। ६. तथेति, यथेति, आत्मारोपित०।

मर्त्यधर्म्माणोऽपि दिव्यांशावतीर्णमिव सदैवतमिवातिमानुषमात्मानमुत्प्रेक्षमाणाः[1] प्रारब्ध-दिव्योचितचेष्टानुभावाः सर्वजनस्योपहास्यतामुपयान्ति। आत्मविडम्बनाञ्चानुजीविना जनेन क्रियमाणामभिनन्दन्ति। मनसा देवताध्यारोपणविप्रतारणादसद्भूत-सम्भावनोपहताश्चान्तः-प्रविष्टापरभुजद्वयमिवात्मबाहुयुगलं सम्भावयन्ति। त्वगन्तरिततृतीयलोचनं स्वललाट-माशङ्कन्ते।

निच्प्रत्ययान्तोऽयं शब्द इति भावः।] आत्मानम् = स्वम्, दिव्यांशावतीर्णम्—दिव्यांशाः (=देव-सम्बन्धिनो भागाः) तैरवतीर्णम् (= कृतावरणम्, जातम्), इव, अतएव, सदैवतम् = देवत्वविशिष्टम्, इव, अतिमानुषम् = अतिमनुष्यम्, इव, [मानुषम् अतिक्रान्तः—इत्यर्थे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति वार्तिकेन समासः।] उत्प्रेक्षमाणाः = सम्भावयन्तः, मन्यमानाः, प्रारब्धेत्यादिः—प्रारब्धाः (=समारब्धाः) दिव्योचिताः (=देवजनयोग्याः) चेष्टाः (=क्रियाः, व्यापाराः) ताभिः अनुभावाः (=माहात्म्यानि) यैस्ते तादृशाः, यद्वा —० चेष्टानुभावाः—चेष्टा (=अमानुषव्यापाराः,) अनुभावाः (=शापदानादिप्रभावाः) च यैस्ते तादृशाः, [आत्मनि देवत्वमध्यस्य देवानामिव कार्याणि कुर्वन्त इति भावः] सर्वजनस्य = सकललोकस्य, उपहास्यताम् = उपहासविषयताम्, उपयान्ति = प्राप्नुवन्ति। तेषा-मद्भुतव्यापारान् विलोक्य लोकाः मनसा वचसा च तेषामुपहासमेव कुर्वन्तीति भाव। पूर्वत्र इवशब्द-त्रयेणोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः।

आत्मेति। च = किञ्च। अनुजीविना = सेवकेन, जनेन = लोकेन, क्रियमाणाम् = विधीयमानाम्, आत्मविडम्बनाम् = अविद्यमानगुणारोपणरूपां प्रतारणाम्, अभिनन्दन्ति = प्रशंसन्ति।

मनसेति। देवतेत्यादिः—देवतायाः (=विष्ण्वादेः) यद् अध्यारोपणम् (=परिकल्पनम्) तेन यत् प्रतारणम्(=प्रवञ्चनम्) तस्मात्, हेतोः,असद्भूत-सम्भावनोपहताः—असद्भूता (=मिथ्यारूपा अवास्तविकी) या सम्भावना (=आत्मनि देवत्वकल्पना) तया उपहताः (नष्टमतिकाः) सन्तः, मनसा = चित्तेन, आत्मबाहुयुगलम् = निजभुजयुग्मम्, अन्तःप्रविष्टेत्यादिः—अन्तः (= अभ्यन्तरे) प्रविष्टम् (=कृतप्रवेशम् निलीय विद्यमानम्) अपरभुजद्वयम्—अपरम् (=अन्यद्) भुजद्वयम् (=बाहुयुगलम्) यस्य यस्मिन् वा, तत्, तादृशम्, सम्भावयन्ति = उत्प्रेक्षन्ते, मन्यन्ते। एतेन स्वस्मिन् चतुर्भुजत्वं प्रकल्प्य विष्णुमेव मन्यते इति भावः। अत्रोत्प्रेक्षा।

त्वगिति। स्वललाटम् = निजमस्तकम्, त्वगन्तरितलोचनम्—त्वचा (=चर्मणा) अन्तरितम् (=व्यवहितम्, पिहितम्) तृतीयलोचनम् (=तृतीयनेत्रम्) यस्मिन् तत् तादृशम्, आशङ्कन्ते=उत्प्रेक्षन्ते। एतेन स्वस्मिन् त्रिनेत्रत्वं शिवत्वं कल्पयन्ति।

नकल (अनुकरण) की प्रशंसा करते हैं। देवताओं के अध्यारोपरूपी वञ्चना के कारण झूठी सम्भावना (अपने में देवत्व की कल्पना) से नष्ट बुद्धि वाले होकर अपनी दो भुजाओं को, जिनमें अन्दर दो भुजायें और छिपी है, प्रविष्ट हैं—ऐसा मान बैठते हैं। [अर्थात् भीतर दो हाथ और छिपे हुए हैं अतः मैं चतुर्भुज विष्णु हूँ—ऐसा भ्रम करने लगते हैं।] अपने मस्तक को, चमड़ी से ढँकी हुई तीसरी आँख वाला समझ लेते हैं। [इससे तीन नेत्रों वाले शंकर का अवतार समझ लेते हैं।]

१. मानुष्यकम्। २. विप्रतारणा। ३. असद्भूत ... समुद्भूत ...।

दर्शनप्रदानमप्यनुग्रहं[1] गणयन्ति। दृष्टिपातमप्युपकारपक्षे स्थापयन्ति। सम्भाषणमपि संविभागमध्ये कुर्वन्ति। आज्ञामपि वरप्रदानं मन्यन्ते। स्पर्शमपि[2] पावनमाकलयन्ति। मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवताभ्यः, न पूजयन्ति द्विजातीन्[3], न मानयन्ति मान्यान्, नार्चयन्त्यर्चनीयान्, नाभिवादयन्त्यभिवादनार्हान्, नाभ्युत्तिष्ठन्ति गुरून्। अनर्थकायासान्तरितोपभोग-सुखमित्युपहसन्ति[4] विद्वज्जनम्[5], जरावैक्लव्यप्रलपितमिति पश्यन्ति

दर्शनेति। ते राजानः, दर्शनप्रदानम्=निजसाक्षात्कारप्रदानम्, स्वप्रकटनम्, अपि, अनुग्रहम्=प्रसादम्, गणयन्ति=आकलयन्ति। दृष्टिपातम् = नेत्रेणावलोकनमपि, उपकारपक्षे = उपकृतिपक्षे, स्थापयन्ति = निक्षिपन्ति। सम्भाषणम्=संजल्पनम्, अपि, संविभागमध्ये = पारितोषिकप्रदानमध्ये, कुर्वन्ति=विदधति। वार्तालापेन धनप्रदानस्य तुल्यत्वं गणयन्ति। आज्ञाम्=नियोगवचनम्, अपि, वरप्रदानम्=समीहितप्रदानम्, मन्यन्ते=जानन्ति। स्पर्शम् = हस्तादिना संश्लेषम्, अपि, पावनम्=पवित्रत्वोत्पादकम्, आकलयन्ति=विचारयन्ति।

मिथ्येति। च = किञ्च, ते, मिथ्येत्यादिः—मिथ्या (= अलीकः) यो माहात्म्यगर्वः (=महत्त्वदर्पः) तेन निर्भराः (=परिपूर्णाः), सन्तः, देवताभ्यः = देवेभ्यः, न=नैव, प्रणमन्ति=प्रणतिं कुर्वन्ति, द्विजातीन् = ब्राह्मणान्, न = नैव, पूजयन्ति = अर्चन्ति। मान्यान्=सम्माननीयान्, न = नैव, मानयन्ति = सत्कुर्वन्ति। अर्चनीयान् = अर्चन-योग्यान्, न = नैव, अर्चयन्ति=पूजयन्ति। अभिवादनार्हान्=अभिवादनयोग्यान्, न = नैव, अभिवादयन्ति = अभिवादनं कुर्वन्ति, पादप्रणतिपूर्वकं नमस्कारं कुर्वन्ति। गुरून् = वृद्धान् आचार्यादीन्, न =नैव, अभ्युत्तिष्ठन्ति = अभ्युत्थानं कुर्वन्ति। 'देवताभ्यः प्रणमन्ती' त्यत्र चतुर्थी चिन्त्या। यद्वा—'देवता अनुकूलयितुं प्रणमन्तीत्यर्थे 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" (पा. सू. ३।२।१४) इति सूत्रेण चतुर्थी। अर्चयन्तीत्यत्र चौरादिकस्य 'अर्च पूजायाम्' इति धातोः रूपं न तु भौवादिकस्येति बोध्यम्।

अनर्थकेति। अनर्थकेत्यादिः—अनर्थकः (= निष्फलः) य आयासः (= परिश्रमः), विद्यादि-समुपार्जने इति शेषः) तेन अन्तरितम् (=व्यवहितम्, परित्यक्तम्) उपभोगः (=कामिन्यादिसंसर्गः) तस्य तज्जनितं वा यत् सुखम् (= आनन्दः) यस्य तं तादृशम्, इति = अस्मात् कारणात्, विद्वज्जनम् = विपश्चिल्लोकम्, उपहसन्ति = उपहासं कुर्वन्ति।

जरेति। जरेत्यादिः—जरायाः (= वृद्धत्वस्य) यत् वैक्लव्यम् (= विह्वलत्वम्) तेन प्रलपितम् (= प्रजल्पनम्), इति = एवं रूपेण, वृद्धोपदेशम् = गुरुजनपरामर्शम्, पश्यन्ति =

किसी को [अपना] दर्शन देना भी अनुग्रह गिनते हैं। [किसी पर]दृष्टिपात करना भी उपकार-पक्ष में स्थापित करते हैं। संभाषण करना (बात कर लेना) भी धनादि-प्रदान करने के मध्य में मानते हैं। आज्ञा देना भी वरप्रदान मानते हैं। स्पर्श कर लेना भी पवित्र करना समझते हैं। झूठे माहात्म्य (बड़प्पन)के गर्व से भरे हुए (वे राजा लोग)देवताओं को भी प्रणाम नहीं करते हैं। द्विजातियों=ब्राह्मणों को नहीं पूजते हैं। सम्माननीय लोगों को भी सम्मानित नहीं करते हैं। अभिवादन (=चरण-स्पर्शपूर्वक प्रणामादि) के योग्य व्यक्तियों का भी अभिवादन नहीं करते है। गुरुजनों को [उनके आगमन के समय] नहीं उठते हैं, अर्थात् उनके सम्मान में अपने आसन छोड़कर नहीं खड़े होते हैं। निरर्थक परिश्रम से उपभोग सुख का व्यवधान करने वाले हैं—ऐसा [कहकर] विद्वज्जनों का उपहास करते हैं। बुढ़ापे की विकलता से प्रलाप है— इस रूप में वृद्धजनों के उपदेश को देखते हैं, समझते हैं। अपनी

---

१. ...प्रदानेऽपि। २. संस्पर्शमपि। ३. द्विजान्।
४. अन्तरितविषयोपभोग०। ५. विद्वज्जनशीलम्।

वृद्धोपदेशम्[1], आत्मप्रज्ञापरिभव इत्यसूयन्ति सचिवोपदेशाय, कुप्यन्ति हितवादिने। सर्वथा तमभिनन्दति; तमालपन्ति, तं पार्श्वे कुर्वन्ति, तं संवर्द्धयन्ति, तेन सह सुखमवतिष्ठन्ते, तस्मै ददति, तं मित्रतामुपनयन्ति[2], तस्य वचनं शृण्वन्ति, तत्र वर्षन्ति, तं बहु मन्यन्ते; तमाप्ततामापादयन्ति[3], योऽहर्निशमनवरतमुपरचिताञ्जलिरधिदैवतमिव विगतान्यकर्त्तव्यः स्तौति, यो वा माहात्म्यमुद्भावयति।

विलोकयन्ति, चिन्तयन्ति।

आत्मेति। आत्मेत्यादिः—आत्मनः (= स्वस्य) प्रज्ञायाः (= मनीषायाः) परिभवः (= तिरस्कारः), इति = एवं विचार्य, सचिवोपदेशाय = हितकारिमन्त्रिपरामर्शाय, असूयन्ति= असूयां कुर्वन्ति, गुणेषु दोषारोपपूर्वकं कुप्यन्ति। हितवादिने = हितभाषिणे, कुप्यन्ति = कुध्यन्ति। अत्र वाक्यद्वये "क्रुध-द्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः" इति सूत्रेण कोपविषयस्य सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी बोध्या।

सर्वथेति। तम् = तं जनम्, सर्वथा = सर्वप्रकारेण, अभिनन्दन्ति = प्रशंसन्ति, तम् = तं जनम्, सर्वथा, आलपन्ति = भाषन्ते, तम् = तं जनम्, सर्वथा, पार्श्वे = समीपे, कुर्वन्ति = विदधति, स्थापयन्ति। तम् = तं जनम्, संवर्द्धयन्ति = वृद्धि सम्पन्नतां वा प्रापयन्ति, तेन = तेन जनेन, सह = सार्धम्, सुखम् = सानन्दम्, अवतिष्ठन्ते = अवस्थानं कुर्वन्ति। तस्मै = तस्मै जनाय, ददति = प्रयच्छन्ति, उपहारादीनिति शेषः। तम् = तं जनम्, मित्रताम् = सुहृत्ताम्, उपनयन्ति = प्रापयन्ति। तस्य = तस्य जनस्य, वचनम् = वाक्यम्, शृण्वन्ति = आकर्णयन्ति। तत्र = तस्मिन् जने, वर्षन्ति = वर्षणं कुर्वन्ति, धनादीनामिति शेषः। तम् = तं जनम्, बहु = अत्यधिकम्, मन्यन्ते = जानन्ति। तम् = तं जनम्, आप्तताम् = शिष्टताम्, यथार्थवक्तृताम्, आपादयन्ति = प्रापयन्ति।

योऽहर्निशमिति। यः = जनः, अहर्निशम् = रात्रिन्दिवम्, अनवरतम् = सततम्, उपरचिताञ्जलिः— उपरचितः (= विहितः, बद्धः) अञ्जलिः (= करपुटः) येन स तादृशः, तथा, विगतान्यकर्त्तव्यः— विगतानि (= समाप्तानि, अपगतानि) अन्यानि (= अपराणि) कर्त्तव्यानि (= कार्याणि) यस्य स तादृशः, सन्, अधिदैवतम् = अधिकदेवम्, इष्टदेवताम्, इव, स्तौति = नौति, प्रशंसा करोति। वा = अथवा, यः = जनः, माहात्म्यम् = महत्त्वम्, तद् गुणवैशिष्ट्यलक्षणं प्रभावम्, उद्भावयति = प्रकटयति, अन्येषां पुरः प्रदर्शयतीति भावः।

अर्थात् राजा की प्रज्ञा (बुद्धि) का परिभव (अपमान) है, ऐसा (सोंच कर) सचिवों के उपदेश से ईर्ष्या करते हैं, हित की बातें कहने वाले से क्रोध करते हैं। उसी का सभी प्रकार से सम्मान करते हैं; (स्वागत करते हैं,) उसी से बातचीत करते हैं, उसी को अपने पास करते है, (बैठाते हैं) उसी का संवर्द्धन करते है, (आगे बढ़ाते हैं) उसी के साथ सुख से बैठते हैं, उसी को [सभी उपहारादि] देते हैं, उसी से मित्रता करते हैं, उसी की बातें सुनते हैं, उसी पर [अनुग्रहों की] वर्षा करते हैं, उसी को बहुत मानते हैं (आदर करते हैं) और उसी को विश्वसनीय मानते हैं—जो दिनरात लगातार हाथ जोड़े (अंजलि बनाये) हुए, दूसरे सभी कार्यों को भूल कर (छोड़ते हुए) इष्टदेवता के समान स्तुति करता है अथवा माहात्म्य (बड़ाई) को प्रकट करता है, घोषित करता है।

---

१. न पश्यन्ति वृद्धोपदेशम्। २. तस्य मन्त्रिताम्, तं मित्रतामुपनयन्ति।
३. तामात्मतामापादयन्ति, तस्माद् बिभ्यति।

किंवा तेषां साम्प्रतम्,[1] येषामतिनृशंसप्रायोपदेशनिर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्, अभिचारक्रियाक्रूरैकप्रकृतयः पुरोधसो गुरवः, पराभिसन्धानपरा मन्त्रिण उपदेष्टारः, नरपतिसहस्रभुक्तोज्झितायां लक्ष्म्यामासक्तिः, मारणात्मकेषु शास्त्रेष्व[2]भियोगः, सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ता भ्रातर उच्छेद्याः ।

राज्ञां दोषान्तराण्येव वर्णयति—किं वेति । वा = अथवा, तेषाम् = ऐश्वर्यवतां राज्ञाम्, किम्, साम्प्रतम् = युक्तम्, 'असाम्प्रतम्' इति पाठे तु 'अयुक्तम्' इत्यर्थः—"युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने" इत्यमरकोषात् । तेषां राज्ञां न किमपि युक्तमिति भावः ।

अयुक्तत्वं द्रढयन्नाह—येषामिति । येषाम् = राज्ञाम्, अतिनृशंसेत्यादिः—अतिनृशंसप्रायः (= अतिक्रूरबहुलः) य उपदेशः (= शिक्षणम्) तेन निर्घृणम् (= निर्दयम्) [निर्गता घृणा = करुणा यस्मात् तत् । "कारुण्यं करुणा घृणा ।" इत्यमरः । यस्मिन् दयालवशेषोऽपि न विद्यते तादृशमिति भावः ।] कौटिल्यशास्त्रम्—चाणक्यविरचित-नीतिशास्त्रम् 'कौटिलीयार्थशास्त्रम्', प्रमाणम् = प्रमायाः करणम्, नीतिनिर्धारणे सहायकमिति भावः । अभिचारेत्यादि—अभिचारक्रिया (= श्येनयागादिरूपान्यवधोत्पादकजघन्यकृत्यम्) तया क्रूराः (= नृशंसा, कठोराः) एकाः (= मुख्याः) प्रकृतयः (= स्वभावाः) येषां ते तादृशाः पुरोधसः = पुरोहिताः, गुरवः = हितोपदेशष्टारः । ["हिंसाकर्माभिचारः स्यात् ।" 'एके मुख्यान्यकेवलाः ।' इति चामरः ।] परेत्यादिः—परेषाम् (= अन्येषाम्) अभिसन्धाने (= वञ्चनायाम्) पराः (= रताः), मन्त्रिणः = सचिवाः, उपदेष्टारः = परामर्श-दातारः, शिक्षका इति भावः । नरपतीत्यादि—नरपतीनाम् (= राज्ञाम्) सहस्रेण (= सहस्रसंख्यया, समूहेन) प्राक् भुक्ता (= उपभुक्ता) पश्चात् च उज्झिता (= परित्यक्ता) तस्यां तादृश्याम्, लक्ष्म्याम् = श्रियाम्, आसक्तिः = स्नेहाधिक्यम् । मारणात्मकेषु—मारणम् (= व्यापादनम्) एव आत्मा (= स्वरूपम्) येषां तादृशेषु, [समासान्तः कप्रत्ययः] शास्त्रेषु = योगिनीतन्त्रादिषु, 'शस्त्रेषु' इति पाठे तु 'आयुधेषु' इत्यर्थः । सहजेत्यादि—सहजम् (= स्वाभाविकम्) यत् प्रेम (= स्नेहः) तेन आर्द्रम् (= क्लिन्नम्, सदयम्) हृदयम् (= चित्तम्) येषां ते तादृशा, अत एव अनुरक्ताः (= स्नेहशीलाः) भ्रातरः (= सहोदराः) उच्छेद्याः = समूलं विनाशयोग्या । अत्र विविधकार्यायुक्तत्वप्रतिपादनरूपकार्यं प्रति अनेकहेतूनामुपन्यासात् समुच्चयालङ्कारो बोध्यः ।

अथवा उनके लिए क्या उचित है अर्थात् कुछ भी उचित नहीं है, जिनके लिए अत्यधिक क्रूरता से परिपूर्ण (भरे हुए) उपदेशों के कारण कठोर कौटिल्य शास्त्र ही प्रमाण (प्रमात्मक ज्ञान का कारण) है । अभिचार (मारणादि) क्रिया के कारण केवल क्रूर स्वभाव वाले पुरोहित ही गुरुजन हैं (उन्हीं का उपदेश पालनीय है ।) दूसरों को ठगने में लगे हुए मन्त्री लोग ही [हिताहित के] उपदेश देनेवाले हैं, हजारों राजाओं द्वारा उपभोग करने के बाद छोड़ी गई लक्ष्मी में अतिशय आसक्ति (लगाव) है, मारण-स्वभाव वाले (जिनके अध्ययन से मार डालने की क्रिया का ज्ञान होता है ऐसे) शास्त्रों में (उनके अध्ययन में) आग्रह है, स्वाभाविक प्रेम से आर्द्र (द्रवित) हृदय वाले (अत एव) अनुरक्त भाई लोग ही उच्छेद (विनाश, मारण) करने योग्य हैं ।

---

१. असाम्प्रतम् । २. शस्त्रेषु ।

[1]तदेवंप्रायातिकुटिल-कष्ट-चेष्टा-सहस्रदारुणे राज्यतन्त्रे, अस्मिन् महामोहकारिणि[2] च यौवने, कुमार ! तथा[3] प्रयतेथा यथा[4] नोपहस्यसे जनैः[5], न निन्द्यसे साधुभिः, न धिक्क्रियसे गुरुभिः, नोपालभ्यसे[6] सुहृद्भिः, न शोच्यसे विद्वद्भिः। यथा च न प्रकाश्यसे[7] विटैः, न प्रहस्यसे[8] कुशलैः, नास्वाद्यसे भुजङ्गैः, नावलुप्यसे सेवकवृन्दैः[9], न वञ्च्यसे धूर्तैः, न प्रलोभ्यसे

प्रकृतमुपसंहारयन्नाह—तदेवमिति। तत् = तस्मात्, एवंप्रायेत्यादिः—एवंप्रायाः (= पूर्ववर्णित-स्वरूपबहुलाः) अतिकुटिलाः (= अतिशयवक्राः) कष्टचेष्टाः (= दुःखप्रदायिन्यः कायव्यापारा ईहाः वा) तासां सहस्रम् (= प्रचुरम्) तेन दारुणे (= भीषणे) राज्यतन्त्रे = राज्यशासनव्यापारे, अस्मिन् = अतिप्रसिद्धेऽनुभूयमाने, महामोहकारिणि = महामूर्खत्वजनके, च, यौवने = तारुण्ये, हे कुमार ! = प्रियवत्स चन्द्रापीड !, तथा = तेन प्रकारेण, प्रयतेथाः = प्रयत्नं कुरु, यथा = येन प्रकारेण, जनैः = लोकैः, न = नैव उपहस्यसे = उपहासविषयीक्रियसे। साधुभिः = सज्जनैः, न = नैव, निन्द्यसे = निन्दाविषयी-क्रियसे। गुरुभिः = मान्यैर्वृद्धैर्हितोपदेशकारिभिः, न = नैव, धिक्क्रियसे = धिक्कृतिपात्रं विधीयसे। सुहृद्भिः = मित्रैः, न = नैव, उपालभ्यसे = उपालम्भविषयीक्रियसे। विद्वद्भिः = पण्डितैः, न = नैव, शोच्यसे = शोकविषयीक्रियसे।

यथेति। यथा च = येन प्रकारेण च, विटैः = षिड्गैः, कामुकलोकैः, न = नैव, प्रकाश्यसे = प्रकटीक्रियसे, तेषां सहचरत्वेनेति शेषः। कुशलैः = निपुणैः, न = नैव, प्रहस्यसे = प्रहासविषयीक्रियसे। भुजङ्गैः = धूर्तैः, न = नैव, आस्वाद्यसे = उपभुज्यसे, सेवकादिरूपेण प्रविश्य धनादिकं न गृह्यते इति भावः। सेवकवृन्दैः = भृत्यवर्गैः, न = नैव, अवलुप्यसे = अवलुण्ठ्यसे क्वचित्तु 'सेवकवृकै'रिति पाठः। सेवकाः एव वृका ईहामृगास्तैरित्यर्थः। धूर्तैः = शठैः, न = नैव, वञ्च्यसे = प्रतार्यसे। वनिताभिः =

इसलिए इस (पूर्वोक्त) प्रकार की हजारों अत्यन्त कुटिल, कष्टदायक चेष्टाओं (क्रियाकलापों) से भयानक राज्यतन्त्र में (राजा के शासन में) और महान् मोह (मूर्खता) को उत्पन्न कराने वाले इस यौवन में (अर्थात् तुम्हारे पास ये दोनों स्थितियाँ होने पर) हे प्रिय कुमार चन्द्रापीड ! तुम्हें इस प्रकार से प्रयास करना चाहिए जिस प्रकार से लोगों द्वारा तुम्हारा उपहास (हँसी) न किया जाय, सज्जनों द्वारा निन्दा के पात्र न बनो, गुरुओं द्वारा धिक्कारे न जाओ, मित्रों द्वारा उलाहना न दिया जाये, (उपालम्भ के पात्र न बन जाओ,) विद्वानों द्वारा शोक के विषय न बन जाओ (विद्वान् तुम्हें देखकर शोक न करने लगें) और जिस प्रकार से विटों (कामुकजनों) द्वारा [उनके साथी के रूप में समाज में] प्रकाशित न किये जाओ। [लोक-व्यवहार में] निपुण व्यक्तियों द्वारा हँसे न जाओ (तुम्हारी हँसी न उड़ाई जाय) [अथवा अकुशल व्यक्तियों द्वारा ठगे न जाओ] भुजङ्ग = धूर्तों द्वारा आस्वादित न किये जाओ (अर्थात् वे तुम्हारे धनादि को ठग कर मौज-मस्ती न उड़ावें), सेवकसमूह (सेवकरूपी भेड़ियों) द्वारा लुप्त (विनष्ट) न किये जाओ, धूर्तों द्वारा ठगे न जाओ, स्त्रियों द्वारा लुभाये न

१. एवंप्राये···कुटिलकुचेष्टा, कुटिलचेष्टा०। २. महामोहान्धकारिणि। ३. तथा तथा। ४. यथा यथा। ५. अनेन। ६. उपलभ्यसे। ७. प्रताप्यसे। ८. प्रतार्यसे। ९. सेवकवृकैः।

वनिताभिः[1], न विडम्ब्यसे लक्ष्म्या, न नर्त्यसे मदेन, नोन्मत्तीक्रियसे मदनेन, नाक्षिप्यसे विषयैः,[2] नावकृष्यसे रागेण[3], नापह्रियसे[4] सुखेन। कामं भवान् प्रकृत्यैव धीरः, पित्रा च[5] समारोपितसंस्कारः, तरलहृदयमप्रतिबुद्धञ्च मदयन्ति धनानि, तथापि भवद्गुणसन्तोषो मामेवं[6] मुखरीकृतवान्। इदमेव च पुनः पुनरभिधीयसे। विद्वांसमपि सचेतनमपि महासत्त्वमप्यभिजातमपि धीरमपि प्रयत्नवन्तमपि पुरुषमियं दुर्विनीता खलीकरोति लक्ष्मीरिति सर्वथा कल्याणैः

कामिनीभिः, न=नैव, प्रलोभ्यसे=आकृष्यसे, ताभिर्न वशीक्रियसे इति भावः। लक्ष्म्या=श्रिया, न=नैव, बिडम्ब्यसे=बिडम्बनायुक्तो विधीयसे, परित्यज्यसे इति भावः। मदेन=गर्वेण, न=नैव, नर्त्यसे=नाट्यसे। मदनेन=कामेन, न = नैव, उन्मत्तीक्रियसे = उन्मत्ततां नीयसे। विषयैः = इन्द्रियार्थैः स्पर्शादिभिरिति भावः। न=नैव, आक्षिप्यसे = एकान्तमाकृष्यसे। रागेण = अनुरागेण, न=नैव, अवकृष्यसे=आकृष्यसे। कस्मिंश्चिद्विषयविशेषे व्यक्तिविशेषे वा रागाधिक्येन तं प्रति नाकृष्यसे इति भावः। सुखेन=आनन्देन, न=नैव, अपह्रियसे=परित्यज्यसे, स्ववशीक्रियसे वा।

कामभिति। अत्रादौ 'यद्यपि' इति संयोज्य पठनीयम्। यद्यपि, भवान्=त्वम्, प्रकृत्या=स्वभावेन, एव, धीरः=धैर्यशाली, असि। पित्रा=तातेन तारापीडेन, च, समारोपितसंस्कारः—समारोपिताः (=शिक्षादिभिः संस्थापिताः) संस्काराः (=पवित्रवासनाः) यस्मिन् स तादृशः, असि। तरलहृदयम्—तरलम् (=चञ्चलम्) हृदयम् (=मनः) यस्य तं तादृशम्, अस्थिरचित्तमिति भावः, अप्रतिबुद्धम्=औचित्यानौचित्यबोधरहितम्, च, जनम्, धनानि=वित्तानि, मदयन्ति=उन्मत्तं कुर्वन्ति। तथापि, भवद्गुणसन्तोषः—भवतः (=तव चन्द्रापीडस्य) गुणेषु (=शौर्यगाम्भीर्यादिषु) सन्तोषः (=सन्तुष्टिः) माम्=शुकनासम्, एवम्=उक्तरूपेण, उपदेशप्रदानायेति शेषः, मुखरीकृतवान्=वाचालं विहितवान्। भवते समुचितोपदेशदानाय प्रायोजयदिति भावः।

इदमिति। इदम्=पूर्वोक्तम्, पुनः पुनः = वारं वारम्, अभिधीयसे=कथ्यसे, उपदिश्यसे। किन्तदिति वर्णयति—विद्वांसमिति। विद्वांसम्=बुधम्, अपि, सचेतनम्=ज्ञानवन्तम्, सदसद्विवेकशीलम्, अपि, महासत्त्वम् = अतिशयशक्तिमन्तम्, अपि, अभिजातम्=सत्कुलोत्पन्नम्, अपि, धीरम्=धैर्यशालिनम्, अपि, प्रयत्नवन्तम्=प्रयासनिरतम्, उद्योगिनम्, अपि, पुरुषम्=जनम्, इयम्=निर्दिश्यमाना, लक्ष्मीः=श्रीः, खलीकरोति=दुष्टीकरोति, सन्मार्गात् स्खलतां प्रापयति, इति=समाप्ताविदम्।

जाओ, लक्ष्मी द्वारा बिडम्बित न किये जाओ अर्थात् तुम्हें छोड़कर लक्ष्मी चली न जावे, अहंकार द्वारा नचाये न जाओ, कामदेव द्वारा पागल न बना दिये जाओ, विषयों (भोग-सामग्री) द्वारा खींचे न जाओ, राग द्वारा आकृष्ट न किये जाओ, सुख द्वारा अपहृत न कर लिये जाओ। यह ठीक है कि आप स्वभाव से ही धीर (धैर्यशाली) हैं और पिता द्वारा अच्छे संस्कार डलवाये गये हैं। चञ्चल मन वाले और अप्रबुद्ध=अज्ञानी को ही धन मत्त कर पाते हैं फिर भी आपके गुणों के प्रति मेरे सन्तोष ने मुझे इस प्रकार से मुखर बनाया अर्थात् तुमसे कहने के लिए विवश किया। और बार-बार यही कहा जाता है। यह दुष्ट लक्ष्मी विद्वान् को भी, ज्ञानवान् को भी, महाबलशाली को भी, उच्चकुलवाले को भी, धैर्यशाली को भी तथा प्रयत्न (उद्योग) में लगे रहने वाले को भी दुष्ट बना डालती है। [अतः इस लक्ष्मी से बहुत अधिक सावधान रहना आवश्यक है।] पिता तारापीड द्वारा किये जाते हुए

---

१. सर्ववनिताभिः। २. विकृष्यसे रज्यसे, आकृष्यसे। ३. रागैः।
४. उपह्रियसे। ५. इतः पूर्वं 'महता प्रयत्नेन' इत्यधिकः पाठोऽपि दृश्यते। ६. एव।

पित्रा क्रियमाणमनुभवतु भवान् [1]नवयौवराज्याभिषेक[2]मङ्गलम्। कुलक्रमागतामुद्वह पूर्वपुरुषैरूढां धुरम्। अवनमय द्विषतां शिरांसि। उन्नमय [3]स्वबन्धुवर्गम्। अभिषेकानन्तरञ्च प्रारब्धदिग्विजयः परिभ्रमन् विजितामपि [4]तव पित्रा [5]सप्तद्वीपभूषणां पुनर्विजयस्व वसुन्धराम्। अयञ्च ते कालः प्रतापमारोपयितुम्। आरूढप्रतापो [6]हि राजा त्रैलोक्यदर्शीव सिद्धादेशो भवति''—

सर्वथेति। सर्वथा = सर्वप्रकारेण, कल्याणैः=मङ्गलैः, सहेति शेषः, पित्रा=जनकेन तारापीडेन, क्रियमाणम् = विधीयमानम्, नवयौवराज्याभिषेक-मङ्गलम्—नवः (= नूतनः प्राथमिकः) यो यौवराज्ये (= युवराजकर्मणि युवराजपदे इति भावः) अभिषेकः (= अभिषेचनम्) स एव मङ्गलम् (= श्रेयः) तत्, भवान्=त्वं चन्द्रापीडः, अनुभवतु=अनुभवविषयीकरोतु, उपभोगं करोत्विति भावः। कुलक्रमागताम्—कुलक्रमः (= वंशपरम्परा) तेनागताम् (= प्राप्ताम्), पूर्वपुरुषैः = पूर्वजलोकैः, ऊढाम् = धृताम् धुरम् = राज्यशासनभारम्, उद्वह = धारय। द्विषताम् = शत्रूणाम्, शिरांसि = उत्तमाङ्गानि, अवनमय= अवनतानि विधेहि। स्वबन्धुवर्गम् = स्वज्ञातिसमूहम्, उन्नमय = उन्नतं कुरु। शत्रूणां दमनेन तेषां दर्पं दलय, बन्धूनां च सम्मानेन तेषां गौरवं वर्धय। एतद्द्वयं सर्वतः प्रथममेव कार्यमिति भावः।

अभिषेकेति। च = किञ्च। अभिषेकानन्तरम् = युवराजपदेऽभिषेचनादनु, प्रारब्ध-दिग्विजयः—प्रारब्धः (= प्रस्तुतः) दिग्विजयः (= दिशां तत्रत्यानां राज्ञां स्वाधीनीकरणम्) येन स तादृशः, परिभ्रमन् = प्रतिदिशं स्वच्छन्दरूपेण विहरन्, तव = भवतः, पित्रा = जनकेन तारापीडेन, विजिताम् = स्वायत्तीकृताम्, अपि, सप्तद्वीपभूषणाम्—सप्त (=सप्तसंख्यकानि) द्वीपानि (=अन्तरीपाणि) एव भूषणानि (=आभरणानि) यस्यास्तां तादृशीम्, वसुन्धराम् = पृथिवीम्, पुनः = भूयः, विजयस्व = स्वाधीनीकुरु। वि-योगे जिधातोरात्मनेपदम् "विपराभ्यां जे"रिति सूत्रेण बोध्यम्।

विजितायाः विजयकरणे किं फलमिति निरूपयितुमाह—अयमिति। प्रतापम्=कोशदण्डजं तेजः, आरोपयितुम् = स्थापयितुम्, शत्रुष्विति शेषः, अयम् = समीपवर्ती, एव, कालः = समयः, समागत इति भावः। किमर्थमिति चेदत आह—आरूढेति। हि = यतः, आरूढप्रतापः—आरूढः (= शत्रुषु संजातः) प्रतापः (= कोशदण्डजं तेजः) यस्य स तादृशः, राजा = भूपतिः, त्रैलोक्यदर्शी = त्रिलोकद्रष्टा योगी, इव, सिद्धादेशः—सिद्धः (= अप्रतिहतः) आदेशः (= आज्ञा) यस्य स तादृशः, त्रिकालदर्शी

नव यौवराज्य पद के अभिषेकमङ्गल का हर प्रकार के कल्याणों के साथ अनुभव करो अर्थात् तुम्हारा युवराज पद पर किया जाने वाला यह अभिषेक सभी प्रकार के कल्याण करने वाला हो। [यह मेरा आशीर्वाद है।] कुलपरम्परा से प्राप्त होनेवाले तथा अपने पूर्वपुरुषों द्वारा निर्वाह = धारण किये गये शासनभार का वहन करो। शत्रुओं के सिर नीचे कर दो। [उन्हें इतना भयभीत कर दो कि वे कभी सामने सिर उठाने या स्वतन्त्र होने की सोच न सकें।] बन्धुओं को उन्नत करो। [अपने प्रभाव से उनमें आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की भावना जगा दो।] और अभिषेक के बाद दिग्विजय प्रारम्भ करते हुए [स्वच्छन्दता से] विचरण करते हुए, अपने पिता द्वारा पहले से ही जीती गई (अधीन की गई) भी सात द्वीपों (जम्बू, प्लक्षादि) से अलंकृत पृथिवी को फिर से जीत डालो। [जिससे तुम्हारे पौरुष और बुद्धिचातुर्य का प्रभाव सर्वत्र हो जाय।] तुम्हारे प्रताप को [शत्रु आदि

---

१. नवयौवन···। २. अनेकमङ्गलम्। ३. क्वचित्तु 'स्व' इदं नास्ति।
४. भवत्। ५. द्वीपसमुद्रभूषणाम्। ६. 'हि' इदं नापि दृश्यते क्वचित्।

इत्येतावदभिधायोपशशाम। उपशान्तवचसि[1] शुकनासे चन्द्रापीडस्ताभिरुपदेशवाग्भिः[2] प्रक्षालित इव, उन्मीलित इव, स्वच्छीकृत[3] इव, निर्मृष्ट इव, अभिषिक्त इव, अभिलिप्त इव, अलङ्कृत इव, पवित्रीकृत इव, उद्भासित इव, प्रीतहृदयो मुहूर्तं स्थित्वा स्वभवनमाजगाम।

[इति शुकनासोपदेशः]

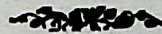
योगी यथा वदति सर्वं तथैव भवति। राजाऽपि यथा वदेत् तथैव भवितव्यम्। एतत्तदैव सम्भवति यदा सर्वेऽपि राजप्रतापाभिभूताः जायन्ते इति भावः। इति=एवंरूपेण, एतावत्=पूर्वोक्तप्रमाणम् अभिधाय= उक्त्वा, उपशशाम = शान्तोऽभूत्, शुकनासो विरतवाग्व्यापारोऽभूदिति भावः।

उपशान्तेति। शुकनासे = प्रधानाऽमात्ये, उपशान्तवचसि—उपशान्तानि (= निवृत्तानि) वचांसि (= वचनानि) यस्य तस्मिन् तादृशे, मौने सति, चन्द्रापीडः=एतन्नामा राजकुमारः, ताभिः= शुकनासोक्ताभिः पूर्वाभिः, उपदेशवाग्भिः=हितकारिवचनैः, प्रक्षालितः=धौतः, इव, उन्मीलितः= विकसितः, इव, स्वच्छीकृतः = निर्मलीकृतः, इव, निर्मृष्टः=मसृणीकृतः, संस्कृतः, इव, अभिषिक्तः= स्नपितः, इव, अभिलिप्तः=प्रलिप्तः, इव, अलङ्कृतः=विभूषितः, इव, पवित्रीकृतः=पावनीकृतः, इव, उद्भासितः=उद्दीपितः, इव, प्रीतहृदयः—प्रीतम् (=प्रसन्नम्) हृदयम् (=चित्तम्) यस्य तादृशः, सन्, मुहूर्तम्=क्षणम्, स्थित्वा=अवस्थानं कृत्वा, स्वभवनम्=स्वसदनम्, आजगाम=आययौ, परावृते। अत्र 'प्रक्षालित इव' इत्यत आरभ्य 'उद्भासित इव' इत्येतत्पर्यन्तं नवानां क्रियोत्प्रेक्षाणां परस्परं निरपेक्षतया स्थित्या संसृष्टिरलङ्कारः।

॥ इति शुकनासोपदेशः ॥

कृपया विश्वनाथस्य वाग्देव्याश्च प्रसादतः।

शुकनासोपदेशान्तं व्याचष्ट जयशङ्करः॥



सभी पर] स्थापित करने का यह उचित समय [आ गया] है। जिसका प्रताप स्थापित हो जाता है ऐसा राजा त्रैलोक्यदर्शी (तीनों लोकों, कालों को देखने में समर्थ) योगी के समान सिद्ध आदेश (१–जिसकी आज्ञाएँ सदैव परिपालित होती हैं, २–जिसके वचन=भविष्य-वाणियाँ सदैव सच हुआ करती हैं ऐसा) वाला होता है—" इस प्रकार से इतना (पूर्वोक्त) कहकर शुकनास शान्त=चुप हो गया। शुकनास के शान्त होने (बोलना बन्द कर देने) पर उसके उन वचनों द्वारा चन्द्रापीड मानो प्रक्षालित (धोया हुआ), मानो विकसित (खिला हुआ), मानो स्वच्छ किया गया, मानो नहलाया गया, मानो [चन्दनादि का] लेप कराया गया, मानो [आभूषणों से] सजाया गया, मानो पवित्र किया गया, मानो उद्दीप्त किया (चमकाया) गया, प्रसन्न हृदय वाला [होता हुआ] कुछ ही देर रुक कर अपने भवन वापस आ गया।

[इस प्रकार शुकनास का उपदेश समाप्त हुआ।]



१. ···वचने। २. ताभिरमलाभिरुपदेश०। ३. स्वच्छीकृतः।





साहित्यदर्पणम्

'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्या सहित

व्याख्याकार-आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी

कालिदासादि महाकवियों के कतिपय ग्रन्थों के ख्यातिप्राप्त व्याख्याकार ने आधुनिक पठन-पाठन के अनुरूप, अनावश्यक विस्तार न करके सुबोध संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की है। व्याख्या में सरलता लाने का भरपूर प्रयास किया गया है। इसकी पाण्डित्यपूर्ण विचारों से ओत-प्रोत समीक्षात्मक विशद भूमिका में ग्रन्थ के गम्भीर अध्ययन एवं शोध के [illegible] उपलब्ध है। परीक्षार्थी छात्रों के लिए तो इसकी हिन्दी व्याख्या ही पर्याप्त है।

१-६ परिच्छेद ५०-००; ७-१० परिच्छेद [illegible], सम्पूर्ण [illegible]-००

छप गया ! सर्वोत्कृष्ट हिन्दी संस्करण ! छप गया !!!

काव्यप्रकाशः

सविमर्श 'रहस्यबोधिनी' हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार

डा० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

इस हिन्दी संस्करण की सर्वोत्कृष्ट विशेषता—

इसमें मूल ग्रन्थ के जो तीन भाग हैं—१. कारिका एवं सूत्र भाग, २. वृत्ति भाग, ३. उद्धरणश्लोक भाग। इनमें सर्वप्रथम मूल सूत्रकारिका भाग का हिन्दी अनुवाद करके वृत्ति भाग के अनुवाद द्वारा उसे स्पष्ट करते हुए एवं उद्धरण श्लोकों का भी अनुवाद करते हुए सूत्रकारिका एवं वृत्ति को उस उद्धरण में अक्षरशः घटा करके समझाया गया है। गूढ़ तथा सूक्ष्म विषयों को 'विमर्श' के अन्तर्गत देकर मतमतान्तरों का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत प्रसंगों का सप्रसंग स्पष्टीकरण किया गया है। आवश्यकतानुसार मूल उद्धरणों के अतिरिक्त स्वयं के उद्धरणान्तर भी दिये गये हैं और उन्हें भली प्रकार घटाकर समझाया गया है। बहुपुरस्कृत काशी के प्रख्यात विद्वान् व्याख्याकार ने पचासों वर्षों के अपने अध्यापनानुभव के कारण ग्रन्थ में जहाँ अभिधा, व्यंजना, लक्षणा, रस, ध्वनि आदि जैसे सूक्ष्म विषयों के बृहद् विवेचनीय प्रसंग हैं, वहाँ अलंकार शास्त्र के मत-मतान्तरों के प्रतिपादन के साथ-साथ न्याय, व्याकरण, दर्शन, मीमांसा आदि शास्त्रान्तरों से सम्बन्धित व्याख्यानों द्वारा उनके सप्रसंग विवेचन प्रस्तुत किये गये हैं। टीका की भाषा-शैली परिमार्जित होने से विषयावबोधन में बाधा उपस्थित नहीं होती। इसकी भूमिका भाग में ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं अलंकार शास्त्र से सम्बधित विषयों का विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया गया है। मात्र भूमिका भाग के अध्ययन से ही शास्त्र, विषय, प्रसंग तथा ग्रन्थ आदि में अनायास ही गति सुलभ होगी। इस प्रकार यह संस्करण छात्र, अध्यापक एवं गवेषक आदि सभी वर्ग के लिए समान रूप से उपादेय है।

१–६ उल्लास १००-००

७–१० उल्लास २५०-००

प्राप्तिस्थानम्—कृष्णदास अकादमी, पो० बा० [illegible], वाराणसी-२२१००१